श्रीमद्

राजेन्द्रसूरि

स्मारक ग्रंथ

जालोर निवासी
श्री. हरखचन्दजी छोगाजी
साथलवाला की
पुण्य स्मृति
में
भेंट

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि-अर्धशताब्दी महोत्सव के अवसर पर

— महावीर-जयन्ती —

वि. सं. २०१३

卐 श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय 卐

श्रीमद्

राजेन्द्रसूरि

स्मारक ग्रंथ
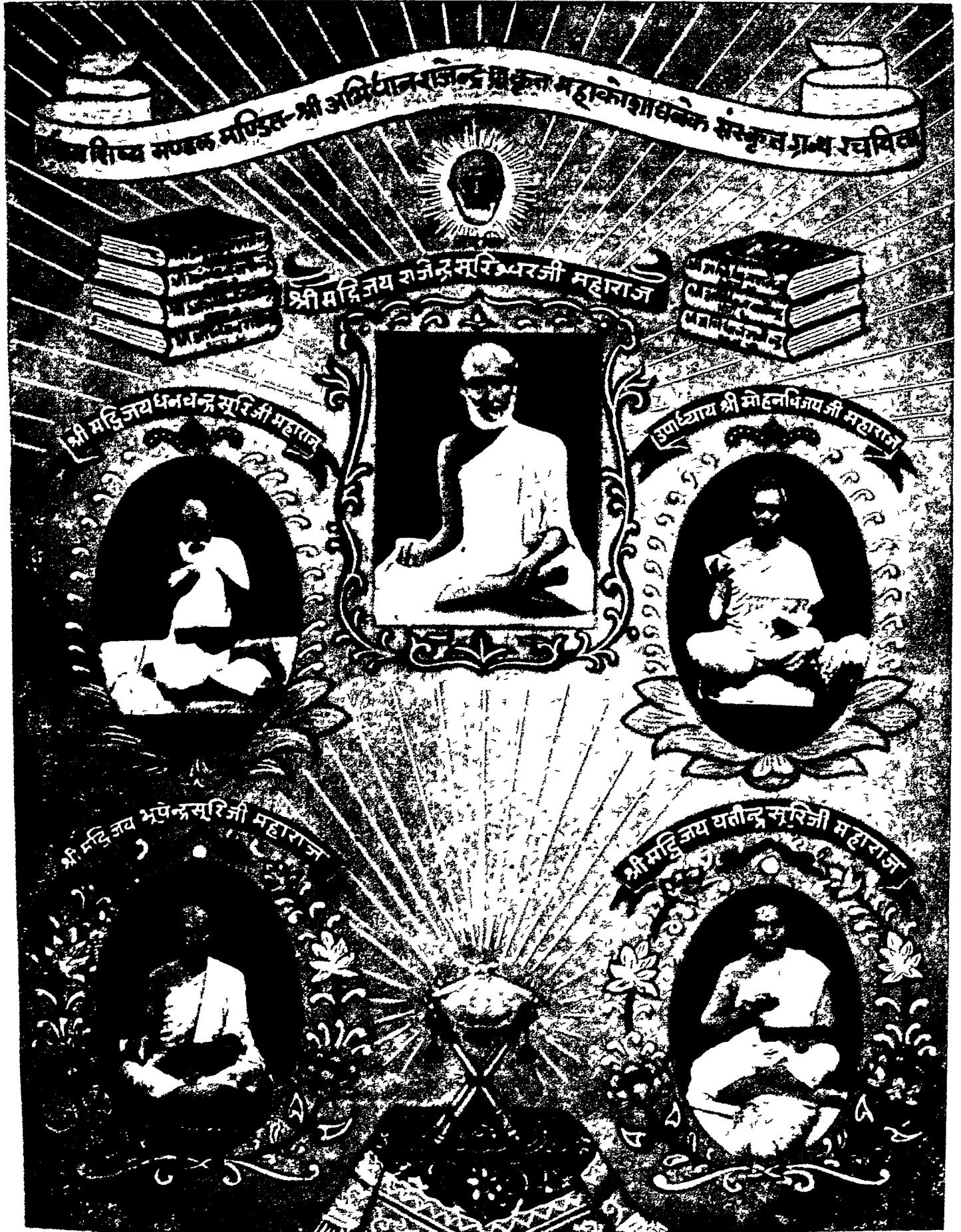
संयोजक—

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय जैनाचार्य श्री श्री १००८ श्री श्री

व्याख्यान-वाचस्पति श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज.

*

सम्पादक-मण्डल—

श्री अगरचंदजी नाहटा, बीकानेर. श्री दलसुखभाई मालवणिया, बनारस.

दौलतसिंह लोढ़ा 'अरविंद' धामणिया.

श्री बालाभाई वीरचंद 'जयभिक्खु' अहमदाबाद.

श्री अक्षयसिंह डांगी बी. ए. एल. एल. बी. एडवोकेट, हाईकोर्ट, राजस्थान.

*

प्रकाशक—

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय जैन श्वेताम्बर श्री संघ,

आहोर तथा बागरा

(मारवाड़-राजस्थान)

वीर संवत् २४८२

विक्रम ,, २०१३

ई० सन् १९५७

शक संवत् १८७८

राजेन्द्र ,, ५०

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक-ग्रंथ
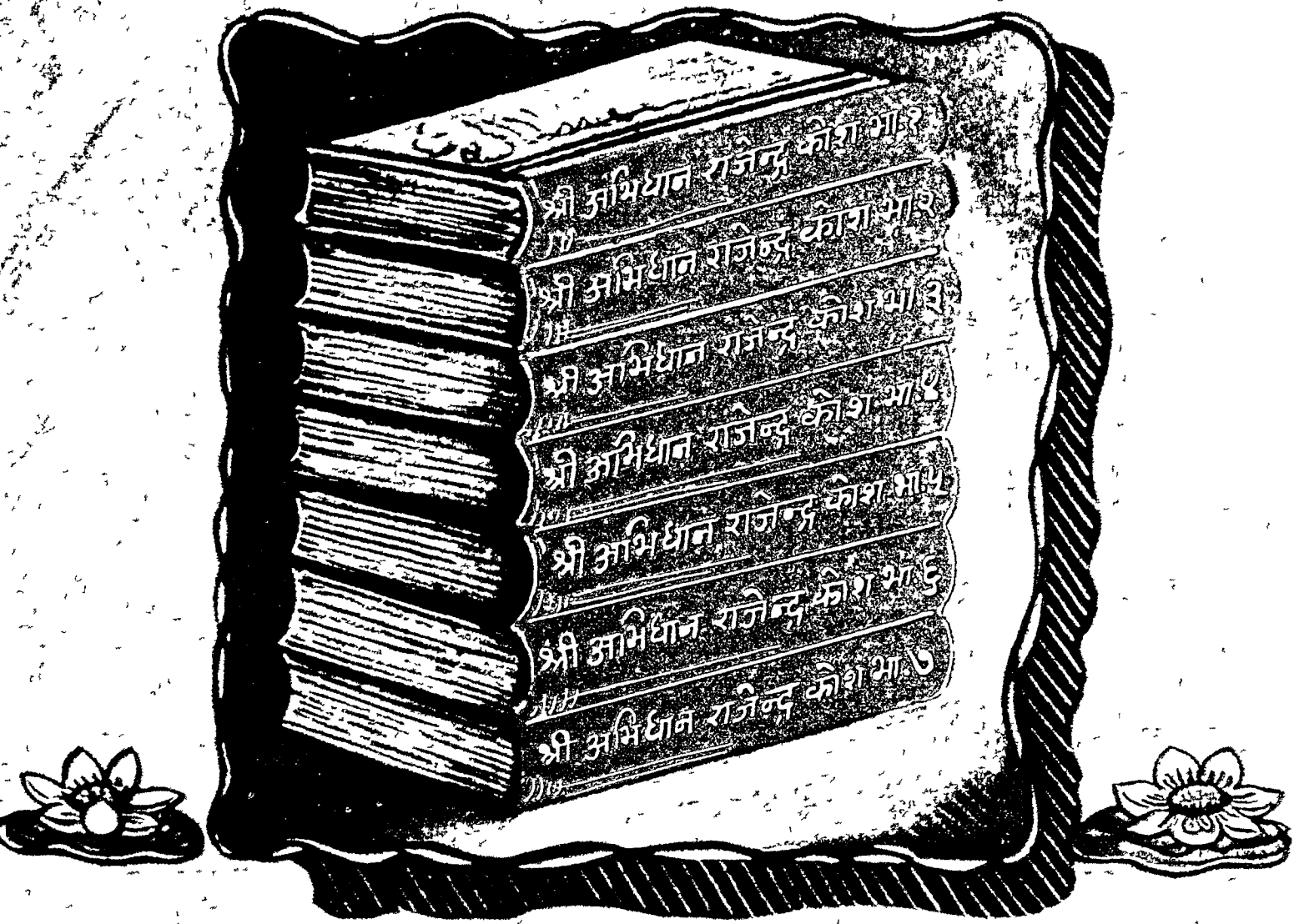
प्रकाशक

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय जैन श्वेतांबर संघ

आहोर - बागरा

श्री राजेन्द्रसूरि–वचनामृत ।

संग्राहक—व्याख्यान-वाचस्पति श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

१ अहिंसा प्राणिमात्र का माता के समान पालन–पोषण करती है, शरीररूपी मरु-भूमि में अमृत–सरिता बहाती है, दुःखरूपी दावानल को बुझाने में मेघ के समान है और भव–भ्रमणरूपी महारोगों के नाश करने में रामबाण औषधि के समान काम करती है। इसी प्रकार सुखमय दीर्घायु, आरोग्यता, सौंदर्यता और मनोवांछित वस्तुओं को प्रदान करती है। इसलिये अहिंसा–धर्म का सर्व प्रकार से पालन करना चाहिये; तभी देश, धर्म, समाज और आत्मा का वास्तविक उत्थान होगा।

२ विषयभोग कर्मबन्ध के हेतु और विविध यातनाओं की प्राप्ति कराने के कारण हैं। विषयार्थी प्राणी प्रतिदिन मेरी माता, पिता, पुत्र, प्रपौत्र, भाई, मित्र, स्वजन, सम्बंधी, जायदाद, वस्त्रालंकार और खान–पान आदि सांसारिक सामग्री की खोज में ही अपना अमूल्य जीवन यों ही बिताते रहते हैं और सब को छोड़ कर केवल पाप का बोझा उठाते हुए मरण के शिकार बन जाते हैं, पर अपना कल्याण कुछ नहीं कर सकते।

३ विषयाभिलाषी मनुष्य अपने कुटुम्बियों के निमित्त क्षुधा, तृषा सहन करता हुआ धनोपार्जनार्थ अनेक जंगलों, सम–विषम स्थानों, नदी, नालों और पर्वतीय प्रदेशों में इधर–उधर दौड़ लगाता रहता है और यथाभाग्य धन लाकर कुटुम्बियों का यह जान कर पोषण करता है कि ये समय पर मेरे दुःख में सहयोग देंगे–भागीदार बनेंगे। यों करते–करते मनुष्य जब वृद्धावस्था से घिर जाता है, तब कुटुम्बी न कोई सहयोग देते हैं और न उसके दुःख में भागीदार बनते हैं। प्रत्युत सोचते हैं कि यह कब मरे और इससे छुटकारा मिले। बस, यह है रिश्तेदारों का स्वार्थमूलक प्रेमभाव; अतः इनके प्रपंचों को छोड़ कर जो धर्मसाधन करेगा वह सुखी होगा।

४ हिंसा–प्रवृत्त मनुष्य का तस्करवृत्ति में आसक्त रहने से और परस्त्रीरत–व्यक्ति का धर्म, धन, शरीर, इज्जत आदि समस्त गुण नाश हो जाते हैं। सर्व कलाओं में धर्मकला श्रेष्ठ है, सब कथाओं में धर्मकथा श्रेष्ठ है, सब बलों मे धर्मबल बड़ा है और समस्त सुखों में मोक्ष–सुख सर्वोत्तम है। प्रत्येक प्राणी को मोक्ष–सुख प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करना चाहिये, तभी जन्म–मरण का दुःख मिट सकेगा। संसार में यही साधना सर्वश्रेष्ठ साधना है।

५ समय अमूल्य है। सुकृत कार्यों के द्वारा जो कोई उसको सफल बना लेता है, वही पुरुष जानकार और भाग्यशाली है। जो समय चला जाता है वह समय लाख प्रयत्न करने पर भी वापस नहीं मिलता। बादशाह सिकंदर जब मरण-पथारी पर पड़ा, तब उसने अपने सारे परिवारों, अमीर, उमरावों और वैद्य हकीमों को बुला कर कहा-अब मैं जानेवाला हूँ, अभी इन्तेजाम बहुत करना है; अतः कोई भी मेरे जीवन का आधा घंटा भी बढ़ा दे तो उसको प्रतिमिनिट का मुंहमांगा रूपया दिया जायगा। सबने कहा कि इस संसार में ऐसा कोई भी इल्म, विद्या, जड़ीबूटी आदि नहीं है जो आयुष्य की एक पल भी अधिक या कम कर सके। बादशाहने इस प्रकार का स्पष्ट जवाब सुन कर अपने दफ्तर में लिख दिया कि आयुष्य की एक भी घड़ी या पल बढानेवाला कोई नहीं है। अतः जो इसको व्यर्थ खो देता है उसके समान संसार में दूसरा कोई मूर्ख नहीं है।

६ मनुष्य-जीवन, शुभ सामग्री तथा धनवैभव ये तीनों बातें प्रत्येक प्राणी को पूर्व पुण्योदय से ही प्राप्त होती हैं। इन के मिल जाने पर जो व्यक्ति इनको यों ही खो देता है वह सछिद्र नौका के समान है, जो स्वयं डूबती है और अपने में बैठनेवालों को भी डुबा देती है। जो मनुष्य अपने जीवन को धर्मकरणी से व्यतीत करता है उसका जीवन चिन्तामणिरत्न के समान सार्थक है और इसीके द्वारा स्वपर का आत्म-कल्याण हो सकता है।

७ जीवन की प्रत्येक पल सारगर्भित है। उसमें विषयादि प्रमादों को कभी अवकाश नहीं देना चाहिये, तभी वे पलें सार्थक होती हैं। सूत्रकार कहते हैं कि 'कालो कालं समायरे।' जो कार्य जिस समय में नियत किया है उसको उसी समय में कर लेना चाहिये; क्योंकि समय कायम रहने का कोई भरोसा नहीं है। निर्दयता से जीवों का वध करने, असत्य भाषण करने, किसी की धनादि-वस्तु का हरण करने, परस्त्रीगमन करने, परिग्रह का अतिलोभ रखने और व्रतप्रत्याख्यानों का खाली ढोंग रचने से मनुष्य मर कर नरक में जाता है और वहाँ उसको अनेक यातनाएँ उठानी पड़ती हैं। इसलिये नरक गमन योग्य बातें सर्वथा त्याग देना चाहिये।

८ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह जैन शास्त्रकारोंने इनको पांच महाव्रतों के नाम से और अजैनशास्त्रकारोंने इनको पांच यम के नाम से घोषित किये हैं। इनको यथावत् परिपालन करने से धर्म, देश और राष्ट्र में अपूर्व शान्ति और सुख-समृद्धि स्थिर रहती है। ये बातें मनुष्यमात्र को अपने उत्थान के लिये अति आवश्यक हैं, जिससे पारस्परिक वैरसंबंध समूल नष्ट होकर मनुष्य निःसंदेह सुगतिपात्र बन जाता है।

९ अभिमान, दुर्भावना, विषयाशा, ईर्ष्या, लोभादि दुर्गुणों को नाश करने के लिये ही शास्त्राभ्यास या ज्ञानाभ्यास करके पाण्डित्य प्राप्त किया जाता है। यदि हृदय-भवन में पंडित होकर भी ये दुर्गुण निवास करते रहे तो पंडित और मूर्ख दोनों में कुछ भेद नहीं है—दोनों को समान ही जानना चाहिये। पंडित, विद्वान् या जानकार बनना है तो हृदय से अभिमानादि दुर्गुणों को हटा देना ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

१० सुख और दुःख इन दोनों साधनों का विधाता और भोक्ता केवल आत्मा है और वह मित्र भी है और दुश्मन भी। क्रोधादि वशवर्त्ती आत्मा दुःखपरम्परा का और समतादि वशवर्त्ती आत्मा सुखपरम्परा का अधिकारी बन जाता है। अतः सुधरना और बिगड़ना सब कुछ आत्मा पर ही निर्भर है। यथाकरणी आत्मा को फल अवश्य मिलता है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा का वास्तविक दमन कर लेता है उसका दुनियां में कोई दुश्मन नहीं रहता। वह प्रतिदिन अपनी उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ अपने ध्येय पर जा बैठता है।

११ कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। इसकी लीला का कोई भी पार नहीं पा सकता। शास्त्रकार कहते हैं कि जीव कर्मों के प्रभाव से कभी देव और मनुष्य, कभी नारक और कभी पशु, कभी क्षत्रिय और कभी ब्राह्मण, कभी वैश्य और कभी शूद्र हो जाता है। इस प्रकार नाना योनियों और विविध जातियों में उत्पन्न हो भिन्न-भिन्न वेश धारण करता है और सुकृत तथा दुष्कृत कर्मोदय से संसार में उत्तम, मध्यम, जघन्य, अधम अथवा अ-धमाधम अवस्थाओं का अनुभव करता रहता है। इस लिये कर्मों के वेग को हटाने के लिये प्रयेक व्यक्ति को क्षमासूर बन कर यथार्थ सत्यधर्म का अवलम्बन और उसके अनु-सार आचरणों का परिपालन करना चाहिये, जिससे आत्मा की आशातीत प्रगति हो सके।

१२ एक ही जलाशय का जल गौ और सर्प दोनों पीते हैं, परन्तु गौ में वह जल दूध में और सर्प में जहररूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार शास्त्रों का उपदेश भी सुपात्र में जाकर अमृत और कुपात्र में जाकर जहररूप में परिणमन करता है। विनय, नम्रता, आदर और सभ्यता से ग्रहण किया हुआ शास्त्रोपदेश आत्मकल्याणकारी ही होता है और अविनय, आशातना, कठोरता और असभ्यता से ग्रहण किया हुआ शास्त्रोपदेश उल्टा आत्मगुणों का घातक हो भवभ्रमण कराता है; इस लिये अविनयादि दोषों को छोड़ कर ही शास्त्रोपदेश ग्रहण करना चाहिये—तभी आत्मा का वास्तविक उत्थान हो सकेगा।

१३ उत्तम विवेकमय मार्ग सहज ही प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिये सर्व प्रथम इन्द्रियविकारों, स्वार्थपूर्ण भावनाओं और संसारियों के स्नेहबन्धनों का परित्याग

करना पड़ेगा, तब कहीं विवेक की साधना में सफलता मिल सकेगी। कईएक साधक समझदार हो करके भी इन्द्रियों और पाखंडियों की जाल में फंसे रह कर अपने आत्म-विवेक को खो बैठते हैं, और वे पाप कर्मों से छुटकारा नहीं पाते। प्राणीमात्र लोभ और मोह में लपड़ाये हुए, साथ-साथ धर्म और ज्ञान को भी मलिन कर डालते हैं। इसलिये आत्म-विवेक उन्हीं व्यक्तियों को मिलेगा जो इन दोनों पिशाचों को अच्छी तरह विजय कर लेंगे।

१४ जो व्यक्ति क्रोधी होता है अथवा जिसका क्रोध कभी शान्त नहीं होता, जो सज्जन और मित्रों का तिरस्कार करता है, जो विद्वान् हो कर के भी अभिमान रखता है, जो दूसरों के मर्म प्रकट करता है और अपने कुटुम्बी या गुरुओं के साथ भी द्रोह करता है, किसीको कर्कश वचन बोल कर संताप पहुंचाता है और जो सबका अप्रिय है वही पुरुष अविनीत, दुर्गति और अनादरपात्र कहाता है। ऐसे व्यक्ति को आत्म-तारक मार्ग नहीं मिल सकता; अतः ऐसा कुव्यवहार सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

१५ निन्दा को ही अपना कर्तव्य माननेवाले अज्ञानियों और मिथ्यादृष्टि लोगों की ओर से शिर काटने जैसे भी अपराधों में जो समभाव से उनके वचन-कंटकों को सह लेता है, परन्तु बदला लेने की तनिक भी कामना नहीं रखता। जो न लोलुप है और न इन्द्रजाली, न मायाचारी है और न चुगलखोर। जो अपनी किसी तरह की प्रशंसा की कामना नहीं रखता और न गृहस्थ सम्बंधी कार्यों की सराहना करता है। तरुण, बालक, वृद्ध आदि गृहस्थों का कभी तिरस्कार नहीं करता और स्वयं तिरस्कृत होने पर भी तिरस्कार को बड़ी शान्ति से सह लेता है उसका प्रतिकार नहीं करता। जो अपने कुल, वंश, जाति, ऐश्वर्य का अभिमान नहीं रखता और जो सदा स्वाध्याय-ध्यान में लीन रहता है। जो 'मा हणो मा हणो' सूत्र को जीवन में उतार कर कार्यरूप में परिणत करता है। जो स्वपर का कल्याण करने और ज्ञान, दर्शन, चारित्र के आध्यात्मिक मार्ग का परिपालन में सदा उद्यत रहता है-संसार में ऐसा पुरुष ही पूज्य और समादरणीय माना जाता है।

१६ संसार में दुराचारप्रिय लोग पहले से ही नहीं संभलते; किन्तु जब वे मृत्यु के मुख में पहुँचते हैं, तब अपने दुराचारों को स्मरण में लाकर बहुत पश्चात्ताप करने लगते हैं। दुराचारों के फलस्वरूप अंत समय में वे असाध्य व्याधियों से पीड़ित और चिन्तित हो कर अपने कृत पापकर्मों के लिये परभव की बिभीषिका से कांपने लगते हैं। परन्तु उस समय उनका न कोई रक्षक होता है और न कोई भागीदार। असहाय हो उनको रुदन करते हुए

दुनियां से कूच कर जाना पड़ता है। ऐसा जान कर जो धर्ममार्ग को अपना लेता है, वह परभव में भी सुख प्राप्त कर लेता है।

१७ धन, माल, कुटुम्ब-परिवारादि सब नाशवान और निजगुणघातक हैं। इन में रह कर जो प्राणी बड़ी सावधानी से अपने जीवन को धर्मकृत्यों द्वारा सफल बना लेता है, उसीका भवसागर से बेड़ा पार हो जाता है। शेष प्राणी चौराशी लाख योनियों के चक्कर में पड़कर, इधर-उधर भ्रमण करते रहते हैं। अतएव शरीर जब तक सशक्त है और कोई बाधा उपस्थित नहीं है, तभी तक आत्मकल्याण की साधना कर लेना चाहिये। अशक्ति के पंजे में घिर जाने के बाद कुछ नहीं हो सकेगा, फिर तो यहां से कूच करने का डंका बजने लगेगा और असहाय हो कर जाना पड़ेगा।

१८ मानवता में चार चांद लगानेवाला एक विनय गुण है। मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो, वैज्ञानिक और नीतिज्ञ हो; परन्तु जब तक उसमें विनयगुण नहीं होता तब तक वह सब का प्रिय और आदरणीय नहीं बन सकता। विनयहीन मानव उदारता, धीरता, प्रेम, दया और आचार व विवेकपूर्वक सुन्दर गुणों को नहीं पा सकता। इसी कारण वह विनयहीन अपनी कार्यसाधना में हताश ही रहता है। किसी भी कार्य में सफलता नहीं पा सकता। गायन करने के समय, नृत्य करने के समय, अभ्यास करने के समय, चर्चावाद करने के समय, संग्राम करने के समय, दुश्मन का दमन करने के समय, भोजन करने के समय और व्यवहार सम्बन्ध जोड़ने के समय, इन आठ स्थानों पर विनय (लज्जा) रखने से हानि होती है। अतः इन स्थानों को छोड़ कर अन्य स्थानों पर विनयगुण को अपनानेवाला व्यक्ति सर्वत्र आदर और प्रेम सम्पादन कर सकता है।

१९ जिस प्रकार मृत्तिकानिर्मित्त कोठी को-ज्यों-ज्यों धोई जाय त्यों-त्यों उसमें गारा के सिवाय सारभूत वस्तु कुछ नहीं मिल सकती, उसी प्रकार जिस मानव में जन्म से ही कुसंस्कार अपना घर कर बैठे हैं उसको चाहे अकाट्य युक्तियों के द्वारा समझाया जाय; परन्तु वह सुसंस्कारी कभी नहीं हो सकता। अगर वह विशेषज्ञ होगा तो अधिक बात से अपने कुसंस्कारों को दृढ़ करने लगेगा। इसीसे कहा जाता है कि 'पड़्या लक्षण मिटे न मूआँ' यह किंवदन्ति सोलह आना सत्य है। कुसंस्कारी मानव समय आने पर अपनी मलिनताओं को उगले बिना नहीं रहता, ज्यों-ज्यों उसको समझाओ त्यों-त्यों वह अधिक मलिनता का शिकार बनता जाता है। जिस मानव में जन्मसिद्ध सुसंस्कार पड़े हुए हैं वह दुर्जनों के मध्य में लाख विपत्तियों में घिर जाने पर भी अपनी अच्छी

संस्कारिता को कभी नहीं छोड़ता। वह तो विशुद्ध-सुवर्ण के समान विशेष रूप से चमकता रहता है। अतः अपनी वास्तविक प्रगति के जिज्ञासुओं को सुसंस्कारी बनने का शक्तिभर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

२० आत्मसुधारक सच्ची विद्वत्ता या विद्या वही कही जाती है जिस में विश्वप्रेम हो और विषय-पिपासा का अभाव हो तथा यथावत् धर्मका परिपालन और जीवमात्र को आत्मवत् समझने की बुद्धि हो। स्वार्थिक प्रलोभन न हो और न ठगने की ठगबाजी। ऐसी ही विद्या या विद्वत्ता स्वपर का उपकार करनेवाली मानी जाती है, ऐसा नीतिकारों का मंतव्य है। जो विद्वत्ता, ईर्ष्या, कलह, उद्वेग पैदा करनेवाली है वह विद्वत्ता नहीं, महान् अज्ञानता है। इसलिये जिस विद्वत्ता से आत्म कल्याण हो, वह विद्वत्ता प्राप्त करने में सदोद्यत रहना चाहिये।

२१ विषयभोग बड़वानल के सदृश है। युवावस्था भयानक जंगल के समान है। शरीर इंधन के और वैभवादि वायु के समान हैं। संयोग तथा वैभवादि विषयाग्नि प्रदीप्त करनेवाले हैं। जो स्त्री, पुरुष संयोगजन्य भोगसामग्री मिल जाने पर भी उसका परित्याग करके अखंड ब्रह्मचर्यव्रत का त्रियोग से पालन करते हैं, वे संसार में काम-विजेता कहलाते हैं। अखंड ब्रह्मचारी स्त्री, पुरुषों का इतना भारी तेज होता है कि उनकी सहायता में देव, दानव, इन्द्र आदि खड़े पैर तैयार रहते हैं और इसी महागुण के कारण वे संसार के पूजनीय और वंदनीय बन जाते हैं।

२२ स्वतंत्रता और आत्मशक्ति जब तक प्रगट न कर ली जाय, तब तक आत्म-शक्ति का चाहिये वैसा विकास नहीं हो सकता। शास्त्रों का कथन है कि सहनशीलता के बिना संयम, संयम के बिना त्याग, और त्याग के बिना आत्मविश्वास होना असंभव है। आत्मविश्वास से ही नर-जीवन सफल होता है। जिस व्यक्तिने नर-जीवन पाकर जितना अधिक आत्मविश्वास प्राप्त कर लिया वह उतना ही अधिक शांतिपूर्वक सन्मार्ग के ऊपर आरूढ हो सकता है। अतः संयमी-जीवन के लिये सर्व प्रथम मन को वश करना होगा। मन के वश होने पर इन्द्रियाँ स्वयं निर्बल हो जायंगी और मानव प्रगति के पथ पर चलने लगेगा।

२३ सत्तारूढ होने के लिये लोग चढ़ाचढ़ी करते हैं, पारस्परिक लड़ाई कर वैमनस्य पैदा करने के साथ अपने धन का भी दुरुपयोग करते हैं। परन्तु यथाभाग्य किसी को छोटी या बड़ी सत्ता मिल जाती है तो सत्तारूढ होने के बाद अगर जनता का भला नहीं

किया और खाली अभिमान किया या लोगों को लूंट कर अपनी जेबें तर कर लीं तो यह सत्ता का दुरुपयोग ही है। जिस सत्ता से लोगों का उपकार किया जाय, निःस्वार्थता से लांच (उत्कोच) नहीं ली जाय और नीतिपथ को कभी न छोड़ा जाय, वही सत्ता का वास्तविक सदुपयोग है, नहीं तो सत्ता को केवल गर्दभ-भार या दुर्गतिपात्र मात्र समझना चाहिये।

२४ जीवों की हिंसा ही आत्मा की हिंसा है और जीवों की दया ही आत्मा की दया है। ऐसा जान कर महान् पुरुष सर्वप्रकार से हिंसा या उसके उपदेश का परित्याग कर देते हैं। संसार में सुमेरु से ऊंचा कोई पर्वत नहीं और आकाश से विशाल कोई पदार्थ नहीं। इसी प्रकार अहिंसा से वड़ा कोई धर्म नहीं है। इसलिये 'जीवो और जीने दो' इस सिद्धान्त को अपने जीवन में स्थान दो। अपने को जैसा सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसा ही समस्त प्राणिओं के सम्बंध में भी समझना चाहिये। क्योंकि अहिंसा ही तप, जप, संयम और महायज्ञ है।

२५ दूसरे जीवों को सुखी करना यह मनुष्य का महान् आनंद है और दुःख-पीड़ित जीवों की उपेक्षा करना मनुष्य के लिये महादुःख है। दूसरे प्राणियों को दुःख या त्रास पहुंचानेवाला मनुष्य शैतान है, अपने ऊपर आये हुए दुःखों को सहन करनेवाला हैवान है और विपत्तिग्रस्त लोगों को सुखी करनेवाला 'इन्शान' है। इसी प्रकार कामभोग भले ही आमोद-प्रमोदजनक हों, परन्तु उनका अन्तिम परिणाम तो वियोग, कलह और निराशा उत्पन्न करानेवाला ही है। अतः काम-भोगों को दुःखद समझ कर इन्शान को त्याग देना चाहिये, तभी उसकी इन्शानियत सफल मानी जायगी।

२६ गुरु-वचनों का सदा आदर करना, गुरु की आज्ञा का यथावत् पालन करना और उसमें न तर्क, वितर्क करना या न शंकाशील होना—इसीका नाम 'विनय' है। विनय से विद्या, विनय से योग्यता और विनय से ही श्रुतज्ञान का लाभ जल में तैलविन्दु के समान विस्तृत रूप से मिलता है। जिससे संसार में मनुष्य की यशःकीर्ति चारों ओर फैलती है और वह सबका सन्मान-पात्र बनता है। अविनयाभिमुख आत्मा अपने दुर्गुणों के कारण जहां पैर रखता है वहां उसके ऊपर अपमानादि विपत्तियाँ आकर सवार हो जाती हैं। अहंता, दुर्भावना और धनादि की ऐंठ--ये सब अविनयजनक दुर्गुण हैं। इस लिये अविनय को तिलांजली देकर विनय गुण को अपनाओ, जिससे उभय लोक में सुखसंपत्ति की प्राप्ति हो सके।

२७ जो मानव खराब आदतों का गुलाम रहता है वह मानवीय गुणों और विश्व-

प्रेम से सदा वंचित रहता है। अमानुषी दुर्गुणों के कारण वह बिना स्वामी के पशु के समान इधर-उधर ठोकरें खाता है और अनेक चिन्ताओं में रात-दिन रहता है। इसलिये अपनी खराब आदतों को सुधारे बिना मनुष्य को कहीं पर न आदर मिलता है और न अच्छा गुण। जो लोग आदत को सुधार कर अच्छे बन जाते हैं वे सब लोगों के प्रिय बन जाते हैं और अच्छे गुण संपादन कर लेते हैं।

२८ तीन वणिक पूंजी लेकर कमाने के लिये परदेश गये। उनमें एकने पूंजी से लाभ प्राप्त किया, दूसरेने पूंजी को संभाल कर रक्खी और तीसरेने सारी पूंजी को बेपरवाही से खो दी। यह है कि पूंजी के समान मनुष्यभव है। जो उत्तम करणी करके उसके मोक्ष के निकट पहुँच जाता है या उसको प्राप्त कर लेता है वह पुरुष लाभ प्राप्त करनेवाले वणिक के सदृश है, जो स्वर्ग चला जाता है वह द्वितीय वणिक के सदृश है और जो मनुष्यभव को अपनी दुराचारिता से नर एवं पशुयोनि का अतिथि बना लेता है वह पूंजी खो देनेवाले के समान मनुष्यभव को यों ही खो देता है। अतः ऐसी करणी करना चाहिये कि जिससे स्वर्गापवर्ग की प्राप्ति हो सके। यही मानवभव पाने की सफलता है।

२९ क्षमा अमृत है, क्रोध विष है। क्षमा मानवता का अतीव विकास करती है और क्रोध उसका सर्वथा नाश कर देता है। क्षमाशील में संयम, दया, विवेक, परदुःखभंजन और धार्मिक निष्ठा ये सद्गुण निवास करते हैं। क्रोधावेशी में दुराचारिता, दुष्टता, अनुदारता, परपीड़कता आदि दुर्गुण निवास करते हैं और वह सारी जिंदगी चिन्ता, शोक एवं संताप में घिर कर व्यतीत करता है। उसको क्षण भर भी शांति से सांस लेने का समय नहीं मिलता। इस लिये क्रोध को छोड़ कर एक क्षमागुण को ही अपना लेना चाहिये, जिससे उभय लोक मे उत्तम-स्थान मिल सके। क्षमागुण सभी सद्गुणों की उत्पादक खान है। इस को अपनाने से अन्य सर्व श्रेष्ठ गुण अपने आप मिल जाते हैं।

३० संसार में जितने जीव हैं वे अपने-अपने कृत कर्मों के अनुसार दुराचारी या सदाचारी बन जाते हैं। जो दुराचारी, अधम और अधमाधम हैं उनको दयापात्र समझ कर, उन पर भी समभाव रखना, आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़ना और धर्म-ध्यान में तल्लीन रहना, यह आत्मोन्नति का सरल मार्ग है। सन्त पुरुष कहते हैं कि—

छिप कर रह संसार में, देख सबन को वेश।
ना काहु से राग कर, ना काहु से द्वेष॥

चुपचाप सांसारिक विविध वेशों को देखते रहो, परन्तु किसी के साथ राग-द्वेष

३५ उन्नति पथ पर चढ़ने की आशा अमीर और गरीब सब को रहती है। जो व्यक्ति सशक्त हो देवांशी गुणों को अपने हृदय में धारण करके शनैः शनैः चढ़ने के लिये कटिबद्ध रहता है वह उस ध्येय पर जा बैठता है और जो खाली विचारमग्न रहता है वह पीछे ही रह जाता है। आगे बढ़ना यह पुरुषार्थ पर निर्भर है। पुरुषार्थ वही व्यक्ति कर सकता है जो आत्मबल पर खड़ा रहना जानता है। दूसरों के भरोसे काम करनेवाला पुरुष उन्नति पथ पर चढ़ने का अधिकारी नहीं है। उसे तो अंत में गिरना ही पड़ता है।

३६ दुनियां में निशिपलायन करके भी कुछ साधु आगमज्ञ कहा कर अपनी प्रतिष्ठा को जमाये रखने के लिये अपनी कल्पित कलम के द्वारा पुस्तक, पेम्फलेट या लेखों में मीयांमिट्ठू बनने की बहादुरी दिखाया करते हैं, पर दुनियां के लोगों से जो बात जग-जाहिर होती है वह कभी छिपी नहीं रह सकती। अफसोस है कि इस प्रकार करने से क्या द्वितीय महाव्रत का भंग नहीं होता? होता ही है। फिर भी वे लोग आगम-प्रज्ञता का शीग लगाना ही पसंद करते हैं। वस्तुतः इसी का नाम अप्रशस्तता है। जन-मन-रंजन-कारी प्रज्ञा को आत्मप्रगतिरोधक ही समझना चाहिये। जिस प्रज्ञा में उत्सूत्र, मायाचारी, असत्य भाषण भरा रहता है वह दुर्गति-प्रदायक है। अतः मियांमिट्ठू बनने का प्रयत्न असलियत का प्रबोधक नहीं, किन्तु अवमता का द्योतक है।

३७ मानव की मानवता का प्रकाश सत्य, शौर्य, उदारता, संयमिनता आदि सद्गुणों से ही होता है। जिस में गुण नहीं, उसमें मानवता नहीं, अन्धकार है। अंधकार ही मानवता का संहारक है और प्राणीमात्र को यही संसार में ढकेलता है। अतएव प्राणीमात्र को दुर्भावनारूप अंधकार को अपने हृदय से निकाल कर सद्भावनामय प्रकाश प्रगट करना चाहिये। यही प्रकाश उच्चस्तर पर ले जाकर मानवजीवन को सफल बना कर शिवधाम में पहुंचाता है।

३८ जिनेश्वर वाणी अनेकान्त है। वह संयममार्ग की समर्थक है। वह सर्व प्रकारेण तीनों काल मे सत्य है और अज्ञानतिमिर की नाशक है। इस में एकान्त दुराग्रह और असत् तर्कवितर्कों को किंचिन्मात्र भी स्थान नहीं है। जो लोग इस में विपरीत श्रद्धा रखते और संदिग्ध रहते हैं, वे मतिमंद और मिथ्यावासना से ग्रसित हैं। जिस प्रकार सघन मेघ-घटाओं से सूर्यतेज दब नहीं सकता, उसी प्रकार मिथ्याप्रलापों से सत्य आच्छादित नहीं हो सकता। अतः किसी प्रकार का सन्देह न रख कर जिनेश्वर वाणी का आराधन करो, जिस से भवभ्रमण का रोग सर्वथा नष्ट हो जाय।

३९ जिस धर्म या समाज का साहित्य अत्युज्वल और सत्य वस्तुस्थिति का बोधक है संसार में वह धर्म या समाज सदा जीवित रहता है, उसका नाश कभी नहीं होता। आज भारत में जैनधर्म विद्यमान है इसका मूल कारण उसका उज्ज्वल साहित्य ही है। जैन-साहित्य अहिंसादि और सत्य वस्तुस्थिति का बोधक है। इसी कारण से आज भारतीय एवं भारतेतरदेशीय बड़े-बड़े विद्वान् इसकी मुक्तकंठ से सराहना कर रहे हैं। अतः जैन साहित्य का मुख उज्ज्वल और समादरणीय बन रहा है। सर्वादरणीय और सत्य साहित्य में संदिग्ध रहना अपनी संस्कृति का घात करने के बराबर है।

४० जिस देव में भय, मात्सर्य, मारणबुद्धि, कषाय और विषयवासना के चिह्न विद्यमान हैं, उसकी उपासना से उसके उपासक में वैसी बुद्धि उत्पन्न होना स्वभाविक है। जैनधर्म में सर्व दोषों से रहित, विषयवासना से विमुक्त और भवभ्रमण के हेतुभूत कर्मों से रहित एक वीतराग देव ही उपास्य देव माना गया है। जिस की उपासना से मानव ऐसा स्थान प्राप्त कर सकता है जहाँ भवभ्रमणरूप जन्म-मरण का दुःख नहीं होता। इस प्रकार के वीतराग देव की आराधना जब तक आत्मविश्वास से न की जाय, तब तक न भवभ्रमण का दुःख मिटता है और न जन्म-मरण का दुःख।

४१ संसार में यदि सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की जिज्ञासा हो तो सब के साथ नदी-नौका के समान हिल-मिल कर चलना सीखो। किसीके साथ विद्रोह या विरोध न करो। फिर भी धनवान् १, बलवान् २, ज्ञानवान् ३, तपस्वी ४, शीलवान् ५, अधिक परिवारी ६, शिक्षादाता गुरु ७, भूपति ८, क्रोध चंडाल ९, जुआरी १०, चुगलखोर ११, दुष्टात्मा १२, रोगग्रस्त १३, अभिमानी १४, असत्यवादी १५, स्वार्थी १६, बालक १७, अतिवृद्ध १८, दानवीर १९ और पूज्य पुरुष २०, इन वीश जनों के साथ भूल कर के भी कभी विरोध नहीं करना चाहिये; नहीं तो ये विपत्ति मे उतारे बिना कभी नहीं रहेंगे।

४२ 'विद्या धन उद्यम बिना, पावे ज कहो कौन ?' विद्या और धन ये दोनों सतत परिश्रम के ही फल हैं। मंत्रजाप, देवाराधना और ढोंगी पाखंडियों के गले पड़ने से विद्या और धन कभी नहीं मिल सकते। विद्या चाहते हो तो सुगुरुओं की सेवापूर्वक संगति करो, पुस्तक या शास्त्रपाठों का मनन करने में सतत प्रयत्नशील रहो। धन चाहते हो तो धर्म और नीति का यथावत् परिपालन करते हुए व्यापार-धंधा में सदा संलग्न रहो। यही विद्या या धनप्राप्ति का सरल उपाय समझना चाहिये।

४३ राज्य, गुरुदेव, शास्त्रनियम, ज्येष्ठवर्ग, सन्मित्र, जातिपंच और लोकापवाद-

इस प्रकार ये सात नियंत्रण-दबाव हैं। इन्हीं नियंत्रणों के डर से प्रत्येक प्राणी असदाचारण करते डरता है और स्वपर को सच्चरित्री बना सकता है। जो इन नियंत्रणों की अवहेलना करते-कराते हैं, उनको अपनी सच्चरित्रता से हाथ धोने पड़ते हैं। साथ ही अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है और यातनाएँ भी भुगतना पड़ती हैं, इसलिये अगर दुनियां में सच्चरित्री बन कुछ इज्जत जमाना या कमाना है तो उक्त नियंत्रणों का वास्तविक रूप से परिपालन करते रहना चाहिये।

४४ धन की अपेक्षा स्वास्थ्य, उसकी अपेक्षा जीवन और उसकी अपेक्षा आत्मा प्रधान है। शरीर को तंदुरस्त रखने के लिये प्रकृति के अनुकूल कम खाना, झगड़े के समय गम खाना और प्रतिक्रमणादि धर्मानुष्ठानों में उपवेशन एवं अभ्युत्थान करना चाहिये। जीवन और आत्म-विकास के लिये चुगलवाजी, निंदाखोरी, चालवाजी, कलह-वाजी आदि खराब आदतों को हृदय-भवन से निकाल कर दूर फेंक देना चाहिये और उनका शुद्ध आचार-विचारों, शुभाचरणों तथा विशुद्ध वातावरण में संयोजित करना चाहिये। यही निर्दोष मार्ग उनका भलिभाँति विकास करनेवाला माना गया है।

४५ उत्तम कुल में जन्म, धर्मिष्ठ परिवार, निर्वाहयोग्य लक्ष्मी, सुपात्र पत्नी, लोक में इज्जत, सद्गुरुओं का योग और शास्त्रश्रवण में रुचि-इतनी बातें प्राणियों को पूर्व पुण्योदय के विना नहीं मिलतीं। जो पुरुष या स्त्री इनको पा करके जीवन सफल या सार्थक नहीं कर लेता, उसके समान अभागा दुनियां में दूसरा कोई नहीं है। ऐसा शास्त्रकार महर्षियों का मन्तव्य है जो सोलह आना सत्य समझना चाहिये।

४६ दुःख-सतप्त जीवों को देख कर जो उनके दु:खों को मिटाने के लिये यथाशक्य प्रयत्न करता रहता है, जो न किसीकी निंदा करता है और न चुगलखोरी। जो न अपने ऐश्वर्य का मद करता है और न किसीको नीचा दिखाने का प्रयत्न। जो परस्त्रियों को माता एवं बहिन के समान समझता है और न मिथ्यादृष्टियों के चंगुल में फंसता है। जो अपने अंग में मोह-माया को स्थान नहीं देता और न क्रोधावेश को। जो सदा अपने ध्यान में मग्न रहता है, किन्तु विषयी कषायी देवों का कभी शरण नहीं लेता। जो घर-धंधों में उदासीन भाव से रहता है; परन्तु खोटे धंधों का आश्रय नहीं लेता। बस, ऐसा ही गुणसंपन्न व्यक्ति जैन-श्रावक स्वपर के जीवन का सुधार कर सकता है।

४७ जिस पुरुष में शौर्य, धैर्य, सहनशीलता, सरलता, सुशीलता, सत्याग्रह, गुणा-नुरागता, कषायदमन, विषयदमन, न्याय और परमार्थ रुचि इत्यादि गुण निवास करते

हैं, संसार में वही पुरुष देवांशी, आदर्श और पूज्य माना जाता है। ऐसे ही व्यक्ति को सब लोग सराहते हैं और उसके वचनों को बड़े आदर से श्रवण कर स्वपर का सुधार करने नें समर्थ बनते हैं।

४८ दुनियां में लालसा उस मृगतृष्णा के समान है, जिसका कोई भी पार नहीं पा सकता। कोई धन-कुवेर बनने की और कोई नरपति बनने की लालसा रखता है। कोई विद्वान् होने की तो कोई महायोगी बनने की उत्कंठा रखता है। कोई न्यूज़ पेपरों में प्रसिद्ध होने की तो कोई सत्ताधीश बनने की आशा रखता है। कोई दुनियांमात्र को झुकाने की तो कोई चर्चावाद में विजय पाने की जिज्ञासा रखता है। इस प्रकार लालसा के ही चक्र में प्राणी इस लालसा का अन्त नहीं पा सकते। अन्त में सर्व आशाओं को छोड़ कर संतोष धारण किया जायगा तभी शान्ति और सुख मिलेगा।

४९ संतोषी पुरुष में आपत्तिकाल के समय में धैर्यता, ऐश्वर्यावस्था में सहनशीलता, सभा के समय कुशलता, शास्त्रपरिशीलन के समय कुशाग्रता और व्यवहार करते समय सभ्यता आकर खड़ी होती हैं। इस कारण उसको कायरता या भीरुता स्पर्श नहीं कर सकती। उसके कान, नाक, नेत्र आदि भी कभी प्रतिकूलता का व्यवहार नहीं करते। अतः संतोषी प्रतिसमय कानों से शास्त्रश्रवण, नेत्रों से नीतिवाक्यामृतों का अवलोकन और नाक से सद्भावनाओं की सुगंध का ज्ञान करता रहता है. जिससे उसको पाप कर्म छू नहीं सकते।

५० आग्रही मनुष्य अपनी कल्पित बातों की पुष्टि के लिये इधर-उधर कुयुक्तियाँ खोजते हैं और उनको अपने मत की पुष्टि की ओर ले जाते हैं। मध्यस्थ दृष्टिसंपन्न व्यक्ति शास्त्र और युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूप को मान लेने में तनिक भी खींचतान या हठाग्रह नहीं करते। अनेकान्तवाद भी बतलाता है कि सुयुक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूप की ओर अपने मन को लगाओ, न कि अपने मनःकल्पित वस्तुस्थिति के दुराग्रह में उतर कर असली वस्तु-स्थिति के अंग को छिन्न-भिन्न करो। क्योंकि मानस की समता के लिये ही अनेकान्त-तत्त्वज्ञान जिनेश्वरों के द्वारा प्ररूपित किया गया है। उस में तर्क करना और शंक-कांक्षा रखना आत्मगुण का घात करना है।

५१ क्षमा से आत्मा में शुभ विचार प्रगट होते हैं, फिर शुभ विचारों के बढने से अच्छे संस्कार बनते हैं और शुभ संस्कारों के बल से उत्तरोत्तर मनुष्यों का विकास होता रहता है-जिस से वे धर्म रूप बन जाते हैं। जिन अपराधों की एक वक्त क्षमा मांगी जा चुकी है, उन अपराधों को फिर से न होने देना इसी का नाम सच्ची क्षमा है। खाली

लोकदिखाऊ क्षमा मांगना और जहां के जहां रहना उसको क्षमायाचना नहीं, धूर्तता समझना चाहिये। जहां वैमनस्य भावना होती है, वहां क्षमा याचना नहीं होती। मन को सर्वथा विरोध या वैमनस्य की दुर्भावना से हटा लेना और फिर कभी वैसी भावना नहीं आने देना, यही क्षमाप्रार्थना आत्मविकास करनेवाली है। अतः इस प्रकारकी क्षमाप्रार्थना करने के लिये सदोद्यत रहना अधिक लाभ प्रदायक है और यही क्षमावीर पुरुषों का आभूषण कही जाती है।

५२ तुम्बे का पात्र मुनिराज के हाथ में जाकर सुपात्र बन जाता है, संगीतज्ञों के द्वारा विशुद्ध बांस में वह जोड़ा जा कर मधुर-स्वर का साधन बन जाता है, दोराओं से बंध कर समुद्र या नदी को पार कराने का कारण बन जाता है और मदिरा-मांसार्थी लोगों के हाथ जाकर रुधिर या मांस रखने का भाजन बन जाता है। इसी प्रकार मनुष्य सज्जन और दुर्जन की संगति में पड़ कर गुण या अवगुण का पात्र बन जाता है। अतः मनुष्य को सदा अच्छी संगति में ही रहना चाहिये।

५३ विषमिश्रित भोजन को देख कर चकोर पक्षी अपने नेत्रों को मींच लेता है, हंस कोलाहल करने लगता है, सारिका वमन करने लगती है, तोता आक्रोश में आ जाता है, बन्दर विष्टा करने लगता है, कोकिल पक्षी मर जाता है, क्रौंच पक्षी नाचने लगता है, नकुल तथा कौआ प्रसन्न होने लगता है; अतः जीवन को सुखी रखने के लिये सावधानी से संशोध कर भोजन करना चाहिये।

५४ चार्वाक-नास्तिक मती प्रत्यक्ष प्रमाण को, बौद्धमती प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-इन तीन प्रमाणों को, अक्षपाद-नैयायिकमती प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान-इन चार प्रमाणों को, प्रभाकरमती तथा भट्टानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति-इन पांच प्रमाणों को और जैनधर्मावलम्बी प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों को मानते हैं। जैनों के सिवाय शेष मत एकान्त वस्तुस्थिति के समर्थक हैं। जैनी अनेकान्त-दृष्टि से वस्तुस्थिति के समर्थक हैं-जो सर्व प्रकार से यथार्थ है।

५५ गृहस्थों के साथ परस्पर अकारण बातों में समय बिताना, हँसी-मजाक करना, आक्रोश वचन बोलना, कटु-प्रपंच रचना, वस्तु लेकर नहीं दी, कहना, बात-बात में हंसना और भोजन करते, पेशाब करते तथा क्रियानुष्ठान करते बोलना, ये सभी बातें असत्य-वादिता के ही अंग हैं। इन बातों के आचरण से द्वितीय महाव्रत का भंग होता है। इन बातों से गृहस्थों के टुकड़े भारी पडते हैं और उनका बदला भिस्ती के घर जैसा होकर चुकाना पड़ता है।

५६ व्यभिचार सेवन करना कभी सुखदायक नहीं । इससे परिणामतः अनेक व्याधि तथा दुःखों में घिरना पडता है । उक्ति भी है कि 'भोगे रोगभयं' विषय भोगों में रोग का भय है, जो वास्तविक कथन है । व्यक्तिमात्र को अपने जीवन की तंदुरस्ती के लिये परस्त्री, कुलांगना, गोत्रजस्त्री, अंत्यजस्त्री, अवस्था में वड़ी स्त्री, मित्रस्त्री, राजराणी, वेश्या और शिक्षक की स्त्री; इन नौ प्रकार की स्त्रियों के साथ कभी भूल कर के भी व्यभिचार नहीं करना चाहिये। इनके साथ व्यभिचार करने से लोक में निन्दा और नीतिकारों की आज्ञा का भंग होता है, जो कभी हितकारक नहीं है ।

५७ चोरी, स्त्रीप्रसंग और उपकरण-संग्रह ये तीनों बातें हिंसामूलक हैं और संयम-साधकों को इनका सर्वथा परित्याग कर देना ही लाभकारक है । अजैन शास्त्रकारों का भी मन्तव्य है कि जो संन्यासी चोरी, भोग विलास और माया का संग्रह करता है वह कनिष्ठ योनियों में बहुत कालपर्यंत भ्रमण करता रहता है । इसी प्रकार १ गृहस्थ की आज्ञा के विना उसके घर की कोई भी वस्तु वापरना, २-किसी की वालक बालिका या स्त्री को फुसला कर भगा देना, ३ और जिनेश्वर निषेधित वातों का आचरण अथवा शास्त्रविरुद्ध प्ररूपणा करना और ४ गुरु या वड़ीळ की आज्ञा के विना गोचरी लाना, खाना या कोई भी वस्तु किसीको देना-लेना ये चारों वातें चोरी में ही प्रविष्ट हैं । अतः संयमी साधुओं को इन वातों से भी सदा दूर रहना चाहिये, तभी उनका संयम सार्थक होगा ।

५८ रात्रिभोजन के ये चार भांगे हैं-१ दिन को वनाया, दिन में खाया, २ दिन को वनाया रात्रि में खाया, ३ रात्रि को वनाया दिन में खाया, ४ अंधेरे में वनाया अंधेरे में खाया । इन भांगों में से पहला भांगा ही शुद्ध है । रात्रिभोजन के त्यागियों को इन भांगों में सावधानी रख कर और परिहरणीय भांगों को छोड़ कर अपना नियम पालन करना ही लाभदायक है । इसी प्रकार रसचलित रातवासी, अभक्ष्य और नशीली चीजें भी वापरना अच्छा नहीं है । इन वस्तुओं को वापरने से शरीर के स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है ।

५९ समय की गतिविधि और लोक-मानस की रुख को भलि भाँति समझ कर जो व्यक्ति अपना सद्व्यवहार चलाता है वह किसी तरह की परेशानी में नहीं उतरता । जो लोग हठाग्रह या अपनी अल्पमति के वश उक्त वात का अनादर करते हैं वे किसी भी जगह लोगों का प्रेम सम्पादन नहीं कर सकते और न अपने व्यवहार में लाभ पा सकते हैं । अतः प्रत्येक मानव को समय की कदर करना और लोकमानस की रुख को पहचान कर कार्यक्षेत्र में उतरना चाहिये ।

६० संसारी मनुष्यों में जो अपनी सुखसुविधा की कुछ भी चिन्ता न कर केवळ

परमार्थ में ही आत्मभोग देनेवाले हैं, वे उत्तम हैं। अपनी स्वार्थसाधना के साथ जो दूसरों के साधन में भी यथाशक्य सहयोग देते रहते हैं वे मध्यम हैं। जो केवल अपने स्वार्थ साधन में ही कटिबद्ध रहते हैं; परंतु दूसरों के तरफ लक्ष्य नहीं रखते, वे अधम हैं। और जो अपनी भी साधना नहीं करते और दूसरों को भी बरबाद करना जानते हैं वे अधमाधम हैं। इन चारों में से प्रथम के दो व्यक्ति सराहनीय और समादरणीय हैं। प्रत्येक प्राणी को प्रथम या दूसरे भेद का ही अनुसरण करना चहिये, तभी उसकी उन्नति हो सकेगी।

६१ भोगों के भोगने में व्याधियों के होने का, कुल या उसकी वृद्धि होने में नाश होने का, धनसंचय करने में राजा, चोर, अग्नि और सम्बंधियों का, मौन रहने में दीनता का, बल-पराक्रम मिलने में दुश्मनों का, सौंदर्य मिलने में वृद्धावस्था का, सद्गुणी बनने में इर्ष्यालुओं का और शरीर-संपत्ति मिलने में यमराज का; इस प्रकार प्रत्येक वस्तुओं में भय ही भय है। संसार में एक वैराग्य ही ऐसा है कि जिस में किसी का न भय है और न चिन्ता। अतः निर्भय वैराग्य मार्ग का आचरण करना ही सुखकारक है।

६२ जिस प्रकार वनाग्नि वृक्षों को, हाथी वनलताओं को, राहु चन्द्रमा की कला को, वायु सघन बादलों को और जल पिपासा को छिनभिन्न कर डालता है; ठीक उसी प्रकार असंयम भावना आत्मा के समुज्वल ज्ञानादि गुणों को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। जो लोग अपनी असंयम भावना को निजात्मा से निकाल कर दूर कर देते हैं और फिर उनके फँदे में नहीं फँसते वे अपने संयमभाव में रहते हुए अपने ध्येय पर आरूढ होकर सदा के लिये अक्षय्य सुखविलासी बन जाते हैं। इतना ही नहीं उन के आलम्बन से दूसरे प्राणी भी अपना आत्मविकास करते रहते हैं।

६३ संयम को कल्पवृक्ष की उपमा है; क्योंकि तपस्या रूपी इसकी मजबूत जड़ है, संतोष रूपी इसका स्कंध है, इन्द्रियदमन रूपी इसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं, अभयदान रूप इसके पत्र हैं, शील रूपी इस में पत्रोद्गम हैं और यह श्रद्धाजल से सींचा जाकर नव-पल्लवित रहता है। ऐश्वर्य और स्वर्गसुख का मिलना इस के पुष्प हैं और मोक्षप्राप्ति इस का फल है। जो इस कल्पवृक्ष की सर्व तरह से रक्षा करता है उसके सदा के लिये भव-भ्रमण के दुःखों का अन्त हो जाता है।

६४ पर-दोषानुप्रेक्षी होने की अपेक्षा स्वदोषानुप्रेक्षी होना विशेष अच्छा है। परसंपत्ति की ईर्ष्या करने की अपेक्षा अपने कर्मों की आलोचना करना विशेष लाभजनक है। दूसरों

की बुराई करने की अपेक्षा अपने आत्मदोषों की बुराई करना उत्तम है। दूसरों की बराबरी करने की अपेक्षा अपनी निर्बलता की चिन्ता करना अच्छा है। अपनी आत्मप्रशंसा करने की अपेक्षा गुरु, देव या महान् पुरुषों की प्रशंसा करना या सुनना सर्वोत्तम है। इन बातों के गुण या अवगुण को भलिविध समझ कर जो उनके अनुरूप चलने का प्रयत्न करता है, उसीको उत्तमता मिलती है।

६५ जिस व्यक्ति में न किसी प्रकार की विद्या है और न तपगुण, न दान है और न आचारविचारशीलता, न औदार्यादि प्रशस्त गुण हैं और न धर्मनिष्ठा। ऐसा निर्गुण व्यक्ति उस पशु के समान है जिसके शींग और पूंछ नहीं हैं; बल्कि उससे भी गयागुजरा है। जिस प्रकार सुंदर उपवन को हाथी और पर्वत को वज्र चौपट कर देता है, उसी प्रकार गुणविहीन नरपशु की संगति से गुणवान व्यक्ति भी चौपट हो जाता है। अतः गुणविहीन नरपशु की संगति भूल करके भी नहीं करना चाहिये।

६६ हाथों की शोभा सुकृत-दान करने से, मस्तिष्क की शोभा हर्षोल्लासपूर्वक वंदन-नमस्कार करने से, मुख की शोभा हित, मित और प्रिय वचन बोलने से, कानों की शोभा आप्तपुरुषों की वचनमय वाणी श्रवण करने से, हृदय की शोभा सद्भावना रखने से, नेत्रों की शोभा अपने इष्टदेवों के दर्शन करने से, भुजाओं की शोभा धर्मनिन्दकों को परास्त करने से और पैरों की शोभा बराबर भूमिमार्ग को देखते हुए मार्ग में गमन करने से होती है। इन बातों को भलीविध समझ कर जो इनको कार्यरूप में परिणित कर लेता है वह ही अपने जीवन का विकास कर लेता है और अपने मार्ग को निष्कंटक बना लेता है।

६७ साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, संघ के ये चार अंग हैं। इनको शिक्षा देना, दिलाना, वस्त्रादि से सम्मान करना, समाजवृद्धि के लिये धर्मप्रचार करना-कराना, हार्दिक शुभ भावना से इनकी सेवा में कटिबद्ध रहना और इनकी सेवा के लिये धनव्यय करना। इन्हीं शुभ कार्यों से मनुष्य वह पुन्यानुबंधी पुन्य उपार्जन करता है जो उसको उत्तरोत्तर ऊंचा चढ़ाकर अन्तिम ध्येय पर पहुंचा देता है और उसके भवभ्रमण के दुःखों का अन्त कर देता है।

६८ शास्त्रकारोंने जाति से किसीको ऊँच, नीच नहीं माना हैं, किन्तु विशुद्ध आचार और विचार से ऊंच, नीच माना हैं। जो मानव ऊंचे कुल में उत्पन्न हो करके भी अपने आचारविचार घृणित रखता है वह नीच है और जो अपना आचारविचार सराहनीय रखता है वह नीच कुलोत्पन्न हो करके भी ऊंच है। अजैन शास्त्रकार भी इसी प्रकार आ-

चारविचार से ही ऊंच, नीच मानते हैं, पर जाति से नहीं। हरिकेशी, मेतार्य और पारासर ऋषि नीच कुलोत्पन्न हो करके भी अच्छे कार्य से दुनियां में पूज्य और समादरणीय बने हैं। इस लिये जो मनुष्य उत्तम आचार-विचारों को अपना ध्येय बना लेता है वह उत्तम कहाता है और उनको अपना ध्येय न बनाने से ही अधम-पतित कहा जाता है।

६९ वर्षा का जल सर्वत्र समान रूप से बरसता है, परन्तु उसका जल इक्षुक्षेत्र में मधुर, समुद्र में खारा, नीमवृक्ष में कडुवा और गटर में गन्दा बन जाता है। इसी प्रकार शास्त्र-उपदेश परिणामसे सुन्दर हैं। लेकिन यथापात्र उसका परिणमन होता है और अच्छे पात्र में उत्तमता और अयोग्य पात्र में अधमता धारण कर लेता है। जो व्यक्ति लघुकर्मी, धर्मनिष्ठ तथा सद्भावना-संपन्न हैं, उनके हृदय में शास्त्रोपदेश अमृत के समान परिणित होकर उनका उद्धार करता है और जो भारीकर्मी, मिथ्याग्रसित और दुष्टस्वभावी हैं, उनके हृदय में वह उपदेश विष के समान परिणित हो जाता है और उनका उद्धार कभी नहीं कर सकता। यह सब प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों की लीला समझना चाहिये।

७० वास्तविक लज्जागुण को अपनाओ १, प्रत्येक व्यवहार में सत्य बोलना न छोड़ो २, कोई भी अपराध होने पर उसकी माफी शीघ्र मांग लो ३, शास्त्र या लोकविरुद्ध आचरण न करो ४, भले आदमियों की सभा में बैठना सीखो ५, गुंडाओं की संगत से बचकर रहने का प्रयत्न करो ६, देव, गुरु की सेवा से वंचित न रहो ७, शास्त्र-वांचन या श्रवण सदा करते रहो ८, परस्त्रियों को ताकना छोड़ दो ९। इन शिक्षाओं को अपना लेने से आत्मा दोषविमुक्त होता है। अतः इन शिक्षाओं को हृदय में अंकित करके इनका यथावत् परिपालन करते रहना चाहिये, तभी आत्मा उभय लोक में सुखविलासी बनेगा।

७१ दुनियां में ऐसा कोई गुणी पुरुष शेष नहीं, जिस पर खल पुरुषों ने दोषारोपण न किया हो। खल पुरुष लज्जालु पुरुषों को मतिहीन, त्यागी पुरुषों को दम्भी-कपटी, पवित्रात्माओं को धूर्त, शूरवीर पुरुषों को निर्दयी-दयाहीन, मौन रहनेवाले पुरुषों को बुद्धि-विकल, मधुरभाषी पुरुषों को गरीब, तेजस्वी पुरुषों को घमंडी-अभिमानी और स्थिरचित्तवाले पुरुषों को बलहीन-अशक्त कहते हैं। इस प्रकार के खल पुरुषों के परिचय से सदा दूर रहनेवाला व्यक्ति ही संसार में सुखी रह सकता है और अपने सद्गुणों की सुरक्षा कर सकता है।

७२ कुछ लोग अपनी आदत के वश दूसरों के अवगुणों और कमजोरियों की टीका-टिप्पण करते रहते हैं और विस्तृत रूप देते रहते हैं; किन्तु अपने अवगुणों और कम-

कोरियों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते। जब तक हम स्वयं अपनी कमजोर आदतों पर शासन न कर ले, तब तक हम दूसरों को कुछ नहीं कह सकते। अतः सर्वप्रथम प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निर्बलताओं को सुधार कर, फिर दूसरों को सुधारने की इच्छा रखना चाहिये।

७३ धर्म और अधर्म, पुन्य और पाप, ज्ञान और अज्ञान, तत्त्व और अतत्त्व तथा सन्मार्ग और असन्मार्ग-इनका वास्तविक स्वरूप समझा कर प्राणियों को जो मोक्षमार्ग के लिये प्रवृत्त करता है और दुर्गति में गिरते प्राणियों को बचाता है उसी पुरुष को तारण-तरण गुरु समझना चाहिये; क्यों कि उसका स्थान बहुत ऊँचा है। माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र आदि कुटुंब परिवार तो इसी लोक का साथी है; परन्तु गुरूपदिष्ट मार्ग परभव में भी साथ रहता है। वह कभी भी साथ नहीं छोड़ता। अतः ऐसे गुरु का संयोग पा कर उनकी सेवा-भक्ति से कभी वंचित नहीं रहना चाहिये।

७४ परिग्रह-संचय शांति का दुश्मन है, अधीरता का मित्र है, अज्ञान का विश्राम-स्थल है, बुरे विचारों का क्रीड़ोद्यान है, घबराहट का खजाना है, प्रमत्तता का मंत्री है और लड़ाई-दंगों का निकेतन है, अनेक पाप कर्मों का कोष है और विपत्तियों का विशाल स्थान है। अतः इसकी संग्रहखोरी छोड़ कर जो संतोष धारण कर लेता है, वह संसार में सदा के लिये सुखी रहता है और पापकर्मजन्य दुर्गति से अपनी आत्मा को बचा लेता है।

७५ द्यूत-सट्टा, आँक, फरक, घुड़दौड, तेजी-मन्दी आदि का धंधा, शतरंज, गंजीफा, तास आदि का खेलना १, मांसादन-मछली, पशु, पक्षी आदि का मांस भक्षण करना या बेचना २, सुरापान-दारु, ताड़ीपान, ब्रांडी, तमाखु खाना, बीड़ी, सीगरेट, चड्स, गांजा, भांग आदि नशाबाजी में रमना ३, वेश्या-गणिका के साथ संभोग करना ४, शिकार खेलना ५, चोरी-ताला तोड़ना, दूसरी चावी लगा कर ताला खोलना, खात पाड़ना, या पढाना, जेबों का कतरना, पर-थापण खोल कर वस्तु निकालना, चोर का पोषण करना, तथा चोर को छिपाना ६; परदार सेवा-दूसरों की स्त्री, विधवा, कुमारिका, पासवान तथा गुदा आदि के साथ मैथुन सेवन करना ७; ये सात प्रकार के कुव्यसन हैं जो राजयातना और लोकनिन्दा के कारण हैं। इनको दुर्गतिदायक समझकर सर्वथा छोड़ देना चाहिये, वरना महादुःखी होना पड़ेगा और मानवता का सर्वनाश हो जायगा।

७६ जिनेन्द्र-उपदिष्ट धर्ममार्ग में विपरीत श्रद्धा रखने को मिथ्यात्व कहा गया है। मिथ्यात्वी काले नाग से भी अधिक भयंकर हैं। काले नाग का जहर तो मंत्र या औषधि

द्वारा उतारा जा सकता है; परन्तु मिथ्यात्वग्रसित व्यक्ति की वासना कभी अलग नहीं की जा सकती। अगर अतिशय ज्ञानी भी उसे शान्तिपूर्वक समझावे तो भी वह अपनी मिथ्यावासना को नहीं छोड़ सकता, बल्कि शिक्षक को ही दोषी ठहराने का शक्तिभर प्रयत्न करता है। इस लिये नीतिकारों तथा धर्मशास्त्रोंने ऐसे व्यक्तियों को उपदेश देना मना किया है। वस्तुतः ऐसे मिथ्यात्वियों की संगति करनी भी अच्छी नहीं है।

७७ पशु और पक्षी ये दोनों उपकारक हैं। लोलुपता के निमित्त इनका हनन करना महान् अपराध है और कृतघ्नता है। पशुओं के अङ्गावयव सब तरह उपयोगी हैं और पक्षियों के अवयव की भी कई प्रकार की चीजें बनती हैं जो लोगों के वापरने में आती हैं। अतः निरपराध पशु, पक्षियों को मार डालना महापाप है। धर्मशास्त्र कहते हैं कि वे पशु, पक्षी मर कर मनुष्य होंगे और मनुष्य मर कर पशु, पक्षी के रूप में जन्म लेंगे। तब वे पशु, पक्षी उमसे उसी प्रकार का बदला लेंगे, जिस प्रकार कि मनुष्योंने उनके साथ किया था। इसलिये प्राणीमात्र को ऐसे अपराधों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, नहीं तो बदला चुकाना पड़ेगा।

७८ लालच, लोभ के लिये हिंसादि करना १, विना मतलब हिंसादि करना २, बदला लेने की भावना से किसी को मार देना ३, किसी को मारते हुए बीच में ही दूसरे को मार डालना ४, मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र समझने का मन में संकल्प-विकल्प करना ५, प्रत्येक व्यवहार में असत्य को ही अपनाना ६, तस्करवृत्ति से आजीविका चलाना ७, अपना बुरा चाहने की किसी के ऊपर शंका रखना ८, अभिमानवश किसीको नीचा दिखाने का प्रयत्न करना ९, थोड़े अपराधों में भी किसीको भारी दंड या सजा करना-कराना १०, कपट प्रपंचों से किसीको ठग लेना ११, लोभ के वश नीचे से नीच धन्धा रोजगार, या विषयपोषणार्थ किसीकी हत्या करना-कराना १२, और रास्ता को देखे विना अयतना से गमनागमन करना १३, इस प्रकार ये तेरह पापबन्ध के क्रियास्थान हैं। जो मनुष्य इनका परित्याग करके अपनी आत्मा को संयम में रखता है वह पापकर्म से छुटकारा पाजाता है।

७९ जिनाज्ञा का पालन करना १, मिथ्याभाव का त्याग करना २, सम्यक्त्व सह श्राद्धव्रतों का परिपालन करना ३, पर्वदिवसों में पौषध करना ४, दानादि चार प्रकार के धर्म को धारण करना ५, स्वाध्याय-ध्यान में बरतना ६, नमस्कार-मंत्र का जाप करना, ७, परोपकार के लिये तत्पर रहना ८, हरएक कार्य में यतना रखना ९, सविधि एकाग्रचित्त प्रभु-प्रतिमा की पूजा करना १०, जिनेश्वरों का स्मरण करना ११, धर्माचार्य की प्रशंसा

करना १२, स्वधर्मीभाइयों की सेवा करना १३, व्यवहारशुद्धि से द्रव्योपार्जन करना १४, भारी जुलुस के साथ रथयात्रा निकालना १५, प्राचीन अर्वाचीन जैनतीर्थों की यात्रा करना १६, सहनशील होना १७, प्रत्येक कार्य में विवेक रखना १८, आत्मा को संवर में रखना १९, सभ्यता से बोलना २०, जीवों पर सदा दया रखना २१, धार्मिक जनों की संगति करना २२, इन्द्रियदमन करना २३–चारित्र लेने की भावना रखना २४–इस प्रकार ये दैनिक और वार्षिक चौवीस कृत्य हैं। इनको भलीभांति आचरण करने–करानेवाला पुरुष सच्चा जैन श्रावक कहलाता है और वह मोक्ष–मन्दिर को बहुत जल्दी प्राप्त कर सकता है।

८० पृथ्वी, अप्, तेजस, वायु इन चारों की सात–सात लाख, प्रत्येक वनस्पति की १० लाख, साधारण–वनस्पति की चौदह लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय इन तीनों की दो-दो लाख, देवता, नारकी तथा तिर्यंच-पंचेन्द्रिय इन तीनों की चार–चार लाख और मनुष्य की चौदह लाख, इस प्रकार इन जीवों की चौराशी लाख योनियाँ–उत्पत्ति स्थान हैं। जो प्राणी धर्म से हीन हो दुर्भावनावाले हैं वे इन योनियों में दीर्घकाल पर्यंत यातना के साथ परिभ्रमण करते रहते हैं। जो लोग धर्मनिष्ठ तथा सद्भावना रखने-वाले हैं वे इन योनियों से छुटकारा पाकर सुखी बन जाते हैं।

८१ काला–बजार, कूड़–कपट, लूटपाट और लांचरूश्वत के द्वारा चाहे जितनी दौलत संग्रह कर ली जाय और उससे चाहे जितना ऐशआराम किया जाय, पर वह तभी तक है जब तक पूर्व संचित पुन्य की प्रबलता है। पुण्य के नाश होने बाद न आमोद–प्रमोद हैं और न दौलत। यमराज का आमंत्रण आने बाद उससे न दौलत बचा सकेगी और न आमोद–प्रमोद, न सगे सम्बन्धी और न स्वजन मित्रादि। यम के पकड़ ले जाने बाद सब यहाँ ही रह जायँगे। सिर्फ दौलतजन्य पाप ही साथ चलेगा और परभव में वही कष्ट के गहरे गर्त में पटक देगा। यह निःसंदेह समझ कर प्राप्त दौलत से सुकृत कार्य कर लो वह तुम को आगे भी सहायक हो सकेगा।

८२ मनुष्य जैसा हराम–सेवन और संग्रहखोरी में तल्लीन हो जाता है, वैसा वह यदि प्रभु–भजन या उसकी आज्ञा पालन में रहा करे तो उसका बेड़ा पार होते देर नहीं लगती। जिस तरह गर्भावस्था में, व्याधि अवस्था में, रुचियोग्य कथाश्रवणा-वस्था में और श्मशानयात्रा में मनुष्य जैसी मति रखता है, वैसी मति यदि सदा काल धार्मिक कार्यों में रक्खा करे तो उसे यमराज का कुछ भी भय नहीं रह सकता। अतः अपनी मति को सदाकाल वैराग्य रस में ओतप्रोत रक्खो, जिससे जन्म–मरण सम्बन्धी दुःख मिटता जाय और आत्मा सुखमय बनती जाय।

८३ देवलोक में देवों को असंख्य वर्षों का आयुष्य और फिर निराबाध महान् सुखभोग प्राप्त हैं। आखिर उनका भी अन्त अवश्यंभावी है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्यादि प्राणियों का आयुष्य और सुख किसी भी गिनती में नहीं हैं। इसलिये अशाश्वत एवं क्षणभंगुर सुख में लिप्त न रह कर वैसे सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करो जो कभी नाशवान न हो। अतः सुदेव, सुगुरु और सुधर्म इस रत्नत्रय की विशुद्ध भाव एवं आत्म-विश्वास से सदा सेवा करते रहो। इसी सेवा से अक्षय्य सुख मिलेगा।

८४ कर्मसत्ता के आगे किसी की सत्ता नहीं चल सकती। कर्मोंने अपनी सत्ता से अनन्तवली श्री ऋषभदेवजी को बारह महिने तक निराहार रक्खा। इनके ही प्रभाव से श्री महावीर प्रभु को साडे बारह वर्ष तक असह्य उपसर्गों का सामना करना पड़ा। सगर चक्रवर्त्ती को ६० हजार पुत्रों के एकदम मरण का दुःख भुगतना पड़ा। सनत्कुमार चक्रवर्ती को घड़ीभर में सोलह रोग होने का कष्ट देखना पड़ा। रामचन्द्रजी को चौदह वर्ष तक जंगल-जंगल में भटकना पड़ा और पांडवों को बारह वर्ष तक इधर-उधर घूमना पड़ा; इस प्रकार कर्मसत्ता सर्वोपरी है और इसके आगे सभी सत्ताएँ निर्बल हैं। कर्मसत्ता को जिसने जीत लिया वही पुरुष सच्चा विजयी है, इसलिये इसको जीतने का सच्चा मार्ग पकड़ना सीखो।

८५ हाट, हवेली, जवाहरात, लाडी, वाडी, गाडी, सेठाई और सत्ता सब यहीं पड़े रहेंगे। दुःख के समय इनमें से कोई भी भागीदार नहीं होगा और मरे बाद इनके ऊपर दूसरों का आधिपत्य हो जायगा। धर्म, दयालुता, परोपकार आदि जो सुकृत कार्य है और तज्जन्य पुन्य है वही साधक के साथ जायगा और वही उसको भवान्तर में सहाय देगा और उसको सुखकारक स्थान प्राप्त करा सकेगा। इसलिये अच्छे कार्यों को कभी मत छोड़ो, अन्यथा दुःखी होना पड़ेगा। जब अपनी बात सबको मनाने की और स्नेही, सम्बन्धी, मित्रों की और क्षणभंगुर शरीरपोषण की रात-दिन चिन्ता करते हो तो फिर भवान्तर में सुखी होने की चिन्ता क्यों नहीं करते ?—परभव में तो सुकृत कार्य ही काम देगा; हाट, हवेली आदि नहीं।

८६ धोलका-नरेश वीरधवलने जब वस्तुपाल तेजपाल को मंत्रीपद लेने को कहा तब दोनों ने कहा कि पहली सेवा वीतराग धर्म की, दूसरी सेवा धर्मगुरुओं की और उनके बाद तीसरी सेवा आप की है। यदि यह बात आप को पूर्णतया मंजूर हो तो हमें मंत्रीपद लेने में किसी तरह की आपत्ति नहीं है, वरना बाधा हो सकती है; क्यों कि मंत्रीपद की अपेक्षा धर्म की सेवा महत्तम और अधिक है। इस प्रकार के धर्मदृढ व्यक्ति आज कहां है ?

मतलब कि समाज या राष्ट्र में ऐसे व्यक्ति खड़े होंगे, तभी उसका संचालन व्यवस्थित रूप से हो सकेगा।

८७ भीमा कुडलिया घृत का व्यापारी था, इससे वह धनोपार्जन करके अपने कुटुंब का प्रतिपालन करता था। एक दिन वह ग्रामान्तर से अपने घर की ओर जा रहा था। मार्ग में कुमारपाळ राजा का मंत्रीमंडल किसी जिनालय का उद्धार कराने की पानड़ी की झंझट कर रहा था। भीमा कुडलिया भी वहां गया और उसने अपना सर्वस्व पानड़ी में भर दिया और सबसे ऊपर अपना नाम रखाया। आज ऐसे उदार सद्गृहस्थ कहां हैं? आजके मक्खीचूस गृहस्थ तो ऐसे अवसर को टालने के लिये इधर-उधर अपना मुँह छिपाते फिरते हैं। जब तक समाज में भीमा जैसे उदार गृहस्थ न होंगे, तब तक समाज ऊंचा नहीं उठ सकता।

८८ अच्छा और बुरा होना सब कर्म की लीला है। उसमें दूसरा कोई निमित्तभूत नहीं है। यह सिद्धान्त अटल और अमर है। अपने पिता के व्यर्थ के मद को न सह कर मयणासुंदरीने हंसते मुख कोढी श्रीपाळ को वर लिया। वही श्रीपाळ श्रद्धापूर्वक नवपद-आराधना के प्रभाव से देवकुमार जैसा स्वरूपवान् बन गया। आज ऐसी दृढ श्रद्धालु श्रावक, श्राविकाएँ कहां हैं?। आज तो श्रावक, श्राविकाएँ जादू, टोना, अंधविश्वास, भ्रमणा, कजियाखोरी और ढोंगी देव, देवियों के पीछे अपने को बरबाद कर रहे हैं। समाज में जब तक धर्मश्रद्धालु श्रावक, श्राविकाएँ न होंगी तब तक समाज अस्तव्यस्त दशा में ही रहेगा।

८९ भोगी-भ्रमर शालीभद्रजी के दर्शनार्थ राजा श्रेणिक उनके घर आया। भद्रा शेठानीने उसका शाही स्वागत किया। शालीभद्र को कहा कि अपना स्वामी राजा-श्रेणिक आज अपने घर आया है। शालीभद्रने सोचा क्या अभी भी मेरे ऊपर स्वामी है?, अरे! मेरी पुन्याई कम है। इसलिये ऐसा मार्ग पकड़ा जाय जिससे अहमिन्द्र पद मिले। बस, शालीभद्रने अपना दैवीवैभव तथा अप्सरा जैसी सुंदर बत्तीस स्त्रियों का परित्याग करके श्रीमहावीरप्रभु के समीप भागवती दीक्षा लेली। उसका पालन कर उसने अहमिन्द्र पद प्राप्त कर लिया। आज ऐसे ज्ञानगर्भित वैराग्यशाली नरपुंगव कहां हैं?। इस प्रकार की आत्मा या उनके सदृश आत्माओं का महाभाग्य से ही दर्शन हो सकता है।

९० खाते, पीते, हरते-फिरते, शयनादि करते आदि सांसारिक कार्यों में लोग सदा व्यस्त रहते हैं। परन्तु सामायिक, पूजा आदि धर्मकार्य करने में वे कई तरह के बहानें निकालते हैं। इसी प्रकार विषय, कषाय आदि में लीन शेठ, शाहूकार, प्रोफेसर, अमलदार आदि सत्ताधारियों को लोग बड़े प्रेम से झुक-झुक कर प्रणाम करते हैं; लेकिन संसार-त्यागी महापुरुषों को हाथ जोड़ने में भी उनको शरम आती है और अपनी संतति को

मैट्रिक, एम. ए., बी. ए., एल्. एल्. बी. या इनसे भी अधिक आई. सी. ऐस. आदि डीग्रियों को पास कराने में लोग हजारों रुपयों की ख्वारी कर डालते हैं, किन्तु गरीबों की शिक्षा या आह के लिये कुछ नहीं देते और न धार्मिक अध्ययन कराने में ही अपने हाथ को लम्बा करते हैं। याद रक्खो इससे कोई कल्याण नहीं होगा। आत्म-कल्याण तो गरीबों को शाता पहुंचाने पर ही होगा।

९१ मरुदेवी माताने अपने पूर्वभव की पुन्याई से इस भव के दरमियान ही अपने सामने ६५ हजार पीढ़ियां निराबाध रूप से देखीं। उन में कभी किसी का सिर तक दुःखना भी नहीं सुना और न कभी किसी को मरा हुआ सुना; इसीका नाम संसार में महासुख है। जिसके कुटुम्ब में कभी सुखी और कभी दुःखी, इस प्रकार तुमुल जमा रहता है, वह सुखी नहीं महादुःखी है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह मरुदेवी माता के समान सांसारिक सुख संपादन करने का यथाशक्य प्रयत्न करें।

९२ जिस प्रकार आधा भरा हुआ घड़ा छलकता है, भरा हुआ नहीं; कांसी की थाली रणकार शब्द करती है, स्वर्ण की नहीं और गदहा भूंकता है, घोड़ा नहीं; इसी प्रकार दुष्ट-स्वभावी दुर्जन लोग थोड़ा भी गुण पाकर ऐंठने लगते हैं और वे अपनी स्वल्प बुद्धि के कारण सारी जनता को मूर्ख समझने लगते हैं। सज्जन-पुरुष होते हैं वे सद्गुण पूर्ण होकर के भी अंशमात्र ऐंठते नहीं और न अपने गुण को ही अपने मुख से जाहिर करते हैं। जैसे सुगंधी वस्तु की सुवास छिपी नहीं रहती, वैसे ही उनके गुण अपने आप चमक उठते हैं। इसलिये दुर्जनभाव को छोड़ कर सज्जनता के गुण अपनाने की कोशीष करना चाहिये, तभी आत्म-कल्याण होगा।

९३ यह निश्चयतः याद रक्खो कि जीवन, स्नेही, वैभव और शरीर-शक्ति आदि जो कुछ दृश्यमान सामने है, वह समुद्रीय तरंगों के समान क्षणभंगुर है। यह न कभी किसी के साथ गया और न किसी के साथ जाता है। क्योंकि यह सब स्थायी नहीं है, यह अनुभव सिद्ध बात है। जीव संसार में अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है। वे शुभाशुभ कर्मोदय से कभी पिता, कभी पुत्र, कभी माता, कभी पुत्री, कभी पत्नी और कभी बहिन बन जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में एक धर्म को ही अपना लेने से आत्मा का उद्धार होना है और किसी से नहीं।

९४ महाराजा दशरथजी भरत को राज्य ग्रहण करने को आज्ञा देते हैं। भरत इन्कार करता हुआ रामचन्द्रजी से प्रार्थना करता है कि राज्य लेने के योग्य आप हैं, मैं तो आपका सेवक रहना चाहता हूँ। रामचन्द्रजी जब यह बात मंजूर नहीं करते, तब भरत

के नेत्रों से अश्रुधारा वह निकलती है। आज भरत जैसा विनम्र, विवेकी और भ्रातृप्रेमी कौन है ? इस प्रकार के विनम्र निःस्पृही विनयी पुरुष होंगे, तभी तो वह रामराज्य कहा जायगा और जनता सुखी हो सकेगी। जहां घूसखोरी, लूटपाट, महंगवारी और आपस की फूट का साम्राज्य रहता है, न वहां प्रजा को सुख मिलता है और न सुखभर निद्रा आ सकती है।

९५ शान्ति तथा द्रोह ये दोनों एक दूसरे के विरोधी तत्व हैं। जहां शांति हो, वहां द्रोह नहीं और जहां द्रोह हो वहां शांति का निवास नहीं होता। द्रोह का मुख्य कारण है अपनी भूलों का सुधार नहीं करना। जो पुरुष सहिष्णुतापूर्वक अपनी भूलों का सुधार कर लेता है, उसको द्रोह स्पर्श तक नहीं कर सकता। उसकी शान्ति आत्म-संरक्षण, आत्म-संशोधन और उसके विकासक मार्ग को आश्रय देती है। जिससे भाई भाई में, मित्र मित्र में, जन जन में सभी व्यक्तियों में मेल-जोल का प्रसार होता है और पारस्परिक संगठन-बल बढ़ता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को द्रोह को सर्वथा छोड देना चाहिये और अपने प्रत्येक व्यवहारकार्य में शांति से काम लेना चाहिये। लोगों को वश करने का यही एक वशीकरणमन्त्र है।

९६ जैसे वटवृक्ष का बीज छोटा होते हुए भी उससे बड़ा आकार पानेवाला अंकुर निकलता है, उसी तरह जिसका हृदय विशुद्ध है उस का थोड़ा किया हुआ पुन्यकर्म भी भारी रूप को पकड़ लेता है। दान, शील, तप, भावरूप धर्मचतुष्टय में भावधर्म सबसे अधिक महत्त्वशाली है। संसार में धार्मिक और कार्मिक सभी क्रियाएँ सद्भाव से ही सफल होती हैं। अतः भावधर्म को स्वर्गापवर्गके महल पर चढ़ने की निसरनी और भवसागर से पार होने की नौका के समान माना गया है। इसलिये कोई भी धर्मानुष्ठान किया जाय, उसमें भावविशुद्धि को स्थान देना चाहिये, तभी उसका वास्तविक फल मिल सकता है।

९७ साधु में साधुता तथा शान्ति और श्रावक में श्रावकत्व और दृढधर्म परायणता होना आवश्यकीय हैं। इनके बिना उनका आत्मविकास कभी नहीं हो सकता। जो साधु अपनी संयमक्रिया में शिथिल रहता है, थोड़ी-थोड़ी बात में आग-बबूला हो जाता है और सारा दिन व्यर्थबातों में व्यतीत करता है, इसी तरह जो श्रावक अपने धर्म पर विश्वास नहीं रखता, कर्तव्य का पालन नहीं करता और आशा से ढोंगियों की ताक में रहता हैं; उस साधु एवं श्रावक को उन्हीं पशुओं के समान समझना चाहिये जो मनुष्यता से हीन हैं। कहने का मतलब कि साधु एवं श्रावक को आत्मविश्वास रखकर अपने-अपने कर्तव्य-पालन में सदा दृढ़ रहना चाहिये तभी उनका प्रभाव दूसरे व्यक्तियों पर पड़ेगा और वे अन्य भी उनके प्रभाव से प्रभावित हो कर अपने जीवन का विकास साध सकेंगे।

९८ 'भाग्य करे सो होय' यह लोकोक्ति सोलह आना सत्य है। मनुष्य अपने भाग्यबल से असंभव को संभव, कठिन को सहज, दुर्लभ को सुलभ और अनुलंघनीय को लंघनीय बना लेता है। यह सब तब ही हो सकता है जब भाग्य प्रबल होता है। भाग्य के प्रतिकूल हो जाने पर मनुष्य में कुछ भी करने का सामर्थ्य नहीं रहता। भाग्य को बलवान बनाये रखने का दुनियां में धर्म के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। धर्म एक ऐसी वस्तु है जिस से चिंतामणिरत्न के समान सभी आशाएं क्षणभर में सफल होती हैं। प्रभु-प्रतिमा के दर्शन करना, उसकी सविधि पूजा करना, तप, जप, प्रभावना, सद्भावना, परोपकार और दयालुता आदि सुकृत कर्म धर्म के अङ्ग हैं। इनका आत्मविश्वास पूर्वक समाचरण करते रहने से भाग्य की प्रबलता होती है। अतः मानवको अपनी प्रगति के लिये धर्माङ्गों को सदा अपनाते रहना चाहिये।

९९ मनोयोग, वचनयोग, काययोग, ये तीनों अपनी कुप्रवृत्ति तथा तज्जन्य पाप-कर्मबन्ध कराने में अग्रसर हैं। और ये ही मानवों को तुरन्त संसार में पटक कर यातना के गहरे गर्त में डालनेवाले हैं। यदि मानव इन पर अपनी सत्ता जमा कर, इन्हें अच्छी प्रवृत्ति की ओर लगावें तो उस को किसी प्रकार की यातना नहीं भुगतनी पड़ती। शास्त्र-कार फरमाते हैं कि जो मनुष्य सहनशीलता, सुशीलता, सद्भावना, उदारता आदि निर्वद्य प्रवृत्तियों में सदा रमण करता रहता है उसे उक्त योगों की कुप्रवृत्ति कभी नहीं दबा सकती। अतः मानवों को अपने विकास के लिये निर्दोष शुभ प्रवृत्तियों का आश्रय लेना चाहिये, तभी अपनी प्रगति वे आसानी से कर सकेंगे।

१०० पूंजीपति व्यक्ति अकुलीन हो तो भी कुलीन, निर्बल हो तो सबल, मूर्ख हो तो जानकार और भीरु हो तो निर्भीक माना जाता है। यह उसके पास के धन का महत्व है। और इसीसे वह संसार में सुखोपभोगी, आमोद-प्रमोदी बना रहता है। परन्तु उसके लिये इससे दुर्गति द्वार बन्द नहीं होता और न उसकी श्रीमन्ताई वहां सहायक होती है। वस्तुतः धनवन्त बनने की सार्थकता तब ही होती है जब वह अपने गरीब स्वधर्मीबन्धुओं की एवं दीन, हीन, दुःखी प्राणियों की और दुःख-दर्द-पीडित जीवों की हृदय से सेवा करे तथा छात्रालय, ज्ञानालय, धर्मालय आदि की सुव्यवस्था करे। पुन्यवृद्धि और अच्छी गति की प्राप्ति इन्हीं सुकृत कार्यों से होती है।

१०१ मनुष्य मानवता रख कर ही मनुष्य है। मानवता में सभी धर्म, सिद्धान्त, सुविचार, कर्तव्य, सुक्रिया आ जाते हैं। मानवता, सत्संग, शास्त्राभ्यास एवं सुसंयोगों से ही आती और बढ़ती है। मनुष्य हो तो मानव बनो। बस धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब प्राप्त हो सकेंगे।

वर्तमानाचार्य व्याख्यान-वाचस्पति श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज सह मुनिमण्डल.
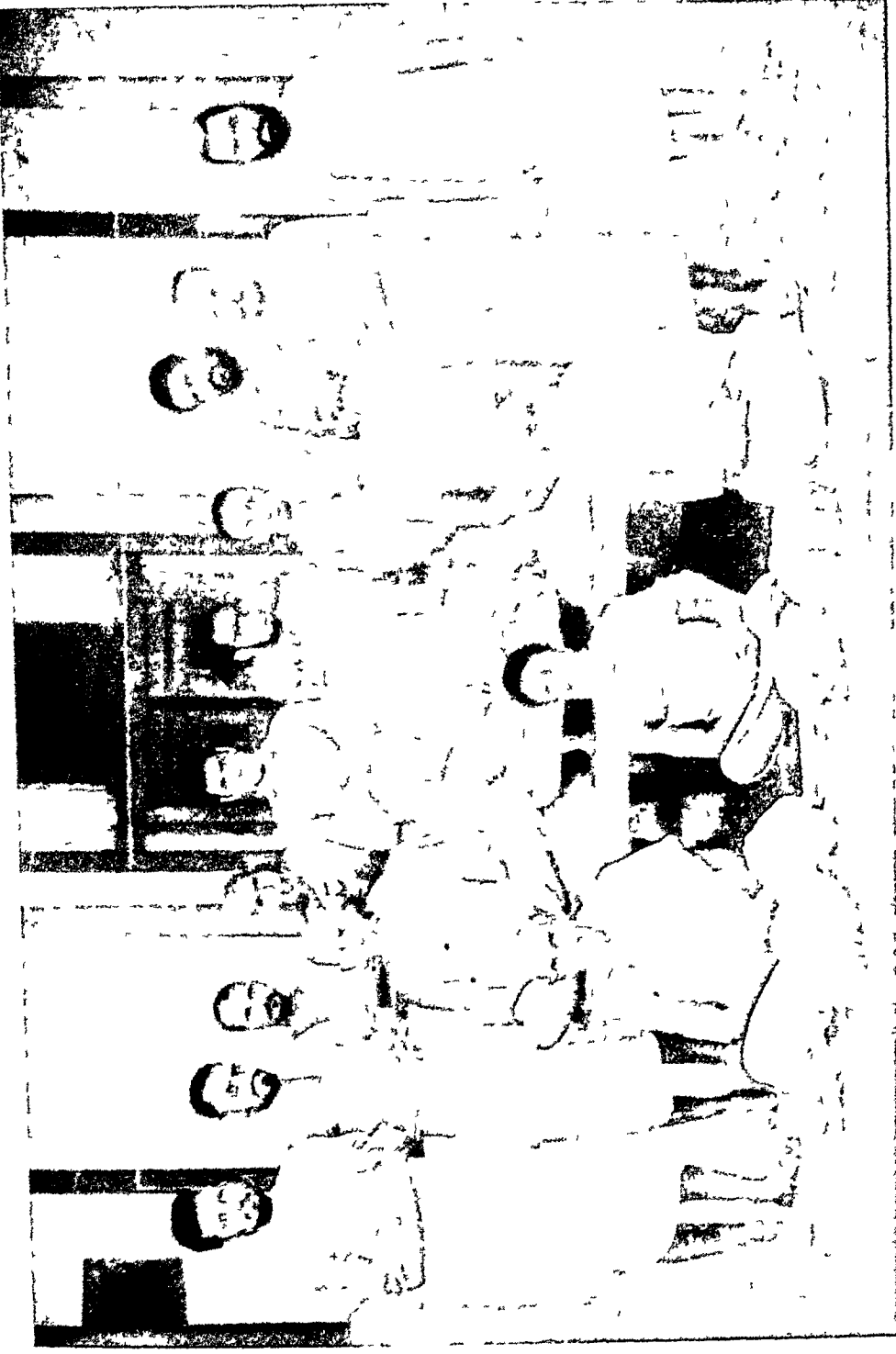
पट्टपर -मध्ये मे आचार्यश्री, उनके दाहे पक्ष पर मुनिश्री लक्ष्मीविजयजी म.
वाम पक्ष पर मुनिश्री विद्याविजयजी म
नीचे विराजितः-दाहे मुनिश्री सागरानंदविजयजी म वाम ओर मुनिश्री कल्याणविजयजी म.
मध्य मे बालमुनि श्री भानुविजयजी
खडे हुओ में दाहे से वाहे.-सर्व मुनिश्री लक्ष्मणविजयजी, देवेन्द्रविजयजी, भुवनविजयजी, रसिकविजयजी, जयप्रभविजयजी,
जयतविजयजी सौभाग्यविजयजी, पुण्यविजयजी, कातिविजयजी और शातिविजयजी म.

धन्यवाद और अभिनन्दन।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर-जयन्ती दिवस विक्रम सवत् २०११ पौष शुक्ला ७ शनिवार को आहोर (राजस्थान) में भारी समारोह के साथ मनाया गया था। उसी अवसर पर गुरुदेव का दिवंगत अर्धशताब्दी महोत्सव मनाने के सम्बंध में विचार-विमर्श, प्रवचन, प्रस्ताव आदि हुये और दूसरे ही दिन आहोर, वागरा संघ के प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों के द्वारा निश्चित हो कर महोत्सव ओर गुरुदेव का स्मारक-ग्रन्थ शानदार प्रकाशित कराने का प्रस्ताव पास हुआ। इस कार्य को सपन्न करने के लिये अर्धशताब्दी तक विद्वानों से लेख मंगवा कर संपादित करने का कार्यभार श्रीदौलतसिंहजी लोढ़ा वी. ए, को सौंपा गया। लोढ़ाजीने इस कार्य को भली भाति सम्पन्न करने के लिये खुद के सहित विद्वान् सम्पादक-मंडल वनाया। सम्पादक-मण्डल के विद्वान् सदस्यों की तत्परता और कर्मठता से यह कार्य सम्पन्न हो कर आज हमारे सामने प्रस्तुत है।

लगभग १०१ छोटे-वड़े लेखों का जो इस स्मारक ग्रन्थ मे स्तुत्य संकलन हुआ है और लेखों में अधिकांश लेख भारत प्रसिद्ध विद्वानों के हैं यह संपादक-मंडल के श्रम का स्पष्ट द्योतक है। कई लेख तो ऐसे हैं-जिनको लिखने में उनके लेखकों को वड़ा श्रम और समय लगाना पड़ा है। सचमुच ग्रन्थ दिवंगत आत्मा गुरुदेव श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के कीर्तिनाम के अनुरूप ही वन सका है। यह सव मुनिश्री विद्याविजयजी के प्रयत्न और तत्परतापूर्ण श्रम के स्वरूप है, जो कई दिनों तक प्रगतिशील रह कर आज इस ग्रन्थ के रूप में मूर्तित हुआ है।

स्मारक-ग्रन्थ का संपादन और प्रकाशन के लिये सर्व प्रथम वागरा श्री संघने रू. ११००१) और आहोर श्रीसंघने रू. १०००१) का स्तुत्य दान दिया है जो एक मात्र मुनिश्री विद्याविजयजी के प्रयत्न का ही सुफल है। इसलिये मुनिश्री विद्याविजयजी और वागरा तथा आहोर का श्रीसंघ अत्यंत साधुवाद के पात्र हैं। इसी प्रकार हमारे विद्वान् मुनिमंडलने संपादक-मंडल को उपयुक्त लेख-सामग्री जुटाने में सराहनीय योग दिया-दिलाया है यह मुझ से अज्ञात नहीं है। अतः उन को भी हार्दिक धन्यवाद है।

अखिल भारतवर्षीय प्रतिनिधि प्रथम सम्मेलन, बडनगर में सर्वानुमति से स्मारक-ग्रन्थ के समस्त लेखों का अवलोकन कर जाने के लिये मुनिश्री कल्याण-विजयजी वैयाकरणी, इन्दौरनिवासी पं० जुहारमलजी न्याय-काव्यतीर्थ, मन्दसोर-निवासी पं० मदनलालजी जोशी शास्त्री, साहित्यरत्न तथा राजमलजी लोढा साहित्यभूषण, जैन साहित्यरत्न, इन चारों सदस्यों का एक संशोधक-मंडल कायम किया। इन सदस्योंने मेरे समक्ष प्रस्तुत सभी लेखों का वांचन और अवलोकन कर के समाज के प्रति जो प्रेम प्रदर्शित किया है, उसके लिये उनको भी अभिनन्दनपूर्वक धन्यवाद दिया जाता है।

ग्रन्थ का कलेवर जो इतना सुंदर, आकर्षक और प्रशंसनीय बन सका है, उस में प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत् अगरचंदजी नाहटा और श्रीयुत् दलसुखभाई मालवणियाजी का पूरा-पूरा सहयोग रहा हुआ है, इनके श्रम का जितना धन्यवाद दिया एवं अभिनंदन किया जाय उतना न्यून ही है। संपादक-मंडल का यह स्तुत्य कार्य सच्चे श्रम का एक चिर प्रतीक रहेगा। सम्पादक-मंडल का भी हम साधुवाद के साथ अभिनंदन करते हैं।

अखिल भारतवर्षीय श्री जैन श्वेताम्बर सनातनत्रिस्तुतिक संघ भी साधु-वाद का पात्र है-जिसने अपने स्वर्गीय गुरुदेव के नाम उन के कार्य के अनुरूप ही विशाल अर्धशताब्दी महोत्सव समायोजित किया और उन के स्मारक का यह बृहद्ग्रन्थ प्रकाशित करा कर प्रसिद्ध किया!

अंत में विद्वानों के लेख लाना, मंगाना और स्मारक-ग्रंथ को छपाने में दौलतसिंहजी लोढ़ाने जो एक श्रमशील योग दिया है, उनकी कर्त्तव्यपरायणता पर एवं इस सफलता पर मैं मुग्ध हो कर उनको हार्दिक संतोष के साथ शुभाशीर्वाद देता हूँ। शमित्यलम्।

श्रीविजययतीन्द्रसूरि।

खाचरोद, गुरुसप्तमी संवत् २०१३,

सम्पादकीय वक्तव्य

अपने बड़ों का सम्मान करने की भावना जाग्रत प्रजा का शुभ लक्षण है। गुणी-जनों के सम्मान करने की प्रवृत्ति वैसे तो चिरकाल से सभ्य समाज द्वारा आदृत रही है; परन्तु फिर भी स्वातन्त्र्य प्राप्ति के पश्चात् यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिक दिखाई देती है। विद्यमान पुरुषों का तो सन्मान किया ही जाता है; किन्तु दिवंगत महान् आत्माओं की जन्म और निधन तिथि को निमित्त बना कर उनका गुणगान किया जाता है, महोत्सवपूर्वक उनकी स्मृति मनाई जाती है और श्रद्धांजलियां अर्पित की जाती हैं। फलतः स्मारक और अभिनंदन ग्रंथों की इधर कुछ वर्षों से अच्छी वृद्धि हो रही है। जैन क्षेत्र में इस दिशा में अभी थोड़े ही ग्रंथ प्रकाशित हुये हैं और उनमें भी प्रामाणिक एवं उपादेय सामग्री कितनी आ पाई है यह बलपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अत्युत्साह में कहीं २ तो विवेक की मर्यादा का भी उल्लंघन देखा गया है और कला और साहित्य का ह्रास और गौणस्थान भी। ऐसी स्थिति और मनोवृत्ति में स्मारक एवं अभिनंदन ग्रन्थ का आयोजन करके उसे मनोवांछित रूप से सम्पन्न करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। यह निश्चित है कि ऐसे ग्रंथों में लक्ष्य रूप से तो एक विशिष्ट पुरुष का अभिनन्दन और उनकी स्मृति ही होते हैं; परन्तु विद्वानों के ज्ञान एवं अनुभव के भण्डार होना भी इन ग्रंथों का स्थायी महत्व है। इनके द्वारा विविध विषयों की जानकारी से हमारी ज्ञानवृद्धि होती है यह सुस्पष्ट है।

प्रस्तुत ग्रंथ में जैनधर्म और संस्कृति, साहित्य और कला, इतिहास और पुरातत्त्व, विज्ञान और समाज संबंधी जैन दृष्टि से पूरी २ और युगोपयोगी सामग्री देना हमारा प्रधान लक्ष्य था और इसी निमित्त १२५ विषयों की विषय सूची भी हिन्दी तथा अंग्रेजी में प्रकाशित करके विषयनिष्णात विद्वानों को भारत और बाहर प्रदेशों में भेजी थी। सफलता की वह अभिलषित प्रतिमा तो प्राप्त नहीं हो सकी; परन्तु फिर भी इस में विविध विषयक जो कुछ और जितना कुछ आ सका है वह हमारे लक्ष्य की ही वस्तु है और वांछनीय व उपादेय है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ अबतक प्रकाशित ग्रंथो में अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगा ऐसी हमको आशा है।

जब आचार्य श्री विजययतीन्द्रसूरिजी ने आचार्य श्री राजेन्द्रसूरिजी के स्मृतिस्वरूप निधन–अर्धशताब्दी–महोत्सव के अवसर पर स्मारकग्रंथ के सम्पादन–प्रकाशन का भार

हमारे दुर्बल कंधों पर रखने का प्रस्ताव किया, तब अपनी मर्यादा और त्रुटियों का भान होते हुये भी हमने इस पवित्र कार्य को सहर्ष इस लिये स्वीकार किया कि दिवंगत महान् आत्मा के प्रति इस निमित्त से अपनी श्रद्धाञ्जलि देने का एक शुभावसर मिला है और इस प्रसग से कुछ साहित्यसेवा हो सके तो अच्छी है। कार्य की सफलता तो उन दिवंगत आत्मा के आशीर्वाद और उन्हीं की महत्ता के कारण हो ही जायगी।

स्मारकग्रंथ संबंधी विचार-विमर्ष तो वि. स. २००२ के चातुर्मास में बागरा में आचार्य श्री विजययतीन्द्रसूरिजी, मुनिश्री विद्याविजयजी, शाह इन्द्रमल भगवानजी और श्री दौलतसिंह लोढ़ा के बीच हुआ था। किन्तु उस विचार को निर्णय व सक्रियरूप वि. सं. २०१० में आचार्य श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी की निधन-जयन्ती के अवसर पर सियाणा में मिला और उसका इस निमित्त कार्यारम्भ वि. सं. २०११ में बागरा में श्रीसंघ के रु० ११००१) और आहोर में श्रीसंघ के रु० १०००१) के दान के वचनद्वारा हो गया। फिर तो शीघ्र ही कार्य को सुचारुरूप से सम्पन्न करने का कार्य भी प्रारंभ कर दिया गया। इस निधि के कोषाध्यक्ष शाह उदयचन्द ओखाजी, आहोर बनाये गये।

हममें से श्री दौलतसिंह लोढ़ा ही इसके प्रबंध सम्पादक बने। उन्होंने ही प्रारंभिक योजना बनाई, विषयसूची तैयार की, राजेन्द्रसूरि-संक्षिप्त जीवन प्रकाशित किया, विद्वानों से पत्र-व्यवहार किया, स्वयं यात्रा करके विद्वानों के पास जा कर भी लेख एकत्रित किये, वर्षभर से, कभी बीमार न हुये, ऐसे बीमार होते हुये भी भ्रमण करके फोटोग्राफी करवाई और अंत में भावनगर जा कर केवल दूध और फल पर छः मास पर्यंत रह कर मुद्रण संबंधी प्रूफ देखने आदि समग्र कार्य किया। विद्वानों से लेख प्राप्त करने में श्री नाहटाजी का लोढ़ाजी को अधिक सहकार मिला व उनके परिचय से अधिक विद्वानों के लेख आये। उन्होंने व पं. दलसुखभाई ने लेखों का चयन और निरीक्षण आदि में यथासंभव सहयोग दिया। कार्य शीघ्रता से होना था। अत एव यह संभव न था कि सभी सम्पादक सब लेखों को और उनके प्रूफ आदि को देख सकते। अतः सम्पादनादि में कुछ त्रुटियां रह जाना सभव है तो इसका दोष हम सभी पर है। लोढ़ाजीने तो अपनी समग्र शक्ति इसीमें लगा दी है और उन्हीं के उत्साह का यह सुफल है।

अभिनन्दन ग्रंथों, सामयिक पत्र-पत्रिकाओं और अखबारों की बाढ़के जमाने में लेखकों को अवकाश का अभाव रहना स्वाभाविक ही है। अनेक विद्वान् स्वीकृति देकर भी लेख नहीं भेज सके, बहुत विद्वानों के लेख पर्याप्त विलंब करके आये और कुछ के समय

निकल जाने पर आने से कटु अनुभव भी हुये। फिर भी प्रेमी लेखकों ने हमें सहर्ष सहकार दिया इसके लिये सम्पादक-मण्डल उन सभी का ऋणी है और उन सब का आभार मानना अपना कर्त्तव्य समझता है। प्रारंभ से ही श्री विजययतीन्द्रसूरिजी और मुनिराजश्री विद्याविजयजी तथा उनके आज्ञानुवर्त्ती अन्य साधु-समुदाय का पूर्ण सहयोग इस कार्य मे रहा है। खास कर आचार्य विजयराजेन्द्रसूरि के जीवन संबंधी विभाग का सम्पादन तो इनके सहकार के विना असंभव था। हम यहां उन सभी के प्रति आभार प्रदर्शित करते हैं और विना द्रव्य-सहायता के प्रकाशनकार्य होना संभव नहीं, अतः उन दानदाताओं का भी आभार मानते हैं।

आचार्य विजयराजेन्द्रसूरिजी के जीवन और कार्य के परिचय के अतिरिक्त जैन धर्म और संस्कृति का परिचय देना यह भी जो इस स्मारक ग्रंथ का प्रयोजन था इसमें हमें कहांतक सफलता मिली है यह निर्णय तो विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ते हैं।

अंत में श्री महोदय प्रि. प्रेस के अधिकारी श्री गुलाबचंद लल्लुभाई का भी हम आभार माने विना नहीं रह सकते कि जिन्होंने ग्रंथ को महोत्सव के अवसर पर सुन्दर आकृत्ति में पहुँचाने में श्रम की सर्व दिशाओं को खोल दिया।

संपादक-मण्डल :

२७ अप्रिल १९५७,
शनिश्चर

अगरचंद नाहटा, बीकानेर
दलसुख मालवणिया, बनारस
दौलतसिंह लोढ़ा, धामणिया
'जयभिक्खु', अहमदाबाद
अक्षयसिंह डांगी, शाहपुरा

---

(१) उदार सम्पादक-मण्डल ने जो प्राय. समस्त श्रेय मेरे पर चढ़ा दिया है, यह उनकी स्नेहपूर्ण कृपा का फल है। परन्तु जो कुछ सफलता हुई है वह उनके सस्नेह सहयोग, श्रम और उनकी व्यापक प्रसिद्धि और परिचय के ही कारण है।

(२) मुझको वाचन में जो महान् दर्द हुआ तो वह विद्वान् लेखकों की निश्चित चलनेवाली लेखनी से सर्जन पाने हुये कई एक शब्दों की विकृत एव अस्पष्ट आकृतियों पर। विद्वान्वर इस ओर ध्यान देंगे तो मेरे जैसे भाइयों का वे भविष्य में बड़ा भला करेंगे। विचारा सम्पादक व्यर्थ ही बुरा बनता है। यहा दोषित तो मैं भी हूँ। पर इस दोष का कटु अनुभव मुझ को इस समय हुआ।

—संपा, दौलतसिंह लोढ़ा

श्रीवीतरागाः ।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि-स्मारक-ग्रन्थ

श्रीराजेन्द्र-खण्ड

विषय-सूची

गुरुगुणाष्टक और स्मरणाञ्जलि

卐 संस्कृत 卐

卐 हिन्दी 卐

卐 ગૂર્જર 卐

卐 English 卐

व्यक्तित्व और साहित्यिक जीवन

卐 हिन्दी 卐

卐 ગૂર્જર 卐

श्रीजिनेश्वराः ।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि-स्मारक-ग्रन्थ

श्रीराजेन्द्र-पुष्पाङ्क

विषय-सूची

卐 हिन्दी 卐

卐 दर्शन और संस्कृति 卐

卐 English 卐

चित्र-सूची

[मथुरा, लखनऊ और नाहटा संग्रहालय-बीकानेर के चित्रों के अतिरिक्त सर्व चित्र श्रीजगन बी. महता, अहमदाबाद द्वारा कर्पित हैं। सपा० दौलतसिंह लोढ़ा]

卐 आमुख 卐

卐 श्री राजेन्द्र-पुष्पाङ्क 卐

शुद्ध शब्द-पत्र

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५—२	प्रणेता	प्रवेत्ता	२३३—७	दीपस्तम	दीपस्तम:
६—९	,,	,,	२५२-२३	वैमानिक	वैनानिक
४०-१९	निरपावली	निरयावली	२५२-२२	आविल	अखिल
४५-२६	पोहस्य	अपोहस्य	२७३—१	सहलो	संको
४६-१२	सं. १९२९	स १९६१	३४५-१२	चार चार	नार चार कोटि
४७—९	कर्मबंधन	कर्मबंध न	३७८-१०	स्थापर	स्थावर
५६-२४	सथार	ससार	३८६-२३	सत्य	सल
६३-१७	१५०	९५१	४५२-१६/१७	दगोद-दसोद	दगोर-दसोद
६८—७	नि स्पृस्य	निस्पृहस्य	४५२-२१	सौधति	सौधनी
८२—१	ज्येष्ठ सुदि १	ज्येष्ठ सुदि १०		हूगहती	हूगहनी
९१—७	पट्पेजी	सोलह पेजी	४८८-१४	आसक-दशांग	उपासक
९६—४	वस्स	वक्त	,, -२२	त्रैलोक्यदीपिका	त्रैलोक्यदीपिका
९८-२५	छद्‌मस्त	छद्मस्थ	,, -२०	घष्ट्र चोपाई	धृष्ट्र चौपाई
१२२—५	पालनपुर	तालनपुर	५७६-२३	कर्मग	कामग
१२९-२१	१८५५	१३५५	५८९-१९	चौदस्तूप	चौदरतप
१३०-१२	५	५२	६०४—२	रागस्थान	राजस्थान
१४८—४	ऋद्धिविजय	हेमविजय	६१७—६	दिक्षा	दिशा
१५०—	चरग लेख २	मावगुका	६२८-१८	भयाडिय	ममाडिय
१५४-१४	વિશાલકાલ	વિશાળકાય	६३९—८	रोति	रीति
१५८—३	અજવાલી	અંધારી	६५०—९	छारो	छाडे

卐 श्री राजेन्द्र ग्रंथ 卐
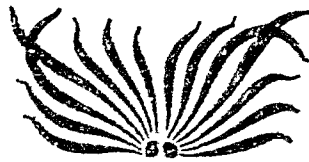
युगपुरुष

श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरि
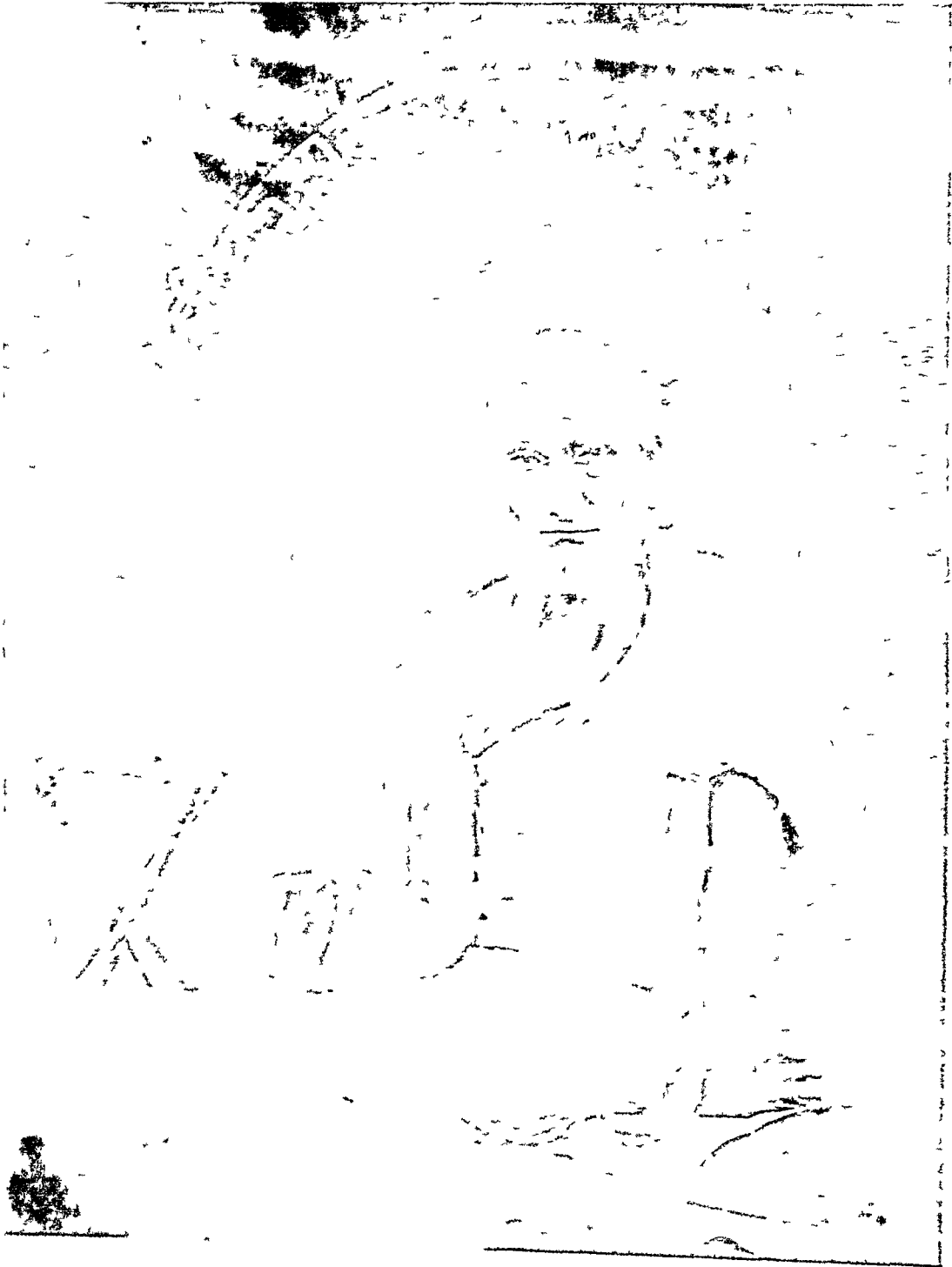
श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक-ग्रंथ

गुरुगुणाष्टक और स्मरणाञ्जलि ।

संस्कृत

प्रशान्त वपुष श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

(१)

विद्यालङ्करणं सुधर्मशरणं मिथ्यात्विनां दूषणं,
 विद्वन्मण्डलमण्डनं सुजनता सद्बोधिवीजप्रदम् ।
सच्चारित्रनिधिं दयाभरविधिं प्रज्ञावता–मादिमम् ,
 जैनानां नवजीवनं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ १ ॥

धुर्य्यो यो दशसंख्यकेऽपि यतिनां धर्मे दृढः संयमे,
 सत्वात्मा जनतोपकारनिरतो भव्यात्मनां बोधकः ।
शास्त्राणां परिशीलने दृढमतिर्ध्यानी क्षमावारिधि–
 स्तं शान्तं करुणावतार–मनिशं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ २ ॥

वाणी यस्य सुधासमाऽतिमधुरा दृष्टिर्महामञ्जुला,
 संव्रज्या सुखशान्तिदा खलु सदाऽन्यायादिदोषापहा ।
बुद्धिर्लोकसुखानुचिंतनपरा कल्याणकर्त्री नृणां,
 लोके सुप्रथिताऽस्ति तं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ३ ॥

यः कर्त्ता जिनबिम्बकाञ्जनशलाका नामनेकाऽऽत्मनां,
मूर्तिश्चापि जिनेश्वरस्य शतशः प्रातिष्ठिपन्मन्दिरे ।
जीर्णोद्धारमनेकजैननिलयस्याचीकरच्छ्रावकै-
स्तं सत्कार्यकरं मुदा गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ४ ॥

लोके यो विहरन् सदा स्ववचनैर्वैरं मिथो देहिनां,
दूरीकृत्य सहानुभूतिरुचिरां मैत्रीं समावर्धयत् ।
मूढाँश्चापि हितोपदेशवचसा धर्मात्मनः संव्यधाद्,
देशोपद्रवनाशकं तमजितं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ५ ॥

यो गङ्गाजलनिर्मलान् गुणगणान् संधारयन् वर्णिराड्,
यं यं देशमलञ्चकार गमनैस्तं तं स्वपायीन्मुदा ।
सच्छास्त्रामृतवाक्यवर्षणवशाद् मेघव्रतं योऽधरन्,
तं सज्ज्ञानसुधानिधिं कृतिनुतं राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ६ ॥

तेजस्वी तपसा प्रदीप्तवदनः सौम्योऽतिवक्ताचलः,
शास्त्रार्थेषु परान् विजित्य विविधैर्मानैस्तथा युक्तिभिः ।
शिष्यांस्तानकरोत्स्वधर्मनिरतान् यो ज्ञानसिन्धुः प्रभु-
स्तं सूरिप्रवरं प्रशान्त-वपुषं राजेन्द्रसूरिः नुमः ॥ ७ ॥

लोकान्मंदमतीन्स्वधर्मविमुखप्रायान् बहून् वीक्ष्य यो,
जैनाचार्यनिबद्धसर्वनिगमानालोड्य बुद्ध्या चिरम् ।
मर्त्यान् बोधयितुं सुखेन विशदान् धर्मान्महामागधी-
कोशं संव्यतनोत्तमच्छमनसा राजेन्द्रसूरिं नुमः ॥ ८ ॥

गुरुवरगुणराजिभ्राजितं सारभूतं,
परिपठति मनुष्यो योऽष्टकं शुद्धमेतद् ।
अनुभवति स सर्वां सम्पदं मानवाना-
मिति वदति मुनीशो वाचको मोहनाख्यः ॥ ९ ॥

—उपाध्याय श्रीमोहनविजयजी महाराज ।

महान् जैनागमप्रवेत्ता श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

(२)

जिनेन्द्रप्रोक्तैर्यो ललितवचनैः खेदरहितो,
विनेयेभ्यः शिक्षां वितरति नयाप्तामनुदिनम्।
यथा लोके सारी कुपथतुरङ्गेभ्य उचितां,
स राजेन्द्राऽऽचार्यो भवतु नियतं मे सुनयदः॥ १॥

यदीयाह्वां स्मर्त्तानुपमपदधर्त्ता क्षितितले,
कुटुम्बानां भर्त्ता विविधसुखकर्त्ता प्रियतमः।
अजेयः संग्रामे विगतभयशोकश्च भवति,
स राजेन्द्राऽऽचार्यो प्रतिदिनमुरःस्थो भवतु मे॥ २॥

विमलमतिकः सज्ज्ञानाब्धिविवेकीगणाग्रणी-
श्चरणसदने क्रीडन्नास्ते समाधिधिया सदा।
विषयभवान्नष्टप्रेमा फणीव कुकञ्चुकात्,
स हि विजयराजेन्द्राऽऽचार्यः कुवादिनिरासकः॥ ३॥

अनलसतया धर्मध्यानपुकारकरोदयी,
विहरणपरः सज्जीवानां शिवाऽध्वनि योजकः।
हितसुखकरो यः संघानां भवोदधिवारकः,
वितरतु स राजेन्द्राऽऽचार्यः शिवर्द्धिसुखानि मे॥ ४॥

निखिलसमयवेत्तैकोऽस्ति राजेन्द्रसूरि-
र्विषयरिपुनिहन्तै कोऽस्ति राजेन्द्रसूरिः।
स खलु चरणधर्त्तैकोऽस्ति राजेन्द्रसूरि-
र्हृदयभवनदीपो मेऽस्तु राजेन्द्रसूरिः ॥ ५॥

चरणकरणनाम्नः खाब्धिचन्द्रैर्मितस्य,
मितसुखकरचारित्रस्य योऽभूद् विभर्त्ता ।
स भवतु सुखवृद्ध्यै देशना येन दत्ता,
गहनभवसमुद्रोत्तारिका प्रेनवाण्या ॥ ६ ॥

सर्वार्थानां पूरणे देवशाखी, जैनीकारे चाप्यभूदद्वितीयः ।
चैत्यज्ञानागारसद्धर्मशाला, यद्व्याख्यानैर्भव्यलोका ववंधुः ॥ ७ ॥

सोऽयं श्रीराजेन्द्रसूरिः प्रवीणः, सर्वोत्कृष्टः पञ्चमारस्य मध्ये ।
साक्षाज्जैनेन्द्रागमस्य प्रणेता, सत्यज्ञानप्राप्तये मे सदाऽस्तु ॥ ८ ॥
दीपविजयमुनिनेदं, रुचिरं व्यरचि गुर्वष्टकं भक्त्या ।
शिवसांसारिकसुखतति-समीहकैः पुंभिरध्येयम् ॥ ९ ॥

विद्याविशारद-श्रीभूपेन्द्रसूरि ।
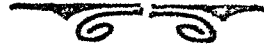
बहुमुखी विद्वान् श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

(३)

[भुजङ्गप्रयात्त–वृत्तम्]

गुरोः पादपद्मद्वये सम्प्रलीनं,
मिलिन्दायमानं मदीयं मनः स्यात् ।
विशुद्धात्मनः श्रीलराजेन्द्रसूरे–
र्विचित्रं पवित्रं चरित्रं तनोमि ॥ १ ॥

प्रशान्तस्वरूपं सदा ध्यानमग्नं,
जगज्जीवजीवातुभूताऽऽगमाढ्यम् ।
तपःकर्मनिष्ठं मनोज्ञप्रतिष्ठं,
गुरुं पूज्यराजेन्द्रसूरिं नमामि ॥ २ ॥

चिरोलापुरस्थाँश्चिराज्जातिवाह्यान्,
स्वकीयप्रभावाज्जनानुद्दधार ।
जिनेशप्रतिष्ठां पुराऽऽहोरसंज्ञे,
महासंघसम्भारतोऽचीकरद् यः ॥ ३ ॥

तथा त्रिस्तुतिं हारिभद्रीययुक्त्या,
समक्षं बुधानां स्फुटं व्याकरोद् यः ।
जिनाज्ञाविहीनं मतं लुम्पकानां,
निरास्थज्जिनादर्शसंस्थापनेन ॥ ४ ॥

भवस्थाञ्जनान् दुःषमारप्रसूता–
नमन्दाऽज्ञताध्वान्तनद्धान्निरीक्ष्य ।
निधानं समस्तागमानामकार्षीत्,
तदुद्धारहेतुश्च राजेन्द्रकोशम् ॥ ५ ॥

भवाब्धि व्यथौर्वाग्निना संपरीतं,
विना सयमं न क्षमा निस्तरीतुम् ।
सकर्णा जना देशनां मे शृणुध्वं,
द्रुतं यूयमित्थं दिदेश प्रशस्तम् ॥ ६ ॥

सदा श्रावकाणां यथाऽऽलोचनाभि-
र्मुनीनां तथा सारणावारणाभिः ।
द्रुतं दूरमापादयन् दोषमार्गान्,
स्वमाचार्ययोग्यं व्यनक्तिस्म लोके ॥ ७ ॥

समस्तागमानां गृहीत्वा तु सारं,
जनानां मुदं देशनाभिर्दिशन् यः ।
निजोत्कृष्टचारित्रसम्पालनार्थ-
मरौ मालवे गुर्जरे च व्यहार्षीत् ॥ ८ ॥

मुनिश्रीयतीन्द्रेण सम्यक्चरित्रं,
भुजङ्गप्रयातेन वृत्तेन बद्धम् ।
पठेत्कोऽपि भक्त्या पवित्रान्तरात्मा,
सुखं तस्य सर्वं भवेद् भावशुद्धेः ॥ ९ ॥

व्याख्यानवाचस्पति-श्री यतीन्द्रसूरि
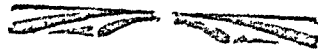
सुगुरु श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

(४)

[वसन्ततिलका-वृत्तम्]

क्षान्त्यादिधर्मकरणे कटिबद्ध एव,
प्राज्ञैर्जनैश्च विविधैर्नुतिमाप योऽलम् ।
पञ्चेन्द्रियेषु विषयेषु च वीतरागः,
सूर्योदये तमनिशं सुगुरुं हि वन्दे ॥ १ ॥

सर्वेषु जन्तुषु हि यः करुणापरोऽभूत्,
षट्शास्त्रबोधनविधौ विगतप्रमादः ।
शिष्यांश्च सूरिगुणभारिण एव चक्रे,
सूर्योदये तमनिशं सुगुरुं हि वन्दे ॥ २ ॥

आगूः कृता न चलिता हि कदापि यस्य,
निर्दोषवाक्यमचलं सदसि प्रजातम् ।
भूपादयश्च कवयो हृदि दध्रिरे तत्,
सूर्योदये तमनिशं सुगुरुं हि वन्दे ॥ ३ ॥

सभ्यैर्जनैरिह जगत्यपि सेव्यमाने,
दृष्टा न यत्र कथमप्यभिमानवृत्तिः ।
सिद्धिस्त्वभूद् वचसि यस्य गुणालयस्य,
सूर्योदये तमनिशं सुगुरुं हि वन्दे ॥ ४ ॥

षट्शत्रुवर्गमतुलं स्ववशं चकार,
द्वाविंशतीन् परिषहानजयच्च सद्यः ।
विज्ञानवह्निपरिभ्रष्टभवाब्धिबीजं,
सूर्योदये तमनिशं सुगुरुं हि वन्दे ॥ ५ ॥

यस्योपकारसहितैव मतिः सदाऽऽसीत्,
केनापि सार्धमकरोन्नतु भेदभावन् ।
सर्वत्र यश्च नितरां जयमेव लेभे,
सूर्योदये तमनिशं सुगुरुं हि वन्दे ॥ ६ ॥

ज्ञानक्रियासहितमेव हि यस्य शीलं,
चारित्रपालनविधौ न च कोऽपि तुल्यः ।
सर्वासु दिक्षु धवला प्रसृता च कीर्तिः,
सूर्योदये तमनिशं सुगुरुं हि वन्दे ॥ ७ ॥

हं हो ! मुनीश्वरगणैरपि दुःप्रसाध्यं,
शीलव्रतं पुनरखण्डितमावभार ।
यः सर्वदाऽदिशदनेकगुणाढ्यशिक्षां,
सूर्योदये तमनिशं सुगुरुं हि वन्दे ॥ ८ ॥

राजेन्द्रसूरिगुरुराजगुणौघरम्यं,
यः संपठिष्यति जनोऽष्टकमेतदच्छम् ।
स प्राप्स्यति प्रचुरकीर्तियुतां सुलक्ष्मी-
मित्थं गुलाबविजयस्य मुनेर्वचोऽस्ति ॥ ९ ॥

—उपाध्याय श्रीमद् गुलाबविजय ।

—卐—
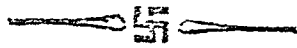
बुधगणशरण श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

(५)

लसत्तेजोराजिं विलसितसुविद्यालिसरसी-
मरालं वाग्मीशं सदसि महतां सन्मतिमताम् ।
विपक्षालीकक्षज्वलिततरवैश्वानरवरं,
कृतीन्द्रं राजेन्द्रं प्रथितगुणवृन्दं परिणुमः ॥ १ ॥

विपश्चिद्वृन्दाम्भोरुहनिवहसम्मोदनकृतौ,
दिवानाथं नाथं निखिलजिनपक्षाश्रितसताम् ।
यतीन्द्रं सूरीन्द्रं कृतमहितकीर्तिं कृतिजनैः,
सुवन्द्यं राजेन्द्रं प्रथितगुणवृन्दं परिणुमः ॥ २ ॥

यशश्चन्द्रो यस्यानिशमतिशयं मोदनिचयं,
ददानो विद्याविद्व्रजकुमुदवृन्दाय भुवने ।
पराब्जालिग्लानिं विदधदिह संराजतितरा,
कृतीन्द्रं राजेन्द्रं प्रथितगुणवृन्दं परिणुमः ॥ ३ ॥

यदीया सच्छिष्या विदितबहुविद्याः प्रतिपलं,
गुरुं स्मारं स्मारं ललितकृतिभारं विदधति ।
तमानन्दाकारं सुजिनमतपारङ्गमतरं,
कृतीन्द्रं राजेन्द्रं प्रथितगुणवृन्दं परिणुमः ॥ ४ ॥

पयोराशिश्वेतोज्ज्वलितसदने यस्य सुभगा,
विराजन्ती मूर्त्ति-र्जननिकरवन्द्या विलसति ।
दिगन्ते विख्यातं विततकृतिजातं तमतुलं,
कृतीन्द्रं राजेन्द्रं प्रथितगुणवृन्दं परिणुमः ॥ ५ ॥

असारं संसारं य इममवगच्छन् यतिवरो,
विहायेमं कायं कृतमहितदेहो दिवमगात् ॥
मनीषिव्रातानां तमिह परिगेयं सहृदयं,
कृतीन्द्रं राजेन्द्रं प्रथित-गुणवृन्दं परिणुमः ॥ ६ ॥

जयन्ति श्रीसद्वाचकविजययुग्मोहनसुधीः,
कृपालेशाद्यस्य प्रथितमहसो दीपविजयः ।
इमे लक्ष्मीहंसौ विजयसहितौ शान्तिविजयः,
तमीशं राजेन्द्रं प्रथितगुणवृन्दं परिणुमः ॥ ७ ॥

वदान्यं सम्मान्यं बुधगणशरण्यं बुधवरं,
कृपापारावारं विनयनिचयव्याप्तहृदयम् ।
विराजत्स्याद्वादाम्बुजनिकरमार्तण्डमसकृत्,
कृतीन्द्रं राजेन्द्रं प्रथितगुणवृन्दं परिणुमः ॥ ८ ॥

स्रग्धरा-वृत्तम्—

श्रीमद्राजेन्द्रसूरीश्वरबुधनिवहस्तुत्यपादारविन्द-
द्वन्द्वस्यादो महीयः स्तवनमविरतं यः पठेद् भक्तियुक्तः ।
तस्य स्यात्सर्वमिष्टं फलमिह नियतं निर्म्ममौ मोदवृत्तो,
धीरः श्रीघूटराख्यो द्विजकुलजननो मैथिलो झोपनामा ॥ ९ ॥

—पं० घूटरझा-मैथिल, सद्धिया ।

योगीराज श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

(६)

राजेन्द्रसूरिरखिलागम-तत्त्ववेत्ता,
भेत्ता नयस्य हि परैरुररीकृतस्य।
छेत्ता च संशयगणस्य कृपार्द्रचेताः,
रागादिदोषरहितो जयति क्षमावान् ॥ १ ॥

न लुब्धो न मानी न विज्ञानहीनो,
सदाचारयुक्तः सदोदारचेताः।
मुनीन्द्रः सुधीवर्गवन्द्यो दयालुः,
करोतु प्रपूर्णं मनोवाञ्छितं नः ॥ २ ॥

येन कृतं सावद्य-प्रत्याख्यानं दृढं च यच्छीलम्।
जयतु राजेन्द्रसूरि-र्ज्ञानं यस्यास्ति प्रत्यक्षम् ॥ ३ ॥

सन्त्येवास्मिन् जगति बहवः साधवो योगिनश्च,
प्रीतिस्तेषामुपरि मम ये वासनावर्जिताः स्युः।
ते स्युः शैवा उतच जिनगाः साख्यगा यावना वा,
हार्दं तेभ्यः परममिह मे योगिराजेन्द्रसूरौ ॥ ४ ॥

सदा कीर्तिर्यस्य विमलशशिमा दोषरहिता,
जनानां संमोदं जनयति गता श्रोत्रपदवीम्।
ना चाऽस्तिदृक् कश्चिद् गुणिजनसमूहे हतविधिः,
पुनः पीयूषं यो न पिबति यदीयं सुविपुलं ॥ ५ ॥

यथाच्छन्दोलूकाः कृतकपटवेशा भयवशा-
न्विलीयन्ते नीडायितकुचरगेहेषु झटिति।
प्रफुल्लन्ति श्राद्धप्रवरजलजानि द्रुततरं,
प्रकाशो लोकेषूद्यति विजयराजेन्द्रतरणौ ॥ ६ ॥

इह जगति बहूनां तापभाजां जनानां,
जनक इव शिशूनां योऽकरोद् दुःखनाशम् ।
तमखिलगुणराशिं लोकपूज्यं मुनीन्द्रम्,
प्रणमत खलु भव्याः ! श्रीलराजेन्द्रसूरिम् ॥ ७ ॥

जयतु जयतु लोके श्रील-राजेन्द्रसूरि-
र्हरतु हरतु तापं देहिनां क्लेशभाजाम् ।
भवतु भवतु लोकानन्दसंप्राप्तिहेतु-
र्जपतु जपतु तस्याऽऽख्या सदा भव्यलोकः ॥ ८ ॥

गुरुगुणवर्णनरूपं, नित्यं यः पठति मानवः प्रयतः ।
अष्टकमेतदनर्घ्यं, स भवति लोके सुखी नित्यम् ॥ ९ ॥

—पं० कृपाशंकरमिश्र, काशी ।

सत्यव्रती श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

(७)

राजन्यादिनिषेविताङ्घ्रियुगलः सत्यव्रतप्रावृतो,
सौख्यं वः समभीप्सितं सुविपुलं मानुष्यकेऽस्मिन्भवे ।
तद्वाचा वपुषा च शुद्धमनसा राजेन्द्रसूरेर्गुरो-
र्युष्माभिः परिसेव्यतां हि सततं पादारविन्दद्वयम् ॥ १ ॥

—पं० जयदेवशास्त्री, बनारस ।

श्री अभिधान राजेन्द्रकोशकर्त्ता श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

(८)

गुरु-गुण-क़व्वाली

गुरो ! राजेन्द्र ! ! राजर्षे ! ! !, भजामस्ते सदा चरणौ ।
नरैराराध्यपदगामिन् !, भजामस्ते सदा चरणौ ॥ १ ॥

समेषां भक्तियुक्ताना-महर्निशि सौख्यकर्त्ता त्वम् ।
सदा सर्वत्र सुखकारिन्, भजामस्ते सदा चरणौ ॥ २ ॥

विधायानन्यग्रन्थान्, प्रसिद्धस्त्वं जगत्यां वै ।
अहो ! सच्छेमुषीधारिन्, भजामस्ते सदा चरणौ ॥ ३ ॥

समैराराध्यमानः, सत्पदैः संस्तूयमानस्त्वम् ।
त्रितयसंतापसंहारिन् !, भजामस्ते सदा चरणौ ॥ ४ ॥

भवद्वाणीं नराः श्रुत्वा, भवोदधितीर्णता याताः ।
परमपीयूषपदवादिन् !, भजामस्ते सदा चरणौ ॥ ५ ॥

सुमनसा शारदां स्मृत्वा, महाकोशादिकं कृत्वा ।
अहो पुण्यप्रभाशालिन् !, भजामस्ते सदा चरणौ ॥ ६ ॥

भवच्छिष्येषु सच्छिष्यो, विजयसूरिर्यतीन्द्रोऽत्र ।
विभातीन्दुप्रभः स्वामिन् !, भजामस्ते सदा चरणौ ॥ ७ ॥

—श्रीविजययतीन्द्रसूरि ।

स्मरणाञ्जलि

हिन्दी

(१)

क्रियावंतविभूति श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

[मुनिश्री विद्याविजयजी 'पथिक' राजगढ़]

शार्दूलवृत्त—

हे आध्यात्मिक ज्ञान-कीर्तिविमला वैराग्य में संभवा,
होते योग-विधान-निष्ठ तप से ज्ञानी विरागी महा।
वे योगी कहते सदा जगत का उत्थान है त्याग में,
मेरी आज उन्हीं विभूति-पद में सद्भक्ति श्रद्धाञ्जली ॥

कायाकल्प किया, जिनेन्द्र जपसे, ज्ञानी व ध्यानी बने,
देखी श्री यति-धर्म की शिथिलता थी दी उसे भी मिटा।
साध्वाचार-विधान पालन किया उत्कृष्टता से स्वयं,
मेरी आज उन्हीं विभूति-पदमें सद्भक्ति श्रद्धाञ्जली ॥

जैनाचार्य्यबृहत्तपाधिपति श्रीराजेन्द्रसूरीश थे,
विद्वत्ता अति आप की विलसती, थे तत्वदर्शी बड़े।
'श्रीराजेन्द्र सुकोष' शब्द-रचना जैनागमों से करी,
मेरी आज उन्हीं विभूति-पदमें सद्भक्ति श्रद्धाञ्जली ॥

औरोंको अनमोल वीर प्रभु का संदेश प्यारा सुना,
धर्मोपासक जैन श्रावक किये जैसे चिरोला बना।
की सेवा जिनशासनानुपमकी स्याद्वाद-सिद्धान्त में,
मेरी आज उन्हीं विभूति-पद में सद्भक्ति श्रद्धाञ्जली ॥

श्रद्धा धैर्य्य विशिष्ट भाव उनके प्रोत्फुल्ल थे भापते,
आत्मोद्धारक तत्वदृष्टि रखके की ईश की साधना।
यों प्रोत्साहित बोलती चमकती साहित्य की पंक्तियाँ,
मेरी आज उन्हीं विभूति-पद में सद्भक्ति श्रद्धाञ्जली ॥

(२)

गुरुदेव की दिन-चर्य्या की एक झाँकी ।

[मुनिश्री सागरानन्दविजयजी]

हे दिवंगतात्मा गुरुदेव ! जब आपके जीवन की एक दिन की चर्य्या को भी हम स्मृत करते हैं तो अच्छी से अच्छी समय देनेवाली बहूमूल्य घड़ी भी कभी गतिविधि में हीन रह जाय; परन्तु आपकी दिनचर्य्या की सरलता तो निर्बाध ओर-छोर सदा पहुँचती देखी गई । शयन से उत्थान, प्रतिक्रमण, वंदन, बहिरगमन, स्वाध्याय, व्याख्यान, आहार, विश्राम, लेखन, आलोयण आदि सर्व दैनिक क्रियाओं में हमने कड़ी फंदती देखी, जीवन-पलता देखा, धर्म जगता देखा, लोकजीवन की समस्याओं पर विचार बढ़ता देखा, सुधार होता देखा और देखा भावी संतति के हित हितोपदेश की रचना और वर्त्तमान से संघर्षमयी संकल्पव्रत ।

हे त्यागमूर्त्ति, विरक्तात्मा, सच्चे साधु की प्रतिमा, सरस्वती के एकनिष्ठ पूजारी, आगमों के ज्ञाता, ज्योतिष के महाविद्वान् ! आज तुम्हारे स्मरणमें यह स्मृति-पंक्तियां अर्पित करता हुआ अपने को धन्य मानता हूँ ।

(३)

युगद्रष्टा वरार्य गुरुदेव ।

[शान्तमूर्ति मुनिराजश्री हंसविजयजी-चरणरेणु मुनिश्री कान्तिविजयजी ।]

१

इतिहास साक्षी पूरता यह, कथन मिथ्या है नहीं ।
मै ही नहीं हूँ कह रहा यह-कह रही है सब मही ।
जब ह्रास जगमें धर्म का होना हुआ देखा गया ।
सद्धर्म के रक्षार्थ कोई जन्मता पेखा गया ॥

२

यति-वर्ग का आचार जब शासन विरुध बढ़ने लगा ।
तप-त्याग के संस्थान में दुश्चार जब भरने लगा ।
यतिवर्य श्रीराजेन्द्रने ललकार दी यतिवंश को ।
यतिवेश तज स्वीकृत किया वर साधु-पथ अवतंश को ॥

३

शास्त्रोक्त साध्वाचार का था आपने पालन किया ।
जप-तप, नियम-यम, योग-संयम शुद्धतम धारण किया ।
बस साधुता में आपके सम साधु कुछ ही साधु थे ।
स्वरज्ञान, ज्योतिष, योग में तो आप अंतिम साधु थे ॥

४

चरितार्थ चरित्र कर रहे आश्चर्यकारी संस्मरण ।
वर त्रिस्तुतिक मत जग उठा जनने किया जब अनुकरण ।
पाखण्ड मिथ्याचार की जड़ हिल गई तत्काल ही ।
नव चेतना, नव भावना जागृत हुई तत्काल ही ॥

५

इन सब से उपर आप में जो एक अनुपम शक्ति थी ।
वागेश्वरी में आप की जो शुद्धतम अनुरक्ति थी ।
लिख ग्रन्थ इकसठ विज्ञतामय सिद्ध उसको कर दिया ।
राजेन्द्रने रच कोश उसको विश्वविश्रुत कर दिया ॥

६

उस साधु, योगी, ज्योतिषी, स्वरज्ञानधारी आर्य को,
वर विज्ञ, कोविद, बुद्धिशाली, तपोधन आचार्य को,
शुचि सत्य-धन, जिनदूत, शुभ संवर्षमूर्त वरार्य को,
शत वार वंदन आज उसको और उसके कार्य को ॥

(४)

स्मरण-जयन्ती ।

[श्री दौलतसिंह लोढ़ा 'अरविंद' बी. ए.]

सरस्वतीपुत्र प्रख्यात हे !
'राजेन्द्रकोश' के कर्त्ता !
तप-संयमी ! मुनि यशस्वी हे !
विशुद्ध चरित्र के धर्त्ता ॥

अर्ध शताब्द व्यतीत हुये हैं
स्वर्गस्थ हुये तुम्हें विज्ञ !
तव स्मरणार्थ कर रहे गुरु ! यह
समायोजित विद्यायज्ञ ॥

स्मरण-जयन्ती हे परलोकी !
कोविद सुज्ञ मनाते हैं ।
देश-विदेश के विश्रुत विज्ञ
श्रद्धापुष्प चढ़ाते हैं ॥

वह स्रोत वहे इस उत्सव से-
जगती में रस भरजावे ।
शत्रु मित्र हों, विश्व राष्ट्र हो,
जिनवाणी जग अपनावे ॥
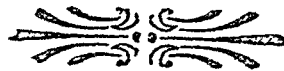
(५)

विश्ववंद्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ।

[वकील मिश्रीलाल जैन, कुक्षी]

जिनमहामहिम की ज्ञान-आभा
है विभासित किये विश्व सारा ।
शुष्क जिनकी सुधि से ही होती
मनुज-मन-निर्झर पाप-धारा ॥

भूतमात्र हित जिनका ध्येय था,
त्याग, तप में सदैव निरत रहे ।
निजपथ प्रचार निमित्त जिन्होंने
विश्वके कठिनतर संकट सहे ॥

जिन मुमुक्षु जनसे सर्व भक्षक
क्रूर कृतान्त तक रहा पराजित ।
वे न रहे, पर कर रही जिनकी
कीर्ति-चन्द्रनिशि अब भी धरा सित ॥

मात्र पुरुषार्थ से ही जिन्होंने
कर अकथनीय निज ज्ञान अर्जन
लोक-कल्याण निमित्त कर गये
जो अतुल ग्रंथ-रत्न का विरचन ॥

जन्म पर्यन्त ही ज्ञान त्रयकी
की जिन्होंने समोद उपासना ।
स्पर्श जिनको न कर पाई कभी
विश्व की मधुर मोहक वासना ॥

रक्षक रहे सदैव संस्कृति के
मुदित सर्वस्व अपना दान कर ।
पतित पापी उठाये जिन्होंने
ईश्वर अंश सभी में जान कर ॥

विश्व अखिल यह भक्ति श्रद्धामयी
कर रहा स्तुति जिनकी भूरि-भूरि ।
विश्व वंदित उन विभूतियों में
एक थे श्रीमद राजेन्द्रसूरि ॥

× × ×

चल रहा शुभ इनसे परिशोधित
त्रिस्तुतिक जैन धर्म ललाम है ।
इन युग-प्रेरक अमर महर्षि को
स्मरण कर कोटि-कोटि प्रणाम है ॥

(६)

तुम्हें वन्दन हो शत-शत बार

[श्री मोहनलाल लहरी-खाचरोद]

' ऋषभ '-राशी के अनुपम ' रत्न '
' प्रेम ' के ज्योतिर्मय उद्गार ।
मुदित-मन-' माणिक ' की मुस्कान,
' केशरी ' के नन्दन सुकुमार ॥ तुम्हें....

श्री की शोभा के शृङ्गार....
हुआ जग पाकर तुम्हें निहाल ।
सफल माँ की पावनतम गोद
चमकती जैसे ऊषा-काल ॥
धन्य रे धन्य मनुज अवतार ॥ तुम्हें....

विजय का कल-कल मङ्गल-गान,
गारही गङ्गा, यमुना आज ।
खिल् उठी धरा की धूल,
मात्र-भू को तुम पर है नाज़ ॥
' भरतपुर ' के गौरव-भरतार ॥ तुम्हें....

राजेन्द्र ! तुम्हारे सातों-कोश '
खुल पड़े ले रंगिन इतिहास ।
जगत् जग्मग् जग्मग् जग उठा-
तपोवन में आया मधुमास ॥
कूक उठती सत्-सागर पार ॥ तुम्हें....

सूरि तुम तपस्वियों के बीच,
'हेम' के तेज-पुञ्ज-आनन्द ।
जगत् के अन्धकार को चीर,
बिछाया सत्-पथ पर मकरन्द ॥
कि उद्गत कोटि-कोटि उद्गार ॥ तुम्हें....

जीत ले निखिल जैनाकाश,
तुम्हारी यश-गाथा अक्षुण्य ।
मधुर-तम अन्तिम के उपदेश,
जगाएँ सुप्त-हृदय के पुण्य ॥
कोटि कळ-कण्ठों की गुञ्जार ॥ तुम्हें ...

(७)
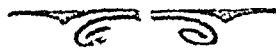
पुष्पाञ्जलि

श्रीमद् यतीन्द्रसूरिशिष्य मुनि शान्तिविजय

परम योगी, परम ज्ञानी !

प्रभु-श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज !

आप के त्याग से दुनिया के जन-मन-गण प्रभावित हुए और सद्पथ के पथिक बने ! आपने आध्यात्मिक जीवन में अथाग प्रगति की ! आप के साहित्य से विश्व को नई स्फूर्ति प्राप्त हुई ! तप और मनोनिग्रह से आपने अजेय को भी जीत लिया ! आपने अपने साहस से पाखंडियों के प्रवाह को रोक दिया और आप के ध्यान से हिंसक जीव भी शांत हुए थे। एक नहीं अनेक ऐसी घटनाओं से आपकी जीवनी भरी हुई है।

गुरुदेव ! अर्धशताब्दी के शुभ अवसर पर यह पुष्पाञ्जलि समर्पित करता हुआ यही चाहता हूँ कि मुझे भी ऐसी शक्ति प्राप्त हो कि मैं भी आपके संदेश को विश्व में पहुंचाने में योगदान दे सकूँ।

(८)

संवेदन-संगीत

[नथमल " पद्म "-खाचरौद]

महावीर के वीर वता तू, कहां चला अब कहां चला ! !
सत्य, अहिंसा, क्षमा, शील के तू सद्पंथ वतादे,
जिस से मानव मानव वनकर दानवता दफनादे,
दुराचार का दृश्य देखकर रोती भारत मा अचला ! ! महावीर के वीर०

ओ दीर्घ दृष्टिवाले वावा ! ज्ञान सुज्योत जगादे,
समदर्शन का स्रोत वहाकर चारित-भाव सजादे,
प्रेम-वारि से सींचो अब तो, जाय वगीचा ना कुम्हला ! ! महावीर के०

किसी दशा में होवे चाहे, स्वलक्ष्य का ध्यान रहे,
यम-नियम से गिरा जो मानव, शिवगति से हीन रहे,
सिद्धांतों पर कैसे चलना, विधि वह जग को दे वतला ! ! महावीर के०

तेरे वेटे लाड़-लाड़ले अन्न-वारि को तरसे,
उन पर पूंजी वाले हरदम आफत वनकर वरसे,
जो स्याद्वाद का वोल वोलते, उनको रस्ता दे वतला ! ! महावीर के०

तेरा है संदेश विश्व को, 'वीर' वचन अपनाना,
अमित अहिंसा के पूजक वन दो जीवन तुम अपना,
पथ भटके को पंथ वताकर, वंधु वंधु को गले मिला ! ! महावीर के०
अर्द्ध शताब्दी उत्सव 'गुरु' का जग भर ने हितकर माना,
" अभिधान राजेन्द्र " 'पद्म' 'कोष' पर, लुब्ध मधुप वुध नाना,
जिससे निकले जय 'यतीन्द्र', जो हरदे जग की अला-वला ! ! महावीर के०

(૯)

વીરલવિભૂતિ સૂરિ રાજેન્દ્રને વંદના

શ્રી યતીન્દ્રસૂરિવિનેય મુનિ જયંતવિજય

(૧)

અવની ઉપર અંધારૂં વ્યાપ્યું હતું,
માર્ગ ભૂલ્યો માનવગણ ભટકાય જો;
પથ પ્રદર્શક કોઈ નહિ મળતું હતું,
ત્યારે સહુ જન આડા અવળા જાય જો. વિરલવિભૂતિ૦

(૨)

ભાસ્કર ઊગ્યો ભરતપુરના આંગણે,
જૈન જગતમાં પ્રસર્યું તેહનું તેજ જો;
પાખંડી અન્યાયી સહુ ભાગી ગયા,
જય જય રવ થયો ધન્ય સૂરિરાજેન્દ્ર જો. વિરલવિભૂતિ૦

(૩)

વીર પ્રભુનો મારગ વેગળો મૂકીને,
પૂજ્ય અમારા પરવર્યા અવળે માર્ગ જો;
એક જ ડિમ ડિમ નાદે એ પાછા વળ્યા,
જેમને આપે શિખવ્યો સત્યસિદ્ધાન્ત જો. વિરલવિભૂતિ૦

(૪)

ભાગ્ય વિના નહિ કોઈ કંઈ કરતું અરે !
વીર પ્રભુનો આદર્શ એહ આદેશ જો;
તો પછી દેવોપાસક છો શીદને બન્યા,
એમ કર્યાથી વીર-વચન ભંગાય જો. વિરલવિભૂતિ૦

(૫)

ત્યાગ તપસ્યા ઉત્કૃષ્ટિ હતી આપની,
તેહના બળથી રાજ રાણા અંજાય જો;
ચમત્કારી સંસ્મરણો પણ છે ઘણા,
કુક્ષી સિયાણાના દેખો સત્ય દૃષ્ટાંત જો. વિરલવિભૂતિ૦

(૬)

જીવની આખી સાહસથી ભરપૂર છે,
સ્વર્ણાક્ષરમાં જ્વલંત ખૂબ પ્રમાણ જો;
સંયમી જ્ઞાની સદ્ધ્યાની જગમાં થયા,
અદ્ભુત યોગી યશસ્વી ગુરુરાજ જો. વિરલવિભૂતિ૦

(૭)

ઉજ્વલ જ્યોતનું વર્ણન પણ હું શું કરું,
વર્ણન કરતા દેશ વિદેશી વિદ્વાન જો;
સત્ય સિદ્ધાન્તનો પ્રચાર કરવાની મને
શક્તિ ને સામર્થ્ય દેજો આપ જો. વિરલવિભૂતિ૦

(૮)

ઓ યુગદ્દષ્ટા ! સાહિત્યસૃષ્ટા આપને !
ભાવ સહિત સહુ વંદીયે શીશ નમાય જો;
અર્ધશતાબ્દી સમયે આ સ્મરણાંજલી,
સ્મરણ કરીને પામીએ આનંદ પૂર જો. વિરલવિભૂતિ૦
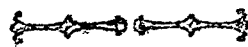
English

(10)

Rajendrasuri The Reviver

Shri Kundanmal Dangi

[The following prayer-song in praise of Jainacharya Shrimad Vijay Rajendrasooriji reviver of Tri-stutik sect which had almost become extinct, though english in language is to be sung according to the style of the famous Hindustani song "Tohid Kā Dankā Ālam men Bajwā diyā Kamliwlāe ne."]

1

By good luck we have got Guru
Rajendrasoori whose name is bright,
We were fallen in darkness deep,
He advised us and brought in light.

2

He was a Sanskrit scholar bright,
In Magdhi Prakrit had insight;
He was glorious and famous one,
And always did what was alright.

3

He wrote the book 'Rājendra kosh'
Which none else was bold to write,
He re-established 'Teen-Thui'
Which was the work of Extra-might.

4

Kundan's life will be fruitfull.
That day will be of great delight
When he will offer humble prayers
At his shrine at the end of night.

श्री गुरुदेव के उपदेश से विनिर्मित नयनाभिराम श्री पार्श्वनाथ जिनालय वागरा
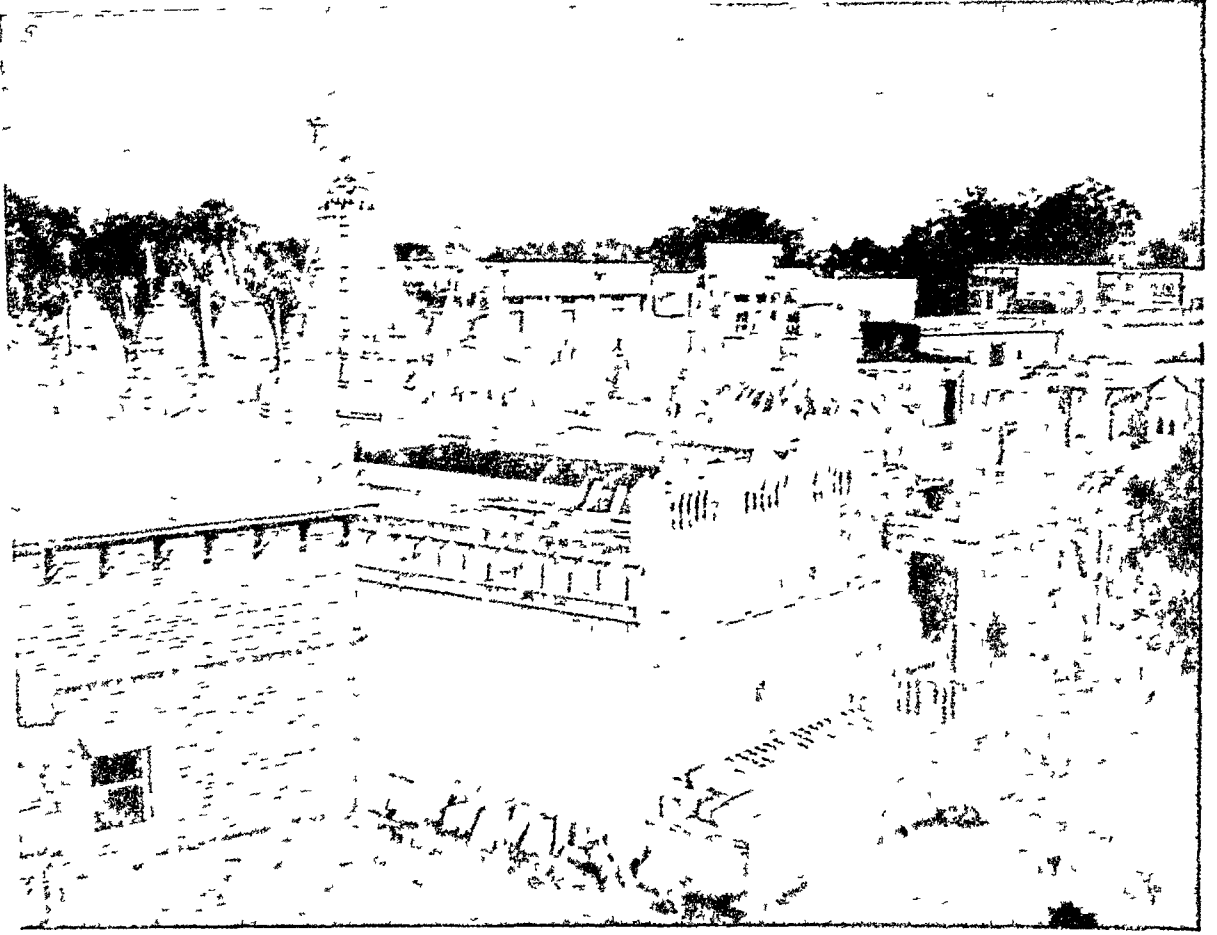
श्री राजेन्द्र-भवन नामक धर्मशाला, वागरा (मारवाड-राजस्थान) यहा वि. स. २०१० फा० कृ० ११ को वर्तमानाचार्य की तत्वावधानता में श्री अर्धशताब्दी महोत्सव का मनाना निश्चित हुआ था.

व्यक्तित्व और साहित्यिक जीवन

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि-स्मारक-ग्रन्थ

॥ श्री पार्श्वनाथाय नमः ॥

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश और उसके कर्त्ता

श्री राजमल लोढ़ा, सम्पादक 'दैनिक ध्वज' मन्दसौर

अभिधान राजेन्द्र कोष के निर्माता परम पूज्य आचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरिजी अपने समय के एक उद्भट, धुरंधर अद्भुत विद्वान थे। जिन्होंने धार्मिक और आध्यात्मिक जगत में, साहित्यिक संसार में अभिधान राजेन्द्र कोष की रचना करके जगत के प्राणियों को सुलभ मार्गदर्शन दिया।

राजेन्द्रसूरिजी का जीवन तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) गृहस्थ-जीवन (२) यतिजीवन (३) शुद्ध मुनिजीवन। आपका जन्म एक ऐसे समय में हुआ था कि जिस समय जैन समाज में सामाजिक व धार्मिक जीवन में क्राति की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। क्राति को सब चाहते थे किंतु आगे कदम रखनेवाला कोई व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था, मानव-जीवन के क्रांतिकारी विचारों पर भय का आतंक जमा हुआ था, किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी कि जैन समाज को पुनरुत्थान का मार्गदर्शन देकर प्राणियों को आत्मकल्याण की ओर अग्रसर करें।

ऐसे विकट समय में जैन जगत में (१) श्री राजेन्द्रसूरिजी (२) श्रीआत्मारामजी (विजयानंदसूरि) (३) श्रीमोहनलालजी व (४) श्रीसुखसागरजी इन चार महात्माओंने एक ही समय में साथ २ क्रांति की और भूले-भटके लोगों को पुनरुत्थान का मार्ग प्रदर्शन किया। उसीका परिणाम है कि आज जैन समाज अपने धार्मिक जगत में अपना पूरा २ योग दे रही है। फिर भी आज इस राजनैतिक समय में संगठित धार्मिक क्राति की आवश्यकता अवश्य अनुभव की जा रही है।

राजेन्द्रसूरिजीने २० वर्ष पर्यंत आबाल ब्रह्मचारी रह कर गृहस्थ जीवन का अनुभव किया और इस संसार को दुःख का घर समझ कर अपने जीवन को किसी एक आदर्श और उच्च जीवन में ढालने का साहस किया। इसी अवस्था में यतिजीवन की दीक्षा लेकर आपने अपना कदम एक नई दिशा की ओर मोड़ा। यतिजीवन में भी आपको कई नये २ अनुभव होने लगे, इस अनुभव में विद्याध्ययन की सब से बड़ी जरूरत थी और उसीकी ओर आपने अपना ध्यान केन्द्रित किया। बुद्धि की तीव्रता, एकाग्र ध्यान, अच्छे संयोगों के कारण आप थोड़े समय में ही एक प्रकाण्ड विद्वान हो गये। शास्त्रों का अध्ययन, मनन, मन्थन

और परिशीलन करने के बाद अनुभव हुआ कि मैं आज भी एक अंधेरे कुए में गोता लगा रहा हूं। जिस मार्ग पर चल रहा हूँ उससे किसी भी दिन अपना आत्मकल्याण नहीं कर सकूंगा। यह तो मेरे जीवन को डूबानेवाला, अधःपतन में ले जानेवाला रास्ता है। इसमें भी एक बड़ी क्रांति की आवश्यकता अनुभव होने लगी। इस जीवन का अनुभव २२ वर्ष पर्यंत किया; किंतु उन्हें कांटे-पत्थर ही नज़र आये।

४२ वर्ष की अवस्था में पुनः आपके जीवन में एक क्रांति का नया दौर आया। उसी दौरने अपने स्वयं और संसार के जीवों को आत्मकल्याण का मार्गदर्शन दिया। विक्रम संवत् १९२५ के वर्ष में जावरा (मालवा) में आपने अपने तमाम परिग्रह का त्याग कर एक शुद्ध मुनि-जीवन में अपना पैर रक्खा। इसी तीसरे शुद्ध मुनिजीवन में आपने धार्मिक, सामाजिक जो सेवायें की हैं उनका जैन समाज चिरऋणी है।

सब से पहिले अपनी आत्मशुद्धि के लिये पर्वतों पर्वतों में, जंगलों जंगलों में, कांटों और पत्थरों में अपने जीवन को त्याग और तपश्चर्या की कसौटी पर कसा, साथ ही साथ जनता को भी पुनरुत्थान का मार्गदर्शन दिया। कई लोगोंने इसका विरोध किया, अट्टहास किया। यहांतक कि इनका आहार-पानी भी बंद किया; किंतु इन्होंने धार्मिक और सामाजिक क्रांति को बंद नहीं किया। जीवन में आगे बढ़ते ही चले और एक दिन ऐसा आया कि सब इनके मंतव्य को समझ कर नतमस्तक हो गये। इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र सब से पहिले मालवा, निमाड़, छोटी मारवाड़ व गुजरात को बनाया। इनकी धार्मिक क्रांति की लहर वायु की तरह सब जगह फैल गई।

अनेक स्थानों पर जीर्णोद्धार का कार्य कराया, जिन मंदिरो में आशातनायें हो रही थीं उनकी व्यवस्था को ठीक कराया, जिन मंदिरों पर दूसरे लोगोंने अपना आधिपत्य जमा रक्खा था उनको हटाकर जनता को देवदर्शन व आधिपत्य का अपना अधिकार दिलाया। सैंकड़ों नूतन मंदिर बनवाये, हजारों नवीन मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठायें कराईं, हजारों मूर्तियें नवीन व प्राचीन मंदिरों में स्थापित कराईं, त्याग और तपश्चर्या की ओर जनता का ध्यान केन्द्रित किया। आपकी इस धार्मिक क्रांतिने जैन समाज के जीवन में एक नई स्फूर्ति पैदा कर दी। स्वयं को भी प्रतिदिन त्याग और तपश्चर्या के आदर्श मार्ग पर अग्रसर करते रहे जिससे जनता के हृदय पर आपकी एक अमिट छाप पडती रही। जिन्होंने श्रीराजेन्द्रसूरिजीको स्वयं देखा है और आज भी जीवित हैं वे खुद उनकी त्याग-तपश्चर्या की भूरि २ प्रशंसा करते हैं। सहसा उनके मुख से यही निकलता है कि श्री राजेन्द्रसूरिजी त्याग और तपश्चर्या की

एक प्रतिमूर्ति थे, उनका जीवन अत्यंत सादगी से परिपूर्ण था, उन्होंने प्राचीन ऋषि मुनियों के त्याग का अनुपम उदाहरण संसार को उसी रूप में दिखाया। मुनि-जीवन में आडम्बर तो किंचित् मात्र भी उनको छू नहीं सका। प्रतिसमय वे तो यही कहते हुए सुनाई पड़ते थे कि यह जो कुछ हो रहा है, महावीर-शासन का कार्य हो रहा है, मैं भगवान महावीर का एक तुच्छ सीपाही हूँ और उनकी यह चपरास अपने गले में डाल कर उनके बतलाये हुए मार्ग का प्रचार करता हूं। उनकी धार्मिक व सामाजिक क्रांति का अवलोकन जगत के जीवों को कराता हूं, जनता को उस मार्ग पर चलने के लिये आग्रह करता हूं, प्रतिसमय अपना व संसार के प्राणियों का आत्मकल्याण करने का मार्ग प्रशस्त करता हूं। यह था श्रीराजेन्द्र-सूरि का धार्मिक जीवन।

धार्मिक जीवन के साथ २ उनका साहित्यिक जीवन भी एक अनुपम और आदर्श था। उन्होंने अपने जीवनकाल में विक्रम संवत् १९०५ से ही ग्रन्थ-निर्माण के कार्य में अपना कदम आगे बढ़ाया जिस समय की उनकी अवस्था केवल २२ वर्ष की ही थी। उन्होंने जैन साहित्यिक जगत में सब से पहिले 'करणकामधेनुसारिणी' ग्रंथ से अपनी रचना प्रारंभ की और संवत् १९६० में श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष से अपनी रचना समाप्त की। ५५ वर्ष तक इन्होंने साहित्य की अविरल गति से सेवा की। इस ५५ वर्ष के जीवन में श्रीराजेन्द्र-सूरिजीने लगभग ६१ ग्रंथो की विविध विषयों में रचना की जिस में भी अभिधान राजेन्द्र कोष की रचना तो एक उन्हें कुदरत की ही देन थी। आजतक संसारमें कोई व्यक्ति इतने बडे ग्रंथ की रचना साढे चौदह वर्ष के जीवन में कर सका हो यह देखने में या सुनने में नहीं आया है। इस ग्रंथरचना के साढे चौदह वर्ष के समय में वे कहीं एक जगह स्थिर रहे हों, या उन्होंने अपने धार्मिक दूसरे कार्य बंद कर दिये हों, यह भी बात नहीं है। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम क्षण तक निरंतर पैदल विहार किया है, धार्मिक व सामाजिक कार्यों में प्रतिपल उद्यत रहे हैं। अंतिम समयतक प्रतिदिन धार्मिक उपदेशोंके द्वारा जनता का ध्यान त्याग, तपश्चर्या और आत्मकल्याण की ओर केन्द्रित किया है। इतना करते हुए भी उन्होंने अपने ग्रंथरचना का कार्य अविरल गति से चालू रक्खा है। उनका स्वर्गवास ८० वर्ष की आयु में हुआ फिर भी ७६ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने ग्रंथरचना के कार्य को नहीं छोड़ा और श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष के कार्य को संपूर्ण किया। उनकी उत्कट इच्छा थी कि इस अनुपम ग्रंथ के मुद्रण का कार्य भी उनके जीवनकाल में हो जाय और वे इसको अपने नेत्रों से देख लें, किंतु उनकी यह भावना पूरी न हो सकी। वे केवल श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष का

प्रथम फार्म ही मुद्रितरूप में अवलोकन कर सके, इसके पश्चात् इनके विद्वान् शिष्य स्वर्गीय श्रीभूपेन्द्रसूरिजी व वर्तमान आचार्य श्रीविजययतीन्द्रसूरिजीने कठिन परिश्रम करके इसके मुद्रण के कार्य को लगभग १७ वर्ष में पूर्ण किया। इस ग्रंथ के मुद्रण में लगभग ४ लाख रुपये व्यय हुए। इस कार्य में समाजने भी तन-मन-धन से पूरा २ सहयोग दिया, जिससे आज संसार को इस ग्रंथ से पूरा २ लाभ मिल रहा है। यह ग्रंथ केवल जैन समाज व भारत तक ही सीमित नहीं रहा, यह तो आज भी पाश्चात्य देशों के बड़े २ ग्रंथालयों की शोभा को द्विगुणित कर रहा है और वहां के विद्वानों को पूरा २ लाभ पहुंचा रहा है। यह तो आप इसी स्मारक-ग्रंथ में दी हुई विद्वानों की सम्मतियों से जान सकेंगे।

श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष को सियाणा (मारवाड़) में स्व० आचार्यप्रवर श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने तिथि आश्विन शुक्ल द्वितीया विक्रम संवत् १९४६ को लिखना आरंभ किया और सूरत गुजरात में तिथि चैत्र शुक्ल १३ विक्रम संवत् १९६० को परिपूर्ण किया। यह अभिधान राजेन्द्र कोष सात भागों में विभक्त है। यह प्राकृत भाषा का महाविशाल कोष है। इसके मुद्रण के लिये रतलाम (मालवा) में श्री जैन प्रभाकर प्रेस के नाम से एक स्वतंत्र मुद्रणालय खोला गया था और वहीं इसके मुद्रण का कार्य समाप्त किया गया।

इस कोष का २२×२९ के चौथाई हिस्से (सुपर रायल साइज) में मुद्रणकार्य हुआ है। इसके प्रथम भाग में पृष्ठ संख्या ८९३, दूसरे भाग में ११८७, तीसरे भाग में १३६३, चौथे भाग में १४१४, पांचवे भाग में १६२७, छट्ठे भाग में १४६५, सातवें भाग में १२५१ इस तरह कुल मिलकर सातों भागों में ९२०० पृष्ठ संख्या है। यह कोष केवल ग्रेट नंबर २ (१६ पाइन्ट) और पैका नंबर १ (१२ पाइन्ट) के टाईप में छपा हुआ है। प्रत्येक भाग की कीमत २५ रुपये है। प्रथम भाग में ह्रस्वाकारादि शब्द से संकलन किया गया है।

इस अभिधान राजेन्द्र कोष में जैनागम की अर्धमागधी भाषा के शब्दों का संकलन किया है। अर्धमागधी भाषा सामान्य प्राकृत भाषा से कुछ विलक्षण है। यह अर्धमागधी भाषा उस समय की सर्वसाधारण की भाषा थी और राष्ट्र की भी यह भाषा थी जिससे तीर्थंकरोंने अपना उपदेश इसी भाषा में दिया था। उन्हीं उपदेशों को श्रीगौतमादि गणधरोंने द्वादशाङ्गी अथवा एकादशाङ्गी रूप में संदर्भित किया। जो आज 'मूलसूत्र' के नाम से पुकारे जाते हैं। इन मूलसूत्रों तथा इनके विशद अर्थों का गम्भीर ज्ञान चौदह पूर्वधर, दश पूर्वधर, श्रुतकेवली आदि महात्माओं को तो कंठस्थ ही होता था, उनको किसी पुस्तकादि की आवश्यक्ता नहीं होती थी। उस समय में कागज, छपाई आदि का आविष्कार नहीं था, नहीं हुआ था। उस समय जनता की स्मरणशक्ति इतनी तीव्र थी कि वे वर्षों तक हरएक बातों को कंठस्थ ही

रखते थे। यदि कुछ लिखा भी गया है तो वे केवल ताडपत्रों आदि पर ही पाया जाता है। धीरे २ जनता की स्मरणशक्ति और ज्ञान में कमी होने लगी तो आचार्यों को इसकी चिंता हुई कि यह वस्तु धीरे २ विस्मृत हो जायगी और जनता धर्म से विमुख हो जायगी। जैन धर्म के मूलसूत्रों का अर्थ अति गहन होने से प्रत्येक प्राणी को समझने में कठिनाई का अनुभव होने लगा इस लिये महर्षियोंने इन मूलसूत्रों के ऊपर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि रचनायें शुरू कीं। देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के समय में बहुतसा कंठस्थ ज्ञान विस्मृत होने लगा, शारीरिक स्थिति और स्मरणशक्ति में बहुत दुर्बलता हो गई तब उन्होंने उस समय के सब महात्माओं को एकत्रित करके जिसको जितना याद था उस सब का संकलन कर लिया, वेही ग्रंथ आज जैन समाज में पाये जाते हैं। धीरे २ इन्हीं ग्रंथों का भिन्न रूप में इतना विस्तार हो गया कि इस अल्पायु में जल्दी से जल्दी इसके अंत तक पहुंचना दुर्लभ हो गया। साथ ही जितने भी ग्रंथों की रचना हुई है वे सब एक जगह संग्रहरूप में मिलना भी कठिन हैं। साथ ही कोनसा विषय किस ग्रंथ में हैं और किस शब्द का किस जगह क्या अर्थ है यह जानना अत्यंत मुश्किल है।

अर्धमागधी भाषा धीरे २ लुप्त प्रायः हो गई। केवल मात्र इसका कार्यक्षेत्र ग्रंथों तक ही सीमित रह गया, इसको समझनेवाले लोगों का अभाव हो गया। ऐसे विकट समय में श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष सरीखे ग्रंथों के निर्माण की परमावश्यकता अनुभव होने लगी। आचार्यप्रवर श्रीराजेन्द्रसूरिजीने दीर्घदृष्टि से सोचकर इस कार्य का प्रारंभ करने की प्रतिज्ञा की। इस ग्रंथराज में इन्होंने जैनागम की मागधी भाषा के शब्दों को अकारादि क्रम से रखकर संस्कृत में उनका अनुवाद, लिङ्ग, व्युत्पत्ति और अर्थ लिखकर फिर उस शब्द पर जो पाठ मूलसूत्र में आया है उसको लिखा है। यदि उसकी कोई प्राचीन टीका उस समय में प्राप्य थी तो उसको देखकर उसके सम्पूर्ण अर्थ को स्पष्ट किया है, साथ ही किन्हीं अन्य ग्रंथों में भी वही विषय आया हो तो उसका भी अच्छी तरह स्पष्टीकरण किया है।

यह ग्रंथ इतना सरल, सरस व विस्तार रूप से लिखा गया है कि इसमें जैन धर्म के सब ही विषयों पर विस्तार रूप से प्रकाश डाला गया है। जिस व्यक्ति को जैनागम संबंधी कोई भी विषय, कोई भी चीज चाहे वह जैन सिद्धान्त से संबंध रखनेवाले स्याद्वाद, ईश्वरवाद, सप्तनय, सप्तभङ्गी, षट् द्रव्य, नवतत्व, भूगोळ, खगोळ आदि हों, चाहे वह साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका के आचार-विचार संबंधी हो, चाहे वह मनुष्य के दैनिक कर्तव्य संबंधी हो, चाहे वह द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग संबंधी हो कहने का तात्पर्य यही है कि कोई भी विषय इस अभिधान राजेन्द्र से अछूता नहीं रहा है।

इस कोष में यह बड़ी भारी विशेषता रही हुई है कि मागधी भाषा के अनुक्रम से शब्दों पर सब विषय रक्खे गये हैं। जो मनुष्य जिस विषय को देखना चाहे वह उसी शब्द पर इस श्रीअभिधान राजेन्द्र को उठाकर देखले उसको सब कुछ वहीं एक स्थान पर मिल जायगा। जो विषय जहां जहां जिस जिस जगह पर आया है उसका तमाम विस्तृत स्पष्टीकरण उसी जगह पर किया है। साथ ही बड़े २ शब्दों पर विषयसूची भी दी है जिससे कोई भी विषय जानने में कठिनाई उपस्थित न हो। सर्वसाधारण अच्छी तरह समझ सके इस क्रम से संपूर्ण, व्यवस्थित रूप से प्रत्येक विषय का प्रतिपादन किया गया है। प्रतिपादन और उस विषय की प्रामाणिकता के लिये मूलसूत्रों के पाठ और उन मूलसूत्रों की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका तथा उस संबंधी और भी प्राचीन प्रामाणिक धुरंधर विद्वान आचार्यों के रचित ग्रंथों के प्रमाण ग्रंथों की नामावली के साथ प्रस्तुत किये हैं जिससे उस विषय का संपूर्ण प्रतिपादन मौलिक रूप से हो जाय और भी उस शब्द या विषय की प्रामाणिकता के लिये किसी भी विद्वान् आचार्य, मुनि, श्रावक आदि की रची हुई कथायें मिली हैं उनको भी उसी शब्द के साथ २ संग्रह कर दिया गया है जिससे विषय की पुष्टि में बड़ी भारी सरलता प्राप्त हो गई है।

इतिहासकारों के लिये सब ही प्रसिद्ध तीर्थों का उन्हीं शब्दों के साथ परिचय कराया गया है, उनकी संपूर्ण जानकारी दी है, उनका आदि से लेकर अंत तक संपूर्ण प्रत्येक दृष्टि से विवेचन किया है। उन तीर्थों के प्राचीन इतिहास पर ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व का प्रकाश डाला है। इसी प्रकार तीर्थंकरों की जीवनियों को भी अच्छी तरह प्रतिपादित किया है। तीर्थंकर अवस्था की जीवनी पर ही नहीं पूर्वभवों से लेकर निर्वाण पर्यंत उनके जीवन पर अच्छा विवेचन किया है। कथा के रसिक जनप्रिय संसार के लिये भी सैंकडों कथाओं का संग्रह इस अभिधान राजेन्द्र में मिलता है।

इस श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष को सात भागों में विभक्त किया है जिसका संपूर्ण परिचय प्रत्येक भाग के अलग २ रूप में नीचे दिया जाता है, जिससे पाठकोंको संपूर्ण जानकारी मिल जायगी कि उन्हें किस भाग में कौनसा शब्द मिल सकेगा, साथ ही उस भाग की संपूर्ण माहिती भी उनको सरलता से प्राप्त हो जायगी। यों तो एक २ भाग इतने विस्तृत रूप में रचित है कि उसकी संपूर्ण जानकारी तो यहां नहीं दी जा सकती; क्यों कि उसकी जानकारी देने में एक बड़े ग्रंथ का निर्माण हो सकता है फिर भी संक्षिप्त रूप में उसका परिचय दिया जा रहा है:—

श्री अभिधान राजेन्द्र कोष का

प्रथम भाग

ग्रंथकर्ता का सुंदर चित्रः-

इस ग्रंथराज के प्रथम भाग में सबसे पहिले ग्रंथकर्ता का आधुनिक रूप में सुंदर चित्र दिया हुआ है। जिस में आचार्यप्रवरश्री राजेन्द्रसूरिजी के जन्म, दीक्षा, पन्यास, श्रीपूज्य-पदवी, क्रियोद्धार, दिवंगति का समय और स्थान अंकित किया हुआ है।

आभार- प्रदर्शन

आभार प्रदर्शन किया गया है जिस में ग्रंथ-रचयिता श्री राजेन्द्रसूरिजी की इस ग्रंथरचना का समय निर्धारित किया है। इसके मुद्रणकार्य संबंधी व्यवस्था के लिये श्रीसंघकी एक सभा हो कर प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और इसका तमाम कार्यभार स्व० आचार्य श्री भूपेन्द्रसूरिजी तथा वर्तमान आचार्य श्रीयतीन्द्रसूरिजी के कंधो पर रक्खा गया। उन्होंने इस कार्य को घोर परिश्रम करके संपूर्ण किया। इस कार्य में जिन २ मुनियोंने उपदेश देकर इसको आर्थिक सहायता पहुंचाई उनका संक्षिप्त परिचय दिया है। साथ ही मालवी, निमाड़, मारवाड़, गुजरात के जिन २ सद्गृहस्थोंने इस अभिधान राजेन्द्र को मुद्रित व प्रकाशित कराने में अपने धन की सहायता देकर सदुपयोग किया उनकी संपूर्ण नामावली देकर आभार प्रदर्शन किया है।

जीवन-परिचय

श्री अभिधान राजेन्द्र कोप आदि ग्रंथों के निर्माता आचार्यप्रवर श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का संपूर्ण जीवन परिचय १५ पृष्ठों में दिया है, जिस के पठन से अच्छी तरह विदित हो सकता है कि आचार्यश्री का जीवन कितना प्रभावोत्पादक है। उन्होंने अपने पिछले जीवन में देश, समाज, धर्म, साहित्य आदि की कितनी सेवायें की हैं। इसमें आचार्य श्रीद्वारा रचित ग्रंथों की नामावली संवत् सहित दी है। उनके हाथ से लिखे हुए अक्षरों का एक चित्र दिया है जिस को देख कर अच्छी तरह आभास होता है कि उनके अक्षर कितने सुंदर व शुद्ध थे। उनके अक्षरों की लिखावट व सफाई कितनी बढ़िया और कलात्मक थी कि एक वक्त छापेखानों के अक्षरों को भी पीछे रख देती थी।

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय पट्टावली

इसमें श्री महावीरस्वामी के शासनकाल के नायक श्री सुधर्मास्वामी से लेकर श्री विजय-राजेन्द्रसूरिजी पर्यंत तमाम ६७ आचार्यों की पाट-परम्परा की नामावली दी है।

आचार्यप्रवर श्री धनचन्द्रसूरीश्वरजी

आचार्य श्री राजेन्द्रसूरिजी के सब से प्रथम विद्वान् शिष्य श्री धनचन्द्रसूरिजी का एक चित्र

दिया है जिसमें इन के जन्म से लेकर स्वर्गगमन पर्यंत का समय अंकित किया गया है। इन्होंने भी इस अभिधान राजेन्द्र कोष को संसार के सामने उपस्थित करने में एक अच्छा सहयोग दिया है।

प्रस्तावना

इस ग्रंथरत्न की प्रस्तावना में ग्रंथ की संपूर्ण रचना की संक्षिप्त माहिती दी गई है। इसमें ग्रंथकर्ताने किन किन खूबियों के साथ इस ग्रंथ का संकलन करके उनके तमाम विषयों पर प्रकाश डाला है इसकी अच्छी समजाइश की है। इस ग्रंथ में जो संकेत (नियम) रक्खे गये हैं उनका संपूर्ण खुलासा किया है।

जिस विषय का जिस सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, टीका, चूर्णि या अन्य किसी ग्रंथ में खुलासा आता हो उन सब का अध्ययनादि के संकेत और वे किन किन ग्रंथों में हैं उन ग्रंथों के सांकेतिक नाम दिये हैं।

किसी भी विषय के प्रमाण के लिये जिन जिन ग्रंथों की आवश्यकता हुई है उन तमाम ग्रंथों के नामों की नामावली दी है, इनमें ९७ ग्रंथों के प्रमाण बताये गये हैं।

प्राकृत शब्दों में जो कहीं कहीं (   ) ऐसे कोष्टक के मध्य में अक्षर दिये गये हैं [illegible] से नियम दिये हैं और उन तमाम का खुलासा ८ नियमों में किया गया है। [illegible] में कहीं-कहीं एक शब्द के अनेक रूप होते हैं परंतु सूत्रों में एक ही [illegible] का पाठ [illegible] इस लिये उसीको मुख्य रख कर रूपान्तर को कोष्टक में रक्खा है। [illegible] 'अद्[illegible]' या 'अणुनाग' शब्द आया है और उसका रूपा-[illegible] 'अ[illegible]' या 'अणु[illegible]' [illegible] किन्तु सूत्र में पाठ 'अद्दायाग' ही प्रायः [illegible] है [illegible] को प्रधान रख कर दूसरे को कोष्टक (   ) में रख दिया है।

[illegible] शब्दों [illegible] शब्दों के लिंगों में विलक्षण लिंग आता है। [illegible] भी [illegible] है। जैसे तीसरे भाग के [illegible] लिखते हैं कि '[illegible] वरा[illegible],
[illegible]'

[illegible] भागों में [illegible] भाग में से आये हुए [illegible] दिये गये हैं। [illegible] प्रथम भाग में जिन शब्दों [illegible] संक्षिप्त [illegible] किया है:—

'अज्जा' शब्द पर आर्या (साध्वी) को गृहस्थ के सामने कटु भाषण करने का निषेध, विचित्र (नाना रंगवाले) वस्त्र पहिनने का निषेध, गृहस्थ के कपड़े सीनेका निषेध, सविलास गमन करने का निषेध, गादी तकिया आदि को काम में लाने का निषेध, स्नान या अङ्गरागादि करने का निषेध, गृहस्थ के घर जाकर व्यवहारिक अथवा धार्मिक कथा करने का निषेध, तरुण पुरुषों के आने पर उनका स्वागत करने का या पुनरागमन करने का निषेध किया है। इसी प्रकार साध्वियों के उचित आचार-विचारों के विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है।

इस प्रथम भाग में जिन २ शब्दों पर जो जो कथायें या उपकथायें आई हैं उनकी नामावली भी दे दी गई है जिस से पाठकों को सरलता से उनकी जानकारी मिल जाय। यों तो कई कथाएं इस प्रथम भाग में हैं पर विशेषरूप से ५२ शब्दों पर कथाओं का वर्णन किया गया है।

इस तरह सातों का उपयोगी विषय संक्षिप्त रूप से यहां दे दिया गया है जिससे पाठकों को किसी भी भाग के विषय में जानकारी लेना हो तो वह यहां से ले सकता है।

अकार से ककार तक शब्दों के अन्तर्गत (   ) कोष्टक में आये हुए शब्दों की अकारादि क्रम से सूची दे दी गई है जिससे किसी भी शब्द को देखना हो तो उसकी जानकारी यहां से मिल सकती है।

इस ग्रंथ का पठन करने के पहिले 'आवश्यक कतिपय संकेत' जो यहां मुद्रित किये गये हैं उनको सब से पहिले पढ़ लेना जरूरी है ताकि ग्रंथ के अध्ययन में किसी तरह की असुविधा या शंका न हो, इसके लिये ग्रंथकर्ताने १६ आवश्यक संकेत प्रकाशित किये हैं।

इस अभिधान राजेन्द्र में इतना ही लिखकर आचार्यप्रवरने विश्राम नहीं लिया है। उन्होंने तो हरएक विषय पर अपनी लेखनी का उपयोग किया है। स्कन्दिल आचार्य के समय में जब दुर्भिक्ष पड़ गया और मुनियों का पठन-पाठनादि नष्टप्रायः होने लगा तब दूरदर्शी आचार्योंने सोचा कि इस तरह तो सब ज्ञान लुप्त हो जायगा। उन्होंने संघो का मिलाप किया और यह मिलाप एक तो मथुरा में और दूसरा वलभी में हुआ तब दोनों के पाठ में वाचनाभेद हो गया और होना भी स्वाभाविक है; क्योंकि जो चीज विस्मृत होकर पुनः स्मरण कीजाती है उसमें अवश्य वाचनाभेद हो सकता है। इसका भी अच्छा विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है।

आचार्य 'आर्यवैर' के समय तक अनुयोगों का पार्थक्य नहीं हुआ था और यह पार्थक्य आर्यरक्षितसूरि के समय में हुआ इस विषय पर प्रथम भाग में 'अज्जरक्खिय' शब्द पर और 'अणुओग' शब्द पर विस्तृत विवेचन पाया जाता है।

श्रीसुधर्मास्वामिने १ आचाराङ्गसूत्र, २ सूत्रकृताङ्गसूत्र, ३ स्थानाङ्गसूत्र, ४ समवायाङ्गसूत्र, ५ भगवतीसूत्र, ६ ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र, ७ उपासगदशाङ्गसूत्र, ८ अन्तगडदशाङ्गसूत्र, ९ अणुत्तरोववाइयदशाङ्गसूत्र, १० प्रश्नव्याकरणसूत्र, ११ विपाकसूत्र इन ग्यारह अंगों की रचना की है। इन ग्यारह अंगों में अध्ययन, मूल श्लोक संख्या, उस पर टीका, चूर्णि, निर्युक्ति, भाष्य और लघुवृत्ति आदि जितनी भी श्लोकसंख्या है वह बताई गई है। इन ग्यारह अंगों की मूल श्लोकसंख्या ३५६५९ है और इन श्लोकों पर ७३५४४ टीका हैं और २२७०० श्लोकप्रमाण चूर्णि है तथा ७०० श्लोकप्रमाण निर्युक्ति है और सब मिलकर १३२६०३ श्लोकप्रमाण हैं। आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की टीका शिलङ्गाचार्य की बनी हुई है और बाकी नवाङ्गी टीका आचार्य श्रीअभयदेवसूरि की रचित हैं इसीलिये अभयदेवसूरि महाराज का नवाङ्गी वृत्तिकार के नाम से उल्लेख मिलता है। अभयदेवसूरि का जीवनचरित्र अभिधानराजेन्द्र के प्रथम भाग के ७०६ पृष्ठ पर आचार्यप्रवरने विस्तृत रूप से अंकित किया है। इसी प्रकार शिलङ्गाचार्य का जीवनपरिचय अभिधान राजेन्द्र कोष के सातवें भाग के ९०१ पृष्ठ पर दिया गया है। इन ग्यारह अंगों के ऊपर अंगचूलिकाएँ भी हैं। इन चूलिकाओं से ग्यारह अंग शोभित होते हैं। इनका भी अध्ययन आवश्यक है।

इन ग्यारह अंगों के सिवाय बारह उपाङ्ग १ उववाई, २ रायपसेणी, ३ जीवाभिगम, ४ पन्नवणा, ५ जम्बूद्वीपपन्नति, ६ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ७ सूरप्रज्ञप्ति, ८ कप्पिका, ९ कप्पावतंसिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका, १२ वह्निदिशा हैं। इन बारह उपाङ्गों की मूल संख्या और इन पर किस आचार्य की टीका है तथा कितने अध्ययन आदि हैं यह भी बताया है। इन पिछले पांच उपाङ्गों का एक नाम निरयावली भी है और इन पांचों के ५२ अध्ययन हैं। इन बारह उपाङ्गों की मूल संख्या २५४२० है और टीका की संख्या ६७९२६, लघुवृत्ति ६०२८, चूर्णि ३३६० है इन सब की संख्या १०३५४४ श्लोकप्रमाण है।

दस पइन्ना (प्रकीर्णक)

दस प्रकार के पइन्ना (प्रकीर्णक) १ चउसरण पइन्ना, २ आउरपच्चक्खाण पइन्ना, ३ भत्तपच्चक्खाण पइन्ना, ४ संथारग पइन्ना, ५ तंदुलवेयाळी पइन्ना, ६ चंदविज्जग पइन्ना, ७ देविन्दत्थव पइन्ना ८ गणि विज्जा पइन्ना ९ महापच्चक्खाण पइन्ना १० समाविकरण पइन्ना ये दस पइन्ना अलग २ विषयों के ग्रंथ हैं इनकी श्लोकसंख्या दी है। इन दसों पइन्नाओं की संपूर्ण श्लोकसंख्या २३०५ है और प्रत्येक में दस दस अध्ययन हैं। इन दसों पइन्नाओं की गिनती भी तेंतालीस आगमों में की गई है।

१ वीरस्तव पइन्ना, २ ऋषिभाषित सूत्र, ३ सिद्धिप्राभृत सूत्र, ४ दीवसागरपन्नति संग्रहणी और इसकी अलग टीका, ५ अङ्गविज्जा पइन्ना, ६ ज्योतिषकरण्डक पइन्ना और इसकी टीका मलयगिरिकृत तथा प्राभृतक, ७ गच्छाचारपइन्ना इस पर टीका विजयविमलगणिरचित और इसमें चार अधिकार, ८ अङ्गचूलिकायें हैं।

इस अङ्गचूलिका ग्रंथ में आर्य सुधर्मास्वामी से उनके शिष्य जंबूस्वामी पूछते हैं कि इन ग्यारह अंगों की अङ्गचूलिका किस लिये बनाई गई है। सुधर्मास्वामीने जवाब दिया कि जिस प्रकार आभूषणों से अङ्ग सुशोभित होता है, उसी प्रकार अङ्गचूलिका से एकादशाङ्गी सुशोभित होती है, इसलिये साधु-साध्वियों को इसका संपूर्ण अध्ययन करना चाहिये और गुरुपरंपरागम से इसे ग्रहण करना चाहिये। पुनः जम्बूस्वामीने प्रश्न किया कि हे स्वामी! गुरुपरंपरागम का क्या अर्थ है? सुधर्मास्वामीने जवाब दिया कि:-आगम तीन प्रकार के हैं-१ अन्तागम, २ अनन्तरागम और ३ परंपरागम।

अर्हन्त भगवानने जो उपदेश दिया है और उस उपदेश का जो अर्थ है वह गणधरोंने ग्रहण किया, साथ ही उस अर्थ की गणधरोंने सूत्ररूप में संकलना की इसे अन्तागम माना जाता है। इसके पश्चात् गणधरों के शिष्योंने जो रचनाएं की हैं वे अनन्तरागम रूप में मानी जाती हैं। उसके पश्चात् जितने भी ग्रंथों की रचना हुई है उन्हें परंपरागम रूप में ग्रहण करना चाहिये। अवशिष्ट भाग जो कुछ है वह उपाङ्ग चूलिका में मिलता है।

छः छेद ग्रंथ और उन पर की हुई ग्रंथों की रचनाएं।

१ निशीथसूत्र-इसके २० उद्देश और इसकी श्लोकसंख्या ८१५ है और इस पर लघुभाष्य ७४०० है। इस पर जिनदासगणिविरचित चूर्णि और बृहद्भाष्य है यह टीका के नाम से सुप्रसिद्ध है। इस निशीथसूत्र पर भद्रबाहुस्वामीने भी निर्युक्ति की रचना की है। शीलभद्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरिने भी विक्रम संवत् ११७४ भली इस प्रकार व्याख्या की है। जिनदासगणिने इस निशीथसूत्र पर अनुयोगद्वारचूर्णि, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पभाष्य, आवश्यकचूर्णि आदि कई-एक ग्रंथों का निर्माण किया है।

२ महानिशीथसूत्र-इसकी मूळ श्लोकसंख्या ४५०० मानी जाती है। कई २ विद्वानों के मतानुसार इसकी तीन वाचनायें बताई जाती हैं-१ लघुवाचना, २ मध्यवाचना, ३ बृहद्वाचना।

३ बृहत्कल्पसूत्र-इसकी मूळ श्लोकसंख्या ४७३ है। इस पर विक्रम संवत् १३३२ में श्रीक्षेमकीर्तिसूरिने ४२ हजार श्लोक की एक बहुत बड़ी टीका बनाई है। इस पर जिनदास-गणिने एक भाष्य, लघुभाष्य, चूर्णि आदि की रचनायें की हैं।

४ व्यवहारदशाकल्पच्छेदसूत्र-इसके दो खण्ड और संपूर्ण मूळ श्लोकसंख्या ६०० है। इस पर मलयगिरि आचार्यने टीका, चूर्णि, भाष्य आदि रचनायें की हैं।

५ पंचकल्पच्छेदसूत्र-इसके १६ अध्ययन और मूळ श्लोकसंख्या ११३३ है। इस पर चूर्णि, दूसरी टीका, भाष्य आदि रचनायें हैं।

६ दशाश्रुतस्कन्धछेदसूत्र-इसकी संपूर्ण श्लोकसंख्या ४२४८ है। इस पर श्रीब्रह्मविरचित टीका मिलती है। इसका आठवां अध्ययन कल्पसूत्र है जिसकी कल्पसुबोधिका टीका है।

७ जीतकल्पच्छेदसूत्र-इसकी मूल संख्या १०८ और टीका १२ हजार है। इस पर चूर्णि, भाष्य आदि ग्रंथ हैं। इस पर कई आचार्यों, मुनियों आदिने अपनी २ क्रमशः रचनायें अलग २ बनाई हैं।

चार मूलसूत्र।

१ आवश्यकसूत्र-इसकी मूल गाथा १२५ है। इन गाथाओं पर हरिभद्रसूरि, भद्रबाहुस्वामी, तिलकाचार्य, अञ्चलगच्छाचार्य, हेमचन्द्राचार्य आदिने टीका, निर्युक्ति, चूर्णि, दीपिका आदि अनेक ग्रंथो की रचनायें की है जिनकी संपूर्ण श्लोकसंख्या ९८१४६ बतलाई जाती है। इसमें विशेषावश्यकसूत्र का एक विशेष परिकर है। इस पर भी श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरि, कोटाचार्य, द्रोणाचार्य आदि की अनेक रचनायें उपलब्ध होती हैं। इसमें पाक्षिकसूत्र, यतिप्रतिक्रमण, दशवैकालिकसूत्र आदि ग्रंथ हैं और इन ग्रंथों के उपर भी कई टीका और चूर्णि आदि मिलते है।

दशवैकालिकसूत्र-सय्यंभवसूरि का बनाया हुआ ७०० मूळ श्लोकों का है। इस पर तिलकाचार्य, हरिभद्राचार्य, मलयगिरि, सोमसुंदरसूरि, समयसुंदर उपाध्याय आदि कई विद्वानों के अलग २ ग्रंथों की रचनायें मिलती है। इन ग्रंथोंमें इन्होंने विशेष रूप से अच्छा प्रकाश डाला है।

२ पिण्डनिर्युक्ति-भद्रबाहुस्वामी के द्वारा इसकी रचना हुई है। इसके मूळ श्लोक ७०० हैं। इस पर मलयगिरि, वीरगणि, महासूरि आदि कई विद्वान् आचार्यों की टीका, लघुवृत्ति आदि हजारों श्लोको में रचनायें पाई जाती हैं। विद्वानों का कथन है कि इस पर १९२०० श्लोकों की रचनायें हैं।

३ ओघनिर्युक्ति-यह ग्रंथ भी श्रीभद्रबाहुस्वामी के द्वारा निर्माण किया हुआ है। इसके मूळ श्लोक ११७० हैं। इस पर द्रोणाचार्य की टीका, भाष्य, चूर्णि आदि १८४५० श्लोकप्रमाणों में मिलते हैं।

४ उत्तराध्ययनसूत्र–इसके ३६ अध्ययन हैं और इसके मूळ श्लोक २००० हैं। इस पर वादिवेताळशांतिसूरि की टीका, लक्ष्मीवल्लभीटीका, नेमचन्द्रसूरि की रचना की हुई लघुवृत्ति, भद्रस्वामी की निर्माण की हुई गाथा, निर्युक्ति, चूर्णि आदि ४०३०० श्लोकप्रमाणों में ग्रंथ उपलब्ध हैं। पीछे से और भी आचार्योंने इस ग्रंथ पर अच्छा प्रकाश डाला है।

चूलिकासूत्र।

१ नन्दिसूत्र–देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा निर्मित ७०० मूळ श्लोकप्रमाण का ग्रंथ है। इस ग्रंथ पर मलयगिरि आचार्य की वृत्ति, चूर्णि, हरिभद्रसूरि की बनाई हुई लघुटीका, चन्द्रसूरि का टिप्पण आदि अनेक ग्रंथ मिलते हैं।

२ अनुयोगद्वारसूत्र–यह ६ हजार श्लोक के प्रमाण में है। इस पर मलवारी श्रीहेमचंद्रसूरिने वृत्ति लिखी है। जिनदासगणिने चूर्णि, हरिभद्रसूरिने लघुवृत्ति आदि हजारों श्लोकों के प्रमाणों में ग्रंथ रचनायें की हैं।

श्री जैन श्वेताम्बर समाज में ग्यारह अंग, बारह उपाङ्ग, दस पइन्ना, छः छेदसूत्र, चार मूलसूत्र और दो चूलिकासूत्र इस तरह आधुनिक समय में पैंतालीस आगम उपलब्ध हैं और ये सर्वमान्य हैं। इसमें किसी भी व्यक्ति का कोई मतभेद नहीं है। श्रीजैन श्वेताम्बर समाज में चाहे कितने ही गच्छ या मतमतान्तर हों; किंतु इन ४५ आगमों के संबंध में तो सबकी एक ही मान्यता, आदरभाव व प्रेम है। जहा कहीं भी गच्छों में भेद नज़र आते है वे अवसर करके क्रियाकांडों में हैं। मूल सैद्धान्तिक मतभेद नही है। सब एक ही ग्रंथों और शास्त्रों की मान्यतावाले हैं। इन आचार्यों के क्रियाकांडों के मतभेद से चाहे हम लोगों में जुदी २ मान्यतायें हो गई हों; किंतु सैद्धान्तिकदृष्टि से ऐसा कोई मतभेद नहीं है और आज तो इस स्वतंत्रता के युग में अपनी २ क्रियायें करते हुए सब को संगठन के एक सूत्र में मिल कर सिद्धान्तों का प्रचार करना चाहिये। सिद्धान्तों को एक तरफ रखकर केवल क्रियाकांडों को ही महत्व देना इस युग में शोभनीय नहीं माना जा सकता।

उपोद्घात।

संस्कृत भाषा में १३ पृष्ठों का उपोद्घात संशोधकों के द्वारा लिखा गया है जिसमें जैनदर्शन की मान्यताओं पर विशद विवेचन किया गया है। सबसे पहिले तो जैनदर्शन की उदारता के संबंध में प्रकाश डालते हुए बतलाया कि जैनदर्शन किसी भी व्यक्ति, मानवधर्म का द्वेषी नहीं है उसका तो कथन है कि:—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥ १॥

रागद्वेषविनिर्मुक्ता-र्हत् कृतं च कृपा परम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥ २ ॥

जैनदर्शन दया, आचार, क्रिया और वस्तुभेद के रूप से चारों भागों में विभक्त है। इसकी नींव स्याद्वाद अर्थात् अनेकांतवाद पर ठहरी हुई है। प्रमाणपूर्वक जैनशास्त्रों में स्याद्वाद सिद्धान्त का इतने अच्छे ढंग से प्रतिपादन किया गया है कि जिसके संबंध में विद्वानों को आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। जैनदर्शन में स्याद्वाद की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि " एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या नाना धर्मस्वीकारो हि स्याद्वादः " एक वस्तु में अपेक्षापूर्वक विरुद्ध जुदा जुदा धर्मों को स्वीकार करना ही स्याद्वाद है। वस्तुमात्र में सामान्य और विशेष धर्म रहा हुआ है। एक ही वस्तु में अपेक्षा से अनेक धर्मों की विद्यमानता स्वीकार करने का नाम स्याद्वाद है। प्रत्येक वस्तु की अपेक्षा से नित्यानित्य मानना पड़ता है। दर्शनवाद का अध्ययन, मनन व परिशीलन करनेवाले अच्छी तरह समझते हैं कि प्रत्येक दर्शनकार को एक अथवा दूसरे रूप में स्याद्वाद को स्वीकार करना ही पड़ता है। कई व्यक्ति स्याद्वाद का यथास्थित स्वरूप न समझने के कारण इसको 'संशयवाद' भी कहने की बलक्रिया करते हैं; किंतु वस्तुतः 'स्याद्वाद' 'संशयवाद' नहीं है। संशय तो उसे कहते हैं कि एक वस्तु कोई निश्चय रूप से न समझी जाय। अंधकार में किसी लम्बी वस्तु को देख कर विचार उत्पन्न हो कि यह रस्सी है अथवा सांप। अथवा जंगल की अंधेरी रात्रि में दूर से लकड़ी के ठूंठ के समान किसी को देख कर विचार हो कि 'यह मनुष्य है या लकडी' इसका नाम संशय है। परंतु स्याद्वाद में तो ऐसा नहीं है। संसार में सब पदार्थों में अनेक धर्म रहे हुए हैं। यदि सापेक्ष-रीत्या इन धर्मों का अवलोकन किया जावे तो उसमें उन धर्मों की सत्यता अवश्य ज्ञात होगी। आत्मा जैसी नित्यमानी जानेवाली वस्तु को भी यदि हम स्याद्वाद दृष्टि से देखेंगे तो इसमें भी नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म मालूम होंगे।

इस तरह तमाम वस्तुओं में सापेक्षरीत्या अनेक धर्म होने के कारण ही श्रीमान् उमास्वातिवाचकने द्रव्य का लक्षण करते हुए बताया है कि 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'। किसी भी द्रव्य के लिये यह लक्षण निर्दोष प्रतीत होता है।

आत्मा यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य है तथापि इसे पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से 'अनित्य' ही मानना पड़ेगा। जैसे कि एक संसारस्थ जीव, पुण्य की अधिकता के समय जब मनुष्ययोनि को छोड़ कर देवयोनि में जाता है उस समय देवगति में उत्पाद (उत्पत्ति) और मनुष्य पर्याय का व्यय (नाश) होता है, परंतु दोनों गतियों में चैतन्य-धर्म तो स्थायी (ध्रौव्य) ही रहता है अर्थात् यदि आत्मा को एकान्त नित्य ही माना जाय

तो उत्पन्न किया हुआ पुण्य-पाप पुनः पुनः जन्ममरणादि भाव से निष्फल जायगा और यदि एकान्त अनित्य ही माना जाय तो पुण्य-पाप करनेवाला दूसरा और उसे भोगनेवाला दूसरा हो जायगा। इस लिये आत्मा में कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। यह तो चैतन्य का दृष्टान्त हुआ, परंतु जड़ पदार्थ में भी 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' द्रव्य का यह लक्षण अवश्य स्याद्वाद शैली से घटित होता है, जैसे सोने की एक कंठी के दृष्टांत से:—

एक व्यक्ति सुनार की दूकान पर अपनी कंठी को गला कर उसका एक कडा बनवाता है। उस समय कडे का उत्पाद (उत्पत्ति) और कंठी का व्यय (विनाश) हुआ; परंतु सोना (स्वर्णत्व) कड़े और कंठी दोनों में वैसा ही ध्रौव्य (स्थाई) है। इस प्रकार जगत के सब पदार्थों में उत्पत्ति, व्यय और स्थाईत्व लक्षण अच्छी तरह घटित होते हैं और यही स्याद्वादशैली है। एकांत नित्य और अनित्य कोई भी पदार्थ नहीं माना जा सकता।

नित्यानित्य होने से वस्तु जैसे अनेकांत है ऐसे सदसत् रूप होने से भी अनेकांत है। तात्पर्य यह है कि वस्तु नित्यानित्य की तरह सत् असत् रूप भी है। स्वरूपादि की अपेक्षा वस्तु में सत्व और पररूपादि की अपेक्षा से असत्व, अतः अपेक्षाकृत भेद से सत्वासत्व दोनों ही वस्तु में विना किसी विरोध के रहते हैं। वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल भावरूप से सत् और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से असत्; अतः सत् और असत् उभय रूप है।

इस प्रकार स्याद्वाद का निरूपण करते हुए सप्तभङ्गी पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला हैं।

सप्तभङ्गी

आचार्यप्रवरने सप्तभङ्गी का लक्षण बताते हुए लिखा है कि "एकत्रवस्तुन्येकैक धर्म-पर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयो. समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी" प्रश्न रुप से एक वस्तु में एक एक धर्म की विधि और निषेध की विरोध रहित कल्पना यही सप्तभङ्गी है। प्रश्न सात प्रकार के हो सकते हैं वे इस प्रकारः-
१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति, ३ स्यादस्तिनास्ति, ४ स्यादवक्तव्यं, ५ स्यादस्ति अवक्तव्यं, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्यं, ७ स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यं स्यात् यह शब्द अव्यय है और अनेकांत को बतलानेवाला है।

इस तरह सप्तभङ्गी के सातों भङ्गों पर बहुत विशद अर्थ समझाकर दिया है।

इस प्रकार इस उपोद्‌घात में समवायखण्डनम्, सत्तानिरसनम्, अपोहस्य स्वरूप निर्वचनपुरस्सरं निरसनम्, अपौरुषेयत्वव्याघातः, जगत्कर्तृत्वविध्वंसः, शब्दाकाशगुणत्वखण्डनम्,

अद्वैतखण्डनम्, ईश्वरव्यापकत्वखण्डनम्, एकेन्द्रियाणाम् भावेन्द्रियज्ञानसमर्थनेन भावश्रुत समर्थनम् आदि विषयों पर बहुत विवेचन किया गया है। यहां यदि इन सब पर प्रकाश डालने की कोशिश की जाय तो अलग ही एक बडा ग्रंथ बनजाने की संभावना है; अतः जिनको ये विषय देखना हो वे इस अभिधान राजेन्द्र कोष में देख सकते हैं।

आचार्यश्री हेमचंद्राचार्य महाराजने अपने जीवन में लगभग ३॥ करोड श्लोकों की रचना की है। साथ ही उस समय में जितने भी विषय उपलब्ध थे उन सब विषयों पर अपनी रचनायें की हैं। यह उनके सब विषयों के ग्रंथों को देखने से अच्छी तरह पता लगता है। इन्हीं आचार्य हेमचंद्रने 'सिद्धहेमशब्दानुशासनम्' नामक एक व्याकरण की बहुत बड़ी रचना की है। उसका आठवा अध्याय प्राकृत व्याकरण का निर्मित किया है। उस प्राकृत व्याकरण के ऊपर आचार्य श्रीराजेन्द्रसूरिजीने एक २ सूत्र को लेकर संस्कृत में श्लोकबद्ध चार पादों में टीका रची है जिससे प्राकृत व्याकरण के अध्ययन करनेवालों को बहुत ही सरलता से प्राकृत भाषा का ज्ञान हो सके। इस ग्रंथ की रचना विक्रम् संवत् १९२९ के वर्ष में की है।

इस प्राकृत व्याकरण में कौनसा सूत्र किस स्थान पर है यह सरलता से जान लेने के लिये अकारादि क्रम से पृष्ठसंख्या, सूत्रों के नाम और सूत्रों की संख्या दे दी गई है।

अभ्यासार्थियों के लिये प्राकृत व्याकरण की प्राकृत शब्दरूपावलि भी इस में देदी है जिसमें सातों विभक्ति और सम्बोधन के रूप अच्छी तरह बतला दिये गये हैं। प्राकृत भाषा में एकवचन और बहुवचन ही होता है, संस्कृत की तरह एकवचन, द्विवचन व बहुवचन इस तरह तीन वचन नहीं माने गये हैं। यह भाषा कठिन दिखाई देती है, किंतु यदि अध्ययन किया जाय तो यह संस्कृत से बहुत सरल है। अंत में आचार्यश्रीने नपुंसकलिंगों के रूप देकर इसकी परिसमाप्ति की है।

अब अभिधान राजेन्द्र कोष का यह प्रथम भाग 'अ' अक्षर से प्रारंभ किया है और 'अहोहिम' इस शब्द पर समाप्त किया है। इस भाग में केवल एक 'अ' अक्षर से बननेवाले शब्दों के ८९३ पृष्ठ हैं और उसी एक 'अ' अक्षर के शब्दों से ही यह प्रथम भाग समाप्त हो गया है।

अब इस भाग में जो मुख्यतः शब्दों के विषय आये हैं उन्हें संक्षेप में यहां दिया जा रहा है ताकि पाठकों को इस भाग की माहिती सरलता से हो सके:—

'अंतर' इस शब्द पर द्वीप, पर्वतों के परस्पर अंतर, जंबूद्वारों में परस्पर अंतर, जिनेश्वरों के परस्पर अंतर, भगवान् ऋषभदेव से महावीर तक का अंतर, ज्योतिष्कों का और चंद्रमण्डल का परस्पर अंतर, चंद्रसूर्यों का परस्पर अंतर आदि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला है।

'अज्जा' इस शब्द पर आर्या(साध्वी) को गृहस्थ के सामने पुष्ट भाषण करने का निषेध, विचित्र अनेक रंग के कपड़े पहिनने का निषेध, गृहस्थ के कपड़े पहिनने का निषेध आदि साध्वियों के योग्य जो भी कार्य नहीं हैं उनका तथा जिन कार्यों को उन्हें करना चाहिये उन सब का विवेचन इस शब्द में किया गया है।

'अणेगंतवाय' इस शब्द पर स्याद्वाद का स्वरूप, अनेकांतवादियों के मत का प्रदर्शन, एकांतवादियों के दोष, हरएक वस्तु को अनंत धर्मात्मिक होने में प्रमाण, वस्तु की एकांत सत्ता माननेवाले मतों का खण्डन आदि स्याद्वाद संबंधी विषय पर गहरा प्रकाश डाला है।

'अद्दगकुमार' इस शब्द पर आर्द्रकुमार की कथा, रागद्वेष रहित के भाषण करने में दोषाभाव, समवसरणादि के उपभोग करने पर भी अर्हत् भगवान के कर्मबंधन होने का प्रतिपादन, विना हिंसा किये हुए भी मांस खाने का निषेध आदि विषय प्रदर्शित किये हैं।

'अमावसा' इस शब्द पर एक वर्ष में बारह अमावस्याओं का निरूपण, उनके नक्षत्रों का योग तथा कितने मुहूर्तों के जाने पर अमावस्या के बाद पूर्णमासी और पूर्णमासी के बाद अमावस्या आती है इत्यादि विषय हैं।

'अहिंसा' इस शब्द पर अहिंसा की व्याख्या, अहिंसा का विवेचन, अहिंसा का लक्षण, अहिंसा पालन करने में उद्यत पुरुषों का कर्त्तव्यादि में हिंसा करने पर विचार, जैनियों की उच्च अहिंसा का प्रतिपादन, एकांत नित्य और एकांत अनित्य आत्मा के माननेवाले के मत में अहिंसा का व्यर्थ हो जाना, आत्मा के परिणामी होने पर भी हिंसा में अविरोध का प्रतिपादन आदि विषयों पर अच्छा विवेचन किया है।

प्रथम भाग में जिन जिन शब्दों पर जो जो कथायें उपकथायें आई हैं उनका भी अच्छा दिग्दर्शन कराया है।

अभिधान राजेन्द्र कोष का दूसरा भाग।

इस दूसरे भाग का प्रारंभ 'आ' इस अक्षर से किया गया है और 'ऊहा' इस शब्द पर इस कोष के दूसरे भाग को समाप्त किया है। इस भाग में ११८७ पृष्ठ हैं।

इस भाग में आ, इ, ई, उ, ऊ इन पांच अक्षरों से प्रारंभ होनेवाले शब्दों पर खूब विवेचनपूर्वक विचार किया गया है जिसमें केवल 'आ' अक्षर से आरंभ होनेवाले शब्दों पर ५२८ पृष्ठों में वर्णन किया है। दूसरे भाग में यों तो कई शब्दों पर विवेचन किया है फिर भी दो–चार शब्दों के विषयों की जानकारी नीचे दी जा रही है।

'आउ'–आयु के भेद, आयु का निरूपण, आयु की पुष्टि के कारण और उनके उदाहरणादि दिये हैं। आउकाय शब्द पर अप्कायिक जीवोंका वर्णनभेद आदि।

'आउट्टि' शब्द पर चन्द्र-सूर्य की आवृतियां किस ऋतु में और किस नक्षत्र के साथ कितनी होती हैं यह विषय देखने योग्य है।

'आगम' शब्द पर लौकिक और लोकोत्तर भेद से आगम के भेद, आगम का परतः प्रामाण्य, आगम के अपौरुषत्य का खण्डन, आप्तों द्वारा रचे हुए ही आगमों का प्रामाण्य, मोक्षमार्ग में आगम ही प्रमाण हैं, जिनागम का सत्यत्व प्रतिपादन आदि पच्चीस विषयों पर बहुत ही महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है।

'आणा' शब्द पर आज्ञा के सदा आराधक होने पर ही मोक्ष, परलोक में आज्ञा ही प्रमाण है और आज्ञा के व्यवहार आदि का बहुत ही अच्छे ढंग से वर्णन किया है।

'आयरिय' शब्द पर आचार्य पद का विवेक, आचार्य के भेद, आचार्य का ऐह-लौकिक और पारलौकिक स्वरूप, आचार्य के भ्रष्टाचारत्व होने में दुर्गुण, एक आचार्य के काल कर जाने पर दूसरे के स्थापन में विधि, आचार्य की परीक्षा आदि विषय का बहुत ही सुन्दर तरीके से विशद विवेचन किया है।

'आहार' शब्द पर केवलियों के आहार और नीहार प्रच्छन्न होते हैं। पृथ्वीकायि-कादि, वनस्पति, मनुष्य, तिर्यग्, स्थलचर आदि यावज्जीव प्राणियों के आहार (भोजन) संबंधी तमाम तरह का विचार किया गया है। कौन जीव कितना आहार करता है उसका परिमाण, आहार त्याग का कारण आदि बताया है। भगवान ऋषभदेव के समय में इस भूमि पर कन्दाहारी युगलिये मनुष्य थे जो कि लड़का और लड़की साथ उत्पन्न होते थे, केवल कन्दमूल से ही अपना जीवन चलाते थे, बड़े होने पर वे हीं दोनों आपस में पति-पत्नी बन जाते थे ऐसे लोगों को भगवान ऋषभदेवने किस प्रकार अन्नाहारी बनाया है, आचार, विचारों में परिवर्तन किया है इस विषय को लेकर उस जमाने की परिपाटी पर मार्मिक विवेचन किया है।

'इत्थी' (स्त्री) शब्द पर स्त्री के लक्षण, स्त्रियों के स्वभाव व कृत्यों का वर्णन, स्त्री के संसर्ग में दोष, स्त्रियों के स्वरूप और शरीर की निन्दा, वैराग्य उत्पन्न होने के लिये स्त्री-चरित्र का निरीक्षण, स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय, आहार, उच्चार, प्रस्रवण, परिष्ठापनिका और धर्मकथादि करने का भी निषेध इत्यादि २० विषयों पर प्रकाश डाला है।

'उसभ' शब्द पर भगवान ऋषभदेव के पूर्वभव, तीर्थंकर होने का कारण, जन्म और जन्मोत्सव, विवाह, संतान, नीति, व्यवस्था, राज्याभिषेक, राज्यसंग्रह, दीक्षाकल्याणक, चीवरधारी होने का कालप्रमाण, भिक्षा का प्रमाण उनके आठ भवों का वर्णन, केवलज्ञान होने के बाद धर्मकथन और मोक्ष तक सब वर्णन दिया है। उनके जीवनकाल के समय संसार तक

क्या स्थिति थी उन्होंने इस संसार को क्या २ अमोघ उपदेश देकर आराधना के मार्ग पर लगाया क्योंकि वे इस आरे के आद्यतीर्थंकर थे। खूब अच्छा विवेचन किया है। इस तरह अनेकों विषयों पर इस दूसरे भाग में विवेचन किया गया है। पाठकों को दूसरा भाग देखने से अच्छी तरह मालूम हो ही जायगा। दूसरे भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हैं। उन कथाओं या उपकथाओं का भी शब्द के अर्थ के साथ ही संकलन कर दिया है जिससे कोई विषय अधूरा न रह जाय।

अभिधान राजेन्द्र कोष का तीसरा भाग।

तीसरे भाग के प्रारंभ में आभार प्रदर्शन किया है। उसके पश्चात् तीसरे भाग की संस्कृत भाषा में संशोधक महानुभावोंने प्रस्तावना लिखी है। उपाध्याय श्री मोहनविजयजी महाराज जो कि शांत, विद्वान् और गंभीर मुनि हुए है उन्होंने अपने गुरु श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के गुणों पर मुग्ध होकर गुरु–अष्टक निर्माण किये हैं। वे तीन अष्टक यहां दिये गये हैं।

तीसरे भाग का प्रारंभ 'ए' अक्षर से किया गया है और 'छोह' शब्द पर इस तीसरे भाग को समाप्त किया है। इस भाग में १३६३ पृष्ठ हैं।

'ए' यह अक्षर केवल संबोधन, अनुनय, अनुराग आदि में ही काम आता है इस पर अन्य कोई शब्द नहीं है। इसी प्रकार 'ओ' अक्षर भी प्राकृत भाषा में नहीं होता है। इसी तरह 'अं' और अः इन पर भी कोई शब्द नहीं है; अतएव इनके भी इस कोष में कोई शब्द नहीं दिये गये हैं।

केवल मात्र ए, ओ, क, ख, ग, घ, च, छ इन आठ अक्षरों के शब्दों पर ही इस भाग में विवेचन किया गया है। इस भाग के कुछ कुछ मुख्य विषय यहां दिये जा रहे हैं:—

'एगल्लविहा' (एकलविहारी) इस शब्द पर एकलविहारी साधु को क्या क्या दोष लगते हैं, अशिवादी कारण से एकाकी होने में दोषाभाव, एकलविहारी को प्रायश्चित आदि का वर्णन किया है।

'ओगरणा' (अवगाहना) शब्द पर अवगाहना के भेद, औदारिक, वैक्रिय, आहा-रक, तैजस और कार्मण इन पांच शरीरों के क्षेत्र का मान दिया है। कौन २ सी गति में कितनी २ जीव की अवगाहना हो सकती है उसका संपूर्ण विवेचन इस कोष में किया है।

'ओसटिपणी' (अवसर्पिणी) इस शब्द पर अवसर्पिणी शब्द की व्युत्पत्ति और अवसर्पिणी कितने काल को कहते है, सुषमसुषमा आरे से लेकर दुषमादुषमा पर्यन्त छः

आरों को बहुत ही सुंदर ढंग से वर्णन किया है। मनुष्यादिकों के स्वरूप का वर्णन उनकी भवस्थिति, जगत की व्यवस्था आदि का वर्णन अच्छी तरह समझाया है।

'कम्म' (कर्म) इस शब्द पर कर्म के संबंध में जैन और जैनेतर सब की मान्यतायें अच्छे रूप में प्रदर्शित की है। जगत के वैचित्र्य से भी कर्म की सिद्धि, जीव के साथ कर्म का संबंध, कर्म का अनादित्व, जगत की विचित्रता में कर्म ही कारण हैं, ईश्वरादि नहीं है इसका विश्लेषणदृष्टि से अच्छा विवेचन किया है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों पर विशद विवेचन किया है। इस तरह इस शब्द में ३७ विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

'किइकम्म' (कृतिकर्म) इस शब्द पर कृतिकर्म में साधुओं की अपेक्षा से साध्वियों का विशेष, यथोचित वंदना न करने में दोष आदि बताया है। कृतिकर्म किसको करना चाहिये और किसको नहीं करना चाहिये इस का विवेचन। सुसाधु के वंदना पर गुण का विचार आदि २१ विषयों पर खूब प्रकाश डाला है।

'किरिया' (क्रिया) शब्द पर क्रिया का स्वरूप, क्रिया का निक्षेप, क्रिया के भेद, ज्ञानावरणीयादि कर्म को बांधता हुआ जीव कितनी क्रियाओं से इनको समाप्त करता है। श्रमणोपासक की क्रिया का कथन, अनायुक्त में जाते हुए अनगार की क्रिया का निरूपण आदि १८ विषयों पर बहुत शुद्ध विस्तार लिखा है।

'केवलणाण' (केवलज्ञान) शब्द पर केवलज्ञान का अर्थ, केवलज्ञान की उत्पत्ति, सिद्धि, भेद, सिद्ध का स्वरूप, किस प्रकारका केवलज्ञान होता है इसका निरूपण। राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भक्तकथा करनेवाले के लिये केवलज्ञान और केवलदर्शन का प्रतिबंध है इत्यादि विषय बहुत ही मार्मिक रूप में प्रदर्शित किया है।

'गोयचरिया' (गौचरी) शब्द पर जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक मुनियों की भिक्षाविधि, भिक्षाटन में विधि, आचार्य की आज्ञा, मार्ग में किस तरह विवेकपूर्वक जाना, तीर्थंकर और उत्पन्न केवलज्ञानदर्शनवाले भिक्षा के लिये भ्रमण नहीं करते, आचार्य भिक्षा के लिये नहीं जाते, साध्वियों की भिक्षा का प्रकार इत्यादि विषय बहुत अच्छी तरह समझा कर दिये हैं।

'चारित्त' (चारित्र) शब्द पर सामायिकादि पांच चारित्रों का सुंदर वर्णन, चारित्र की प्राप्ति किस तरह होती है इसका प्रतिपादन, चारित्र से हीन ज्ञान अथवा दर्शन मोक्ष का साधन नहीं होता है, किन २ कषायों के उदय से चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है और

किन से हानि होती है इसका अच्छा विवेचन दिया है । वीतराग का चारित्र न बढ़ता है और न घटता है । आहारशुद्धि ही प्रायः चारित्र का कारण है आदि विषयों पर विस्तृत रूप से वर्णन किया है ।

'चेइय' (चैत्य) शब्द पर चैत्य (मंदिर) का अर्थ, प्रतिमा की सिद्धि, चारण मुनिकृत वंदनाधिकार, चैत्य शब्द का अर्थ, ज्ञान नहीं होते हुए भी जो अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये जबर्दस्ती ज्ञान अर्थ करते हैं उनका सिद्धान्त व तर्क से युक्तियुक्त खण्डन, चमरकृत वंदन, देवकृत चैत्यवंदन, सावद्यपदार्थ पर भगवान की अनुमति नहीं होती और मौन रहने से भगवान की अनुमति समझी जाती है; क्योंकि किसी चीज का निषेध नहीं करना अनुमति ही होती है इस पर दृष्टान्त, हिंसा का विचार, द्रव्यस्तव में गुण, जिन-पूजन से वैयावृत्य, तीन स्तुति, जिनभवन बनाने में विधि, प्रतिमा बनाने में विधि, प्रतिष्ठा-विधि, जिनपूजाविधि, जिनस्नात्रविधि, आभरण के विषय में स्वमत का मंडन, चैत्य विषयक विषयों पर हीरविजयसूरिकृत उत्तर आदि विषयों पर खूब तार्किक रूप से प्रकाश डाला है ।

'चेइयवंदण' (चैत्यवंदन) शब्द पर तीन प्रकार की पूजा, तीन प्रकार की भावना, चैत्यवंदन, तीन वंदना, तीन या चार स्तुति, जघन्य वंदना, नमस्कार, सिद्धस्तुति, वीरस्तुति आदि विषय प्रतिपादित किये गये हैं ।

इस तीसरे भाग में जिन २ शब्दों पर कथायें और उपकथायें आगमों में मिलती हैं उनको भी उन शब्दों के साथ २ दे दिया गया हैं ताकि सब वस्तुएं एक ही स्थान पर मिल जाती हैं ।

अभिधान राजेन्द्र कोष का चौथा भाग

इस चौथे में भी आभार प्रदर्शन किया है । इस के पश्चात् घण्टापथः नाम से संस्कृत में १६ पृष्ठ की प्रस्तावना लिखी है । उपाध्याय श्री मोहनविजयजीने ग्रन्थ–निर्माण का क्या कारण है इस विषय को लेकर संस्कृत भाषा में १२ श्लोकों का एक अष्टक निर्माण किया है जो यहांपर मुद्रित किया है ।

यह अभिधान राजेन्द्र का चोथा भाग 'ज' अक्षर से प्रारंभ किया गया है और 'नौर्मालया' इस शब्द पर इस भाग को समाप्त किया है । इस भाग में १४१४ पृष्ठ हैं । वैसे इस भाग में तीसरे भागके १३६३ पृष्ठ से आगे पृष्ठ नंबर १३६४ से प्रारंभ कर के २७७७ तक की पृष्ठ-संख्या दी है ।

इस भाग में ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न इन बारह अक्षरों से प्रारंभ

होनेवाले तमाम शब्दों पर खूब विवेचनपूर्वक प्रकाश डाला है जिसमें केवल 'ण' शब्द से प्रारंभ होनेवाले शब्दों पर ४२९ पृष्ठ दिये हैं और 'ढ' शब्द से शुरू होनेवाले शब्दों पर एक पूरा पृष्ठ दिया है।

अब इस भाग में जो प्रधानतः विषय आये हैं उनको संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है ताकि पाठकों को हर एक भाग के संबंध में ठीक २ जानकारी हो सके:—

'जीव' शब्द पर जीव की उत्पत्ति, जीव के संसारी और सिद्ध के भेद से जीव के दो भेद, जीव का लक्षण, हाथी और मच्छर में एक समान जीव है इसका प्रतिपादन, आत्मा संबंधी तमाम विषय दिये हैं।

'जोइसिय' (ज्योतिष) शब्द पर जम्बूद्वीप में रहे हुए चंद्र-सूर्य की संख्या। संसार में एक ही चंद्र व एक ही सूर्य है ऐसा नहीं है। जितने सूर्य व चंद्र हैं उनकी संख्या, उनकी कितनी पंक्तियां हैं और किस तरह स्थित हैं. चंद्र आदि के भ्रमण का स्वरूप, उनके मंडल, चंद्र से चंद्र का, सूर्य से सूर्य का कितना २ अंतर है यह भी अच्छी तरह प्रतिपादित किया है।

'झाण' (ध्यान) शब्द पर ध्यान का महत्त्व, इसके भेद, ध्यान के आसन और ध्यान मोक्ष का कारण है यह अच्छी तरह समझाया है।

'ठिई' (स्थिति) शब्द पर देवता, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी जीवों की स्थिति समझाई है। इसके सिवाय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति इन सबकी कितनी २ स्थिति हैं तथा जलचर, स्थलचर, नभचर आदि जीवों की कितनी २ स्थिति हैं इन सब विषयों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है।

'णक्खत्त' (नक्षत्र) शब्द पर नक्षत्रों की संख्या, इन की कार्यगति, चंद्रनक्षत्रयोग, कौनसा नक्षत्र कितने तारावाला है, नक्षत्रों के देवता, अमावस्या में चंद्रनक्षत्रयोग आदि विषय दिये हैं।

'णम्मोक्कार' (नमस्कार) शब्द पर नमस्कार की व्याख्या, नमस्कार के भेद, सिद्धनमस्कार, नमस्कार का क्रम आदि अनेक देखने योग्य विषय दिये हैं।

'णय' (नय) शब्द पर नय का लक्षण, सप्तभङ्गी, वस्तु का अनंत धर्मात्मकत्व, नयप्रमाणशुद्धि आदि दिये हैं। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के मध्य में नैगमादि नयों का अंतर्भाव, नैगमादि ७ मूल नय हैं इन का संग्रह। 'सिद्धसेन दिवाकर' के कथनानुसार ६ नय, ७०० नय, कौन दर्शन किस नय से उत्पन्न हुआ इस का सुंदर विश्लेषण आदि अनेक विषयों पर सुंदर विवेचन दिया है।

'णरग' (नरक) शब्द पर नरक की व्याख्या, भेद, नरक के दुःखों का वर्णन, नरक के अनेक प्रकार के स्वरूप आदि दिये हैं।

'तपस' (तप) शब्द पर तपस्या क्या चीज है, अनशनव्रत तप कैसे होता है। बाह्य और आभ्यंतर तप पर विवेचन, तप किस प्रकार करना चाहिये इस पर अच्छा प्रकाश डाला है।

'तित्थयर' (तीर्थंकर) शब्द पर तीर्थंकर की व्युत्पत्ति और इसका विवेचन दिया है। तीर्थंकरों के अतिशय, तीर्थंकरों के अंतर, तीर्थंकरों के आदेश, आवश्यक आदि दिये हैं। तीर्थंकरो के इंद्रों द्वारा किये गये उत्सव आदि का वर्णन सुंदर ढंग से दिया है। तीर्थंकर नाम, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, तीर्थोत्पत्ति, दीक्षाकाल आदि दिये हैं। तीर्थंकरों के पूर्व भवों का वर्णन, श्रावक-संख्या, गणधरों की संख्या, मुनियों की संख्या आदि विषयों पर सुंदर विवेचन किया है।

'धम्म' (धर्म) शब्द पर धर्म शब्द की व्याख्या, लक्षण, व्युत्पत्ति, धर्म के भेद-प्रभेद, धर्म के चिन्ह, धर्माधिकारी, धर्मरक्षक, धर्मोपदेश का विस्तार आदि सुंदर रूप से विषय का प्रतिपादन किया है।

इस चौथे भाग में अनेक शब्दों पर कथा या उपकथायें आदि भी दी हैं जिससे विषय का प्रतिपादन आदि अच्छे ढंग से हो गया है।

अभिधान राजेन्द्र कोष का पांचवा भाग।

पांचवें भाग का प्रारंभ 'प' अक्षर से किया गया है और 'मोह' इस शब्द पर पांचवें भाग की परिसमाप्ति हुई है। इस भाग में १६२७ पृष्ठसंख्या है।

इस भाग में प, फ, ब और भ केवल इन चार अक्षरों के शब्दों पर ही पूरा विवेचन किया है जिसमें 'प' अक्षर से प्रारंभ होनेवाले शब्दों पर ११४० पृष्ठों में विस्तार रूप से प्रकाश डाला है।

अब इस भाग में प्रधान विषयों पर जो विवेचन किया है उन शब्दों का कुछ २ वर्णन नीचे दिया जा रहा है ताकि इस भाग की जानकारी में पाठकों को सरलता मिल जायः-

'पच्चक्खाण' (प्रत्याख्यान) इन शब्द पर अहिंसा आदि दश प्रत्याख्यानों पर सुंदर विस्तार, प्रत्याख्यानों की विधि, दानविधि, प्रत्याख्यानशुद्धि, प्रत्याख्यानों की छः विधि, ज्ञानशुद्धि, श्रावक का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का फल आदि अनेक विषय प्रतिपादित किये हैं।

'पच्छित्त' (प्रायश्चित) इस शब्द पर प्रायश्चित का अर्थ, प्रायश्चित से आत्मा को क्या लाभ होता है? भाव से प्रायश्चित किसको होता है? आलोचनादि दस प्रकार के प्रतिसेवना प्रायश्चित, प्रायश्चित देने के योग्य सभा, व्यक्ति, दण्डानुरूप प्रायश्चित, प्रायश्चित दानविधि, आलोचना को सुन कर प्रायश्चित देना, प्रायश्चित का काल आदि बातों पर मार्मिक ढंग से विस्तार है।

'पज्जुसणाकप्प' (पर्यूषणाकल्प) इस शब्द पर पर्यूषण पर पूर्ण विवेचन, कब करना, किस तरह करना, भादवा सुदी पांचम पर अपने विचार, ग्रंथों की मान्यता, साधुओं संबंधी मार्गदर्शन, केशलुंचन आदि विषयों पर प्रकाश डाला है।

'पडिक्कमण' (प्रतिक्रमण) इस शब्द पर प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ, विवेचन, प्रतिक्रमण के लाभ, नाम स्थापना प्रतिक्रमण, रात्रि, दैवसिक, पाक्षिक, चउमासिक और सांवत्सरिक इन पांचों प्रतिक्रमणों पर अच्छा विवेचन दिया है। श्रावक के प्रतिक्रमण में विधि इत्यादि बहुत विषय हैं।

'पवज्जा' (प्रव्रज्या-दीक्षा) इस शब्द पर प्रव्रज्या शब्द का अर्थ, व्युत्पत्ति, दीक्षा का तत्त्व, किससे किसको दीक्षा देना, दीक्षा की पात्रता, किस नक्षत्र और किस तिथि में दीक्षा लेना, दीक्षा में अपेक्ष्य वस्तु, दीक्षा में अनुराग, सुंदर गुरुयोग, समवसरण में विधि, दीक्षा समाचारी, दीक्षा किस प्रकार से देना, चैत्यवंदन, दीक्षा में ग्रहण सूत्र, उसके पालन में सूत्र, गुरु से अपना निवेदन, दीक्षा की प्रशंसा, दीक्षा-फल, ऐसा उपदेश देना जिससे अन्य भी दीक्षा के लिये तैयार हो जांय, ग्यारह गुणों से युक्त श्रावक को दीक्षा देना, नपुंसक आदि को दीक्षा नहीं देना इत्यादि दीक्षा संबंधी सब विषय पूर्ण रूप से विस्तारपूर्वक दिखलाया है।

'पोग्गल' (पुद्गल) शब्द पर पुद्गल की व्युत्पत्ति, अर्थ, लक्षण, परमाणु, आपस में अंतर आदि अच्छा विवेचन दिया है।

'बंध' (बंधन) शब्द पर बंध-मोक्षसिद्धि, बंध के भेद, प्रभेद, बंध में मोदक का दृष्टान्त, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के बंध का सुंदर विवेचन दिया है।

'भरह' (भरत) इस शब्द पर भरतवर्ष के स्वरूप का वर्णन, दक्षिणार्द्धभरत के स्वरूप का वर्णन, वहां के मनुष्यों के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार भूगोळ संबंधी विषय कथा आदि दी है।

पांचवें भाग में अनेक शब्दों पर कथा और उपकथायें आदि भी दी हैं जिससे पाठकों को इस ग्रंथ के पठन-पाठन में अति सरलता प्राप्त हो।

अभिधान राजेन्द्र कोष का छट्ठा भाग ।

यह अभिधान राजेन्द्र कोष का छट्ठा भाग 'म' अक्षर से प्रारंभ हुआ है और 'व्यासु' इस शब्द पर इस भाग की परिसमाप्ति हुई है । इस भाग में १४६५ पृष्ठ हैं ।

इस भाग में म, र, ल, व केवल इन चार अक्षरों के शब्दों पर ही पूरा विस्तार किया है । जिसमें व अक्षर से प्रारंभ होनेवाले शब्दों पर तो ७०८ पृष्ठों में शब्दों का वर्णन किया है ।

अब इस भाग में जिन २ शब्दों के विषयों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है उन विषयों का संक्षिप्त सार नीचे दिया जारहा है जिससे इस भाग की माहिती में अधिक सरलता प्राप्त हो ।

'मग्ग' (मार्ग) इस शब्द पर मार्ग के दो भेद द्रव्यस्तव और भावस्तव, मार्ग का निक्षेप, मार्ग के स्वरूप का विवेचन आदि अनेक विषय दिये हैं ।

'मरण' (मृत्यु) मृत्यु के भेद, मरण की विधि, अकाम मरण, सकाम मरण, बाल-मरण विमोक्षाध्ययनोक्त मरण विधि आदि दिये हैं ।

'मल्लि' (मल्लिनाथ) इस शब्द से उन्नीसवें तीर्थंकर श्रीमल्लिनाथ भगवान के पूर्व व तीर्थंकर–भव का सविस्तार अच्छा वर्णन किया है ।

'मोक्ख' (मोक्ष) इस शब्द पर मोक्ष की सिद्धि, निर्वाण की सत्ता है या नहीं इसकी सिद्धि, मोक्ष, ज्ञान और क्रिया से ही मिलता है, धर्माचरण करने का फल मोक्ष ही है. मोक्ष पर अन्य दर्शनार्थियों की मान्यताएं, स्त्री मोक्ष में जासकती है इसका विवेचन, मोक्ष के क्या २ उपाय हैं आदि विषयों पर बहुत विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है ।

'रओहरण' (रजोहरण) इस शब्द पर दिखाया गया है कि रजोहरण क्या चीज है, इसका क्या उपभोग है, इसकी क्या व्युत्पत्ति है, चर्मचक्षुवाले जीवों को सूक्ष्म जीव नज़र नहीं आ सकते हैं इसलिये उन्हें रजोहरण धारण करना चाहिये । इसके प्रमाण आदि विषय का विवेचन है ।

'राइभोयन' (रात्रिभोजन) इश शब्द पर रात्रिभोजन का त्याग, रात्रिभोजन करने-वाला अनुद्घातिक है, रात्रिभोजन के चार प्रकार, रात्रिभोजन का प्रायश्चित, औषधि के रात्रि में लेने के विचार आदि विषय दिये हैं ।

'लेस्सा' (लेश्या) इस शब्द पर लेश्या का स्वरूप, लेश्या के भेद, कौन लेश्या कितने ज्ञानों में मिलती है, लेश्या किस वर्ण से सावित होती है, मनुष्यों की लेश्या, लेश्याओं में गुणस्थानक, धर्मध्वनियों के लेश्या आदि का वर्णन है ।

'वत्थ' (वस्त्र) इस शब्द पर निग्रन्थियों के वस्त्र लेने के प्रकार, कितनी प्रतिमा से वस्त्र का गवेषण करना, वर्षाकाल में वस्त्र लेने पर विचार, आचार्य की अनुज्ञा से ही साधु या साध्वी को वस्त्र लेना चाहिये, वस्त्र का प्रमाण, वस्त्रों के रंगने का निषेध, वस्त्र के सीने पर विचार, वस्त्रों के संबंध में और भी कई तरह से विचार किया गया है।

'वसहि' (निवास) इस शब्द पर साधुओं को किस प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिये। मुनि के लिये दोषरहित उपाश्रय होना चाहिये, अविधि से उपाश्रय के प्रमार्जन में दोष, मुनियों को किन २ स्थानों पर निवास करना चाहिये इसके संबंध में बहुत ही सुंदर विवेचन किया है।

'विहार' (विचरण) इस शब्द पर आचार्य और उपाध्याय के एकाकी विहार करने का निषेध, किनके साथ विहार करना और किनके साथ नहीं करना इसका विवेचन, वर्षाकाल में विहार पर विचार व निषेध, नदी के पार जाने में विधि, साधु-साध्वियों का रात्रि में या विकाल में विहार करने का विचार इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला है।

इस भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा उपकथाएं आई हैं उनका भी अच्छी तरह विवेचन किया है।

अभिधान राजेन्द्र कोष का सातवां भाग।

अभिधान राजेन्द्र कोष का यह अंतिम सातवां भाग है। इस भाग में 'श' इस अक्षर से शब्दों का वर्णन शुरू हुआ है और 'ह्व' इस शब्द पर समाप्त हुआ है। इस भाग में १२५१ पृष्ठ हैं।

इस भाग में श, ष, स और ह इन चार अक्षरों के शब्दों पर ही केवल मात्र विवेचन किया है जिसमें 'स' इस अक्षर पर से प्रारंभ होनेवाले शब्दों पर तो ११६९ पृष्ठों में वर्णन है।

इस भाग में जिन २ शब्दों पर आवश्यक विषयों का सुंदर विवेचन किया है उन २ शब्दों की थोड़ी २ सी माहिती यहां दी जारही है ताकि इस भाग की संक्षिप्त जानकारी की जा सके।

'संसार' (संसार) इस शब्द पर संसार की व्यग्रदशा, संसार की असार अवस्था, संसार में मनुष्य अपने जीवन को किस प्रकार दुर्व्यवस्था से व्यतीत करता है आदि अच्छा विवेचन दिया है।

'सक्क' (शक्र) इंद्र की ऋद्धि, स्थान, विकुर्वणा और पूर्वभव, इनका विमान, इंद्र किस भाषा में बोलते हैं इसका अच्छी तरह विवेचन किया है।

'सज्झाय' (स्वाध्याय) शब्द का स्वरूप, स्वाध्यायकाल, स्वाध्याय विधि, स्वाध्याय के गुण व लाभ तथा स्वाध्याय से क्या सिद्धि होती है अच्छी तरह दिग्दर्शन कराया है। सप्तभङ्गी शब्द के सात भागों का विस्तृत विवेचन किया है।

'संद' (शब्द) इस शब्द पर निर्वचन, नामस्थापनादि भेद से चार भेद, नित्यानित्यविचार, शब्द का पौद्गलिकत्व, शब्द के दस भेद, शब्द को आकाश का गुण माननेवालों का खण्डन आदि विषयों पर अच्छी तरह विवेचन किया है।

'सावय' (श्रावक) इस शब्द पर श्रावक की व्याख्या, व्युत्पत्ति, अर्थ, श्रावक के लक्षण, उसका सामान्य कर्तव्य, निवासविधि, श्रावक की दिनचर्या, श्रावक के २१ गुण आदि पर अच्छा व विस्तृत प्रकाश डाला है।

'हिंसा' (हिंसा) इस शब्द पर हिंसा का स्वरूप, वैदिक हिंसा का खण्डन, जिनमंदिर बनवाने में आते हुए दोष का परिहार आदि विषय अच्छे रूप में प्रदर्शित किये हैं।

इस भाग में जिन २ शब्दों पर जो २ कथायें उपकथायें आदि आई हैं उनको भी अच्छी तरह समझाकर विशेष रूप से दिया गया हैं ताकि पाठकों को यह भाग समझने में सरलता व सुलभता प्राप्त हो।

यहां अभिधान राजेन्द्र कोष की समाप्ति होजाती है। अंत में एक प्रशस्ति दी है जिसमें बताया है कि इस अभिधान राजेन्द्र कोष का निर्माण आचार्यप्रवर श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने किया है। इसका प्रारंभ सियाणा (मारवाड) में विक्रम संवत् १९४६ में किया था और सूरत में विक्रम संवत् १९६० में इसको समाप्त किया।

उपसंहार।

अभिधान राजेन्द्र कोष के निर्माता आचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजीने अपने जीवन में घोर परिश्रम किया, जिसकी कल्पना स्वप्न में भी साकार रूप नहीं ले सकती। इन्होंने तमाम शास्त्रों का हर एक विषय का निचोड़ इसमें भर दिया है। जिस किसीको कोई भी विषय धार्मिक, दार्शनिक जैन सिद्धान्त संबंधी देखना हो वह अभिधान राजेन्द्र को उठाकर देखे तो उसे सब वस्तुएं बहुत ही कम समय में एक जगह मिल सकेंगी। प्रत्येक विषय को अच्छी तरह शास्त्रों के द्वारा, युक्तियों के द्वारा, सिद्धान्तों के द्वारा समझाने का पूरा २ प्रयत्न किया है। इस अभिधान राजेन्द्र के संबंध में यदि यों कहा जाय कि 'गागर में सागर' भर दिया है तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अपना प्रतिदिन का पूरा २ कार्य, समाज का कार्य, विहारादि करते हुए भी केवल मात्र चौदह वर्ष में इतना कार्य कर जाना देवशक्ति

रूप ही माना जा सकता है। उनके विद्वान् शिष्योंने उनकी इस कृति को घोर परिश्रम करके संसार के सामने उपस्थित किया यह एक बड़ा भारी उपकार किया है। यदि वे अपने कंधों पर इस भार को न उठाते तो यह कृति और श्रीराजेन्द्रसूरिजी का चौदह वर्ष का अगाध परिश्रम व्यर्थ चला जाता और यह रचना केवल मात्र दीमकों के उपयोग में आती या पत्थर अथवा लकड़ी के कपाटों को सुशोभित करती। इतने बड़े ग्रन्थ को उठाकर देखने में भी उपेक्षा बुद्धि रहती। संसार के विद्वान् जो इस ग्रंथ से आज लाभ उठा रहे हैं वे वंचित रह जाते। पश्चिमदेशीय विद्वान् इस ग्रंथ को देखकर दांतों तले अङ्गुली दबा जाते हैं और कहते हैं कि भारतवर्ष में धार्मिक और आध्यात्मिक विद्वानों की खानें हैं जिनमें से प्रति युग में अच्छे २ मौलिक विद्वान्, दार्शनिक, सैद्धान्तिक, राजनैतिक युगपुरुष निकलते रहते हैं और भारत का नाम प्रज्वलित करते रहते हैं। उन्हीं युगपुरुषों में श्रीराजेन्द्रसूरिजी का नाम भी लिया जा रहा है। इस अभिधान राजेन्द्र कोष के संबंध में संसार के विद्वानों की क्या सम्मतियां हैं वे इसी स्मारक-ग्रंथ में अन्यत्र दी गई हैं। उनसे आपको खूब अच्छी तरह विश्वास हो जायगा कि श्रीराजेन्द्रसूरीश्वरजी अपने समय के कौन और क्या थे? और उन्होंने क्या किया?

श्री गुरुदेव के चमत्कारी संस्मरण।

[आचार्य श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी]

आयावयाही चयसोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए॥ ४॥

—दशवैकालिक सूत्र के द्वितीय अध्ययन में कहा है कि साधुओ! यदि सांसारिक दुःखो से छुटकारा पाना हो तो आतापना लो, सुकुमारिता को छोड़ो, चित्तसे विषय–वासनाओं को हटा दो, वैर–विरोध और प्रेम–राग को अलग कर दो। इस प्रकार की साधना करते रहने से सर्व दुःखों का अन्त हो कर अक्षय सुख प्राप्त होगा।

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउड़ा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिआ॥ १२॥

—दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में कहा है कि जो साधु ग्रीष्मकाल में आतापना लेते हैं, शीतकाल में उघाड़े शरीर नदी, तालाव या जंगल के किनारे खड़े रह कर कायोत्सर्ग ध्यान करते हैं और वर्षाकाल में स्थिरवास करके विविध तपस्या और स्वाध्याय-ध्यान से इन्द्रियों का दमन करते हैं, वे साधु अपने संयमधर्म एवं ज्ञानादि गुणों की भले प्रकार सुरक्षा कर सकते हैं।

सिद्धांतोक्त इस आज्ञा के अनुसार प्रातःस्मरणीय–श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महा-राजने क्रियोद्धार करने के पश्चात् ऐसे घोर अभिग्रह धारण किये–जिनकी पूर्ति में आपको कभी चार, कभी छः, कभी सात दिन तक निराहार रहना पड़ता था। इसी प्रकार प्रति चातुर्मास में एकान्तर चोविहार उपवास, तीनों चातुर्मासी चतुर्दशी का बेला, संवत्सरी एवं दीपमालिका का तेला, बड़े कल्प का बेला, प्रतिमास की सुदि १० का एकासना, चैत्री और आश्विनी नवपद ओलियों के आप आयंबिल–तप आचरण करते थे। यह तपश्चरण–क्रिया आपकी जीवन पर्यंत रही थी। आपने मांगीतुंगी–पर्वत के विहड़ स्थानों में छः मास कायो-त्सर्ग में रह कर आठ–आठ उपवासों की तपस्या से सूरिमंत्र का जाप किया था जो सामान्य व्यक्तियों के लिये बड़ा कठिन काम था। कवि मिश्रीमलजी वकीलने स्वरचित हिन्दी–पद्यमय जीवनी में आपका एक प्रसंग चित्रित किया है कि—

"चामुण्ड वन में ध्यान में ये लीन थे भगवान के,
तब एक आकर दुष्टने मारे इन्हें शर बान के।
उन तीर में से एक भी इन के न जा तन से अड़ा,
कर जोड़ उलटा नीच वह इन के पदों में गिर पड़ा॥"

"दौड़ा अचानक चोर इनको मारने असि से यहीं।
पर गिर पड़ा वह बीच में ही, जा सका इन तक नहीं॥
जब चेतना आई उसे, जा पाँव में इनके गिरा।
'होगा न ऐसा और अब'-वह यह प्रतिज्ञा कर फिरा॥"

चामुण्डवन मारवाड़ में जालोर-प्रान्त के मोदरा ग्राम के समीप है। इसमें चामुण्डा देवी का देवल होने से यह उसके नाम से ही प्रख्यात है। इसमें पहले सघन एवं बीहड़ झाड़ी थी, जिसमें चोरों एवं हिंसक जंतुओं का भारी भय था। गुरुदेव इसी वन में आठ-आठ उपवासों की तपस्या करते हुए पद्मासन से प्रभुध्यान में मग्न थे। उस समय किसी दुष्टने मारने के लिये इन पर तीर फेंके, परन्तु एक भी तीर इन के शरीर का स्पर्श नहीं कर सका। बस, वह दुष्ट उलटा क्षमा मांग कर चला गया।

यहीं पर कोई तस्कर हाथ में तलवार लेकर आपको मारने के लिये दौड़ा, परन्तु वह आप के पास नहीं पहुंच पाया, बीच में ही मूर्छा खा कर गिर पड़ा। कुछ चेतना आई तब गुरुदेव के चरणों में आकर उसने क्षमा प्रार्थना की और भविष्य में ऐसा घातकी काम कभी नहीं करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा लेकर वह वहाँ से अपने घर गया।

गुरुदेव कई दिनों तक उष्णकाल में आग के समान तपी हुई पर्वत की शिलाओं और नदी, नालों की रेत पर आतापना लेते थे। शीतकाल में असह्य ठंड में नग्न शरीर नदी या तालाब के तट पर अथवा जंगल में वृक्षतले खड़े-खड़े कायोत्सर्गध्यान करते थे। वर्षाकाल में स्वाध्याय-ध्यान और तपस्या में निरत रह कर इन्द्रिय दमन करते थे। प्रतिदिन संध्या प्रतिक्रमण के अनन्तर रात्रि में १२ बजे से ३॥ बजे तक आसन लगा कर बिना किसी व्यग्रता के प्रभु के ध्यान में मग्न रहते थे। अतः एव सहज पता लग सकता है कि आपका आत्म-बल, तपश्चरण एवं समाधियोग कितना प्रबल और कितना दृढ़ था। इस प्रकार की आत्म-साधना करनेवाली आत्मा संसार में विरल ही पाई जाती है। इस ध्यान-समाधि में आपको कई भावी घटनाओं का विशद भान भी हो आता था। उनमें की कुछ घटनाएँ दिग्दर्शनमात्र के लिये यहाँ उल्लिखित की जाती हैं जो पूर्णतः सत्य हैं।

१-सं० १९४० के माघ में गुरुदेव का विराजना अहमदावाद में त्रिपोलिया दरवाजा के बाहर हठीभाई की वाड़ी के उपाश्रय में था, वहाँ निशि-ध्यान में आप को रतनपोलवाली नगरशेठ की सतखण्डी हवेली में अग्नि-प्रकोप का खड़ा होना दिखाई दिया और रतनपोल की शेठमार्केट जलती-जलती वाघनपोल के बाजू पर महावीर-जिनालय के पास जाकर शांत हुई।

प्रातःकाल आप वाड़ी से निकल कर शहर में पांजरापोल के उपाश्रय में पधार गये। शेठियाओंने वहाँ पधारने का कारण पूछा। आपने अपने ध्यान में अग्नि-प्रकोप का जो दृश्य देखा था उसको कह सुनाया। बस आप के कथनानुसार ही नगरशेठ की हवेली से अग्नि का भयंकर प्रकोप खड़ा हुआ और सारी रतनपोल, शेठमारकीट और वाघनपोल जल कर भस्म हो गई। यह आग का प्रकोप इतना भयंकर था कि अति कठिनाई से शांत किया गया था। आज भी अहमदावाद में यह हवेली 'बलेली हवेली' के नाम से प्रख्यात है।

वाघनपोल के नाके पर श्री महावीरस्वामी का मन्दिर है। यह नगरशेठ का मन्दिर कहा जाता है। जलने के भय से इस में से महावीर प्रभु आदि की मूर्त्तियाँ उठाली गई थीं। उन प्रतिमाओं को फिर से स्थापन करने के लिये आत्मारामजी-विजयानन्दसूरिजी के पास शेठियाओंने मुहूर्त्त निकलवाया। वह मुहूर्त्त-पत्र शेठियाओंने गुरुदेव को भी बताया। उसे भलीविध देख कर आपने कहा कि यह मुहूर्त्त अच्छा नहीं है। इसमें बड़ा भारी दोष यह है कि मूलनायक वीर प्रभु को स्थापन करनेवाला व्यक्ति छः मास में मृत्यु को प्राप्त होगा। यह बात आत्मारामजी और शेठियाओंने लक्ष्य में न लेकर मूर्त्तियों को स्थापन कर दीं। आखिर गुरुदेव के कथनानुसार प्रतिष्ठा-उत्सव में अनेक विघ्न होने के साथ प्रतिमा स्थापन करनेवाला छः मास में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया। आप के कथन की सत्यता का भान लोगों को तब हुआ।

२-सिरोही (राजस्थान) के नगर शिवगंज में मेवाजी मोतीजी और वनाजी मोतीजी के निर्माण कराये हुए आदिनाथ और अजितनाथ के जिनालयों के लिये और बाहर ग्रामों के लिये २५० जिन-बिम्बों की प्राण-प्रतिष्ठा करने का शुभ मुहूर्त्त सं० १९४५ माघ सुदि ५ का गुरुदेवने निश्चित किया था। तदनुसार समय पर विशाल मंडप आदि तथा प्राण-प्रतिष्ठा के योग्य समस्त सामग्री तैयार की गई और गुरुदेव की तत्त्वावधानता में ही १० दिनावधिक उत्सव प्रारम्भ हुआ। चारों ओर से दर्शकगण भी उपस्थित हुए। प्रतिदिन का क्रियाविधान भी सानन्द चालू हुआ। इस समय ईर्ष्या से किसी यतिने सलगता हुआ पलीता मंडप के उपर फेंका, उससे मंडप को तो कुछ भी हानि नहीं हुई और उलटा पलिताने फेंकनेवाले यति के कपड़ों को ही जला दिया और आगे फिर अनिष्ट करता-सा दिखाई दिया। उप-

स्थित लोगोंने यतिको धिक्कारा। अन्त में वह यति गुरुदेव के चरणों में पड़ा तब कहीं पलिता से उसका छुटकारा हुआ। गुरुदेव के ज्योतिष-ज्ञान का तो इस से परिचय प्राप्त होता ही है; साथ ही उनका बढ़ा हुआ मंत्र-बल भी इस घटना से समझ में आ जाता है।

३-सं० १९५१ की चैत्री ओलियों में मुनिमंडलसह गुरुदेव धार-जिले के कुक्षी नगर में विराजमान थे। ध्यानचर्या में आपको ज्ञात हुआ कि वैशाख वदि ७ के रोज अंबाराम ब्राह्मण के घर से अग्नि उठ कर कुक्षी के १५०० घरों को जला डालेगी। प्रातः-समय जब माणकचन्दजी, चौधरी डूंगरचन्दजी, जालोरी रायचन्दजी आदि अग्रसर श्रावक आप के दर्शनार्थ आये, उन से आपने कहा-" कुछ दिनों के पश्चात् कुक्षी में आग लगेगी जो सहज बुझाई नहीं जा सकेगी।"

कुछ भावुकोंने अपना माल-असबाब ग्रामान्तर पहुंचा दिया। गुरुदेव कुक्षी से विहार कर राजगढ़ पधार गये। गुरुदेव उपरोक्त तिथि को जब ध्यान में बैठे हुए थे, उन्हें ध्यान में ही कुक्षी जलती हुई दिखाई पड़ी। दर्शनार्थ आये हुए चुन्नीलालजी खजाञ्ची से आपने यह समस्त वृत्तान्त कह दिया। जब तार से समाचार मंगवाये गये तो ज्ञात हुआ कि 'वैशाख वदि ७ को मध्यान्ह से चार बजे तक कुक्षी में १५०० घर जल कर भस्म हो गये और २५ लाख रूपयों की हानि हुई। अस्तु। बात सत्य निकली और गुरुवचनों के विश्वास पर जो लोग रहे उनका सब माल बच गया।

४-धार-जिला के बड़ीकड़ोद गॉव में शेठ खेताजी धराजी उदयचन्दजीने एक भव्य जिनालय बनवाया था। उसके लिये गुरुदेवने वासुपूज्य आदि के जिन-बिम्बोंकी अंजन-शलाका एवं प्रतिष्ठा का मुहूर्त्त सं० १९५२ वैशाख सुदि ७ का नियत किया था। आपकी अध्यक्षता में उसका दशदिनावधिक उत्सव और प्रतिदिन का विधिविधान आरम्भ हुआ। भारी समारोह से कार्य सानन्द हो रहा था। अकस्मात् चोरों की धाड़ने शेठ के यहाँ से ७०-८० हजार का माल लूटा और पलायन हो गये। रंग में भंग हो गया।

शेठ उदयचन्दजी भारी चिन्ता से घिर गये। आपने कहा,-" शेठ! कोई चिन्ता न करिये, चढ़ते भाव से प्रतिष्ठा-कार्य को संपन्न करिये। धर्म का प्रभाव महान् है, उसके प्रभाव से सब माल पुनः प्राप्त हो जायगा।" शेठने प्रतिष्ठा-कार्य अति सराहनीय रूप से संपन्न कराया। जिनबिम्बों को जिनालय में स्थापन किये और बृहच्छान्तिस्नात्रपूजा भणवा कर उसके मंत्र-पूत जल की धारा गॉव के चारों ओर देकर उत्सव परिपूर्ण किया। इधर धार से एक घुड़सवारने आकर कहा कि शेठ आप का जो माल गया था वह सब पकड़ा गया है,

आतोर, श्रीगोडीपार्श्वनाथ मंदिरस्थ मूलनायक श्री पार्श्वनाथ प्रतिमा. वि. १२-१३ शती

आप धार चलिये। शेठ धार गये और सभी माल ज्यों का त्यों लेकर घर आये। यह है अच्छे मुहूर्त्त का एवं वास्तविक गुरुश्रद्धा का परिणाम।

५–मध्यभारत-धार–जिले के राजगढ में शांतिनाथजी के घर–जिनालय में प्रतिमास्थापन का मुहूर्त्त गुरुदेवने सं० १९५४ मार्गशिर सुदि १० का दिया था। कार्यारम्भ चालू हुआ, चारों ओर से दर्शक गण आये और विधि-विधान सानन्द चालू हो गया।

यह उत्सव यहाँ के कुछ अन्धद्वेषप्रिय जैनों को बहुत अखरा। उन्होंने इसको रोकने के लिये पुलिस और दंड़ाबाजी का आश्रय लिया। गुरुदेवने सब को चेताया कि किसी को एक पाई देने की आवश्यकता नहीं है और न डरने की। मुहूर्त्त का समय आने के पहले ही यह सभी उपद्रव अपने आप शांत हो जायगा। हुआ भी ऐसा ही। निर्धारित मुहूर्त्त पर सभी विरोधी लोग अनुकूल हो गये और प्रतिष्ठाकार्य शांति के साथ निर्विघ्न सपन्न हो गया।

६–मारवाड़–राजस्थान में आहोरनगर के बाहर पश्चिम उद्यान में श्रीगोड़ीपार्श्वनाथ का उत्तुंग और भारी विशाल शिखरबद्ध जिन–मन्दिर है–जिसके मूलनायक भगवान् बड़े प्रभावशाली और चमत्कारी हैं। इसके चारों ओर स्थानीय संघने ५२ देवकुलिकाएँ सशिखर नई बनवाई थीं। इसके प्रवेशद्वार के बांये तरफ भगवान् वीरप्रभु का त्रिशिखरी आरसपाषाण का जिनालय है जो बहुत ही सुन्दर एवं दर्शनीय है।

इन देवकुलिकाओं और जिनालय में स्थापन करने तथा आवश्यकता के समय अन्य ग्रामों के संघों को देने के लिये नूतन १५० जिनबिम्बों की अंजनशलाका के निमित्त आहोर–श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय संघने गुरुदेव से सं० १९५५ फाल्गुन वदि ५ गुरुवार का शुभ मुहूर्त्त नियत करवाया। विशाल दर्शनीय मंडप और प्राण–प्रतिष्ठा योग्य समस्त सामग्री जुट जाने के एवं सर्वत्र कुंकुंपत्रिकाएँ वितरण हो जाने के पश्चात् शुभकारी मुहूर्त्त में ही दशदिनावधिक महोत्सव गुरुदेव की तत्त्वावधानता में प्रारंभ हुआ। प्रतिदिन का क्रिया–विधान बड़ी सावधानी से होने लगा और भारी जुलूश के साथ वरघोड़े निकलने लगे।

मारवाड में सैंकड़ों वर्षों के पश्चात् यह पहला ही इतना बड़ा प्राण–प्रतिष्ठोत्सव था। अतः एव इसे देखने के लिये ३५ हजार के उपरान्त जैन जनता उपस्थित हुई। यह उत्सव निर्विघ्न, सराहनीय और बडे ही दर्शनीय ढंग से संपन्न हुआ था जिसका वर्णन लेखिनी से नहीं लिखा जा सकता। किसी को किसी तरह का न कष्ट हुआ, न किसी की वस्तु चोरी गई और गुम ही हुई।

इस प्रकार यह प्राण–प्रतिष्ठा भारी उत्साह एवं शांति से हुई। निर्धारित मुहूर्त्त लग्नांश में गुरुदेवने सब बिंबों की अंजनशलाका करके उनको यथास्थान विराजमान करवायीं और

देवकुलिकादि के ऊपर दण्डध्वज एवं स्वर्णकलश-समारोपण करवाये। अन्त में शांति के निमित्त वृहच्छान्तिस्नात्र पूजा भणा कर उसके अभिमंत्रित जल की ग्राम के चारों ओर धारा दिला कर उत्सव को परिपूर्ण किया।

आहोर के पूनमिया-गच्छ के लोगोंने भी श्रीऋषभ-जिनालय के लिये कुछ नये जिन-बिंबों की अंजनशलाका कराने का कार्यक्रम उक्त मुहूर्त में ही खड़ा किया था और विधि-विधान कराने के लिये प्रलोभन देकर जयपुर से जिनमुक्तिसूरिजी श्रीपूज्य को लाये थे। गुरुदेवने उन श्रीपूज्य को बुलाकर चेताया कि "ऋषभदेव का मन्दिर उत्तराभिमुख है। फा० व० ५ का मुहूर्त उसकी प्रतिष्ठा के लिये अच्छा नहीं है, सदोष है, आप कोई दूसरा मुहूर्त निकाल कर यह काम कराईये। इस मुहूर्त में विघ्न है, आगे आप की यथा इच्छा।"

श्रीपूज्यने कहा, "क्या किया जाय? ये लोग मानते ही नहीं हैं। अगर अंजनशलाका नहीं कराई जाय तो ठहरी हुई हमारी भेंट-पूजा विफल हो जाय।" अस्तु। अंजनशलाका हुई, उसमें अनेक उपद्रव हुए और उसके कुछ समय पश्चात् ही आहोर में ही श्रीपूज्यजी भी चल बसे। वे जयपुर भी पहुंच नहीं पाये। इस उत्सव में कितना उपद्रव हुआ? यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। ठीक ही है कि—

सज्जन-केरी सीखड़ी, माने नहीं पछिताय।
ज्ञानज खोवे आपरी, जग में होत हंसाय ॥ १ ॥
लोभ दुःखरो मूल है, यही अनर्थरो सूल।
मान पान सब खोईये, अंत धूलरी धूल ॥ २ ॥

७-सं० १९५६ का चोमासा गुरुदेवने शिवगंज में किया था। आप श्रावण कृष्णा २ के दिन की रात्रि में एकाग्र ध्यान में विराजमान थे। उस समय एक काला नाग विष-वमन एवं फूंफाटा करता हुआ दिखाई दिया। प्रातःकाल में आपने अपने शिष्यों से कहा कि इस वर्ष भयंकर दुष्काल का पड़ना संभव है। भारत में हा-हाकार मच जावेगा और घास, अन्नादि की प्राप्ति में बहुत कष्ट रहेगा। उस वर्ष हुआ भी ऐसा ही। भारत में चारों ओर 'छप्पनीया दुष्काल' पड़ गया। हजारों पुरुष-स्त्री अन्न के अभाव में, अगणित पशु चारे के अभाव में मर गये। बागरा (मारवाड़) वाले वजींगजी सदाजीने अपने रचित 'छप्पनिया-दुष्कालरा-सलोका' में इस भयंकर काल का चित्र इस प्रकार चित्रित किया है—

माता बेटाने छोड़ीने चाली,
मालवा कानीरी वाट निहाली।

बाप बेटा ने लुगाई दोतुं,
छोड़ी जावण लागा छे छानुं ॥ ३४ ॥

पोत पोतारे पेटरी लागी,
वेरत धणीने छोड़ीने भागी ।
इणीपरे पापी ए छप्पनो पड़ियो,
मोटा लोगारो गर्वज गलियो ॥ ३५ ॥

× × ×

धेनूनी परे ते ताणीने नाखे,
कुटुंब नेह तो जरा न राखे ।
भूखे मरंता ने ठंडे सुकाता,
नित नित मरे छे अन्न विण खाता ॥ ५१ ॥

झाड़नी छाल तो उतारी लावे,
खांड़ी पीसीने अन्न ज्युं खावे ।
अंते झाड़ोनी छाल खुटाणी,
पूरो न मले पीवाने पाणी ॥ ५२ ॥

गुरुदेव के समाधि-ध्यान में किसी भाँति का दंभ नहीं था । इसी ध्यानबल से उनको भावी कहने की शक्ति प्राप्त हुई थीं । उनमें ऊंचे स्तर का आध्यात्मिक मनोबल था । इसीसे आप की सब बातें सत्य-सत्य सिद्ध होती थीं । गुरुदेव का ज्योतिष-ज्ञान भी टीपना-पूरता ही नहीं था, किन्तु ऊंचा अनुभवजन्य था । आप के दिये हुए मुहूर्त्त में कभी किसी अच्छे से अच्छे ज्योतिषज्ञने भी दोष नहीं निकाले ।

८ आप जानते हैं कि शेर का नाम सुनकर ही मनुष्यों का कलेजा कांप ऊठता है, जंगल में चलते समय मनुष्योंके पैर लड़खड़ाते हैं । एक समय जालोर के पहाड़ में गुरुदेवने अपनी साधना पूर्ण करने की ठानी । भक्तोंने नम्र निवेदन किया कि गुरुदेव ! जिस पहाड़ में आप अपनी साधना करना चाहते हैं उसमें बहुत बड़ा शेर रहता है, अतः आप अपनी साधना के लिये अन्य स्थान निश्चित करें । गुरुदेवश्रीने फरमाया कि मैंने अपनी साधना के योग्य यही स्थान चुना है । आप निश्चिंत रहीये । गुरुदेव की कृपा से हिंसक शेर मेरी साधना में किसी भी प्रकार का विघ्न नहीं करेगा ।

भक्तोंने विचार किया कि अब क्या किया जाय ?, गुरुदेव अपने वचन पर दृढ हैं। गुरुदेवने अपनी साधना प्रारंभ कर ही दी और कुछ दिन उसी पहाड़ी में रहे। भक्तों से रहा न गया। उन्होंने कुछ राजपूतों को गुप्त रूप से रक्षार्थ भेजे, वे रात्रि में वृक्ष के ऊपर जाकर बैठ गये। उन्होंने रात्रि के समय जो कुछ देखा वह वृत्तान्त प्रातःकाल जालोर जाकर कह सुनाया। कहा कि–गुरुदेव सायंकाल के समय ध्यान करते थे, रात्रि में शेर आया और उन से कुछ दूर दोनों पैर लंबे कर के कुछ समय बैठ कर चला गया। इस कथन से भक्तों के हृदय गद्गद् हो गये और अन्य लोगों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ।

उपर्युक्त चमत्कारी संस्मरणों में जो बातें लिखी गई हैं वे एक मात्र गुरुदेव के ज्ञान-बल, तपबल, वचनसिद्धि एवं उनके ज्योतिषज्ञान की परिचायक हैं, नहीं कि किसी की निन्दा लिखने की तुच्छ भावनाओं से प्रेरित होकर दी गई हैं। सच तो यह है कि गुरुदेव जैसे उद्भट विद्वान् हो गये है, वैसे ही वे श्री महान् तपस्वी, पूर्ण आध्यात्मिक और ज्योतिष के ज्ञाता थे।

आपने २५–२६ छोटी बड़ी प्रतिष्ठाएँ करवाईं और २५०० के लगभग नवीन जिन-बिम्बों की अञ्जनशलाकाएँ की थीं; परन्तु स्मरण नहीं और नहीं सुना ही गया कि आपका कोई मुहूर्त्त विफल हुआ हो अथवा किसी प्रकार की अंत में हानि रही हो। शमित्यलम्।

वृद्धावस्था के प्राप्त तीन चित्र

थराद (उत्तर-गुजरात) वि स १९४८

आहोर (मारवाड) वि स. १९५५

सूरत, वि स. १९५९.
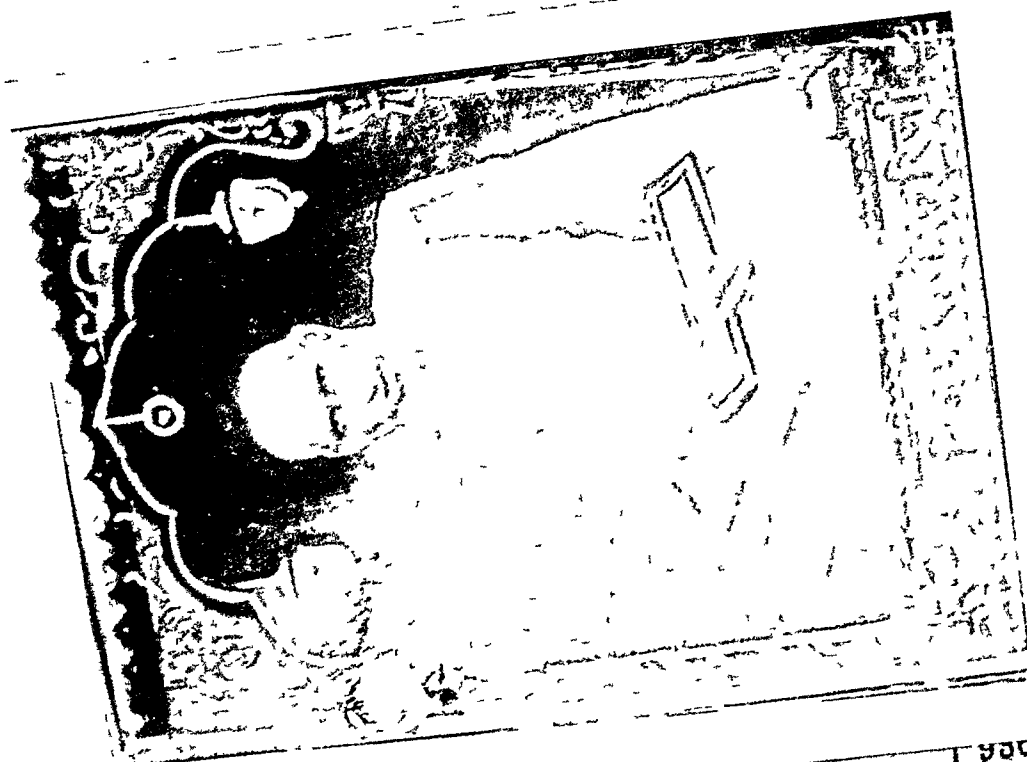
गुरुदेव की विशेषता

मुनिराज श्री लक्ष्मीविजयजी

अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते, प्रवर्तयत्यन्यजनञ्च निस्पृहः ।
स एव सेव्यः स्वहितैषिणा गुरुः स्वयं तरंस्तारयितुं क्षमः परम् ॥ १ ॥

—विश्व के प्रत्येक धर्म में गुरुपद का महत्व बड़ा भारी माना गया है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान गुरु के द्वारा ही जाना जा सकता है। इसके विना मानव अपने जीवन में वास्तविक सफलता की ओर कदापि आगे नहीं बढ़ सकता।

आधुनिक गुरुपद का जो महत्व जनता में घटता सा जारहा है उसका मुख्य कारण यही है कि गुरुजन अपने गुरुपद के उत्तरदायित्व को ठीक तरह से निभाने में कटिबद्ध नही दिखाई देते। लोक-जीवन में गुरुपद द्वारा अनेक प्रकार की धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजकीय सेवाएँ यथासमय पर होती रही हैं। उसीके फलस्वरूप आज भी हमारे साहित्य में अनेक प्रकार की मननीय, आचरणीय एवं जीवनविकास की शिक्षाएँ यत्र-तत्र सर्वत्र उपलब्ध होती रहती ही हैं।

भारत सदा से त्याग और वैराग्य का केन्द्रस्थान रहा है। जितनी भी विभूतियाँ आज-तक संसार में पूज्य, वन्दनीय एवं स्मरणीय वनी हैं, उनके जीवन में नैसर्गिक अध्यात्मवाद कूट-कूट कर भरा था। अन्य धर्मों की अपेक्षा त्याग और वैराग्य की जो भूमिका जैन धर्म में दिखाई देती है, वह अन्यत्र उस रूप में विकसित न हो सकी। अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर प्रभु और उनके शासन में गणधर भगवन्त एवं महान् सुविहित पूर्वाचार्य चिरस्मरणीय बने हैं।

उन्हीं में से २० वीं शताब्दी के जैनाचार्यों में से श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सुविहितशिरोमणि श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज भी एक हैं।

अपनी गुरुपद की विशेषता से वे सदा के लिये संसार में अमर एवं अमिट बनकर जनता के लिये मार्गदर्शक बन चुके हैं। वही व्यक्ति वास्तव में गुरु बनने की क्षमता रख सकते हैं, जिनका जीवन सांसारिक प्रवृत्तियों से निवृत्त हो जाता है और वे सदा ही मानसिक, वाचिक, कायिक अशुभ प्रवृत्तियों का निग्रह कर शुभ योग में ही सदा तल्लीन रहते हैं। इसी तरह से अपने अनुयायी को भी निःस्पृहभाव से जिनोपदिष्ट शुभ मार्ग में बढ़ाने के लिये सदा कटिबद्ध रहते हैं।

ऐसे ही गुरुदेव स्व और पर के जीवन को सफल बना सकते हैं। अतः अपने हित चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को इसी प्रकार के गुणों से युक्त गुरु की सेवा-शुश्रूषा और भक्ति करनी चाहिये। ये उपरोक्त सारी बातें पूर्णतया गुरुदेव के जीवन में दिखाई देती हैं। त्याग, वैराग्य तो मानों साक्षात् आपके जीवन में साकार-मूर्तिमन्त होकर उद्दीप्त हो उठे थे। उनके त्याग और साध्वाचार के कठिन नियमों का पालन देखो कि बड़े-बड़े क्रूर-हिंसक भयानक पशु भी अपनी क्रूरवृत्ति को छोड़कर शान्त बन जाते थे। फिर मानव के लिये तो कहना ही क्या है ! " निःस्पृहस्य तृणं जगत् " यह सिद्धान्त जितना उच्च एवं आदरणीय है, उतना ही जीवन में चरितार्थ करना भी कठिन है। आपने इस सिद्धान्त को तो अपने जीवन का मुख्य ध्येय ही बना लिया था। और इसीको अपनाकर अन्य वस्तु की बात तो दूर रही परन्तु अपने शरीर का भी आपको तनिक भी मोह न था। सांसारिक-भौतिक पदार्थों की तो कोई कामना ही नहीं थी। वीतरागप्रणीत निःस्पृहभाव से ही अपनी आध्यात्मिक आराधना में आप सदोद्यत रहते थे। जहाँ जीवन में शरीर पर भी इच्छा नहीं रहती वहां " कार्यं साधयामि देहं पातयामि " का सिद्धान्त जीवन के प्रत्येक रग-रग से प्रमाणित हो उठता है।

इसी अटलता पर जीवन में साध्वाचार का जो आदर्श महान् तपस्वी गुरुदेवने पांचवें आरे या कलिकाल में प्रत्यक्ष बतलाया, वह हम सभी के लिये बड़े गौरव की वस्तु है। ऐसे महान् व्यक्ति ही अपने जीवन में दुस्सह परिषह एवं कठिनतम तप-त्याग के द्वारा अलौकिक विभूति बनते हैं। कहा भी गया है कि—

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहेत्तु य।
केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झन्ति नीरया ॥ (दशवैकालिकसूत्रम्)

कठिन से भी कठिनतम कार्यों का आचरण करना, तप-त्यागमय जीवन को बनाना-यही जीवन की सबसे बड़ी भारी हेतु है व यही मानव जीवन की एक अमोघ कसौटी है। इस कसौटी पर कस जाने के बाद ही व्यक्ति में आत्मीय प्रकाश झलक उठता है। बाईस प्रकार के दुःसह परिषहों को सहन करना किसी सामान्य व्यक्ति का कार्य नहीं हैं। वही अपने जीवन में परिषहों पर विजय पा सकता है जिसने आत्मीय प्रगति-विधि ठीक तरह से समझली है।

ऐसे महापुरुषों में शास्त्रोक्त साध्वाचार का यथार्थ पालन करनेवालों में गुरुदेव भी एक हैं जिनका आदर्श तप, त्याग और निःस्पृह भाव जनता को जीवन व्यतीत करने में बड़ा भारी प्रेरणादायी है।

गुरुदेव की अर्द्धशताब्दी से उनके कार्यों को स्मरण कर सारी जनता उनके आदर्शमय जीवन से अपने जीवन को समुन्नत बनावें यही कामना है।
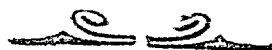
गुरुदेव की योगसिद्धि ।

मुनिराज श्री हर्षविजयजी

अध्यात्मवाद और योगसिद्धि ये भारतीय धर्मों की मूल वस्तु कही जांय तो किसी तरह की अतिशयोक्ति नहीं होगी । चिरकाल से ही इनको धर्मक्षेत्र में प्रधानता दी गई है । सम्पूर्ण योगसिद्ध व्यक्ति ही अपनी ज्ञानात्मा द्वारा चराचर विश्व के पदार्थों को जान सकता है। इसी लिये इस स्तर के ज्ञान को ही पूर्णतया ज्ञान कहा गया है, इस से पहिले की अवस्थाएँ अपूर्ण ही कही जाती हैं ।

योगशब्द ' युजिर् योगे ' इस धातु से निष्पन्न होता है । योग शब्द की व्याख्याएँ अनेक प्रकार से अपनी-अपनी मान्यतानुसार की गई हैं । परन्तु फिर भी सभी की मान्यता में योग शब्द का मूलस्वरूप एकसा ही प्राप्त होता है । ' चित्तवृत्तिनिरोधो योगः ' इस से यही मतलब निकलता है कि-मानसिक अशुभ प्रवृत्तियों का निग्रह करना ही योग है । मानसिक कहने मात्र से स्वयं ही वाचिक और कायिक अशुभ प्रवृत्तियों का निग्रह करना सिद्ध हो जाता है ।

जैनदर्शन में योग का लक्षण यही बतलाया है " कायवाङ्मनः कर्मयोगः " तत्त्वार्थसूत्र । आत्मा की मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया के द्वारा कर्मों का आत्मा के साथ संबंध होना योग कहा गया है । फिर चाहे योगों में शुभ या अशुभ भाव हों, अशुभ योग त्याज्य हैं जब कि शुभ योग जीवन में उपादेय माने गये हैं ।

योगसिद्ध व्यक्ति अपनी यौगिक क्रिया के द्वारा परमात्मपद तक पहुँच सकता है । इस मान्यता में किसी तरह का संशय नहीं है । ज्ञानात्मा, परमात्मा आदि जो श्रेणियाँ दिखाई देती हैं, वे योग पर ही निर्भर हैं । योगसिद्ध व्यक्ति के विषय में या उनके जीवन में कई अनेक प्रकार की असंभव-आश्चर्यकारी घटनाएँ सुनने में आती हैं । वे योगसिद्धजन्य ही रही हुई हैं । फिर वे चाहे थोड़े या अधिक विस्मय से परिपूर्ण हों ।

प्रस्तुत अर्द्धशताब्दी महोत्सव के नायक योगीराज प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने अपने विशुद्ध साधुजीवन में उत्कृष्ट संयम के पालन से जो अद्भुत योगसिद्धियाँ प्राप्त की हैं उन्हीं मेंसे केवल एक संबंधित एवं आश्चर्यकारी घटना यहां पर बतलाना आवश्यक मानी गई है । योगसिद्ध व्यक्ति योग के प्रभाव से अपने योगों में इतना तन्मय हो जाता है कि-भूत, भविष्य एवं वर्तमानकालीन सभी बातों को अपने ज्ञान द्वारा जानने में समर्थ

बन सकता है। गुरुदेवने अपने योगबल के द्वारा कई असंभव और बड़े-बड़े भारी कार्यों को भी सहज में कर दिखाएँ हैं।

१-मालवा-प्रान्त में बड़नगर और खाचरौद के बीच में चिरोला नामक एक गाँव आया हुआ है। कई वर्षों से चिरोलावाले ओसवालों का मालवा-प्रान्तीय ओसवाल आदि सभी समाजोंने बहिष्कार कर दिया था। इसका मुख्य कारण यह था कि पिता और माताने अपनी एक ही कन्या की शादी करने का निर्णय, अलग २ रतलाम और सीतामऊ वाले दो अलग २ वरों के साथ किया। ठीक समय पर दोनों जगह से वर बड़ी धूमधाम के साथ अपनी-अपनी बरात सजा कर लग्न के लिये आये। इस तरह से एक ही कन्या के लिये दो वर और उनकी बरातों को आई हुई देखकर चिरोला और उसके समीपवर्ती पंचोंने यही निश्चय किया कि-माताने लड़की के विवाह का जो निश्चय सीतामऊवाले के साथ किया है, वही हो और अन्त में वही हो कर रहा। इस निर्णय से रतलामवालों को अपना बड़ा भारी अपमान जान पड़ा और उन्होंने मालवा-प्रान्त की समाज को एकत्रित कर चिरोलावालों का सम्पूर्ण बहिष्कार किया। यह मामला इतनी उग्रता पर बढ़ने लगा कि चिरोलावाले और उनके कुछ पक्षीय लोग सभी तरह से हताश होने लगे। विवाहादि संबन्ध तो दूर रहे परन्तु इनके हाथ का पानी पीना भी बड़ा भारी अपराध माना जाने लगा। सारे प्रान्त में अपने इस तिरस्कार-जातिबाहर से अन्त में चिरोलावालों को सभी तरह से बड़ी भारी परेशानी होने लगी। अपने अपराध की माफी और दण्ड आदि देकर जातीय एवं पारस्परिक संबन्ध के स्थापनार्थ उन्होंने कई बार समाज से प्रार्थना की परन्तु उसका परिणाम शून्य ही आया और कोई भी इन को अपनाने के लिये किसी तरह से भी तैय्यार नहीं हुये। इस विषय में बड़े २ गृहस्थ, राजकीय कर्मचारी, संत-साधु आदिने अपना-अपना पूरा परिश्रम किया, परन्तु फिर भी इस कार्य में उन्हें कुछ भी सफलता नहीं मिली। इस तरह से यह विषय लगभग २५० वर्ष से चल रहा था और किसी तरह से भी कोई आशा दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी।

पूज्य स्व० गुरुदेव समर्थ प्रभावक योगीराज प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज उस समय जैन शासन में एक महान् जैनाचार्य थे। खाचरौद श्रीसंघ के अत्याग्रह से अपने शिष्य परिवार के साथ आप यहाँ चातुर्मास विराजमान थे। उस समय आपका अलौकिक प्रभाव और तप-त्याग एवं अद्भुत योगशक्ति सर्वत्र विश्रुत हो चुकी थी। चिरोलावालों ने गुरुदेव की सेवा में उपस्थित होकर व्याख्यान के बाद विनम्र दुःख भरी प्रार्थना की कि हे गुरुदेव! आप जैसे समर्थ धर्माचार्य एवं योगसिद्ध आदेय वचनी के विराजमान होते हुए भी यदि हमारा पुनरुद्धार नहीं हुआ तो फिर हमारा भविष्य किसी तरह से सुधरने वाला नहीं है। आपही एक हमारा उद्धार करने में समर्थ हैं। आपके आदेय और योगसिद्ध वचनों को कोई भी

कदापि अस्वीकार नहीं करेगा। गुरुदेवने कहा कि आप लोग किसी तरह से हताश न हों और आपका कार्य शीघ्र ही संपन्न होगा। गुरुदेव के इस कथन में शासनप्रेम और धर्मजागृति भरी भावना को देखकर उन्हें बड़ा भारी संतोष हुआ और उन्होंने कहा कि इस विषय में जो मान, अपमान, दण्ड आदि जैसा भी आपकी आज्ञा से मिलेगा हम सहर्ष शिरोधार्य करेंगे।

गुरुदेव की योगशक्ति और तप-त्यागमय जीवन का समाज पर इतना प्रबल प्रभाव था कि-जो व्यक्ति किसी तरह भी लाख रुपये के दण्ड से और समाज-पंचों के जूते शिर पर उठाने पर भी माफी देने के लिये कदापि तैय्यार नहीं थे और इस कार्य को जो असंभव ही मानते थे वे ही व्यक्ति गुरुदेव के प्रभावशाली वचनों और धर्ममर्म की व्याख्या से इतने आकर्षित हुए कि उन्हें आखिर में अपना निर्णय बदलना ही पड़ा। फलतः अन्त में विना किसी दण्ड के प्रेम एवं स्वधर्मी के नाते सारी मालवा-प्रान्तीय समाजने उनका पुनरुद्धार करके उनको पूर्ववत् अपने में मिला लिया। यह गुरुदेव के आदेय वचन और उनकी अलौकिक तप-त्यागमय आदर्श जीवन का ही उदाहरण है। इसी तरह से अन्य भी कई प्रकार की आश्चर्यकारी घटनाएँ आपके जीवन से संबन्धित हैं। कितने ही राजा, महाराजा बड़े-बड़े विद्वान्, योगी, संन्यासी, साधु और जैन-जैनेतर धर्माचार्यों ने आपकी सात्विक योगसिद्धि, सत्यनिष्ठता, निःस्पृहता एवं कठिनतम साध्वाचार-पालन की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। गुरुदेवने अपने जीवन में जिस क्रान्ति और सत्य वस्तु के प्रचार से समाज में आनेवाली शिथिलता को दूर की है वह इतिहास के पृष्ठों पर और जैन समाज में चिरकाल के लिये स्मरणीय वनी रहेगी। आपकी अटल धैर्यशालिनी शान्त मुद्रा, लुभावनी मनमोहिनी आकृति प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। कई योग्य व्यक्ति गुरुदेव के भक्त या शिष्य कहलाने में अपना बड़ा भारी महत्त्व मानते थे और उनकी भक्ति कर जीवन को सफल हुआ समझते थे।

इस अर्द्धशताब्दी के नायक आप हैं जो विक्रमीय वीसवीं शताब्दी के महान् पुरुषों में से एक हैं। जैन और जैनेतर समाज में आपके त्याग, तपोबल और योगशक्ति की कई-एक कथायें प्रचलित हैं। आपकी विद्वत्ता और समयज्ञता के विषय में तो लिखना ही क्या है। आपकी अनेक प्रकार की विशेषताओं को अन्तकरण में स्मरण कर भक्तिभरी श्रद्धा से शिर चरणों में सहसा नत हो जाता है। विद्वत्ता के परिचयार्थ तो आप का रचित साहित्य ही पर्याप्त है जिसमें श्री अभिधान राजेन्द्र कोष सर्वोपरि एक प्राकृत महाकोष है।

'स जीवति यशो यस्य' इस सूक्ति के अनुसार गुरुदेव का निर्मल यश सदा के लिये अमर बन चुका है। 'त्रिस्तुतिः' का पुनरुद्धार करना आपके ही सामर्थ्य में था। शुभम्

अध्यात्मवादी कवि श्रीमद् राजेन्द्रसूरि ।

मुनिश्री विद्याविजयजी ' पथिक ' खाचरौद

जिस देश में, जिस राष्ट्र में, जिस जाति में, जिस समाज में साहित्य की कमी है वहाँ सभी बातोंकी कमी है—वह देश, वह राष्ट्र, वह जाति, वह समाज साहित्य के बिना संसार में जीवित नहीं रह सकता । मनुष्य को प्रगतिशील बने रहने के लिये साहित्य का ही अवलम्बन श्रेयस्कर है और जनता के उत्थान का साहित्य ही अलौकिक साधन है ।

बच्चों का प्रतिपालन जैसे माता करती है, उसी भाँति मानव की रक्षा साहित्य करता है। साहित्य दो भागो में विभाजित है—गद्य और पद्य । गद्य उसे कहते है जो छंदविहीन भाषा में होता है । पद्य की प्रणाली इस तरह से नहीं होती । पद्य की रचना में कवि मनोभावों को व्यक्त करता है और दूरदर्शी बन कर एक पद्य में सारा चित्र खींच लेता है । पिंगल के विविध छन्दों के नियमों को ध्यान में रखकर जो रचनाएँ की जाती हैं, वे सुन्दर, मधुर और कलात्मक होती हैं ।

कवि का हृदय कोमल, निर्मल एवं सरल होता है । इसी से कवि कविता में सरस रस भर देता है । अपने हृदय की बात इस ढंग से जनता में रख देता है कि उसके प्रभाव से जनगण के हृदय में अलौकिक भावनायें और चेतनायें जाग्रत हो उठती हैं ।

मानव के जीवन का उत्थान साहित्य से होता आया है और होता जा रहा है । रास, चौपाई, दोहा, कुण्डलियाँ, छप्पय आदि मात्रिक छन्द है । छन्द–शास्त्र में तीन वर्णोंका समूह बना कर लघु, गुरु क्रम के अनुसार आठ गण माने गये हैं । जैसे–मगण (SSS) यगण (ISS) रगण (SIS) सगण (IIS) तगण (SSI) जगण (ISI) भगण (SII) तथा नगण (III) । इन आठ गणों के नियमों को ध्यान में रख कर जो कविता होती है, वह विध्यनुसारी रचना है । जैन साहित्य भी नौ रसों से ओत–प्रोत एवं सुसज्जित है। जैन महाकवि आनंदघनजी, विनयविजयजी, यशोविजयजी, देवचंदजी आदि महाकवियों की प्रभु–गुण कृतियॉ जब पढ़ने में आती हैं, तब पढ़नेवाला मानों प्रभु के सन्मुख ही बैठा है ऐसा लीन हो जाता है । कवि भक्ति के मार्ग में निशंक होकर चलता है । उसके लक्ष को प्राप्त करने में इतनी उड़ान करता है कि " जहॉ नहीं पहुचे रवि, वहॉ पहुंचे कवि " यह चरितार्थ हो उठता है । अनुभवी कवि वही है जो साहित्य–वाटिका के काव्य–कुञ्जकी सरस शीतल छॉया में

अनुभव करता रहता है और काव्यों का रस पान करके अपने जीवन को सफल बना लेता है। रस की दृष्टि से काव्य के नौ रस हैं–शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। इन नौ रसों के स्थायी भाव इस प्रकार से हैं–शृंगार का रति, हास्य का हँसी, करुण का शोक, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, भयानक का भय, बीभत्स का जुगुप्सा, अद्भुत का विस्मय और शान्त का शान्ति है। जो कवि इन नौ रस का ज्ञाता है वह साहित्य की वृद्धि करता है। कविता करना यह कुदरत की देन है। एक कवि वह है जो स्वाभाविक भावों से काव्य-कला अपने हृदय के उदगारों से बाहर निकालता है और वह कविता कविता दिखाई देती है। दूसरा कवि वह है जो अपनी रचना-साहित्य को इधर-उधर टंटोल कर बनाता है। स्वाभाविक कविता को पढ़ने से जो मन को आनन्द प्राप्त होता है, वह कृत्रिम कविता से नहीं। यहाँ शान्त रस का स्रोत किस भाँति स्व० कविवर श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी महाराजने बहाया है, इस दृष्टिकोणको रखते हुए उनके बनाये हुये कुछ गीतों के अंश पाठकों के सामने रखना हैं।

मोह तणी गति मोटी हो मल्लि जिन,
मोह तणी गति मोटी ॥
बाहिर लोकमां मगनता दीसे, अंतर कपट कसाई।
भेख देखाडी जन भरमावे, पुद्गल जाको भाई हो ॥ म० १ ॥
जाके उदये पण्डित जन पिता, आगम अर्थ विगोड़े।
शिवनारीना सुख अति सुन्दर, छिनमां तेह विखोड़े हो ॥ म० २ ॥
लागे लोक प्रवाहमां मूरख, भागे जीतुं मोह।
बखतर विन संग्राम जिथे, गात्र होवे जोह हो ॥ म० ३ ॥
जिह्वा रस लंपट जस किरति, छांड़े जगतनी पूजा।
आशा पास तजे जो जोगी, जाके नहिं कहुं दूजा हो ॥ म० ४ ॥
मोयणी नगर में मल्लि जिननी, यात्रा जुगते कीनी।
सूरिराजेन्द्र सूत्र संभालो, संवर संगति लीनी हो ॥ म० ५ ॥

मोह की शित्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थितिवाली गति बड़ी विचित्र है, जो आत्मा को भवमुक्त होने में बाधा पहुंचाती है।

अन्त में श्रीराजेन्द्रसूरिजी कहते हैं कि हे भव्यों! मोयणी नगर में मल्लि जिनेशकी भावपूर्ण यात्रा करते हुए सूत्रों को संभालो और संवर के साथ संगति करो।

साहित्य-वाटिका की रम्य स्थली पर मोद-प्रमोद में विचरण करने वाले कविने भक्ति-रस की सुन्दर रचना द्वारा आत्मविभूति को जगाने का कितना सरल साधन दिखाया है।

अवधू आतम ज्ञान में रहना,
किसीकुं कुछ नहीं कहना।
आतम ध्यान रमणता संगी, जाने सब मत जंगी।
परम भाव लहे न घट अंतर, देखे देखे पक्ष दुरंगी ॥

और भी आगे चलकर कविने परमात्मा के साथ किस प्रकार प्रेम प्रगट किया है। प्रभु के साथ लाड़-लड़ाने की कितनी उत्सुकता-भावुकता दिखाई है।

श्रीशान्तिजी पिऊ मारा,
शान्ति-सुख-सिरदार हो।
प्रेमे पाम्या प्रीतड़ी पिऊ मोरा,
प्रीतिनी रीति अपार हो ॥

परमात्मा को अपना पतिदेव मानकर आप उनकी नायिका का स्थान ले रहे हैं। प्यारे सज्जनो ! प्रभु-भक्ति में कितना प्रेम उनकी आत्मा में उमड़ता रहता था। इन पंक्तियों से स्पष्ट मालूम होता है कि उनका हृदय प्रभु को रिझाने में तल्लीन रहता था। किसी प्रकार की शंका न रखते हुए ईश्वर को पिऊके संबोधन से पुकारा है। आनन्दघनजीने भी तो इसी प्रकार प्रभु-स्तवना की है। पाठकगण उनके गीत का भी रसपान करें।

निशदिन जोऊं तारी वाटड़ी,
घर आवो रे ढोला ॥ निश० ।
मुझ सरिखी तुझ लाख है,
मेरे तूंही ममोला ॥ निश० ॥

आनंदघनजी 'ढोला' शब्द से ईश्वर को संबोधित करके उसको पतिदेव मानकर आप नायिका बन जाते हैं। यह प्रियतम प्रीतम को बुलाने की कितनी विह्वलताभरी रीति है।

गुरुदेव के काव्यग्रन्थों में यति, गति, ताल, स्वर, यमक, दमक अद्भुत ढ़ंग से सचे हुये दिखाई देते हैं। भांडवपुर के तीर्थपति श्री महावीर प्रभु के चैत्यवंदन से यही बात प्रगट होती है।

वर्द्धमान जिनेसर, नमत सुरेसर अति अलवेसर तीर्थपति,
सुख-सम्पति-दाता, जगत-विख्याता, सर्व विज्ञाता, शुद्ध यति।

जसु नामथी रोगा, सोग वियोगा, कष्ट कुयोगा लहि शंका,
मांडवपुर राजे, सकल समाजे, वीर विराजे अति बङ्का ॥ १ ॥
डायण ने शायण, प्रेत परायण, भूत भवायण सहु भाँजे,
चूड़ेल चंडाला, अति विकराला, सकत सियाला नहीं गाजे ।
दुस्मण ने दाटे, कुष्ट हि काटे, भय नहीं वाटे वलि रङ्का,
मांडवपुर राजे, सकल समाजे, वीर विराजे अति बङ्का ॥ २ ॥
सब काम समारे, सर्प निवारे, कुमति वारे, अरिहन्ता,
जल-जलन-भगन्दर, मंत्र-वशङ्कर, वारण-शंकर समरन्ता ।
ए सूरि राजेन्द्रा, हरे भव-फन्दा, नाम महन्दा जस डङ्का,
मांडवपुर राजे, सकल समाजे, वीर विराजे अति बङ्का ॥ ३ ॥

इन छन्दों को जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक प्रभात में नित्य स्मरण के रूप से पाठ करता है उसको स्वयं ज्ञात होगा कि वास्तव में इन छंदों के पढने से आत्मा को कितनी शान्ति प्राप्त होती है। गुरुदेवने प्रभुस्तव की संस्कृत में भी रचना की है-जो कितनी रोचक, मधुर व भावपूर्ण है।

ॐ ह्रीँ श्रीँ मंत्रयुक्तं सकलसुखकरं पार्श्वयक्षोपशोभं,
कल्याणानां निवासं शिवपदसुखदं दुःखदौर्भाग्यनाशम् ।
सौम्याकारं जिनेन्द्रं मुनिहृदिरमणं नीलवर्णं प्रतीतम्,
आहोरे संघचैत्ये सबलहितकरं गोड़िपार्श्वं तमीडे ॥ १ ॥
यस्याङ्घ्रौ नित्यपूजां भजति सुरवरो नागराजः सुयुक्त्या,
सर्वेन्द्रा भक्तियुक्ता नरपति निवहा यस्य शोभां स्वभावात् ।
तन्वन्ती स्नेहरक्तः शुभमतिविभवः स्तौतीयं धर्मराजं,
आहोरे संघचैत्ये सबलहितकरं गोड़िपार्श्वं तमीड़े ॥ २ ॥
वामेयं तीर्थनाथं सुमतिसुगतिदं ध्वस्तकर्मप्रपञ्चम्,
योगीन्द्रैर्योगगम्यं प्रभुवरमनिशं विश्ववंद्यं जिनेशम् ।
योऽदात्सत्सौख्यमालां गदितसुसमयं श्रीलराजेन्द्रसूरैः,
आहोरे संघचैत्ये सबलहितकरं गोडिपार्श्वं तमीड़े ॥ ३ ॥

अलंकारमयी रचनायें एवं कृतियाँ ही काव्य नहीं कही जातीं। जिसके पढने से चित-वृत्ति स्थिर बन जाती है, अनुपम भावों की लहर उठती है, वह कृति उत्तम रचना अथवा काव्य होती है। उत्तम भक्ति-काव्य मुक्तिपथ-प्रदर्शक और प्रभुभक्ति-रसस्वादनकर होता

है। तभी तो तुलसी, सूर, कबीर आदि कवियों की कृतियों से भारतवासी जन-समूह में ईश्वर के प्रति आस्तिक भावना जाग्रत होती हैं। जैन महाकवियों की कृतियों में भी आध्यात्मिक, वैराग्य, त्याग भावनाओं से गुंफित काव्य ही अधिकतर पाये जाते हैं। यहाँ तक देखा गया है कि जब हमारे सामने उनके गीत आते हैं हम उनको गाते-गाते और उनको सुननेवाले भाई भी बोल उठते हैं-' संसार असार है-घरद्वार, पुत्र, मित्र, कुटुम्ब मिथ्या हैं। '

परम पूज्य गुरुदेव राजेन्द्रसूरिजी महाराजने नवपद ओलीदेववंदन, पंचकल्याणक महावीर पूजा, जिनचोवीसी, अघटकुमार चौपाई, स्तवन सज्झाय आदि विविध राग-रागिणियों में भावपूर्ण अच्छे ढंग से रच करके अपना अमूल्य समय प्रभु के गुण-गान में व्यतीत किया है। इन रचनाओं को भावुकजन साज-बाज के साथ गाते हैं-और स्वर्गीय सुखानुभव करते हैं। आत्मा की तल्लीनता जब प्रभु के चरणारविंद में होती है, तब कहीं कोई भव-बंधन से मुक्त होने का पुण्य अर्जन करता है।
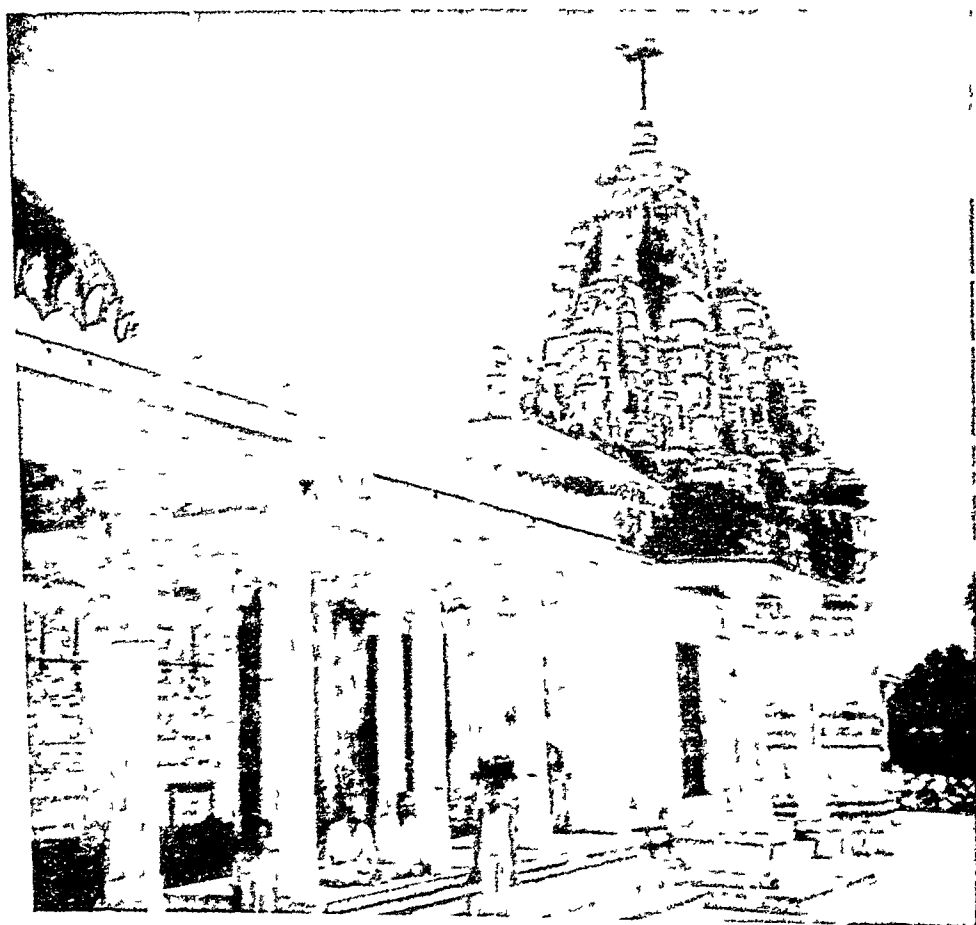
श्री गुरुदेव द्वारा वि सं १९५९ में प्रतिष्ठित श्री केसरियानाथ प्रासाद और इस में सस्थापित १२ वीं शती की श्री आदिनाथ प्रतिमा व दो कायोत्सर्गस्थ बिंब. वि. स ११४३ प्राचीन तीर्थ श्री कोटा
(मारवाड़-राजस्थान)

मरुधर और मालवे के पांच तीर्थ

व्याख्यान-वाचस्पति श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरि शिष्य मुनि देवेन्द्रविजय 'साहित्यप्रेमी'

वीसवीं शताब्दी भारतीय इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इसमें अनेक धर्मप्रचारक और राष्ट्रीय नेता पैदा हुये हैं। धर्मोद्धारकों में परम पूज्य प्रभु श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का विशिष्ट और गौरवशाली स्थान है। आपने अपनी सर्वतोमुखी शास्त्र-सम्मत्त विविध प्रवृत्तियों से जैन समाज का बड़ा ही गौरव बढ़ाया है। आपने जहॉ क्रियोद्धार कर श्रमण संघ को वास्तविक प्रकार से चारित्र-पालन का मार्ग पुनः दिखलाया, वहॉ साहित्य-निर्माण-कार्य भी महत्त्वपूर्ण प्रकारोंसे सम्पन्न किया और प्राचीन तीर्थों का उद्धार कार्य भी। आपने जिन प्राचीन तीर्थों और चैत्यों की सेवा की हैं, उनका यहॉ इस लघु लेख में परिचय देना ही हमारा ध्येय है।

१ श्रीकोरटाजीतीर्थः—

कोरंटनगर, कनकापुर, कोरंटपुर, कणयापुर और कोरंटी आदि नामों से इस तीर्थ का प्राचीन जैन साहित्य में उल्लेख मिलता है। उपकेशगच्छ-पट्टावली के अनुसार श्री महावीर देव के महापरिनिर्वाण के पश्चात् ७० वें वर्ष[1] में श्री पार्श्वनाथसंतानीय श्री स्वयंप्रभसूरीश पट्टा· लंकार उपकेशवंश-संस्थापक श्रीरत्नप्रभसूरिजीने ओसिया और यहॉ एक ही लग्न में श्रीमहावीर देव की प्रतिमा स्थापित की थी। इस नगर से श्रीरत्नप्रभसूरि के शासनकाल में ही श्रीकनक-प्रभसूरि से उपकेशगच्छ में से कोरंटगच्छ की उत्पत्ति हुई थी। श्रीकनकप्रभसूरि रत्नप्रभसूरि के गुरुभाई थे। कोरंटगच्छ में अनेक महाप्रभाविक जैनाचार्य हुये हैं। वि. सं. १५२५ के लगभग कोरंट तपा नामक एक शाखा भी निकली थी। कई शताब्दियों तक यह नगर जन-धन और सब प्रकार से उन्नत और समृद्ध रहा है। वर्तमान में इसके खण्डहर देख कर भी विश्वास किया जा सकता है और उल्लेख तो मिलते ही हैं।

यह प्राचीन समृद्ध नगर ५०० सौ घरों के एक लघु ग्राम के रूप में आज एरणपुरा स्टेशन से १२ मील दूर पश्चिम की ओर विद्यमान है। इसका वर्तमान नाम कोरटा है। अभी यहॉं जैनों के ५० घर और उनमें लगभग २५० मनुष्य हैं तथा चार जिनेन्द्र मन्दिर

---

१ उक्त पट्टावली में यह संवत् लिखा हुआ मिलता है, परन्तु इतिहासज्ञों के समक्ष यह अभी मान्य नहीं हो सका है। —संपादक

हैं। जिन की व्यवस्था स्वर्गीय गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के उपदेश से संस्थापित श्री जैन पेढी करती आ रही है।

(१) श्रीमहावीर मन्दिरः—

कोरटा के दक्षिण में यह मन्दिर है। यह विशेषतः प्राचीन सादी शिल्पकला के लिये नमूनारूप है। श्री श्री रत्नप्रभसूरीश्वरजीने वीरात् सं. ७० में इसकी प्रतिष्ठा की थी। विक्रम संवत् १७२८ में श्रावण सुदी १ के दिन श्री विजयप्रभसूरि के आज्ञावर्ती श्री जयविजय गणीने प्राचीन प्रतिमा के स्थान पर नवीन दूसरी प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। तत्सम्बन्धी एक लेख[1] मन्दिर के मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। इस श्रीजयविजयगणीप्रतिष्ठित प्रतिमा के उत्तमांग[2] विकल हो जाने पर आचार्यवर्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने अपने उपदेश से मन्दिर का पुनरुद्धार करवाकर नूतन श्री वीरप्रतिमा प्रतिष्ठित की और श्रीजयविजयगणी द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा को लेपादि से सुधरवा कर उसको मन्दिर की नव चौकी में विराजमान करवादी।

(२) श्रीआदिनाथ मन्दिरः—

सन्निकटस्थ धोलागिरि की ढालु जमीन पर यह मन्दिर हैं। इसको विक्रम की १३ शताब्दी में महामात्य नाहड़ के किसी कुटुम्बीने अपने आत्मकल्याण के लिये निर्मित किया ज्ञात होता है। इसमें (आयतन ?) निर्माता की प्रतिष्ठित करवाई हुई प्रतिमा खण्डित हो जाने पर उसे हटा कर नवीन प्रतिमा वि. सं. १९०३ में देवसूरगच्छीय श्रीशान्तिसूरिजीने प्रतिष्ठित की और वही प्रतिमा अभी भी विराजित है। मूलनायकजी की प्रतिमा के दोनों ओर विराजित प्रतिमाएँ श्रीश्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज द्वारा प्रतिष्ठित नूतन बिम्ब हैं।

(३) श्रीपार्श्वनाथ मन्दिरः—

यह जिनालय गाँव के मध्य में है। इसको कब, किसने बनाया और किस गच्छ के मुनिपुंगवने प्रतिष्ठित किया यह अज्ञात है। अनुमानतः ज्ञात होता है कि ऊपर वर्णित

---

१ "संवत् १७२८ वर्षे श्रावण सुदि १ दिन, भट्टारक श्रीविजयप्रभसूरीश्वरराज्ये श्रीकोरटानगरे, पंडित श्री५श्रीश्रीजयविजयगणीना उपदेशथी मु. जेतापुरा सिंग भार्या, मु. महाराय सिंग भार्या, स. वीका, सावरदास, को० उधरणा, मु० जेसग, सा. गागदास, सा. लाधा, सा खीमा, सा. छाजर, सा. नारायण, सा. कचरा प्रमुख समस्त संघ मेला हुइने श्रीमहावीर पवासण वडसार्या छे, लिखितं गणी मणिविजयकेसरविजयेन वाहरा महवद सुत लाधा पदम लखतं, समस्त संघ नइ मागलिकं भवति शुभं भवतु।"

२ उत्तमाग विकल प्रतिमा को मूलनायक रखना या नहीं रखना के लिये देखिये श्रीवर्तमानाचार्य लिखित 'श्रीकोरटाजी तीर्थ का इतिहास'

श्रीआदिनाथ चैत्य से यह प्राचीन है। इसकी स्तंभमाला के एक स्तम्भ पर 'ॐना++++ढ़ा' लेखाक्षर अवशेष हैं। इससे ज्ञात होता है कि महामात्य श्री नाहड़ के द्वितीय पुत्र श्री ढ़ाकलजी द्वारा निर्मित यह मन्दिर हो और इसीसे अमात्य के नाम के आगे मंगल का संसूचक ॐ लगाया हो। श्रीमहावीर मन्दिर के स्तम्भों पर भी 'ॐ ना००००ढा' लिखा हुवा मिलता है। संभवतया उक्त मंत्रीपुत्रने प्राचीन श्री वीर मन्दिर का भी उद्धारकार्य करवाया हो। इस पार्श्वनाथ मन्दिर का उद्धार विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी में कोरटा के ही नागोतरा गौत्रीय किसी श्रावकने करवाया था। तत्पश्चात् समय-समय पर कुछ अंशों में उद्धार-कार्य होता रहा है। इसमें पहले श्रीशान्तिनाथ भगवान की प्रतिमा मूलनायक के स्थान पर विराजमान थी। उसके विकलांग होजाने पर उसके स्थान पर श्रीपार्श्वनाथजी की प्रतिमा विराजित की गई; जिसकी प्राणप्रतिष्ठा श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने की है। श्री पार्श्वनाथजी के दोनों ओर विराजित प्रतिमा भी नूतन हैं।

(४) श्रीकेशरियानाथ का मन्दिरः—

विक्रम संवत् १९११ जेठ सुदि ८ के दिन प्राचीन श्री वीर मन्दिर के कोट का निर्माण-कार्य करवाते समय कहीं वाई ओर की जमीन के एक टेकरे को तोड़ते समय श्वेत वर्ण की पांच फीट प्रमाण विशालकाय श्रीआदिनाथ भगवान की पद्मासनस्थ और इतनी ही बड़ी श्रीसंभवनाथ तथा श्रीशान्तिनाथजी की कायोत्सर्गस्थ मनोहर एवं सर्वांगसुन्दर अखण्डित दो प्रतिमायें निकली थीं। इन कायोत्सर्गस्थ प्रतिमाओं को विक्रम संवत् ११४३ वैशाख सुदि द्वितीया गुरुवार को श्रावक रामाजरुकने वनवाई और वृहद्गच्छीय श्रीविजयसिंहसूरिजीने इनकी प्रतिष्ठांजनशलाका की। श्रीआदिनाथ प्रतिमा पर लेखादि नहीं है। इन प्रतिमाओं को विराजमान करने के हित कोरटा के श्रीसंघ ने श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के उपदेश से यह विशालकाय दिव्य एवं मनोहर मन्दिर वनवाया है। इसका प्रतिष्ठा-महोत्सव विक्रम संवत् १९५९ वैशाख सुदि पूर्णिमा को श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के करकमलों से ही सम्पन्न हुआ था। यह प्रतिष्ठा-महोत्सव मरुधर के १५० वर्ष के इतिहास में आहोर के प्रतिष्ठोत्सव (१९५५ का) के पश्चात् दूसरा था।

प्रतिष्ठाप्रशस्तिः—

वीरनिर्वाणसप्तति-वर्षात्पार्श्वनाथसंतानीयः।
विद्याधरकुलजातो, विद्यया रत्नप्रभाचार्यः ॥ १ ॥
द्विधा कृतात्मा लग्ने, चैकस्मिन् कोरंट ओसियायां।
वीरस्वामिप्रतिमा-मतिष्ठपदिति पप्रथेऽथ प्राचीनम् ॥ २ ॥

देवड़ा ठक्कुर विजयसिंहे, कोरंटस्य वीरजीर्णबिम्बम् ।
उत्थाप्य राधशुक्ले निधिशरनवेन्दुके पूर्णिमा गुरौ ॥ ३ ॥
सुस्थिरवृषभे लग्ने, तस्य सौधर्मबृहत्तपोगच्छीयः ।
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरिः प्रतिष्ठांजनशलाके चक्रे ॥ ४ ॥
कोरंटवासि सूता ओखासुत कस्तूरचन्द्रयशराजौ ।
दत्त्वोदधिशतमेकं श्रीमहावीरप्रतिमामतिष्ठिपताम् ॥ ५ ॥
हरनाथसुतष्टेकचन्द्रस्तच्चैत्यकोपरि ।
कलशारोपणं चक्रे, सूत्राणगुणदायकः ॥ ६ ॥
पोमावापुरवासी हरनाथात्मजः खुमाजी श्रेष्ठी ।
पृथ्वीशरसमुद्रां प्रदाय ध्वजामारोपयामास ॥ ७ ॥
ओसवालरतनसुता हीरचेन नवलकस्तूरचन्द्रा ।
शशिवसुकरदा दंड-मतिष्ठिपन् कलापुरावासिनस्ते ॥ ८ ॥
राजेन्द्रसूरिशिष्यवाचकः मोहनविजयाभिधो धीरः ।
लिलेख प्रशस्तिमेनां, गुरुपदकमलध्यानशुभंयुः ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीकोरंटपुरमंडन-श्रीमहावीरजिनालयस्य प्रतिष्ठाप्रशस्तिः ॥

— सं० १९५९ वैशाख सुदि १५। मु० कोरटा मारवाड —

(२) श्रीभाण्डवा तीर्थ (भांडवपुर)

यह भाण्डवा अथवा भाण्डवपुर नाम का ग्राम जोधपुर से राणीवाड़ा जानेवाली रेल्वे के मोदरा स्टेशन से २२ मील दूर उत्तर-पश्चिम में चारों ओर से रेगिस्थान से घिरा हुवा है। यहाँ जैनेतरों के २०० घर आबाद हैं। यह ग्राम और मंदिर बहुत प्राचीन हैं। सर्व प्रथम जालोर (जावालीपुर) के परमार भाण्डुसिंह ने इसको वसा कर इस पर शासन किया था। उसके वंशजोने भी कितनी ही पीढ़ियों तक शासन किया। वि. सं. १३२२ में वावतरा के दय्या राजपूत वुहड़सिंहने परमारों को परास्त कर इस पर अपना अधिकार स्थापित किया था। इसके वंशजोंने शनैः शनैः इस प्रान्त में सर्वत्र स्थान-स्थान पर अपना शासन जमा लिया जिससे कालान्तर में इस प्रान्त का नाम ही दियावट-पट्टी हो गया। वाद में इस पर जोधपुर-नरेश का अधिकार हो जाने पर विक्रम संवत् १८०३ में जोधपुराधिप रामसिंह ने दय्या लुम्बाजी से इसे छीन कर समीपस्थ आणाग्राम के ठाकुर मालमसिंह को दिया। आज भी उक्त ठाकुर के वंशज भगवानसिंहजी यहाँ के जागीदार है।

विक्रम की ७ वीं शताब्दी में इस प्रान्त में वेसाला नाम का एक अच्छा कस्बा आबाद था। जिसमें जैन श्वेताम्बरों के सैंकड़ों घर थे। वहाँ एक भव्य मनोहर विशाल सौध-शिखरी जिनालय था। इसके प्रतिष्ठाकारक आचार्य का नाम क्या था और वे किस गच्छ के थे यह अज्ञात है। मात्र जिनालय के एक स्तंभ पर 'सं. ८१३ श्रीमहावीर' इतना लिखा है।

वेसाला पर मेमन डाकुओं के नियमित हमले होते रहने से जनता उसे छोड़ कर अन्यत्र जा बसी, डाकुओं ने मन्दिर पर भी आक्रमण करके उस को तोड़ डाला, किसी प्रकार प्रतिमा को बचा लिया गया। जनश्रुत्यनुसार कोमता के निवासी संघवी पालजी प्रतिमाजी को एक शकट में विराजमान कर कोमता लेजा रहे थे कि शकट भांडवा में जहां वर्तमान में चैत्य है, वहाँ आकर रुक गया और लाख-लाख प्रयत्न करने पर भी जब गाड़ी नहीं चली तो सब निराश हो गए। रात्रि के समय अर्ध-जागृतावस्था में पालजी को स्वप्न आया कि प्रतिमा को इसी स्थान पर चैत्य बनवा कर उस में विराजमान कर दो। स्वप्नानुसार पालजी संघवी ने यह मन्दिर विक्रम संवत् १२३३ माघ सुद ५ गुरुवार को बनवा कर महामहोत्सव सह उक्त प्रभावशाली प्रतिमा को विराजमान कर दी। आज भी यहाँ पालजी सघवी के वंशज ही प्रति वर्ष मन्दिर पर ध्वजा चढ़ाते हैं। इसका प्रथम जीर्णोद्धार वि. सं. १३५९ में और द्वितीय जीर्णोद्धार विक्रम संवत् १६५४ में दियावट पट्टी के श्री जैन श्वेताम्बर श्री संघने करवाया था।

विक्रमीय २० वीं शताब्दी के महान् ज्योतिर्धर परमक्रियोद्धारक प्रभु श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज जब आहोर से संवत् १९५५ में इधर पधारे तो समीपवर्त्ती ग्रामों के निवासी श्रीसंघने उक्त प्रतिमा को यहाँ से उठा कर अन्यत्र विराजमान करने की प्रार्थना की। इस पर गुरुदेवने प्रतिमा को यहां से नहीं उठाने और इसी चैत्य का विधिपूर्वक पुनरोद्धार-कार्य सम्पन्न करने को कहा। गुरुदेवने सारी पट्टी में भ्रमण कर जीर्णोद्धार के लिये उपदेश भी दिये।

स्वर्गवास के समय वि. सं. १९६३ में राजगढ़ (मध्य भारत) में गुरुदेवने कोरटा, जालोर, तालनपुर और मोहनखेड़ा के साथ इस तीर्थ की भी व्यवस्था-उद्धारादि सम्पन्न करवाने का वर्तमानाचार्य श्रीयतीन्द्रसूरिजी को आदेश दिया था। आपने भी गुर्वाज्ञा से उक्त समस्त तीर्थों की व्यवस्था तथा उद्धारादि के लिये स्थान-स्थान के जैन श्री संघ को उपदेश दे-देकर सब तीर्थों का उद्धार-कार्य करवाया। श्री अभिधान राजेन्द्र कोष के संपादन और उसकी अर्थव्यवस्था में लग जाने से थोड़े विलंब से इस तीर्थ के तृतीयोद्धार को आपने वि. सं. १९८८ में प्रारंभ करवाया जो वि. सं. २००७ में पूर्ण हुवा। इसकी प्रतिष्ठा का महामहोत्सव वि. सं.

२०१० ज्येष्ठ सु. १ सोमवार को दशदिनावधिक उत्सव के साथ सम्पन्न हुवा था। इस प्रतिष्ठोत्सव में २५ सहस्र के लगभग जनता उपस्थित हुई थी। इस महामहोत्सव को इन पंक्तियों के लेखक ने भी देखा है। यहाँ यात्रियों के ठहरने के लिये मरुधरदेशीय श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्री संघ की ओर से मन्दिर के तीनों ओर विशालकाय धर्मशाला बनी हुई है। मन्दिर में मूलनायकजी के दोनों ओर की सब प्रतिमाजी श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के द्वारा प्रतिष्ठित हैं। मूल मन्दिर के चारों कोनों में जो लघु मन्दिर हैं, इन में विराजित प्रतिमाएँ वि. सं. १९९८ में बागरा में श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के करकमलों से प्रतिष्ठित हैं, जो यहाँ २०१० के प्रतिष्ठोत्सव के अवसर पर विराजमान की गयी हैं।

प्रत्येक जैन को एक वार अवश्य रेगिस्थान के इस प्रगट प्रभावी प्राचीन तीर्थ का दर्शन-पूजन करना चाहिये।

(३) श्री स्वर्णगिरि तीर्थ-जालोर

यह प्राचीन तीर्थ जोधपुर से राणीवाडा जानेवाली रेल्वे के जालोर स्टेशन के समीप स्वर्णगिरि नाम के प्रख्यात पर्वत पर स्थित है। नीचे नगर में प्राचीनार्वाचीन १२ मन्दिर हैं। ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं कि जालोर नवमी शताब्दी में अति स्मृद्ध था। वर्तमान में पर्वत पर किल्ले में ३ प्राचीन और दो नूतन भव्य जिनमन्दिर हैं। प्राचीन चैत्य यक्षवसति (श्री महावीर मन्दिर), अष्टापदावतार (चौमुख), और कुमारविहार (पार्श्वनाथ-चैत्य) हैं।

यक्षवसति जिनालय सबसे प्राचीन है। यह भव्य मन्दिर दर्शकों को तारंगा के विशालकाय मन्दिर की याद दिलाता है। इसको नाहड (नामक राजा)ने बनवाया था ऐसा एक निम्न प्राकृत-पद्य से ध्वनित होता है—

> नवनवइ लक्खधणवइ अ लद्धवासे सुवण्णगिरि सिहरे।
> नाहड़निवकारवियं थुणि वीरं जक्खवसहीए॥ १॥

याने जहाँ ९९ लक्ष रुपयों की संपत्तिवाले श्रेष्ठियों को भी रहने को स्थान नहीं मिलता था, किल्ले पर सब क्रोडपति ही निवास करते थे। ऐसे सुवर्णगिरि के शिखर पर नाहड(राजा) के बनवाये यक्षवसति में श्रीमहावीरदेव की स्तुति करो।

कुमारविहार जिनालय को सं. १२२१ के लगभग परमार्हत् महाराजाधिराज कुमारपाल भूपालने कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीन्द्र के उपदेश से कुमारविहार के गुणनिष्पन्न

---

१ विशेष ज्ञातव्य बातों के लिये कविवर मुनि श्रीविद्याविजयजी महाराज की लिखित 'श्रीभाण्डवपुर जैन तीर्थमण्डन श्री वीर चैत्य-प्रतिष्ठा महोत्सव' देखिये।

नामाभिधान से विख्यात यह चैत्य बनवाया था। पहले यह ७२-जिनालय था। परन्तु सं. १३३८ के लगभग अलाउद्दीनने धर्मान्धता से प्रेरित हो जालोर (जावालीपुर) पर चढ़ाई की थी; तब उस नराधम के पापी हाथों से इस गिरि एवं नगर के आबू के सुप्रसिद्ध मन्दिरों की स्पर्धा करनेवाले मनोहर एवं दिव्य मन्दिरों का नाश हुआ था। उन मन्दिरों की याद दिलानेवाली तोपखाना-मस्जिद जिसे खण्डित मन्दिरों के पत्थरों से धर्मान्ध यवनोंने बनवाई थी वह मस्जिद विद्यमान है। इस तोपखाने में लगे अधिकांश पत्थर खण्डित मंदिरों के हैं और अखण्डित भाग तो जैन पद्धति के अनुसार है। इस में स्थान-स्थान पर स्तम्भों और शिलाओं पर लेख हैं। जिनमें कितने ही लेख सं. ११९४, १२३९, १२६८, १३२० आदि के हैं।

उक्त दो चैत्यों के सिवाय चौमुख-अष्टापदावतार चैत्य भी प्राचीन है। यह चैत्य कब किसने बनवाया यह अज्ञात है।

विक्रम संवत् १०८० में यहीं (जालोर में) रह कर श्रीश्री बुद्धिसागरसूरिवरने सात हजार श्लोक परिमित 'श्री बुद्धिसागर व्याकरण' बनाई थी, उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि:—

श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालात् साशीति के याति समासहस्रे।
सश्रीकजावालीपुरे तदाद्यं दृब्धं मया सप्त सहस्रकल्पम् ॥ ११ ॥

बहुत वर्षों तक स्वर्णगिरि के ये ध्वस्त मन्दिर जीर्णावस्था में ही रहे। विक्रम की सतरहवीं शताब्दी में जोधपुरनिवासी और जालोर के सर्वाधिकारी मंत्री श्री जयमल मुहणोत ने यहाँ के सब ध्वस्त जिनालयों का निजोपार्जित लक्ष्मी से पुनरुद्धार करवाया था और वि० सं० १६८१, १६८३, १६८६ में अलग २ तीन बार महामहोत्सवपूर्वक प्राणप्रतिष्ठाएँ करवा कर सैंकडों जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवाई थीं। सांचोर (राजस्थान) में भी जयमलजी की बनवाई प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। इस समय वे ही प्रतिमाएँ प्रायः किले के सब चैत्यों में विराजमान हैं।

पीछे से इन सब मन्दिरों में राजकीय कर्मचारियोंने राजकीय युद्ध-सामग्री आदि भर कर इनके चारों ओर कांटे लगा दिये थे। विहारानुक्रम से महान् ज्योतिर्धर आगमरहस्यवेदी प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का वि. सं. १९३२ के उत्तरार्ध में जालोर पधारना हुआ। आप से जिनालयों की उक्त दशा देखी न गई। आपने तत्काल राजकर्मचारियों से मन्दिरों की मांग की और उनको अनेक प्रकार से समझाया; परन्तु जब वे किसी प्रकार नहीं माने तो गुरुदेवने जनता में दृढतापूर्वक घोषणा की कि जब तक स्वर्णगिरि के तीनों जिनालयों को राजकीय शासन से मुक्त नहीं करवाऊंगा, तब तक मैं नित्य एक ही बार आहार लूंगा

और द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी और अमावस्या तथा पूर्णिमा को उपवास करुंगा। आपने इसी कार्य को सम्पन्न करने के हेतु सं. १९३२ का वर्षावास जालोर में ही किया। यथासमय आपने योग्य व्यक्तियों की एक समिति बनाई और उन्हें वास्तविक न्याय की प्राप्ति हेतु जोधपुर-नरेश यशवंतसिंहजी के पास भेजे।

कार्यवाही के अन्त में राजा यशवंतसिंहजीने अपना न्याय इस प्रकार घोषित किया 'जालोरगढ (स्वर्णगिरि) के मन्दिर जैनों के हैं; इसलिये उनका मन न दुखाते हुये शीघ्र ही मन्दिर उन्हें सौंप दिये जॉय और इस निमित्त उनके गुरु श्रीराजेन्द्रसूरिजी जो अभी तक आठ महिनों से तपस्या कर रहे हैं, उन्हें जल्दी से पारणा करवा कर दो दिन में मुझे सूचना दी जाय।'

इस प्रकार गुरुदेव अपने साधनामय संकल्प को पूरा कर विजयी हुए।

गुरुदेव की आज्ञा से मन्दिरों का जीर्णोद्धार प्रारंभ हुआ और वि. सं. १९३३ के माघ सु. १ रविवार को महामहोत्सवपूर्वक प्रतिष्ठा-कार्य करवा कर गुरुदेवने नौ (९) उपवास का पारणा करके अन्यत्र विहार किया। इस प्रतिष्ठा का परिचायक लेख श्री अष्टापदावतार-चौमुखमन्दिर में लगा हुवा है—

" संवच्छुभे त्रयस्त्रिंशन्नन्देभ विक्रमाद्वरे।
माघमासे सिते पक्षे, चन्द्रे प्रतिपदातिथौ ॥ १ ॥
जालंधरे गढे श्रीमान्, श्रीयशस्वन्तसिंहराट्।
तेजसा द्युमणिः साक्षात्, खंडयामास यो रिपुन् ॥ २ ॥
विजयसिंहश्च किल्लादार धर्मी महाबली।
तस्मिन्नवसरे संघैर्जीर्णोद्धारश्च कारितः ॥ ३ ॥
चैत्यं चतुर्मुखं सूरिराजेन्द्रेण प्रतिष्ठितम्।
एवं श्रीपार्श्वचैत्येऽपि, प्रतिष्ठा कारिता वरा ॥ ४ ॥
ओसवंशे निहालस्य, चोधरी कानुगस्य च।
सुत प्रतापमल्लेन प्रतिमा स्थापिता शुभा ॥ ५ ॥
श्रीऋषभजिनप्रसादात् उल्लिखितम् ॥

इस समय भी श्री विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज अपने उपदेश से इन प्राचीन तीर्थ-कल्प जिनमन्दिरों का उद्धार-कार्य करवाते रहते हैं एवं इसके हेतु सहस्रों रुपयों की सहायता करवाई है।

श्री अष्टापदावतार मंदिर, इसके पीछे श्री पार्श्वनाथ मंदिर और सशिखर श्री महावीर मंदिर.
श्री स्वर्णगिरितीर्थ, जालोर (मारवाड़-राजस्थान)
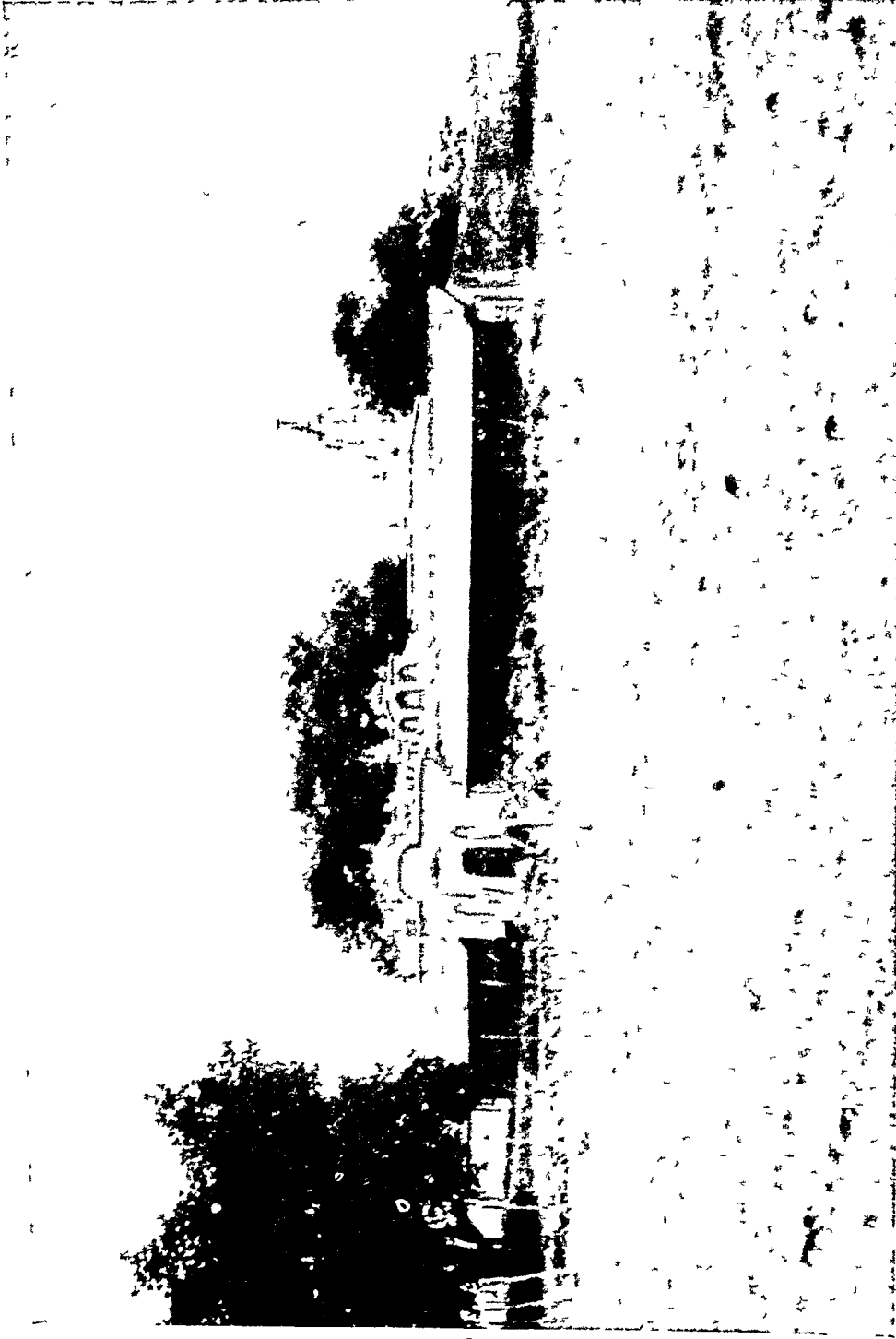
श्री शत्रुंजयतीर्थदिशिवदनार्थ श्री शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेड़ा वि. स. १९४०.

यद्यपि कोरटा एवं इस तीर्थ के सम्बन्ध में कतिपय लेखकोंने इतिहास लिखा है, किन्तु उपरोक्त वास्तविक घटनाओं को वर्णित नहीं करने का जो भाव रखता है वह अशोभनीय है।

४ तालनपुर तीर्थ (मध्यभारत)

आलिराजपुर से कुक्षी जानेवाली सड़क की दाहिनी ओर यह तीर्थ है। यह तीर्थ-स्थान बहुत प्राचीन है और ऐसा कहा जाता कि पूर्वकाल में यहाँ २१ जिनमन्दिर और ५००० श्रमणोपासकों के घर थे। यहाँ खण्डहर रूप में बावड़ी, तालाब और भूगर्भ से प्राप्त होनेवाले पत्थरों और जिनप्रतिमाओं से इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। शोधकर्त्ताओं का कहना है कि किसी समय यह नगर दो-तीन कोश के घेरे में आबाद था। वि. स. १९१६ में एक भिलाले के खेत से आदिनाथबिम्ब आदि २५ प्रतिमाएँ प्राप्त हुईं। जिन्हें समीपस्थ कुक्षी नगर के जैन श्री संघने विशाल सौधशिखरी जिनालय बनवा कर उसमें विराजमान कीं; इन में से किसी प्रतिमा पर लेख नहीं हैं; अतः यह कहना कठिन है कि ये किस शताब्दी की हैं। अनुमान और प्रतिमाओं की बनावट से ज्ञात होता है कि ये प्रतिमाएँ एक हजार वर्ष से भी प्राचीन हैं।

यहाँ जैन श्वेताम्बरों के दो मन्दिर हैं। एक तो उक्त ही है और दूसरा उसी के पास श्री गौड़ीपार्श्वनाथजी का है। पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा वि. सं. १९२८ के मग. सु. पूर्णिमा को सवा प्रहर दिन चढ़े पुरानी गोरवड़ाबाव से निकली थी। यह श्री पार्श्वनाथ प्रतिमा सं. १०२२ फा. सु. ५ गुरुवार को श्री श्रीबप्पभट्टीसूरिजी के करकमलों से प्रतिष्ठित है।[1]

इस प्रतिमा को वि. सं. १९५० महा वदि २ सोमवार को महोत्सवपूर्वक श्री श्री विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने प्रतिष्ठित की।

इस स्थल के तुंगीयापुर, तुंगीयापत्तन और तारन (तालन) पुर ये तीन नाम हैं।

५ श्री मोहनखेड़ा तीर्थ (मध्य भारत)

(श्री शत्रुंजयदिशि वंदनार्थ प्रस्थापित तीर्थ)

महामालव की प्राचीन राजधानी धारा से पश्चिम में १४ कोश दूर माही नदी के दाहिने तट पर राजगढ नगर आबाद है। यहाँ जैनों (श्वेताम्बरों) के २५० घर और ५ जिन चैत्य हैं। यहाँ से ठीक १ मील दूर पश्चिम में यह श्री मोहनखेड़ा तीर्थ स्थित है। यह तीर्थ श्री सिद्धाचलदिशिवंदनार्थ संस्थापित किया गया है। इसके निर्माता राजगढ के निवासी संघवी दल्लाजी लुणाजी प्राग्वाटने विश्वपूज्य चारित्रचूड़ामणी, शासनसम्राट श्रीमद्विजय-

---

१ स्वस्ती श्री पार्श्वजिन प्रशादात्सवत् १०२२ वर्षे मासे फाल्गुने सुदि पक्षे ५ गुरुवासरे श्रीमान् श्रेष्ठी श्री सुखराज राज्ये प्रतिष्ठित श्री बप्पभट्टी(ट्ट) सूरिभिः तुंगियापत्तने ॥

राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज से जन व्याख्यान में अपने कृत पापों का प्रायश्चित मांगा और गुरुदेवने जो इस रमणीय-शान्तिप्रद स्थान पर श्री आदिनाथ प्रभुका चैत्य बनवाने का उपदेश दिया, उसके फलस्वरूप यह बना है। संघवीजीने यह विशाल जिनालय शीघ्रातिशीघ्र बनवा कर गुरुदेव के कर-कमलों से महामहोत्सव पूर्वक सं. १९४० मगसर सुदि ७ गुरुवार को इसकी प्रतिष्ठासम्पन्न करवाया। इस मन्दिर की मूलनायक प्रतिमा श्री आदिनाथ भगवान की है, जो सवा हाथ बड़ी श्वेत वर्ण की है। मूल चैत्य के ठीक पीछे ही आरसोपल की मनोरम छत्री है; जिसमें श्री ऋषभदेव प्रभु के चरण-युगल प्रस्थापित हैं। इस मन्दिर से दक्षिण में एक मन्दिर और है, जिसमें श्री पार्श्वनाथ भगवान की तीन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। मूल मन्दिर में ओइल पेंट कलर के विविध चित्र अंकित हैं।

उक्त मन्दिरों के ठीक सामने तीर्थस्थापनोपदेश-कर्ता जैनाचार्य प्रभु श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का समाधि-मन्दिर है, जहाँ गुरुदेव का विक्रम संवत् १९६३ पौष सु. ७ मोहनखेड़ा (राजगढ़)में श्रीसंघने उनके पार्थिव शरीर का अंत्येष्टि-संस्कार किया था। समाधि-मन्दिर के बनजाने पर इस में गुरुदेव की प्रतिमा स्थापित की गई। इस सुन्दर समाधि-मन्दिर की भित्तों पर गुरुदेव के विविध जीवन-चित्र आलेखित हैं। इस तीर्थ का उद्धार-कार्य हाल ही में वर्तमानाचार्य श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के उपदेश से सम्पन्न हुवा है। वि. सं. २०१३ चैत्र सु. १० को दोनों मन्दिर और समाधि-मन्दिर पर आपके ही करकमलों से ध्वज-दंड समारोपित हुए हैं।

जब वि. सं. २०१२ ज्येष्ठ पूर्णिमा को लगभग १८ वर्षों के पश्चात् गुरुदेव श्रीमद्विजय-यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का मुनिमण्डल सह यहां पर पदार्पण हुवा उस समय मालव-निवासी श्री संघ तीर्थदर्शन एवं गुरुदेव की मंगलमय वाणी को सुनने की उत्कण्ठा से लगभग चार हजार की संख्या में उपस्थित हुवा था। गुरुदेव का श्री संघ को यही उपदेश हुवा कि समाज की आध्यात्मिक उन्नति के लिये समाज में श्रेष्ठ गुरुकुलों का होना अत्यावश्यक है; क्योंकि इस भौतिकवाद के युग में मानवमात्र को शान्ति की प्राप्ति यदि किससे भी हो सकती है तो वह एक मात्र धार्मिक सुशिक्षा से ही जो केवल गुरुकुल द्वारा ही प्रसारित की जा सकती है।

गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर श्री संघने श्री मोहनखेड़ा तीर्थ में ही ' श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन गुरुकुल ' नामकी शिक्षण-संस्था का सर्वानुमति से खोलना तत्काल घोषित कर दिया। इस समय यह संस्था राजगढ़ में चल रही है और वह मोहनखेड़ा में भवन बन जाने पर निकट भविष्य में ही वहाँ प्रारंभ हो जायगी ॥ इति ॥

卐

गुरुदेव—साहित्य—परिचय

व्याख्यानवाचस्पति आचार्यदेव श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश शिष्य
मुनि जयप्रभविजय

प्रत्येक जाति, समाज और राष्ट्र के उत्थान में जितनी महत्वपूर्ण देन साहित्य की होती है, उतनी किसी दूसरी वस्तु, कला एवं पदार्थ की नहीं। पूर्वाचार्य श्रुतधर महर्षियोंने इस बात को लक्ष्य में रख कर निजात्म कल्याणकारी साधना के साथ जनोपकार की भावना रखते हुये सत्साहित्यका निर्माण कर हमें उपकृत किया है। वह साहित्य आज सूत्र-शास्त्र-प्रकरणादि के रूप में प्राप्त है, जो युग-युग के बाद भी हमें पतितपावन संदेश सुना कर पवित्र बना रहा है।

जिस प्रकार पूर्वकाल को अनेकानेक महामुनि, महातपस्वी, समर्थ विद्वान, त्यागी महर्षियोंने अपने उज्वल कार्यों से कीर्तिसम्पन्न बनाया है, उसी प्रकार विगत विक्रमीय बीसवीं शताब्दी को भी अनेक युगप्रभावक जैन—जैनेतराचार्योंने भी अपने सत्कार्यों से चिरस्मरणीय बनाया है। उन युगवीर समर्थ श्रमणाचार्यों में परमपूज्य योगीराज गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का स्थान भी गौरवयुक्त है। जिस काल एवं समय में गुरुदेवने यतिदीक्षा ग्रहण की थी, उस समय त्यागी वर्ग में शैथिल्य का प्रभाव अत्यधिक जम रहा था। जिसके कारण श्रमण और श्रमणोपासक दोनों एक दूसरे से घने दूर हो रहे थे। फल-स्वरूप समाज का वातावरण कलुषित हो रहा था। यह वातावरण गुरुदेव के लिये कदापि सह्य नहीं था। गुरुदेवने अपनी सतत साधना और विद्वत्ता से समाज में क्रान्ति उत्पन्न की और ह्रासोन्मुखी तत्वों का उन्मूलन कर समाज को सुदृढ़ बनाया। अर्थात् उसे सुव्यव-स्थित किया। साथ-ही पूर्वाचार्य—समाचरित साहित्य—निर्माण—कार्य को भी अपनी यशस्वी पावन लेखनी से यश एवं गौरवयुक्त किया। वह साहित्य प्राकृत, संस्कृत हिंदी, और गूर्जर आदि भाषाओं को विभूषित कर रहा है। आपका साहित्य प्रभावशाली व सप्रमाण है और रोचक विधि से परिमंडित है। आप जैसे भारत और भारतेतर देशों के विद्वन्मंडल-मूर्धन्य के निर्मित साहित्य की समालोचना करनेका कार्य तो महानुद्भट विद्वान् का है—नहीं कि मेरे जैसे बालक का। परन्तु फिर भी 'शुभे यतनीयम्' न्याय से समस्त विद्वानों को गुरुदेव के साहित्य का नाम, विषय, भाषा और प्रमाणदृष्टि से ही कुछ इस लेख में दिखलाना मेरा ध्येय है।

१-श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष—(सप्तभागात्मक पाइय विश्वकोष) आकार बड़ा, रॉयल चौ पेजी, श्रीअभिधान राजेन्द्र प्रचारक संस्था, रतलामने अखिल भारतीय श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रीसंघ द्वारा प्रदत्त द्रव्य-सहायता से मुद्रित कर प्रकाशित किया है। इस कोष का संपादन इसके निर्माता पूज्यवर की आज्ञानुसार स्वर्गीय श्रीमद्दीपविजयजी (श्री विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्री यतीन्द्रविजयजी(वर्तमानाचार्य श्रीयतीन्द्रसूरिजी)ने किया है। यह महा ग्रन्थराज बृहदाकार सात जिल्दों में विभक्त है। सातों भागों की समुचित पृष्ठ-संख्या दस सहस्र (१००००) से भी अधिक है। यह प्राकृत शब्दों का महासागर है। जैनों का प्रायः ऐसा कोई भी पारिभाषिक या इतर शब्द नहीं की जो इस शब्द महार्णव में नहीं होगा। इसका संदर्भ इस प्रकार है। सर्वप्रथम वर्णानुक्रम से प्राकृत शब्द, उसका संस्कृत में अनुवाद, लिंगनिर्देश और उसका अर्थ जो जैनागमों तथा ग्रन्थों में प्राप्त है, भिन्न-भिन्न रीति से दिखलाया है। विस्तृत विवेचित शब्दों पर पाठकों की सुगमता के लिये अधिकार सूचियां भी आलेखित हैं; जिससे वाचन में सुविधा होती है।

यह महान् विश्व कोष जर्मन, जापान, रूस, फ्रांस, इंग्लेंड और अमेरिका के विख्यात पुस्तकालयों को सुशोभित कर जैन सिद्धान्त रहस्य के जिज्ञासु विद्वानों को सच्चे मानवधर्म का परम ज्ञान दिखला रहा है। विश्व के ख्यातिप्राप्त कतिपय विद्वानों ने इसके निर्माणकर्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुये इस को प्रमाणित किया है। संस्था के कार्यालय में कितने ही प्रशंसापत्र विद्यमान हैं, जिनमें से एक ही पाठकों के लिये यहां उद्धृत किया जाता है।

प्रोफेसर सर जॉर्ज गियर्सन के. सी. आई. ई. केम्बरली (इंग्लेंड) ता. २२ दि. १९२४ के पत्र में लिखते हैं कि:—

" इस विराट् ग्रंथराज का मुद्रणकार्य अब सम्पन्न होने आया है, इस बात के लिये मैं आपका अभिनंदन करता हूं। मुझे मेरे जैन प्राकृत के अध्ययन में इस ग्रंथ का बहुत सहाय हुआ है और जिस ग्रंथ के साथ इसकी तुलना मै कर सकूं ऐसा केवल एक मात्र ग्रंथ मुझे ज्ञात है और वह राजा राधाकांतदेव का प्रसिद्ध संस्कृत शब्दकल्पद्रुम कोष है। "

(२) पाइय सदम्बुही (प्राकृत शब्दाम्बुधि) कोषः—यह कोष भी स्व. गुरुदेवने ही बनाया है। इसमें प्रथम वर्णानुक्रम से प्राकृत शब्द, उसका संस्कृतानुवाद, पश्चात् लिंग-निर्देश और हिन्दी में अर्थ है। इसमें प्राकृत के प्रायः सहस्रों शब्दों का संग्रह है। परन्तु इसमें अभिधान राजेन्द्र कोष की तरह शब्दों पर विस्तृत व्याख्याऍं नहीं हैं। (अप्रकाशित)

(३)-प्राकृतव्याकरणं (व्याकृति) टीका—१२ वीं १३ वीं शताब्दी में हुये

भारत के महान् ज्योतिर्धर कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश प्रणीत 'श्री सिद्धहेमशब्दानुशासन' के अष्टमाध्याय (प्राकृत) की यह अष्टादशशत श्लोकप्रमाण व्याकृति नामक टीका स्वर्गीय गुरुदेवने विक्रम संवत् १९६१ में मध्यभारतस्थ कुक्षी में रह कर निर्मित की है। व्याकरणशास्त्र के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि प्रायः आज तक अनेक महर्षियोंने व्याकरणशास्त्र पर विविध प्रकार के टीका-ग्रन्थों का निर्माण किया है पर वे सब गद्य संस्कृत में हैं; परन्तु प्रस्तुत टीका पद्यमय है। पद्यात्मक होते हुये भी सरल, सुन्दर और सुबोध है। इसकी रचना स्व. श्री दीपविजयजी (श्री भूपेन्द्रसूरिजी) और श्री यतीन्द्रविजयजी (वर्तमानाचार्य श्री यतीन्द्रसूरिजी) इन दोनों मुनिप्रवरों की विनम्र प्रार्थना से हुई है। यह बात इसकी प्रशस्ति के तृतीय[1], पंचम और षष्ठ पद्य से ध्वनित होती है। यह श्री अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग में मुद्रित हो चुकी है।

श्री कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनीः—सुपररॉयल ८ पेजी साइज। पृष्ठ संख्या ३९१। सचित्र रेशमी जिल्द। मूल्य ३॥) रुपये। प्रकाशक-श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुड़ाला (राजस्थान)। पंचम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामीप्रणीत परम मंगलकारी श्री कल्पसूत्र की यह विस्तृत टीका है। श्रीकल्पसूत्र पर इतनी सरल एवं विस्तृत और रोचक टीका दूसरी नहीं है। यद्यपि इस परमकल्याणकारी सूत्र पर अनेक मुनिपुंगवोंने टीकाएं बनायी हैं; परन्तु उन सब में यह टीका जितनी विशाल, अति सरल और अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण है, उतनी दूसरी कम है। यह ग्रन्थ नौ व्याख्यानों में विभक्त है। साहित्य-मनीषियों के 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' को सम्पूर्ण रूप से यहाँ इस रचना में चरितार्थ किया गया है। इसकी रचना विक्रम संवत् १९५४ में रतलाम (मालवा) में रहकर गुरुदेव के करकमलों से सम्पन्न हुई है।

(५) अक्षयतृतीयाकथा—भगवान् श्रीआदिनाथ को दीक्षा धारण करते ही पूर्वभवोपार्जित अंतराय कर्म का उदय होने से एक वर्ष पर्यन्त निराहार ही रहना पड़ा था। पश्चात् भगवानने गजपुर (हस्तिनापुर) में अपने पौत्र सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांसकुमार के हाथों से इक्षुरस से पारना किया था। इसका वर्णन इस लघुकथा में आलेखित है। यह स्वतंत्र मुद्रित न हो कर श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष प्रथम भाग के पृष्ठ १३३ पर 'अक्खयतइया' शब्द पर मुद्रित है।

१-दीपविजयमुनिना वा यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन। विज्ञप्त. पद्यमयी प्राकृतविवृतिं विधातुमहम् ॥ ३ ॥ अतएव विक्रमाब्दे भूरसनवविधुमिते (१९६१) दशम्या तु। विजयाख्या चातुर्मास्येऽहं कुक्षीनगरे ॥५॥ हेमचन्द्रसरचितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम्। पद्यमयीं सच्छन्दोवृन्दै रम्यामकार्षमिमाम् ॥ ६ ॥

(६) खर्परतस्करप्रबन्ध—(पद्य) परदुःखभंजक महाराजा विक्रमादित्य के शासन-काल में खर्पर नामक एक चोर अवन्ति और उसके निकटवर्ती प्रदेश की प्रजा को निजाधम कृत्यों से परेशान करता था। उसे येनकेन प्रकारेण परास्त करने का प्रयत्न राजा और राजकर्मचारियोंने किये; परन्तु वे सब विफल ही रहे। अन्त में स्वयं विक्रमने महाभगीरथ प्रयत्नों से उसे परास्त कर ही दिया। बस इसी बात का वर्णन स्वर्गीय श्रीगुरुदेवने संस्कृत के करीब ८०० विविध श्लोकों में ग्रन्थित किया है।

(७) श्री कल्पसूत्रबालावबोध—रचना संवत् १९४०। सुपररॉयल आठ पेजी साइज। पृष्ठसंख्या ४७५। मूल्य ४ रुपये। मालवा, मारवाड़ और गुजरात निवासी जैन श्री संघों की प्रार्थना से परमपूज्य शासनरक्षक गुरुदेवने यह सरल एवं सुन्दर भाषा टीका निर्मित की है। वर्तमान में जितने भी कल्पसूत्र के भाषान्तर प्रकाशित हैं उन सब से यह अधिक सुगम और प्रासादशैली में रचित है।

(८) श्री गच्छाचार पयन्ना-वृत्ति-भाषान्तरः—क्राउन आठ पेजी साइज। पृष्ठ-संख्या ३८१। प्रकाशक श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य-समिति, आहोर (राजस्थान)। मूल्य मात्र दो रुपये। यह ग्रन्थ तीन अधिकारों (१ आचार्यस्वरूप। २ यतिस्वरूप। ३ साध्वीस्वरूप निरूपण) में विभाजित हो कर १३७ प्राकृत गाथाप्रमाण है। इस पर विक्रम सं. १६३४ में श्री आनन्दविमलसूरीश्वरचरणरेणु श्री विजयविमल गणीने ५८५० श्लोकप्रमाण टीका बनाई है। उसी टीका का परमपूज्य गुरुदेवने वि. सं. १९४४ के पौष महीने में भाषान्तर किया है। भाषान्तर में कहीं कहीं टीका से भी अधिक विवेचन किया गया है। जिसका स्पष्टीकरण गुरुदेवने मंगलाचरण में ही कर दिया है। यह ग्रन्थ श्रमण और श्रमणी-संघ के समस्त आचार-विचारों का मुख्य विवेचक है। प्रत्येक साधु व साध्वी को एक बार इसे वाचना ही चाहिये।

(९) पर्यूषणाष्टाह्निका—व्याख्यान भाषान्तर (पत्राकार) सुपररॉयल बारा पेजी। पृष्ठसंख्या ११८। मूल्य १० आना। रचना सं० १९२७। खरतरगच्छीय श्रीक्षमाकल्याणजी वाचकप्रणीत संस्कृत व्याख्यान का यह भाषान्तर मालवी-मारवाड़ी भाषा मिश्रित है। गुरुदेवने संस्कृत भाषानभिज्ञों के हितार्थ यह अनुवाद सरल भाषा में तैयार किया है जो मूल-संस्कृतसह मुद्रित हुवा है।

(१०) प्राकृत शब्द रूपावली—प्राकृत भाषा हमारे प्राचीन काल की लोक(जन) भाषा रही है। परम पावन श्रीतीर्थंकर भगवान् इसी भाषा में देशना देते थे। आजकल यह

१-गच्छाचारप्रकीर्णस्य टीका लोकगुभाषया। कुर्वेऽहमनुसारेण चाधिकां क्वचित्यपि ॥ २ ॥

प्राचीन जनभाषा शास्त्रीय-भाषा ही रह गई है। इसका प्रचार जनता में नहीं रहा, अतः इसके आधुनिक अभ्यासियों को अभ्यास करते समय शब्दों के शुद्धरूप याद करने में अत्यधिक कठिनता का सामना करना पड़ता है। करुणासागर गुरुदेवने विद्यार्थियों के अभ्यासकाठिन्य को सरल बनाने के शुभाशय से इसकी संकलना की है। इसमें प्रत्येक शब्द के विभक्ति पर अनेक वैकल्पिक रूप भी यथास्थान दिखलाये हैं। यह 'अभिधान राजेन्द्र कोष' के प्रथम भाग में तृतीय परिशिष्ट पर मुद्रित है।

(११) श्रीतत्वविवेक—रचना संवत् १९४५। रॉयल पद् पेजी साईज। पृष्ठसंख्या १२८। इस पुस्तक में परमपूज्य गुरुदेवने देव, गुरु और धर्म इन तीन तत्वों पर श्रेष्ठतर विवेचन बालगम्य भाषा में किया है। सरल रीति होने के कारण साधारण मेधावी व्यक्ति को भी त्रितत्व समझने के लिये यह अत्युत्तम ग्रन्थ है।

(१२) श्री देववन्दनमालाः—क्राउन १६ पेजी साइज। पृ. सं. १३३। इस पुस्तक में ज्ञानपंचमी, चौमासी, सिद्धाचल, नवपद और दिवाली के देववन्दन हैं। यह देव-वन्दनमाला नाम के देववन्दनों का संग्रह इतनी प्रिय पुस्तक है कि इसके चार-चार संस्करण प्रकाशित होने पर भी आज यह ग्रन्थ अप्राप्य-सा है। यही इसकी उपादेयता का सबल प्रमाण है।

(१३) श्री जिनोपदेशमंजरीः—क्राउन १६ पेजी साइज। पृष्ठसंख्या ७०। इस पुस्तक में रोचक कथानकों से प्रभुप्रणीत तत्वों को यथार्थ प्रकार से समझाया गया है। इसके प्रत्येक कथानक की शैली उस समय की लोकभोग्य शैली है।

(१४-१५) धनसार-अघटकुमार चौपाईः—रचना सं. १९३२ रॉयल १६ पेजी साइज। पृष्ठसंख्या ४०। प्रथम चौपाई चैत्यभक्ति-फलदर्शक और द्वितीय चौपाई पुन्य-फलदर्शक है। प्रथम का प्रमाण दोहों सहित ११ ढ़ालें और दूसरी का प्रमाण दोहों सहित १२ ढ़ालें हैं। प्रत्येक ढ़ाल भिन्न-भिन्न देशी रागों में वर्णित है, जो व्यवस्थित प्रकार से गाने योग्य है।

(१६) प्रश्नोत्तर पुष्पवाटिका—रचना सं. १९३६। पृ. सं. ६२। डेमी १२ पेजी साइज। इस ग्रन्थ में उस समय के विवादास्पद प्रश्नों का तथा और भी इतर प्रश्नों का सुन्दर-तम शैली से निराकरण किया गया है। प्रश्नों के प्रत्युत्तर में गुरुदेवने शास्त्रीय आज्ञा को श्रेष्ठ-तम रूप से जनता के समक्ष रक्खा है। इसकी भाषा लोक(जन)भोग्य भाषा है, जिसके कारण साधारण व्यक्ति भी सरलता से समझ सकता है।

(१७) सकलैश्वर्यस्तोत्रः—इस स्तोत्र में जम्बूद्वीपीय एक महाविदेहक्षेत्र में, धातकी-खण्ड के दो महाविदेह में और पुष्करवरार्धद्वीप के दो महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान श्री सीमन्धर स्वामी आदि बीस विहरमान तीर्थंकर भगवन्तों की भक्तिपूर्ण हृदय से स्तवना की गयी है। यह २४ श्लोकप्रमाण स्तोत्र श्री गुरुदेवने वि. सं. १९३६ में बनाया है। यह श्री शान्तसुधारस-भावना, पंचसप्ततिशतस्थानचतुष्पदी और श्री प्रभुस्तवन-सुधाकर में मुद्रित हुवा है।

(१८) होलिका व्याख्यान (गद्य-संस्कृत) भारतीय जनता फाल्गुन महिने के सुदि पक्ष में होली नाम का पर्व अश्लील चेष्टापूर्ण रीति से मनाती है। जो वास्तव में कर्म-सिद्धान्तानुसार कर्मबन्धन करता है। इस अश्लीलतामय पर्व की उपपत्ति वास्तव में किस प्रकार और कैसे हुई इसका गुरुदेवने इस ग्रन्थ में वर्णन किया है। यह श्री राजेन्द्रप्रवचन कार्यालय, खुडाला से प्रकाशित 'चरित्रचतुष्टय' में मुद्रित हुवा है।

(१९) पंचसप्ततिशतस्थान चतुष्पदीः—रचना सं. १९४६। साइज क्राउन १६ पेजी। पृष्ठ १७५। प्रकाशक श्री राजेन्द्रप्रवचन कार्यालय, मु. खुडाला (राजस्थान)। तपागच्छीय श्री सोमतिलकसूरिविरचित ३५९ प्राकृतगाथा प्रमाण-सत्तरिसय ठाणा पगरणा (सप्ततिशतस्थान प्रकरण) ग्रन्थ जिसकी राजसूरगच्छीय श्री देवविजयरचित अति सरल संस्कृत वृत्ति भी है उसीके आधार पर यह ग्रन्थ गुरुदेवने सियाणा (राजस्थान) में रह कर बनाया है। गुरुदेवने उक्त प्रकरणगत विषय के इस प्रकरण में पाच स्थान और भी अधिक परिवर्धित किये हैं। ग्रन्थ छः उल्लासों में विभक्त है। इसकी रचना भाँति-भाँति के दोहों-छन्दों-चौपाइयों और रागों में की है। यह प्रशस्ति के साथ सब मिल कर ५५९ पद्य प्रमाण है।

(२०) प्रभु-स्तवन-सुधाकरः—भौतिकवाद के इस विलासी युग में प्राकृत और संस्कृत का प्रचार नहीं होने से साधारण जनता उक्त भाषाकीय ग्रन्थों और काव्यों से उचित लाभ नहीं ले सकती। अतएव उसके लिये देशीभाषा में साहित्य और काव्य होना ही लाभकर है। इसी वस्तुस्थिति को लक्ष्य में रख कर गुरुदेव श्रीराजेन्द्रसूरीशने चैत्यवन्दन, स्तुति-स्तवन और सज्झायों का निर्माण किया है। आप के निर्मित पद्यो में अपभ्रंश शब्द भी हैं, जो उनकी शोभा में अतीव वृद्धि करते हैं।

गुरुदेवने समय-समय पर जो चैत्यवंदन, स्तुति, स्तवन और सज्झायें बनाई हैं वे प्रायः सब इस 'प्रभु-स्तवन-सुधाकर' में संगृहीत हैं। गुरुदेवरचित इन देशी काव्यों में अर्थगांभीर्य, और अध्यात्मिक भाव परिपूर्ण रूप से विद्यमान हैं। आप के कृत स्तवनों में कितने ही स्तवन ऐसे भी है कि जो प्रसिद्ध-अध्यात्मयोगी श्री आनन्दघनजी के पद्यों का स्मरण

कराते हैं । इस संग्रह के स्तुत्य प्रयास का श्रेय वयोवृद्ध संयमस्थविर मुनिश्री लक्ष्मीविजयजी को है । इसका प्रकाशन श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य-समिति, आहोर से हुवा है ।

१ चैत्यवन्दन चतुर्विंशतिका, २ जिनस्तुति चतुर्विंशतिका और ३ जिनस्तवन चतुर्विंशतिका । ४ आवश्यक विधिगर्भित श्री शांतिनाथ-स्तवन । ५ पुंडरिकाध्ययन-सज्झाय । ६ साधु वैराग्याचार-सज्झाय । ७, २३ पदवीविचार-सज्झाय । ८ चोपड़खेलन स्वरूप-सज्झाय और श्रीकेशरियानाथविनतिकरण वृद्ध स्तवन भी इसी ग्रन्थ में ही मुद्रित हैं ।

(२१-२२) श्री सिद्धचक्रपूजा और श्री महावीर पंचकल्याणकपूजा—प्रथम पूजा में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन (९) पदों का और द्वितीय पूजा में चरम तीर्थपति अहिंसावतार श्रमण भगवान् श्री महावीर देव के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष इन पांच कल्याणकों की सरस और मनोहर रागों में वर्णनात्मक-रचना की है । ये पूजाएँ श्री 'जिनेन्द्र पूजामहोदधि' और 'श्री जिनेन्द्र पूजासंग्रह' में मुद्रित हो चुकी हैं ।

(६३) एक सौ आठ बोल का थोकड़ा—क्राउन १६ पेजी साइज । पृष्ठसंख्या ११६ । अमूल्य । इस पुस्तक में मननीय १०८ बातों का अनुपम संग्रह है । अल्पमती जीवों को यह पुस्तक अत्यधिक उपयोगी है ।

(२४) श्री राजेन्द्रसूर्योदय (गूर्जर) आकार डेमी अष्ट पेजी । पृष्ठसंख्या ५८ । परमपूज्य गुरुदेवने अपने विद्वान् शिष्यमंडल सहित वि. सं. १९६० का चातुर्मास गुजरात के प्रसिद्ध नगर सूरत (सूर्यपुर) में किया था । इस वर्षावास में चतुर्थस्तुतिक मतावलम्बियों से चर्चा-वार्ता हुई थी, उसका इसमें प्रमाणों के साथ सत्य-सत्य वर्णन आलेखित है। जिज्ञासु को यह पुस्तक अवश्य पढ़ना चाहिये । इसी वर्षावास में आपने विख्यात श्री अभिधान राजेन्द्र कोष को सम्पूर्ण किया था ।

(२५) कमलप्रभा-शुद्धरहस्य—

आकार डेमी अष्ट पेजी । पृ. सं. ५१ । स्थानकवासी साध्वी श्री पार्वतीजी की सत्यार्थ-चन्द्रोदय पुस्तक में श्री महानिशीथ सूत्रोक्त कमलप्रभाचार्य के लिये जो असत्य प्रलाप किया गया है उसीका ही इस में प्रमाण सहित मार्मिक भाषा में खंडन किया गया है ।

गुरुदेवने इस प्रकार अपने जीवनकाल में ६१ छोटे-बड़े ग्रन्थ निर्मित किये हैं । जिन में से उपर लिखे ग्रन्थ मुद्रित हो गये हैं । शेष अमुद्रित श्री राजेन्द्र जैनागम बृहद् ज्ञान-भंडार, आहोर (मारवाड़-राजस्थान) में तथा अन्य स्थानों पर सुरक्षित हैं ।

अमुद्रित ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है।

अमुद्रित ग्रन्थः—

१ होलिका प्रबंध सार।
२ सिद्धान्त-प्रकाश (खंडनात्मक)।
३ कल्याणमन्दिर स्तोत्र प्रक्रियावृत्ति।
४ सिद्धान्त बोल सागर।
५ उपासकदशाङ्ग-सूत्र भाषान्तर।
६ स्वरोदयज्ञान यंत्रावली।
७ उपदेशरत्नसार गद्य संस्कृत।
८ दीपमालिका कथा गद्य संस्कृत।
९ खर्पर तस्कर-प्रबंध पद्यबद्ध।
१० उत्तमकुमारोपन्यास (गद्य संस्कृत)।
११ सव गाहापयरण (सूक्तिसंग्रह)।
१२ मुनिपति राजर्षि चौपाई।
१३ त्रैलोक्यदीपिका-यंत्रावली।
१४ चतुःकर्मग्रन्थ-अक्षरार्थ।
१५ पंचाख्यान कथासार।
१६ षड़ावश्यक-अक्षरार्थ।
१७ द्वाषष्ठिमार्गणा-यंत्रावली।
१८ पाइयसद्दम्बुही कोश।
१९ सारस्वत व्याकरण भाषाटीका।
२० कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म श्लोक व्याख्या।
२१ सप्ततिशतस्थान-यंत्रावली।
२२ जम्बुद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र-बीजक (सूची)।
२३ हीरप्रश्नोत्तर-बीजक।
२४ चन्द्रिका-धातुपाठ तरंग पद्यबद्ध।
२५ षट्द्रव्यविचार।
२६ अष्ट चौपाई।

सच्चा रहबर

मुनशी फतह महम्मदखाँ वकील, निम्बाहेड़ा।

दुनियां में कई मजहब चालू हैं और उनके पैरो भी लाखों की तादाद में। हर मजहब में अपने आईन पर सख्ती के साथ पाबन्दी करानेवाले कुछ लोग होते हैं जो हकीकतन बहुत बुजुर्ग, सीधे, सच्चे, नेक और रहमदिल परहेजगार होते हैं। अला हाजल कयास जैन मजहब में भी एक पाक इन्सान राजेन्द्रसूरि गुजरे हैं जो सही माना में फकीर थे। बाद तहसीले इल्मदीन व दुनयवी, फजीलत उन के सुपुर्द हुई और लाखों आदमी उनके पैरो हुए जो आज तक मौजूद हैं।

अच्छे लोग अच्छाई में और भले भलाई में ही अपनी जिन्दगी गुजारते हैं। आपके वाअज दिलचस्प और जूद-असर होते थे जिनको मख्लूक ने सुनकर अमल किया और सुधार भी किया। इतने पर भी तसल्ली नहीं हुई, वह समझते थे कि जिन्दगी चन्द रोजा है और इसके साथ नसीहत खत्म हो जायगी। लिहाजा अपने खयालात का इज्हार किताबों के जरिये शुरु किया जो रहती दुनियां तक कायम रहकर मख्लूक की भलाई कर सकेगा और हर मुश्किल को आसान बनाने में कारगर साबित होगा। मौसूफ ने तकरीबन ६१ किताबें तस्नीफ कीं जो अपनी नोइयत में मुफीद और ठोस साबित हुई। इन किताबों के पढने से मौसूफ की सचाई, दरियादिली, अखलास, अखलाक, रहमदिली, मुन्सिफ मिजाजी और इस्तकलाल का खुद ब खुद पता लग जाता है। इन किताबों के मिन्जुमला एक किताब लगत मोसूमा 'श्री अभिधान राजेन्द्र बृहद् विश्वकोष' तो इतना मकबूल हुवा कि जिसकी शोहरत हिन्दुस्तान में ही नहीं बल्कि गैर मुमालिक के उलमा में भी जोरों से है। इस में प्राकृत जबान का तर्जुमा संस्कृत में किया गया है। इस किताब के लिखने में मौसूफ को कितनी तकलीफ व महनत करनी पडी होगी इसका अन्दाजा अहले नजर खुद लगा सकते हैं। वैसे इसकी जखामत व अल्फाज की तादाद से भी वाजे है। जैन मजहब में अहिंसा धर्म पर सब से ज्यादा जोर दिया गया है लिहाजा मैं समझता हूं कि मौसूफ ने इन किताबों की तस्नीफ इसी नजरिये फरमाई है कि जिससे हर इन्सान अपनी मुश्किलात का सही रास्ता निकाल सके। जब कोई मुसन्निफ किसी मुकाम पर लिखते-लिखते अटक जाता है तो उसको इन्तिहासे ज्यादा तकलीफ और बेचैनी महसूस होती है और उस वक्त तक उन तकलीफ में मुब्तिला रहता है जब

तक कि उसका सही हल न हो जाय। मैं तो यही कहूंगा कि एक मुसन्निफ की तकलीफ को हल कर देना भी उस से कहीं ज्यादा सवाब है जितना कि एक कसाई की छुरी के नीचे से बकरी को बचाना। क्यों कि बकरी को तो उसकी जान निकलने तक ही तकलीफ का अहसास होता है मगर मुसन्निफ उस वक्त परेशानी व तकलीफ से बेचेन रहता है, जबतक कि उससे वह लफ्ज सही न हो जाय। मौसूफकी ये किताबें उनकी इन मुश्किलात को हल करने में काफी मदद करेंगी। मैं तो यही कहूंगा कि इस लुगत को लिख कर अहिंसा धर्म के समझने में खुलु (कमी) रह गई थी उसे पूरा कर दिया। इनकी इस तस्नीफ से कई भूले-भटके लोग सच्चा रास्ता पा सकेंगे। इन किताबों से रहती दुनियां तक इन का नाम अमर रहेगा और इस से बेइन्तिहा फायदा हासिल करेगी। मैं इन सच्चे रहबर की दिल से कदर करता हूँ और पाक परवरदिगार के हुजूर में दुआगो हूँ कि ऐसे सच्चे रहबर हमेशा नाजिल करे! आमीन।
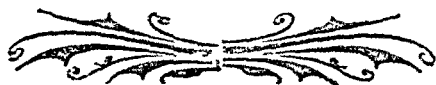
प्रातःस्मरणीय सत्पुरुष और हमारा कर्त्तव्य

सूरजचन्द सत्यप्रेमी (डाँगी)

दुनिया ऐसे ही सत्पुरुषों का नित्य स्मरण रखती है जिसने प्रवाह में बहते हुए प्राणियों को पुनः सन्मार्ग पर स्थिर किया हो। भगवान् महावीरस्वामीने अपने उपासकों के लिये एक विशेषण का प्रयोग किया है:—

" पड़ि सोय गामी "

स्रोत से उल्टा चलनेवाला अर्थात्-संसार जिस ओर जारहा है उस तरफ से उसे मोड़ कर शुद्धिमय जीवन की ओर लगानेवाला ही सच्चा साधक है। गीता में भी यही कहा है:—

" या निशा सर्वभूतानाम्, तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥ "

सब प्राणियों के लिये जो रात्रि है, संयमी प्राणियों के लिये वही जाग्रति का स्थान है। अर्थात् संयम के मार्ग में हम लोग सोये हुए हैं और सत्पुरुष जाग रहे हैं। और प्राणी जहां जाग रहे हैं संयमी वहीं सोये हैं। अर्थात् ममत्व के मार्ग में हम सब जाग्रत हैं और समत्व के मार्ग में सोये हैं। सन्त, महन्त ममत्व के मार्ग में सोये हैं और समत्व में जाग्रत है।

तात्पर्य यह है कि जो सत्पुरुष हमें विषयों के चक्कर में से निकाल कर शान्ति के रास्ते पर बढ़ने की प्रेरणा दे उसीका स्मरण करने योग्य है। आज हम जिस महापुरुष की अर्द्ध-शताब्दी-महोत्सव के उपलक्ष में अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने जा रहे हैं वह ऐसे ही महान् आत्मा की स्मृति है जिसने संघ के चारों पायों का आन्दोलन किया था।

जैन तीर्थ के साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका मानवता के मूल्य को भूल गये थे और संसार की तुच्छ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये संवर-धर्म की शुद्ध उपासना के समय भी देव, गुरु, धर्म के साथ देवी-देवताओं की स्तुति में मन लगाते थे। उज्ज्वल सात्विक सीधे-साधे वेष को छोड़ कर साधु-साध्वी भी शौकीन बन गये थे और सांसारिक आवश्यकताओं से चित्त को नहीं हटा कर वीतराग के पवित्र धर्म की ओर मुड़ने के स्थान पर स्वयं भी कीचड़ में फसते जा रहे थे। उन्हें इस कीचड़ में से इस सत्पुरुषने झटका देकर उबार लिया।

अरिहन्तो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुण गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मतं मए गहियं॥

सम्यग्दर्शन का लक्षण ही यह है कि वीतराग अर्हन्त प्रभु हमारे देव हैं। जीवन पर्यन्त पंच महाव्रतधारी निग्रन्थ हमारे गुरु हैं और जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा हुआ मार्ग हमारा धर्म। इस प्रकार देव, गुरु और धर्म के प्रति अनन्य भक्ति ही सन्मार्ग का प्रथम सोपान है।

मैं फिर यह निवेदन करूंगा कि आज सभी सम्प्रदायों में समन्वय करने का युग है; परन्तु समन्वय के नाम पर विकृतियों का समन्वय नहीं किया जा सकता।

'सत्त्वेषु मैत्री'

सब प्राणियों में मैत्री हमारा नारा है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम पापियों के पाप से, दोषियों के दोष से भी मैत्री करें।

चोरों को दण्ड देने से जैसे राजा का प्रजा के प्रति समान भावरूप प्रेम के पंथ में कोई बाधा नहीं पहुंचती बल्कि सर्व हित की भावना ही कहलाती है। उसी प्रकार विकृतियों को दूर करने से समभाव की अवहेलना नहीं है-उल्टी पुष्टि ही होती है।

घर का कूड़ा-करकट साफ़ करना घर का अपमान नहीं-सम्मान ही है। उसी प्रकार अपने प्रेमियों की विकृति को दूर करना एक पवित्र कर्तव्य ही समझना चाहिये। परन्तु वह विकृति हम तभी दूर कर सकते हैं जब हम स्वयं सुसंस्कृत, सदाचारी और सुशील हों। जो झाड़ू कचरे से भरा है वह सफाई के काम का नहीं है। इस लिये हम अपने सम्यक्त्वी उपासकों से यह प्रार्थना करते हैं कि उस प्रातःस्मरणीय स्वर्गस्थ आत्मा के जन्म एवं निर्वाण-उत्सव के प्रसंग पर यह संकल्प करें कि अपने विकारों को हम धोयें और फिर मंगल भावनाओं का प्रचार करने के लिये आगे आवें। किसी भी संप्रदाय के मूल पुरुष का उद्देश्य यही होता है कि वह प्रचलित शिथिलताओं को दूर करके सामूहिक रूप से सद्भावना और सदाचार को पोषण देता है।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजीने तो कोई नई सम्प्रदाय भी नहीं बनाई। जो उपासक जैन धर्म की संयम-प्रधानता को गौण करते थे उन्हें सावधान किया और मानवता के मूल्य को देवताओं से भी अधिक बताया। इसलिये हमें जैन धर्म के त्यागभाव की कीमत अधिक से अधिक बढाना चाहिये। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हम जिस वस्तु का मूल्य करते हैं उसी तरफ दुनियां झुकती है; क्यों कि यश की इच्छा प्रत्येक छद्मस्त में न्यूनाधिक रूप से रहती ही है। इसलिये अगर हम त्याग का मूल्य करेंगे तो जनता त्याग की तरफ झुकेगी और भोग का मूल्य करेंगे तो भोग की तरफ़ झुकेगी। राजेन्द्र-स्मृति का सार यही है कि हम त्याग-भाव की स्तुति करें, जिससे जनसाधारण के मन की प्रवृत्ति उसी ओर बढ़े।
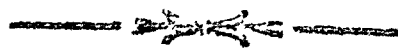
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि: एक महान् साहित्य-सेवी

सौभाग्यसिंह गोखरु एम. ए., एल. एल. बी. 'साहित्यरत्न'

जैन संस्कृति के माहात्म्य के सम्बन्ध में प्रोफेसर मेक्समूलर, बेरिस्टर चम्पतराय, महान् विदुषी एनीबिसेन्ट और कई जैनाचार्य व सन्तों का प्रायः एक मत है। सभी यह कहते हैं कि " जैन धर्म में जो बारीकी है वह अन्यत्र कहाँ ? " यह बात केवल जैन शास्त्रों का अध्ययन कर ही कही गई हो, सो नही है। इन सभी विद्वानोंने विश्व में प्रचलित सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद ही यह तथ्यपूर्ण बात कही है।

जैन सिद्धान्तों का प्रचार विशेष कर आचार्यों और सन्तोंने ही किया है। श्रावक तथा अनुयायी इस ओर से निश्चिन्त से रहे हैं। हाँ, यह तो मानना ही पड़ेगा कि कुछेक विदेशी विद्वानोंने इस दर्शन के प्रति अपनी अभिरुचि दिखलाई और वे अपने सत्प्रयास में बहुत आगे बढ़ गए हैं। इन उद्भट विद्वानोंने या तो इसे अपने जीवन का एक लक्ष समझ कर यह सत्प्रयास किया या 'जीवन में-सत्यं शिवं सुन्दरम् क्या है ?' इसकी खोज में अपने आपको खपा दिया। वस्तुतः इनका काम सराहनीय है। ऐसा करके इन्होंने विश्व का बड़ा उपकार किया है। ऐसे ही उद्भट विद्वानों और साहित्य-मनीषियों में श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि का स्थान है, जिन्होंने अपनी आत्मा के कल्याण के साथ ही साथ विश्व की बड़ी ही सच्ची साहित्य-सेवा की है। अनेक सन्त तपस्या कर अपनी आत्मा को उन्नत बनाने में रत देखे जाते हैं। उन्हें उससे बाहर कुछ करना नहीं सुहाता। उन्हें अपने दर्शन के, जिस के अन्तर्गत वे दीक्षित हुए हैं, प्रसार अथवा प्रचार की भी चिन्ता नहीं रहती। वे शास्त्रों का अध्ययन व मनन न करते हों ऐसी बात नहीं; पर वे अधिकतर 'स्वान्तः सुखाय' ही रहते है। अपने दर्शन का व्याख्यान करते भी हैं तो उनका अभिप्राय केवल अपनी सम्प्रदाय अथवा अपनी समाज को उससे विज्ञ करने या बनाए रखने के हेतु। आज जो दुनिया को सब से बड़ी बात मान्य है, व जिस का निशि-दिन प्रचार व प्रसार देखने में आता है वह यह कि 'सब के भले में अपना भला निहित है।' इस महान् तथ्य पर आज के कुछेक महापुरुषों का ही ध्यान एकाग्र हो पाया है और वे जी-जान से इस ओर जुट पड़े है। गांधीजी की अहिंसा जो जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है, विश्व में बड़े वेग से प्रश्रय पा रहा है और सभी राष्ट्र इस सिद्धान्त के तंत्र को स्वीकार करते, दिखाई दे रहे हैं। यह बात मैं मानने को तैयार हूँ कि 'जैन सन्त

कभी किसी का अनिष्ट नहीं करते, चींटी तक को कष्ट नहीं पहुंचाते।' इसलिये श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरि अपना भिन्न दृष्टिकोण रख कर संयम में विचरे और विशाल एवं व्यापक क्षेत्र में अपना साहित्यिक समस्त जीवन यापन किया। महान् विदूषी एनीविसेन्ट और चार्ल्स एण्ड्रूयूज़ को कौन नहीं जानता? वह भारतीय संस्कृति में ऐसे रंगे गए कि उन्हें अपना देश छोड़ कर भारतीय बनना पड़ा। विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रति उच्च धारणा बनाने में इनका विशेष हाथ है।

जैन दर्शन के प्रचार की अभी बड़ी आवश्यकता है और खास कर इस हाइड्रोजन और एटम बम के युग में। कुछेक साहित्य-मनीषियोंने अपने उन्नत्त मस्तिष्क और अथक परिश्रम से विश्व को आश्चर्य में डाल दिया है। वास्तव में काम भी ऐसा ही किया है जो दूसरों की शक्ति के बाहर की चीज है। श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरने 'बृहद्-राजेन्द्र-विश्व कोष' सात भागों में लिख कर विदेशी विद्वानों की आंखें खोल दीं, उनमें इसके दर्शन के प्रति उत्साह बढ़ा। विश्व के सभी बड़े पुस्तकालयों में इस ग्रन्थराज की प्रतियाँ सुरक्षित हैं जो विदेशी विद्वानों को जैन दर्शन और साहित्य की जानकारी कराने में सहायता करती हैं और उनके ऐसे मार्ग को सुगम बनाती है।

आचार्यश्रीने अपने जीवनकाल में लगभग इकसठ ग्रन्थों की रचना की जो उनके गंभीर अध्ययन, मनन और उनकी बुद्धिमत्ता एवं विद्वत्ता का परिचायक हैं। आचार्यश्री आज हमारे मध्य नहीं हैं; पर उनके द्वारा विरचित साहित्य उनके नाम का सदैव विश्व में जय-घोष करता रहेगा।

अब 'अभिधान राजेन्द्र प्राकृत महाकोष' पर संक्षेप में विचार किया जाता है। इस कोष की रचना बहुत सुन्दरता से की गई है अर्थात् जो बात देखना हो वह उसी शब्द पर मिल सकती है। संदर्भ इसका इस प्रकार रखा गया है। पहले तो अकारादि वर्णानुक्रम से प्राकृत शब्द, उसके बाद उनका संस्कृत में अनुवाद, फिर व्युत्पत्ति, लिङ्गनिर्देश और उनका अर्थ जैसा जैनागमों में मिल सकता है दिखला दिया गया है। बड़े बड़े शब्दों पर अधिकार-सूची नम्बरवार दी गई है जिससे हरएक बात सुगमता से मिल सकती है। जैनागमों का ऐसा कोई भी विषय नहीं रहा जो इस महा कोष में न आया हो। केवल इस कोष के ही देखने से सम्पूर्ण जैनागमों का बोध हो सकता है। और अकारादि वर्णानुक्रम से हजारों प्राकृत शब्दों का संग्रह है। इस महाकोष पर विचार करते समय मिल्टन की यह पंक्ति अनायास ही याद आजाती हैं:—

"A good book is the precious life blood of a master spirit embalmed and treasured up for life beyond life."

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरिने इस महाकोष की रचना करने में अपना जीवन ही समाप्त कर दिया। उन्होंने यह सत्प्रयत्न ऐसे समय में किया था जब विश्व को ऐसे महाकोष की बड़ी ही आवश्यकता थी। वास्तव में उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना कर साहित्यिक महारथियों में अपना नाम अमर कर लिया है।

आचार्यश्री का दूसरा ग्रन्थ 'सद्दंबुहि कोष' है। इस में अकारादिक्रम से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया गया है और उसके संस्कृत-अनुवाद के साथ उसका अर्थ हिन्दी में दिया गया है; किन्तु अभिधान राजेन्द्र कोष की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की हुई है। यह ग्रन्थ बड़े काम का है, परन्तु दुःख है कि यह अभी अप्रकाशित ही है।

इस प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थों की रचना कर आचार्यश्रीने जैन धर्मानुयाइयों पर तथा इतर जनों पर भी पूर्ण उपकार किया है।

आचार्यश्रीने जैनदर्शन और विश्व की जो साहित्य-सेवा की है वह सदैव चिरस्मणीय रहेगी। उनके मानस में यह बात अच्छी तरह घर कर गई थी कि जैन संस्कृति सत्साहित्य द्वारा ही जीवित रह सकती है और उन्होंने अपना जीवन इस दिशा में मोड़ दिया और उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई। उनके जीवनरूपी तराजू के दोनों पलड़े बराबर थे। उन्होंने अपनी आत्मा को उन्नत बनाने में भी कुछ उठा न रक्खा और जैनदर्शन को अनुप्राणित करने में भी अपना सारा जीवन ही लगा दिया। वे दूरदर्शी थे। उन पर यह प्रकट हो चुका था कि आगे चलकर जैनदर्शन की महत्ता तभी बनी रह सकती है, जब कि उसके मूल तत्वों को लेकर सत्साहित्य का विकास हो और अच्छे ग्रन्थों की रचना हो। उन्होंने केवल सोचा ही नहीं वरन् एक लगन और निष्ठा के साथ इस पुनीत कार्य को करके दिखा दिया। उन्हें अपने प्रयास से आशा से भी अधिक सफलता प्राप्त हुई और उनका यह प्रयास मूर्त्त-रूप होकर ही रहा। यहां के जैन और जैनेतर की तो बात ही क्या विदेशी विद्वान् भी उनके इस सत्प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते।
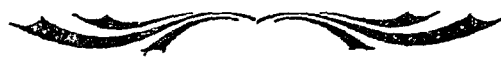
युगप्रवर्तक श्रीराजेन्द्रसूरिजी ।

निहालचंद फोजमलजी जैन. सेक्रेट्री–राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुड़ाला

वीसवीं सदी का युग और भौतिकवाद का उत्थान। समाज का धार्मिक जीवन पाखंडता. के नैतृत्व में श्वासोश्वास ले रहा था और लोगों का आकर्षण त्याग तथा आत्मकल्याण से हटकर विलास और भौतिक विकास की ओर वढ़ रहा था। मानव विज्ञान की सहायता से प्रकृति के आँगन में अनेक प्रयोग करने लगा। फलस्वरूप मानवने भौतिक सुख में खूब वृद्धि की। वह धर्म और तपस्या से हट गया। धर्म का स्थान धीरे २ विलासिता ले रही थी। युग के प्रभाव से कोई अछूता नहीं रहा। क्या राजनीतिज्ञ, क्या साधु; क्या संत, क्या राजा; क्या रंक समाज का हर अंग, हर पहलू वैज्ञानिक विकास से प्रभावित हो गया। हमारे जैन साधु भी इस भौतिकवाद से अछूते नहीं रहे।

मुगलवंश के ह्रास के साथ ही साथ जैन शासन की वागडोर साधुओं से निकलकर यतियों के हाथों में आने लगी थी। यति लोगों का ध्यान जनता के कल्याण की ओर न लगकर, भोली–भाली जनता पर हमेशा के लिये प्रभाव कायम रखने के लिये गया। उन्हें समाज के कुछ स्वार्थी तत्त्वों का बड़ा सहारा मिला। जैन इतिहास में यह पहला–पहला अवसर था, जबकि जैन शासन के कर्णधार जो कि त्याग, सेवा और तपस्या की दिव्यमूर्त्ति के रूप में विश्व–विख्यात थे, जिन्हें जिन्दगी के वैलासिक पहलू से वैराग्य था, वे ही अब विलासवाद और भौतिकवाद के कर्णधार वन गये। वे लोगों को सचे मार्ग से हटाकर अन्धविश्वास के अंध-कूप में ढ़केलने लगे। भोले-भाले लोग उनके प्रभाव में पड़ कर कठपुतली की तरह नाचते थे और उनकी उपासना का एक मात्र लक्ष्य वीतराग प्रभु से हट कर अन्य मिथ्यात्वी देवी–देवताओं; भूतों और प्रेतों की ओर गया। लोग प्रभु के वताये हुए सिद्धान्तों से दूर भटक गये।

जैन इतिहास त्याग और सेवा के उदाहरणों से भरा पड़ा है। जब कभी भी समाज के व्यवहारिक पहलू में विलासिता का जोर होता है, मानव की आत्मा चारों ओर ठोकरे खाकर निराश हो जाती है और उस समय कोई न कोई महापुरुष जन्म लेकर त्याग, वलि-दान, सेवा के बल से लोगों की आत्मा को शान्ति देता है और उनकी भटकी हुई निराश आत्मा का नैतृत्व कर उनको आत्मकल्याण का मार्ग दिखाता है।

समाज एक ऐसी संगीन स्थिति में गुजर रहा था। उन यतियों में भी उक्त यति था, बिल्कुल साधारण आकृति, तेजस्वी, दुबला-पतला, केवल हड्डियों का ढाचा, साधारण वस्त्र-धारी, घुटनों तक चोलपटा; परन्तु महात्यागी साधु। शरीर को देख कर यह नहीं कहा जा सकता था कि यही पुरुष साधु व यति समाज की गन्दगी को समूल जला देगा। इस क्षीणकाय व्यक्तिने, लोगों की जिन्दगी की पतवार को जो कि अन्ध विश्वास व भौतिकता के भँवर की ओर जा रही थी, जिसके खीवैया लालची व भोगी थे, सच्चे मार्ग की ओर मोड़ दिया। उन्होंने समाज में एक ऐसी तरंग फैलाई कि लोगों की भावनाओं में एक क्रांतिकारी तूफान आ गया और वे यतियों के पाखंडपूर्ण शासन से छुटकारा पाने के लिये कटिबद्ध हो गये। फलस्वरूप अंत में यतियों का प्रभाव हट गया और जैन शासन एक नई जिन्दगी पाने लगा।

मैं इस महापुरुष के जीवन पर कुछ भी नहीं लिखना चाहता। मैं ने उनके जीवन में क्या देखा उसके बारे में कुछ लिखूँगा। साधु-जीवन ग्रहण करने के बाद उन्होंने जो प्रथम कार्य किया वह था साधु-समाज में सुधार। साधु-जीवन को आधुनिक भौतिकवाद के प्रभाव से हटाने का श्रेय इसी महान् पुरुष को है। साधु साधारण आदमी का आत्मकल्याण के मार्ग में नैतृत्व करता है। वह अपनी सादगी, त्याग और तपस्या से जनता की आत्मा पर एक अमिट छाप छोड़ता है, जिससे आत्मा का आकर्षण त्याग, सादगी और तपस्या की ओर बढ़ता है। साधारण जनता की रुचि इस प्रकार धर्म की ओर मुड़ जाती है। जहाँ आत्मा को एक अलौकिक सुख का आभास होता है, वहीं सच्चा सुख है। मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरों का नुकसान कर बैठता है। जब उसका दायरा बढ़ जाता है तो वह निर्भीक होकर निरीह व निर्बल लोगों को सताता है। वह दूसरों के हकों को छीन कर बहुत खुश होता है। फलस्वरूप जनता उसके अत्याचारों से तंग आकर विद्रोह कर बैठती है और उसका क्षणिक सुख जो कि वह कभी न समाप्त होनेवाला समझता था, समाप्त हो जाता है। विश्व-इतिहास इसका साक्षी है। इतिहास इस प्रकार के संघर्षों का लेखा है। यदि 'जीओ और जीने दो" सिद्धान्त का पालन किया जाय जो कि सत्य, अहिंसा, प्रेम और सेवा पर आधारित है, तो संभव है संसार में शांति स्थायी हो सकती है। साधारण मनुष्य में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वह इस गहन विषय में इतना गहरा उतरे। ऐसी परिस्थिति में साधुओं का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे समाज के हर पहलू पर, हर कदम पर पहरा देवें। समाज में ऐसी प्रकृति बढ़ने नहीं देवें। यह उसी समय संभव हो सकता है, जबकि साधु का स्वयं का जीवन त्याग और संयम की भावना से ओतप्रोत हो। जैनक्षेत्र में इस सिद्धान्त का मर्म सब से पहले बीसवीं शताब्दी में इसी महापुरुषने समझाया। उन्होंने ऐसे विलासी यतियों का डट कर विरोध किया। पहले-

पहल विलासी यतिओं के जादू-टोनों से प्रभावित जनता सूरिजी के इस मर्म को समझ नहीं सकी, किन्तु धीरे-धीरे जनता यतियों के प्रभाव से हटने लगी और साधुओं में फिर त्याग और तपस्या का प्रभाव बढ़ने लगा। इस प्रकार उन्होंने जैन शासन की उन्नति में नई प्रेरणा दी।

राजेन्द्रसूरिजी का दूसरा महान कार्य था धर्म से पाखंडता का नाश करना। जो आदमी जैसा कार्य करेगा, वह वैसा ही भोगेगा। कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा, इस सिद्धान्त को उन्होंने साधारण आदमी के सामने रक्खा। उन्होंने प्रभु की उपासना का सच्चा महत्त्व बताया।

आदमी का वर्तमान जीवन उलझन-भरा है। वह इस युग में व्यवहारिक पुद्गलों में इतना उलझ गया है कि उसे सोचने को समय ही नहीं मिलता कि वह किस ओर है। यही कारण है कि वह ' जीओं और जीने दो ' सत्य, अहिंसा, सेवा और प्रेम के सिद्धान्तों को भूल कर अपनी सीमा को लांघ चुका है। फलस्वरूप विश्व संघर्ष का एक अखाड़ा बन गया है और विश्वशांति एक खतरे में पड़ गई है। वह भगवत्-पूजा और उससे होनेवाली शान्ति और सद्भावों की प्राप्ति को भूल गया है। भगवान की दिव्यमूर्त्ति को देखते ही भगवान् के वे सिद्धान्त ' सत्य, अहिंसा, सेवा और प्रेम ' दिमाग में प्रवेश करते हैं और वे आदमी को दूसरों की सीमाको लॉघने से रोकते हैं। सूरिजीने सच्ची पूजा, सच्ची उपासना और सच्चे धर्म का मर्म समझाया।

सूरिजी का साधु-जीवन त्याग और तपस्या का ज्वलंत उदाहरण है। कड़ी के कड़ी सर्दी में भी उन्होंने कभी ऊनी कपड़ों का प्रयोग नहीं किया। एक चादर और एक चोलपटा पहने वे कड़ाके की सर्दी गुजार देते थे। सच्चे साधु को आराम से क्या मतलब। सच्चे साधु के पास आराम के लिये समय ही कहां? जबकि कार्य का एक विस्तृत क्षेत्र पड़ा है। उनका ध्येय तो इच्छाओं का दमन है। जबतक इच्छाओं का दमन नहीं होता, तबतक आत्मा चलायमान रहती है। ज्योंहि इच्छाओं पर विजय पा ली, आत्मा पांचो ज्ञान को प्राप्त कर लेगी। यह सच्ची मुक्ति है।

इसके अलावा इन्होंने सबसे महान् कार्य जो किया है वह है साहित्य-उपासना। किसी भी समाज में जागृति व क्रान्ति फैलाने का श्रेय उसके साहित्य को है। वे साहित्य द्वारा समाज में शिक्षा, जागृति, सामाजिक सुधार करना चाहते थे। उन्होंने अपने साधु-जीवन का आधा भाग साहित्य-उपासना में लगाया। आप जैन दर्शन व साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। लोगों में क्रान्ति की भावना पैदा करने में इनके साहित्य ने बहुत मदद की। अनेक गूढ़ सिद्धान्तों व नियमों का विश्लेषण कर इस महान-पुरुष ने जनता के भटके हुए मनको सच्ची वीतराग उपासना में लगाया। उनकी साहित्य-उपासना की सबसे बड़ी देन है ' राजेन्द्र

अभिधान कोष ' जो कि ७ भागों में विभक्त है। आपके स्वयं के लिखे हुए छोटे-बडे ६१ ग्रन्थ हैं। उनकी अकस्मातिक मृत्यु से हमारा एक महान् कर्णधार और सुधारक उठ गया है।

इस महान् पुरुष के स्वर्गवास को आज ५० साल पूरे होने को हैं और आज हमारे सामने समाजसेवा के अनेक मार्ग खुले हैं। आशा है-इस पुनीत अवसर पर जैन शासनके कर्णधार उनके अधूरे कामों को पूरा करने की प्रतिज्ञा करेंगे। शुभम्।

गुरुदेवरचित सिद्धहैम प्राकृत टीका

साध्वीजी श्री हेतश्रीजी

जिन महाविभूति की अर्द्ध शताब्दी मनाई जा रही है, वह उनके किये यशस्वी शुभ कार्य के अनुरूप ही है। यद्यपि विश्व में उनकी कृतियाँ साहित्य के क्षेत्र में सदा ही अमर बनी रहेंगी, तथापि हमारा कर्तव्य है कि उपकारी पुरुषों के उपकार का कुछ बदला अपनी श्रद्धाभक्ति के सुमनों को अर्पण कर अन्तःकरण से उनके कार्य के प्रति श्रद्धांजलि के साथ उनके निर्मलतम अलौकिक यशोगुण का गायन करें।

परम पुनीत प्रातःस्मरणीय महान् ज्योतिर्धर गुरुदेव प्रभु—श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की कृतियों में से 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोष' तो सर्वत्र ही विद्वद्भोग्य सिद्ध हुआ है; परन्तु आपने प्राकृत व्याकरण पर जो टीका रची है उसीका इसमें परिचय कराया जा रहा है। समर्थ कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचंद्राचार्यने सिद्धराज–जयसिंह की प्रार्थना को स्वीकार कर जिस सिद्धहैम व्याकरण की रचना की है, उसमें सात अध्याय तो पाणिनी की भांति संस्कृत विषय को ही लेकर बनाएँ गये हैं। ८ वाँ अध्याय, पाणिनी ने जिस तरह से वैदिक प्रक्रिया को लेकर बनाया है, उसी तरह से जिनेश्वर भगवानप्रणीत आगमों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्राकृत की पूरी २ आवश्यकता समझी जाकर प्राकृत व्याकरण की रचनाएँ समय–समय पर होती रही हैं। उन में से 'सिद्धहैम' ही एक ऐसी व्याकरण है जो प्राकृत ज्ञान के लिये पर्याप्त कही जा सकती है। अन्य व्याकरणों की अपेक्षा सिद्धहैम व्याकरण कई बातों में अपनी विशेषता रखती है। कहा है—

> भ्रातः ! संवृणु पाणिनीयलपितं कातन्त्रकन्था वृथा,
> मा कार्षीः कटु शाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम् ? ।
> किं कण्ठाभरणादिभिर्जठरयत्यात्मनमन्यैरपि ।
> श्रूयन्ते यदि तावदर्थ मधुराश्रीसिद्धहेमोक्तयः ॥ १ ॥

व्याकरणों में शाकटायन व्याकरण को आजकल प्राचीन मानी जाती हैं। इसके रचयिता शाकटायनमुनि एक जैनाचार्य ही थे। यद्यपि वर्तमान समय में पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अधिक मात्रा में प्रचलित है, तथापि पाणिनीने अपनी व्याकरण में प्राचीनतम व्याकरण रचयिताओं का सादर नाम सूचित किया है। जैसे 'त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ८।४।५०

लङ्: शाकटायनस्यै व ३ । ४ । १११ तथा व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८ । ३ । १८ सर्वत्र शाकल्यस्य ८ । ४ । ५१ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६ । १ । १२० लोपः शाकल्यस्य ८ । ३ । १९ अवङ् स्फोटायनस्य ६ । १ । १२२ इत्यादि पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रों से यह स्वयं जाना जा सकता है कि प्राचीन समय से ही व्याकरण का विषय महत्वभरा रहा है। व्याकरण का विषय कठिन ही होता है, फिर भी व्याकरण को सुगम बनाकर पठन-पाठनोपयोगी बना देने पर ही रचयिता का परिश्रम सफल एवं सिद्ध होता है।

सिद्धहैम व्याकरण की रचना सुगम और पठन-पाठन के लिये अतीव उपयोगी सिद्ध हो चुकी है। आठवें अध्याय में प्राकृत विषय देकर प्राकृत ज्ञान का सारा विवरण बड़ी ही उत्तम शैली से बतलाया गया है।

इस प्राकृत ज्ञान की आवश्यकता को पूरी करने के लिये अनेक टीकाएँ अलग २ संस्कृत एवं अन्य भाषादि में बनाइ गई हैं।

गुरुदेव श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज सा० रचित 'प्राकृत व्याकृति टीका' 'श्रीराजेन्द्रीय टीका' का ही यहां पर परिचय कराना आवश्यक समझा गया है।

श्रीसिद्धहैम का ८ वॉ अध्याय प्राकृत व्याकरण के नाम से भी प्रसिद्ध है। वर्तमान में उपलब्ध टीकाओं में से इस 'राजेन्द्रीय प्राकृत टीका' की अपनी नई विशिष्टता है। इसके पढ़ने से विद्यार्थियों को मूल सूत्र के साथ साथ संस्कृत-श्लोकों से सारी बातों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है। श्लोक में ही सूत्रों की वृत्ति उदाहरण के साथ एवं शब्दप्रयोग की सिद्धि सरल पद्धति से की गई है। यह प्राकृत शब्दसागर श्री अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग में प्रथमतया प्रकाशित की गई है। साथ ही में शब्दरूपावली भी बतलाई गई है जिस से प्राकृत शब्दों के रूप वैकल्पिक एवं आर्ष प्रयोग भी अच्छी तरह से जाने जा सकते हैं। फिर भी इस टीका का ध्येय यही रहा हुआ मालूम होता है कि सामान्य संस्कृतज्ञ भी इस टीका से प्राकृत का ज्ञान भली भांति कर सकता है। रचयिता का परिश्रम पठन-पाठन में सुगम एवं अतीव उपयुक्त हुआ ही सर्वत्र दृष्टिगोचर हुआ है।

प्रस्तुत प्राकृत व्याकृति-श्री राजेन्द्रीय प्राकृत टीका आबालवृद्धों के लिये अतीव उपयोगी एवं तद्विषयक सारी सामग्री से परिपूर्ण है। अन्य भी आप की रचित व्याकरण टीकाओं में 'सारस्वत चंद्रिका' आदि पर भी टीकाएँ हैं। जिनमें से यही एक टीका प्रकाशित हो चुकी है। यह टीका प्राकृत जिज्ञासुओं के लिये बड़े भारी महत्त्व की मानी जाती है। प्राकृत व्याकरण का बोध होना प्राचीन काल से अत्यावश्यक माना जा रहा है। प्राकृत एवं संस्कृत

का घनिष्ठ संम्बन्ध है यह बात संस्कृत शब्द से ही जानी जाती है। कतिपय नाटकों में स्त्रियों की उक्ति प्राकृत में ही बतलाई गई है। इसका मुख्य कारण यही रहा है कि यह प्राकृत भाषा हमारी स्वाभाविक या मूल भाषा रही है। जैनागम और जैन साहित्य-रचना में प्राकृत का एक उच्चतम स्थान रहा है। आज प्राकृत भाषा का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिये इस टीका का बड़ा भारी महत्त्व रहा है। 'अव्याकरणी नरः पङ्गुः' इस हेतु से ही प्राकृत व्याकरण पर यह टीका रचने का उद्देश्य माना गया है।

दिशा-परिवर्तन

साध्वीजी श्री मानश्रीजीचरणरेणु-श्री उत्तमश्रीजी

जब गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने विरक्त मन हो श्रमण-धर्म में प्रवेश किया, तब हमारी त्यागी यति-समाज में शैथिल्य का साम्राज्य छाया हुआ था। यति-संघ त्याग के मार्ग से च्युत हो कर भोग के प्रलोभन से इतस्ततः भटक गया था। जहाँ आत्म-साधना के मार्गों का आश्रय किया जाता है, वहाँ जादू-मंत्रों आदि का प्रचार जोर-सोर से बढ़ गया था। जहाँ 'तिन्नाणं तारयाणं' की मंगलमय साधना होती थीं, वहाँ छल-कपट-प्रपंच के जाल बिछ रहे थे। जहाँ तक संयम-साधना में सहायक हो, वहां तक ही श्वेत मानोपेत और जीर्णप्राय वस्त्र रखने की शास्त्रीय आज्ञा है, वहां रंगबिरंगे भांति-भांति के मन-मोहक एवं नयनाभिराम बहुमूल्य दूशालों और अन्य प्रकार की वस्तुओं का सजीव-अजीव के भेदों के संकोच के विना संग्रह होने लगा था। जहाँ स्वाध्याय-ध्यान, पठन-पाठन और आत्म-चिंतन के लिये ही समय का प्रत्येक पल लगाने की जिनाज्ञा है, वहाँ निंदा और वाक्-चातुर्य के बल अनेक प्रकार के छलकपट पूर्ण होते जा रहे थे।

भक्तवर्ग योग्य नैतृत्व के विना सत्पथ से दूर हटता जा रहा था। ऐसी स्थिति गुरुदेव के लिये कदापि सह्य नहीं थी। गुरुदेवने त्यागी यतिमंडल को इस तथाकथित भयावह मार्ग को त्याग करने का और आत्मश्रेयष्कर सत्पथ की ओर बढ़ने का जब आह्वान दिया, तब उन्हें ऐसी कठोरतम परिस्थिति से प्रसारित होना पड़ा कि जिसे भुक्तभोगी ही जान सकता है। आते हुए परिषहों को धीरतापूर्वक सहते हुये भी आपने विरक्त संघ को शैथिल्य के गर्त से निकाल कर अंतमें सुविशुद्ध मार्ग की ओर अग्रसर किया। और कहीं वे पुनः सुमार्ग से च्युत न हो जाय इस वस्तु को लक्ष्य में रख कर नव नियम (समाचारीकलमें) भी बनाए जिनको तात्कालिक यति श्रीपूज्य (श्रीपूजक ?) धरणेन्द्रसूरि से स्वीकृत करवा कर यतिवर्ग में प्रच-लित करवाया। भली प्रकार ज्ञात होता है कि आप को कार्य से मतलब था न कि कीर्ति-कमला से। वे ९ नियम (कलमें) विक्रम संवत् १९२४ माघ सुदि ७ को **श्री पूज्य धरणेन्द्रसूरि** की सहीके साथ स्वीकृत हो कर नियमरूप में कार्यान्वित हुये थे।

'स्वस्ति श्रीपार्श्वजिनं प्रणम्य श्री श्री कालंद्रीनयरतो भ. श्री श्री विजयधरणेन्द्रसूरि यस्सपरिकरा, श्री जावरानयरे सुश्रावक पुन्यप्रभावक श्री देवगुरुभक्तिकारक सर्वावसरसावधान बहुबुद्धिनिधान संघनायक संघमुख्य समस्त संघ श्री पंचसरावकां जोग्य धर्मलाभपूर्वकं लिखितं यथाकार्यं,

चारित्रधर्मकार्य सर्वनिरविघनपणे प्रवर्त्ते छे. श्री देवप्रसादे तथा संघना विशेषधर्मोद्यम करवा-पूर्वक सुख मोकलवा सर्व विधि व्यवहार मर्यादा जास प्रवीन गुणवंत भाग्यवंत सुधर्म दीपता विवेकी गृहस्थ संघ हमारे वणी वात छे जे दिवसे संघने देखस्युं वंदावस्युं ते दिवसे आनन्द पामस्युं तथा तुमारी भक्ति ग्रहस्थें करी श्रीतपागच्छनी विशेष उन्नति दिसे छे. ते जाण छे. उपरंच तुमारे उठे श्रीपूज्यजी विजयराजेन्द्रसूरिजी नाम करके तुमारे उठे चौमासो रह्या छे. सो अणा केने हमारे नव कलमा बावत खिंची थी सो आपस में मिसल वैठी नहीं............ इणा को नाम रत्नविजयजी हे हमारा हाथ निचे दफ्तर को काम करता था। जणी की समजास वदले हमों वजीर मोतिविजे, मुनि सिद्धकुशलने आप पासे भेज्या सो आप नव कलमां को बन्दोबस्त वजीर मोतिविजय पास हमारे दसकतासुं मंगावणो ठेरायो ने दो तरफी सफाई समजास कराई देणी सो बोत आछो कियो। अवे श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी के साधु छे जणाने भी वजीर मोतिविजे के साथ अठे भेजाइ देसी सो आदेस सदामद भेजता आया जणी मुजब भेज देसां. अणाकी लारां का साधुवांसुं हमे कोयतरे दुजात भाव राखां नहीं ओर नव कलमां की विगत नीचे मंड़ी हे जिस माफक कवूल हे जणी की विगत—

१–पेली–पडिकमणो दोय टंक को करणो, साधु श्रावक समेत करणो–करावणो, पच-खाण वखाण सदा थापनाजी की पडिलेहण करणा, उपकरण १४ सिवाय गेणा तथा मांद-लिया जंतर पास राखणा नहीं, श्रीदेहरेजी नित जाणा सो सवारी में वैठणा नहीं पैदल जाणा।

२–दूजी–घोड़ा तथा गाड़ी उपर नहीं वेठणा, सवारी खरच नहीं राखणा।

३–तीजी–आयुद्ध नहीं राखणा तथा गृहस्थी के पास का आयुध गेणा रुपाला देखे तो उनके हाथ नही लगाणा तमंचा शस्त्र नहीं रखणा।

४–चोथी–लुगाइयॉसुं एकान्त वेठ वात नहीं करणा, वैश्या तथा नपुंसक वांके पास नहीं वेठणा उणाने नहीं राखणा।

५–पांचमी–जो साधु तमाखु तथा गांजा भांग पीवे, रात्रिभोजन करे, कांदा लसण खावे, लंपटी अपचक्खाणी होवे एसा गुण का साधु होय तो पास राखणा नहीं।

६–छट्ठी–सचित्त लीलोति काचा पाणी वनस्पतिकुं विणासणा नहीं काटणा नही दातण करणा नहीं तेल फूलेल मालस करावणा नहीं तलाव कुवा वावडी में हाथ वोवडणा नहीं।

७–सातमी–सिपाई खरच में आदमी नोकर जादा नहीं राखणा, जीवहिंसा करे ऐसा नोकर राखणा नहीं।

८–आठमी–गृहस्ती से तकरार करके खमासमण प्रमुख रुपिया के वदले दवायन लेणा नहीं।

९–नवमी–ओर किसीकुं सद्दहणा देणा श्रावक–श्राविकाने उपदेश शुद्ध परुपणा देणी

ऐसी परुपणा देणी नहीं जणी में उलटो उणा को समकित बिगडे ऐसी परुपणा देणी नहीं। ओर रात को वारणे जावे नहीं ओर चोपड़ सतरंज गंजीफा वगेरा खेल रामत कहीं खेले नहीं केश लांबा वधावे नहीं पगरखी पेरे नहीं और शास्त्र की गाथा (५००) पांच सौ रोज सज्झाय करणा।

इणी मुजब हमें पोते पण बराबर पालांगां ने ओर मुंडे अगाड़ी का साधुवां ने पण मरजादा मुजब चलावांगा ने ओर श्रीपूज आचार्य नाम धरावेगा सो बराबर पाले ही गा, कदाच कोई उपर लख्या मुजब नहीं पाले ने किरिया नहीं सांचवे जणीने श्री संघ समजायने कह्यो चाहिजे श्री सघरा केणासु नहीं समजे ने मरजादा मुजब नहीं चाले जणां श्रीपूज्य ने आचार्य जाणणो नहीं ने मानणो नहीं। श्री संघ की तरफ सुं अतरो अंकुश वण्यो रखावसी तो उपर लख्या मुजब श्रीपूज्य तथा साधु लोग अपनी अपनी मुरजादा मुजब बराबर चालसी कोई तरेसुं धर्म की मुरजादा में खामी पड़सी नहीं। श्री संघने उपर लख्या मुजब बन्दोवस्त जरूर राख्यो चाहिजे. अठासुं हमारे साधु लोगारां दसकत करायने भेज्या हे सो देख लेरावसी सं. १९२४ माह सुदि ७। पं. मोतिविजेना दसकत. पं. देवसागरना दसकत. पं. केसर-सागरना दसकत. पं. नवलविजेना दसकत . पं. विरविजेना दसकत. पं. खीमाविजेना दसकत. पं. लब्धिविजेना दसकत. पं. ज्ञानविजेना दसकत. पं. सुखविजेना दसकत।'

ये हैं नव कलमें, जो यतिपूज्य धरणेन्द्रसूरि से स्वीकृत करवाई गयी थीं। इनकी वाक्यावली से हम उस समय की त्यागी समाज की शिथिलावस्था को भली भाँति समझ सकते हैं और योगीन्द्र राजेन्द्रसूरीन्द्र के संघसुधार की उच्चतम भावना को भी। हाँ नियमगत वाक्यावलियों की सहाय से तत्कालीन स्थिति का भी अवलोकन करलें—

(१) उस समय का यतिसमाज जैन मुनि को उचित ऐसे आवश्यक विधिविधान के पालन में शिथिलाचारी था, तभी तो गुरुदेव प्रथम नियम में ही प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, प्रत्याख्यान करने के लिये खास भार देते हैं तथा यंत्र, मंत्र और तंत्रक्रिया से साधुवर्ग को परे रहने को और साधु को अग्राह्य ऐसी धातु की वस्तुओं को संग्रह नहीं करना कहते हैं। यति एवं साधु कंचन-कामिनी के त्यागी होते हैं ऐसी शास्त्रीय आज्ञा को गुरुदेवने श्रमण-संघ को समझा कर आचरण कराने को कहा है।

(२) यतिसमाज घोड़े, रथ, पालखी इत्यादि वाहनों में बेशुमार धन व्यय करता था, तभी तो इस द्वितीय कलम में गुरुदेव वाहनादि नहीं रखने का स्पष्टतया निषेध करते हैं। शास्त्र भी साधु को गमनागमनक्रिया किसी वाहन के उपयोग के विना ही करने की आज्ञा देते हैं।

(३) यतिमंडल अपने को जनता के गुरु होने से राजा-महाराजा की पंक्ति में गिनते थे। तलवार, भाला, बरछी आदि विविध आयुधों का संग्रह करते थे, तभी इस तृतीय कलम में उनका रखना अयोग्य कहा जा कर मना किया गया है। धर्मराज के संचालक को तो अहिंसा,

सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यही सात्विकायुध शोभा देते हैं । अन्य नहीं । साधु वास्तव में अहिंसा की प्रतिकृति है, संसार के संत्रस्त प्राणी यहाँ आ कर अभय होते हैं और यदि यहां भी भय का साम्राज्य हो जाय तो प्राणी कहां जाकर अभयलाभ प्राप्त कर सकते है? ।

(४) स्त्रियों के साथ एकान्त स्थल में बैठ कर वार्तालाप नहीं करना और न वेश्या तथा नपुंसकादि को प्रश्रय ही देना इस चौथी कलम में कहा गया है । इस से ज्ञात होता है कि यतिसमाज साध्वाचार के मूलगुण ब्रह्मचर्य के पालन में शिथिल हो कर कामवासना के ज्वर से उत्पीडित हो अनाचार करने में रत हो गया था । तभी तो बालब्रह्मचारी गुरुदेव यतिसमाज को सावधान करते हैं । वास्तव में श्रमण तभी श्रमणत्व को प्राप्त हो सकता है कि जब वह पंचयाम व्रतों को चारुतया पालन कर उन्हें आत्मसात् करलें । जो श्रमण वास्तव में ब्रह्मचर्य पालन में शिथिल है वह श्रमण नहीं पापश्रमण है ।

(५) व्यसनों का गुलाम बन कर प्राणी आत्मसाधना में आलस्याभिभूत हो प्राप्त समय एवं सामग्री का सदुपयोग नहीं कर दुरुपयोग ही कर बैठता है और जिसका फल संसार-भ्रमण प्राप्त होता है । इस पांचवीं कलम का आशय यतिमंडल को व्यसनों की कातील गुलामी से परे करना ही है । तभी उन्हें भांग-गांजा-अफीम-तमाकू इत्यादि नशीली एवं तामसी वस्तुओं का उपभोग नहीं करने को कहा गया है । गुरुदेवने इस नियम में यतियों को व्यसन और तत्सेवी व्यसनियों का सहवास नहीं करने का स्पष्टतया निषेध किया है ।

(६) शास्त्रों में साधु को साधुजीवन में प्रविष्ट होने के पश्चात् स्नान-विलेपनादि शृंगारिक सामग्री का उपभोग करने की मनाई की गई है । त्यागीवर्ग त्रिकरण, त्रियोग से महाव्रतों को धारण करनेवाले होते हैं । अतः उन्हें ऐसी प्रवृत्तियाँ कदापि शोभा नहीं देतीं । दशवैकालिक सूत्र में इन शृंगारिक प्रवृत्तियों को अनाचार कहा गया है । स्नानादि के अतिरिक्त सचित्त वनस्पत्यादि का सेवन भी होता होगा, तभी इस कलम में इस प्रकार के कार्यों को नहीं करने का कहा गया है । गुरुदेव त्यागी वर्ग को वास्तविक श्रमणत्व का रहस्य समझा कर उसमें उन्हें सुदृढ़ करने के लिये कितने जाग्रत एवं प्रयत्नशील थे इस का मर्म इस नियम से भलीभाँति ज्ञात हो सकता है ।

(७) यति लोग राजाओं की तरह अपने पास भी छोटा सा सैन्य रखते थे, तभी इस नियम में इस विषय को स्पष्ट किया गया है । इस नियम की शब्दमाला से यह भी भली प्रकार स्पष्ट है कि युगप्रभावक महापुरुषों को ऐसी परिस्थितियों से प्रसारित होना पडता है कि जो विचित्र होती हैं । जिससे बाध्य हो कर सही बात को शब्द-परावर्तन के साथ प्रगट करनी पडती है; क्योंकि पार्श्वस्थों के सामने यदि सही बात को सही रूप में रख दी जाय

तो वे उसे नहीं मानते हुए विशेष उच्छृंखल हो कर पतन के गहरे गर्त में ढह जाते हैं। अतः युग-प्रभावक को ऐसी परिस्थिति में वातावरण को देखते हुए सही बात को शाब्दिक परावर्तन के साथ प्रकाशित करनी पड़ती है। तभी इस कलम में यतिवर्ग को नौकरादि नहीं रखना यों स्पष्टरूप से नहीं कहते हुए कहा गया है, " सिपाई खर्च जादा नहीं रखना और जीव-हिंसाप्रिय नौकरादि नहीं रखना।"

(८) ' गृहस्थानां यद्भूषणं स्यात्, तत्साधूनां दूषणम् स्यात् । यद् साधूनाम् भूषणं स्यात्, तत् गृहस्थानाम् दूषणं स्यात् ।' परिग्रह संयमी वर्ग के संयम का घातक है। क्यों कि धनादि का संचय ही वास्तव में दुःखमूलक और साध्वाचार से विपरीत हैं । उस समय का त्यागी वर्ग धनादि का संचय करने में दत्तचित्त हो गया होगा, तभी इस अष्टम कलम में गुरुदेव यह स्पष्ट करते हैं, " अनुयायी गृहस्थों को दवा या सता कर अथवा उन्हें परि-स्थितियों से बाध्य कर उनसे द्रव्यादि अग्राह्य वस्तु नहीं लेना "। इससे स्पष्ट है कि उस समय के त्यागी धन के गुलाम हो गये होंगे, तभी इस बात को इस प्रकार के शाब्दिक परा-वर्तन से कही गया है। यदि उस समय यह बात स्पष्ट कही जाती तो संभव है यह होती हुई सुधारणा भी असंभव हो जाती। तभी आदर्शतम बात को शाब्दिक परावर्तन के साथ उप-स्थित करनी पड़ी है।

(९) श्रावक, श्राविकाओं को असत्य एवं आमकोपदेश नहीं देना, चोपड़, सतरंज, गंजीफादि नहीं खेलना, मस्तक पर केश नहीं बढ़ाना, जूते नहीं पहनना और नित्य पंचशत (५०० सौ) गाथाप्रमाण स्वाध्याय करना। इस आशय की बातें इस चरम एवं नवमी कलम में कही गई हैं। ये निकृष्टतम प्रवृतियां भी यतिवर्ग में अवश्य प्रवृत्तमान होंगी, तभी इनसे दूर होने को इस कलम में फरमाया गया है। गुरुदेव साधुसमाज को वास्तव में साधुधर्म के सुगूढ़तम रहस्यों को समझा कर उसके जीवन को उच्चतम एवं आदर्शतम बनाने को कितने जागरूक थे यह बात इन नव समाचारी कलमों से ध्वनित होती है।

वास्तव में आप जन्मसिद्ध युगप्रभावक एवं जैन संघ में से पाखण्डपरम्परा को नाम-शेष करनेवाले हैं। आपका त्याग वास्तव में त्याग था कि यतिवर्ग के बाह्याडंबरीय दिखावे से एवं, यदि आप सही सत्य त्यागी नहीं होते तो, अत्याचारों से समाज को नहीं बचा सकते थे। आपने स्वयंने त्याग की वास्तविकता को समझ कर आत्मसात् किया और संसार को भी श्रीवीर के त्यागमय मार्ग को समझाया।

वंदन हो ऐसे विमलमति युगप्रभावक के चरणों में।

सत्य मार्गदर्शन ।

साध्वीजी भावश्रीजी अन्तेवासिनी श्रीमुक्तिश्रीजी

राजेन्द्र मुनिपति से चला यह त्रिस्तुतिक नवपंथ है ।
यह कह रहे, नहिं जानते जो निगम-आगम-ग्रंथ हैं ॥
सर्वज्ञ-अनुमोदित तथा सच्चा सनातन धर्म है ।
जैनागमों को देखिये जिनमें भरा यह मर्म है ॥ १ ॥
यह सत्य है, इसका हुवा था लोप-सा कुछ काल से ।
बस चार स्तुति करने लगे हम विघ्न-भय विकराल से ॥
फिर 'सूरिवर राजेन्द्र' ने इसका किया परिशोध है ।
'राजेन्द्रमत' कहना इसे यह तत्त्वहीन विरोध है ॥ २ ॥

यह तर्कसिद्ध वस्तु है कि सत्पुरुष असत्य एवं अप्रमाणिक वस्तु या मार्ग को ग्रहण नहीं करते । वे तो प्रत्येक मार्ग में प्राणीमात्र के कल्याण का भाव सन्निहित हो इस बात को प्रथम देखते हैं । गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजीने जब जावरा (मध्यभारत) में क्रियोद्धार कर के सत्साधुत्व को ग्रहण किया था, उस समय समाज का भावी तो तिमिराच्छादित लगता ही था; वर्तमान भी पाखंड़पूर्ण एवं अतिचारप्रिय था । देव और देवियों की मान्यताने बढ़ कर वीतराग भगवान् के महत्व को भी पीछे ढ़केलना अपना मुख्य कार्य बना लिया था । गुरुदेवने इस शैथिल्य को आगमिक और पूर्वाचार्य महर्षिकृत शास्त्रप्रमाणों से दूर करने का निश्चय किया । उन्होंने सोचा कि इस समय समाज जिस मार्ग पर चल रहा है, यह संघ के लिये हानिकर है । इससे समाज को बचाना मेरा परम कर्तव्य है । ऐसा निश्चय कर आपने 'श्रीत्रिस्तुतिक सिद्धान्त' को पुनरुज्जीवित किया । इस सिद्धान्त के उदय होते ही समाज के भी अज्ञ नेत्र खुल गये और गुरुवर का प्रभाव तथा उनका यह प्रचारित (उद्धारित) मन्तव्य दिनानुदिन बढ़ने लगा, जिसके फलस्वरूप आज यह 'आर्य सत्य सनातन सिद्धान्त' प्रकाशमान है ।

यद्यपि इस सनातन सत्य सिद्धान्त को पुनः प्रचारित करने में गुरुदेव को अनेकानेक शास्त्रार्थ करने पड़े और शारीरिक परिषहों का सामना करना पड़ा, परन्तु जो जन्मसिद्ध युग-प्रभावक धर्मवीर त्यागी हैं और हैं वीतराग के उपासक, वे कदापि हतधैर्य एवं चलित नहीं

होते। आपके सन्मुख जो भी समस्याएँ आयीं आपने उनका ऐसा निरसन किया कि प्रतिक्रियावादियों की प्रतिक्रियाएं सदा शिथिल और विफल ही रहीं। प्रतिक्रियावादियों को आपका कहना यही था कि हम जैनधर्मावलम्बियों का प्रत्येक अनुष्ठान अध्यात्मलक्षी होता है। जैनदर्शन हम को संसार के सावद्य–पापजन्य मार्गों से अलग कर निवृत्ति की ओर ही ले जाता है। वास्तव में निवृत्तिप्रधान कार्य ही हम को कर्म से दूर कर, शाश्वत और अनन्तसुख (मोक्ष) की ओर अग्रसर करता है। भगवान् श्रीतीर्थंकर वीतराग द्वारा प्रणीत तत्वार्थ पर वास्तविक श्रद्धा होने को 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की वास्तविक आराधना ही मोक्ष का सच्चा मार्ग है। एक और तो हम 'करेमि भन्ते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं०' इत्यादि सूत्र से द्विकरण त्रियोग से समस्त सावद्य योगों का त्याग कर पापों के आलोचन में प्रवृत्त होते हुये संसार के प्राणिमात्र से वैरविरोध त्याग कर मैत्रीभाव में रमण करते हैं, उसी क्रिया के अन्दर अविरति भोगासक्त देवि–देवताओं की स्तुति करना कहाँ तक ठीक है।

हमें आत्मकल्याण करना है तो इस प्रकार की मिथ्या क्रियाओं से हमको शीघ्र दूर होना पड़ेगा। शास्त्रकारोंने जिस मार्ग को आत्महितकर बतलाया है, उसे ही पालन करना हमारा प्रथम कर्तव्य है। जो बात शास्त्रसम्मत हो, न्याययुक्त हो और पूर्वाचार्य समर्थित एवं समाचारित हो उसे ही हमें पवित्र बुद्धि और ममत्वरहित हो कर ग्रहण करना चाहिये। श्रीदशवैकालिकसूत्र में कहा है कि:—

" धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सयामणो॥ "

अहिंसा, संयम और तपरूप जिनेश्वर–प्रणीत धर्म सभी मंगलों में उत्कृष्ट मंगल है। जिस व्यक्ति का मन निरंजन धर्म में लगा रहता है, उसको देवेन्द्रादि चारों निकाय के देवता भी वंदन करते हैं।

आवश्यकसूत्र की निर्युक्ति में भी पूज्यपाद श्रीश्रीभद्रबाहुस्वामी भी फरमाते हैं कि:—

" असंजयं न वंदिज्जा, मायरं पियरं सुअं।
सेणावई पसत्थारं, रायाणो देवयाणि य॥ "

बस गुरुदेव का समाज को यही कहना था।

अब यहाँ मैं पाठकों को सप्रमाण रीति से बतला देना चाहती हूं कि वास्तव में श्री राजेन्द्रसूरिजी महाराजने कोई भी नूतन पंथ या मत नहीं चलाया; किन्तु वीतराग के सत्य

पथ का ही भान कराया। आशा है जो लोग त्रिस्तुतिक मत को गुरुदेव द्वारा संस्थापित कहते-कहाते और लिखते-लिखाते हैं; वे निम्नांकित प्रमाण-पाठों को देखें और सोच-समझ कर स्वयं निर्णय करने की उदारता दिखावें।

ये कुछ सनातन त्रिस्तुतिक सिद्धान्त समर्थक शास्त्रपाठ हैं, जिन से यह आर्य सनातन सत्य सिद्धान्त शास्त्र और पूर्वाचार्य सम्मत है भली प्रकार सिद्ध होता है।

(१) चतुर्दशशतग्रन्थनिर्माता श्रीयाकिनी महत्तरासूनु श्रीमद् हरिभद्राचार्य-रचित 'पंचाशक' ग्रन्थ पर नवांगसूत्रवृत्तिकारश्रीमदभयदेवसूरिकृत टीका में तृतीय पंचाशक की टीका में लिखा है कि:—

"सम्पूर्णा-परिपूर्णा सा च प्रसिद्धदण्डकैः पञ्चभिः, स्तुतित्रयेण प्रणिधानपाठेन च भवति, चतुर्थस्तुतिर्किलार्वाचीनेति। किमित्याह उत्कृष्यत इत्युत्कर्षा उत्कृष्टा। इदं च—व्याख्यानमेके "तिण्णि वा कड्ढइ जाव थुइयो तिसि लोगिया। ताव तत्थ अणुणायं, कारणेण परेण वि" इत्येतां कल्पभाष्यगाथां, 'पणिहाण मुत्तसुत्तिए' इति वचनमाश्रित्य कुर्वन्ति।"

(२) "व्यवहारभाष्ये स्तुतित्रयस्य कथनात् चतुर्थस्तुतिरर्वाचीना इति गूढाभिसन्धिः ?, किं च नायं गूढाभिसन्धिः किन्तु स्तुतित्रयस्येव प्राचीनं प्रकटमेव भाष्ये प्रतीयते। कथमिति ? चेद् द्वितीयभेदव्याख्यानावसरे 'निस्सकडं' इति भाष्यगाथायां 'चेइये सवेहिं थुइ तिण्णि' इति स्तुतित्रयस्यैव ग्रहणात्, एवं भाष्यद्वयपर्यालोचनया स्तुतित्रयस्यैव प्राचीनत्वम्, तुरीयस्तुतेरर्वाचीनत्वमिति।"

श्रीपञ्चाशक टीप्पन

(३) "तथाहि श्रीकल्पभाष्ये 'निस्सकडमनिस्सकडे' इत्यादि गच्छप्रतिबद्धेऽनिश्राकृते च तद्विपरीते चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्तेऽत्र प्रति चैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वलाया अतिक्रमो भवति भूयांसि वा चैत्यानि ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकापि स्तुतिर्दातव्येति॥"

महामहोपाध्यायश्री यशोविजयजीकृत प्रतिमाशतक टीका

(४) "इरिया तस्सुत्तरीय, अन्नत्थुस्सग्ग लोगस्स।
खमासमणं च कहणं, धरणीयल जाणु दाहिणयं॥

१-कितने ही लोग 'किल' शब्द का निश्चयार्थवाची अर्थ नहीं मानते। पूर्वाचार्यों से निर्मित जिन शास्त्रों में 'किल' का अर्थ निश्चय, सत्य, आप्तोपदेश लिखा है उनके नाम ये हैं।—स्याद्वादमंजरी की २६ वीं कारिका की टीका। द्रव्यानुयोगतर्कणा। दशवैकालिकसूत्र वृहद्वृत्ति प्रथमाध्ययन टीका। 'किलेति निश्चितम्' वीर भक्तामर काव्य में यह अर्थ किया है। यह काव्य 'काव्यसंग्रह' (प्र. भा.) के पृष्ठ १ से ९२ तक मुद्रित है। मुद्रक श्री आगमोदय समिति है।

ठाविऊण सक्कत्थयंतो अरिहंतचेइयवंदणवत्ति ।
अन्नत्थय उस्सग्गो, अट्ठुसासजहण्णं कुणई ॥
पारेइ णमुक्कारं, थुई भणइ जाव उज्जोअं ।
सव्वलोए अरिहंत-चेइयाणं वंदण अन्नत्थं ॥
उस्सग्ग पुव्वविहिणा ठावइ पूरइ तओ पच्छा ।
थुई पुक्खखरदीव, सुअस्स भगवओ अन्नत्थं ॥
उस्सग्गं पारइ तह, थुई सिद्धाणं तओ ठिच्चा ।
सक्कत्थयं जावंति, इच्छामि य जावंत गाहा ॥
णमोऽरहथुत्तं च (वा) जाव पणिहाणकए पुण्णं ॥ ”

श्री प्रद्युम्नसूरिकृत समाचारीप्रकरण

श्री बुद्धिसागरसूरिजी स्वरचित ‘गच्छमत प्रबंध अने संघ प्रगति’ नामक गुजराती पुस्तक के पृष्ठ १६९ पर लिखते हैं कि—

“વિદ્યાધર ગચ્છના શ્રીમાન્ હરિભદ્રસૂરિ થયા. તે જાતે બ્રાહ્મણ હતા. તેણે જૈન દીક્ષા ગ્રહણ કરી, યાકિની સાધ્વીના ધર્મપુત્ર કહેવાતા હતા. તેમણે ૧૪૪૪ ગ્રંથો બનાવ્યા. શ્રી વીર નિર્વાણ પછી ૧૦૫૫ વર્ષે સ્વર્ગે ગયા. ત્યાર પછી ચતુસ્તુતિક મત ચાલ્યો.”

श्री विजयवल्लभसूरिजी के आज्ञावर्ती श्री कस्तूरसूरिजी निजलिखित ‘ज्ञानप्रदीप’ में लिखते हैं कि:—

“દેહમાં આત્મબુદ્ધિ ધારણ કરી પોતાના સ્વરૂપને ભૂલી ગયેલા જડાસક્ત જીવો જાણતા નથી કે દેવગતિમાં ઉત્પન્ન થયેલા દેવ, મનુષ્યના શુભાશુભના ઉદય સિવાય કંઈ પણ શુભાશુભ કરી શકતા નથી. મનુષ્ય પોતાના શુભના ઉદયથી અનુકૂળ સુખ મેળવી સાધનસંપન્ન બની શકે છે. બાકી દેવતાઓ કંઈ પણ આપી શકતા નથી.” (પૃષ્ઠ. ૧૬૭)

इन प्राचीनार्वाचीन प्रमाण पाठों से भली प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि यह आर्य सनातन सत्य त्रिस्तुतिक सिद्धान्त शास्त्रसंमत और पूर्वाचार्य समाचरित है; नहीं कि शास्त्र और पूर्वाचार्यों से विरुद्ध एवं नवनूतन ।

गुरुदेव के जीवन का विहंगावलोकन।

लेखिका साध्वीजी श्रीमहिमाश्रीजी

(१) वि० सं० १८८३ पौष शुक्ला ७ गुरुवार को भरतपुर में जन्म।

(२) वि० सं० १८९५ में जैन तीर्थों की यात्रा।

(३) वि० सं० १८९९ में व्यापारार्थ सिंहलद्वीप को गमन।

(४) सं० १९०२ में भरतपुर में श्रीप्रमोदसूरिजी का आगमन और उनके उपदेश से वैराग्य का उद्भव।

(५) सं० १९०४ में उदयपुर (मेवाड़) में वैशाख शु० ५ शुक्रवार को श्री-हेमविजयजी के पास यति-दीक्षा और नाम श्रीरत्नविजयजी।

(६) सं० १९०४ का चौमासा आकोला (बरार) में प्रमोदसूरिजी के साथ किया।

(७) शेषकाल में विहार और अभ्यास।

(८) सं० १९०५ का चातुर्मास प्रमोदसूरिजी के साथ इन्दौर में।

(९) खरतरगच्छीय यति श्रीसागरचंद्रजी के पास अध्ययनार्थ गमन और उनके साथ सं० १९०६ का उज्जैन, सं० १९०७ का मन्दसौर, सं० १९०८ का चौमासा उदयपुर में, श्रीहेमविजयजी के द्वारा सं० १९०९ वैशाख शुक्ला ३ को उदयपुर में बड़ी दीक्षा और पंन्यासपद की प्राप्ति।

(१०) सं० १९०९ को नागोर में चौमासा किया। सं० १९१० में सागरचन्द्रजी के साथ चौमासा जैसलमेर में।

(११) शेषकाल में विहार और अभ्यास। सं० १९११ का चौमासा पाली में, सं० १९१२ का चौमासा जोधपुर में श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजी के साथ। सं० १९१३ का चौमासा किशनगढ़ में किया।

(१२) सं० १९१३ में देवेन्द्रसूरि का निज बालशिष्य श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि को अभ्यास करवा कर योग्य बनाने का आपको आदेश।

(१३) सं० १९१४ से १९१९ तक धरणेन्द्रसूरि को और इकावन ५१ यतियों को विद्याभ्यास कराया। सं० १९१४ चित्रकूट, १९१५ सोजत, १९१६ शम्भूगढ़, १९१७ बीकानेर, १९१८ सादड़ी, १९१९ भीलवाड़ा में चौमासा। १९२० में आहोर में श्रीविजयप्रमोदसूरिजी

के पास आना और १९२० में रतलाम में चौमासा कर पुनः आहोर गुरु-सेवा में आना। सं० १९२१ में धरणेन्द्रसूरि की प्रार्थना से जोधपुर और बीकानेर के नरेशों से सन्मान कराने को रत्नविजयजी का आना। और दोनों नरेशों द्वारा धरणेन्द्रसूरि को सन्मान दिलाना। रत्नविजयजी को धरणेन्द्रसूरि द्वारा दफ्तरी-पद देना।

(१४) सं० १९२१ का चौमासा अजमेर में धरणेन्द्रसूरि के साथ।

(१५) सं० १९२२ में मरुधर में पदार्पण और स्वतन्त्र रूप से २१ यतियों के साथ जालोर में चौमासा। मरुधर में भ्रमण और घाणेराव में धरणेन्द्रसूरि के अत्याग्रह से उनके साथ सं० १९२३ में चौमासा। पर्वाधिराज पर्यूषण में इत्र विषय में विवाद। धरणेन्द्रसूरि को हित-शिक्षा देने की प्रतिज्ञा लेना और निज गुरु के पास आहोर में आगमन।

(१६) सं० १९२४ वैशाख शु० ५ बुधवार को आहोर में श्रीप्रमोदसूरिजी द्वारा श्रीपूज्यपद का मिलना और श्रीपूज्य श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी नामकरण होना।

(१७) मरुधर, मेवाड़ में विहार। शंभूगढ़ में फतहसागरजी द्वारा पुनः पाटोत्सव और राणाजी द्वारा श्रीपूज्यजी को छड़ी, चमरादि भेंट मिलना।

(१८) सं० १९२४ का चौमासा जावरा में किया। चौमासे में जावरा नवाब और उनके दीवान के प्रश्नों के उत्तर। श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि की ओर से भेजे हुए सिद्धकुशल और मोतीविजय दोनों का जावरा में आना। उनकी आपको और जावरा-संघ को प्रार्थना। आप की ओर से गच्छसुधारे की नव कलमों का पत्र देना। दोनों यतियों के शुभ प्रयास से श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि की ओर से कलमों की स्वीकृति होना और उस पत्र पर सं० १९२४ माघ शुक्ला १५ को हस्ताक्षर करना।

(१९) सं० १९२५ आषाढ़ शु० १० शनिवार को शैथिल्य-चिह्न तथा परिग्रह का त्याग कर क्रियोद्धार कर के सच्चा साधुत्व ग्रहण करना।

(२०) सं० १९२५ का चौमासा खाचरोद में करना। त्रिस्तुति सिद्धान्त को पुनः प्रकट करना। शेष काल में मालव भूमि में विहार।

(२१) सं० १९२६ का चौमासा रतलाम में। शेष काल में मालव के पर्वतीय नगर ग्रामों में विहार और सं० १९२७ का कूकसी में चातुर्मास व 'षड्द्रव्यविचार ग्रन्थ' की रचना।

व्याख्यान में ४५ आगम सार्थ की वाँचना। अट्ठाई व्याख्यान का भाषान्तर करना। चातुर्मास के पश्चात् दिगम्बर सिद्धक्षेत्र माँगीतुंगी पर्वत की शिखा पर निज आत्मोन्नति करनार्थ छः मास तक घोर तपस्या करना।

(२२) सं० १९२८ में राजगढ़ में चौमासा और शेष काल में मालव भूमि में विहार

और सं० १९२९ का रतलाम में चौमासा। संवेगी झवेरसागरजी और यति बालचन्द्रोपाध्यायश्री से त्रिस्तुतिक सिद्धान्त विषय पर शास्त्रार्थ और उस में विजयप्राप्ति और 'श्रीसिद्धान्तप्रकाश' ग्रन्थ का निर्माण। शेष काल में विहार, अनेक स्थलों पर विपक्षियों द्वारा परीषह-सहन। परन्तु धीर, वीर, गंभीर रह कर श्रीवीर-संदेश जनता को सुनाना।

(२३) सं० १९३० का जावरा में चौमासा और विपक्षियों को उचित शिक्षा। चातुर्मास के पश्चात् मारवाड़ में पदार्पण।

(२४) सं० १९३१ तथा १९३२ के दोनों चौमासे आहोर में किये। आहोर संघ में बड़े भारी कलह को मिटाया। बाद में 'घनसार चौपाई' तथा 'अघटकुमार चौपाई' की रचना व वरकाना में अमरश्रीजी, लक्ष्मीश्रीजी को दीक्षा।

(२५) मरुधर में वीरसिद्धान्त प्रचारार्थ सं० १९३३ का जालोर में चौमासा और स्थानकमार्गियों से शास्त्रार्थ। जालोरगढ पर प्राचीन जिनालयों को सरकारी आधिपत्य से मुक्त कर उनका उद्धार करवाना और माघ शु० ७ रविवार को भारी समारोहपूर्वक प्रतिष्ठा करना। यहीं पर 'धातुपाठतरंग' पद्यबद्ध की रचना। मरुधर से विहार कर १७ दिन में ही जावरा (मालवा) में पदार्पण। जावरा में फाल्गुण शु० ५ रविवार को छोटमलजी पारख के मंदिर के लिए ३१ जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा और उनकी मंदिर में संस्थापना। फाल्गुण शु० २ को मोहनविजयजी को दीक्षा।

(२६) सं० १९३४ का राजगढ में चौमासा। '१०८ बोल का थोकड़ा' की रचना और श्रीविद्याश्रीजी को दीक्षा।

(२७) सं० १९३५ वैशाख शु० ७ शनिवार को कूकसी में २१ जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा।

(२८) सं० १९३५ का रतलाम में चौमासा तथा 'कल्याणमंदिर-स्तोत्र प्रक्रिया टीका' की रचना। चौमासे के बाद मरुधर में पदार्पण।

(२९) सं० १९३६ का भीनमाल में चौमासा। माघ शु० १० को आहोर में प्राचीन चमत्कारी श्रीगौड़ीपार्श्वनाथ प्रतिमा की प्रतिष्ठा। श्रीटीकमविजयजी को दीक्षा और गोलपुरी में 'सकलेश्वर्य स्तोत्र' का निर्माण और 'प्रश्नोत्तरपुष्पवाटिका' की रचना।

(३०) सं० १९३७ का शिवगंज में चौमासा। चातुर्मास के पश्चात् मालवे में पदार्पण।

(३१) सं० १९३८ का अलीराजपुर में चौमासा। चौमासे के पश्चात् राजगढ में पदार्पण। श्रीमोहनखेड़ा मंदिर की रचना प्रारम्भ। 'अक्षय तृतीया' कथा संस्कृत की रचना।

(३२) सं० १९३९ का कूकसी में चौमासा । मार्गशिर शुक्ला २ को मोहनविजयजी को वड़ी दीक्षा ।

(३३) सं० १९४० का चौमासा राजगढ में किया । मार्गशिर शुक्ला ७ गुरुवार को दल्लाजी लूणाजी के बनवाये हुये श्रीमोहनखेड़ा के मन्दिर की प्रतिष्ठा और ४१ जिनप्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा । धामणदा में फाल्गुण शु० ३ को प्रतिष्ठा तथा दसाई में फाल्गुण शु० ७ को प्रतिष्ठा । ' श्रीकल्पसूत्रबालाववोध ' की रचना । गुजरात में विहार ।

(३४) सं० १९४१ का चौमासा अहमदावाद (पांजरापोल) में श्रीविजयानन्दसूरिजी के साथ त्रिस्तुतिक सिद्धान्त पर चर्चा । सौराष्ट्र में विहार । श्रीगिरिनार व शत्रुञ्जय आदि तीर्थराजों की यात्रा । ' सिद्धान्त वोलसागर ' की रचना ।

(३५) सं. १९४२ का धोराजी में चौमासा । श्री आवश्यक विधि गर्भित ' श्री शान्तिनाथ स्तवन ' की रचना । श्री उदयविजयजी को दीक्षा । सौराष्ट्र से उत्तर गुजरात में पदार्पण । थराद्री प्रान्त में भ्रमण ।

(३६) १९४३ का चौमासा धानेरा में । चौमासे की समाप्ति के वाद श्री भीलडीया पार्श्वनाथ की यात्रा । शेष काल में थराद्री प्रान्त में विहार ।

(३७) १९४४ का चौमासा राजधानी थराद में किया । चौमासे के वाद पारख अम्बावीदास मोतीचंदने आपके उपदेश से श्री शत्रुञ्जय और गिरिनार का संघ निकाला । इस संघ में एक लाख रुपये व्यय हुए थे ।

(३८) सं. १९४५ का चौमासा वीरमगाम में । श्री 'तत्त्वविवेक' (तत्त्वत्रयस्वरूप) ग्रन्थ की रचना । मरुधर में पदार्पण । शिवगंज में माघ शु० ५ को दो सौ पचास जिनप्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा और आदिनाथ (चौमुख) और श्री अजितनाथजी के मंदिर की प्रतिष्ठा ।

(३९) स. १९४६ वैशाष शु० में मेघविजयजी को दीक्षा । चौमासा सियाणा में । ' श्रीपंचसप्ततीशतस्थानचतुष्पदी ' और ' विहरमाणजिनचतुष्पदी ' की रचना । ' पुण्डरीकाध्ययन सज्झाय' और 'साधु वैराग्याचार सज्झाय' की रचना तथा विश्वविख्यात ' श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष ' की रचना का प्रारम्भ ।

(४०) सं. १९४७ का चौमासा गुड़ा में किया ।

(४१) सं. १९४८ श्रीऋषभविजयजी को दीक्षा । चौमासा आहोर में किया । तत्पश्चात् मालवे में पदार्पण ।

(४२) सं. १९४९ वै० शु० ७ को श्री आदिनाथादि जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा। चौमासा निम्बाहेड़ा में किया। चौमासे में ही स्थानकवासी श्री नंदरामजी से चर्चा, मूर्तिपूजा विषयमें और उनका पराजय। धर्मविजयजी की दीक्षा। मालवे के पर्वतीय ग्राम-नगरों में विहार।

(४३) सं० १९५० का चौमासा खाचरोद में। यहीं 'नवपद पूजा' की रचना। माघ कृ० २ को पालनपुर में प्राचीन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा। माघ शु० २ को खटाली में तीन प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा और मन्दिर में स्थापना। पद्मविजयजी को दीक्षा।

(४४) सं० १९५१ का राजगढ़ में चातुर्मास। माघ शु० ७ को रींगनोद में जिन-प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा और मंदिर में स्थापना। माघ शु० ७ को ही रूपविजयजी और लक्ष्मीविजयजी को दीक्षा तथा सं० १९५२ का भी राजगढ़ में चौमासा 'श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष' की रचना के कारण। चौमासे के पश्चात् मालवे में भ्रमण। हिम्मतविजयजी को दीक्षा। माघ शु० १५ को झाबुआ में २५१ जिनप्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा और इसी दिन श्री विद्याश्रीजी, प्रेमश्रीजी, मानश्रीजी, मनोहरश्रीजी आदि को बडी दीक्षा दी। वै. शु० ७ सं० १९५३ को बड़ी कड़ोद में २१ जिनप्रतिमा की प्राणप्रतिष्ठा और मंदिर में स्थापना। अलीराजपुर में दीपविजयजी को दीक्षा। चौमासा जावरा में किया। कार्तिक में महान् समारोहसह अष्टाहिका-महोत्सव हुआ। जिसमें विपक्षियों को उनकी उद्दण्डता के कारण पराजय-प्राप्ति। महेन्द्रपुर में वर्तमानाचार्य का गुरुदेव के पास आगमन।

(४५) सं० १९५४ वै. शु. ७ को प्रतिष्ठा। खाचरोद में आषाढ़ कृ० २ को यतीन्द्रविजयजी को दीक्षा (वर्तमानाचार्य)। चौमासा रतलाम में। 'श्रीकल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी' 'श्री जिनोपदेशमंजरी' और 'नीतिशिक्षाद्वय पच्चीशी' की रचना। 'केसरियानाथ-स्तवन' की रचना एवं कूकसी में केसरविजयजी और हर्षविजयजी को दीक्षा। मरुधर में पदार्पण।

(४६) सं० १८५५ का आहोर में चौमासा। माघ शु० ५ को दीपविजयजी, यतीन्द्रविजयजी आदि को बड़ी दीक्षा। फा. शु. ५ को ९५१ नौ सौ इकावन जिनप्रतिमाओं की ५६ दंड और ५६ कलशों की प्राणप्रतिष्ठा, चमनविजयजी को दीक्षा।

(४७) सं० १९५६ का शिवगंज में चौमासा। 'पाइयसद्दंबुही कोष' की रचना। भा. शु. ५ शुक्र को स्वगच्छीय 'मर्यादापट्टक' की रचना। मार्ग० शु० में आहोर में रायश्रीजी को दीक्षा।

(४८) सं० १९५७ का सियाणा में चौमासा। कुमारपालभूपालनिर्मित श्रीसुविधि-नाथ चैत्य का जीर्णोद्धार। सिरोही-राज्य के झोरे-मगरे में विहार।
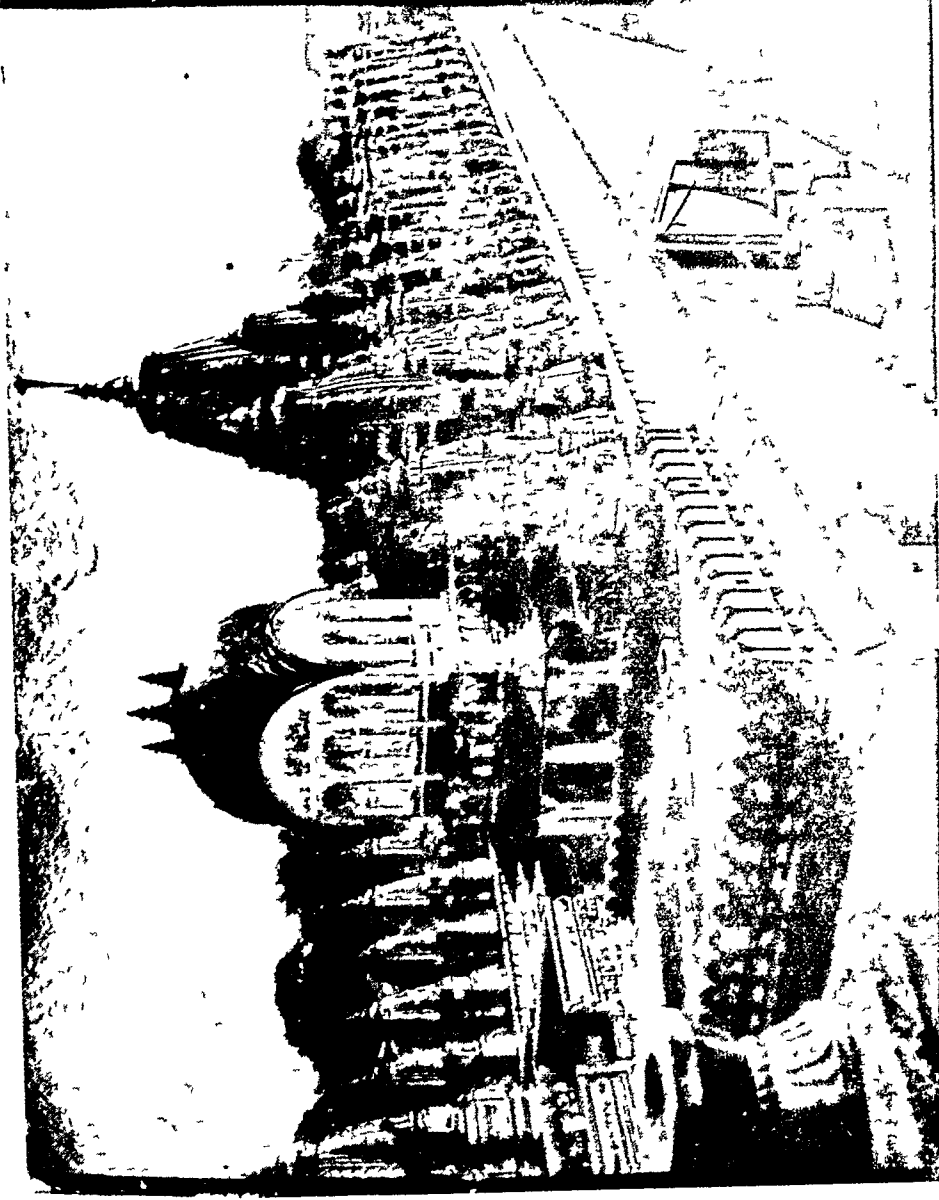
वि. स १८५२ में श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरिजी महाराज द्वारा प्रतिष्ठित
श्री बावन (५२) जिनालय, झाबूवा (मालवा)

वरघोडा मे स्व. गुरुदेव और कुछ मुनिवर

श्री अठ्ठाइमहोत्सव, रतलाम (म. भा.) के अवसर पर वि. स. १९५४

(४९) सं० १९५८ का आहोर में चौमासा । गुलाबविजयजी आदि को वड़ी दीक्षा । माघ शु० १३ गुरुवार को सियाणा में २०१ दो सौ एक जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा और सुविधिनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा ।

(५०) सं० १९५९ में मरुधरीय कुणीपट्टी में विहार । श्रीकोरटातीर्थ के मंदिरों का उद्धार । श्रीसंघकारित महामहोत्सवपूर्वक २०१ जिनप्रतिमाओं की वै० शु० १५ को प्रतिष्ठा । चौमासा जालोर में । आहोर में माघ कृ० १ को श्री शान्तिनाथजी मंदिर की प्रतिष्ठा और सुविख्यात 'श्रीराजेन्द्र जैनागम वृहद् ज्ञानभंडार' की स्थापना । वाली में चन्द्रविजय और नरेन्द्रविजय को दीक्षा । हितविजयजी पंन्यास के साथ चर्चा और विजयप्राप्ति । केसरियाजी, तारंगाजी, भोयणी, सिद्धाचल आदि तीर्थों की यात्रा तथा खंभात और भरुच होते हुए सूरत में पदार्पण ।

(५१) सं० १९६० का सूरत में चौमासा । इस चौमासे में विपक्षियोंने आप से अनेक प्रश्न पूछे और आपने उनके उत्तर सप्रमाण दिये । 'श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष' की रचना यहीं समाप्त हुई । चातुर्मास में ही 'राजेन्द्र सूर्योदय' की रचना । चातुर्मास के पश्चात् मालवे में पदार्पण ।

(५२) सं० १९६१ का कूकसी में चौमासा 'प्राकृत व्याकृति व्याकरण', 'प्राकृत शब्द-रूपावली' और 'दीपमालिका देववंदन' की रचना । बाद में मार्ग० शु० ५ को सात ७ प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा और उनको सौधशिखरी मंदिर में स्थापन कराईं । माघ शु० ५ गुरुवार को राजगढ़ के खजान्ची दौलतराम चुन्नीलालनिर्मित अष्टापदावतार चैत्य के लिए ५१ जिन-प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा कर उनको मंदिर में स्थापन कराईं । राणापुर में फाल्गुन शु० ३ गुरुवार को ११ जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा और मंदिर में उनकी स्थापना । यहीं कमल-श्रीजी की दीक्षा हुई ।

(५३) सं० १९६२ ज्येष्ठ शु० ४ को सरसी में प्रतिष्ठा । चौमासा खाचरोद में । श्रावण शु० १३ को ढाइसौ वर्षों से जाति-व्यवहार-वंचित चिरोलावाले जैनों को जाति में सम्मिलित करवाये । मार्ग० शु० २ को राजगढ़ में तीन प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा करके उनको दौलतराम हीराचंदनिर्मित ज्ञानमंदिर में स्थापना कराईं । जावरा में लक्ष्मीचंदजी लोढ़ा के बनवाये हुये मंदिर की पौष शु० ७ को प्रतिष्ठा ।

(५४) सं० १९६३ का बड़नगर में चातुर्मास । 'महावीर पंच कल्याणक पूजा' और 'कमलप्रभा शुद्ध रहस्य' की रचना । मार्गशिर मास में मंडपाचलतीर्थ की यात्रार्थ ससंघ प्रयाण । मार्ग में ज्वर की बीमारी होने से राजगढ़ में ही पदार्पण । गुरुदेव की शारीरिक परिस्थिति के

कारण संघ को चिन्ता। गुरुदेव से श्रीसंघ का भावी के लिये प्रश्न। गुरुदेव का प्रत्युत्तर। पौष शु० ३ को दुपहर के समय श्रीदीपविजयजी और श्रीयतीन्द्रविजयजी को 'श्रीअभिधान राजेन्द्र कोष' को मुद्रण और सम्पादन का आदेश और श्री संघ को मुद्रणार्थ अर्थ सहायताके लिये संकेत। तृतीया की संध्या को अनशन-ग्रहण और पौष शु० ६ की संध्या को अन्तेवासियों को अन्तिम उपदेशः—

"अर्हन् नमः अर्हन् नमः"

का शुभ स्मरण करते-करते समाधियोग में लीन होजाना (स्वर्गवास)। श्रीसंघने पार्थिव शरीर का पवित्र तीर्थभूमि मोहनखेड़ा में पौष शु० ७ को विशाल जनमेदिनी के मध्य अन्त्येष्टि संस्कार किया। इत्यलम् विस्तरेण।
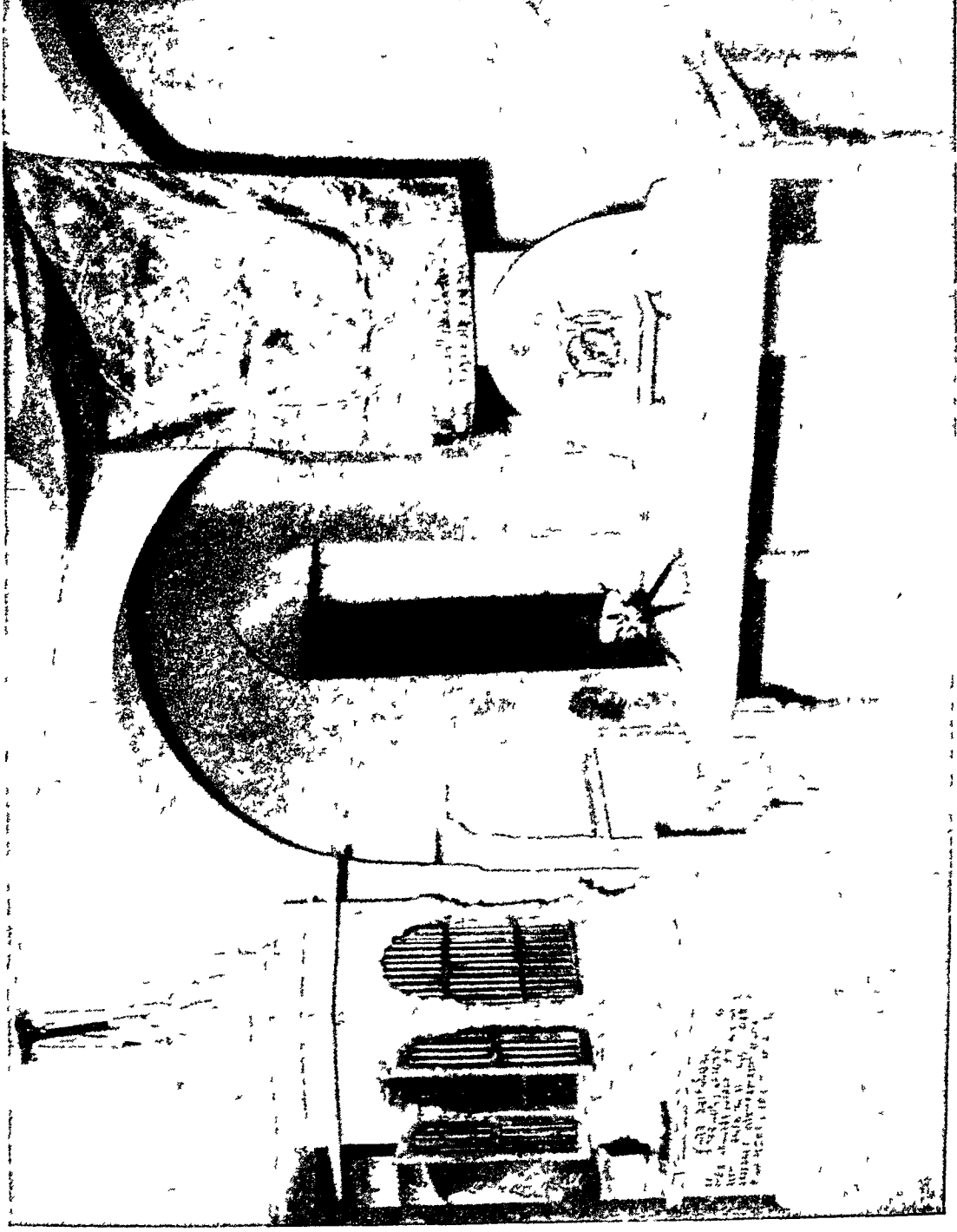
श्री राजेन्द्रभवन नामक श्री गुरुदेव का स्वर्गवास-स्थान, राजगढ (धार-मध्यभारत)
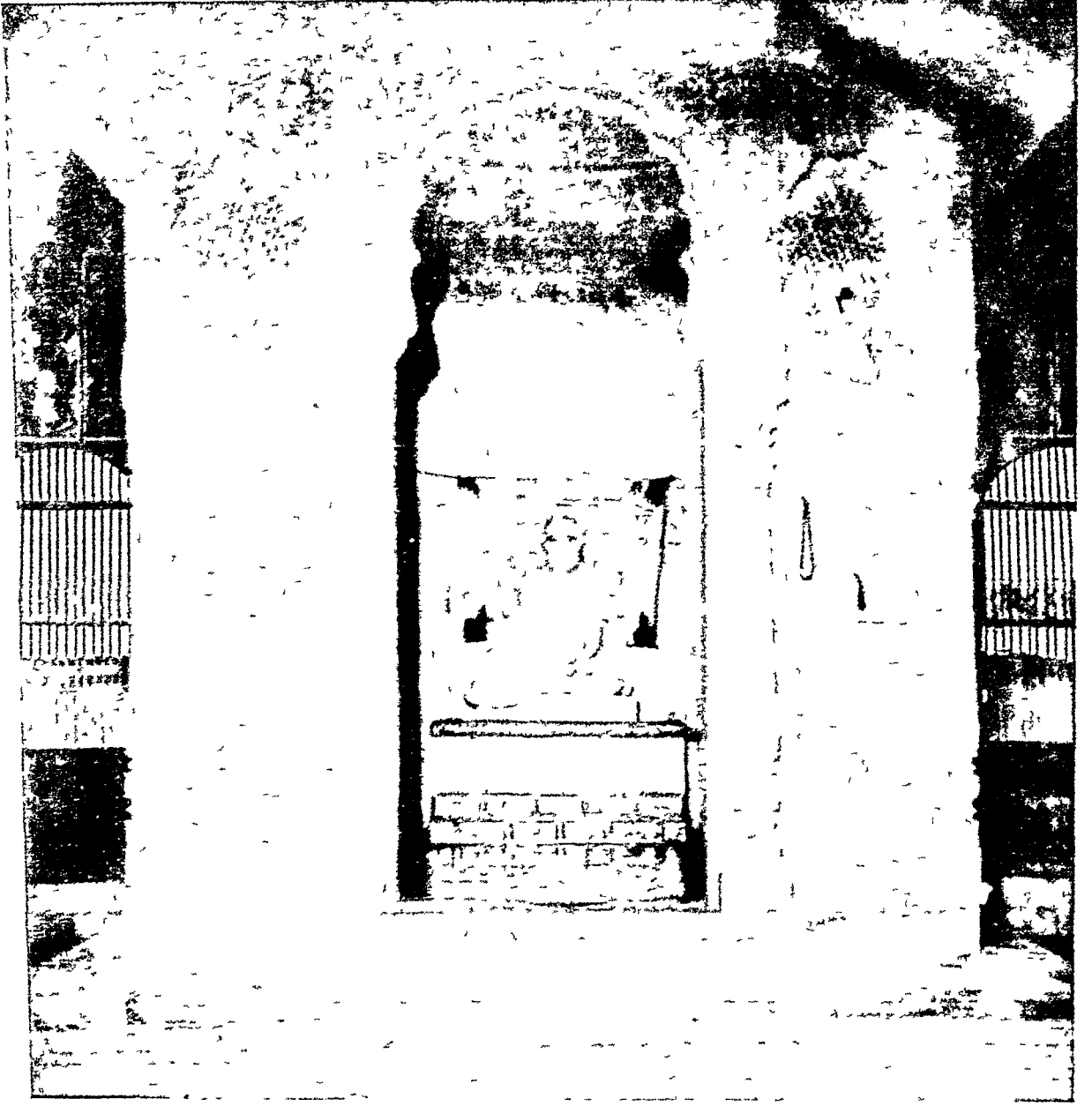
श्री राजेन्द्रसूरि समाधि-मंदिर, श्री मोहनखेड़ा तीर्थ-राजगढ़ (धार-मध्यभारत)

गुरुदेव

साध्वीजी श्री पुष्पाश्रीजी

जिस प्रकार देखने को नयन, सुनने को कान और खाने के लिए मुख की महती आवश्यकता है, वैसे ही हमे योग्य प्रकार के मार्ग-दर्शन करानेवाले की अत्यन्त आवश्यकता है। योग्य मार्ग-दर्शक के बिना हमारी गाड़ी कर्मो के वीहड़तम मार्ग से नाना प्रकार के समविषम स्थलों से बच कर निश्चित लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती और मध्य में ही भटकती रहती है। जो आध्यात्मिक उन्नति का योग्य मार्ग दिखलाते हैं उन्हें हम गुरु कहते हैं। गुरु की महिमा अपार है। श्री यशोविजयजी श्रीपाल रास में लिखते हैं कि:—

"प्रत्यक्ष उपकार गुरु तणो, परोक्ष उपकार श्री जिनराय।"

आचार्यवर्य श्री हेमचन्द्रसूरि फरमाते हैं कि:—

"पंचमहाव्रतधरा धीरा, भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः॥"

अर्थात् पाँच महाव्रतों को धारण करने में धीर, शुद्ध भिक्षा पर ही निर्भर, समता में ही रहनेवाले और धर्मका उपदेश देनेवाले जो हैं, उनको गुरु कहा गया हैं।

गत उन्नीसवीं और बीसवी शताब्दी में हमारी समाज को जो असह्य दुःख उठाना पड़ा है उसका मूल कारण योग्य गुरु का न मिलना ही है। योग्य गुरु के अभाव में यति लोग निरंकुश और अशिष्टाचारी हो गये थे, जिससे जैन समाज संत्रस्त हो गया था। जहाँ आत्म-कल्याणकर मार्गों का ही सदा उपदेश दिया जाता है, वहीं यदि गुरुवर्ग भौतिकवाद की चमक-दमक में आसक्त होकर विलास-नाट्य करें तो भक्त अवश्य ही पतित हो जायगा। व्यवहार में भी कहा जाता है कि यदि 'बाड़ ही खेत को खाने लगे' और 'रक्षक ही भक्षक बन जाय' तो कहो कौन रक्षा कर सकता है? गत शताब्दी में यतिसमाज के अत्याचार अपनी चरम सीमा पर जा चुके थे और वे अध्यात्मवाद से पराङ्मुख हो भौतिकवाद की रंगीन रंगभूमि की ओर बढ़ कर अवनतावस्था को प्राप्त हो गये थे। ऐसे संकट के समय में समाज (संघ) का योग्य प्रकार से नेतृत्व करनेवाले एक धीर, वीर, गंभीर, महान् क्रान्तिकारी एवं विचारक धर्म-शासक महारथी की महती आवश्यकता थी जो समय आने पर पूरी हुई। यतिसमाज में से

बाहर आकर एक प्रशान्तआकृति त्यागीने समाज को आधिभौतिक की विषाक्त दिशा से अध्यात्मवाद के परम पावन मार्ग पर पुनः चलने को सनातन आदेश दिया। समाजने देखा–जिसका शरीर तपस्या से शुष्क काष्ट की भाँति सूख गया है और रह गया है मात्र हड्डियों का ढाँचा, दुबला–पतला शरीर प्रमाणोपेत धवल वस्त्रों से ढँका, परम सरल प्रकृति, बोली सीमाबद्ध–किन्तु मधुर और ज्ञानगरिमादायी। प्रथम नजर से देखने पर ही ज्ञात नहीं हो सकता था कि यह साधारण शरीरी साधु समाज में क्रान्ति जगा कर उसे पुनः सुव्यवस्थित कर देगा। जब गुरुदेवने जावरा में सं० १९२५ में क्रियोद्धार कर श्रीसंघ को वास्तविकतया श्रीवीर का धर्म सुनाया तो समाज इससे भड़क उठी। जिसके कारण महान् युगप्रवर्तक एवं क्रान्तिकारी को महापरिषह सहने पड़े, जिनका वर्णन अशक्य है। परंतु युग-द्रष्टा, त्यागीन्द्र-मुकुटकोहेनूर आते परीषहों से घबरा कर सत्य से पतित नहीं होते। अन्त में समाज को ज्ञात हुआ कि यति–समाज जैन संघ को गुमराह करनेवाला भ्रामकोपदेश दे रहा है। फल यह हुआ कि संघसमाजने योग्य नायक के नायकत्व में वीर–संदेश को आत्मसात् किया और संजुटित हो गया। अध्यात्ममय आत्मसाधना में इस प्रकार समाज पुनर्गठित और व्यवस्थित होने लगा एवं उसका श्रेष्ठ प्रकार से संचालन होने लगा।

वास्तव में गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज सही अर्थों में विद्वान् थे, चरित्रवान् थे, संयमी थे, साहित्य–स्रष्टा थे और थे महान् त्यागी। आपने कोरटा, जालोर, तालनपुर और मांडवपुर इन प्राचीन तीर्थों का उद्धार भी करवाय और समाजोन्नतिकर अनेक कार्य भी किये। जैन समाज आपके कार्यों का पूर्ण रूपेण उपकृत है। आज ऐसे ही–त्यागी, विद्वान्, आर्ष–द्रष्टा एवं क्रान्तिकारी युगवीरों के कार्यों का प्रताप है कि हम उज्ज्वल-मुखी और गौरवान्वित हैं।

वंदन हो नवयुगप्रवर्तक के चरणों में।

गुरुदेवद्वारा कृत प्रतिष्ठायें

साध्वीश्री श्रीमहेन्द्रश्रीजी।

जैनागम-शास्त्र-प्रकरण और चरित्र-ग्रन्थों में स्थान—स्थान पर शाश्वत जिनमन्दिरों और अशाश्वत मन्दिरों का समुल्लेख बहुलता से प्राप्त है। जिनके द्वारा हम यह भली प्रकार समझ सकते हैं कि चैत्य-निर्माण की परम्परा प्राचीनकाल से आज तक अबाध गति से प्रचलित है इसमें किसी प्रकार की शंका को स्थान नहीं है।

आद्य तीर्थंकर श्रीआदिनाथ भगवान् के समय उनके ज्येष्ठ पुत्र भरतराज श्रीभरतचक्रवर्तीने अपने राज्यकाल में श्रीअष्टापद नामक पर्वत पर एक सिंहनिषधा नामक परम मनोहर मन्दिर बनवा कर उसमें प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थंकरों की अपने-अपने वर्ण और शरीरप्रमाण प्रतिमाएँ आत्मकल्याणार्थ संस्थापित की थीं, ऐसा उल्लेख चरितानुयोगीय शास्त्रों में प्राप्त है।

इस आत्मोत्थानकर प्राचीनतम परम्परा को अनेक राजा, महाराजा, सेठ, साहूकारों ने अपनाया है, जिसका प्रमाण सूत्र, ग्रन्थों से और पुरातत्व-विशारदों की शोध-खोज से प्राप्त अनेक खण्डिताखण्डित जिनप्रतिमा, आयागपट्ट और अनेक ध्वन्सावशेषों से प्राप्त होता है।

वास्तव में हमारे जीवन को भौतिकवाद की विषाक्त वासना से अध्यात्मवाद की सुमनोरम धरा पर लाने के लिये आत्मसाधनार्थ जिनप्रतिमाओं की महती आवश्यकता है। तभी तो शास्त्रकारोंने 'जिणसारिक्खा जिणपडिमा' कही है। महर्षि आर्द्रकुमार का उद्धार जिनप्रतिमा को देखने पर ही हुवा है और सय्यम्भवसूरि को भी तो वीतराग की प्रतिमा से ही बोध हुवा था। इस बात को लक्ष्य में रख कर हमारे पूर्वाचार्यों के उपदेश से हमारे पूर्वजोंने अनेक स्थानों पर निजलक्ष्मी का सद्व्यय कर अनेक विशालकाय एवं स्थापत्य-कला के ज्वलंत नमूनारूप चैत्य बनवाये और साधारण भी। इस मंगलमय कल्याणकारी चैत्य-परम्परा को अनेक सम-विषम परिस्थितियों से बचाकर सुरक्षित रखने में श्रमण संघ के नैतृत्व में अनेक राजा अमात्यादि श्रीमंतवर्गने और साधारण वर्गने नहीं भूलने योग्य योग दिया है, जिसके फलस्वरूप आज भारत की यह गौरवमयी परम्परा हमारा कल्याण कर रही है।

---

१ मथुरा के कंकाली टीले से और अन्य स्थानों से ऐसी अनेक जिनप्रतिमा और अन्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो दो हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन हैं॥

इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस परम्परा को समूल नष्ट करने का अत्याचारी यवनोंने अनेक बार प्रयत्न किया।

इस प्राचीन सूत्र-शास्त्रसम्मत और पूर्वजों से समाचरित परम्परा के अनुसार ज्योतिर्धर विश्वपूज्य प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने मरुधर और मालवे के कतिपय प्राचीन तीर्थों का और सैकड़ों ग्रामनगरों के मन्दिरों का पुनरुद्धार और जिन ग्रामनगरों में देव-दर्शनार्थ मन्दिर नहीं थे वहाँ नूतन मन्दिरों का निर्माण करवा कर, उनकी यथाविधि प्रतिष्ठाएँ करवाईं। आपने ऐसे तो अनेक स्थलों पर प्रतिष्ठांजनशलाकाएँ करवाई हैं, किन्तु उनमें जो विशेष प्रसिद्ध हैं वे इस प्रकार हैं—

१— जालोर (सोनगिरि) के पर्वत पर गढ़ में प्राचीन समय के १ श्रीअष्टापदावतार-चौमुख मन्दिर। २ यक्षवसति-महावीर मन्दिर। ३ और श्री कुमारवसति-पार्श्वनाथ मन्दिर ये तीन मन्दिर हैं। कालप्रभावतः इन पर सरकारी अधिकार हो गया था। राज्यभृत्योंने इन शान्तिस्थलों (मन्दिरों) में युद्धसामग्री भर दी थी और वे स्वयं भी उनमें रहने लगे थे। सं. १९३३ के ज्येष्ठ में जब गुरुदेव इस पर्वत की कन्दराओं में रह कर तपस्या करते हुये आत्मचिंतन में लीन थे, सहसा उनकी ईप्सा पर्वत की उच्चतम चौटी पर जा कर धूप में आतापना लेने की हुई। तत्काल वे पर्वत की चौटी पर गये। देखा कि विशालकाय मन्दिर राजकीय भृत्यों के निवासस्थान बने हुये हैं। उनके समीप गये और नौकरों को उपदेश दिया। परन्तु जोधपुर-नरेश की आज्ञा के विना कुछ नहीं हो सकता था और श्रावकवर्ग को स्थिति से ज्ञात किया तथा स्वयं ने कठिनतम वीर-प्रतिज्ञा लेकर आंदोलन किया। आठ महिनों तक अविरल परिश्रम करने पर मन्दिर प्राप्त हुये। और सं. १९३३ के माघ शुक्ला ७ रविवार को इन मन्दिरों का उद्धार करवा कर प्रतिष्ठा की।

२—मरुधर से उत्कट विहार कर के १७ दिन में मध्यभारतस्थ जावरा पधारे। यहाँ श्रीछोटमलजी पारख के बनवाये हुये द्विमजिले मन्दिर में श्रीआदिनाथ भगवान आदि ३१ जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की।

३—मालवस्थ धार-जिल्ले के कुक्षी नगर में श्रीशान्तिनाथ भगवान् का प्राचीन मन्दिर है। उसका श्रीसंघने आपके सदुपदेश से जीर्णोद्धार करवाया और उसके चारों तरफ चौवीस देवकुलिकाएँ (लघुमन्दिर) बनवाईं। वि. सं. १९३५ के वै. शुक्ला. ७ को महामहोत्सव सह श्रीआदिनाथादि २१ प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा कर उनको उक्त मन्दिर में स्थापित किया और सब शिखरों पर कलश और दंडध्वज चढ़वाये।

४—आहोर के दक्षिणोद्यान में आहोर श्रीसंघ के बनवाये हुये जिनालय में सं. १९३६

श्री आदिनाथ मंदिरस्थ श्री आदिनाथ प्रतिमा कुक्षी-तालनपुर (मध्य-भारत) समय-वि. ७-८ शती.
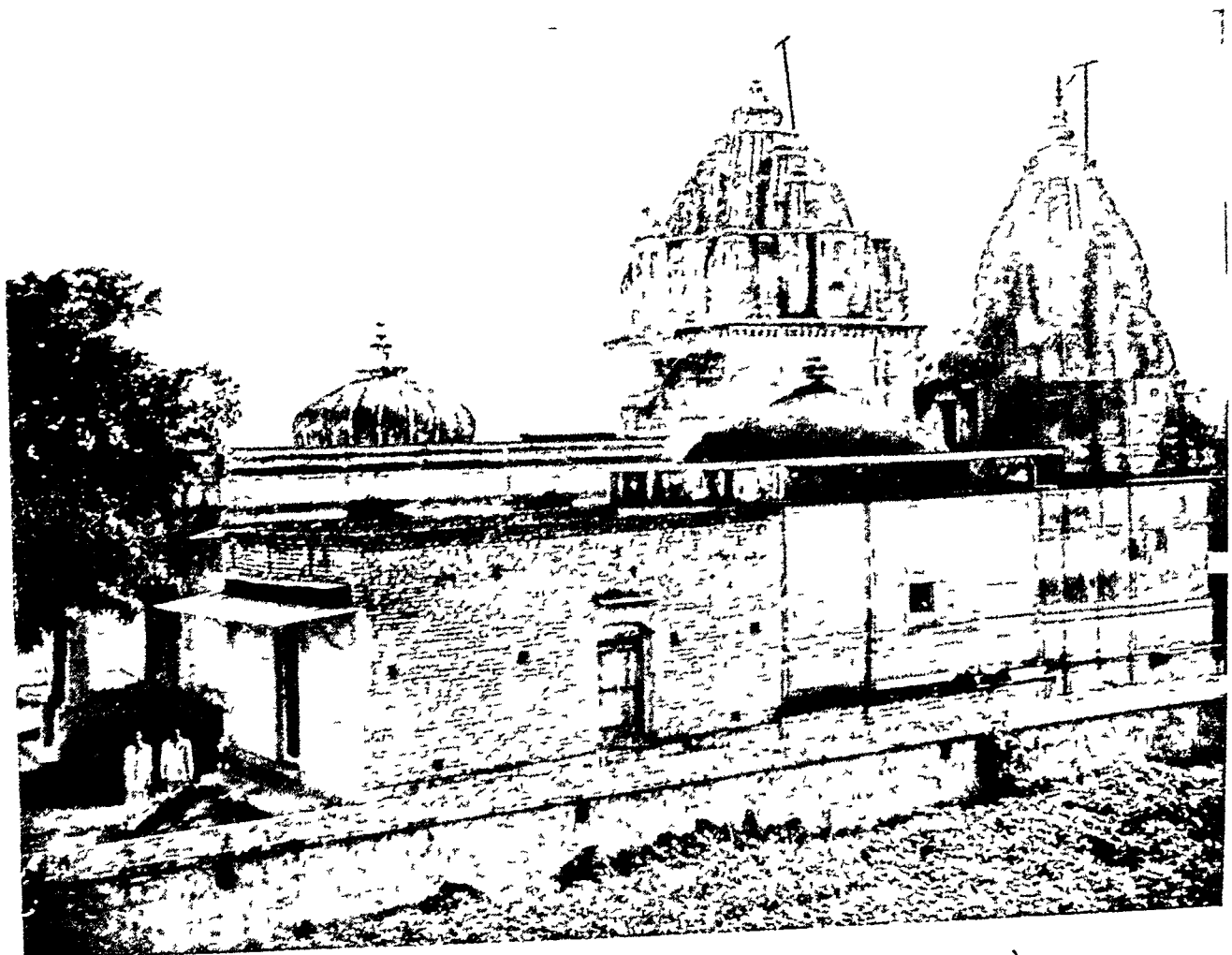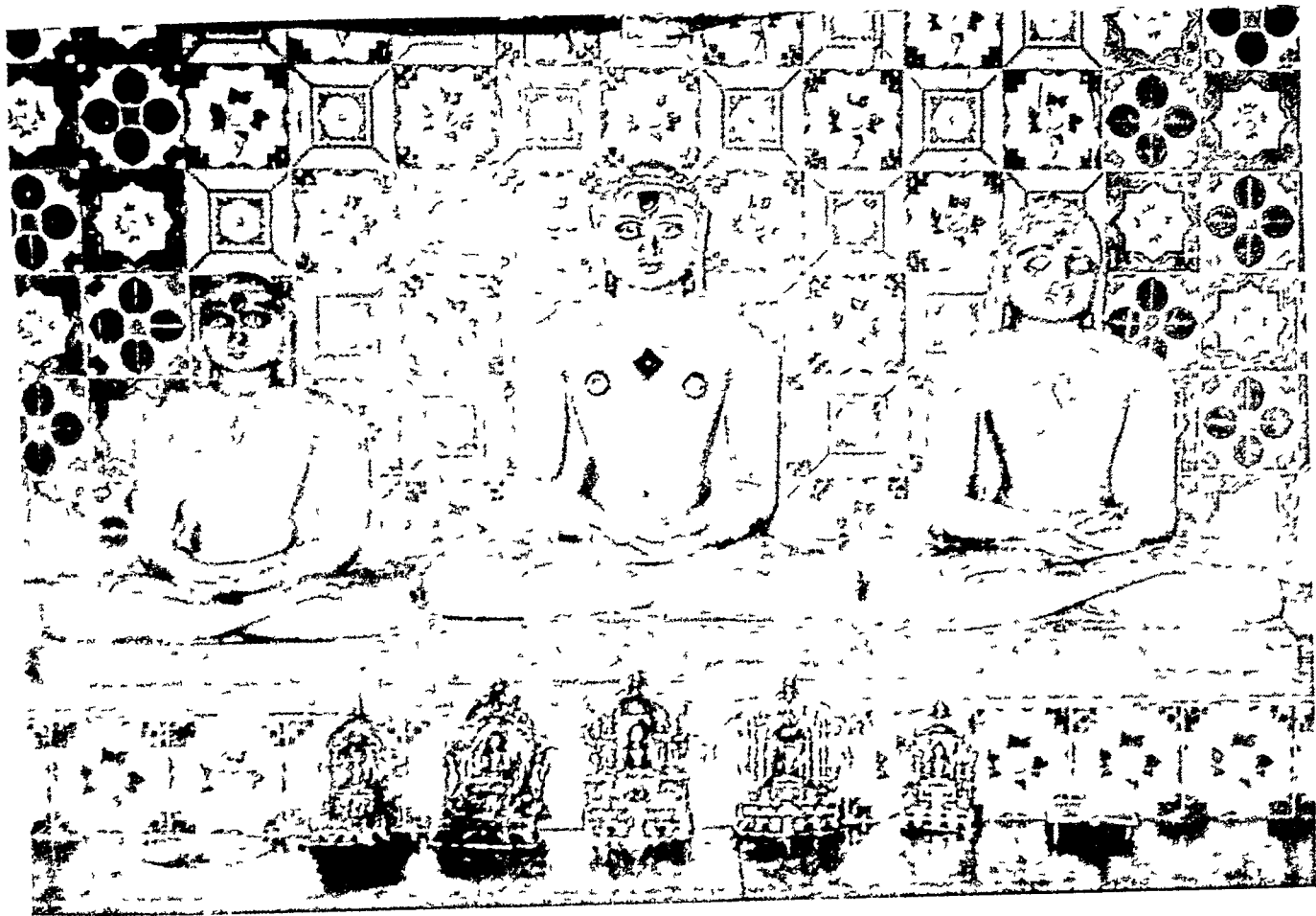
प्राचीन श्री तालनपुर तीर्थ का नवनिर्मित मंदिर कुक्षी (धार-मध्यभारत)
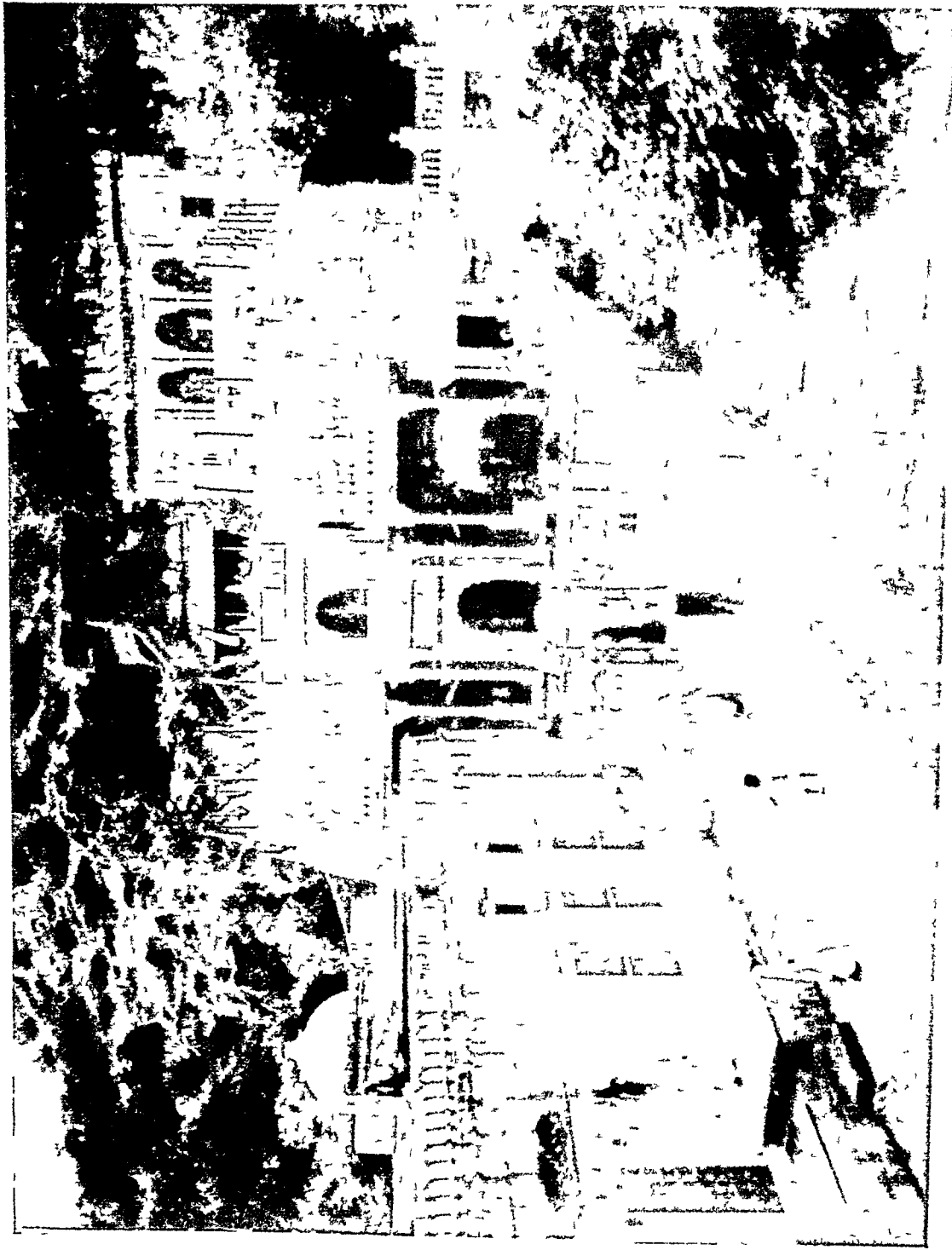
श्रीमद् राजेन्द्रसूरि महाराज के उपदेश से पुनरुद्धारित श्री कुमारपालसम्राट्निर्मित श्री सुविधिनाथजिनालय,
सिवाणा (मारवाड़-राजस्थान)

के माघ शुक्ला १० के दिन महोत्सवपूर्वक प्राचीन श्रीगौड़ीपार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की और शिखर पर कलश और दंडध्वज समारोपित किये।

५–राजगढ (जि. धार) से १ मील दूर पश्चिम में श्रीसिद्धाचलदिशिवंदनार्थ राजगढ़निवासी संघवी शा दल्लाजी लूणाजी प्राग्वाटने आपके ही उपदेश से सौधशिखरी जिनालय बनवाया था। उसमें विक्रम सं. १९४० के मार्गशिर शुक्ला ७ के दिन आपश्रीने श्रीआदिनाथ आदि ४१ जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की और उनको जिनालय में प्रतिष्ठित किया तथा शिखर पर दंडध्वज आरोपित किये। यहाँ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का समाधि-मन्दिर भी है।

६–धार–जिले के गॉव धामनदा में सं० १९४० के फा. शुक्ला ३ के दिन समारोहपूर्वक श्रीऋषभदेव भगवान् और श्रीसिद्धचक्रयंत्र की स्थापना की।

७–धार–जिले के दशाइ ग्राम में सं. १९४० फा. शुक्ला. ७ के दिन श्रीआदिनाथ आदि ९ प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की और उनको मन्दिर में विराजित किया तथा शिखर पर दंडध्वज समारोपित करवाये।

८–शिवगंज (सिरोही) में विक्रम संवत् १९४५ के माघ शुक्ला ५ के दिन दशदिनावधिक महामहोत्सवपूर्वक पोरवाल शा वन्नाजी मेवाजी के जिनालय के लिये और अन्य स्थानों के लिये श्रीअजितनाथ आदि २५० जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की और दो चैत्यों की प्रतिष्ठा की तथा शिखरों पर दंडध्वज स्थापित करवाये।

९–कुक्षी (धार) में वि. सं. १९४७ के वै. शुक्ला ७ को चौवीशजिनालयसमलंकृत श्रीआदिनाथ चैत्य के लिये ७५ जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की और मन्दिर में उनको प्रतिष्ठित किया तथा शिखरों पर दंड–ध्वज समारोपित करवाये।

१० तालनपुर तीर्थ (मालवा) में वि. सं. १९५० के माघ कृ. २ सोमवार को भूमिनिर्गत ५० जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा और श्रीपार्श्वनाथ चरणयुगल की प्राणप्रतिष्ठा की।

११ खटाली (म. भा.) में वि. सं. १९५० के माघ शुक्ला २ सोमवार को ३ प्रतिमाजी की प्राणप्रतिष्ठा की और उनको मन्दिर में स्थापित किया तथा शिखर पर दडध्वज स्थापित किये।

१२ रिंगनोद (मध्यभारत) में वि. सं. १९५१ माघ शु० ७ को चन्द्रप्रभु आदि ७ प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की तथा उनको मन्दिर में प्रतिष्ठित किया और शिखर पर दंडध्वज समारोपित किये।

१३ झाबुवा (मालवा) में ५२ जिनालयालंकृत जिनालय के लिये विक्रम संवत्

१९५२ के माघ शुक्ला १५ को २५१ जिनप्रतिमाजी की प्राणप्रतिष्ठा की तथा उनको मन्दिर में स्थापित किया और शिखरों पर दण्डध्वज संस्थापित करवाये। मालवे के कितने ही ग्राम-नगरों में इनमें की प्रतिमाएँ विराजमान हैं।

१४ बड़ी कड़ोद (जि. धार) में शेठ श्रीखेताजी वरदाजी के सुपुत्र श्रीउदयचन्द्रजी के बनवाये हुये सौधशिखरी जिनालय के लिये वि. सं. १९५३ वैशाख शुक्ला ७ गुरुवार को महोत्सवसह वासुपूज्यादि १५ प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की और उनको मन्दिर में स्थापित किया तथा इसी मुहूर्त में पंचायती गृहचैत्य में श्रीपार्श्वनाथ आदि प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की।

१५ पिपलोदा (मध्यभारत) में वि. सं. १९५४ वैशाख शुक्ला ७ के दिन महोत्सव-पूर्वक श्रीसुविधिनाथजी की प्रतिष्ठा की तथा शिखर पर दंडध्वज चढ़वाये।

१६ राजगढ़ (धार) में वि. सं. १९५४ के मार्गशिर शुक्ला १० को शान्तिनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा की।

१७ आहोर (राजस्थान) में श्रीगौडीपार्श्वनाथजी की ५ देवकुलिकाओं के लिये तथा समय-समय पर इतर ग्राम-नगरों के लिये अर्पण करने को ९५१ जिनप्रतिमाओं की महान् महोत्सवपूर्वक विक्रम संवत् १९५५ के फाल्गुण कृ. ५ गुरुवार को प्राणप्रतिष्ठा की तथा श्रीगौडीपार्श्वनाथ जिनालय की ५२ देवकुलिकाओं में प्रतिमाओं को स्थापित किया और शिखरों पर दंडध्वज समारोपित किये। इस प्रतिष्ठोत्सव में मरुधर, मालवा और मेवाड़ तथा गुजरात के ३५००० सहस्र स्त्री-पुरुष संमिलित हुये थे। मरुधर के १५० वर्ष के इतिहास में यह प्रतिष्ठोत्सव अपने ढंग का सर्व प्रथम था।

१८ सियाणा (राजस्थान) में परमार्हत महाराजा कुमारपाल के बनवाये हुये श्रीसुविधिनाथ मन्दिर में स्थापनार्थ तथा सियाणा के श्रीसंघ की बनवाई हुई देवकुलिकाओं में विराजमान करने के लिये वि. सं. १९५८ के माघ शुक्ला १३ गुरुवार को भारी महोत्सवपूर्वक श्रीअजितनाथ आदि २०१ जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की तथा उनको मन्दिर में स्थापित किया और शिखरों पर दंड-ध्वज आरोपित करवाये।

१९ आहोर (राजस्थान) में धर्मशाला के उपर बनी हुई आरसोपल की छत्री में धातुमय श्रीशान्तिनाथ आदि प्रतिमा को शुभ मुहूर्त में प्रतिष्ठित किया और इसी धर्मशाला के व्याख्यानालय में कड़ोद (मालवा) निवासी शा. खेताजी वरदाजी के सुपुत्र श्रीउदयचन्द्रजी के द्वारा बनवाये हुये श्रीराजेन्द्र जैनागम बृहद् ज्ञानभंडार की सं. १९५९ के माघ कृ. १ बुधवार के दिन प्रतिष्ठा की।

२० प्राचीन तीर्थ श्रीकोरटाजी (मारवाड़) में श्रीआदिनाथ आदि प्राचीन प्रतिमाओं

की प्रतिष्ठा तथा समय-समय पर अन्य ग्राम-नगरों के चैत्यों के लिये अर्पणार्थ वि. सं. १९५९ के वैशाख शुक्ला १५ पूर्णिमा गुरुवार को दशदिनावधिक महामहोत्सवपूर्वक २०१ जिनप्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की तथा मन्दिरों के शिखरों पर दंडध्वज समारोपित करवाये।

२१ गुड़ा बालोतरा (मारवाड) में पोरवाड़ अचलाजी दोलाजी के बनवाये हुये जिनालय में वि. सं. १९५९ के माघ शुक्ला ५ के दिन महोत्सव सहित श्रीधर्मनाथजी आदि बिंबों की प्रतिष्ठा की और शिखर पर दंडध्वज आरोपित करवाये।

२२ बाग (मालवा) में वि. सं. १९६१ मार्गशिर शुक्ला ५ के दिन विमलनाथस्वामी आदि ७ प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा की और उनको मन्दिर में स्थापित किया तथा शिखर पर दंडध्वज समारोपित करवाये।

२३ राजगढ़ (मालवा) में खजानची दोलतरामजी चुन्निलालजी पोरवाड़ के बनवाये हुये अष्टापदावतार चैत्य (अष्टापदजी) का वि. सं. १९६१ के माघ शुक्ला ५ गुरुवार के दिन दशदिनावधिक महोत्सवपूर्वक ऋषभदेवादि ५१ जिनप्रतिमाओं के साथ प्राणप्रतिष्ठा की तथा प्रतिमाओं को मन्दिर में स्थापित किया और शिखर पर दंडध्वज स्थापित करवाये।

२४ राणापुर (मालवा) में श्रीसंघ के बनवाये हुये जिनमन्दिर में वि. सं. १९६१ में फाल्गुन शुक्ला ३ गुरुवार के दिन सोत्सव श्रीधर्मनाथादि जिनेश्वरों की ११ प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा करके उनको विराजमान किया और शिखर पर ध्वज-दंड चढ़वाये।

२५ सरसी (मालवा) में सशिखर चैत्य में वि. सं. १९६२ के ज्येष्ठ शुक्ला ४ के दिन चन्द्रप्रभु आदि की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की और शिखर पर ध्वजदंड संस्थापित करवाये।

२६ राजगढ (मालवा) में दोलतराम हिराचंद के बनवाये हुये गुरुमन्दिर में वि. सं. १९६२ मार्गशिर शुक्ला २ के दिन श्रीगौतमस्वामी आदि की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की।

२७ जावरा (मालवा) में शा. लक्ष्मीचंदजी लोढ़ा के बनवाये हुये चैत्य में स्थापनार्थ वि. सं. १९६२ के पौष शुक्ला ७ के दिन अष्टाह्निका महोत्सवपूर्वक श्रीशीतलनाथ आदि प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाई।

१. पृ० १२३ पर जो 'वाद' मुद्रित हुआ है वहां बाग होना चाहिए। संपादक.

उपकारी गुरुदेव श्रीराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

वालचन्द जैन "साहित्यरत्न" राजगढ़ (धार)

आया और प्रकाश कर चला गया, किन्तु हम तो अब भी अन्धकार में ही भटक रहे हैं। जिसने सुप्तावस्था से हमें जागृत किया, जीवनज्योत जला कर प्रकाश दिया, जीवन-पुष्प चढ़ा कर समाज एवं राष्ट्र को अलंकृत किया, स्वयं जला दूसरों को आत्मसाधना का पाठ पढ़ाया, जीवन भर चैन न ली, लेता भी कैसे, आजतक संसार के किसी भी महापुरुषने चैन नहीं ली और उसी परम्परा को उसे चलाना था, वह कैसे आराम ले सकता था ? कैसे उसको और उसके उपकारों को भूल सकते हैं।

सांसारिक अवस्था में भी उनके सामने अपना लक्ष साधने की ही इच्छा थी। यही विचार था कि मैं मानव बन कर आया हूँ तो किस प्रकार इस बहुमूल्य वस्तु का उपयोग करूँ ?। वैभव जिसे डगा न सका—डिगाता भी कैसे ? सभी महापुरुषोंने अपनी साधना की आड़ में आनेवाले वैभव को ठुकराया है। क्या ऋषभ और क्या महावीर ? सभी के सामने वैभव दीवार बन कर खड़ा हो गया था, किन्तु सूर्य का प्रकाश जैसे अन्धकार को वेध देता है, उसी प्रकार इस महापुरुषने वैभव की दीवार को क्षणभर में नष्ट कर दी। इनका एक ही लक्ष्य था "सर्वे भवन्तु सुखिनः" इन्होंने अपने जीवनपुष्प को चढ़ा दिया और सफलता प्राप्त की। जैनधर्म की यही तो विशेषता है कि इस धर्म का महापुरुष कञ्चन और कामिनी के सामने कभी नहीं झुका।

जैनधर्म में जिनको महापुरुष की उपाधी दी है वे अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के नाम से पुकारे जाते हैं। एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा कि इन्होंने सांसारिक (प्रलोभन) संबंधों के सामने शिर झुकाया हो।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि सांसारिकता में आगे बढ़ जाना ही जिनका लक्ष्य है, वे कभी संसार को सुखी नहीं बना सकते।

जहाँ मनुष्य की उच्च त्याग की इच्छा मनसा, वाचा, कर्मणा प्रकारेण कार्यरूप में परिणत हो जाती है, वहीं जैनधर्मने उसे महापुरुष मान लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि त्याग का ही अपर नाम जैनत्व है। जैन का अर्थ है 'जयतीति जिनः जिनस्योपासकाः जैनाः' याने जो रागद्वेष को जीते वह जिन और जिन का उपासक सो जैन।

यह देश महापुरुषों की परम्परा का देश है, यहाँ पर एक न एक महापुरुष समय-समय पर होते रहते हैं।

हाँ तो मैं आज जिस महापुरुष की झाँकी आपको दिखला रहा हूँ वे हैं हमारे पूजनीय गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। ये बीसवीं शताब्दी में जैन-धर्म के एक महान् आचार्य हो चुके हैं। आपका बचपन का जीवनकाल भी क्रांतिमय रहा है। आप विद्यार्जन में, व्यापार में, व्यवसाय में, व्यवहारादि में परम कुशल थे।

सांसारिक सुख को आपने तृणवत् समझा और आपकी इच्छा यही रहती थी कि मैं कब अकिंचन बन कर समाज की सेवा करूँ और धर्म का वास्तविक मर्म समझूँ। निदान आपने सांसारिक बंधनों को त्यागा और त्यागी बने, विद्याभ्यास किया और विद्वान बने। उस समय यद्यपि अनेक आचार्य, साधु, यति इत्यादि जैन धर्म का प्रचार करते थे; किन्तु आपको उनके आचारों और व्यवहारों से सन्तोष न था। जिस धर्ममार्ग में चलकर प्राचीन जैन महर्षियोंने उत्कृष्ट आचार पालकर शुद्ध शाश्वत धर्म की देशना दी थी, वही सद्मार्ग आपको भी रुचिकर था। आपने अध्ययन कर अनवरत सत्य की गवेषणा की और जो सिद्धान्त सत्य शाश्वत सिद्ध हुआ उसीका पालन किया और प्रचार भी।

आपकी इस निर्भीकताने उस समय के साधुओं और तथाकथित यतियों को जिनका आचार-व्यवहार उत्तम न था; जो धर्म की आड़ में ढकोसलों को प्रोत्साहन देते थे-हिला दिया। इस कारण आपको अनेक कष्ट सहने पड़े; किन्तु महापुरुष कष्टों की परवा नहीं करता, जो सत्य होता है उसीको सिद्ध करता है।

आपका जीवन परमोत्तम जीवन था। आपने अपने जीवन को साधनामय जीवन बना दिया। उत्कृष्ट तपस्या, उग्र विहार और आत्म-चिंतन कर आपने इन्द्रियों के विषय-विकारों को भस्मसात् कर दिया। शरीर-कष्ट की कभी भी चिंता-विचारणा नहीं की। करते भी कैसे ? आप समझते थे कि शरीर का सड़न-पड़न और विध्वंसन है, जितनी साधना करनी हो कर ही लेना हितावह है।

जैनधर्म निष्कलंक और परम श्रेष्ठ धर्म है। इसमें शैथिल्य को तनिकमात्र भी स्थान नहीं है। परन्तु समय-समय पर कालवशात् जब शिथिलता आई, तब-तब ऐसे महान् तेजस्वी आचार्य होते रहे हैं जिन्होंने प्राचीन शुद्ध परिपाटि को समझ कर तथा उसको जीवन में ढाल कर समाज को सत्य का दर्शन कराया। ऐसे ही श्रमणाचार्यों में परम श्रद्धेय गुरुदेव श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज भी हैं।

विदेशी शासन में भारतीय सभ्यता गतिविहीन होगई थी। देश की जनता बाह्याचार

को जीवन का प्रमुख अंग मानकर धर्म को भूल बैठी थी। चारों ओर अंग्रेजियत का ही बोलबाला था। भारतवासी अपनी परम्परा से घृणा करने लग गये थे और गोरों को ही अपना प्रभु मानने लग गये थे। इसके पहले लगभग सात सौ वर्ष पर्यन्त यवनों का शासन इस देश पर रहा। उन्होंने भी यहाँ की सभ्यता को और संस्कृति को मिटाने में कसर न रक्खी थी। भारत की जमीन पर भले ही विदेशियोंने शासन कर लिया हो, लेकिन आत्मा पर नहीं कर सके-महात्माओं पर नहीं कर सके। यहाँ के महर्षियोंने तो नित्य भारतीय संस्कृति का ही प्रचार किया, फिर चाहे किसीका भी शासन रहा हो।

इस बीसवीं शताब्दी में जब सारे देश में शिथिलाचार फैला हुआ था, जैन-शासन भी इससे अछूता नहीं रहा। इसके भी तो यतियों और अनुयायियों में शिथिलाचार बढ़ गया था। यतिवर्ग का प्रभुत्व देश की जैन जनता पर छाया हुआ था। यति लोग लोभी और शिथिलाचारी बन गये थे।

यद्यपि गुरुदेव प्रभु श्रीराजेन्द्रसूरिजी महाराजने भी प्रथम यतिदीक्षा ही ग्रहण की थी; किन्तु उससे आपको सन्तोष न हुआ और जैसे-जैसे आप का ज्ञान बढ़ता गया वैसे-वैसे आचार-व्यवहारों में आगमोक्त पद्धति से विपरीत जो प्रवृत्तियाँ घुस गयी थीं उनका त्याग करते हुये आप सर्वगुणसम्पन्न शुद्ध जैनाचार पालन करनेवाले आचार्य बने। जैन समाजने आपके त्यागमय जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर लाभ उठाया। आपका ही प्रताप है कि आज जो भारत से यति-प्रथा का लोप-सा हो गया है, यदि मुझे सच कहने दिया जाय तो कहूँगा कि यदि इस महामानव का जन्म नहीं हुआ होता तो हम जैन लोग वीतराग की साधना से दूर कहीं के कहीं भटक जाकर अविरतिभोगासक्त देवि-देवताओं के फंद में फंस जाते।

साहित्य के क्षेत्र में भी आप जैसा महान् पण्डित जैन समाज में आपके पश्चात् दृष्टिगोचर नहीं होता है। आपने ६१ ग्रन्थों की रचना की है। आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'अभिधान राजेन्द्र कोष' है जिसकी प्रशंसा सारे संसार के विद्वानोंने मुक्तकण्ठ से की है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आपने सर्वतोमुखी विकास किया था और अपना सारा जीवन समाज-सेवा एवं साहित्य की सेवा में ही बिताया है।

सरस्वतीपुत्र श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरि ।

दौलतसिंह लोढ़ा 'अरविंद' बी. ए. सरस्वती विहार-भीलवाड़ा

संसार पर भिन्न २ विचारक, ज्ञानी, विद्वान् एवं अनुभवप्रधान व्यक्तियोंने अपने २ दृष्टि-कोण से विचार करके यह अंत में सबने एक मतसे स्थिर कर दिया है कि संसार असार है, यह अशाश्वत है, यहाँ जो जन्मता, उत्पन्न होता है वह भी अशाश्वत है; फलतः संसार में आसक्ति रखना मूर्खता, अज्ञता तथा मिथ्या विचार है । इतना सामने सदा रहने पर भी यह आत्मा मायावी देह में प्रविष्ट हो कर, सासारिक आकर्षणों में उलझ कर, तेरा-मेरा के चक्र में फंस कर, भौतिक पदार्थों से प्राप्त होनेवाले सुख-सुविधा से मोहित हो कर, सुष्ठ-मिष्ठ के फेर में, स्वजन-परिजन-कलत्र-पुत्र-स्त्री-मित्र के मोह-ममत्व में सदा अपनी अमरता, शाश्वतता को भूल कर उत्पात करता रहा है । जब २ संसार में विकट रण, पारस्परिक द्वन्द्व, परस्पर विग्रह, चौरी, मैथुन, स्वार्थ, संहार, छल-कपट-पाखण्ड आदि दुःखद कुकृत्यों का सार्वत्रिक प्राबल्य हुआ है विचारक, ज्ञानी एवं विद्वानोंने अपनी आहुति दे कर तथा अपना सर्वस्व देकर भी जग का त्राण प्राणार्पण करके किया है, ऐसा कथा, पुराण, इतिहास से सिद्ध होता है । श्रीमद् राजेन्द्रसूरि संसार के ऐसे ही विचारक, ज्ञानी एवं विद्वानों में और भारत में वीसवीं शताब्दी में उत्पन्न हुये प्रसिद्ध सुधारक महाव्यक्तियों में एक अग्रणी, तपस्वी, कर्मठ, श्रमशील, त्यागी, विद्वान् साधु हो गये हैं । ऐसे महाविद्वान् मुनिपति का विशाल दृष्टिकोण एवं व्यापक क्षेत्र में स्मरण-उत्सव का आयोजन प्रेरणादायी, उपयोगी और नव विचार एवं भाव देनेवाला ही रहेगा इसमें कोई विचार-वैभिन्न्य नहीं । मै श्रद्धा के पुष्प आपके अति संक्षिप्त जीवन वृत्त को रच कर भेंट करता हूँ, वह मेरे स्नेही पाठकों को स्वीकार्य होगा और उत्सव के अवसर पर श्रद्धाञ्जली रूप में स्वीकृत होगा ऐसी आशा है ।

वंश-परिचय

वीरमाता राजस्थान भूमि के 'भरतपुर' नाम के प्रसिद्ध नगर में निवास करनेवाले जैन उपकेशज्ञातीय पारख (परीक्षक) गौत्रीय कुल में वि. सं. १८८३ पौष शुक्ला ७ (सप्तमी) गुरुवार तदनुसार दिसम्बर ३ सन् १८२७ को आप का जन्म हुआ था । पिता ऋषभदास और माता केसरबाई आपको अल्पायु में ही छोड़ कर मृत्यु को प्राप्त हो गये थे । आपका शिक्षण आपके ज्येष्ठ भ्राता माणिकलालने करवाया था । गंगाबाई ज्येष्ठा और प्रेमबाई नाम की कनिष्ठा

आप की भगिनियाँ थीं। माता-पिता के अभाव में आप का शिक्षण जैसा चाहिये वैसा नहीं बन सका और आप को व्यवसाय में लगना पड़ा। व्यवसाय में आप का मन नहीं लगता था। झूठ, कपट एवं ऊँचा-नीचा करना-कराना आप के स्वभाव को तनिक भी नहीं रुचता था। धीरे-धीरे आप के मानस में वैराग्य-भाव घर कर रहा था। माता-पिता के अभाव में जो शिशु एवं अबोध बालक को सहन करना होता है वह आपको भी करना पड़ा और संसार की असारता का आपने भलीभांति दर्शन कर लिया। निदान आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता को एक दिन अपने निश्चय से विदित कर भी दिया।

वि. सं. १९०२ में अनुक्रम से विहार करते २ श्रीमद् प्रमोदसूरिजी महाराज वहाँ पधारे। सूरिजी के व्याख्यानों का श्रवण आप भी करने जाया करते थे। वैसे आप की आयु उस समय १९ वर्ष की थी। आप बड़े कुशाग्रबुद्धि और समझदार थे।

यतिदीक्षा व शिक्षा

आप के मस्तिष्क में जो वैराग्य अंकुरित हो रहा था उसको सूरिजी के व्याख्यानों एवं उनकी जीवनचर्या से गहरा पोषण ही नहीं मिला, एक दृढ एवं स्वस्थ दिशा भी प्राप्त हुई और आप में अंकुरित होता हुआ वैराग्य भाव पल्लवित हो उठा। निदान ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा ले कर आपने श्रीप्रमोदसूरिजी को अपने भाव कहे और उनके ज्येष्ठ गुरुभ्राता श्रीहेमविजयजी के करकमलों से वि. सं. [1]१९०३ वै. शुक्ला ५ शुक्रवार को आपने यतिदीक्षा ग्रहण की और रत्नविजय आप का नाम रक्खा गया।

श्रीमद् प्रमोदसूरिजी के अध्यापकत्व में आपने जैनधर्म का अध्ययन प्रारंभ किया। प्रखर प्रतिभासंपन्न तो आप थे ही और वैसे ही रूपवान् और परिश्रमी भी थे। इन विशेषताओं के ऊपर आप में विनय और नम्रता के गुण भी पूर्णरूप से थे। आप को सूरिजी के हृदयहार शिष्य बनने में कुछ भी समय और कठिनाई नहीं हुई। सूरिजीने बड़े प्रेम एवं गुरुभाव से आप को संस्कृत और प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रारंभ करवाया और प्रारंभिक जैन पुस्तक और ग्रंथों का स्तुत्य अभ्यास करा दिया। तत्पश्चात् आप को खरतरगच्छीय श्रीमद् सागरचन्द्रजी के पास में ऊँचा शिक्षण लेने के लिये भेज दिया गया। श्रीमद् सागरचन्द्रजी उस समय के जैनागमों के ज्ञाताओं में एवं संस्कृत-प्राकृत के विद्वानों में अग्रगण्य माने जाते थे। आपने उक्त यतिवर्य्य की निश्रा में रह कर कुछ वर्षों में ही छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, निरुक्त और अलंकार तथा संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में रचित जैन धर्म के प्रमुख एवं प्रारंभिक ग्रंथों का अच्छा अध्ययन कर लिया। तत्पश्चात् आपको तपगच्छीय श्रीमद् पूज्यश्री देवेन्द्रसूरिजी की सेवा में जैनागम और शास्त्रों का अध्ययन करने को भेजा गया।

---

१ पृ० ११८ पर यति-दीक्षा का संवत् '१९०४' मुद्रित हुआ है, वहां सं. १९०३ होना चाहिए। संपादक.

श्रीमद् देवेन्द्रसूरिजी आप की मोहक मूर्त्ति, आप की स्वाध्याय में तत्परता और रुचि पर तथा आप के विनयादि गुणों से बड़े ही आकृष्ट हुये और रुचिपूर्वक आप को समूचे जैन शास्त्रों का अध्ययन कराना स्वीकार किया। अब आप स्थायी रूप से उक्त सूरिजी की निश्रा में ही रहने लगे। सूरिजी की आप अतिशय भक्तिभाव से सेवा करते थे और आज्ञा-पालन में प्रतिपल तत्पर रहते थे। सूरिजी भी आप को बड़े प्रेम और रुचि से जैन शास्त्रों का शिक्षण देते थे। आपने जैनागम और प्रसिद्ध जैन ग्रंथों का अध्ययन तथा जैनेतर दर्शन और जैनेतर आवश्यक ग्रंथों का अभ्यास, एवं समूचा अध्ययन इन सूरिजी की तत्त्वावधानता में ही पूर्ण किया। श्रीमद् देवेन्द्र-सूरिजी के धीरविजय (धरणेन्द्रसूरि) नाम के युवराज (पट्टधर) शिष्य थे। आप ही श्री इनको पढ़ाते थे और अन्य शिष्यों को भी शिक्षण देते थे। सूरिजी आपको सर्व प्रकार योग्य, बुद्धिमान, विद्वान् समझ कर आप को अपने दफ्तरी का कार्य भी देने लगे। इस शताब्दी में श्रीपूज्यों का बड़ा मान था और उनके दफ्तरियों का भी मान बड़ा चढ़ा-बढ़ा था। दफ्तरी ही श्रीपूज्य के आधीन एवं आज्ञावर्त्ती यतियों को आज्ञायें, आदेश, संदेश, समाचार प्रचारित करते थे और श्रावकों के नाम घोषणायें एवं विज्ञप्तियां भेजा करते थे। श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजी का राधनपुर (गुजरात) में जब देहावसान हुआ, उस समय उनके युवराज शिष्य श्री धीर-विजयजी छोटी आयु के ही थे और शासन सम्भालने में पूरे योग्य नहीं हो पाये थे। वैसे वे पढ़ने में, लिखने में भी शिथिल और आचार में भी शिथिल ही थे। शासन का भार और श्रीधीरविजयजी की देख-रेख आपको अर्पित करके ही उन्होंने अपना अन्तिम श्वास त्यागा था। श्रीधीरविजयजी अपने गुरु के देहावसान पर धरणेन्द्रसूरि नाम से श्रीपूज्य बने और आपको अपने 'दफ्तरी' का पद स्थायीरूप से प्रदान किया।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरिजी के देहावसान के पश्चात् श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि और आप में स्नेह—संबंध बहुत थोड़े समय तक ही टिक सका। वे भोगी ये त्यागी, वे आलसी ये परिश्रमी, वे सुप्त ये जाग्रत, वे अल्पज्ञ ये पंडित, वे तंत्र-मंत्रप्रिय ये सिद्धान्त-प्रिय, वे दम्भी ये सत्यनिष्ठ, वे मनोरञ्जनप्रिय ये शास्त्राभ्यासी, वे रसिक ये कठोर तपस्वी-इस प्रकार दोनों में संघर्ष प्रारंभ हो गया। वि. सं. १९२३ में धरणेन्द्रसूरि का चातुर्मास घाणेराव (मारवाड़-राजस्थान) में था। श्रीधरणेन्द्रसूरिजी की रसिकता एवं विलासप्रियता सुनकर एक इत्रफरोस इत्र लेकर सूरिजी के पास आया। सूरिजीने उससे बहुत ऊँचे मूल्य का इत्र क्रीत किया। इस प्रसंग पर चरित्र-धारी, शुद्धव्रतवंत यति श्रीरत्नविजयजीने धरणेन्द्रसूरिजी को इत्र क्रीत करने से अनुनय-विनय करके रोकना चाहा; परन्तु वह व्यसनी श्रीपूज्य अपनी लोकनिन्दा का भी भय नहीं करता हुआ

दिशापरिवर्तन

रुका नहीं। इस पर दोनों में बड़ा भयकरं विवाद खड़ा हो गया और स्थिति ऐसी बन गई कि अब आपने व्यसनी और लज्जाहीन ऐसे श्रीपूज्य का त्याग करना ही सर्वथा हितकारी समझा। तुरंत आप उपरोक्त श्रीपूज्य के संग को त्याग कर आहोर (मारवाड़) आ गये, जहाँ आपके गुरु श्रीमद् विजयप्रमोदसूरिजी महाराज चातुर्मास विराजमान थे। सूरिजी और आहोर के श्रीसंघ ने जब आपके आहोर आने के कारण को और बने हुये प्रसंग के वृत्तान्त को सुना तो वे आपके साहस, आपकी त्यागभावना, सरल जीवन और उच्च आदर्श पर अति ही मुग्ध हुये और आपका सन्मानपूर्वक स्वागत ही नहीं किया, आपको सर्वप्रकार योग्य एवं विद्वान् समझ कर शुभमुहूर्त्त में सूरिपद प्रदान करके आपको स्वतन्त्र श्रीपूज्य स्वीकृत किया।

चातुर्मास के पश्चात् आपने आहोर से विहार किया और मालव-प्रदेश की ओर प्रयाण किया। तपशीलता, क्रियाशीलता और सरल साध्वाचार को देख कर मार्ग के ग्राम, नगरों के जैन संघ अचम्भित होते थे। आप के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान से जनता में एक नवजीवन जाग्रत होने लगा। आप जहां भी गये, वहां नवविचार, नवचैतन्य और साधु-आचार का आपने विशुद्ध चित्र अंकित किया। जन-सागर आप की ओर अभिमुख हो रहा था। इस प्रकार तप-तेज, व्याख्यान-रस से जैन-जगत को प्लावित करते हुये आप जावरा पधारे।

जावरा में क्रियोद्धार

श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिने जब आप की बढ़ती हुई प्रसिद्धि एवं कीर्त्ति-सौरभ की चर्चायें श्रवित कीं, वे बहुत ही घबराये और अतिशय लज्जित हुये। परन्तु अब क्या था! ज्ञानरत्न हाथ से निर्गत हो गया था। उन्होंने आप को पुनः लौट आने के लिये अपने अनुचर भेज कर कहलाया और पदादि के प्रलोभन देकर बहुत ही आकर्षित किया; परन्तु आपको तो ज्ञान का क्षितिज पार करना था, आप कैसे लोभ में आते?

आप जब जावरा पहुँचे तो जावरा की जनता ने आप का भारी स्वागत किया और धरणेन्द्रसूरिजी के विरोधी समाचार और आदेश-सदेशों की तनिक भी परवाह नहीं की। इतना ही नहीं आप का चातुर्मास भी उस वर्ष (वि. सं. १९२४) जावरा में ही हुआ। धरणेन्द्रसूरि के पक्षवर्ती सेवक और कुछ लोगों ने चातुर्मास में विघ्न उत्पन्न करने के कई प्रयास किये; परन्तु सर्व निष्फल गये। अंत में थकित हो कर धरणेन्द्रसूरिने आप से लिखित नियमों पर मेल करना स्वीकृत किया। इस पर आपने यतिवर्ग के जीवन को आदर्श बनानेवाली, उनके नष्ट हुये प्रभाव को स्थापित करनेवाली और उनमें संगठन पैदा करनेवाली नौ नियमों की एक आगमोक्त 'समाचारी' रच कर भेजी। धरणेन्द्रसूरिजीने उसको भी स्वीकृत किया और साथ में आपका आचार्य होना भी स्वीकार किया। इस प्रकार यह पारस्परिक

क्रियोद्धार-प्रशस्ति-ताम्रपत्र श्रीसुपार्श्वनाथ मंदिर, जावरा (मध्य-भारत)

क्रियोद्धार-स्थान श्री राजेन्द्रवट, जावरा (मध्य-भारत)
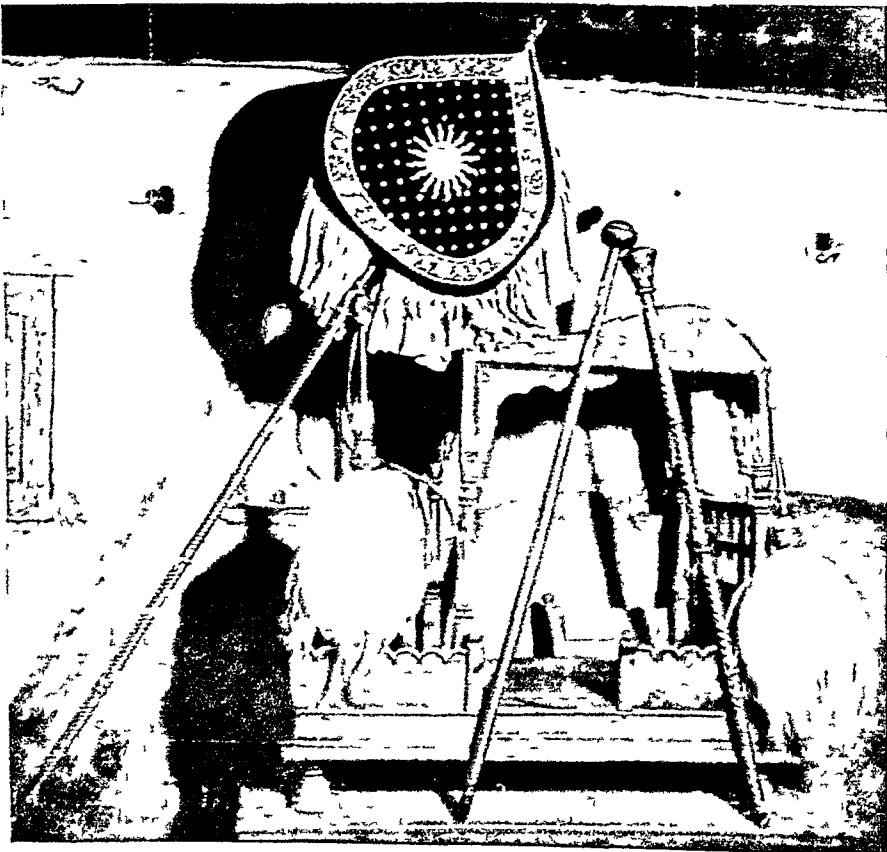
वि. सं. १९२५ आषाढ कृ० १० को क्रियोद्धार के समय त्यागे हुये छड़ी, चामर, पालखी आदि जो आज श्री राजेन्द्रभवन, जावरा (मध्य-भारत) में व्यवस्था के साथ सुरक्षित हैं

संवाद समाप्त हुआ। परन्तु आप को तो आगे बढ़ना था। यह सब विधिपूर्वक हो जाने पर आपने श्रीपूज्यपन का त्याग करना निश्चित किया। जावरा नगर के खाचरौद दरवाजे के आगे एक नाले के टट के पार जो वट-वृक्ष है, वहाँ जाकर आपने श्रीपूज्य के आडम्बर—शोभा-सामग्री का त्याग किया, जिसमें मुख्य पालखी, छत्र, चमर, छड़ी, गोटा आदि हैं, जो आज भी अभिनव निर्मित श्रीराजेन्द्र भवन, जावरा की विशाल अट्टालिका की प्रसिद्धि और मान का कारण बने हुये हैं। इसी आशय का जावरा-नरेश के दीवान के कर द्वारा प्रमाणित एक ताम्रपत्र श्रीसुपार्श्वनाथजी के जिनालय के पूर्वाभिमुख द्वार के बाहर दांये हाथ की ओर उत्तर शाख के समीप में लगा हुआ है। यहाँ से आप श्रीविजयराजेन्द्रसूरि नाम से प्रसिद्ध हुये।

इससे आगे इस भारतीय महाविद्वान् का व्यक्तित्व कई विविध दिशाओं में पूर्ण विकसित और सफल हुआ मिलता है; परन्तु यहाँ तो मैं केवळ साहित्यसेवा, तपश्चरण, त्रिस्तुतिक सिद्धान्त-प्रचार, कुछ विशिष्ट उल्लेखनीय बातें और धर्मकृत्य इन विषयों के उपर ही वर्णित करने का प्रयास करता हूँ।

वैसे तो इनके व्यक्तित्व एवं साधुत्व के दर्शन उपरोक्त नव कलमों के अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में ही इन कलमों संबंधी वर्णन है। जिससे सिद्ध होता है कि वे व्रत में दृढ, वचनों में अडिग, शील में अखण्ड, त्याग में अचल और आचार में परिष्कृत एवं प्रतिभावान, कठोर श्रमी, स्वाध्यायशील, शास्त्रज्ञ, समयज्ञ एवं ऊच्च श्रेणि के तपस्वी और संयमप्रधान जैन आचार्य थे।

यह सिद्धान्त श्रीमद् राजेन्द्रसूरि द्वारा प्रणीत अथवा प्रारंभ किया हुआ कोई नवीन मत नहीं है। इस सिद्धान्त सम्बंधी उल्लेख कतिपय प्राचीन जैन ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में इस सिद्धान्त संबंधी बहुत-कुछ परिचय अन्यत्र दिया गया है; अतः पुनरुल्लेखन से कोई विशेष तात्पर्य सिद्ध नहीं होता है। केवल यह ही कहना पर्याप्त है कि इस सिद्धान्त के मन्तव्य के अनुसार अमुक स्थलों पर देव-देवियों का स्मरण, आराधन कर्त्तव्य है और अमुक स्थलों पर नहीं। सिद्धान्त के मूल में यह भाव है कि देव-देवियों की तुर्यक्रमत-चार थुई के अनुसार जो प्रार्थना-स्वीकार की गई है, इस सिद्धान्त के अनुयायी उसे अस्वीकार करते हैं। आपने त्रिस्तुतिक सिद्धान्त का प्रचार करना ही अपने साधुजीवन का मुख्य लक्ष्य बनाया और आप अतः त्रिस्तुतिक श्वेताम्बर जैनाचार्य कहलाये।

त्रिस्तुतिक सिद्धान्त

थरादप्रदेश (उत्तर-गूर्जर), मरुधर-प्रान्त के साचोर, भीनमाल, जसवंतपुरा, जालोर, वाली के प्रगणों में, सिरोही के जोरामगरा में तथा मालव प्रदेश के धार-नैमाड़, रतलाम, जावरा,

उज्जैन, इन्दौर, मन्दसोर के प्रगणों के ग्रामों में उन्होंने अपने सिद्धान्त के सहस्रों अनुयायी बनाये और कई पाखण्डपूर्ण क्रियाओं एवं मिथ्या मान्यताओं के कलंक को जैन-समाज के भाल से धोया। अपने सिद्धान्त के प्रचार की सफलता के मूल में उनका तपस्वी जीवन, सत्यवादिता, दृढव्रतपालन, साध्वाचार में अद्भुत तत्परतापूर्ण निष्ठा और उनका अदम्य शास्त्र-ज्ञान रहे हैं। अपने सिद्धांत के प्रचार में उनको अनेक विवाद, शास्त्रार्थ करने पड़े, कष्ट एवं परिसह सहन करने पड़े; परन्तु वे दृढव्रती अडिग रहे और अतः वे अपने उद्देश्य में सफल हुये। फलतः मालवा, गुजरात, मारवाड़ के सैकड़ों ग्राम, पुरों में और मेवाड़ के कुछ ग्रामों में आज त्रिस्तुतिक सिद्धान्त के सहस्रों अनुयायी हैं।

श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरिजी के तपस्वी जीवन की जब आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली बातें, घटनायें और वार्तायें सुनते हैं और पढ़ते हैं तो प्रत्येक सुज्ञ को यह कहना पड़ता है कि वह

तपश्चरण

तपस्वी जितना दे सकता था, समाजने उससे उसका शतांश भी नहीं लिया। मितभाषी, मितभोजी, मितपरिग्रही वे एकदम थे। आलस्य वहां दर्शन मात्र को भी नहीं था। भाषण में स्पष्ट, बोलने में निर्दोष व व्यवहार में शुद्ध वे साधुत्व की प्रतिमा ही थे। मार्ग में चल रहे हैं, भयंकर जंगल में से निकल रहे हैं—एकदम ठहर गये। शिष्योंने कहा, "गुरुदेव! ग्राम कुछ कदम दूर पर ही है।" उत्तर मिलता, "साधु को अब एकदम बढने में भी रात्रिविहार-दोष लगता है।" यह तो एक झलक की भांति है। इस प्रकार विहार, आहार, ध्यान-संबंधी अनेक ऐसी घटनाओं से उनका जीवन भरा हुआ मिलता है। जंगली शेर, चीताओं से और उद्दण्ड पुरुषों से सामना कई बार उनको हुआ है; परन्तु उस तपस्वीने तपश्चरण में कभी शिथिलता को नहीं प्रविष्ट होने दिया। उन्होंने अपने कर-कमलों से जितने साधुओं को जैन भागवती दीक्षा दी थी, वे चतुर्थांश भी संख्या में उनके व्रत में कठिनतया रह पाये थे। उस समय की जैन समाज ऐसे महातपस्वी को अधिकांश में ईर्षाभरी, जलनभरी दृष्टि से देख कर ही लाभ लेने से वंचित रह गई, आज विज्ञ साधु और श्रावक दोनों इस बात को स्वीकार करते हैं। आपकी तपश्चरण में दृढ़ता के संबंध में पाठकों को कुछ स्पष्ट परिचय वर्त्तमानाचार्य श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहब द्वारा लिखित 'गुरुदेव के चमत्कारिक संस्मरण' लेख से भी हो जायगा।

जैसे आप उच्चव्रती साधु थे, वैसे ही ऊच्च कोटि के धर्मसेवक भी थे। सारभूत व्याख्यानों एवं धार्मिक, सांस्कृतिक विविध क्रिया-प्रक्रियाओं से तो आपने अपने अनुयायियों में

तीर्थ और मंदिरों की प्रतिष्ठायें

नवजीवन और नवप्राण फूंके ही; परन्तु साथ ही तीर्थ और मंदिर जो धर्म–महालय के आजतक स्तंभ कहे जाते रहे हैं, वे भी आपकी सेवाओं का लाभ प्राप्त करने से वंचित नहीं रहे। जैन ग्रंथों में कोरंटपुर (अथवा वर्त्तमान कोरटा) नगर का ऐश्वर्य श्रीरत्नप्रभसूरि के समय से प्रसिद्ध हुआ मिलता है। ऐसे प्राचीन नगर के अवशेष रहे लघुग्राम रूप में कोरटा नामक ग्राम आज विद्यमान है। आपश्रीने इस ग्राम में रहे हुये अति प्राचीन मंदिर श्रीमहावीरस्वामी की पुनः प्रतिष्ठा की और उसको प्रकाश में लाया। इस तीर्थ के उपर श्रीमद् विजययतीन्द्र-सूरीश्वरजी महाराज द्वारा प्रकाशित 'श्रीकोरटाजी तीर्थ का इतिहास' नामक पुस्तक में विस्तृत रूप में लिखा गया है और प्रस्तुत लेखों में भी एक लेख है। अतः मैं अधिक इस पर लिखना उपयुक्त नहीं समझता। तात्पर्य यह ही है कि आचार्यश्री की दृष्टि अप्रसिद्ध हुये प्राचीन तीर्थों को पुनः प्रकाश में लाने की भी अधिक रही है।

जालोर जिसको प्राचीन ग्रंथों में जाबालीपुर कहा गया है कंचनगिरि–स्वर्णगिरि कहे जानेवाले पर्वत की उपत्यका में आज भी निवसित है। कंचनगिरि पर यक्षवसति, कुमारपाल-विहार, चतुमुर्खादिनाथ आदि जिनालय हैं। आपने इस गिरि पर कठिन तपस्यायें भी की हैं और कुमारपालविहार, श्रीपार्श्वनाथ मंदिर और चतुमुर्खादिनाथ जिनालय की आपने पुनः प्रतिष्ठा की हैं[1]। ये मंदिर जीर्ण–शीर्ण दशा को प्राप्त हो गये थे, सहस्रों रुपयों से इनका जीर्णोद्धार होता रहा है और आज कंचनगिरि की शृंग पर विनिर्मित सुदृढ़ ऐतिहासिक दुर्ग की शोभा और यात्रा के ये कारण बने हुये हैं।

दियावट्टपट्टी में मांडवपुरस्थ प्रसिद्ध श्रीमहावीर जिनालय की प्राचीनता की ओर भी जैन जनता को आकर्षित करने का श्रेय आप ही को हैं।

कुक्षी से थोड़े अन्तर पर जो तालनपुर नामक स्थान कभी समृद्ध और सम्पन्न रहा है, वहाँ आपश्री की पुरातत्त्वदृष्टि से आज दो जिनालय तालनपुर की प्राचीनता और वहाॅ जैन समाज की रही समृद्धता का परिचय भलिविध करा रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में एतद् संबंधी वर्णन अन्यत्र आ चुका है।

आहोर के विशाल एवं उन्नत गौडीपार्श्वनाथ बावन जिनालय की प्रतिष्ठा भी आपने ही की हैं। वैसे छोटे–बड़े अनेक मंदिरों की प्रतिष्ठायें आपके करकमलों से हुई हैं, जिनको वर्णित करने का यहां उद्देश्य नहीं हैं। क्योंकि वे प्रस्तुत ग्रंथ में ही अन्यत्र वर्णित हो चुकी हैं।

---

१ पृ० ८४ पर कंचनगिरिस्थ मंदिरो की प्रतिष्ठातिथि माघ शु० '१' मुद्रित हुई है। होना माघ शु० ५ चाहिए।

२ पृ० ६३ पर जहा '१५०' जिनालयो की अंजनशलाका होना मुद्रित हुआ हैं, वहा ९५१ समझना चाहिए। —सम्पादक,

तपबल, चारित्रबल, आदर्श साधुत्व, मनशक्ति, विचारदृढ़ता, कष्टसहिष्णुता आदि विविध महत्वपूर्ण गुण और विशेषताओं को दिखानेवाली कोई मूर्त वस्तु तो हमारे पास नहीं है। इनकी प्रतीति तो उनके जीवनव्रत का अध्ययन करके ही की जा सकती है; परन्तु आप की विद्वत्ता का भान करानेवाली वस्तु जो श्री 'अभिधान राजेन्द्रकोष' नाम से भारत और बाहर देशों में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है, बहुत कुछ पर्याप्त है। इस महाकोष की प्रतियाँ भारत की प्रायः सभी विश्वविद्यालयों, विशाल राजकीय अन्य विद्यालयों और प्रसिद्ध एवं अति समृद्ध पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। भारत और बाहर के अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंने जिसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। यह अर्धमागधी-प्राकृत कोष जगतभर में अपने आकार में संभवतः एक ही है और ऐसे कोष की रचना का विचार भी विश्वभर में सर्व प्रथम आप के मस्तिष्क में ही जन्मा है। जितने encyclopaedia ग्रंथ आज विश्व के प्रदेशों की भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित देखे जाते हैं, मेरे विचार से यह महाकोष उनमें अग्रिम जन्म लेनेवालों में आश्चर्य नहीं, ज्येष्ठ ग्रंथ है।

साहित्यसेवा

'शब्दाम्बुनिधि' नामक अप्रकाशित कोष भी आप की एक ऐसी ही महत्त्वपूर्ण कृति है। वैसे आपने कुल ६१ ग्रंथों की रचना की है। उनमें से कुछ ग्रंथ ही अभी तक प्रकाशित किये जा सके हैं। शेष ग्रंथों को भी यथाशीघ्र प्रकाशित करने की अत्यन्त आवश्यकता है; लेकिन यह कार्य तो समाज के श्रीमन्त वर्ग का है।

'अभिधान राजेन्द्रकोष' पर प्राप्त महत्त्वपूर्ण संमतियों का लेखन अगर किया जाय तो एक स्वतंत्र पुस्तक बन सकती है। और वैसे इस महाकोष से विद्वान्, भाषाविज्ञ जैन, वैष्णव, आर्यसमाजी और इतर क्षेत्रसेवी भलीविध परिचित ही हैं। विदेशी विद्वान् अंग्रेज, जर्मन, जापानी, अमेरिकन, फ्रान्सीसी भी इससे कम परिचित नहीं हैं। फ्रान्सीसी विद्वान् सिल्व्हेन लेव्हीने लिखा है-"क्या ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्मों के क्षेत्र में कभी इसके जैसा ग्रंथ तैयार होगा।" सर ज्यॉर्ज ग्रीयर्सन विद्वान् लिखता है-"जिस ग्रंथ के साथ इसकी तुलना मैं कर सकूं ऐसा केवल एक मात्र ग्रंथ मुझे ज्ञात है और वह राजा राधाकान्तदेव का प्रसिद्ध शब्दकल्पद्रुम कोष है।" हमारे भारतीय विद्वानों की संमतियाँ फिर इन संमतियों से और अधिक अर्थगंभीर ही हैं तो उसमें आश्चर्य ही क्या है; परन्तु उनको दे कर विषय बढ़ाना मैं ठीक नहीं मानता। ध्यान आकर्षित करने भर के लिये इतना ही संकेत पर्याप्त है कि प्रस्तुत ग्रंथ में जो देश के अति प्रसिद्ध जैनेतर विद्वानोंने प्रामाणिक लेख दे कर इस दिवंगतात्मा विद्वान् के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है, वह ही इस महाविद्वान् की विद्वत्ता के सर्वमान्य होने को सिद्ध कर देती है।

कुछ विदेशी विद्वानों के लेख और संदेश जो प्राप्त हुये हैं उन से भी इस सरस्वतीपुत्र का मान बहिरदेशीय साहित्यिक अभिरुचि और क्रियावाले क्षेत्रों में कम है ? ऐसा नहीं माना जा सकता । हेमबर्ग से डॉ० सुब्रीम लिखते हैं—

" यह स्मारक ग्रंथ उस महान् और निरभिमान विद्वान् की स्मृति को सदा के लिये रखनेवाला एक ग्रंथ होगा । "

रोम से प्रो. टस्सी (Tucci) के जनरल सेक्रेट्री लिखते हैं—

"हमारे अध्यक्ष को जो, इस दिवंगतात्मा विद्वान् के सच्चे प्रशंसक हैं किसी विषय पर लिखने में बहुत आनंद होता । "

आचार्यश्री की विद्वत्ता ज्योतिष-क्षेत्र में भी कम नहीं रही है । आप का कोई भी मुहूर्त्त विघ्न-बाधाओं से विफल नहीं हुआ । आपने कई बार भविष्य वाणियां भी कीं जो सच्ची सिद्ध हुईं । कुक्षीनगर का दहन, अहमदाबाद के रतनपोल में रही हुई नगरसेठ की अट्टालिका में अग्नि-प्रकोप का होना आपने पहिले ही भाषित कर दिया था । इस संबंध में अधिक परिचय पाने के लिये श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरिजी महाराज साहब द्वारा लिखित लेख ' श्रीगुरुदेव के चमत्कारिक संस्मरण ' को देखें तो विश्वास हो जायगा कि साधना से वह कौन ज्ञान अथवा विद्या एवं कला हैं जो प्राप्त नहीं की जा सकतीं ।

अंत में मैं महान् तपस्वी, दृढ़ संकल्पी, अमर साहित्यसेवी, युग-युग तक अमर रहनेवाले श्रीमद् राजेन्द्रसूरि के संस्मरण में यह अपना श्रद्धापुष्प अर्पित करता हुआ वर्तमान और भावी पीढियों से आग्रहभरी विनती करता हूँ कि वे प्रत्येक विद्वान् को समझें और विशाल दृष्टिकोण रखकर उससे लाभ लें ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय गुर्वावली।

पूज्यपाद व्याख्यानवाचस्पति, लक्ष्मणीतीर्थोद्धारक आचार्यवर्य-श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरान्तेवासि-मुनिदेवेन्द्रविजय "साहित्यप्रेमी"

शासनपति-श्रीमहावीरस्वामी.

१ श्रीसुधर्मस्वामीजी।
२ श्रीजम्बूस्वामीजी।
३ श्रीप्रभवस्वामीजी।
४ श्रीशय्यंभवसूरिजी।
५ श्रीयशोभद्रसूरिजी।
६ { श्रीसंभूतिविजयजी। श्रीभद्रबाहुस्वामीजी।
७ श्रीस्थूलिभद्रसूरिजी।
८ { श्रीआर्यमहागिरिजी। श्रीआर्यसुहस्तिसूरिजी
९ { श्रीसुस्थितसूरिजी। श्रीसुप्रतिबद्धसूरिजी।
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरिजी।
११ श्रीदिन्नसूरिजी।
१२ श्रीसिंहगिरिसूरिजी।
१३ श्रीवज्रस्वामिजी।
१४ वज्रसेनसूरिजी।
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी।
१६ श्रीसामंतभद्रसूरिजी।
१७ श्रीवृद्धदेवसूरिजी।+
१८ श्रीप्रद्योतनसूरिजी।
१९ श्रीमानदेवसूरिजी।×
२० श्रीमानतुंगसूरिजी।*
२१ श्रीवीरसूरिजी।
२२ श्रीजयदेवसूरिजी।
२३ श्रीदेवानन्दसूरिजी।
२४ श्रीविक्रमसूरिजी।
२५ श्रीनरसिंहसूरिजी।
२६ श्रीसमुद्रसूरिजी।
२७ श्रीमानदेवसूरिजी।§
२८ श्रीविबुधप्रभसूरिजी।
२९ श्रीजयानन्दसूरिजी।
३० श्रीरविप्रभसूरिजी।
३१ श्रीयशोदेवसूरिजी।

+ आपने कोरटकपुर में श्रीमहावीरजिनबिंब की स्थापना-प्रतिष्ठा की। × सरस्वति, लक्ष्मी, पद्मा, जया, विजया और अपराजिता ये छ. देवियाँ आपकी भक्त थीं। तक्षशिला (गजनी) में उत्पन्न महामारी के निवारणार्थ नाडोल (राजस्थान) में रहकर आपने लघुशान्ति-स्तोत्र बनाया। * श्रीभक्तामरस्तोत्र और नमिऊणस्तोत्रादि जैसे महान् चमत्कारी स्तोत्रों की आपने रचना की है।

§-ये श्रीहरिभद्रसूरिजी के मित्र थे। इन्होंने गिरिनार पर्वत पर घोर तपस्या करके विस्मरण हुये सूरि-मंत्र को प्राप्त किया।

३२ श्रीप्रद्युम्नसूरिजी ।
३३ श्रीमानदेव[1]सूरिजी ।
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरिजी ।
३५ श्रीउद्योतनसूरिजी ।
३६ श्रीसर्वदेव[2]सूरिजी ।
३७ श्रीदेवसूरिजी ।
३८ श्रीसर्वदेव[3]सूरिजी ।
३९ श्रीयशोभद्रसूरिजी । श्रीनेमिचन्द्रसूरिजी ।
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरिजी ।
४१ श्रीअजितदेवसूरिजी ।
४२ श्रीविजयसिंहसूरिजी ।
४३ श्रीसोमप्रभसूरिजी । श्रीमणिरत्नसूरिजी ।
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरिजी ।
४५ श्रीदेवेन्द्रसूरिजी । श्रीविद्यानन्दसूरिजी ।
४६ श्रीधर्मघोषसूरिजी ।
४७ श्रीसोमप्रभसूरिजी ।
४८ श्रीसोमतिलकसूरिजी ।
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरिजी ।
५० श्रीसोमसुन्दरसूरिजी ।
५१ श्रीमुनिसु[4]न्दरसूरिजी ।
५२ रत्नशेखरसूरिजी ।
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरिजी ।
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरिजी ।
५५ श्रीहेमविमलसूरिजी ।
५६ श्रीआनन्दविमलसूरिजी ।
५७ श्रीविजयदानसूरिजी ।
५८ श्रीहीरविजयसूरिजी ।
५९ श्रीविजयसेनसूरि ।
६० श्रीविजयदेवसूरिजी ।
६१ श्रीविजयसिंहसूरिजी ।
६२ श्रीविजय[5]प्रभसूरिजी ।

६३–श्रीविजयरत्नसूरिजीः—जन्म संवत् १७१२ शीकर में, पिता ओशवंशीय श्री-सौभाग्यचंदजी, माता शृंगारबाई, जन्मनाम रत्नचन्द्रजी । आपने अति रूपवती सूरिबाई नामक श्रेष्ठीकन्या के साथ हुए सगपन को छोड़ कर सोलह वर्ष की किशोर वय में श्रीविजयप्रभसूरिजी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की थी । स्वगुरु के पास विद्याभ्यास कर वि. संवत् १७३२ ज्येष्ठ कृ० ६ के रोज नागोर (मारवाड़) में आचार्यपद प्राप्त किया । संवत् १७७० को जोधपुर में चातुर्मास रह कर महाराजा अजितसिंहजी को उपदेश दे कर मेड़ता में मुसलमानों ने

१–ये श्रीउपधानवाच्चनग्रन्थ के कर्ता हैं । २–ये वि सं १०१० मे हुये हैं । इन्होंने 'रामसैन्यपुर में श्रीऋषभदेवचैत्य में श्रीचन्द्रप्रभस्वामी की प्रतिष्ठा की थी । चन्द्रावती में कुंकणमत्री को प्रतिबोध दे कर उसको दीक्षा दी थी । ये श्रीगौतमस्वामीवत् लब्धि–सम्पन्न थे । ३–आपने अर्बुदाचल पर्वत के समीपस्थ ग्राम 'ढेलडी' में यशोभद्र, नेमिचन्द्र आदि आठ मुनिवरो को एक साथ आचार्यपद दिया था । ४ आपने व्यन्तर-देवकृत उपद्रवो के नाशार्थ 'सतिकरस्तोत्र' बनाया । ५ इन पट्टधर महर्षियो का परिचय जानने के लिये जिज्ञासुओं को श्रीतपागच्छ पट्टावली अवलोकन करना चाहिये ।

उपाश्रय की जो मस्जिद बना डाली थी, उसे तुड़वा कर फिर से उसको उपाश्रय का रूप दिया। आनन्दविमलसूरि आदि आचार्यों के प्रसादीकृत-'मासकल्पादि मर्यादा बोलपट्टक' सर्वत्र प्रसिद्ध कर गच्छ के साधु-साध्वियों को उत्कृष्ट मर्यादा में चलाए और जो शिथिल थे उनको गच्छ बाहर किये। चंद, सागर, और कुशल आदि शाखाओं के कितनेक शिथिलाचारियोंने आपका सामना भी किया, किन्तु उनकी परवाह नहीं करते हुये गच्छमर्यादा प्रवर्ताने में आप कटिबद्ध रहे। किसी भोजक-कविने कहा है कि:—

फिट् चन्दा फिट् सागरा, फिट् कुशला नै लेढ़ां।
रत्नसूरि धड़ूकतां, भाग गई सब भेढ़ां ॥ १ ॥

आपके ३३ हस्तदीक्षित शिष्य थे, उनमें से वृद्धक्षमाविजयजी सदाचारप्रिय, विनीत, सिद्धान्तपाठी, गच्छमर्यादापालक और सहनशीलतादि गुणों के प्रधानधारक थे। और लघु-क्षमाविजयजी भी गच्छमर्यादा के दृढ़पालक और अति लोकवल्लभ थे। आप वृद्धक्षमाविजयजी को आचार्यपदारूढ करके संवत् १७७३ आश्विन कृष्णा द्वितीया के दिन उदयपुर (मेवाड़) में स्वर्गवासी हुए।

६४-श्रीवृद्धक्षमासूरिजी:—जन्म संवत् १७५० खेतड़ी, पिता ओशवंशीय केशरी-मलजी, माता लक्ष्मीबाई, जन्मनाम क्षेम(खेम)चंद। आपने श्रीरत्नसूरि महाराज के पास ११ वर्ष की वय में दीक्षा ली थी। संवत् १७७२ में माघ शु० पांचम के दिन आपको श्रीविजय-रत्नसूरिजी महाराजने सूरिपद दिया जिसका महोत्सव शा. नानजी भाणजीने बड़े समारोह से किया और साहमती श्राविकाने एक सहस्र स्वर्ण मुद्राओं (मोहरों) से आपकी चरणपूजा की थी। एक समय आप बनाश नदी उतर रहे थे, तब चित्रावेल आपके चरणों में लिपटा गई थी, परन्तु आपने उसे लेने की अंशमात्र भी अभिलाषा नहीं की। गच्छभार निभाते हुए आपने जीवन पर्यन्त ही श्रीवर्द्धमानतप किया था। आपके अठारह शिष्य थे उनमें से मुख्य शिष्य श्रीदेवेन्द्रविजयजी को सूरिपदारूढ कर निर्दोष चरित्र पालन करते हुए आप संवत् १८२७ में राजस्थान के प्रसिद्ध नगर बीकानेर में स्वर्गवासी हुए।

६५-श्रीविजयदेवेन्द्रसूरिजी:—जन्म संवत् १७८५ रामगढ में। पिता ओशवंशीय पनराजजी, माता मानीबाई, संसारी नाम दौलतराज। संवत् १८२७ बीकानेर में आपको सूरि-पद मिला, आचार्यपदारूढ होते ही आपने जीवनपर्यन्त आयंबिल तप करने का नियम ग्रहण किया था। आपके १ क्षमाविजय २ खान्तिविजय, ३ हेमविजय और ४ कल्याणविजय ये चार अन्तेवासी थे। इनमें से क्षमाविजय को शिथिल और अविनीत जान कर आपने गच्छ बाहर कर दिया। खान्तिविजयजी सिद्धान्त-पारगामी, प्रकृति के भद्र, परन्तु कुछ लोभी प्रकृति के

थे। कोई भावुक सोने आदि के पूठे, ठवणियाँ देता तो उसे संग्रह कर लिया करते थे। उस समय हेमविजयजी कहा करते थे कि यह परिग्रह आगे शिष्यों के लिये दुःखकर होगा; अतः इसे संग्रह करना ठीक नहीं है। खान्तिविजयजी यों कह कर चुप लगाते थे कि यह परिग्रह हम अपने लिये नहीं, पर ज्ञान के लिये संग्रह करते हैं। यों करते २ खान्तिविजयजी का स्वर्गवास होगया, तब शिष्यों में पूठे और ठवणियों के लिये परस्पर कलह होने लगा। हेमविजयजी बोले कि मैंने तो पहले ही कहा था कि यह परिग्रह आगे दुःखदायी होगा, परन्तु उस समय मेरे कथन पर किसीने ध्यान नहीं दिया। अस्तु। हेमविजयजीने संवत् १८८३ में क्रियोद्धार किया और निर्दोषवृत्ति से रहने लगे। खान्तिविजयजी के लालविजय, दलपतविजय आदि शिष्य हुए। हेमविजयजी व्याकरण, न्याय और कार्मिक ग्रन्थों के अद्वितीय विद्वान् थे। उदयपुर के महाराणाने आपको "कार्मणसरस्वती" का पद दिया था।

एक समय देवेन्द्रसूरिजी ध्यान में विराजित थे। उन्होंने ध्यान में आगामी वर्ष दुष्काल पड़ने के चिह्न देख कर शिष्यों से कहा कि ओगणसित्तर में (१८६९) दुष्काल पड़ेगा। यह बात पाली-निवासी शान्तिदास सेठने सुन ली और गुरु-वचन पर विश्वास रख कर उसने धान्य संग्रह किया। वह खान्तिविजयादि अनेक साधुओं की आहारादि से बढ़ कर भक्ति करता था; परन्तु श्रीदेवेन्द्रसूरिजी महाराज तो उसके घर का आहारादि नहीं लेकर गांव में जो कुछ प्राप्त होता उससे ही सन्तुष्ट रहते थे। दुष्काल व्यतीत होने के बाद कल्याणविजयजी को आचार्यपद देकर आप संवत् १८७० में जोधपुर (मारवाड़-राजस्थान) में स्वर्गवासी हुए।

६६-श्रीविजयकल्याणसूरिजीः—जन्म संवत् १८२४ वीजापुर में। पिता का नाम देसलजी, माता धूलीबाई, संसारी नाम कलजी। आप ज्योतिष और गणित-शास्त्र के श्रेष्ठ विद्वान् थे। आपने अनेक ग्राम-नगरों में विहार कर उपदेश बल पर कितने ही प्रतिमा-विरोधियों का उद्धार किया तथा मेवाड़ और मारवाड़ में अनेक स्थानों पर मन्दिरों की होती हुई आशातनाएँ दूर करवाईं। संवत् १८९३ में श्रीप्रमोदविजयजी को आचार्यपद दे कर आप आहोर में स्वर्गवासी हुए।

६७-श्रीविजयप्रमोदसूरिजीः—आपका जन्म गॉव डबोक (मेवाड़) में गौड़ब्राह्मण परमानन्दजी की धर्मपत्नी पार्वती से विक्रम संवत् १८५० चैत्र शु० प्रतिपदा को हुआ था। आपका संसारी नाम प्रमोदचन्द्र था। आपने संवत् १८६३ वैशाख शु० ३ के दिन दीक्षा ली थी। आपको संवत् १८९३ ज्येष्ठ शु० ५ को सूरिपद मिला था। आप शास्त्रलेखनकला के प्रेमी थे और उसमें बड़े दक्ष थे। आपका समय शास्त्र-लेखन में अधिक जाता था। यह बात आपके स्वहस्तोल्लिखित अनेक उपलब्ध ग्रन्थों से ज्ञात होती है। समय दोष से आप

में कुछ शिथिलता आ गई थी, परन्तु दोनों समय प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि क्रिया में आप बड़े कट्टर थे। वृद्धावस्था के कारण आपको आहोर में ही स्थायी रहना पड़ा था। आपके रत्नविजयजी (इस ग्रंथ के नायक) और ऋद्धि-विजयजी ये दो शिष्य थे। वि. संवत् १९२४ वैशाख शु० ५ के दिन श्रीसंघाग्रह से महामहोत्सवपूर्वक आपने श्रीरत्नविजयजी को आचार्यपदारूढ़ किया था और श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी नाम से उनको प्रसिद्ध किया। संवत् १९३४ चैत्र कृ० अमावस को आहोर में आपका स्वर्गवास हुआ।

६८-श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजीः—आपका जन्म वि. संवत् १८८३ पौष शु० ७ गुरुवार को अछनेरा रेल्वे स्टेशन से १७ मील दूर और आगरे के किले से ३४ मील दूर पश्चिम में राजपूताना के भरतपुर नगर में ओशवंशीय पारखगोत्री शेठ श्रीऋषभदासजी की धर्मपत्नी केशरबाई से हुवा था। आपका जन्म नाम रत्नराज था। बड़े भाई मानकचन्दजी व छोटी बहिन प्रेमाबाई थी। उदयपुर (मेवाड़) में श्रीप्रमोदसूरिजी के उपदेश से संवत् १९०३ वैशाख शु० ५ शुक्रवार को श्रीहेमविजयजी के पास आपने दीक्षा ली और नाम मुनि श्रीरत्न-विजयजी रक्खा गया।

खरतरगच्छीय यति श्रीसागरचन्द्रजी के पास व्याकरण, न्याय, काव्यादि ग्रन्थों का अभ्यास और तपागच्छीय श्रीदेवेन्द्रसूरिजी के पास रहकर जैनागमों का विधिपूर्वक अध्ययन किया। संवत् १९०९ वैशाख शुक्ला ३ के दिन उदयपुर (मेवाड़) में श्रीहेमविजयजीने आपको वृहद्दीक्षा और गणी (पन्यास) पद दिया। वि. सं. १९२४ वैशाख शुक्ला ५ बुधवार को श्रीप्रमोदसूरिजीने आपको आचार्यपदवी दी, जिसका महोत्सव आहोर (मारवाड़) के ठाकुर श्रीयशवन्तसिंहजीने बड़े समारोह से किया और आपका नाम 'श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी' रक्खा गया। वि. सं. १९२५ आषाढ़ कृ० १० बुधवार के दिन जावरा (मालवा) में आपने श्रीपूज्य श्रीधरणेन्द्रसूरि को सिद्धकुशल और मोतिविजय इन दोनों यतियों के द्वारा श्रीपूज्य-सुधार-सम्बन्धी नव कलमें स्वीकार करवा कर और उन पर उनके हस्ताक्षर करवा कर शास्त्रीय विधि-विधानपूर्वक महामहोत्सव सह क्रियोद्धार किया। इसी समय आपके पास भींडर (मेवाड़)

---

१ आपका जन्म सोजत (मारवाड़) में सं. १८२६ वै. शु ३ सोमवार के दिन गणधर चोपड़ा सुन्दरलालजी की पत्नी श्रीदेवी से हुवा था। जन्म नाम श्रीलालजी था। आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिजी के पास बीकानेर (मारवाड़) में स. १८४२ मार्ग० शु० २ गुरुवार को आपने दीक्षा ली। आप तत्कालीन प्रकाण्ड विद्वान् थे और आप क्रियापात्र, निग्रन्थ और सच्चे तपस्वी थे। गच्छ में शैथिल्य देख कर आपने विक्रम संवत् १८८३ में क्रियोद्धार किया था। संवत् १९०९ कार्तिक शु० पूर्णिमा के दिन जोधपुर (मारवाड़-राजस्थान) में आपका स्वर्गवास हुआ।

श्रीमद् भट्टारक विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज सहमुनिमण्डल, जावरा सवत् १९६२
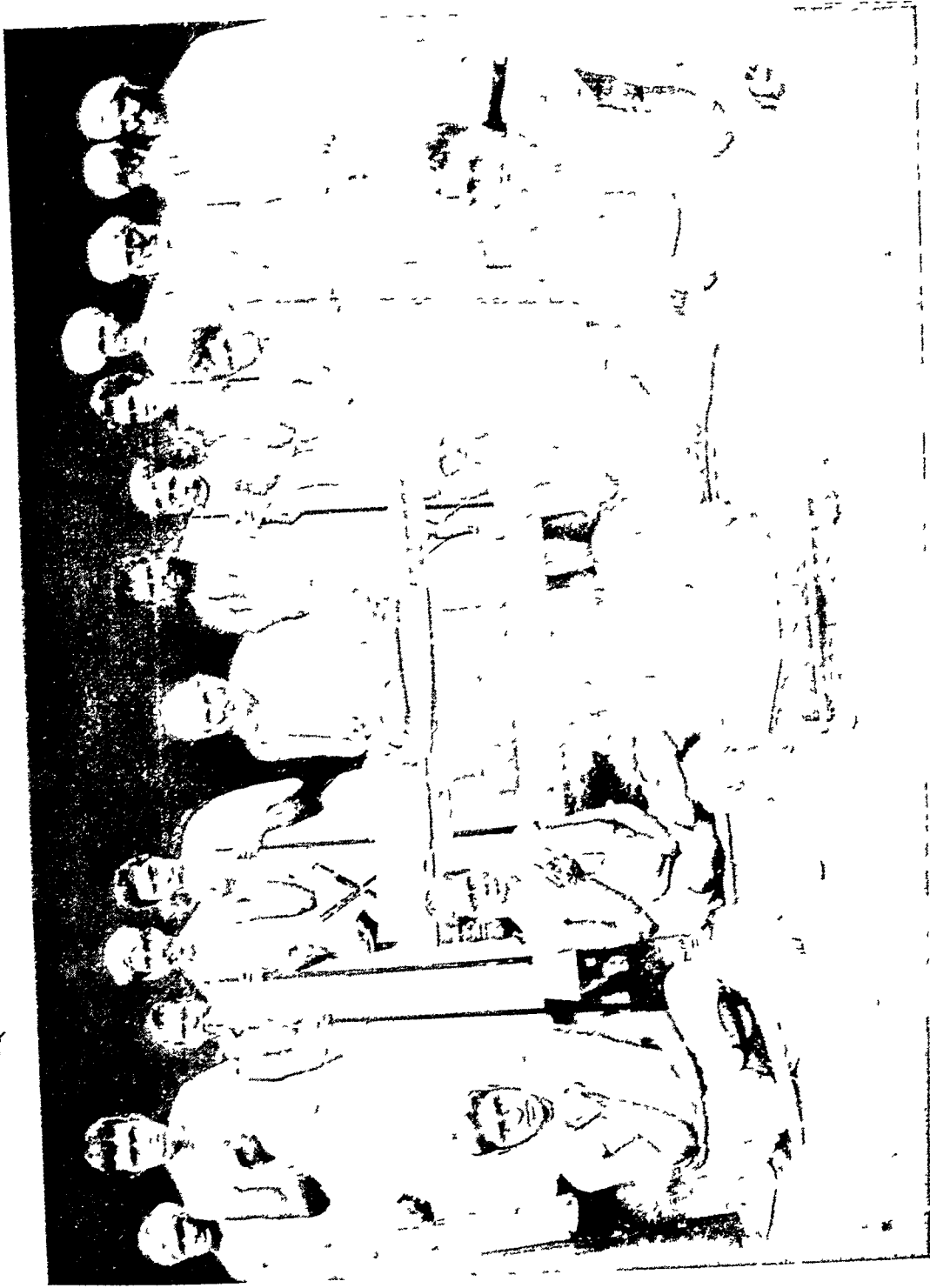
स्व. उपाध्याय श्री मोहनविजयजी महाराज

वि. सं. १९६८ वड़नगर (मालवा-मध्य भारत)

के यति प्रमोदरुचिजी और धानेरा (पालनपुर) के यति लक्ष्मीविजयजी के शिष्य धनविजयजी ने पंचमहाव्रत रूप दीक्षोपसंपद् ग्रहण की। सं. १९२७ के कुकसी के चातुर्मास में श्रीसंघ के आग्रह से आपने व्याख्यान में ४५ आगम सार्थ बांचे थे।

क्रियोद्धार के पश्चात् आपके करकमलों से २२ अंजनशलाका और अनेक प्रतिष्ठाएँ सम्पन्न हुई थीं। आपने चिरोला जैसे महाभयंकर २५० वर्ष पूराने जाति कलह को भी मिटाया था। आपने लोकोपकारार्थ प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी और गुजराती भाषा में श्रीअभिधान राजेन्द्रकोष, पाइयसद्दम्बुहिकोष, प्राकृतव्याकरण व्याकृति टीका (पद्य), श्रीकल्पसूत्रार्थ-प्रबोधिनी टीका, श्रीकल्याणमन्दिरस्तोत्र प्रक्रिया टीका, सकलैश्वर्य स्तोत्र, शब्दकौमुदी (पद्य); धातुपाठतरंग, और सिद्धान्तप्रकाश आदि ६१ ग्रन्थों की रचना की। आपके जीवन के अनेक कार्य हैं, जिनका विशेष परिचय 'श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर जीवनप्रभा' से जानना चाहिये। आपके हस्तदीक्षित श्रीधनचन्द्रसूरिजी, प्रमोदरुचिजी और मोहनविजयजी आदि १९ शिष्य और श्री-अमरश्रीजी, विद्याश्रीजी, प्रेमश्रीजी, मानश्रीजी आदि साध्वियाँ हैं।

झाबुवा और चिरोला-नरेश तथा सियाणा (राजस्थान) के ठाकुर आपके पूर्ण भक्त थे और आपके फोटू के नितप्रति दर्शन-पूजन करते थे। संवत् १९६३ पौष शु० ६ गुरुवार

१-आपका जन्म मेवाड़देशीय भींडरगाम में संवत् १८९६ कार्तिक शु० ५ के दिन ब्राह्मण शिवदत्त की पत्नी मेनावती से हुवा। छोटे भाई रघुदत्त और छोटी बहिन रुक्मणी थी। सवत् १९१३ माघ शुक्ला ५ गुरुवार को आपने पं अमररुचिजी के पास भींडर में ही यतिदीक्षा ली। विक्रम सवत् १९३८ आषाढ कृ० १४ के दिन बांगरोद (मध्यभारत) में आपका स्वर्गवास हुवा। आप संगीतशास्त्र के श्रेष्ठ विद्वान् थे। आपके रचित सज्झाय-स्तुति-चैत्यवंदन "प्रभुस्तवनसुधाकर" नामक पुस्तक में मुद्रित हो चुके हैं।

२ मालवे में चिरोला नामका एक गाँव है, जो रुनीझा रेल्वे स्टेशन से ६ मील पूर्व में है। विक्रम सवत् १७२० के लगभग यहा के एक वीसा ओसवाल गृहस्थने पारिवारिक कलह के कारण अपनी लड़की का सगपन रतलाम में और उसकी स्त्रीने सीतामऊ में कर दिया। निर्धारित समय पर दोनों ओर की बरातें आ उपस्थित हुईं, दोनों ओर के पंच बीच में पड़े। परन्तु सीतामऊवाले लड़की को व्याह ले गये। इससे अप-मानित होकर रतलामवालोंने सर्वानुमत से चिरोला और उसके पक्ष के खरसोद, मकरावन, भेंसला, ऊंडेसिंगा, सलावद, छोटा बालोदा, खेडावद और सीतामऊवालो को जाति से बहिष्कृत कर दिया। यहाँ तक की इन गावों के कुवों से जल पीना तक बन्द कर दिया और तो क्या ? वहा के अजैनों से भी व्यवहार-विच्छेद कर दिया। क्रमशः सारे मालवे में इस की पाबन्दी हो गई। कुछ समय उपरान्त सीतामऊवाले तो दण्ड देकर जातिमें शामिल हो गये, लेकिन शेष गाँव बहिष्कृत ही रहे। बाद में चिरोलादि आठ गाँवों के महाजनोंने रतलामवालों से अनेक बार प्रार्थना की और सारे मालवे भर का सघ भी कई बार मेला हुवा। स्थानकमार्गी साधु श्रीचौथमलजी और रतलामनरेशने भी अनेक प्रयत्न किये, परन्तु सब निष्फल रहे। सौभाग्य वश वि स. १९६२ का गुरुदेव का चोमासा खाचरोद में हुआ। उस समय ये लोग आपकी सेवा में आये। आपने अपनी शक्ति से बिना कुछ दण्ड लिये ही सर्वानुमत से इनको जाति में सामिल करवा दिया।

की रात्रि को आठ बजे राजगढ़ (मालवा) में अर्हम्-अर्हम् का उच्चारण करते हुए आपका स्वर्गवास हुवा। आपके स्वर्गवास के समय धार और झाबुवा के नरेश भी अन्तिम दर्शन को आए थे। स्वर्गवासोत्सव में राजगढ के जैन त्रिस्तुतिकसंघने तथा आगन्तुक संघने नव हजार की निछरावल की थी। पौष शुक्ला ७ शुक्रवार को राजगढ से एक मील दूर आपके ही दिव्योपदेश से संस्थापित जैन श्वे. तीर्थ श्रीमोहनखेड़ा में जहाँ आपके पार्थिव शरीर का अग्नि-संस्कार किया गया था, वहीं पर एक अति रमणीय संगमरमर का समाधि-मन्दिर निर्माण कराने का निश्चय किया गया, जिसमें आपकी रम्य मनोहर प्रतिकृति (प्रतिमा) आज विराजित है। अन्त्येष्ठि-क्रिया के दिन ही प्रतिवर्ष आपकी जयंती मनाई जाती है।

६९-श्रीविजयधनचन्द्रसूरिजी—आपका जन्म वि. संवत् १८९६ चैत्र शु० ४ के दिन फूलेरा जंक्शन से ३१ मील दूर पश्चिम-दक्षिण में राजपूताने की प्रसिद्ध रियासत 'किशनगढ' में ओशवंशीय कंकु चोपड़ा गौत्रीय शा. ऋद्धिकरणजी की धर्मपत्नी अचलादेवी से हुवा था। आपका जन्म नाम 'धनराज' था। बड़े भाई मोहनलाल व छोटी बहिन रूपीनाम की थी। संवत् १९१७ वैशाख शुक्ला ३ गुरुवार के दिन धानेरा (उत्तर गुजरात) में देवसूरगच्छीय-यति लक्ष्मीविजयजी के पास आपने यतिदीक्षा ली और 'धनविजयजी' नाम रक्खा गया। वि. सं. १९२५ आषाढ कृ० १० बुधवार के दिन जावरा (मध्य भारत) में जैनाचार्यवर्य प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के पास आपने साधु दीक्षोपसंपद् स्वीकार की और उन्हीं के करकमलों से खाचरोद (मालवा) में आपको संवत् १९२५ मार्गशीर्ष शुक्ला ५ के दिन उपाध्याय पद मिला। पश्चात् आपने मालवा, मारवाड़, मेवाड़, और गुजरात में विचरण कर अनेक प्राणियों को धर्मबोध दिया। संवत् १९६५ ज्येष्ठ शुक्ला ११ के दिन जावरा (मालवा) में आपको श्रीजैनचतुर्विध संघने श्रीराजेन्द्रसूरिजी के पट्ट पर विराजित कर आचार्यपद दिया। जिसके महोत्सव में जावरा श्रीसंघने १५ सहस्र रुपया खर्च किया। संवत् १९६६ में पौष शुक्ला नवमी के दिन श्रीविजयराजेन्द्रसूरिजी महाराज के हस्तदीक्षित शिष्य पं. श्रीमोहनविजयजी को आपने राणापुर (मालवा) में उपाध्याय पद देकर स्वसंप्रदायी साधु-साध्वीयों को उनकी ही आज्ञा से विचरने एवं चातुर्मासादि करने की आज्ञा प्रदान की। आपके गुलाबविजयजी, हंसविजयजी आदि ४ हस्त-दीक्षित शिष्य थे। आपके हाथ से प्रतिष्ठाञ्जनशलाकाएँ अनेक

---

१ आपका जन्म स० १९२२ भाद्र कृ० २ गुरुवार को जालोर-मंडलान्तर्गत साबूजा (मारवाड़) में ब्राह्मण वृद्धिचंद की धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवी से हुवा था। संवत् १९३३ माघ शुक्ला २ को श्रीमद्विजयराजेन्द्र-सूरिजी से जावरा (मध्यभारत) में दीक्षा ग्रहण की। सं० १९५९ फाल्गुन शुक्ला २ को शिवगंज में आपको पन्यास पद मिला। आप लोकप्रिय, शान्तस्वभावी, धर्मोपदेष्टा एवं पूर्ण गुरुभक्त थे। सं० १९७७ पौ. शु. ४ को कुक्षी (निमाड़) में आपका स्वर्गवास हुवा।

स्व. आचार्य श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी महाराज वि स. १९६५ जावरा (मालवा-मध्यभारत)
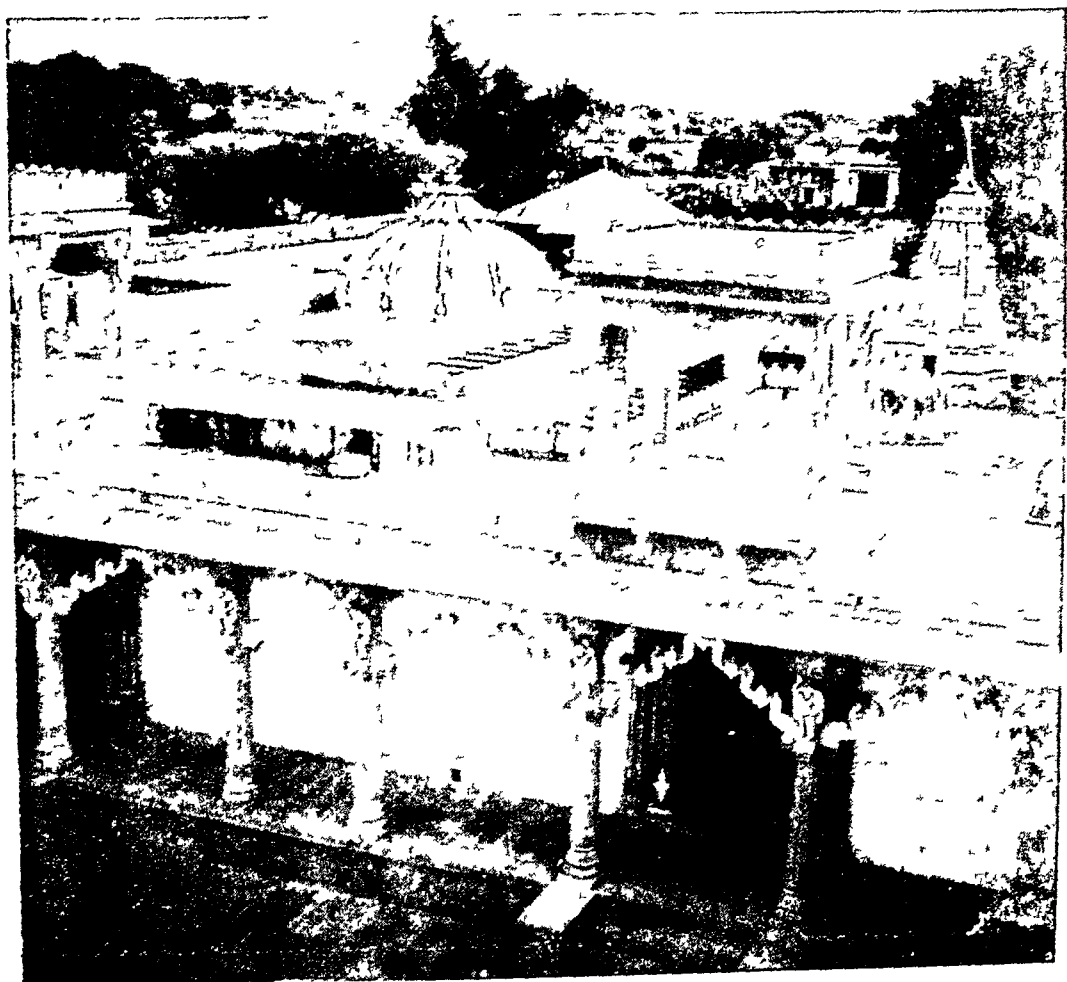
सशिखर श्री महावीर जिनालय के साथ श्री धनचन्द्रसूरि समाधि मंदिर, बागरा (मारवाड-राजस्थान)

स्व. आचार्यश्री भूपेन्द्रसूरिजी महाराज, वि. सं. १९६८ बड़नगर (मालवा-मध्यभारत)
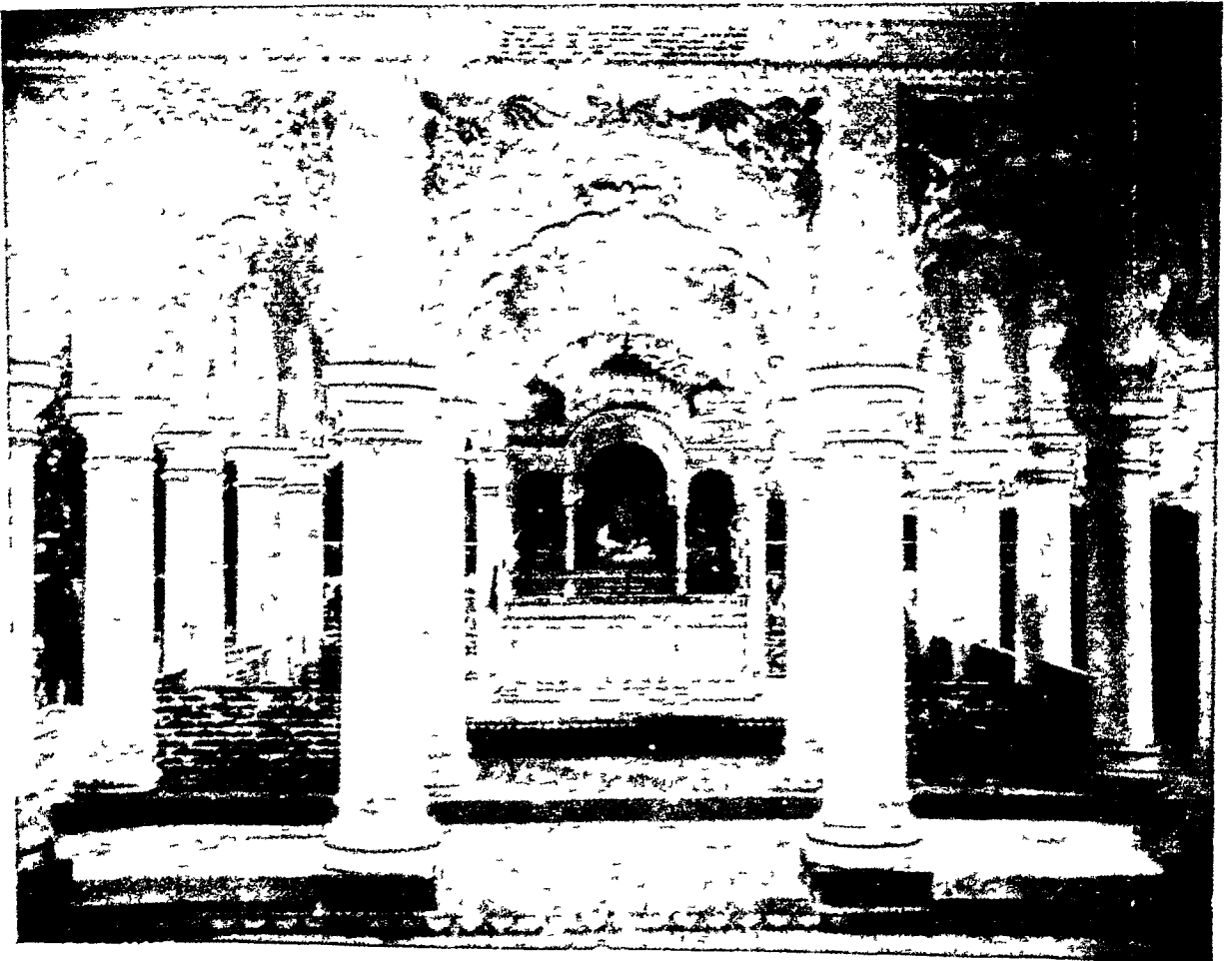
श्री भूपेन्द्रसूरि समाधि-मंदिर, आहोर (मारवाड-राजस्थान)

सम्पन्न हुईं और आपने स्तुतिप्रभाकर, जैन जन मांसभक्षणनिषेध, प्रश्नामृत प्रश्नोत्तर तरंग, चतुर्थस्तुतिनिर्णयशंकोद्धार और जैन विधवा पुनर्लग्ननिषेधादि अनेक ग्रन्थ बनाए। संवत् १९७७ भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा सोमवार के दिन रात्री को ८ बजे बागरा (मारवाड़) में आपका स्वर्गवास हुवा। स्वर्गवास महोत्सव में बागरा के श्रीसंघने सात हजार रुपयों का खर्च किया था।

७०–श्रीविजयभूपेन्द्रसूरिजी—आपका जन्म वि. सं. १९४४ वै. शु० ३ को भोपाल में फूलमाली भगवानजी की धर्मपत्नी सरस्वती से हुआ था। जन्म–नाम देवीचन्द्र था। संवत् १९५२ में आपने वैशाख शु० ३ शनिवार को आलिराजपुर में जगत्पूज्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी म. के करकमलों से दीक्षा ग्रहण की और आपका नाम श्री दीपविजयजी रक्खा गया। आप प्रकृति के सरल और शान्तिप्रिय थे। संवत् १९७३ में विद्वन्मंडलने आपको 'विद्याभूषण' का पद दिया। श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी के पट्ट पर श्री जैनचतुर्विध श्री संघने जावरा (म. भा.) में सं. १९८० ज्येष्ठ शु० ८ शुक्रवार को महामहोत्सवपूर्वक आपको विराजित कर श्री भूपेन्द्रसूरिजी आपका नाम घोषित किया। इसी उत्सव में मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी को उनकी अनिच्छा होते हुये भी श्री संघने उपाध्याय पद दिया। आपका विहारक्षेत्र मालवा, मेवाड़, मारवाड़, गुजरात और काठियावाड़ रहा है। आपके हस्तदीक्षित शिष्य दानविजयजी, कल्याणविजयजी आदि ५ हैं। वि. सं. १९९० अहमदावाद में हुए अखिल भारतवर्षीय श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मुनिसम्मेलन में आप भी पधारे थे, वहाँ नव वृद्ध पुरुषों (समाज के अग्रगण्य) की जो जनरल समिति नियत की गई थी, उसमें आपकी भी चुनौती हुई थी।

विश्वविख्यात् श्रीअभिधान राजेन्द्र महाकोष का संशोधन–सम्पादनकार्य आपने और वर्तमानाचार्य दोनोंने साथ रह कर सम्पन्न किया। इस प्रकार शासनप्रभावना करते हुए आपने चन्द्रराजचरित्र, सूक्तमुक्तावली, दृष्टान्तशतक संस्कृत–टीका आदि अनेक ग्रन्थ बनाए। विक्रम संवत् १९९३ माघ शु० ७ को प्रातः ४९ वर्ष की अल्पायु में ही आहोर (राजस्थान) में आप स्वर्गवासी हो गये।

७१–वर्तमानाचार्य श्रीविजययतीन्द्रसूरिजी—आपका जन्म विक्रम संवत् १९४० कार्तिक शुक्ला द्वितीया रविवार को धवलपुर (बुंदेलखंड) में दिगम्बर जैनधर्मावलम्बी राय साहब सेठ श्रीब्रजलालजी की गृहलक्ष्मी चम्पाबाई से हुवा था। जन्म–नाम रामरत्न था। आपके बड़े भाई दुल्हिचंद, छोटे भाई किशोरीलाल और बड़ी भगिनी गंगाकुमारी और छोटी रमाकुमारी थी। महेंदपुर में गुरुदेव श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरिजी म. के दर्शन हुये और उनके ही उपदेशामृत से प्रतिबुद्ध हो आपने संसार को निःसार समझ कर विक्रम संवत् १९५४ आषाढ़

कृ० २ सोमवार को खाचरौद (मध्य भारत) में दीक्षा ग्रहण की एवं नाम श्री यतीन्द्रविजयजी रखा गया। वि. सं. १९५५ माघ शु० ५ को आहोर में आपकी बड़ी दीक्षा हुई। गार्हस्थ्य-काल में ही आपने धार्मिकज्ञान तत्वार्थाधिगमसूत्र तक प्राप्त कर लिया था। गुरुदेव के साथ दस चातुर्मास करते हुये, अध्ययनपूर्वक प्रखर पाण्डित्य प्राप्त किया। तभी तो गुरुदेवने संवत् १९६३ पौष शु० ३ सोमवार को स्वर्गीय श्री भूपेन्द्रसूरिजी और आपको जगद्विख्यात् अभिधान राजेन्द्र कोष का सम्पादन-संशोधन सौंपा था, जिसे आप दोनोंने अच्छी तरह परिसमाप्त किया। वि. संवत् १९७२ में बागरा (राजस्थान) में श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराजने आपकी व्याख्यान-पद्धति पर प्रसन्न हो कर आपको 'व्याख्यानवाचस्पति' की पदवी दी थी। संवत् १९७९ रतलाम (मालवा) में सागरानन्दसूरिजी से 'जैन साधु-साध्वी को श्वेतवस्त्र धारण करना या पीत वस्त्र?' इस विषय पर चर्चा हुई-जिसमें आपने श्री वीरशासनानुयायी साधु-साध्वियों को वर्ण से श्वेत मानोपेत और जीर्णप्राय वस्त्र ही परिधान करना चाहिये-के पक्ष में सूत्र-ग्रन्थों के ५१ प्रमाण दिये जिनको देख कर विपक्षी को अन्त में पराजयी होना पड़ा और उसी समय मध्यस्थ विद्वन्मंडलने आपको 'पीताम्बर-विजेता' घोषित किया। आपने मालवा, मेवाड़, मारवाड़, गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ में विहार कर अनेक तीर्थराजों की यात्रा की और अनेक भव्य जीवों को सन्मार्ग का पथिक बनाया। बागरा में श्रीराजेन्द्र जैन गुरुकुल, सियाणा में श्रीराजेन्द्र जैन विद्यालय और भी अनेक ग्रामों में जैन पाठशालाएँ संस्थापित करवा कर समाज में शिक्षा का अभाव दूर किया। वि. सं. १९९४ में श्रीलक्ष्मणी तीर्थ का उद्धार करवा कर प्रतिष्ठा की। वि. सं. १९९५ वै. शु० १० को आहोर (राजस्थान) में जैन चतुर्विध श्रीसंघने अत्युत्साह से आपको गच्छेश (आचार्य) पद से विभूषित कर श्रीभूपेन्द्रसूरिजी के पट्ट पर विराजित किया। उसी उत्सव में मुनि श्रीगुलाबविजयजी को उपाध्याय पद दिया। आपके करकमलों से लगभग ४० प्रतिष्ठांजनशलाकाएँ सम्पन्न हुई हैं। सत्यबोध-भास्कर, राजेन्द्रसूरि जीवनप्रभा, गुणानुरागकुलक, पीतपटाग्रह-मीमांसा, जैनर्षिपटनिर्णय, श्रीयतीन्द्रविहार-दिग्दर्शन चार भाग; कोरटाजी तीर्थ का इतिहास, मेरी गोडवाड़ यात्रा, मेरी नेमाड़ यात्रा,

१-आपका जन्म संवत् १९४० वै. शुक्ला ३ को भोपाल में फूलमाली जातीय सद्गृहस्थ गंगारामजी की धर्मपत्नी मथुरादेवी की कूख से हुआ। आपका जन्म नाम बलदेव था। आपने जैनाचार्यवर्य श्रीमद्विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की आज्ञा से श्रीधनविजयजी (धनचन्द्रसूरिजी) से संवत् १९५४ मार्गशिर शुक्ला ८ को भीनमाल में महामहोत्सव पूर्वक लघुदीक्षा ग्रहण की और विक्रम संवत् १९५७ माघ शुक्ला पाचम को श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने आपको आहोर (मारवाड़-राजस्थान) में बृहद्दीक्षा दी। वर्तमानाचार्यने आपको उपाध्यायपद प्रदान किया। आप सद्क्रियापात्र, व्याख्याता और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। आपने श्रीराजेन्द्रगुणमंजरी पद्यबद्धादि ग्रन्थ बनाये और आप सं. २००३ माघ शुक्ला १३ को भीनमाल में स्वर्गवासी हुए।

स्व उपाध्याय श्री गुलाबविजयजी म.

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरान्तेवासी—

सयमवयस्थविर मुनिश्री लक्ष्मीविजयजी ।
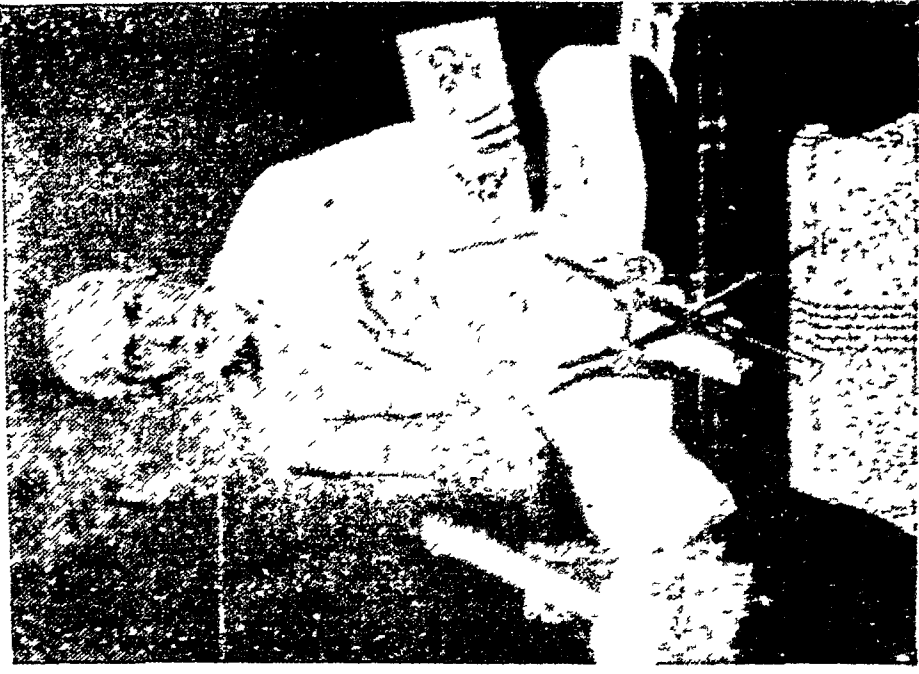
तपस्वी मुनिश्री हर्षविजयजी ।

यतीन्द्रप्रवचन-हिन्दी-गुजराती (दो भाग), समाधानप्रदीप-हिन्दी (प्रथम भाग), सूक्तिरसलता, प्रकरण-चतुष्टय सार्थ, सत्यसमर्थक-प्रश्नोत्तरी और मानवजीवन का उत्थान इत्यादि ६१ ग्रन्थ निर्माण कर आपने साहित्य को समृद्ध बनाया। आपके हस्तदीक्षित शिष्य स्व. श्रीवल्लभ-विजयजी और श्रीविद्याविजयजी आदि सत्तरह (१७) हैं।

आपके सदुपदेश से कोरटा, जालोर, भांडवा, थराद, मोहनखेड़ा आदि प्राचीनार्वाचीन तीर्थों का पुनरोद्धार हुआ और हो रहा है। यह श्रीमद्राजेन्द्रसूरि-स्वर्गवासार्धशताब्दी महोत्सव भी आपके विमलोपदेश से समायोजित किया गया है। श्रीमोहनखेड़ा (म. भा.) में आपके ही उपदेश से 'श्री आदिनाथराजेन्द्र गुरुकुल' अभी संस्थापित हुवा है। इस समय आप ७४ वर्ष की अवस्था के होते हुए भी अपने स्वास्थ्य की परवाह नहीं करते हुए जैन समाज के उत्थानार्थ प्रयत्नशील हैं। वास्तव में हमारी समाज आप जैसे महान् समयज्ञ आचार्य को अपना अधिराज पाकर पुण्यशाली है। अन्त में गुरुदेव के चरणकमलों में वन्दन करता हुआ प्रार्थी हूं कि यह वीरवाटिका हर प्रकार से संसार का उपकार करती रहे॥

ગૂર્જર

जयन्तु जिनवराः

શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોષ સંસ્તવ

મુનિશ્રી યશોવિજયજી, અહમદાવાદ

જ્યારે ગ્રન્થ–સંશોધન, વિદ્યા–કલાના ક્ષેત્રમાં સૂર્યોદય પણ થયો ન હતો અને આધુનિક કોશ–રચના–પદ્ધતિની વસંત તો હજુ દૂર-દૂરથી જ આછા પાતળાં દર્શન કરાવી રહી હતી એવા સમયમાં એક દીર્ઘદ્રષ્ટાને મોંઘેરી સુવર્ણપળે એક મહાભારત કાર્યનો પુણ્યવિચાર આવ્યો અને તેમના બળવાન આત્માએ તેને આકાર આપ્યો અને પરિણામે તે વિચારને ભગીરથ પુરુષાર્થદ્વારા સાંગોપાંગ સિદ્ધ કરી જૈનસંઘને જુગ જુગ સુધી ન ભૂલાય તેવી એક મહાન–અમર ભેટ આપી.

આ બહુમૂલ્ય ભેટનું નામ છે 'अभिधान राजेन्द्र कोष'. એના સંયોજક છે, વિદ્વાન આચાર્ય શ્રી વિજયરાજેન્દ્રસૂરિજી. કોષનું નામકરણ જ આ વાતનો પડઘો (પ્રતિધ્વનિ) પાડે છે. આ કોષ મહાકાય સાત વિભાગમાં વિભક્ત છે. આનો સર્વાંગી પરિચય અને તે અંગેની પ્રમાણભૂત હકીકતો તેના આમૂલદ્રષ્ટા, જ્ઞાતા અને અનુભવીઓ તરફથી આ સમૃદ્ધ અંકમાં આપવામાં આવી છે, જેથી તેનો પરિચય મુલતવી રાખી અલ્પ શબ્દોમાં જ ગ્રન્થની ઉપયોગીતા અંગે પ્રસ્તુત કોષ અને તેના સંયોજકને ભાવાંજલિ જ આપું છું.

આ કોષનાં દર્શન સહુથી પ્રથમ વિ. સં. ૧૯૮૭ માં પાલીતાણાતીર્થમાં કર્યાં ને સહસા હું આશ્ચર્યમુગ્ધ બની જોઈ જ રહ્યો. મારી બાલ્યવયમાં આવા વિશાળકાળ ગ્રન્થનું દર્શન પ્રથમ જ હતું, અને જ્યારે મારા એક પ્રશ્નના જવાબમાં આ ગ્રન્થો તો 'જૈનાગમ–કોષ' તરીકે છે અને બધાય આગમોનું વ્યવસ્થિત સંકલન આમાં કરવામાં આવ્યું છે' આ શબ્દો મારા કર્ણપથ પર અથડાયા ત્યારે તો મારા આનંદનો પારો ૧૧૦ ડીગ્રીએ પહોંચી ગયો. મુગ્ધભાવે પણ એ પુસ્તક ખોલ્યું ને આમતેમ પાનાં ફેરવી ઉથલાવી ઓઘભાવે દર્શન કરી સાશ્ચર્ય ઉત્પન્ન થએલી કૌતુક વૃત્તિ અને લાગણીની તીવ્ર ભૂખરી-ઓને તૃપ્ત કરી, પણ આ પ્રસંગે હૃદયના અનંત ઊંડાણમાં એક સંકલ્પ કોતરાઈ ગયો કે "મોટો થઈશ ત્યારે આનો જરૂર ઉપયોગ કરીશ."

ત્યારબાદ નજીકના સમયમાં જ મારી ભાગવતી દીક્ષા થઈ. પ્રકરણાદિક ગ્રન્થોના અધ્યયન પ્રસંગે મોટી સંગ્રહણીથી ઓળખાતા સંગ્રહણ ગ્રન્થ પ્રકરણનો અભ્યાસ શરૂ કર્યો. ધાર્મિક જૈન સાહિત્યના ક્ષેત્રમાં અસાધારણ મહત્વ ભોગવતા, અતિ મૂલ્યવાન સામગ્રી

ધરાવતા આ ગ્રન્થનો એક સુંદર અનુવાદ ન હોવાના કારણે ભારે ખેદ ને અફસોસ થયો. આજ સુધી આ ગ્રન્થના સચિત્ર અનુવાદ માટે કેમ કંઈ પ્રયાસ નહીં થયો હોય! મારી ગુંજાસ નહિં છતાં ગુરુદેવની છત્રછાયાના બળે તેના સચિત્ર અનુવાદનું કાર્ય કરવાનો સંકલ્પ કર્યો, અથાગ ઉત્સાહ ને દેવગુરુના આંતરિક આશીર્વાદના બળે તે કાર્ય પ્રારંભાયું. એ માટે અનેક ગ્રન્થો જોવા જરૂરી હતા તે પૈકી એક જ વિષયની હકીકતો એક સાથે શીઘ્ર મેળવવા માટે આ રાજેન્દ્ર કોષ આશીર્વાદ સમાન થઈ પડેલો અને પછી તો તેની અસાધારણ ઉપયોગિતા અને અદ્દભુત મહત્તાનાં જેમ જેમ દર્શન થતાં ગયાં તેમ તેમ તે કૃતિ ખરેખર મારા હૈયાનો કબજો જ લઈ બેઠી તેમ કહું તો હું કશી જ અત્યુક્તિ નથી કરતો અને આજે પણ તે મારા નિકટ સાથીની જેમ સહવર્તિ જ રહે છે. જ્યારે જ્યારે એ મહાકાય કોષનું દર્શન કર્યું હશે ત્યારે અને આજે પણ એને જોઇને—' આજથી ઘણી ઓછી સગવડ–સાધનો ધરાવતા જમાનામાં પણ થએલા આ કાર્ય માટે આશ્ચર્યની ઊંડી લાગણી અનુભવાય છે અને મારું મસ્તક કર્તાના આ ભગીરથ પુન્ય પુરુષાર્થ સામે નમી પડે છે અને સન્માનની અસાધારણ ભાવના એટલા માટે પ્રગટે છે કે આવો કોષ-સંદર્ભ તૈયાર કરવા–કરાવવાનો સહુથી આદ્યવિચાર તેમને જ આવ્યો અને તે વખતના વિકટ ગણાતા સમયમાં પણ સમુત્પન્ન વિચારને અમલી પણ બનાવી શક્યા. જો મને કોઇ પૂછે કે વીસમી સદીનો જૈન સાહિત્યક્ષેત્રે અસાધારણ બનાવ કયો? તો આ કોષનું સૂચન કરી શકું એવી આ મહા પરિશ્રમ ને મહા અર્થ–સાધ્ય રચના છે. આજે તો તેમની આકૃતિ આન્તરપ્રાન્તીય ગ્રન્થાગારોને પણ શોભાવી રહી છે. એક જ વિષયની મોટા ભાગની આગમિક કે શાસ્ત્રીય હકીકતો એકજ સ્થળે અવનવા સ્વરૂપમાં સરળતા ને શીઘ્રતાથી મેળવવી હોય તો આ કોષમાં જ ઝડપથી મળી શકે છે, આ અનુકૂળતાથી અનેક વિદ્વાનો અને સંશોધકો તેનો વિપુલ લાભ ઉઠાવી રહ્યા છે.

વર્તમાનકાળમાં વિરાટ પ્રયત્નદ્વારા અભૂતપૂર્વ સિદ્ધિ મેળવવાનું માન જૈન સાહિત્યક્ષેત્રે ખરેખર આચાર્યશ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજી જ ખાટી ગયા છે એમ જણાવ્યા વિના રહેતું નથી, તેથી તેઓ અનેકના પ્રશંસનીય બની ગયા છે. આવા વિરાટ ગ્રન્થની પુનરાવૃત્તિની વાત હાલ તો પ્રશ્નાર્થક જ રહેવા સર્જાએલી છે.

આદર્શ ત્યાગી શ્રીમદ્ રાજેન્દ્રસૂરિજી

શ્રીઅદ્ધિજયયતીન્દ્રસૂરીશ્વરાન્તેવાસી મુનિ જયંતવિજય.

મનુષ્ય જન્મની સાર્થકતા માટે, મહાનતાની મંજિલ પર પહુંચવા માટે ત્યાગ એ શ્રેષ્ઠ અને પહેલું સોપાન છે. પછી ભલે કોઇ પણ પ્રકારનો ત્યાગ હોય. એ ત્યાગની પ્રણાલી આજકાલની નથી; પરંતુ આદિ અનાદિ કાળથી ચાલી આવે છે. અસંખ્ય ત્યાગીઓએ સર્વસ્વનો ત્યાગ કરી અધ્યાત્મ યોગી બની વિશ્વના સામે ત્યાગનો આદર્શ રજૂ કર્યો છે. અધ્યાત્મપ્રિય આનંદઘનજી અને યશોવિજયજીના નામથી આજ વિશ્વનો ઇતિહાસ પણ ઝળહળી રહ્યો છે. એ પ્રણાલીથી જ આજે ભારતીય સંસ્કૃતિ જીવિત છે. ભારતીય દર્શનોનું અધ્યયન કરતાં સ્હેજે જણાઇ આવશે કે ત્યાગ અને ધર્મની મહત્તાને વિશેષ સ્થાન જૈન દર્શનમાં જ અપાયેલું છે. એ ત્યાગથી ભગવાન શ્રી આદિનાથ અને શ્રી મહાવીર સ્વામીએ વીતરાગત્વ પદ પ્રાપ્ત કર્યું ! દૃઢપ્રહારી અને રૌહિણેય ચોર જેવા દુષ્ટાત્માઓ પણ આત્મસાધન કરી કર્મજંજીરથી મુક્ત થઈ ગયા.

વિશ્વના ગગનાંગણમાં દૃષ્ટિપાત કરીશું તો ત્યાગ અને ધાર્મિક કેળવણીની અપેક્ષાએ અમેરિકા, જર્મન, જાપાન, ફ્રાન્સ અને ચીન આદિ રાષ્ટ્રો પૈકી ભારતવર્ષ જ એક એવો દેશ છે કે જેણે ત્યાગ અને ધર્મના માટે અગ્રસ્થાન પ્રાપ્ત કર્યું છે. ભારતીય બાળકને પ્રાચીન સંસ્કૃતિ અનુસાર ત્યાગવૃત્તિ અને ધાર્મિક કેળવણીનું જ્ઞાન બાળપણથી જ અપાય છે. થોડા ત્યાગથી પણ જીવન નૈયા સુચારુ રૂપથી ચાલે છે અને ધાર્મિક કેળવણીથી કર્તવ્ય-પરાયણતાનું ભાન થાય છે. ભારતમાતા પરતન્ત્રતાની બેડીમાં જકડાયેલ હતી ત્યારે એ જ ત્યાગ અને આત્મબળે ભારતમાંથી પરદેશીઓને હઠાવ્યા હતા. ભારતીને બંધનમુક્ત કરાવી, એ જ ધાર્મિક કેળવણીથી ભારતીય નેતા શાંતિ શસ્ત્ર લઇને સર્વત્ર શાંતિની સુગંધ પ્રસરાવવા મહેનત કરી રહ્યા છે

સર્વ વસ્તુનો ત્યાગ કરનાર ત્યાગી ફક્ત આત્મધ્યાનમાં જ અખિલાનંદ સમજે છે, તેમની મનોવૃત્તિ સદાના માટે નિર્મળ રહે છે.

કેટલાક પાખંડીઓનું સામ્રાજ્ય સમાજ પર વિશેષ પ્રવર્તતું હતું, ધર્મના નામે અનેક ધર્મનિષ્ઠ લોકોને મહાન કષ્ટો આપવામા આવતાં હતાં. ત્યાગી લોકો અમૂલ્ય ત્યાગને ભૂલી જઈ એશઆરામમા આકંઠ ડૂબતા જતા હતા. માનવ કર્તવ્ય–પથથી દૂર જતા હતા, ભોગવિલાસનો કોળિયો બની ફક્ત ભૌતિક ઉપાસનામાં લિપ્ત રહેતા હતા, છતા પણ તેમના ઉપર ધર્મના નામે અનેક અત્યાચારો થઈ રહ્યા હતા. ત્યાગને સૌ કોઈ ભૂલતા જતા હતા. ઠીક જ છે—

इस नीति पर ही निन्द्य शिथिलाचार जब हम में बढ़ा ।
पावन परम जिनधर्म पर मिथ्यात्व का परदा चढ़ा ॥
जिस शब्द से शुचि साधुता का बोध होता था जहाँ ।
क्या अर्थ वह पाखण्ड का हा ! अब नहीं देता वहाँ ॥

આવા કટોકટીના સમયમાં કેટલાક શ્રદ્ધાળુ આત્માઓની એક એક નસ એવી કરુણાભરી ચિત્કાર કરી રહી હતી કે ફરી એ મહાનતાનો આદર્શ બતાવનાર અને ત્યાગની પરાકાષ્ઠાએ પહોંચેલ ધર્મવીરનો જન્મ થાય અને ત્યાગના અતુલ બળને દુનિયા સમક્ષ મૂકી આદર્શતાનો અહેવાલ રજૂ કરે, દુર્ગતિમાં પડતા અજ્ઞાનીઓને બચાવે અને ધર્મ પર થતા કુઠારાઘાતને અટકાવે અમારી કકળતી આંતરડીઓને મધુરોપદેશમય ઉપશમ રસથી શાન્ત કરે. ખરેખર ? એ કકળતી આંતરડીઓને શાન્ત કરવા એક વિભૂતિનો જન્મ થયો............?

शुचि सत्य पथ से हम भटक गिरने लगे अघ-कूप में ।
प्रकटी दयामय की दया राजेन्द्र के तव रूप में ॥

સંવત ૧૮૮૩ વિક્રમાબ્દના પોષ સુદિ ૭ ના દિવસે મંગલમય સમયે ઐતિહાસિકતાપૂર્ણ ભરતપુર નગરમાં નિવાસ કરતા ધર્મનિષ્ઠ ઋષભદાસજી શ્રેષ્ઠિવર્યની પરમ ભાગ્યશાલિની અર્ધાંગના કેશર દેવીની પાવન ગોદમાં એક ધર્મવીરે જન્મ લીધો અને તે રત્નમાં મુકુટમણિ સમ' રત્નરાજ ' નામથી પ્રખ્યાત થયા. થોડા સમય પછી તેમની ભાવના ત્યાગ માર્ગ તરફ વધુ ખેંચાવા લાગી છતાં વડીલ ભ્રાતા માણેકલાલના અત્યાગ્રહથી સિલોન વ્યાપારાર્થે તેમની સાથે ગયા. સાહસપૂર્વક લંકાની યાત્રા કરી ઘર તરફ પાછા વળ્યા. ઘરે આવ્યા. માતા-પિતા પરલોકની યાત્રાએ પધારી ગયાના અભાવમાં વૈરાગ્ય ભાવના ચઢતી થવા માંડી અને ક્ષણભંગુર સંસારનો મેળો તેમને પ્રત્યક્ષ દેખાયો. છૂપી રહેલ ત્યાગ ભાવના પાછી બલવાન બની અને વડીલભાઈની આજ્ઞા પ્રાપ્ત કરી ઉદયપુર(રાજસ્થાન)માં યતિવર્ગમાં દીક્ષા ગ્રહણ કરી, અને સૌ કોઈ ' શ્રીરત્નવિજયજી 'ના નામથી ઓળખવા લાગ્યા. ઉત્સાહથી થોડા સમયમાં જ વ્યાકરણ, કાવ્ય, કોશ, અલંકાર, ન્યાય, તર્ક આદિ ગ્રંથોનું સારી રીતે અધ્યયન કર્યું. આગમોનો અભ્યાસ કરી પ્રવીણતા પ્રાપ્ત કરી. ત્યાગનું દિગ્દર્શન જાણવા મળ્યું. વિચારો આવવા લાગ્યા. ક્યાં ભગવાનનો આદેશ અને ક્યાં આજનો યતિસમાજ! ક્યાં ત્યાગ અને ક્યાં ભોગ ! સંસારનો ત્યાગ કર્યા પછી ત્યાગની આડમાં ધર્મના નામે થતા પાશવી અત્યાચારોને અને અનર્થોને તે સહન કરી શકયા નહિ.........અને......?

તેમણે સંવત ૧૯૨૩ના ઘાણેરાવના ચાતુર્માસમાં શ્રીધરણેન્દ્રસૂરિજી જે તે સમયે યતિવર્ગમાં શ્રીપૂજ્યપદે હતા તેઓને ' गृहस्थाना यद् भूषणम्, तद् साधूना दूषणमस्ति ! ' ઇત્યાદિ વાતોથી ઘણા સમજાવ્યા, પરન્તુ તેઓ માન્યા નહિ પણ ઉલ્ટું ' पय पानं भुजङ्गाना, केवलं विषवर्धनम् 'ની ઉક્તિ પ્રમાણે ઉત્તર દીધો કે ' તમારું જોર હોય તો તમે જ એવા

આપશ્રીએ ત્યાગનું મહત્વ દુનિયાને બતાવી આપ્યું, શિથિલ થયેલ સમાજને નવ જીવન અર્પ્યું, ક્રાન્તિ કરી સ્વાવલંબનનો પાઠ શીખવ્યો ! અને જૈન સિદ્ધાન્તોના પ્રચાર માટે જીવન સમર્પણ કરી દીધું.

ત્યાગના સાથે આપશ્રીએ સાહિત્યસેવા કરી સાહિત્યને ઉચ્ચ સ્થાન અપાવ્યું છે. આપશ્રીની અનહદ્ મહેનતના પરિણામે તૈયાર થયેલ 'શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોષ' અને 'શ્રી શબ્દામ્બુધિ મહાકોશ' વિશ્વના સમાજના માટે આજ મહાન્ સહાયક બની ગયેલ છે ! જેના સહારે વિદેશી વિદ્વાનો જૈનત્વને સમજી રહ્યા છે, જૈન સિદ્ધાન્તો શોધી શક્યા છે.

અંતમાં પરમપૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીને સવિનય સપ્રેમ શ્રદ્ધાંજલી સમર્પિત કરતો પ્રાર્થના કરું છું. સત્ય સિદ્ધાન્તોનો પ્રચાર કરવા સામર્થ્યશાલી બનાવે. અને શિથિલતાથી હમેશાં મનોવૃત્તિને દૂર રાખે ?

સંવેદન સમાચારોમાં તેમનું વ્યક્તિત્વ

"જૈનોમા શ્વેતામ્બર પક્ષમાં ત્રણસ્તુતિના પક્ષીય શ્રીરાજેન્દ્રસૂરિજી એક સારા શાસ્ત્રોમાં કુશળ હતા, તેમની ધારણાશક્તિ સારી હતી.................................."

"આજ સાલમાં................અને શ્રીરાજેન્દ્રસૂરિજી જેવા જૈનત્વના બે રત્નો ગયા છે તેથી જૈનવર્ગ ઘણો દિલગીર થયો છે.."

—**જૈન વિજય** તા. ૨ જાનેવારી સન્ ૧૯૦૭

"પ્રથમ લક્ષ્મીનો, પછી સાહસનો અને પછી યતિ તરીકેનો અનુભવ લીધા પછી તેઓએ પંચ મહાવ્રત આદર્યા હતાં, તેથી તેઓ કોઈની પણ પરવાહ રાખ્યા સિવાય પોતાના વિચારો દર્શાવવા ઉત્સાહી હતા,........"

"હિન્દી અને સંસ્કૃત તથા ગુજરાતી ભાષા ઉપરનો તેમનો કાબૂ એવો સારો હતો અને ચર્ચામાં એવા પ્રવીણ હતા કે ઘણાએક વિદ્વાનોને તેમણે મ્હાત કર્યા કહેવાય છે."

"........દીક્ષા લીધા પહેલાં તેઓની ઇચ્છા જળ પર્યટન કરવાની થવાથી તેઓ સિંહલદ્વીપાદિ સ્થળે ગયેલા..."

—**જૈન સમાચાર** (સ્થાનકવાસી) ૩૧ ડીસેમ્બર ૧૯૦૬

"........નાની ઉમરમાંથી જ આ મુનિનું ધર્મ તરફ વલણ હતું અને મરણ પર્યંત તેઓ વિદ્યાવિલાસી જણાતા હતા... ...."

"........જ્યાં દેરાસરો ન હતાં ત્યાં દેરાસરો પણ કરાવ્યા છે, વળી આ મુનિરાજના હાથે અનેક પ્રતિષ્ઠાઓ પણ થઈ હતી અને તેના સમ્બંધમાં એમ પણ કહેવાય છે કે એમનો હાથ એવો તો ફ્રોરો હતો કે કોઇ સ્થળે વિઘ્ન નડ્યું નથી.... ...."

—'**જૈન સાપ્તાહિક**' પુ. ૪ અંક ૪૦ તા. ૬–૧–૧૯૦૭

"સૂરિ રાજેન્દ્રજી જેવા મુનિમાર્ગની બાહ્યાભ્યંતર શુદ્ધ ક્રિયા મર્યાદાના આરાધક તથા આતાપનાદિ કાયાકષ્ટ સહન કરનાર અને જૈન સિદ્ધાન્તના પારંગામી આધુનિક કાળમાં રાગદષ્ટિ દૂર કરી વાસ્તવિક રીતે જોઇશું તો એવા ભાગ્યે જ કોઇ હશે........."

"........સંવત ૧૯૬૩ પોષ સુદિ ૬ ના દિવસે રાતે ૮ વાગે આયુષ્ય ક્ષય થતાં બાધા રહિત સૂરિરાજેન્દ્રજી! અરે! હિન્દુસ્તાનનો ઝલકતો અમૂલ્ય હીરો! જ્ઞાનનો અસ્ખલિત ઝરો, એક પ્રભાવિક વિદ્યાકમળને ખિલવનારો પ્રભાકર સદાના માટે આ ફાની દુનિયાનો ત્યાગ કરી કાળધર્મને સ્વીકારી સ્વર્ગમાં બિરાજમાન થયો છે.................."

"અરે! એક સૂર્ય અસ્ત થયો! પરંતુ ઉપાય શો? દુહા, ઉગ્રકાળ વિકાળની પાંખ ઉદય અને અસ્ત! એમાં આવી જાય છે પ્રાણિમાત્ર સમસ્ત! અફસોસ! હતભાગ્ય છે પંચમકાળના???......"

—જૈન સાપ્તાહિક વ ૬, અંક ૪૦ મા લખેલ લલ્લુવલ્લમના લેખમાંથી,
શ્રી રાજેન્દ્ર જૈનાગમ બૃહદ્જ્ઞાનભંડારમાં સ્થિત પત્રથી ઉદ્ધૃત.

ઉત્કૃષ્ટ ચારિત્રપાલક શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજી

શતાવધાની કવિ શ્રી જયંતમુનિજી

જૈનાચાર્ય શ્રી ૧૦૦૮ શ્રી વિજયરાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજ વિષે કંઇ પણ લખવું એ મારા અધિકારની બહારની વાત. પૂ. શ્રી રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી જેવા મહાન્ આત્માના ગુણગાન ક્યા શબ્દોમાં ગાવા એની પણ મને સમજ પડતી નથી, યત્કિંચિત્ પણ જૈનાચાર્યશ્રીના જીવન વિષે લખવાની પ્રેરણા મુનિશ્રી જયંતવિજયજીથી ને તેમના પત્રપરિચયથી થયેલ છે. આ મહાન આચાર્યના ગુણગાન ગાઇને તેમના જીવનના આદર્શો મારા ચારિત્રમાં અંશ પણ ઉતરશે તો હું મારું અહોભાગ્ય સમજીશ, આટલું પ્રાસંગિક કહી હવે મુખ્ય વાત ઉપર આવું છું.

સંવત્ ૧૮૮૩ ના પોષ સુદિ ૭ ગુરુવારે શિશિરઋતુના ખુશનુમા વાતાવરણમાં રાજસ્થાન પ્રાન્તાન્તર્ગત ભરતપુર ગામમાં શ્રેષ્ઠિવર્ય શ્રી ઋષભદાસજી પિતા અને કેશરીબાઈ માતાની કૂંખે આપણા સ્વ. જૈનાચાર્યશ્રી **રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજીનો** જન્મ થયો હતો. આ વખને તેમનું નામ 'રત્નરાજ' રાખવામાં આવ્યું હતું. મહાન પુરુષોના લક્ષણો છૂપાં રહી શકતાં નથી, એટલે જ કહ્યું છે કે 'પુત્રના લક્ષણ પાલણામાંથી' આ નિયમ પ્રમાણે સર્વની સાથે મિત્રતા, વડીલો તરફ પૂજ્યબુદ્ધિ, ગુણવાનોના ગુણની પ્રશંસા, સત્સમાગમની અભિલાષા સેવવી અને કજીયા, કંકાસથી દૂર રહેવું, વ્યસની લોકોથી દૂર રહેવું અને સંસારિક બન્ધનો પ્રત્યે તીવ્ર ઉદાસીનવૃત્તિ; આવા મહાન્ ગુણો આ પ્રભાવશાળી પુરુષમાં બાલ્યકાળથી કળાવા માંડ્યા હતા. વૈરાગ્યની તીવ્ર ઇચ્છા દિનપ્રતિદિન વધતી જતી હતી, એટલે માતા પિતાના સ્વર્ગગમન પછી ૨૦ વર્ષની ભરયુવાનીમાં શ્રી પ્રમોદસૂરીશ્વરજીના ઉપદેશથી શ્રી હેમવિજયજીના પાસે સં. ૧૯૦૩ માં વૈશાખ સુદિ ૫ ના રોજ દીક્ષા લીધી અને શ્રી પ્રમોદસૂરીશ્વરજીના શિષ્ય જાહેર થયા.

સ્વ. જૈનાચાર્યે ૬૦ વર્ષ સંયમ પાળી જૈન સમાજ ઉપર મહાન્ ઉપકાર કર્યો છે. આચાર્યશ્રીએ નાના મોટા અનેક ગ્રંથો સંસ્કૃત, પ્રાકૃત, મારવાડી, ગુજરાતી અને અપભ્રંશ તથા હિંદીમાં લખ્યા છે. એમાં સૌથી મોટો વિરાટ સ્વરૂપ ગ્રન્થ 'શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર' મુખ્ય છે, જે સાત ભાગમાં વ્હેંચાયેલ છે. આજે જૈન જૈનેતરો જગતના વિદ્વન્મંડળમાં આ કોષ અગ્રસ્થાન ધરાવે છે. આ ગ્રન્થને જોવાથી સંપૂર્ણ જૈનાગમોનો બોધ મળી શકે છે. આચાર્યશ્રીએ આ ગ્રન્થ લખી જૈન સમાજ ઉપર મહાન ઉપકાર કર્યો છે. અરે! આખા વિશ્વ ઉપર ઉપકાર કર્યો છે તેમ કહીએ તો પણ અતિશયોક્તિ નહિ કહેવાય!

આચાર્યશ્રી ઉત્કૃષ્ટ ચારિત્રના પાલક હતા તે તેઓશ્રીના જીવનના દરેક પ્રસંગોમાં તરી આવે છે. શિથિલાચારને તેઓશ્રી એક પ્રકારનું પાપ સમજતા હતા. માણસના જીવનમાં જો કોઇ પણ વસ્તુ પ્રધાન હોય તો તે ચારિત્ર છે, ચારિત્રથી જ ઉત્કૃષ્ટ નિકૃષ્ટનો બોધ થઇને વ્યક્તિત્વ ઝળકી ઊઠે છે. વિના ચારિત્ર ઉપદેશની કંઈ પણ અસર થતી નથી. આજની સાધુ સંસ્થામાં શિથિલાચાર બહુ ફાલ્યો ફૂલ્યો વધતો જાય છે અને આચાર વિચારનો સુમેળ દેખાતો નથી, પરિણામે આજે જૈન સમાજમાં સાચા શ્રદ્ધાળુ જૈનોની સંખ્યા ઘટતી જાય છે. સ્વ. શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજી પણ ચારિત્રપાલન ઉપર ખૂબ જ ભાર મૂકતા હતા. ચારિત્રથી વધારે કિંમત કોઇ વસ્તુની નથી. જીવનની સફળતા અને નિષ્ફળતાનો આધાર ચારિત્ર ઉપર છે, પૈસામાં જે શક્તિ નથી તેથી પણ વિશેષ શક્તિ ચારિત્રમાં છે. ચારિત્રનો પ્રભાવ જ અદ્‌ભુત હોય છે, અગાઉના જૈનઆચાર્યો અને મુનિ પુંગવોના જીવન ચરિત્રો સાંભળીએ છીએ ત્યારે ઉત્કૃષ્ટ ચારિત્રના બળે તેમણે જે સુવાસ ફેલાવી છે અને ભગવાન મહાવીરના માર્ગને દીપાવ્યો છે તેમના સંયમને વારંવાર હૃદય નમી પડે છે.

આજે ચારિત્રના વાંધા પડ્યા છે, પરિણામે ચારિત્રશીલ મુનિયો સિવાય બીજાઓના ઉપદેશની કંઈ પણ અસર પડતી નથી. ચારિત્રશીલ મનુષ્ય સમગ્રસૃષ્ટિને પ્રેમની દૃષ્ટિથી જુએ છે અને તેનું આચરણ પણ એવું જ હોય છે.

સ્વ૦ જૈનચાર્યશ્રીએ ઘણાના દુઃખ દૂર કર્યાં અને સત્પંથે દોર્યા છે. અંતસમયે બધા શિષ્યોને બોલાવીને કહ્યું કે, "આ વિનાશી શરીરનો કોઈ ભરોસો નથી એટલે તમારે દરેકને સાધુક્રિયામાં દૃઢ રહેવું, જો એમાં જરા પણ ચૂકશો તો ચારિત્રરૂપી જે હીરો મળ્યો છે તે ગુમાવી દેશો માટે ખૂબ સાવધાનીથી ચારિત્રની રક્ષા કરવી, મેં તો મારું કામ યથાશક્તિ સિદ્ધ કર્યું છે, તમે પણ તમારા આત્માના વિકાસ માટે બધું કરી છૂટજો!"

જૈનાચાર્યશ્રીના છેલ્લા શબ્દો આજના દરેક સાધુમુનિરાજને અનુકરણ કરવા જેવા છે. પોતાના ગુરુ શિષ્યને કેવો વારસો આપી જાય છે અને છેલ્લે કઈ જાતની ભલામણ કરી જાય છે તેવો બોધપાઠ આજે ખાસ જરૂરી છે. 'સાધુ'–એટલે આત્મસાધના એ એનું પ્રધાન કર્તવ્ય બની રહે છે, એ સિવાયની બીજી બધી પ્રવૃત્તિઓ ગૌણ ગણવામાં આવી છે. આજે તો શિષ્ય ગુરુનું કેટલું માન રાખે છે અને ગુરુ શિષ્ય તરફ કેવું વર્તન રાખે છે એ જોઇએ તો જૈન સમાજની દયાજનક સ્થિતિ દેખાય છે. સ્વ૦ શ્રીવિજય રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજીનો અમૂલ્ય વારસો આજે શ્રીમદ્‌વિજય ધનચન્દ્રસૂરીશ્વર, શ્રીમદ્‌વિજય ભૂપેન્દ્રસૂરીશ્વર તથા પટ્ટધર આચાર્ય શ્રીવિજય યતીન્દ્રસૂરીશ્વરજી સંભાળી રહ્યા છે.

આપણે સૌ જૈનાચાર્યશ્રીના જીવનપુષ્પમાંથી સુવાસ લઇને આપણું જીવન ઉજ્વળ બનાવીશું ત્યારે આવા મહાન આચાર્યના અનુગામી તરીકે આપણું નામ સાર્થક કરી

શકીશું! બાકી તો આજે અનેક જગ્યાએ દેખાય છે તેમ મહાન્ આત્માની પાછળ અંજલી આપનારા ઘણા હોય છે, તેમાં શબ્દોમાં આડંબર અને મારામારી સિવાય કશું દેખાતું નથી. સાચી અંજલી, સાચું તર્પણ, સાચો વારસો અને સાચી યાદગિરી ત્યારે જ બતાવી શકાય કે જ્યારે તેનામાં રહેલા આદર્શો આપણા જીવનમાં વણી શકાય અને એનું અધૂરું રહેલું કામ ભલે ધીમી ગતિએ પણ મક્કમ પગલે કરવાની તમન્ના જાગે.

મારી કાલીઘેલી ભાષામાં સ્વ૦ શ્રીરાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજીના જીવનમાંથી જે કંઈ જોયું છે, મેળવ્યું છે તે જ લખ્યું છે. એમાં લેખકની લેખનીએ કોઇ જાતની કલ્પના ભરી નથી, ભક્તિભાવના ઉભરાથી ઉભરાતા હૃદયના ઉભરા ઠાલવ્યા છે, અને તેમના ઉત્કૃષ્ટ ચારિત્રને વારંવાર અભિનંદન સાથે વંદન કરું છું. શમિત્યલમ્ઃ

યુગપ્રભાવક આચાર્યદેવ !

મફતલાલ સંઘવી–ડીસા.

સંપ્રાપ્ત આંતરપ્રભાના સમ્યક્ ઉપયોગ દ્વારા સુષુપ્ત સમાજને જાગૃતિનો શંખનાદ સંભળાવનાર સૂરિરાજને કોટિ–કોટિશઃ વંદના.

સ્વપરકલ્યાણના ઉત્કૃષ્ટ મંગલ ધ્યેયને પામવા કાજે, અહર્નિશ જાગૃત એવા દિવંગત શ્રી રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજીના જીવન–કવન અંગે ચર્ચા કરવા માટે નહિ, પરંતુ તેને અદબપૂર્વક અંજલિ અર્પવાનો જ પ્રયાસ છે આ મારો.

સૂરીશ્વરના જન્મસમયે જૈનસમાજ પર ધર્મને બદલે હતું વર્ચસ્વ નિષ્પ્રાણ રુઢિ–રિવાજોનું, અધર્મનો ભય સેવવાને બદલે જૈનો ધર્મના દંડાધારીથી વધુ ભય પામતા હતા, વીતરાગદેવને રીઝવવાને બદલે કોશિષ કરતા હતા રીઝવવાની યતિઓને, ધર્મની આરાધનાનો સમગ્ર રાજમાર્ગ છવાઇ ગયો હતો ભૌતિક ખ્યાલોની પ્રચંડ શિલાઓવડે, ધર્મની સમ્યક્ પ્રકારની આરાધનાનું કાર્ય દિનપ્રતિદિન બનતું જતું હતું દુષ્કર, જન્મ–જરા–મૃત્યુની અસારતાની વાસ્તવિકતાને જાણ્યા–પ્રમાણ્યા સિવાય ઐહિક ખ્યાલોમાં હતો ગળાડૂબ સમાજ.

આવા સમયે પ્રગટ્યા પૃથ્વીપાટલે રત્નરાજ સંવત ૧૮૮૩ ના પોષ સુદી ૭ ને ગુરુવારે. પિતાનું નામ ઋષભદેવ, માતાનું કેશરીબાઇ. ૨૦ ની વયે રત્નરાજે અંગીકાર કરી પરમપદદાયિની ભાગવતી દીક્ષા.

ને પછી ભૌતિકતાની ભયંકર ભૂતાવળ સામે મેદાને પડ્યા, આત્માની અનંતશ્રીના એક માત્ર સહારા સાથે. એકલ, અડોલ, કૃતનિશ્ચયી એ સૂરીશ્વરની–એક જ સમયમાં ત્રણેય કાળનું માપ કાઢવાની–વિશદ દૃષ્ટિ તેઓ જ્યાં પગ મૂકતા ત્યાં સર્વને એક યા બીજા સ્વરૂપે ઉપકારક બની રહેતી. મુક્તિના પરમ મંગલ સ્વરૂપને સદાસર્વદા દૃષ્ટિ સમક્ષ રાખી, માર્ગના આંતર બાહ્ય અવરોધોને આમૂલ નાબૂદ કરવા માટે તેઓ જીવનભર એક મહાપ્રતાપી યોદ્ધાની માફક ઝઝૂમતા રહ્યા છે. સમાજની સુષુપ્તિમાંથી જન્મેલા દોષોને દૂર કરવામાં આત્માના સ્વરૂપને લક્ષ્યમાં રાખીને કરવા પડતા સર્વ પ્રકારના પ્રયાસો કરવામાં તેમણે કોઇ વખતે પાછા ફરીને જોયું પણ નથી. સાધુજીવનની સર્વદેશીય ગરિમાને આંબવાની ચેષ્ટા કરતી ભૌતિક લાલસાઓ સામે પુણ્યપ્રકોપ પ્રગટ કરી આત્મીયની આત્મીયતાને જાળવનારા સૂરિરાજ જેવા સજાગ ધર્મસુભટની જીવનદેન કૃતાર્થ કરવા માટે આપણે સહુએ આજના ધન્ય અવસરે દૃઢ સંકલ્પ કરવો જોઇએ.

જીવનના અનંત, વ્યાપક સ્વરૂપને અભડાવવા ઇચ્છતી વિષય કષાયની વિષવમતી શત શત જિહ્વાઓને નાથવા કાજે સૂરીશ્વરે પ્રબોધેલા શાસ્ત્રાજ્ઞામૂલક વચનામૃતોનું આપણે તેની મૂળ ભાવના પ્રમાણે પાલન કરવું જોઇએ.

સંસારની અસારતાના જ્ઞાન–ભાન સાથે પ્રત્યેક પળનો જીવનના સર્વતોમુખી વિકાસ કાજે સદુપયોગ કરવાનો જે અણુમોલ સાર આપણને સૂરીશ્વરના જીવનના પ્રત્યેક પ્રસંગમાંથી સાંપડે છે તેનો જો આપણે સજાગપણે ઉપયોગ કરવાની સન્નિષ્ઠા દાખવી શકીએ તો, વર્તમાનકાળે આપણામાં ઘર કરીને વસેલા અનેક પ્રકારની અંતરાયકારી અપૂર્ણતાઓ ત્વરીતપણે દૂર થાય તેમ છે.

—પરંતુ સ્વ–રૂપની સાચી લગની સિવાય ટળવી અશક્ય છે પરભાવલીનતા અને હશે જ્યાં સુધી આપણી રગ–રગમા ગુંજતું સંગીત પરભાવવશતાનું ત્યાં સુધી આપણે એ જીવનના અધિકારી નહિ જ બની શકીએ, જેના ઉપર આપણો અધિકાર હોવો જોઇએ.

જ્ઞાનમહોદધિ તુલ્ય અભિધાન રાજેન્દ્ર કોષની રચના દ્વારા સંસારના સર્વ સમયના આધ્યાત્મિક દરજ્જાના વિદ્વાનોમાં ગૌરવભર્યું સ્થાન પામી, આધ્યાત્મિક પરિબળોની અભિવ્યક્તિ કાજેની સાનુકૂળતામાં સંગીન વધારો કરી, શ્રી રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી સમગ્ર સંસારને જીવનની પ્રત્યેક પળ વડે કલ્યાણકારી નીવડ્યા છે.

જેના નિર્મળ અંતર ગગને ગૂંજતું હતું પરમ સંગીત પરમપદનું, વદન પર રમતું હતું તેજ સમભાવનું, વાણી વાટે વ્યક્ત થતું હતું પૂર્વાપર સંબંધયુક્ત ત્રિકાલજયી સુમધુર સત્ય, વિચારમાં વસતું હતું માત્ર સર્વકલ્યાણ એવા પ્રભાવક આચાર્યદેવને ભક્તિભાવભરી સ્મૃતિ વંદના (मत्थेण वंदामि) પાઠવવાની એવી પવિત્ર, માંગલિક સદ્ભાવના ભાવતાંની સાથે જ કેટલી બધી વધી જાય છે જવાબદારી આપણી–તેનો પણ ખ્યાલ થવો જ જોઈએ.

આત્માની અનંત, અપાર શક્તિને પ્રમાણવા સાથોસાથ તેની આરાધનાના આગમભાષિત સર્વ પ્રકારના નિયમોયુક્ત અનુષ્ઠાનો અને પ્રતીકોને પણ આપણે તેટલા જ દરજ્જે માનવા પ્રમાણવા જોઇએ–જે દરજ્જે આપણે તેના પુનરોદ્ધારકોને સ્થાપેલા છે. ગમે તેવા લાભવાળી છતાં એકાંતિક પ્રકારની વિચારસરણીને તાબે ન થવા સાથોસાથ બીજાને પણ જો આપણાથી બને તો–તે માર્ગે જતાં વારવા જોઇએ. આધ્યાત્મિક શબ્દોના માત્ર અંચળા તળે, પ્રજાસમૂહને ભળતા ભૌતિક પ્રગતિના ચળકાટવાળા માર્ગે આગળ લઈ જવા ઇચ્છતા રાજકીય પુરુષોની–તે પછી ગમે તે નામ કે હોદ્દાધારી હોય–અસર તળે ન આવતાં આપણામાં જાગેલી સ્વ–પરકલ્યાણની સિદ્ધાન્તમૂલક ભાવના તેમને સમજાવવાની કોશિષ કરવી જોઈએ. કેવળ મનુષ્યના ભૌતિક લાભને વિચાર અને યોજનાના કેન્દ્રસ્થાને સ્થાપી દઈ, તેના નિમિત્તે જીવનના આપણા જેટલા જ અધિકારી બીજા જીવોને અપાર

નુકસાન થતું હોય તો તે સમયે આપણે સિદ્ધાન્તોના સહારે સામનો કરીને સત્ય ક્યાં છે તે સમજાવવાનો પાકો પ્રયાસ કરવો જોઇએ. આધ્યાત્મિકતામાં તરબોળ થવાની ઉત્કટ તમન્ના છતાં ય, ભૌતિકતાના ભયાનક ભૂતને એ દરજ્જે મૂકી દેવું જોઇએ કે જે દરજ્જો પ્રત્યેક ગામના ઉકરડાને મળેલો હોય છે. ભય કે ભીરુતા ન બને આપણી સાચી સાધના-આરાધનાના કારણરૂપ તેની તકેદારી રાખવા સાથે શાસનના સર્વ સૂત્રો-નિયમોને જીવનના પરમજીવનના પરમ કારણરૂપ સન્માની યોગ્ય રીતે આચરવામાં તત્પરતા બતાવવી જોઇએ.

વેર-ઝેરની ઝાળમાં જલતા માનવપ્રાણીઓના હિત કાજે, આત્માની અમૃતવાણી અખંડપણે વર્ષા-વરસાવી, જૈનશાસનનો વિજયધ્વજ લહેરાવનાર પરમ પૂ. સૂરિદેવે ૮૦ વર્ષની આયુઃમર્યાદામાં જે પવિત્ર માંગલિક કાર્યો કર્યાં છે તેની આપણે ભૂરિ-ભૂરિ પ્રશંસા કરી સાત્ત્વિક જીવનના વરણાગીઆ બનીએ.

આ સંસાર હતો, છે અને રહેશે. છતાં એમાં સમયે સમયે ધર્મની બૂઝાતી જ્યોતિને સ્વજીવનતૈલ દ્વારા સતેજ કરનારા પૂ. રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી જેવા યુગપ્રભાવક આત્માઓના જીવનકાર્યને સહાયરૂપ થવાની સ્વપરકલ્યાણલક્ષી ભાવના ભાવી, નિયમિત રીતે જીવનને ધર્મપરાયણ બનાવવું જોઇએ.

જેના શાસનમાં જીવીએ છીએ આપણે, તે ચરમ તીર્થપતિની ઉજ્જવળ પાટ-પરંપરાને સ્વજીવન પ્રતાપ દ્વારા ટકાવી રાખનારા પરમપૂજ્ય આચાર્યદેવની પાવનકારી સ્મૃતિનો દીપક અખંડપણે જલતો રાખવા માટે, આપણે ચોમેર છવાએલા તિમિર-સામ્રાજ્ય સામે અણનમપણે ઝૂઝવું પડશે. ધર્મના સાચા શરણાગતને સંસારનું કોઈ શસ્ત્ર હરાવી શકતું નથી જ.

ધર્મના ત્રિકાલવ્યાપી જયમાં છે જીવમાત્રની કલ્યાણલક્ષી સર્વ ભાવના-ઓનું જતન.

વિરલ વિભૂતિ ? અદ્ભુત યોગી ?

કીર્તિકુમાર હાલચંદ વોરા. થરાદવાલા—મુંબઈ ૨

અવની પર ઇન્સાનો જ્યારે પોતાનો ધર્મ વીસરવા માંડ્યા, પોતાની ફરજો ભૂલવા માંડ્યા, માતપિતા પોતાનાં સંતાનો પ્રત્યેની, સંતાનો પોતાનાં માત–તાત પ્રત્યેની, ભાઈ ભાઈ પ્રત્યેની, અરે ! આગળ વધીએ તો સૌ કોઇ પોતાના આચારવિચાર અને વર્તન પ્રત્યેની બધી જ ફરજો ભૂલવા માંડ્યા, ત્યારે ?

ત્યારે એક સર્વશ્રેષ્ઠ માનવ દંપતિ ભરતક્ષેત્રના ભરતપુર નગરમાં વિદ્યમાન થઇ ચૂક્યાં હતાં. શા માટે ? સમાજનાં માત–તાતને સમજાવવા માટે કે પાછળ એવી સંતતી મૂકીને જાઓ કે સમાજને, ગામને, દેશને અરે ! જગતને કંઇક પણ ખપમાં આવે ! આ દંપતીનું નામ હતું રૂષભદાસ અને કેશરબાઈ અને ખરે જ સમાજનાં માતપિતાની સાન ઠેકાણે લાવવા, સમાજનાં સંતાનોને સંસ્કારના પાઠ પઢાવનાર રત્ન સમાન રત્નરાજની સમાજને, દેશને અરે જગતને ભેટ ધરી જે રત્નોત્તમ પુત્રની પ્રાપ્તિ આ દંપતિને સંવત ૧૯૮૩ ના પોષ સુદ ૭ ના દિવસે થઇ હતી.

માતપિતાની અનુપમ સેવા કરી સુપુત્ર તરીકે નામના મેળવનાર રત્નરાજે પોતાનું હૃદય છલોછલ વૈરાગ્યથી ભરેલું હતું છતાં માતપિતા પ્રત્યેની પોતાની ફરજો અને પ્રેમને સમજી શ્રી વીરપ્રભુની માફક માતપિતાના સ્વર્ગ–ગમન સુધી સંસારત્યાગની વાત પણ ઉચ્ચારી ન હતી. અરે ! માત પિતાને સંપૂર્ણ શાન્તિમય અને ધર્મારાધનામાં જીવન જીવવાનો ઉપદેશ આપી સોળ વરસના કીશોર રત્નરાજને વડીલ બંધુ માણેકલાલની સાથે સિંહલદ્વીપ (લંકા) દ્રવ્યોપાર્જન માટે જવું પડ્યું હતું–ગયા હતા અને જગતના જુવાનોને સમજાવ્યું હતું કે માત–પિતા પ્રત્યેની સંતાનો ફરજો એ પણ એક પ્રકારનો ધર્મ છે. અને નીકટ ભવી–હળવાકર્મી આત્માઓ માતપિતાની સેવા કરતાં કરતાં સંસારી સાધુ બનીને રહી શકે છે.

અને ખરે જ રત્નરાજનું જીવન સંસારી અવસ્થામાં પણ સાચા સાધુ જેવું જ હતું.

સમાજમાં, ગામમાં, દેશમાં અરે ! દુનિયા આખીમાં વ્યાપી ચૂક્યો હતો અંધકાર અજ્ઞાનતાનો, જગતમંદિરમાંથી ઓછા થવા માંડ્યા હતા જગતના જીવાત્માઓને ત્યાગ, વૈરાગ્ય અને સમભાવના સાચા રસ્તે વાળવાવાળા ! પરવારવા માંડયું હતું જગત મંદિરનું પુન્ય ! જરૂર પડી હતી જગતને સાચા માર્ગદર્શકોની–જગતભરના સ્વાર્થને ત્યાગી પરમાર્થકાજે જીવન અર્પનારની ?

ઘરનું ભલું થતું હોય તો પોતાનો સ્વાર્થ જતો કરનાર સોમાંથી એક મળી આવે છે. કુટુંબનું ભલું થતું હોય તો ઘરનો સ્વાર્થ જતો કરનાર હજારમાંથી એક મળી આવે છે. ગામનું ભલું થતું હોય તો કુટુંબનો સ્વાર્થ જતો કરનાર લાખમાંથી એક મળી આવે છે. દેશનું ભલું થતું હોય તો ગામનો સ્વાર્થ જતો કરનાર ક્રોડમાંથી એક મળી આવે છે. પરંતુ જગતના ભલાને ખાતર-ઉદ્ધારને ખાતર દેશનો સ્વાર્થ જતો કરનાર અબજોમાંથી એક મળી આવે છે. જ્યારે આજે જરૂર હતી ત્રણ લોકના કલ્યાણની ભાવનાવાલા પુન્યાત્માઓની?

અને એવી એક વિરલ વિભૂતિ પણ રત્નગર્ભા ભારતીના ઉદરમાં ઉત્પન્ન થઇ ચૂકી હતી.

પોતાનો, પોતાના કુટુંબનો, ગામ-દેશ અરે જગતભરના સ્વાર્થને જતા કરી '**सर्वत्र सुखी भवंतु लोकाः**' ને ખાતર રત્નરાજે આ સંસારનો ત્યાગ કરી યતિધર્મ અંગીકાર કર્યો.

અને હવે એ રત્નરાજ મટી બની ગયા શ્રી રત્નવિજય.

જગતના અંધકારને દૂર કરવા યતિધર્મ અંગીકાર કરનાર શ્રી રત્નવિજયજીએ જોયું તો? દેખાયું કે પ્રવેશવા માંડ્યો હતો પવન શિથિલાચારનો અગ્રેસર યતિવરોમાં. શહેનશાહે અકબરે પૂ૦ શ્રી હીરવિજયસૂરિ મહારાજના પ્રભાવથી મુગ્ધ થઇ પૂજ્યના માનને ખાતર જૈન ધર્મના બહુમાનને ખાતર છત્ર, પાલખી, છડીની ભેટ સોદાગની પ્રથા દાખલ કરી હતી. પરંતુ આ પ્રથામાંથી કાળ જતાં પ્રવેશી ચૂક્યો હતો સડો સાહીબીનો યતિવરોમાં! ધર્મનાં બહુમાનના પ્રતીક સરખી આગળ ચાલતી ખાલી પાલખીમાં યતિવરો તિરાજવા માંડયા અને છત્રો માથે ધરાવવા માંડયા અને આ રીતે ધીરે ધીરે પોતાનો ધર્મ ભૂલવા લાગ્યા ત્યારે?

ત્યારે રત્નવિજયજીને લાગ્યું કે પહેલું ઘરને સુધારી ગામ, દેશ અને જગતને સુધારવું જરૂરી છે અને એટલે જ માર્ગભૂલેલા યતિવર્ગની સામે ઝુંબેશ ઉપાડી અને એક દિવસ બધા જ યતિવરોને શ્રી રત્નવિજયજીનો માર્ગ કબૂલ કરવો પડ્યો; કારણ આ જ માર્ગ સાચો હતો અનાદિથી ચાલ્યો આવતો આ માર્ગ હતો.

હવે રત્નવિજય યતિ મટી બન્યા પાંચ મહાવ્રતધારી સાધુસમાજના અગ્રેસર. આચાર્યદેવ પ્રભુશ્રીમદ્વિજયરાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજ. અને હવે એમણે નજર માંડી સમાજ તરફ જગત તરફ! એમના નેત્ર દુરબીનમાં એમને શું દેખાયું!

સડો જામ્યો હતો અપાર મિથ્યાત્વનો સમાજમાં! માણસોની ખસવા માંડી શ્રદ્ધા શાશ્વત ધર્મ પ્રત્યેથી, માણસો માનવા-પૂજવા માંડ્યા હતા સાંસારિક દેવ દેવીઓને સંસારનાં ક્ષણભંગુર સુખોને ખાતર! અને આ બધાનું મૂળ કારણ હતું અજ્ઞાનતા, અને આ અજ્ઞાનતા દૂર કરવા આ વિરલ વિભૂતિ પ્રભુ શ્રીમદ્વિજયરાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજ ચાલી નીકળ્યા. મારવાડ, માળવા, રાજસ્થાન અને ગુજરાતને ગામડે ગામડે ફરી અને જગતભરમાં અભિધાન રાજેન્દ્ર જેવા મહાન કોશ અને શબ્દકૌમુદિ, વ્યાકરણ પઇ-

અસદ્દમ્બુદ્ધિ, સિદ્ધાન્તપ્રકાશ, તત્ત્વવિવેકપ્રશ્નોત્તરમાલિકા, જેવા મહાન્ ગ્રંથો દ્વારા જ્ઞાનની જ્યોત પ્રગટાવી. મિથ્યાત્વના સઢાને દૂર કર્યા. સાચા ધર્મનો મર્મ સમજાવ્યો એમણે દરેકને ! છોડાવ્યા દરેકને મિથ્યાત્વ, અજ્ઞાન અને અંધશ્રદ્ધાની જબ્બર પક્કડમાંથી અને કર્યો પુનઃઉદ્ધાર અનાદિથી ચાલ્યા આવતા શાશ્વત ધર્મનો !

અને ઉતર્યો નથી હજુ એ રંગ વિરલ વિભૂતિએ શુદ્ધ સમકિતના રંગે રંગેલાં માનવ માનસનો !

પચાસ પચાસ વરસનાં પ્રભાત ઊગ્યાં અને આથમી ગયાં–એ દિવસને કે જે દિવસે આ વિરલ વિભૂતિએ પોતાના શ્વાસોશ્વાસ પૂરા થવા આવ્યા જાણી અદ્‌ભુત યોગી બનીને સમાધી લગાવી હતી, અનસન આદર્યું હતું અને મૃત્યુને અમૃત સમજી હસતે મુખડે ભેટવા તૈયારી કરી લીધી હતી. આ પુણ્યભૂમિનું નામ હતું મોહનખેડા.

ન્હોતો રહ્યો પાપનો થોડો પણ અંશ આ વિરલ વિભૂતિમાં કે એમને ડર હોય મૃત્યુતણો. ભાતું ભર્યું હતું પુન્યતણું આ અદ્‌ભુત યોગીએ મોક્ષમાર્ગમાં ખૂટે નહિ એટલું પછી શા માટે ડર હોય યમદૂતનો ?

મૃત્યુથી કોણ ડરે છે ?

જન્મ ધરી જગતમાં પાપો નકામાં આચર્યાં જેણે,
ડર લાગે છે મૃત્યુ તણો મહાભયંકર તેને.

મૃત્યુકિનારે બેઠેલ આવી વ્યક્તિ શું બોલે છે ?

મેં દાન તો દીધું નહિ, ને શિયળ પણ પાળ્યું નહિ;
તપથી દમી કાયા નહિ, શુભ ભાવ પણ ભાવ્યા નહિ.
હે નાથ ! મારું શું થશે ?

આ તો હતી અદ્‌ભુત અને અવિરલ વિભૂતિ. એમના મનમાં હતું નવકાર-મંત્રનું સ્મરણ, એમના વદન પર તરવરતી હતી જગતના સર્વ જીવો પ્રત્યેની પ્રેમ–લાગણી ! મૈત્રી ભાવના ! ચોરાસી લાખ જીવાયોનીના જીવાત્માઓ સાથે ખમતખામણાં કર્યાનો અપૂર્વ આનંદ !

કડકડતી ઠંડી પડતી હતી. પોષ સુદ ૬ નો દિવસ હતો, જગતમાં ઘણા જીવાત્માઓ આજે 'અભિધાન રાજેન્દ્ર' મહાકોષના પ્રણેતાને એમની એંસીમી વરસગાંઠે યાદ કરી રહ્યા હતા. એ જ જન્મનો સમય હતો.

મોહનખેડાની પુણ્યભૂમિ પર અનશનધારી અદ્‌ભુત યોગીનાં–અવની પરની વિરલ વિભૂતીનાં દર્શન કરવા માનવમેદની પાર વગરની ઉમટી હતી.

સૌના મોં પર ગ્લાનીની લાગણી પ્રસરી ગઈ હતી, કારણ આજે સૌના ઉદ્ધારક સૌની વચ્ચેથી સૌને મૂકી આગે પ્રયાણ કરી જવાના હતા અને એને કલાકો નહિ, ઘડીઓ નહિ ફક્ત પળોની વાર હતી.

અને એક પુન્ય પળે પૂ. ગુરુદેવનો જીવન-દીપ બુઝાઈ ગયો. જીવન-દીપ બુઝાઈ ગયો પરંતુ એમણે પ્રગટાવેલો જ્ઞાનદીપક હજુ પ્રકાશે છે-આજે પચાસ વરસોથી.

આ દીપકમાં તેલ ન ખૂટે એ માટે આપણી ફરજ શું ?

એમના છેલ્લા અંતિમ ઉપદેશનું સંપૂર્ણ પાલન કરવું એ છે આપણી ફરજ-ધર્મ શું ? એ છે વિભૂતિનો અંતિમ ઉપદેશ.

સત્ય, અહિંસા, સમભાવ અને પ્રેમ એ શાંતિના સ્તંભ છે. વીતરાગ પરમાત્મામાં અને એમણે ભાખેલા ધર્મમાં શ્રદ્ધા રાખી એ પ્રમાણે વર્તવું એ સાચો અને શાશ્વત ધર્મ છે.

આજે આ વિરલ વિભૂતિની અર્ધ શતાબ્દિ ઉજવાય છે તો આ અવસરે આપણે બતાવેલા સાચા અને શાશ્વત ધર્મનું પાલન કરવાનો નિર્ધાર કરીએ તો જ આપણે એમના જૈન ધર્મના સાચા ઉપાસક છીએ.

શાસનપ્રભાવક શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિ

પૂનમચંદ નાગરલાલ દોશી, ડીસા તાલુકા સ્કૂલ હેડમાસ્ટર.

'પ્રભો ! ગજબ થયો ! મહોત્સવ નિમિત્તે ઊભો કરેલ મેરુપર્વત પાયામાંથી તૂટી પડ્યો છે, શું વાત કહું ? બિચારા ભાવિક શ્રાવકો દટાઇ ગયા છે !' હાંફળોફાંફળો એક આધેડ વયનો શ્રાવક બોલી ઊઠ્યો.

'૮૦ ફૂટ ઊંચો મંડપ અને એકલી માટીનો બનાવેલ એ મેરુ ! ખરેખર ગામના જ કમભાગ્ય ! નહિતર આવા મંગળ પ્રસંગે આવું વિઘ્ન હોય ? બાપજી ! મુહૂર્તમા જ આ અપશુકન ન કહેવાય ?' બીજાએ ટાપશી પૂરતાં કહ્યું.

'ભાઇઓ ! શાંત થાઓ, મારા ધ્યાનના બળે હું કહી શકું છું કે એ મંડપ નીચે દટાએલી બધી વ્યક્તિઓ સહીસલામત રહેશે. જાઓ તેમને બહાર કાઢવામાં મદદ કરો.' ગુરુદેવ ધ્યાન પૂર્ણ થતાં બોલી ઊઠ્યા.

બંને જણા ગુરુદેવના આશીર્વાદ શિરે ચઢાવી દોડતા મંદિરે ગયા ને કાટમાળ ખસેડવાના કાર્યમાં મદદ કરવા લાગ્યા. જોત-જોતામાં નીચે દટાએલી પાંચ વ્યક્તિઓ નવકાર મંત્રના જાપ કરતાં બહાર નીકળી. નવાઇની વાત છે કે પાંચસો મણ જેટલા બોજા નીચે દટાયા છતાં અણીશુદ્ધ સાજાતાજા નીકળ્યા.

ગામમાં વાયુવેગે સમાચાર પ્રસર્યા. ગુરુદેવના જયધ્વનિ સાથે જૈનશાસનનો પ્રભાવ વધુ વિસ્તીર્ણ થયો.

આ બનાવ સંવત ૧૯૫૮ ની સાલમાં શિયાણા(મારવાડ)માં અંજનશલાકાની વિધિ કરતાં બન્યો. વિધિનિર્માતા હતા આપણા ગુરુદેવ શ્રી રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજ !

સંવત ૧૮૮૩ ના પોષ સપ્તમી એ પુણ્યશાળી પુરુષની જન્મજયંતિ આજે વરસોથી ધાર્મિક તહેવાર તરીકે જૈન, જૈનેતર અનેક અનુગામીઓ ઉજવતા આવ્યા છે.

રાજપુતાનાના ભરતપુર નગરના માનનીય શ્રેષ્ઠિવર્ય ઋષભદાસજીના બીજા પુત્ર રત્નરાજ, સુશીલા ધર્મનિષ્ઠ કેશરબાઇ તેમનાં માતાજી. માતાપિતાના સુધર્મમય સંસ્કારોનું પાન કરતાં તેમની બાલલીલા જ બતાવી રહી હતી કે આ રત્નરાજ કોઈ અનેરું રત્ન જ બની સમાજમાં ઝળકી ઊઠશે અને બન્યું પણ તેમ જ—

સંસાર પ્રત્યે જન્મથી જ ઉદાસીનતા છવાઈ રહી હતી. એટલે અનેક શ્રેષ્ઠિકન્યાઓનાં માગાં તેમણે નકાર્યાં હતાં. સંસારની વિચિત્રતાના અનેક સબળ પૂરાવાઓ બતાવી સામાવાળાઓને પણ ધર્મ માર્ગે ચાલવા આકર્ષ્યા.

જગતમાં પ્રાણીમાત્રને અનુભવ થાય છે તેમ કાળ પોતાનું કાર્ય કર્યે જાય છે. માત-પિતાની સેવા કુદરતને ખૂંચી હોય કે પછી તેમના હાથે સમાજની કોઇ મહાન્ સેવા સર્જાઈ હોય, અને તે માટે માર્ગ મોકળો કરવાની વિધિને જરૂર હોય તેમ દૈવી સંકેતાનુ-સાર માતાપિતા થોડા જ કાળના અંતરમાં એક પછી એક સ્વર્ગવાસી થયાં.

હવે તો રત્નરાજનું એકજ કાર્ય હતું-ફક્ત ધર્મારાધના, છતાં સાંસારિક ભાઇનો દિલનો આઘાત ન રુઝાય ત્યાં લગી સાથે રહેવું જ સારું એમ માની રોજેરોજ સંસાર-અસારતાની વાતોથી વડીલ બંધુ પાસેથી થોડા જ કાળમાં આજ્ઞા મેળવી લીધી.

તે સમયે 'શ્રીપૂજ્ય' શાસનના અગ્રસ્તંભ ગણાતા હતા. ભરતપુરમાં પધારેલ પ્રમોદસૂરીશ્વરજી મહારાજ સાથે ચાલી નીકળ્યા. તેમણે હેમવિજયજી પાસે ભાગવતી દીક્ષા અપાવી ! બડી દીક્ષા અપાવી અને રત્નવિજય પંન્યાસ નામે વિચરવા લાગ્યા. દેવેન્દ્રસૂરિજીના કહેવાથી શ્રી ધરણેન્દ્રસૂરિના સાથે તેઓ ફરવા લાગ્યા.

ધર્મભાવના ને સત્યજ્ઞાન જેણે અનુભવ્યું છે તેમને ગમે તેમની કઠોર વાણી કે અઘટિત વલણ કોઇ કાળે ગમતાં નથી. પછી ભલે તે ગચ્છનો નાયક હોય કે એક સામાન્ય યતિ હોય, તેમાં વળી કોઈ કોઈ પ્રસંગે માનવીના બોલાયેલા બોલ સમસ્ત જીવનને નવો ઝોક આપી નવા જ રસ્તે વાળી દે છે. રત્નવિજય પંન્યાસજીના જીવનમાં પણ આવી જ એક અણમોલ પળ આવી ગઈ. ઘાણેરાવના સંવત ૧૯૨૩ ના ચાતુર્માસમાં આચાર્યદેવની અત્તર ખરીદી પ્રત્યે તીવ્ર વિરોધ દર્શાવતાં શ્રી ધરણેન્દ્રસૂરિએ કહ્યું કે-'શક્તિ હોય તો તું પણ અલગ શ્રીપૂજ્ય બની ચાલ્યો જા. મારા આશરે શા માટે પડ્યો છે ?'

આ શબ્દો નવયુવાન બાલબ્રહ્મચારી યતિ રત્નવિજયજી સાંખે ? કુદરત પણ આ મહાન્ પળની રાહ જોઈ રહી હતી. યતિજીવનને ભૂલી જઇ વિલાસ તરફ ઢળેલા શ્રીપૂજ્યો આજે મળેલી સાધુવેશભૂષાને એબ લગાડી રહ્યા હતા. તેમનાં અંતઃચક્ષુ ખોલી સમાજને પુનઃ કોઇ નવા રસ્તે દોરવાની જરૂર હતી. એટલે 'ભાવતું હતું અને વૈદે કહ્યું' ની જેમ પોતાના ગુરુદેવ શ્રી પ્રમોદસૂરીશ્વરજીએ ચતુર્વિધ સંઘના સાનિધ્યે આચાર્યપદથી વિભૂષિત કર્યા અને શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજી નામે શ્રીપૂજ્ય પ્રસિદ્ધ થયા.

યતિવર્ગમાં રહેલી શિથિલતા દૂર કરવા તનતોડ પ્રયાસો કર્યા; સાધુજીવનની પ્રાચીન-તાના આધારે સમાચારીયો રચી તે શ્રીપૂજ્ય તથા યતિસમાજે હોંશભર સ્વીકારી, અને જગતના ભવ્ય પ્રાણીના ઉદ્ધાર માટે ફરવા લાગ્યા, પરંતુ ઊંડે ઊંડે પરિગ્રહવ્રત તેમને ડંખી રહ્યું. 'શ્રીપૂજ્ય.' રાજશાહી વૈભવ, છત્ર, ચામર, છડી, આદિ સાથે રાખે છે અને તેનો ઝડપથી ત્યાગ કરી મહાવીર શાસનના પંચમહાવ્રતધારી પ્રવ્રજ્યાને ધારણ કરી જીવન સાર્થક કરવાની સુઅવસરની રાહ જોવા લાગ્યા.

ધર્મ ક્રિયાકાંડની શિથિલતામાં પણ ક્રિયોદ્ધાર કર્યો, જુદાં જુદાં શાસ્ત્રોના આધારે ચર્ચા–વિવાદને અંતે શાસ્ત્રીય ત્રિસ્તુતિક સિદ્ધાન્ત સમજાવ્યો.

ગુરુદેવશ્રીએ અનેક સુપ્રસિદ્ધ સંસ્કૃત ગ્રંથો લખ્યા છે જેની સંખ્યા લગભગ એકસઠની છે તેમાં જગપ્રસિદ્ધ **શ્રી અભિધાનરાજેન્દ્રકોશ** મહામૂલ્યવાન ખજાનારૂપ છે. હિંદ બહારના અનેક સાહિત્યસેવકો, વૈજ્ઞાનિકો અને કવિઓ જેનો આજે ઉપયોગ કરી જગતમાં પ્રસિદ્ધ બની રહ્યા છે, જેમાં એક એક શબ્દ પર વિસ્તારપૂર્વક ચર્ચા–વ્યુત્પત્તિ આદિ બનાવી પાનાંનાં પાનાં ભરી ઉપયોગી નોંધ લખી છે.

ગુરુદેવનું જીવન અનેક ચમત્કારિક વાતોથી શાસનપ્રભાવક તરીકે પૂરું થયું છે. જગતના અનેક જીવોને તેમણે રાહ દર્શાવ્યો છે, તેમના અનુયાયીઓ આજે વરસો પછી પણ ગુરુદેવના જીવનને ઉદાહરણરૂપ માની તેમાંથી રજ પણ પોતાના આત્માને લગાડી ધન્ય માને છે. આવા મહાન્ સૂરિપુંગવ શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિજીને નત મસ્તકે ક્રોડોવાર વંદન કરતાં આત્મા આનંદ અનુભવે છે.

પોતે જીવી ગયા છે, જીતી ગયા છે, બીજાને સરળ માર્ગોની સરણી આપી ગયા છે. દર વરસે તેમની જન્મજયંતિ ઉજવતાં તેમના મહાન ગુણોનો એક અંશ પણ આપણા કાળા કાળજામાં પ્રજ્વલિત થાય તો આપણો ઉદ્ધાર થઈ જાય.

પુણ્યશ્લોક પુરુષને શતકોટી વંદન...........

સાહિત્ય ક્ષેત્રે શ્રી રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી

મફતલાલ સંછાચંદ સંઘવી—થરાદ (ઉત્તર ગુજરાત)

(૧) જ્યારે જ્યારે પ્રજાના જીવનમાંથી પ્રાણ ઊડી જઈ પ્રજા નિશ્ચેતન બની જાય છે અને જ્યારે તેને સાચે જ એમ લાગે છે કે પોતે ઘોર અંધકારમાં ડુબતી જાય છે ત્યારે ત્યારે તેને પુનર્જીવન અથવા નવીન પ્રકાશ મેળવવા માટે પોતાની પ્રાચીન વિભૂતિઓ અર્થાત્ અસ્ત પામી ગયેલ છતાં જીવતાજાગતા પૂર્વ મહાપુરુષોની ઝગમગતી જીવનજ્યોતિનું દર્શન કરવાની ઉત્કંઠા થાય છે.

(૨) મહાપુરુષોની જીવન–જ્યોતના પ્રવાહો સર્વતોગામી હોઈ તેનું સંપૂર્ણ દર્શન વિવેકપુરસ્સર કરવાનું આપણા જેવા સાધારણ કોટીના દરેક મનુષ્યો માટે શક્ય નથી હોતું. એટલે એ જ્યોતનું આછું આછું ય દર્શન આપણા સૌને થાય અને આપણા સૌમાં નવેસરથી નવચેતન પ્રગટે એ ઉદ્દેશથી આપણા સૌની વચમાં વસતા પ્રાણવંતા પ્રજ્ઞાશાળી મહાપુરુષો અનેક ઉપાયો યોજે છે.

(૩) આપણા મહાપુરુષોએ સમ્યગ્જ્ઞાન, સમ્યગ્દર્શન, સમ્યક્ચારિત્રની પ્રાપ્તિ માટે આજસુધીમાં તીર્થો, પર્વો, કલ્યાણક મહોત્સવ વિગેરે જેવા અનેક પ્રસંગો ઉપદેશ્યા–પ્રવર્તાવ્યા છે. એ જ મહાપુરુષોનું અનુસરણ કરી આજના યુગમાં જયંતિ, શતાબ્દી, જાહેર વ્યાખ્યાન, આદિ જેવા અનેક શુભ પ્રસંગો ઊભા કરવામાં આવે છે! જેથી પ્રજા જીવન-માંથી ઓસરી ગયેલા બાહ્ય અને આભ્યંતરજ્ઞાનાદિ ગુણોની ક્રમે ક્રમે પ્રાપ્તિ તેમજ વૃદ્ધિ થાય.

(૪) આ વર્ષે આપણી સમક્ષ વિશ્વવિખ્યાત મહાપુરુષ જગદ્વંદનીય પ્રભુ શ્રીમદ્ વિજયરાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજીની અર્ધ શતાબ્દિનો પ્રસંગ ઉપસ્થિત થયો છે. જે અડગ-પણે એ મહાપુરુષને પુનિત પગલે ચાલનાર અને એમના જ આજ્ઞાધારી, પ્રભાવશાળી આચાર્ય શ્રીમદ્ વિજયયતીન્દ્રસૂરીશ્વરજીની અપૂર્વ ભક્તિ અને પ્રેરણાને પરિણામે જન્મ્યો છે.

(૫) જે મહાપુરુષની અર્ધ શતાબ્દિ ઉજવવાની છે તેમને લક્ષીને તેમના સ્મારક ગ્રંથમાં કંઈ લખવાની ઇચ્છા થાય તે સ્વાભાવિક છે, પરંતુ જે મહાપુરુષને આપણે નજરે નિહાળ્યા ન હોય અથવા જે મહાપુરુષને નજરે જોવાનું સદ્ભાગ્ય આપણને પ્રાપ્ત થયું ન હોય તેમના સંબંધમાં કંઇ પણ લખવા પ્રવૃત્તિ કરવી એ એક દ્રષ્ટિએ કૃત્રિમતા ગણાય તેમ છતાં બીજી દ્રષ્ટિએ વિચાર કરતાં લાગે છે કે મહાપુરુષો સ્થૂળ દેહે ભલે આ દુનિયાનો ત્યાગ કરી ગયા હોય તે છતાં તેઓ સૂક્ષ્મ દેહે કહો અથવા અક્ષર

દેહે કહો, સદાય આ જગતમાં જીવતાજાગતા જ હોય છે. એટલે આપણે એ મહા-પુરુષને તેમના અક્ષરદેહ ઉપરથી ઓળખવા પ્રયત્ન કરીએ તો કૃત્રિમતા નહિં ગણાય.

(૬) સ્વર્ગવાસી ગુરુદેવે પોતાના જીવનમાં જે અનેકાનેક સત્કાર્યો કર્યાં છે. તેમાં ગુરુદેવની ગ્રંથરચનાનો પણ સમાવેશ થઈ જાય છે. તેઓશ્રીની ગ્રંથરચના પ્રતિપાદક શૈલીની તેમજ ખંડન-મંડનાત્મક એમ બન્ને પ્રકારની છે. એ ગ્રંથોનો સૂક્ષ્મ રીતે અભ્યાસ કરનાર સહેજે સમજી શકે તેમ છે કે, એ ગ્રંથોની રચના કરનાર મહાપુરુષ કેવા બહુશ્રુત તેમજ તત્ત્વગવેષક દ્રષ્ટિએ કેટલા વિશાળ અને ઊંડા અભ્યાસી હતા. વસ્તુની વિવેચના કરવામાં તેઓશ્રી કેટલા ગંભીર હતા. તેમજ ખાસ મહત્વના સારભૂત પદાર્થોનો વિભાગવાર સંગ્રહ કરવામા તેમને કેટલું પ્રખર પાંડિત્ય વર્યું હતું.

(૭) ગુરુદેવની ગ્રંથરચનામાં સંસ્કૃત, પ્રાકૃત, અપભ્રંશ ભાષાના ૬૧ ગ્રંથો છે. તે બધાય ગ્રંથોમાં સર્વશ્રેષ્ઠ ગ્રંથ શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોષની સાત ભાગમાં રચના કરીને ગુરુદેવે દુનિયાની જે અજોડ સેવા કરી છે તેની જોડ મળવી બહુ જ મુશ્કેલ છે. એ કોષના સાતે ભાગ દુનિયાના તમામ દેશોના જ્ઞાનભંડારો-(લાયબ્રેરિયો)માં ઉચ્ચ ભાવે રાખવામાં આવેલ છે. ગુરુદેવે રચેલા દરેક ગ્રથો જનકલ્યાણ અર્થે રચેલા હોઇ તેના અભ્યાસ અને અવલોકન દ્વારા દરેક મનુષ્યો જૈન ધર્મ તેમજ ઇતર ધર્મનાં તત્ત્વોને અને તેના સારાસારપણાને સ્હેજે સમજી શકે.

(૮) સ્વર્ગવાસી ગુરુદેવે રચેલા મુખ્ય ગ્રંથોમાં જે સંખ્યાબંધ આગમ અને શાસ્ત્રોની વિચારણાઓ ભરેલી છે. એ દ્વારા તેઓશ્રીના બહુશ્રુતપણાની તેમજ વિજ્ઞાન અને ઊંડા આલોચનની આપણને ખાત્રી મળી જાય છે, તેમ છતાં આપણને તેઓશ્રીના ગંભીર વિજ્ઞાનની વિશેષ ઝાંખી થઈ જાય છે.

(૯) મારવાડ (રાજસ્થાન), માળવા (મધ્ય-ભારત), ગુજરાત દેશોમાં આજે સ્થાન-સ્થાનમાં સ્વર્ગવાસી ગુરુદેવના વસાવેલા વિશાળ જ્ઞાનભંડારો છે. એ ભંડારોમાં સારા સારા ગ્રંથોનો સંગ્રહ કરવા ગુરુદેવે અથાગ પ્રયત્ન કર્યો છે. સ્વર્ગવાસી ગુરુદેવે પોતાના વિહાર દરમ્યાન ગામ ગામના જ્ઞાનભંડારોની બારીકાઈથી તપાસ કરતાં જ્યાંથી જે ગ્રંથો મળી આવ્યા ત્યાંથી તે તે ગ્રંથો જનકલ્યાણ અર્થે સંગ્રહ કરાવ્યાં છે. ગુરુદેવના ભંડારોની આજે બરાબર બારીકાઈથી તપાસ કરવામાં આવે તો આપણને તેમાંથી કેટલીય અપૂર્વતા જોવા મળી શકે.

(૧૦) જગત ઉપર જ્યારે જૈન ધર્મની પ્રવૃત્તિ મંદમંદ ગતિએ ચાલી રહી હતી. જૈનો જ્યારે અજ્ઞાનતારૂપી અંધકારમાં ડૂબી રહ્યા હતા અને તેમાં મારી જન્મભૂમિ (થરાદ) ઉ. ગુ. પ્રદેશ દુનિયાની સાંકળમાંથી છૂટો પડી એક ખૂણે અજ્ઞાનતામાં સડી રહ્યો હતો, જ્યારે ત્યાં જૈન સાધુઓનાં દર્શન પણ અસંભવિત હતાં તેવા પ્રદેશમાં ઉગ્ર વિહાર

કરી, અથાગ પરિશ્રમ ઉઠાવી ગુરુદેવે પ્રજાને જે પ્રતિબોધ કર્યો છે તે કળીયુગમાં કલ્પવૃક્ષ ફળ્યા સમાન છે. તેના ફળરૂપે આજની પ્રજા કેટલી સુસંસ્કારી અને સુખી દેખાય છે તે તો જૂના જમાનાના જોનાર-જાણનાર તેની તુલના કરી કિંમત આંકી શકે.

(૧૧) અંતમાં હું એટલું જ કહી શકું કે જયારે જયારે પ્રજામાં ધાર્મિક તેમજ નૈતિક નિશ્ચેતનના પ્રગટે છે ત્યારે ત્યારે તેનામાં પ્રાણ પૂરવા માટે એકાદ અવતારી પુરુષ જન્મ ધારણ કરે છે. તેમ સ્વર્ગવાસી ગુરુદેવે અવતાર ધારણ કરી જનસમાજમાં અનેક રીતે પ્રાણ પૂર્યા છે. જે જમાનામાં તેઓશ્રીએ મારવાડ, મધ્યભારતની ધરા ઉપર પગ મૂકયો ત્યારે જૈન સાધુઓની સંખ્યા અતિ અલ્પ હતી, તેમાં શાસ્ત્રજ્ઞો ગણ્યા ગાંઠ્યા હતા. દેશ-વિદેશમાં જૈન સાધુઓનો પ્રચાર અતિ વિરલ હતો, તેવા સમયે ગુરુદેવે જૈનધર્મનો જે પ્રચાર કર્યો છે તે તેમની તેજસ્વી પ્રતિભાને આભારી છે. અને તેજ પ્રતિભાના તેજે આજે જગત સમક્ષ જૈનસમાજ પોતાનું ગૌરવવંતું સ્થાન સાચવી રહ્યું છે.

એ સ્વર્ગવાસી પરમ પવિત્ર ગુરુદેવના અગસ્ય તેજને પ્રતાપે આપણે સૌ વર્તમાન યુગને અનુરૂપ ધર્મસેવા, સાહિત્યસેવા અને જનસેવા કરવાનું બળ મેળવીએ એ જ અભ્યર્થના.

એ આત્મવીરના નામ પર.......?

શ્રીમદ્વિજયયતીન્દ્રસૂરિશિષ્ય મુનિ સૌભાગ્યવિજય.

આ દુનિયામાં કોઈ પણ વ્યક્તિ ગમે તે જ્ઞાતિનો હોય પરંતુ તે પોતાના ઉદ્દેશ્યોને દુનિયા સમક્ષ મૂકી તેનો પ્રચાર કરવા તત્પર રહે છે, તેવી જ રીતે કોઈ પણ સંસ્થા અથવા વિદ્યાલય પોતાના ઉદ્દેશ્યો લઈને એ ઉદ્દેશ્યોની પૂર્તિ કરવા માટે પોતાનું સંચાલન શરૂ કરે છે. સૂર્ય ઊગે છે અને અસ્ત પણ થાય છે! જે ચડે છે તે જ પડે છે? એક સમય જેને લોકો પ્રેમથી બોલાવે છે તેને જ બીજી પળે કટાક્ષભરી દૃષ્ટિથી દેખે છે. એ નિયમ પ્રમાણે કેટલીય સંસ્થાઓ અને વિદ્યાલયોનું આ ભૂમિપટ પર નિર્માણ થયુ અને કેટલાયનું નામ માત્ર અસ્તિત્વ જ રહી ગયુ એનુ મુખ્ય કારણ આર્થિક સમસ્યાની અપૂર્તિ અને ઉદ્દેશ્યોની અથડામણ ?

શિક્ષણ સંસ્થાઓ દ્વારા જ સિદ્ધાન્તોનો પ્રચાર અને સંસ્કૃતિનો સંચાર સહેલાઇથી થઈ શકે છે. એટલા માટે જ વિદ્યાલય, બોર્ડીંગોની સ્થાપના થઈ રહી છે, કરવામાં આવે છે. અને એ વિદ્યાલયો દ્વારા જ અજ્ઞાન, અબોધ બાળકોને ધાર્મિક, વ્યવહારિક જ્ઞાન અપાય છે, સિદ્ધાન્તોની સીડી પર પહોંચાડાય છે. ભવિષ્યમાં તે બાળકો જ સમાજના વફાદાર સૈનિક બને છે. જીવનને સન્માર્ગાનુસાર વ્યતીત સમાજસેવા માટે તત્પર રહે છે.

વિદ્યાલયોમાંથી સજ્ઞાની બનેલ બાળક, દેશના નાગરિક બને છે, સમાજના વફાદાર સૈનિક બને છે, સમાજ અને રાષ્ટ્રઉન્નતિની ઝંખના કરતા કરતા પોતાનું સર્વસ્વાર્પણ કરી દે છે, સમય આવ્યે બલિદાન આપવા ખડે પગે તૈયાર રહે છે, કેમકે તેમને સંસ્કૃતિનું જ્ઞાન છે, કર્તવ્યનુ ભાન છે, સિદ્ધાન્તોની શાન છે.

મનુષ્યોના એક સમૂહને મંડળ અથવા સભા કહે છે. એ મંડળો દ્વારા સમાજની પરિસ્થિતિને વ્યવસ્થિત બનાવવામાં આવે છે. એ જ મંડળો સમાજસેવા માટે પોતાના અમૂલ્ય સમયનો ભોગ આપી સમાજની દુષ્પ્રવૃત્તિ અને રૂઢીવાદનુ ઉન્મૂલન–ઉચ્છેદન કરવા તૈયાર રહે છે.

પ્રખર પ્રતાપી પરમ જ્ઞાની શ્રીમદ્વિજયરાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજનુ નામ આ પૃથ્વીપટ પર યાવચ્ચંદ્રદિવાકરૌ સુધી અમર રહેશે! પૂ. ગુરુદેવશ્રીની પ્રત્યેક જીવન-ઘટના સાહસ યુક્ત છે. જે સાહસહીન વ્યક્તિઓને સાહસી બનવાની સતત પ્રેરણા આપે છે. તેમણે જ સત્યાસત્યનું દિગ્દર્શન કરાવ્યું, પ્રભુ મહાવીરનો સત્સંદેશ ખૂણે ખૂણે

પહોંચાડ્યો ! સમાજને શિથિલતાના મજબૂત પાશમાંથી મુક્ત કરવા અનેક કષ્ટો સહન કર્યાં, માનાપમાનને વિદ્રોહીઓને પોતાના અગાધ જ્ઞાનના બળે પાછા હઠાવ્યા. તેમના અગાધ જ્ઞાનસાગરની સ્મૃતિરૂપ અમારા સામે તેઓશ્રીના સાહિત્ય-શણગાર સમાન ઈકસઠ (૬૧) ગ્રન્થો છે.

સ્વ૦ ગુરુદેવશ્રીની અંતિમ ઘડી સુધી એક જ ઇચ્છા રહી છે કે સમાજમાં રહેલી રૂઢીઓને દૂર કરવી ! અજ્ઞાનાવરણ જે સમાજ ઉપર છવાયું છે તેને સાહિત્ય-સંકલન અને શિક્ષણ-સંસ્થાઓ દ્વારા દૂર કરવું.

પૂ૦ ગુરુદેવની આ ઇચ્છાને તેઓશ્રીના સુયોગ્ય વિદ્વાન્ શિષ્યોએ પૂરી કરવા પ્રયત્ન કર્યો છે. જ્યાં સુધી થઇ શકયો ત્યાં સુધી, સાહિત્ય-સંકલન, જ્ઞાનપ્રચાર, મંડળસ્થાપના, પાઠશાળા, ગુરુકુલ આદિની સ્થાપના કરી છે અને હજુ પણ કરી રહ્યા છે.

આજ અમે અહિં શિક્ષાલય અને મંડળોની યાદ અપાવીશું કે જે પરમકૃપાળુ ગુરુદેવશ્રીની પુણ્યસ્મૃતિના પ્રતીકરૂપ બનેલ છે અને વર્તમાનમાં પણ જે સમાજસેવા કરી રહેલ છે.

શ્રી રાજેન્દ્રોદય યુવક મંડળ, જાવરા. (મધ્યભારત)

સન ૧૯૦૫ માં પરમપૂજ્ય ગુરુદેવશ્રીની સ્મૃતિમાં વ્યા૦ વા૦ મુનિ પ્રવર શ્રી યતીન્દ્રવિજયજી (વર્તમાન આચાર્ય શ્રી વિજયયતીન્દ્રસૂરિજી) મહારાજના વરદ હસ્તે 'રંગ મહાસભા'ના નામથી ઉપરોક્ત સંસ્થાની સ્થાપના કરવામાં આવી હતી. બે વર્ષ વ્યતીત થયે બહુ મતથી 'શ્રી રાજેન્દ્રોદય યુવક મંડળ' નામ કાયમ કર્યું હતું જે આજ સુધી અવિરલ ગતિથી પોતાની કાર્ય-પ્રણાલીને બરાબર ચલાવી રહેલ છે. વર્તમાનમાં ૪૦ સભ્યો એ મંડળમાં પોતાનો સહકાર આપી રહ્યા છે. જે તન, મન, ધન સમર્પીને સમાજસેવા માટે તૈયાર રહે છે. તે મંડળના કાર્યકર્તા કેટલા ઉત્સાહી છે તેનું પ્રમાણ આપણા સામે જ છે. પરમપૂજ્ય સ્વ૦ ગુરુદેવ શ્રીમદ્વિજયરાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજના નિર્વાણ પછી ગુરુદેવશ્રીની સ્મૃતિમાં એ મંડળ દ્વારા એક માસિક પત્રિકા 'સદ્ધર્મપ્રચારક' શરૂ કરવામાં આવેલ પરંતુ આર્થિક સમસ્યાના કારણે તે થોડા સમયમાં જ બંધ થઈ ગઈ.

મંડળના નિયમોનું પાલન સભ્ય મંડળ આજ સુધી કરી રહેલ છે તે દેખી ઘણો જ હર્ષ થયો. કુલ નિયમ ૨૫ છે પરંતુ કેટલાક નિયમ અહિં ઉદ્ધૃત કરવામાં આવે છે—

२ मंडल के समय में मेम्बर साहिब व सहायक आदि महाशयों को मंडल में बैठ कर धार्मिक विचारों या अपने सुधारे की वार्तों के अलावा दूसरी व्यर्थ वार्ते नहीं करना होंगी।

५ अपने धर्म की उन्नति करना, जाति सुधार करना, ऐक्यता बढ़ाना, पाठशाला,

कन्याशाला आदि खोलना और मन्दिरों की आशातना मिटाना यही इस मंडल का खास कर्तव्य समझना चाहिये ।

१० मंडल में बैठ कर नं० ५ में बतलाई हुई बातों पर जो कोई विचार व सलाह की जाय वह बिना बूरे अल्फाज और बिना गुस्ताखी के शान्तता से करना होगी, अगर किसी बात की सलाह में सब मेम्बरों की एक राह न होगी तो बहुमत से मंजूर किया जायगा और सब को बहुमत से की हुई बात को मानना पड़ेगी ।

१५ उपरोक्त नियमों की पाबन्दी हर एक मेम्बर, सहायक व अन्य महाशयों को तन, मन से पालन करना लाजिम होगा । फक्त परदेश यात्रा और जरूरी कारण की वजह से माफी है पर कारण मिले बाद ही पालन होगा ।

ઉપર્યુક્ત નિયમોથી પાઠક સહજ અનુમાન લગાવી શકે છે કે એ મંડળની સમાજ-સેવા કેવી હશે? નં. ૫ માના નિયમાનુસાર મંડળની દેખરેખ નીચે એક 'શ્રીરાજેન્દ્ર જૈન પાઠશાળા'નું સંચાલન સુચારુ રૂપથી થઈ રહ્યું છે. પૂ૦ ગુરુદેવશ્રીના હાથથી જ એ પાઠશાળાની સ્થાપના સન્ ૧૯૦૫ માં થઇ હતી. તેની સ્થાપના થયે ૫૦ વર્ષ પૂરાં થતાં સંવત ૨૦૧૨ શ્રાવણ વદિ ૧૨ ના દિવસે અર્ધશતાબ્દી મહોત્સવ મનાવવામાં આવેલ છે. પાઠશાળાની વર્તમાન પરિસ્થિતિ સારી છે, લગભગ ૫૦ થી ૬૦ વિદ્યાર્થી વિદ્યાર્થીનીઓ ધાર્મિક જ્ઞાનપ્રાપ્તિમાં મશગૂલ છે. વિદ્યાર્થીની વિદ્યાની કસોટી માટે મુંબઇ, એજ્યુકેશન બોર્ડની પરીક્ષાઓ અપાવાય છે. અને સાથોસાથ દર વર્ષે સંવત્સરી (ભાદ્રવા સુદિ ૪) ના દિવસે પાઠશાળાના કાર્યકર્તા સ્વયં પરીક્ષા લઇ તેમના તરફથી બાળકોને ઉત્તેજનાર્થ પારિતોષિક આપવામાં આવે છે. દિનોદિન પ્રગતિશીલ આ પાઠશાળા મજબૂત બને એજ.

શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન વિદ્યાલય, આહોર. (રાજસ્થાન)

રાજસ્થાન પ્રાન્તાન્તર્ગત આહોર નામક એક નગર છે. જેના માટે કહેવત છે કે યુ. પી. માં લાહોર અને મારવાડમાં આહોર! જ્યાં જૈનોના કુલ ૬૦૦ ઘર છે. જેમાં ૪૫૦ ઘર સનાતન ત્રિસ્તુતિક માર્ગાનુયાયી છે. સંવત્ ૧૯૭૫ માં સ્વ૦ શ્રીમદુપાધ્યાય શ્રીમોહન-વિજયજી મ૦ અને વર્તમાનાચાર્યશ્રીના સદુપદેશથી આહોર ત્રિસ્તુતિક સંઘના તરફથી ઉપરોક્ત પાઠશાળાની સ્થાપના બાળકોને જ્ઞાનોપાસના માટે કરવામાં આવી હતી, જે આજ પર્યંત દિનપ્રતિદિન પ્રગતિ કરતી આવી અને ઉન્નતિ પથ પર જઈ રહી છે. પાઠશાળામાં વર્તમાનમાં વિદ્યાધ્યયનાર્થ કુલ વિદ્યાર્થી ૧૫૦ લગભગ આવે છે, તેમને ધાર્મિક શિક્ષણની સાથે હિન્દી અને ઇંગ્લીશ વ્યવહારિક શિક્ષણ પણ આપવામાં આવે છે. કાર્યકર્તા ઉત્સાહથી કામ કરે છે.

શ્રી રાજેન્દ્ર સૂર્યાભ્યુદયાવલી, રતલામ.

'શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર પ્રચારક સંસ્થા'ના અધિકારમાં જ સં૦ ૧૯૬૪ માં ઉપરોક્ત સંસ્થાની સ્થાપના મુનિરાજ શ્રીયતીન્દ્રવિજયજી(વર્તમાનાચાર્ય દેવશ્રી)ની શુભ પ્રેરણાથી થયેલ હતી. એ સંસ્થાનો ઉદ્દેશ્ય હતો સાહિત્ય પ્રચાર અને ઘર ઘર જૈન સિદ્ધાન્તનો સંચાર કરવો. એ નિયમ પ્રમાણે એ સંસ્થા તરફથી કુલ ૩૧ પુષ્પો છપાયા હતા, જેમાં આગમસાર, ભાવનાસ્વરૂપ, ગુણઠાણાદ્વારા આદિ ધાર્મિક, નાકોડા પાર્શ્વનાથ આદિ ઐતિહાસિક, જિનગુણમંજૂષા ૪ ભાગ, પૂજામહોદધિ આદિ ભક્તિમય અને જીવનપ્રભાદિ ચરિત્ર ગ્રન્થ મુખ્ય છે, જેમાં કેટલા વર્તમાનમાં અપ્રાપ્ય છે.

શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન ગ્રંથમાળા.

આ સંસ્થાની સ્થાપના સં૦ ૧૯૭૮ માં જ શ્રીમદ્યતીન્દ્રવિજયજી (વર્તમાનાચાર્યશ્રી)ની પ્રેરણાથી થઇ હતી, તે સંસ્થાનો પણ સાહિત્યપ્રચાર મુખ્ય ઉદ્દેશ્ય હતો. તે સંસ્થા તરફથી કુલ ૩૨ પુષ્પ છપાયા જેમાં કર્મબોધપ્રભાકર, એકસો આઠ બોલકા થોકડા, અધ્યયચતુષ્યાદિ સૈદ્ધાન્તિક, ગુણાનુરાગકુલકાદિ ઔપદેશિક, પીતપટાગ્રહમીમાંસા, જૈનર્ષિ પટનિર્ણયાદિ ચર્ચાત્મક, શ્રી યતીન્દ્રવિહારાદર્શ, શ્રી યતીન્દ્રવિહારદિગ્દર્શન પ્ર૦ ભા૦ આદિ ઐતિહાસિક અને શ્રીમોહનજીવનાદર્શ, સંક્ષિપ્ત જીવનચરિત્ર આદિ ચરિત્રાત્મક ગ્રન્થ મુખ્ય છે. જે હમણાં મળતા નથી.

શ્રી રાજેન્દ્ર પ્રવચન કાર્યાલય, ખુડાલા (રાજસ્થાન)

જો સંસારી આત્માઓ પોતાનું કલ્યાણ ઇચ્છતા હોય તો તે માર્ગે જવા માટે ઉત્તમ સુસાહિત્ય વાંચવું જોઇએ. કેમકે—

पढ ग्रन्थ नित्य विवेक के, मन स्वच्छ तेरा होयगा।
वैराग्य के पढ ग्रन्थ तू, बहु जन्म के अघ धोयगा॥
पढ ग्रन्थ सादर भक्ति से, आनन्द मन भर जायगा।
श्रद्धा सहित स्वाध्याय कर, संसार से तिर जायगा॥

મરુધર ભૂમિ વિશેષ કરીને જ્ઞાનમાં પાછળ રહેલ હતી, આ માટે સં. ૧૯૮૬ કાર્તિક સુદિ ૫ જ્ઞાનપંચમીના દિવસે રાજસ્થાનાન્તર્ગત ખુડાલા(પોસ્ટ, સ્ટેશન ફાલના)માં શ્રીમદ્વિજયયતીન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજના સદુપદેશથી તત્ર નિવાસી ધર્મપ્રેમી સજ્જન નિહાલચંદજી ફોજમલજીની દેખરેખ નીચે ઉપર્યુક્ત સંસ્થાનું સંચાલન શરૂ કર્યું હતું. તેના મુખ્ય ઉદ્દેશ્ય છે ધાર્મિક, ઐતિહાસિક અને ઔપદેશિક ગ્રંથ જમાનાને દેખીને પ્રકાશિત કરવા. ધર્મસિદ્ધાન્તોનો પ્રચાર સુસંસ્કૃત સાહિત્ય પ્રકાશિત કરી ઓછ કિમતમાં વહેંચવી, જે આજપર્યંત પોતાના સિદ્ધાન્ત પ્રમાણે ૨૬ વર્ષથી સમાજસેવા કરી રહેલ છે.

વિશ્વમાં એજ જાતિ, સમાજ કે રાષ્ટ્ર જીવિત રહી શકે છે જેનું સાહિત્ય સમૃદ્ધ છે. જેની સંસ્કૃતિ જીવિત છે, જેમાં મોટા મોટા વિદ્વાનો મોજુદ છે. બસ, આ પરિસ્થિતિને અનુલક્ષીને જ કેટલીયે સંસ્થાઓની સ્થાપના કરવામાં આવે છે.

ઉપરોક્ત સંસ્થા કાર્યાલય તરફથી શ્રી રાજેન્દ્ર પ્રવચન કાર્યાલય સિરિઝના આજ તક ૪૨ પુષ્પો છપાયા છે, જેમાં ધાર્મિક, કલ્પસૂત્રાર્થપ્રબોધિની, શ્રી કલ્પસૂત્રાર્થ-બાલાવબોધ, પંચસપ્તતિશતસ્થાનકચતુષ્પદી આદિ, ઔપદેશિક શ્રી યતીન્દ્ર પ્રવચન પ્રથમ, દ્વિતીય ભાગ આદિ, ઐતિહાસિક શ્રી કોરટાજી તીર્થ ઇતિહાસ, શ્રી યતીન્દ્ર વિહાર દિગ્દર્શન ૨–૩–૪ ભાગ, મેરી નેમાડયાત્રા, મેરી ગોડવાડયાત્રા આદિ, ચરિત્રાત્મક શ્રીમદ્રાજેન્દ્રસૂરિ, શ્રીમદ્ ભૂપેન્દ્રસૂરિ, શ્રી મદ્યતીન્દ્રસૂરિ આદિ ગ્રંથોનું પ્રકાશન થયેલ છે.

કાર્યાલય અંતર્ગત એક શ્રી યતીન્દ્રસૂરિ સાહિત્યમાલા ચાલી રહી છે. તેના પણ આજ સુધી ૩૧ પુષ્પ છપાઈ ગયા છે.

સમાજનો સહયોગ, પાઠકોની વિશેષ સાહિત્ય માંગણીથી જરૂર આ સંસ્થા ઉન્નત બનશે.

શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન પાઠશાળા, મન્દસૌર. (મધ્યભારત)

મધ્યભારતીય સીમા પર મન્દસૌર નામક એક શહેર છે, જેમાં દશ પુરા (મહોલ્લા) હોવાથી પ્રાચીન નામ દશપુર પણ છે, દશપુરા પૈકી જનકુપુરામાં શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન વિલાસ નામક બડી વિશાળ ધર્મશાળામાં તત્રસ્થિત સનાતન ત્રિસ્તુતિક સંઘના તરફથી ઉપરોક્ત સંસ્થાની સ્થાપના કરવામાં આવી છે. કાર્યકર્ત્તાગણ ઉત્સાહી હોવાથી સંચાલન સુચારુ રૂપથી ચલાવી રહ્યા છે. લગભગ ૬૦ વિદ્યાભ્યાસી બાલક બાલિકા વિદ્યાધ્યયનનો લાભ લઇ રહ્યા છે.

આમ કેટલીયે સંસ્થાઓ પૂ૦ ગુરુદેવશ્રીની સ્મૃતિમાં સ્થાપિત કરવામાં આવી છે; પરંતુ લેખ વધી જવાના ભયથી તેમનો વિશેષ વિસ્તાર ન કરતાં ફક્ત નામ માત્રથી જ સંકેત કરી વિરમું છું.

શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન પાઠશાળા, ટાંડા. શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન પાઠશાળા, ખાચરોદ. શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન વિદ્યાલય, સિયાણા. શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન પાઠશાળા, ધુંધડકા. શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન સેવા સમાજ, થરાદ આદિ.
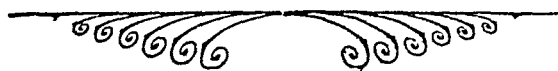
॥ अर्हम् ॥

श्रीअभिधानराजेन्द्रकोषस्य निर्माणकारणम्

शान्तस्वभावी श्रीमदुपाध्यायवर्य श्रीश्री मोहनविजयजी महाराज

श्रीवर्धमानजिनगौतमसत्सुधर्म-
जम्बूमुनीन्द्रजगदर्चितभद्रबाहोः ।
यो वर्धितो निजकृपोदकसेचनाभि-
र्धर्मद्रुतो निखिलधर्मतरुप्रधानः ॥ १ ॥

काले गते बहुतिथेऽथ विलुण्ठितं तं,
मूलार्थविप्लवनसाहसमाश्रयद्भिः ।
मिथ्यात्विभिः पुनरपीह समुद्दिधीर्षुः,
सूरीश्वरो भुवि दयोदधिराविरासीत् ॥ २ ॥

कामाऽऽदिवैरिनिवहोन्मथनात्सुहृष्टः,
बाह्याऽऽन्तरोभयविचित्रचरित्रदृष्टः ।
कारुण्यपूर्णरसपूरितभव्यपुण्य-
नीराब्धिसंगतसुधोन्मथने समर्थः ॥ ३ ॥

चेतोऽन्धकारोद्धरणे विरोचनो,
राजेन्द्रसूरिर्विबुधार्चिताङ्घ्रिकः ।
संघोपकर्ता न च कोऽपि तादृशः,
पूर्ण्यैकमूर्तिर्भविकौघबोधदः ॥ ४ ॥

निजमतच्युतिजैनमतग्रहा-
न्यतरमाहवभंगपणं दिशन् ।
विततवादकथासमरे परान्,
व्यजयताऽजयतां प्रथयन्निजाम् ॥ ५ ॥

अथ विजित्य दिशो दश शिष्यतां,
गतवतः करुणावरुणाऽऽलयः ।
मुनिगणान् नववादरणांगणे,
निजधियाऽजधिया समयोजयत् ॥ ६ ॥

सूत्राण्युपास्य तदुपोद्दलितैः स्ववाक्यै-
राख्यानकैश्च विततैर्निजदेशनाभि-
र्यो जैनसंघमखिलं कृपयोद्दधार,
सूरिः स वै विजयते स्म पवित्रकीर्तिः ॥ ७ ॥

इत्थं स जैनागममत्रलोके,
सम्यग् व्यवस्थाप्य न संतुतोष ।
कालक्रमेणास्य पुनर्विनाश-
माशंकमानो विजितान्यमानः ॥ ८ ॥

ततोऽभ्यगात् शिष्यगणैः सुविज्ञैः-
वृतो विहारेण मरुस्थलं तु ।
उवास कालं चिरमात्मतत्त्वं,
तान् बोधयन् धर्मशिरः प्रतिष्ठम् ॥ ९ ॥

अथैकदा संसदि सन्निविष्टो,
निजाऽऽप्तशिष्याऽऽदिविभूषितायाम् ।
सङ्घोपकण्ठं च निजाभिलाषं,
व्यजिज्ञपत् सूरिवरः कृपालुः ॥ १० ॥

जैनाऽऽगमानां निजयुक्तियोगात्,
संयोक्तुमेकत्र नवीनरीत्या ।
कोशं विधित्सामि जिनेन्द्रभाषा-
मयं न लुप्येत यतः कदाचित् ॥ ११ ॥

श्रुत्वा पुनस्तमुपदेशवरं प्रहृष्टा-
मूर्ध्नाऽग्रहीषत गुरोरनुशासनं तत् ।
संगृह्य द्रव्यमतुलं च ततोऽभिधान-
राजेन्द्रकोशममलं निरमापयंस्ते ॥ १२ ॥

॥ इति शुभम् भवतु ॥

अभिप्राय ।

['श्रीअभिधानराजेन्द्र कोप' की महत्ता एवं उपयोगिता वैसे जगविश्रुत है । विश्व के समस्त देश, प्रदेशों के दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व के विद्वान् इससे भलीविध परिचित ही नहीं, वरन् भारतीय जैन वाङ्मय की इसको वे अपने देश में संस्थापित प्रतिमा मानते हैं । श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी की व्यापक प्रसिद्धि का अभी तक जो एक मात्र यह कारण है, अतः इस संबंध की दृष्टि से कोप संबंधी कुछ तो अभिप्राय प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थान प्राप्त करने ही चाहिए । इस हेतु की पुर्त्ति में कुछ अभिप्राय निम्न अवतरित किये गये हैं । —सम्पादक]

मन्त्री मुनि श्री मिश्रीमल्लजी महाराज

दोहा

श्रुतसागर मंथन करि, रच्यो भव्य हितकोष, विबुद्ध विलोकी चित्त में, सरस लहै संतोष ॥१॥
प्राकृत अथवा मागधी, जो कौ शब्द चहाय, हो तो पढलो हाथ ले, मिलसी सशय नाहि ॥२॥
लक्ष आसरे, पांचरे संख्या श्लोक सुजान, गहन ग्रन्थ राजेन्द्र रच, जस लीदो भुवि आन ॥३॥
शब्द सुचि सुन्दर रचि, जचि सहल हिय जास, पचि परम यह औषधी, करत कर्मरुज नास ॥४॥

झूलना छन्द

धन–भूप–यति–गुरुराज-पति[1] मति स्वच्छ अति कर महनत को,
क्षति गहन हति जिन आगम में गति शब्द के अर्थ सुलहनत को ।
भक्ति गंग सुरंग अदृष्ट हति, तिन के रस को गहनत को,
राजेन्द्रसूरि, धन्यवाद कृति, कलिकाल विचे चित्त चहनत को ॥ १ ॥

दोहा

होस सदा हिय में भरण, करण ज्ञान संतोष ।
अभिधानराजेन्द्र नित, काव्यरसिक ! पढ कोष ॥ ५ ॥
" राज, धन, मल भूप, यतिवर ! ग्रन्थ रच अनमोल यह "
" धवल यश लीना जगत में क्या करूं वर्णन अह "

आहोर : आपाढ शुक्ला अमावास्या, २०११

× × × ×

વળી હર્ષ પામવા જેવું બીજું એ છે કે બીજો મહાન્ કોષ રતલામમાં છપાય છે. શ્વેતામ્બર શ્રીયુત વિજયરાજેન્દ્રસૂરિજીએ પોતાના જીવનના બાવીશ વર્ષ ગાળી અમિત

---

१ श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी, भूपेन्द्रसूरिजी और श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी के गुरुराज श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी ।

પરિશ્રમ લઈ પ્રાકૃત ભાષાનો 'અભિધાનરાજેન્દ્ર' નામનો કોષ તૈયાર કર્યો હતો. જ્યાં તે છપાવવાનો પ્રબંધ ચાલી રહ્યો હતો, ત્યાં ઉક્ત સૂરિજી મહારાજ કાળશરણ થયા. હવે તેમના અનુયાયીઓએ રતલામમાં એક જૈન પ્રેસ ખોલી ઉક્ત ગ્રંથને છપાવવાનો પ્રારંભ કરી દીધો છે. ગ્રંથ ઘણો મોટો છે. પ્રથમથી ગ્રાહક થનારને રૂપિયા સો અને પછીથી ગ્રાહક થનારને ૧૫૫) રૂપિયાથી તે ગ્રંથ મળી શકશે. આ કોષ પ્રાય: શ્વેતામ્બર સંપ્રદાય પ્રયુક્ત શબ્દોનો થશે.

તેથી સમર્થ વિદ્વાનોએ આ ગ્રંથને અપૂર્વ વસ્તુ સમજી તેના ગ્રાહક થવું જોઈયે. શ્રીમાન્ શેઠિયાઓએ આ સાહસને પૂર્ણ ઉત્તેજન આપવા તે કોષની નકલો ખરીદી પાઠશાળા, લાયબ્રેરી અને બોર્ડિંગ-સ્કૂલોને ભેટ આપવી જોઇએ.

જૈન ધર્મ વિદ્યા પ્રસારક વર્ગ-પાલીતાણા

આનંદ (માસિક પત્ર) પુ० ૬, અંક ૨ સં० ૧૯૬૪, પૃ ૪૩-૪૪.

શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિએ 'અભિધાનરાજેન્દ્ર કોષ' તૈયાર કરવામાં બહુ પ્રયાસ કર્યો છે. કોઈપણ શબ્દના અર્થ વિગેરે જાણવા માટે તે બહુ ઉપયોગી છે, એની જોડનો બીજો કોષ નથી.

આણંદજી કુંવરજી-ભાવનગર

જૈન ધર્મ પ્રકાશ પુ० ૫૦, અંક ૪ આષાઢ સં० ૧૯૯૦.

'અભિધાનરાજેન્દ્ર કોષ' નામનો સંગ્રહ ગ્રંથ તેના લગભગ આઠસોથી હજાર પાનાવાળું એક એમ સાત વોલ્યુમો મુદ્રિત થયાં, તેમાં અકારાદિ વર્ણાનુક્રમે પ્રાકૃત શબ્દ, તેનો સંસ્કૃત શબ્દ, વ્યુત્પત્તિ, લિંગ અને અર્થ જે પ્રમાણે જૈનાગમોમાં મળે છે, તે પ્રમાણે તેમ જ અન્ય ગ્રંથોમાં આવે છે. તે પ્રમાણે તે દરેકના ઉતારા ટાંકી આ કોશને બને તેટલો પ્રામાણિક-પ્રમાણ સહિત કરવા મહાભારત પ્રયત્ન કરવામાં આવ્યો છે. જૈનાગમોનો એવો કોઈપણ વિષય નથી કે જે આ મહાકોષમાં ન આવ્યો હોય.

—જૈન સાહિત્યનો ઇતિહાસ, વિ० ૭, પ્ર० ૬, પૃ० ૬૮૩.

'અભિધાન રાજેન્દ્ર' વિશ્વ કોષમાં પ્રત્યેક પ્રાકૃત શબ્દની પાછળ તેનું સંસ્કૃતરૂપ, સંસ્કૃતમાં વિવરણ, મૂળ ગ્રંથમાં જે સ્થળે તે આવેલો છે તેનો નિર્દેશ અને અન્ય ગ્રંથોમાં જે વિવિધ અર્થોમાં તે વપરાયેલો તેની અવતરણો સહિત ચર્ચા કરવામાં આવેલ છે. પ્રસ્તાવનામાં શ્રી હેમચંદ્રનું પ્રાકૃત વ્યાકરણ કર્તાની જ કરેલ ટીકા સહિત આપવામાં આવેલ છે. નામના રૂપાખ્યાનો આપવામાં જેટલા શક્ય તેટલા રૂપો આપવામાં આવેલા છે. તે સાહિત્યમાં મળી આવે કે નહિ. ઉદાહરણાર્થ પંચમી એક વચનમાં 'યુષ્મદ'ના

૫૦ રૂપો આપવામાં આવેલા છે, પરંતુ અર્ધ-માગધી સાહિત્યમાં આ રૂપોમાંનું કોઈ પણ ભાગ્યે જ જોવામાં આવે છે. આ વિશ્વ કોષમાં પ્રત્યેક વિષયના સંબંધમાં જે કાંઈ મૂળ ગ્રંથોમાં તેમ જ ટીકાઓમાં આપેલું છે તે સઘળાનું સમાવેશ કરવામાં આવેલો છે.

—અર્ધ-માગધી કોશ, પ્ર૦ ભા૦, પ્રસ્તાવના પૃષ્ઠ ૨.

× × ×

Sir George A. Grierson, K. C. I. E—The world-renowned English Orientalist: England.

"......I must congratulate you on the fact that this magnificient work is nearing completion. It has been of great use to me in my studies of Jain Prākrit, and the only work with which I can compare it is Raja Radhakant Deb's famous Sanskrit Sabda-Kalpadruma" (when the last volume was in the press)

"The Encyclopaedia is of great value as a work of reference and also for the study of Jain Prākrit."

Prof. Sylvain Levi-University of Paris :—

After 5 years of Abhidhān Rajendra's continuous perusal, I can affirm that no real Indologist can dispense with a copy of this wonderful work. In its special compass, it surpasses even that jewel of lexicography, the Petersburg Dictionary. Here we have not only a complete register of words warranted by references and quotations, but a full survey of thoughts, beliefs, legends lying beyond the words. Whatever is the matter I happen to deal with I begin with consulting my Rajendra and I never fail to get some useful information Shall we ever have anything alike in the field of Brahmanism and Buddhism ?

Prof. Siddheshwar Varma, M. A.—Professor of Sanskrit, Prince of Wales College, Jammu (Kashmir)

"The Abhidhan Rajendra in my opinion is a colossal work which reflects credit on Indian industry and scholarship. A special feature of the work is the rich bibliographical material hitherto absolutely unknown to the world."

ABHIDHĀNA RAJENDRA KOŚA

BY.

His Holiness Sri. VIJAYA RAJENDRA SŪRIJI

(Size Royal 1/4; Pages. 10, 693 in 7 Volumes. Price Rs. 235/-
Publishers; JAIN SWETĀMBER SAMASTA SANGHA. RATLAM CITY.)

This is a Prakrit-Māgadhi-Sanskrit Dictionary by Jainapravara Swetāmber Acharya His Holiness Sri. 1008 Sri Bhattārak VijayaRajendrasūri who is the celebrated author of many works in Sanskrit on philosophy and religion. This unique dictionary deals in detail with the Sūtras enunciated by the ancient & most revered Ganadharas, & their Vrittis, Bhaśyas, Niryuktis, Curnis alongwith the history of the various Darśanas—Vedanta schools, Nyāya, Vaiśesika & Mimāmsā systems of thought in an elegant & Beautiful style. It has clarified many philosophical abstract terms in simple & lucid language. The lexicon contains among other things the biography of the renowned author & learned introduction which contains in an outline the grammer of the Prākrit language and a glossy of Prākrit words & phrases. It is ably edited by the eminent scholars namely His Holiness Sri. Bhupendrasūriji and Yatindrasūriji and published by "Jain Swetāmbar Samasta Sangha" Ratlam City. The get-up and the print are beautiful and attractive.

The celebrated & revered author of this monumental work namely His Holiness Sri Vijaya Rajendrasūri was born on the 3rd December 1827, at Bharatpur. Sri Vrishabhadasa & Srimati Kesarbai were his parents. He was given the name of Ratnaraja by his parents. He had a brother by name Manikyachand & a sister Premabai. He had great devotion towards his parents. When he was very young the cruel fate snatched away from him his parents. He visited countries like Ceylon, and cities like Calcutta with his brother in connection with his trade & Commerce. The pangs of separation of his parents at early age had their own influence on the mind of this young man; he developed an aversion towards the worldly affairs & embraced the ideals of asceticism & longed for Darśan & Association of 'YOGIS' who had renounced all that was earthly & conquered the sensual desires & cravings.

As, the good luck would have it His Holiness Sri Pramodavijaya-sūriji a renowned Achārya came to the city of Bharatpur. Sri Achārya's discourses on philosophy & religion, this stress on the value of the spiritual attainments of man ripened the seed of spirituality & renunciation hidden in the mind of the young gentleman who was eager to embrace asceticism according to the tents of JAIN SIDDHĀNTA. He became the disciple of Sri Pramodavijayasūriji & was initiated into the order of Sanyāsadharma of a Jain ascetic, with the new name of Sri Ratnavijayji.

His Holiness had as his preceptor Yati Sri. Sagarchandra who taught him Grammer, Logic, Amarakośa, prose & poetry. He became a learned scholar in Prākrit & Sanskrit languages and literature as well as in comtemporary Indian Philosophy & religion intensely specialising in Jain Siddhānta. He undertook an extensive tour throughout INDIA when he practised several religious vows of CHATURMĀSA continuously fasting for long periods. He attended to all his personal works himself and never allowed his disciples to do any piece of service for him. He was quite hale and healthy and was always immersed in study & writing of philosophical works & engaged in the spread by light of knowledge wherever he went.

HIS GREAT WORKS :

His works number 61 containing lakhs of verses composed in various metres on variety of themes.

ABHIDHĀNA RAJENDRA KOŚA :

This work is the crowning item of his literary endeavours. It marks a unique period in literary history of the world and merits universal praise and commandation at the hands of emminent scholars. It brings out the roots, the derivations and the meanings of all words in Magadhi language in which many of the Jain ancient philosophical works are written. It contains quotations from about 97 standard works. It gives in detail the history of a particular word and its usage in various contexts. It clarifies beyond doubt the connotation of all the technical words we come across in Jain Siddhanta and literature, the parallel of which is found no where in Jaina Lexicons and Dictionaries. Even a cursory glance through the pages of these volumes will make the reader understand the essentials of Jain philosophy and

religion when we say that this contains approximately four and half lakhs of verses, the magnitude of this great work can be understood. It deals with about 60,000 WORDS. To quote one instance of the interpretation and elicitation of the word "AHIMSĀ" the commentary has occupied 12 pages and clearly broughtout all that pertains to this word in 18 different ways and in all its aspects. That the word commencing with the letter "A" have occupied 893 pages, speaks volumes regarding the greatness of this work.

His Holiness the author has besides the above written the following works—

1. Sabdāmbudhi Kośa.
2. Sakalaiswarya Sttotra.
3. Khapariyātaskaraprabandha.
4. Sabdakaumudi (In verses.)
5. Kalyāna Sttotra—
   Prakriyā Teekā.
6. Dhātupātha (in verses.)
7. Upadeśa Ratnasāra.
8. Deepāvali Kathāsāra.
9. Sarvasamgraha Vivarana.
10. Prākrit Vyākarana Vyākriti.
11. Kalpasutra Bālāvabodha.

Out of the 61 works written by His Holiness 8 treat of music, 23 works deal with Sanskrit language and the rest are devoted to Jain Agamas.

The Lexicon can be compared to the Encyclopaedia or "Viswakośa" of any language. It may be easily termed as "VISWAKOSA" of Jain Siddhānta & the revered author deserves the veneration of scholars and philosophers of the universe.

The Great Saint and Philosopher ended in Samādhi Yoga his mundane life about forty five years ago, that is in V. S. 1963, leaving behind him Great jewels of Knowledge full of light and depth of thought containing fruits of Meditation leading to salvation He was a saviour of Humanity from sorrow and misery.

It is the sacred duty of all Jains to give proper publicity to such great works & present these volumes to all the centres of learning both in INDIA and ABROAD.

By. K. A. Dharnendriah.
X. Principal
Shri Cāmrajendra Sanskrit College—Banglore.

जयन्तु वीतरागाः

श्री राजेन्द्र पुष्पांक

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश

के

कर्त्ता

श्रीमद् विजयराजेन्द्र सूरि

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक-ग्रंथ

श्रीमद् भट्टारक विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के स्वहस्ताक्षर

दर्शन और संस्कृति

हिन्दी

आचार्य मल्लवादी का नयचक्र

श्री दलसुख मालवणिया

आचार्य अकलंक[1] और विद्यानन्द[2] के ग्रन्थों के अभ्यास के समय नयचक्र नामक ग्रन्थ के उल्लेख देखे, किन्तु उसका दर्शन नहीं हुआ। बनारस में आचार्य श्रीहीराचंद्रजी की कृपा से नयचक्रटीका की हस्तलिखित प्रति देखने को मिली। किन्तु उसमें नयचक्र मूल नहीं मिला। पता चला कि यही हाल सभी पोथिओं का है। विजयलब्धिसूरि ग्रन्थमाला में नयचक्रटीका के आधार पर नयचक्र का उद्धार करके अंशतः उसे सटीक छापा गया है। गायकवाड सिरीज में भी नयचक्रटीका अंशतः छापी गई है। मुनि श्री पुण्यविजयजी की प्रेरणा से मुनि श्री जम्बूविजयजी नयचक्र का उद्धार करने के लिए वर्षों से प्रयत्नशील हैं। उन्होंने उसीके लिए तिब्बती भाषा भी सीखी और नयचक्र की टीका की अनेक पोथिओं के आधार पर टीका को शुद्ध करने का तथा उसके आधार पर नयचक्र मूल का उद्धार करने का प्रयत्न किया है। उनके उस प्रयत्न का सुफल विद्वानों को शीघ्र ही प्राप्त होगा। कृपा करके उन्होंने अपने संस्करण के मुद्रित पचास फोर्म पृ० ४०० देखने के लिए मुझे भेजे हैं, और कुछ ही

१ न्यायविनिश्चय का० ४७७, प्रमाणसंग्रह का० ७७। २ श्लोकवार्तिक १.३३.१०२ पृ० २७६।

रोज पहले मुनिराज श्री पुण्यविजयजीने सूचना दी कि उपाध्याय यशोविजयजी के हस्ताक्षर की प्रति, जो कि उन्होंने दीमकों से खाई हुई नयचक्रटीका की प्रति के आधार पर लिखी थी, मिल गई है। आशा है मुनि श्री जम्बूविजयजी इस प्रति का पूरा उपयोग नयचक्रटीका के अमुद्रित अंश के लिए करेंगे ही एवं अपर मुद्रित अंश को भी उसके आधार पर ठीक करेंगे ही।

मैंने प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ (१९४६) में अपने लेख में नयचक्र का संक्षिप्त परिचय दिया ही है, किन्तु उस ग्रन्थ-रचना का वैलक्षण्य मेरे मन में तब से ही बसा हुआ है और अवसर की प्रतीक्षा में रहा कि उसके विषय में विशेष परिचय लिखूं। दरमियान मुनि श्री जम्बूविजयजीने श्री 'आत्मानंद प्रकाश' में नयचक्र के विषय में गुजराती में कई लेख लिखे और एक विशेषांक भी नयचक्र के विषय में निकाला है। यह सब और मेरी अपनी नोंधों के आधार पर यहाँ नयचक्र के विषय में कुछ विस्तार से लिखना है।

नयचक्र का महत्त्व

जैन साहित्य का प्रारंभ वस्तुतः कब से हुआ इसका सप्रमाण उत्तर देना कठिन है। फिर भी इतना तो अब निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर को भी भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश की परंपरा प्राप्त थी। स्वयं भगवान् महावीर अपने उपदेश की तुलना भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से करते हैं[1]। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उनके समक्ष पार्श्वनाथपरंपरा का श्रुत किसी न किसी रूप में था। विद्वानों की कल्पना है कि दृष्टिवाद में जो पूर्वगत के नाम से उल्लिखित श्रुत है वही पार्श्वनाथपरंपरा का श्रुत होना चाहिए। पार्श्वनाथपरंपरा से प्राप्त श्रुत को भगवान् महावीरने विकसित किया वह आज जैनश्रुत या जैनागम के नाम से प्रसिद्ध है।

जिस प्रकार वैदिक परंपरा में वेद के आधार पर बाद में नाना दर्शनों के विकास होने पर सूत्रात्मक दार्शनिक साहित्य की सृष्टि हुई और बौद्ध परंपरा में अभिधर्म तथा महायान दर्शन का विकास होकर विविध दार्शनिक प्रकरण ग्रन्थों की रचना हुई, उसी प्रकार जैन साहित्य में भी दार्शनिक प्रकरण ग्रन्थों की सृष्टि हुई है।

वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीनों परंपरा के साहित्य का विकास घात-प्रत्याघात और आदान-प्रदान के आधार पर हुआ है। उपनिषद् युग में भारतीय दार्शनिक चिन्तनपरंपरा का प्रस्फुटीकरण हुआ जान पड़ता है और उसके बाद तो दार्शनिक व्यवस्था का युग प्रारंभ हो जाता है। वैदिक परंपरा में परिणामवादी सांख्यविचारधारा के विकसित और विरोधी-

१ भगवती ५. ९. २२५.

रूप में नाना प्रकार के वेदान्तदर्शनों का आविर्भाव होता है, और सांख्यों के परिणामवाद के विरोधी के रूपमें नैयायिक-वैशेषिक दर्शनों का आविर्भाव होता है। बौद्धदर्शनों का विकास भी परिणामवाद के आधार पर ही हुआ है। अनात्मवादी हो कर भी पुनर्जन्म और कर्मवाद को चिपके रहने के कारण बौद्धों में सन्तति के रूप में परिणामवाद आ ही गया है; किन्तु क्षणिकवाद को उसके तर्कसिद्ध परिणामों पर पहुंचाने के लिए बौद्धदार्शनिकोंने जो चिंतन किया उसीमें से एक और बौद्ध परंपरा का विकास सौत्रान्तिकों में हुआ जो द्रव्य का सर्वथा इनकार करते हैं; किन्तु देश और काल की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न ऐसे क्षणों को मानते हैं और दूसरी ओर अद्वैत परंपरा में हुआ जो वेदान्त दर्शनों के ब्रह्माद्वैत की तरह विज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत जैसे वादों का स्वीकार करते हैं। जैनदर्शन भी परिणामवादी परंपरा का विकसित रूप है। जैनदार्शनिकोंने उपर्युक्त घात-प्रत्याघातों का तटस्थ हो कर अवलोकन किया है और अपने अनेकान्तवाद की ही पुष्टि में उसका उपयोग किया है यह तो किसी भी दार्शनिक से छिपा नहीं रह सकता है। किन्तु यहाँ देखना यह है कि उपलब्ध जैनदार्शनिक साहित्य में ऐसा कौनसा ग्रन्थ है जो सर्वप्रथम दार्शनिकों के घातप्रत्याघातों को आत्मसात् करके उसका उपयोग अनेकान्त के स्थापन में ही करता है।

प्राचीन जैन दार्शनिक साहित्य सर्जन का श्रेय सिद्धसेन और समन्तभद्र को दिया जाता है। इन दोनों में कौन पूर्व और कौन उत्तर है इसका सर्वमान्य निर्णय अभी हुआ नहीं है। फिर भी प्रस्तुत में इन दोनों की कृतिओ के विषय में इतना ही कहना है कि वे दोनों अपने अपने ग्रन्थ में अनेकान्त का स्थापन करते हैं अवश्य, किन्तु दोनों की पद्धति यह है कि परस्पर विरोधी वादों में दोष बताकर अनेकान्त का स्थापन वे दोनों करते हैं। विरोधी वादों के पूर्वपक्षों को या पूर्वपक्षीय वादों की स्थापना को उतना महत्त्व या अवकाश नहीं देते जितना उनके खण्डन को। अनेकान्तवाद के लिए जितना महत्त्व उस २ वाद के दोषों का या असंगति का है उतना महत्त्व बल्कि उससे अधिक महत्त्व उस २ वाद के गुणों का या संगति का भी है और गुणों का दर्शन उस २ वाद की स्थापना के विना नहीं होता है। इस दृष्टि से उक्त दोनों आचार्यों के ग्रन्थ अपूर्ण हैं। अत एव प्राचीन काल के ग्रन्थों में यदि अपने समय तक के सब दार्शनिक मन्तव्यों की स्थापनाओं के संग्रह का श्रेय किसी को है तो वह नयचक्र और उसकी टीका को ही मिल सकता है। अन्य को नहीं। भारतीय समग्र दार्शनिक ग्रन्थों में भी इस सर्व संग्रह और सर्वसमालोचन की दृष्टि से यदि कोई प्राचीनतम ग्रन्थ है तो वह नयचक्र ही है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्त्व इस लिए भी बढ़ जाता है कि काल-

कवलित बहुत से ग्रन्थ और मतों का संग्रह और समालोचन इसी ग्रन्थ में प्राप्त है। जो अन्यत्र दुर्लभ है।

दर्शन और नय

आचार्य सिद्धसेनने नयों के विषय में स्पष्ट ही कहा है कि प्रत्येक नय अपने विषय की विचारणा में सच्चे होते हैं, किन्तु पर नयों की विचारणा में मोघ–असमर्थ होते हैं[१]। जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद होते हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही पर दर्शन हैं[२]। नयवाद को अलग अलग लिया जाय तब वे मिथ्या हैं; क्योंकि वे अपने पक्ष को ही ठीक समझते हैं दूसरे पक्ष का तो निरास करते हैं। किन्तु वस्तु का पाक्षिक दर्शन तो परिपूर्ण नहीं हो सकता; अत एव उस पाक्षिक दर्शन को स्वतंत्र रूप से मिथ्या ही समझना चाहिए, किन्तु सापेक्ष हो तब ही सम्यग् समझना चाहिए[३]। अनेकान्तवाद निरपेक्षवादों को सापेक्ष बनाता है यही उसका सम्यक्त्व है। नय पृथक् रह कर दुर्नय होते हैं किन्तु अनेकान्तवाद में स्थान पा कर वे ही सुनय बन जाते हैं; अत एव सर्व मिथ्यावादों का समूह हो कर भी अनेकान्तवाद सम्यक् होता है[४]। आचार्य सिद्धसेनने पृथक् २ वादों को रत्नों की उपमा दी है। पृथक् पृथक् वैदूर्य आदि रत्न कितने ही मूल्यवान् क्यों न हों वे न तो हार की शोभा ही को प्राप्त कर सकते हैं और न हार कहला सकते हैं। उस शोभा को प्राप्त करने के लिए एक सूत्र में उन रत्नों को बंधना होगा। अनेकान्तवाद पृथक् पृथक् वादों को सूत्रबद्ध करता है और उनकी शोभा को बढ़ाता है। उनके पार्थक्य को या पृथक् नामों को मिटा देता है और जिस प्रकार सब रत्न मिल कर रत्नावली इस नये नाम को प्राप्त करते हैं, वैसे सब नयवाद अपने अपने नामों को खो कर अनेकान्तवाद ऐसे नये नाम को प्राप्त करते हैं। यही उन नयों का सम्यक्त्व है।[५]

इसी बात का समर्थन–आचार्य जिनभद्रने भी किया है। उनका कहना है कि नय जब तक पृथक् पृथक् हैं, तब तक मिथ्याभिनिवेश के कारण विवाद करते हैं। यह मिथ्याभिनिवेश नयों का तब ही दूर होता है जब उन सभी को एक साथ बिठा दिया जाय। जब तक अकेले

---

१ "णियवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा"—सन्मति. १. २८.

२ "जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति नयवाया। जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥" —सन्मति ३. ४७

३ सन्मति. १. १३ और. २१

४ 'जेग दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगन्तो॥' सन्मति १. १४। १. २५।

५ सन्मति १. २२–२५.

गाना हो तब तक आप कैसा ही राग आलापें यह आपकी मरजी की बात है; किन्तु समूह में गाना हो तब सब के साथ सामंजस्य करना ही पड़ता है। अनेकान्तवाद विवाद करनेवाले नयों में या विभिन्न दर्शनों में इसी सामञ्जस्य को स्थापित करता है, अत एव सर्वनय का समूह हो कर भी जैनदर्शन अत्यन्त निरवद्य है, निर्दोष है[1] ।

सर्वदर्शन-संग्राहक जैनदर्शन

यह बात हुई सामान्य सिद्धान्त के स्थापन की, किन्तु इस प्रकार सामान्य सिद्धान्त स्थिर करके भी अपने समय में प्रसिद्ध सभी नयवादों को-सभी दर्शनों को जैनों के द्वारा माने गए प्राचीन दो नयों में-द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में घटाने का कार्य आवश्यक और अनिवार्य हो जाता है। आचार्य सिद्धसेनने प्रधान दर्शनों का समन्वय कर उस प्रक्रिया का प्रारंभ भी कर दिया है और कह दिया है कि सांख्यदर्शन द्रव्यार्थिक नय को प्रधान मान कर, सौगतदर्शन पर्यायार्थिक को प्रधान मान कर और वैशेषिक दर्शन उक्त दोनों नयों को विषयभेद से प्रधान मान कर प्रवृत्त है[2] । किन्तु प्रधान-अप्रधान सभी वादों को नयवाद में यथास्थान बिठा कर सर्वदर्शनसमूहरूप अनेकान्तवाद है इसका प्रदर्शन बाकी ही था। इस कार्य को नयचक्र के द्वारा पूर्ण किया गया है। अत एव अनेकान्तवाद वस्तुतः सर्वदर्शन-संग्रहरूप है इस तथ्य को सिद्ध करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह नयचक्र को ही है, अन्य को नहीं।

मैंने अन्यत्र सिद्ध किया है कि भगवान् महावीरने अपने समय के दार्शनिक मन्तव्यों का सामञ्जस्य स्थापित करके अनेकान्तवाद की स्थापना की है[3] । किन्तु भगवान् महावीर के बाद तो भारतीय दर्शन में तात्त्विक मन्तव्यों की बाढ़ सी आई है। सामान्यरूप से कह देना कि सभी नयों का-मन्तव्यों का-मतवादों का समूह अनेकान्तवाद है यह एक बात है और उन मन्तव्यों को विशेषरूप से विचारपूर्वक अनेकान्तवाद में यथास्थान स्थापित करना यह दूसरी बात है। प्रथम बात तो अनेक आचार्योंने कही है; किन्तु एक-एक मन्तव्य का विचार करके उसे नयान्तर्गत करने की व्यवस्था करना यह उतना सरल नहीं।

नयचक्रकालीन भारतीय दार्शनिक मन्तव्यों की पृष्ठभूमिका विचार करना, समग्र तत्त्वज्ञान के विकास में उस उस मन्तव्य का उपयुक्त स्थान निश्चित करना, नये नये मन्तव्यों के

---

१. " एवं विवयन्ति नया मिच्छाभिनिवेसओ परोप्परओ। इयमिह सव्वनयमयं जिणमयमणवज्जमचन्त ॥ " विशेषावश्यकभाष्य गा. ७२.।

२ सन्मति ३. ४८-४९।

३ देखो न्यायावतार वार्तिकवृत्ति की प्रस्तावना ।

उत्थान की अनिवार्यता के कारणों की खोज करना, मन्तव्यों के पारस्परिक विरोध और बलाबल का विचार करना—यह सब कार्य उन मन्तव्यों के समन्वय करनेवाले के लिए अनिवार्य हो जाते हैं। अन्यथा समन्वय की कोई भूमिका ही नहीं बन सकती। नयचक्र में आचार्य मल्लवादीने यह सब अनिवार्य कार्य करके अपने अनुपम दार्शनिक पाण्डित्य का तो परिचय दिया ही है और साथ में भारतीय तत्त्वचिन्तन के इतिहास की अपूर्व सामग्री का भंडार भी आगामी पीढ़ी के लिए छोड़ने का श्रेय भी लिया है। इस दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय समग्र दार्शनिक वाङ्मय में नयचक्र का स्थान महत्त्वपूर्ण मानना होगा।

नयचक्र की रचना की कथा

भारतीय साहित्य में सूत्रयुग के बाद भाष्य का युग है। सूत्रों का युग जब समाप्त हुआ तब सूत्रों के भाष्य लिखे जाने लगे। पातञ्जलमहाभाष्य, न्यायभाष्य, शाबरभाष्य, प्रशस्तपादभाष्य, अभिधर्मकोषभाष्य, योगसूत्र का व्यासभाष्य, तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, विशेषावश्यकभाष्य, शांकरभाष्य आदि। प्रथम भाष्यकार कौन है यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। इस दीर्घकालीन भाष्ययुग की रचना नयचक्र है।

परम्परा के अनुसार नयचक्र के कर्ता आचार्य मल्लवादी सौराष्ट्र के वलभिपुर के निवासी थे। उनकी माता का नाम दुर्लभदेवी था। उनका गृहस्थ अवस्था का नाम 'मल्ल' था, किन्तु वाद में कुशलता प्राप्त करने के कारण मल्लवादी रूप से विख्यात हुए। उनके दीक्षा-गुरु का नाम जिनानन्द था जो संसार पक्ष में उनके मातुल होते थे। भृगुकच्छ में गुरु का पराभव बुद्धानन्द नामक बौद्ध विद्वान् ने किया था; अत एव वे वलभि आगए। जब 'मल्लवादी' को यह पता लगा कि उनके गुरु का वाद में पराजय हुआ है, तब उन्होंने स्वयं भृगुकच्छ जा कर वाद किया और बुद्धानन्द को पराजित किया।

इस कथा में संभवतः सभी नाम कल्पित हैं। वस्तुतः आचार्य मल्लवादी का मूल नयचक्र जिस प्रकार कालग्रस्त हो गया उसी प्रकार उनके जीवन की सामग्री भी कालग्रस्त हो गई है। बुद्धानन्द और जिनानन्द ये नाम समान हैं और सिर्फ आराध्यदेवता के अनुसार कल्पित किए गए हों ऐसा संभव है। मल्लवादी का पूर्वावस्था का नाम 'मल्ल' था—यह भी कल्पना ही लगता है। वस्तुतः इन आचार्य का नाम कुछ और ही होगा और 'मल्लवादी' यह उपनाम ही होगा। जो हो, परंपरा में उन आचार्य के विषय में जो एक गाथा चली आती थी उसी गाथा को लेकर उनके जीवन की घटनाओं का वर्णन किया गया हो ऐसा संभव है। नयचक्र की रचना के विषय में जो पौराणिक कथा दी गई है उस से भी इस कल्पना का समर्थन होता है।

१ कथा के लिए देखो, प्रभावक चरितका-मल्लवादी प्रबन्ध।

पौराणिक कथा ऐसी है—

पंचम पूर्व ज्ञानप्रवाद में से नयचक्र ग्रन्थ का उद्धार पूर्वर्षिओंने किया था उसके बारह आरे थे। उस नयचक्र के पढ़ने पर श्रुतदेवता कुपित होती थी, अत एव आचार्य जिनानन्दने जब कहीं बाहर जा रहे थे, मल्लवादी से कहा कि उस नयचक्र को पढ़ना नहीं। क्योंकि निषेध किया गया, मल्लवादी की जिज्ञासा तीव्र हो गई। और उन्होंने उस पुस्तक को खोल कर पढ़ा तो प्रथम 'विधिनियमभंग' इत्यादि गाथा पढ़ी। उस पर विचार कर ही रहे थे, उतने में श्रुतदेवताने उस पुस्तक को उनसे छीन लिया। आचार्य मल्लवादी दुःखित हुए, किन्तु उपाय था नहीं। अत एव श्रुतदेवता की आराधना के लिए गिरिखण्ड पर्वत की गुफा में गए और तपस्या शुरू की। श्रुतदेवताने उनकी धारणाशक्ति की परीक्षा लेने के लिए पूछा 'मिष्ट क्या है।' मल्लवादीने उत्तर दिया 'वाल'। पुनः छ मास के बाद श्रुतदेवीने पूछा 'किसके साथ?' मुनिने उत्तर दिया 'गुड़ और घी के साथ।' आचार्य की इस स्मरणशक्ति से प्रसन्न हो कर श्रुतदेवता ने वर मांगने को कहा। आचार्यने कहा कि नयचक्र वापस दे दे। तब श्रुतदेवीने उत्तर दिया कि उस ग्रन्थ को प्रकट करने से द्वेषी लोग उपद्रव करते हैं, अत एव वर देती हूँ कि तुम विधिनियमभंग इत्यादि तुम्हें ज्ञात एक गाथा के आधार पर ही उसके संपूर्ण अर्थ का ज्ञान कर सकोगे। ऐसा कह कर देवी चली गई। इसके बाद आचार्यने नयचक्र ग्रन्थ की दश हजार श्लोकप्रमाण रचना की। नयचक्र के उच्छेद की परंपरा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं में समान रूप से प्रचलित है। आचार्य मल्लवादी की कथा में जिस प्रकार नयचक्र के उच्छेद को वर्णित किया गया है यह तो हमने निर्दिष्ट कर ही दिया है। श्रीयुत प्रेमीजीने माइल्ल धवल के नयचक्र की एक गाथा अपने लेख में उद्धृत की है[1] उससे पता चलता है कि दिगम्बर परंपरा में भी नयचक्र के उच्छेद की कथा है। जिस प्रकार श्वेताम्बर परंपरा में मल्लवादीने नयचक्र का उद्धार किया यह मान्यता रूढ़ है उसी प्रकार मुनि देवसेनने भी नयचक्र का उद्धार किया है ऐसी मान्यता माइल्ल धवल के कथन से फलित होती है। इससे यह कहा जा सकता है कि यह लुप्त नयचक्र श्वेताम्बर दिगम्बर को समानरूप से मान्य होगा।

कथा का विश्लेषण–नयचक्र और पूर्व

विद्यमान नयचक्रटीका के आधार पर नयचक्र का जो स्वरूप फलित होता है वह ऐसा है कि प्रारंभ में 'विधिनियम' इत्यादि एक गाथासूत्र है। और उसी गाथासूत्र के भाष्य के रूप में नयचक्र का समग्र गद्यांश है। स्वयं आचार्य मल्लवादीने अपनी कृति को

---

१ "दुसमीरणेण पोयं पेरियसंतं जाहा ति(चि)रं नट्ठं। सिरिदेवसेग मुणिणा तय नयचक्कं पुणो रइयं" देखो जैन साहित्य और इतिहास पृ. १६५।

पूर्वमहोदधि में उठने वाले नयतरंगों के बिन्दुरूप कहा है-पृ. ९। नयचक्र के इस स्वरूप को समक्ष रखकर उक्त पौराणिक कथा का निर्माण हुआ जान पड़ता है। इस ग्रन्थ का 'पूर्वगत' श्रुत के साथ जो संबंध जोड़ा गया है वह उसके महत्त्व को बढ़ाने के लिए भी हो सकता है और वस्तुस्थिति का द्योतन भी हो सकता है, क्यों कि पूर्वगत श्रुत में नयों का विवरण विशेष रूप से था ही। और प्रस्तुत ग्रन्थ में पुरुष-नियति आदि कारणवाद की जो चर्चा है वह किसी लुप्त परंपरा का द्योतन तो अवश्य करती है; क्यों कि उन कारणों के विषय में ऐसी विस्तृत और व्यवस्थित प्राचीन चर्चा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] में कारणवादों का संग्रह एक कारिका में किया गया है; किन्तु उन वादों की युक्तिओं का विस्तृत और व्यवस्थित निरूपण अन्यत्र जो दुर्लभ है वह इस नयचक्र में ही मिलता है। इस दृष्टि से इसमें पूर्व परंपरा का अंश सुरक्षित हो तो कोई आश्चर्य नहीं और इसी लिए इसका महत्त्व भी अत्यधिक है।

आचार्य मल्लवादीने अपनी कृति का संबंध पूर्वगत श्रुत के साथ जो जोडा है वह निराधार भी नहीं लगता। पूर्वगत यह अंश दृष्टिवादान्तर्गत है। ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्व का विषय ज्ञान है। नय यह श्रुतज्ञान का एक अंश माना जाता है। इस दृष्टि से नयचक्र का आधार पूर्वगत श्रुत हो सकता है। किन्तु पूर्वगत के अलावा दृष्टिवाद का 'सूत्र' भी नयचक्र की रचना में सहायक हुआ होगा। क्यों कि 'सूत्र' के जो बाईस भेद बताए गए हैं उन में ऋजुसूत्र, एवंभूत और समभिरूढ़ का उल्लेख है। और इन ही बाईस सूत्रों को स्वसमय, आजीवकमत और त्रैराशिकमत के साथ भी जोड़ा गया है[2]। यह सूचित करता है कि दृष्टिवाद के सूत्रांश के साथ भी इसका संबंध है। संभव है इस सूत्रांश का विषय ज्ञानप्रवाद में अन्य प्रकार से समाविष्ट कर लिया गया है। इस विषय में निश्चित कुछ भी कहना कठिन है। फिर भी दृष्टिवाद की विषयसूची देख कर इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नयचक्र का जो दृष्टिवाद के साथ संबंध जोडा गया है वह निराधार नहीं।

नयचक्र का उच्छेद क्यों ?

नयचक्र पठन-पाठन में नहीं रहा यह तो पूर्वोक्त कथासे सूचित होता है। ऐसा क्यों हुआ ? यह प्रश्न विचारणीय है। नयचक्र में ऐसी कौनसी बात होगी जिसके कारण उसके पढ़ने पर श्रुतदेवता कुपित होती थी ? यह विचारणीय है।

---

१ श्वेताश्वतर १. २.।

२ देखो, नन्दीसूत्रगत दृष्टिवाद का परिचय-सूत्र ५६।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें दृष्टिवाद के उच्छेद के कारणों की खोज करनी होगी। जिस का यह स्थान नहीं। यहां तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि दृष्टिवाद में अनेक ऐसे विषय थे जो कुछ व्यक्ति के लिए हितकर होने के बजाय अहितकर हो सकते थे। उदाहरण के लिए विद्याऐं योग्य व्यक्ति के हाथ में रहने से उनका दुरुपयोग होना संभव नहीं, किन्तु वे ही यदि अस्थिर व्यक्ति के हाथ में हों तो दुरुपयोग संभव है। यह स्थूलभद्र की कथा से सूचित होता ही है। उन्होंने अपनी विद्यासिद्धि का अनावश्यक प्रदर्शन कर दिया और वे अपने संपूर्ण दृष्टिवाद के पाठन के अधिकार से वंचित कर दिए गए। जैनदर्शन को सर्वनयमय कहा गया है। यह मान्यता निराधार नहीं। दृष्टिवाद के नयविवरण में संभव है कि आजीवक आदि मतों की सामग्री का वर्णन हो और उन मतों का नयदृष्टि से समर्थन भी हो। उन मतों के ऐसे मन्तव्य जिनको जैनदर्शन में समाविष्ट करना हो, उनकी युक्तिसिद्धता भी दर्शित की गई हो। यह सब कुशाग्र बुद्धि पुरुष के लिए ज्ञान-सामग्री का कारण हो सकता है और जड़बुद्धि के लिए जैनदर्शन में अनास्थाका भी कारण हो सकता है। यदि नयचक्र उन मतों का संग्राहक हो तो जो आपत्ति दृष्टिवाद के अध्ययन में है वही नयचक्र के भी अध्ययन में उठ सकती है। श्रुतदेवता की आपत्ति-दर्शक कथा का मूल इसमें संभव है। अतएव नये नयचक्र की रचना भी आवश्यक हो जाती है जिसमें कुछ परिमार्जन किया गया हो। आचार्य मल्लवादीने अपने नयचक्र में ऐसा परिमार्जन करने का प्रयत्न किया हो यह संभव है। किन्तु उसकी जो दुर्गति हुई और प्रचार में से वह भी प्रायः लुप्त-सा हो गया उसका कारण खोजा जाय तो पता लगेगा कि परिमार्जन का प्रयत्न होने पर भी जैनदर्शन की सर्वनयमयता का सिद्धान्त उसके भी उच्छेद में कारण हुआ है।

नयचक्र की विशेषता

नयचक्र और अन्य ग्रन्थों की तुलना की जाय तो एक बात अत्यन्त स्पष्ट होती है कि जब नयचक्र के बाद के ग्रन्थ नयों के अर्थात् जैनेतर दर्शनों के मत का खण्डन ही करते हैं, तब नयचक्र में एक तटस्थ न्यायाधीश की तरह नयों के गुण और दोष दोनों की समीक्षा की गई है।

नयों के विवेचन की प्रक्रिया का भेद भी नयचक्र और अन्य ग्रन्थों में स्पष्ट है[1]। नयचक्र में वस्तुतः दूसरे जैनेतर मतों को ही नय के रूप में वर्णित किया गया है और उन मतों के उत्तर पक्ष जो कि स्वयं भी एक जैनेतर पक्ष ही होते हैं—उनके द्वारा भी पूर्वपक्ष

---

१ देखो लघीयस्त्रय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणनयतत्त्वालोक आदि।

का मात्र खण्डन ही नहीं; किन्तु पूर्व पक्ष में जो गुण है उनके स्वीकार की ओर निर्देश भी किया गया है। इस प्रकार उत्तरोत्तर जैनेतर मतों को ही नय मान कर समग्र ग्रन्थ की रचना हुई है। सारांश यह है कि नय यह कोई स्वतः जैनमन्तव्य नहीं, किन्तु जैनेतर मन्तव्य जो लोक में प्रचलित थे उन्हीं को नय मान कर उनका संग्रह विविध नयों के रूप में किया गया है और किस प्रकार जैनदर्शन सर्वनयमय है यह सिद्ध किया गया है। अथवा मिथ्यामतों का समूह हो कर भी जैन मत किस प्रकार सम्यक् है और मिथ्यामतों के समूह का अनेकांतवाद में किस प्रकार सामञ्जस्य होता है यह दिखाना नयचक्र का उद्देश्य है। किन्तु नयचक्र के बाद के ग्रन्थ में नयवाद की प्रक्रिया बदल जाती है। निश्चित जैनमन्तव्य की भित्ति पर ही अनेकान्तवाद के प्रासाद की रचना होती है। जैन संमत वस्तु के स्वरूप के विषय में अपेक्षाभेद से किस प्रकार विरोधी मन्तव्य समन्वित होते हैं यह दिखाना नयविवेचन का उद्देश्य हो जाता है। उसमें प्रासंगिक रूप से नयाभास के रूप में जैनेतर दर्शनों की चर्चा है। दोनों विवेचनों की प्रक्रिया का भेद यही है कि नयचक्र में परमत ही नयों के रूप में रखे गए हैं और अन्य में स्वमत ही नयों के रूप में रखे गए हैं। स्वमत को नय और परमत को नयाभास कहा गया है। जब कि नयचक्र में परमत ही नय और नयाभास कैसे बनते हैं यह दिखाना इष्ट है। प्रक्रिया का यह भेद महत्त्वपूर्ण है। और वह महावीर और नयचक्रोत्तर काल के बीच की एक विशेष विचारधारा की ओर संकेत करता है।

वस्तु को अनेक दृष्टि से देखना एक बात है अर्थात् एक ही व्यक्ति विभिन्न दृष्टि से एक ही वस्तु को देखता है-यह एक बात है और अनेक व्यक्तिओंने जो अनेक दृष्टि से वस्तु-दर्शन किया है उनकी उन सभी दृष्टिओं को स्वीकार करके अपना दर्शन पुष्ट करना यह दूसरी बात है। नयचक्र की विचारधारा इस दूसरी बात का समर्थन करती है। और नय-चक्रोत्तरकालीन ग्रन्थ प्रथम बात का समर्थन करते हैं। दूसरी बात में यह खतरा है कि दर्शन दूसरों का है, जैनदर्शन मात्र उनको स्वीकार कर लेता है। जैन दार्शनिक की अपनी सूझ, अपना निजी दर्शन कुछ भी नहीं। वह केवल दूसरों का अनुसरण करता है, स्वयं दर्शन का विधाता नहीं बनता। यह एक दार्शनिक की कमजोरी समझी जायगी कि उसका अपना कोई दर्शन नहीं। किन्तु प्रथम बात में ऐसा नहीं होता। दार्शनिक का अपना दर्शन है। उसकी अपनी दृष्टि है। अत एव उक्त खतरे से बचने के लिए नयचक्रोत्तरकालीन ग्रन्थों ने प्रथम बात को ही प्रश्रय दिया हो तो आश्चर्य नहीं। और जैनदर्शन की सर्वनयमयता-सर्वमिथ्यादर्शनसमूहता का सिद्धान्त गौण हो गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उत्तरकाल में नय-विवेचन यह दृष्टि-विवेचन है, परमत-विवेचन नहीं। जब जैन दार्शनिकोंने

यह नया मार्ग अपनाया तब प्राचीन पद्धति से लिखे गए प्रकरणग्रन्थ गौण हो जांय यह स्वाभाविक है। यही कारण है कि नयचक्र पठन-पाठन से वंचित हो कर क्रमशः काल-कवलित हो गया-यह कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। नयचक्र के पठन-पाठन में से लुप्त होने का एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि नयचक्र की युक्तिओं का उपयोग करके अन्य सारात्मक सरल ग्रन्थ वन गए, तब भाव और भाषा की दृष्टि से क्लिष्ट और विस्तृत नयचक्र की उपेक्षा होना स्वाभाविक है। नयचक्र की उपेक्षा का यह भी कारण हो सकता है कि नयचक्रोत्तरकालीन कुमारिल और धर्मकीर्ति जैसे प्रचण्ड दार्शनिकों के कारण भारतीय दर्शनों का जो विकास हुआ उससे नयचक्र वंचित था। नयचक्र की इन दार्शनिकों के बाद कोई टीका भी नहीं लिखी गई जिससे वह नये विकास को आत्मसात् कर लेता॥

नयचक्र का परिचय

नयचक्रोत्तरकालीन ग्रन्थोंने नयचक्र की परिभाषाओं को भी छोड़ दिया हैं। सिद्धसेन दिवाकरने प्रसिद्ध सात नय को ही दो मूल नय में समाविष्ट किया हैं। किन्तु मल्लवादीने, क्यों कि नयविचार को एक चक्र का रूप दिया, अत एव चक्र की कल्पना के अनुकूल नयों का वर्गीकरण किया है जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। आचार्य मल्लवादी की प्रतिभा की प्रतीति भी इसी चक्ररचना से ही विद्वानों को हो जाती है।

चक्र के वारह आरे होते हैं। मल्लवादीने सात नय के स्थान में वारह नयों की कल्पना की है, अत एव नयचक्र का दूसरा नाम द्वादशारनयचक्र भी है। वे ये हैं—

१ विधिः।
२ विधि-विधिः (विधेर्विधिः)।
३ विध्युभयम् (विधेर्विधिश्च नियमश्च)।
४ विधिनियमः (विधेर्नियमः)।
५ विधिनियमौ (विधिश्च नियमश्च)।
६ विधिनियमविधिः (विधिनियमयोर्विधिः)।
७ उभयोभयम् (विधिनियमयोर्विधिनियमौ)।
८ उभयनियमः (विधिनियमयोर्नियमः)।
९ नियमः।
१० नियमविधिः (नियमस्य विधिः)।

११ नियमोभयम् (नियमस्य विधिनियमौ)।

१२ नियमनियमः (नियमस्य नियमः)[1]।

चक्र के आरे एक तुम्ब या नाभि में संलग्न होते हैं उसी प्रकार ये सभी नय स्याद्वाद या अनेकान्तरूप तुम्ब या नाभि में संलग्न हैं। यदि ये आरे तुम्ब में प्रतिष्ठित न हों तो बिखर जायेंगे उसी प्रकार ये सभी नय यदि स्याद्वाद में स्थान नहीं पाते तो उनकी प्रतिष्ठा नहीं होती। अर्थात् अभिप्रायभेदों को, नयभेदों को या दर्शनभेदों को मिलानेवाला स्याद्वादतुम्ब नयचक्र में महत्त्व का स्थान पाता है[2]।

दो आरों के बीच चक्र में अन्तर होता है। उसके स्थान में आचार्य मल्लवादीने पूर्व नय का खण्डन भाग रखा है। अर्थात् जब तक पूर्व नय में कुछ दोष न हो तब तक उत्तर नय का उत्थान ही नहीं हो सकता है। पूर्व नय के दोषों का दिग्दर्शन कराना यह दो नय-रूप आरों के बीच का अन्तर है। जिस प्रकार अन्तर के बाद ही नया आरा आता है उसी प्रकार पूर्व नय के दोषदर्शन के बाद ही नया नय अपना मत स्थापित करता है[3]। दूसरा नय प्रथम नय का निरास करेगा और अपनी स्थापना करेगा, तीसरा दूसरे का निरास और अपनी स्थापना करेगा। इस प्रकार क्रमशः होते होते ग्यारवें नय का निरास कर के अपनी स्थापना बारहवां नय करता है। यह निरास और स्थापना यहीं समाप्त नहीं होती। क्यों कि नयों के चक्र की रचना आचार्यने की है अत एव बारहवें नय के बाद प्रथम नय का स्थान आता है, अतएव वह भी बारहवें नय की स्थापना को खण्डित करके अपनी स्थापना करता है। इस प्रकार ये बारहों नय पूर्व पूर्व की अपेक्षा प्रबल और उत्तर उत्तर की अपेक्षा निर्बल हैं। कोई भी ऐसा नहीं जिसके पूर्व में कोई न हो और उत्तर में भी कोई न हो। अतएव नयों के द्वारा सपूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं होना इस तथ्य को नयचक्र की रचना करके आ० मल्लवादीने मार्मिक ढंग से प्रस्थापित किया है। और इस प्रकार यह स्पष्ट कर दिया है कि स्याद्वाद ही अखंड सत्य के साक्षात्कार में समर्थ है, विभिन्न मतवाद या नय नहीं।

तुम्ब हो, आरे हों किन्तु नेमि न हो तो वह चक्र गतिशील नहीं बन सकता और न चक्र ही कहला सकता है अत एव नेमि भी आवश्यक है। इस दृष्टि से नयचक्र के पूर्ण होने में भी नेमि आवश्यक है। प्रस्तुत नयचक्र में तीन अंश में विभक्त नेमि की कल्पना की गई है। प्रत्येक अंश को मार्ग कहा गया है। प्रथम चार आरे को जोड़नेवाला प्रथम मार्ग, आरे के द्वितीय चतुष्क को जोड़नेवाला द्वितीय मार्ग और आरों के तृतीय चतुष्क को जोड़नेवाला तृतीय

---

१ नयचक्र पृ. १० । २ आत्मानद प्रकाश ४५. ७. पृ. १२१ ।

३ श्री आत्मानंद प्रकाश ४५. ७. पृ० १२२ ।

मार्ग है। मार्ग के तीन भेद करने का कारण यह है कि प्रथम के चार विधिभंग हैं। द्वितीय चतुष्क उभयभंग है और तृतीय चतुष्क नियमभंग है। ये तीनों मार्ग क्रमशः नित्य, नित्यानित्य और अनित्य की स्थापना करते हैं।[1] नेमि को लोहवेष्टन से मंडित करने पर वह और भी मजबूत बनती है अत एव चक्र को वेष्टित करनेवाले लोहपट्ट के स्थान में सिंहगणि-विरचित नयचक्रवालवृत्ति है। इस प्रकार नयचक्र अपने यथार्थ रूप में चक्र है।

नयों के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद प्राचीनकाल से प्रसिद्ध हैं। नैगमादि सात नयों का समावेश भी उन्हीं दो नयों में होता है। मल्लवादीने द्वादशारनयचक्र की रचना की तो उन बारह नयों का संबंध उक्त दो नयों के साथ बतलाना आवश्यक था। अत एव आचार्यने स्पष्ट कर दिया है कि विधि आदि प्रथम के छः नय द्रव्यार्थिक नय के अन्तर्गत हैं और शेष छः पर्यायार्थिक नय के अन्तर्गत हैं।[2] आचार्यने प्रसिद्ध नैगमादि सात नयों के साथ भी इन बारह नयों का संबंध बतलाया है। तदनुसार विधि आदि का समन्वय इस प्रकार है[3]। १ व्यवहार नय, २–४ संग्रह नय, ५–६ नैगम नय, ७ ऋजुसूत्र नय, ८–९ शब्दनय, १० समभिरूढ, ११–१२ एवंभूत नय।

नयचक्र की रचना का सामान्य परिचय कर लेने के बाद अब यह देखें कि उसमें नयों–दर्शनों का किस क्रम से उत्थान और निरास हैं।

(१) सर्व प्रथम द्रव्यार्थिक के भेदरूप व्यवहार नय के आश्रय से अज्ञानवाद का उत्थान है। इस नय का मन्तव्य है कि लोकव्यवहार को प्रमाण मान कर अपना व्यवहार चलाना चाहिए। इसमें शास्त्र का कुछ काम नहीं। शास्त्रों के झगड़े में पड़ने से तो किसी बात का निर्णय हो नहीं सकता है। और तो और ये शास्त्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का भी निर्दोष लक्षण नहीं कर सके। वसुबन्धु के प्रत्यक्ष लक्षण में दिङ्नागने दोष दिखाया है और स्वयं दिङ्नाग का प्रत्यक्ष लक्षण भी अनेक दोषों से दूषित है। यही हाल सांख्यों के वार्षगण्यकृत प्रत्यक्ष लक्षण का और वैशेषिकों के प्रत्यक्ष का है। प्रमाण के आधार पर ये दार्शनिक वस्तु को–एकान्त सामान्य विशेष और उभयरूप मानते हैं, किन्तु उनकी मान्यता में विरोध है। सत्कार्य-वाद और असत्कार्यवाद का भी ये दार्शनिक समर्थन करते हैं किन्तु ये वाद भी ठीक नहीं। कारण होने पर भी कार्य होता ही है यह भी नियम नहीं। शब्दों के अर्थ जो व्यवहार में प्रचलित हों उन्हें मान कर व्यवहार चलाना चाहिए। किसी शास्त्र के आधार पर शब्दों के अर्थ का निर्णय हो नहीं सकता है। अत एव व्यवहार नय का निर्णय है कि वस्तुस्वरूप उसके यथार्थरूप में कभी जाना नहीं जा सकता है–अत एव उसे जानने का प्रयत्न भी नहीं करना

(१) श्री आत्मानंद प्रकाश ४५. ७. पृ० १२३.। (२) ४५ ७ पृ० १२३। (३) ४५ ७ पृ० १२४।

चाहिए। इस प्रकार व्यवहारनय के एक भेदरूप से प्रथम आरे में अज्ञानवाद का उत्थान है। इस अज्ञानवाद का यह भी अर्थ है कि पृथ्वी आदि सभी वस्तुएं अज्ञानप्रतिबद्ध हैं। जो अज्ञान विरोधी ज्ञान है वह भी अवबोधरूप होने से संशयादि के समान ही है अर्थात् उसका भी अज्ञान से वैशिष्ट्य सिद्ध नहीं है।

इस मत के पुरस्कर्ता के वचन को उद्धृत किया गया है कि "को ह्येनद् वेद ? किं वा एतेन ज्ञातेन ?" यह वचन प्रसिद्ध नासदीय सूक्त के आधार पर है। जिस में कहा गया है— "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।.......यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ६–७ ॥" टीकाकार सिंहगणिने इसी मत के समर्थन में वाक्यपदीय की कारिका उद्धृत की है जिस के अनुसार भर्तृहरि का कहना है कि अनुमान से किसी भी वस्तुका अंतिम निर्णय हो नहीं सकता है। जैनग्रन्थों में दर्शनों को अज्ञानवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद और विनयवादों में जो विभक्त किया गया है उसमें से यह प्रथम वाद है यह टीकाकारने स्पष्ट किया है। तथा आगम के कौन से वाक्य से यह मत संबद्ध है यह दिखाने के लिए आचार्य मल्लवादीने प्रमाणरूप से भगवती का निम्न वाक्य उद्धृत किया है— "आता भंते णाणे अण्णाणे[1] गोतमा, णाणे नियमा आता, आता पुण सिया णाणे, सिया अण्णाणे" भगवती १२. ३. ४६७ ॥

इस नय का तात्पर्य यह है कि जब वस्तुतत्त्व पुरुष के द्वारा जाना ही नहीं जा सकता, तब अपौरुषेय शास्त्र का आश्रय तत्त्वज्ञान के लिए नहीं किन्तु क्रिया के लिए करना चाहिए। इस प्रकार इस अज्ञानवाद को वैदिक कर्मकाण्डी मीमांसक मत के रूप में फलित किया गया है। मीमांसक सर्वशास्त्र का या वेद का तात्पर्य क्रियोपदेश में मानता है। सारांश यह है कि शास्त्र का प्रयोजन यह बताने का है कि यदि आप की कामना अमुक अर्थ प्राप्त करने की है तो उसका साधन अमुक क्रिया है। अतएव शास्त्र क्रिया का उपदेश करता है। जिस के अनुष्ठान से आप की फलेच्छा पूर्ण हो सकती है। यह मीमांसक मत विधिवाद के नाम से प्रसिद्ध भी है अतएव आचार्यने द्रव्यार्थिक नय के एक भेद व्यवहार नय के उपभेदरूप से विधिभंगरूप प्रथम अर में मीमांसक के इस मत को स्थान दिया है।

इस अरमें विज्ञानवाद–अनुमान का नैरर्थक्य आदि कई प्रारंभिक विषयों की भी चर्चा की गई है, किन्तु उन सबके विषय में ब्योरेवार लिखने का यह स्थान नहीं है।

(२) द्वितीय अरके उत्थान में मीमांसक के उक्त विधिवाद या अपौरुषेय शास्त्रद्वारा क्रियोपदेश के समर्थन में अज्ञानवाद का जो आश्रय लिया गया है उसमें त्रुटि यह दिखाई गई

---

१ 'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥' –वाक्यपदीय १. ३४.

है कि यदि लोकतत्त्व पुरुषों के द्वारा अज्ञेय ही है तो अज्ञानवाद के द्वारा सामान्य-विशेषादि एकान्तवादों का जो खण्डन किया गया वह उन तत्त्वों को जानकर या बिना जाने ? जान कर कहने पर स्ववचन विरोध है और बिना जाने तो खण्डन हो कैसे सकता है ? तत्त्व को जानना यह यदि निष्फल हो तो शास्त्रों में प्रतिपादित वस्तुतत्त्व का प्रतिषेध अज्ञानवादीने जो किया वह भी क्यों ? शास्त्र क्रिया का उपदेश करता है यह मान लिया जाय तब भी जो संसेव्य विषय है उसके स्वरूप का ज्ञान तो आवश्यक ही है; अन्यथा इष्टार्थ में प्रवृत्ति ही कैसे होगी ? जिस प्रकार यदि वैद्य को औषधि के रस-वीर्य-विपाकादि का ज्ञान न हो तो वह अमुक रोग में अमुक औषधि कार्यकर होगी यह नहीं कह सकता वैसे ही अमुक याग करने से स्वर्ग मिलेगा यह भी बिना जाने कैसे कहा जा सकता है ? अत एव कार्यकारण के अतीन्द्रीय सम्बन्ध को कोई जानने वाला हो तब ही वह स्वर्गादि के साधनों का उपदेश कर सकता है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से देखा जाय तो सांख्यादि शास्त्र या मीमांसक शास्त्र में कोई भेद नहीं किया जा सकता। लोकतत्त्व का अन्वेषण करने पर ही सांख्य या मीमांसक शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। सांख्य शास्त्र की प्रवृत्ति के लिए जिस प्रकार लोकतत्त्व का अन्वेषण आवश्यक है उसी प्रकार क्रिया का उपदेश देने के लिए भी लोकतत्त्व का अन्वेषण आवश्यक है। अत एव मीमांसक के द्वारा अज्ञानवाद का आश्रय ले कर क्रिया का उपदेश करना अनुचित है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वैदिक विधिवाक्य को क्रियोपदेशकरूप से मीमांसकों के द्वारा माना जाता है। किन्तु अज्ञानवाद के आश्रय करने पर किसी भी प्रकार से यह वाक्य विधिवाक्य रूप से सिद्ध नहीं हो सकता इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। और उस प्रसंग में सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद के एकान्त में भी दोष दिये गये हैं। इस प्रकार पूर्व अरमें प्रतिपादित अज्ञानवाद और क्रियोपदेश का निराकरण करके पुरुषाद्वैत की वस्तुतत्त्वरूप से और सब कार्यों के कारणरूप से स्थापना द्वितीय अरमें की गई है। इस पुरुष को ही आत्मा, कारण, कार्य और सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। सांख्यों के द्वारा प्रवृत्ति को जो सर्वात्मक कहा गया था उसके स्थान में पुरुष को ही सर्वात्मक सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार एकान्त पुरुषकारणवाद की जो स्थापना की गई है उसका आधार 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यं' इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्र (३१.२) को बताया गया है। और अन्त में कह दिया गया है कि वह पुरुष ही तत्त्व है, काल है, प्रवृत्ति है, स्वभाव है, नियति है। इतना ही नहीं किन्तु देवता और अर्हन् भी वही है। आचार्य का अज्ञानवाद के बाद पुरुषवाद रखने का तात्पर्य यह जान पडता है कि अज्ञानविरोधी ज्ञान है और ज्ञान ही चेतन आत्मा है, अतएव वही पुरुष है। अतएव यहाँ अज्ञानवाद के बाद पुरुषवाद रखा गया है-ऐसी संभावना की जा सकती है।

इस प्रकार द्वितीय अर में विधिविधिनय का प्रथम विकल्प पुरुषवाद जब स्थापित हुआ तब विधिविधिनय का दूसरा विकल्प पुरुषवाद के विरुद्ध खड़ा हुआ और वह है नियतिवाद। नियतिवाद के उत्थान के लिए आवश्यक है कि पुरुषवाद के एकान्त में दोष दिखाया जाय। दोष यह है कि पुरुष ज्ञ और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हो तो वह अपना अनिष्ट तो कभी कर ही नहीं सकता है, किन्तु देखा जाता है कि मनुष्य चाहता कुछ और होता है कुछ और। अत एव सर्व कार्यों का कारण पुरुष नहीं किन्तु नियति है ऐसा मानना चाहिये।

इसी प्रकार से उत्तरोत्तर क्रमशः खण्डन करके कालवाद, स्वभाववाद और भाववाद का उत्थान विधिविधिनय के विकल्परूप से आचार्यने द्वितीय अर के अन्तर्गत किया है।

भाववाद का तात्पर्य अभेदवाद से-द्रव्यवाद से है। इस वाद का उत्थान भगवती के निम्न वाक्य से माना गया है-किं भयवं ! एके भवं, दुवे भवं, अक्खए भवं, अव्वए भवं, अवट्ठिए भवं, अणेगभूतभव्वभविए भवं ! सोमिला, एके वि अहं दुवे वि अहं...." इत्यादि भगवती १८. १०. ६४७।

(३) द्वितीय अरमें अद्वैतदृष्टि से विभिन्न चर्चा हुई है। अद्वैत को किसीने पुरुष कहा तो किसीने नियति आदि। किन्तु मूल तत्त्व एक ही है उसके नाम में या स्वरूप में विवाद चाहे भले ही हो किन्तु वह तत्त्व अद्वैत है यह सभी वादियों का मन्तव्य है। इस अद्वैततत्त्व का खास कर पुरुषाद्वैत के निरासद्वारा निराकरण करके सांख्यने पुरुष और प्रकृति के द्वैत को तृतीय अर में स्थापित किया है।

किन्तु अद्वैतकारणवाद में जो दोष थे वैसे ही दोषों का अवतरण एकरूप प्रकृति यदि नाना कार्यों का संपादन करती है तो उसमें भी क्यों न हो यह प्रश्न सांख्यों के समक्ष भी उपस्थित होता है। और पुरुषाद्वैतवाद की तरह सांख्यों का प्रधान कारणवाद भी खण्डित हो जाता है। इस प्रसंग में सांख्यों के द्वारा संमत सत्कार्यवाद में असत्कार्य की आपत्ति दी गई है और सत्त्व-रजस्-तमस् के तथा सुख-दु.ख-मोह के ऐक्य की भी आपत्ति दी गई है। इस प्रकार सांख्यमत का निरास करके प्रकृतिवाद के स्थान में ईश्वरवाद स्थापित किया है। प्रकृति के विकार होते हैं यह ठीक है किन्तु उन विकारों को करनेवाला कोई न हो तो विकारों की घटना बन नहीं सकती। अत एव सर्व कार्यों में कारणरूप ईश्वर को मानना आवश्यक है।

इस ईश्वरवाद का समर्थन श्वेताश्वतरोपनिषद् की 'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति' इत्यादि (६. १२) कारिका के द्वारा किया गया है। और "दुविहा पण्णवणा पण्णत्ता-जीवपण्णवणा, अजीवपण्णवणा च (प्रज्ञापना १. १) तथा किमिदं भंते !

लोएत्ति पवुच्चति ? गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव " (स्थानांग) इत्यादि आगम वाक्यों से संबंध जोड़ा गया है ।

(४) सर्व प्रकार के कार्यों में समर्थ ईश्वर की आवश्यकता जब स्थापित हुई तब आक्षेप यह हुआ की ईश्वर की आवश्यकता मान्य है । किन्तु समग्र संसार के प्राणिओं का ईश्वर अन्य कोई पृथगात्मा नहीं, किन्तु उन प्राणिओं के कर्म ही ईश्वर हैं । कर्म के कारण ही जीव प्रवृत्ति करता है और तदनुरूप फल भोगता है । कर्म ईश्वर के अधीन नहीं । ईश्वर कर्म के अधीन है । अतएव सामर्थ्य कर्म का ही मानना चाहिए, ईश्वर का नहीं । इस प्रकार कर्मवाद के द्वारा ईश्वरवाद का निराकरण करके कर्मका प्राधान्य चौथे अर में स्थापित किया गया । यह विधिनियम का प्रथम विकल्प है ।

दार्शनिकों में नैयायिक-वैशेपिकों का ईश्वर कारणवाद है । उसका निरास अन्य सभी कर्मवादी दर्शन करते हैं । अत एव यहां ईश्वरवाद के विरुद्ध कर्मवाद का उत्थान आचार्यने स्थापित किया है । यह कर्म भी पुरुप-कर्म समझना चाहिए । यह स्पष्टीकरण किया है कि पुरुप के लिए कर्म आदिकर है अर्थात् कर्म से पुरुप की नाना अवस्था होती हैं और कर्म के लिए पुरुप आदिकर है । जो आदिकर है वही कर्ता है । यहां कर्म और आत्मा का भेद नही समझना चाहिए । आत्मा ही कर्म है और कर्म ही आत्मा है । इस दृष्टि से कर्म-कारणता का एकान्त और पुरुप या पुरुपकार का एकान्त ये दोनों ठीक नहीं-आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है । क्यों कि पुरुप नहीं तो कर्मप्रवृत्ति नहीं, और कर्म नहीं तो-पुरुषप्रवृत्ति नहीं । अत एव इन दोनों का कर्तृत्व परस्पर सापेक्ष है । एक परिणामक है तो दूसरा परिणामी है, अत एव दोनों में ऐक्य है । इसी दलील से आचार्य ने सर्वैक्य सिद्ध किया है । आत्मा, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश आदि सभी द्रव्यों का ऐक्य भावरूप से सिद्ध किया है और अन्त में युक्तिबल से सर्वसर्वात्मकता का प्रतिपादन किया है और उसके समर्थन में-' जे एकणामे से वहुनामे ' (आचारांग १. ३. ४,) इस आगमवाक्य को उद्धृत किया है । इस अरके प्रारंभ में ईश्वर का निरास किया गया और कर्म की स्थापना की गई । यह कर्म ही भाव है, अन्य कुछ नहीं-यह अंतिम निष्कर्ष है ।

(५) चौथे अर में विधिनियमभंग में कर्म अर्थात् भाव अर्थात् क्रिया को जब स्थापित किया तब प्रश्न होना स्वाभाविक है कि भवन या भाव किसका ? द्रव्यशून्य केवल भवन हो नहीं सकता । किसी द्रव्य का भवन या भाव होता है । अत एव द्रव्य और भाव इन दोनों को अर्थरूप स्वीकार करना आवश्यक है; अन्यथा ' द्रव्यं भवति ' इस वाक्य में पुनरुक्ति दोष होगा । इस नय का तात्पर्य यह है कि द्रव्य और क्रिया का तादात्म्य है ।

क्रिया बिना द्रव्य नहीं और द्रव्य बिना क्रिया नहीं। इस मत को नैगमान्तर्गत किया गया है। नैगमनय द्रव्यार्थिक नय है।

(६) इस अर में द्रव्य और क्रिया के तादात्म्य का निरास वैशेषिक दृष्टि से करके द्रव्य और क्रिया के भेद को सिद्ध किया गया है। इतना ही नहीं किन्तु गुण, सत्तासामान्य, समवाय आदि वैशेषिक संमत पदार्थों का निरूपण भी भेद का प्राधान्य मान कर किया गया है। आचार्यने इस दृष्टि को भी नैगमान्तर्गत करके द्रव्यार्थिक नय ही माना है।

प्रथम अर से लेकर इस छट्ठे अर तक द्रव्यार्थिक नयों की विचारणा है। अब आगे के नय पर्यायार्थिक दृष्टि से हैं।

(७) वैशेषिक प्रक्रिया का खण्डन ऋजुसूत्र नय का आश्रय लेकर किया गया है। उसमें वैशेषिक संमत सत्तासंबंध और समवाय का विस्तार से निरसन है और अन्त में अपोहवाद की स्थापना है। यह अपोहवाद बौद्धों का है।

(८) अपोहवाद में दोष दिखा कर वैयाकरण भर्तृहरि का शब्दाद्वैत स्थापित किया गया है। जैन परिभाषा के अनुसार यह चार निक्षेपों में नामनिक्षेप है। जिस के अनुसार वस्तु नाममय है, तदतिरिक्त उसका कुछ भी स्वरूप नहीं।

इस शब्दाद्वैत के विरुद्ध ज्ञान पक्ष को रखा है। और कहा गया है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति ज्ञान के बिना असंभव है। शब्द तो ज्ञान का साधन मात्र है। अतएव शब्द नहीं किन्तु ज्ञान प्रधान है। यहां भर्तृहरि और उनके गुरु वसुरात का भी खण्डन है।

ज्ञानवाद के विरुद्ध स्थापना निक्षेप का निर्विषयक ज्ञान होता नहीं–इस युक्ति से उत्थान है। शब्द बोध जो होगा उसका विषय क्या माना जाय? जाति या अपोह? प्रस्तुत में स्थापना निक्षेप के द्वारा अपोहवाद का खण्डन करके जाति की स्थापना की गई है।

(९) जातिवाद के विरुद्ध विशेषवाद और विशेषवाद के विरुद्ध जातिवाद का उत्थान है; अत एव वस्तु सामान्यैकान्त या विशेषैकान्तरूप है ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अवक्तव्य है। इसके समर्थन में निम्न आगम वाक्य उद्धृत किया है–" इमाणं रयणप्पभा पुढवी आता नो आता? गोयमा! अप्पणो आदिट्ठे आता, परस्स आदिट्ठे वो आता तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं॥"

(१०) इस अवक्तव्यवाद के विपक्ष में समभिरूढ नय का आश्रय लेकर बौद्धदृष्टि से कहा गया कि द्रव्योत्पत्ति गुणरूप है अन्य कुछ नहीं। मिलिन्द प्रश्न की परिभाषा में कहा जाय तो स्वतंत्र रथ कुछ नहीं रथांगों का ही अस्तित्व है। रथांग ही रथ है अर्थात् द्रव्य जैसी कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं गुण ही गुण हैं। इसी वस्तु का समर्थन सेना और वन के दृष्टान्तों द्वारा भी किया गया है।

इस समभिरूढ की चर्चा में कहा गया है कि एक-एक नय के शत-शत भेद होते हैं, तदनुसार समभिरूढ के भी सौ भेद हुए। उनमें से यह गुण समभिरूढ एक है। गुणसमभिरूढ के भी विधि आदि बारह भेद हैं। उनमें से यह नियमविधि नामक गुण समभिरूढ है।

इस नय का निर्गम आगम के—" कईविहे णं भन्ते ! भावपरमाणु पन्नते ? गोयमा ! चउविहे पण्णत्ते-वण्णवन्ते, गंधवंते, फासवंते रसवंते " इस वाक्य से है।

(११) समभिरूढ का मन्तव्य गुणोत्पत्ति से था। तब उसके विरुद्ध एवंभूत का उत्थान हुआ। उसका कहना है कि उत्पत्ति ही विनाश है। क्योंकि वस्तुमात्र क्षणिक हैं। यहां बौद्धसंमत निर्हेतुक विनाशवाद के आश्रय से सर्वरूपादि वस्तु की क्षणिकता सिद्ध की गई है और प्रदीपशिखा के दृष्टान्त से वस्तु की क्षणिकता का समर्थन किया गया है।

(१२) एवंभूत नयने जब यह कहा कि जाति-उत्पत्ति ही विनाश है, तब उसके विरुद्ध कहा गया कि-" जातिरेव हि भावानामनाशे हेतुरिष्यते " अर्थात् स्थितिवाद का उत्थान क्षणिकवाद के विरुद्ध इस अर में है। अत एव कहा गया कि-" सर्वेप्यक्षणिका भावाः क्षणिकानां कुतः क्रिया ?। " यहां आचार्यने इस नय के द्वारा यह प्रतिपादित कराया है कि पूर्व नय के वक्ताने ऋषियों के वाक्यों की धारणा ठीक नहीं की; अत एव जहां अनाश की बात थी वहां उसने नाश समझा और अक्षणिक को क्षणिक समझा। इस प्रकार विनाश के विरुद्ध जब स्थितिवाद है और स्थितिवाद के विरुद्ध जब क्षणिकवाद है, तब उत्पत्ति और स्थिति न कह कर शून्यवाद का ही आश्रय क्यों न लिया जाय यह आचार्य नागार्जुन के पक्ष का उत्थान है। इस शून्यवाद के विरुद्ध विज्ञानवादी बौद्धोंने अपना पक्ष रखा और विज्ञानवाद की स्थापना की। विज्ञानवाद का खण्डन फिर शून्यवाद की दलीलों से किया गया। और स्याद्वाद के आश्रय से वस्तु को अस्ति और नास्तिरूप सिद्ध करके शून्यवाद के विरुद्ध पुरुषादि वादों की स्थापना करके उसका निरास किया गया।

और इस अरके अन्त में कहा गया कि वादों का यह चक्र चलता ही रहता है; क्यों कि पुरुषादि वादों का भी निरास पूर्वोक्त क्रम से होगा ही।

मल्लवादी का समय

आचार्य मल्लवादी के समय के बारे में एक गाथा के अलावा अन्य कोई सामग्री मिलती नहीं। किन्तु नयचक्र के अंतर का अध्ययन उस सामग्री का काम दे सकता है। नयचक्र की उत्तरावधि तो निश्चित हो ही सकती है और पूर्वावधि भी। एक ओर दिग्नाग है जिनका उल्लेख नयचक्र में है और दूसरी ओर कुमारिल और धर्मकीर्ति के उल्लेखों का अभाव है जो

नयचक्र मूल तो क्या, किन्तु उसकी सिंहगणिकृत वृत्ति से भी सिद्ध है। आचार्य समन्तभद्र का समय सुनिश्चित नहीं, अत एव उनके उल्लेखों का दोनों में अभाव यहां विशेष साधक नहीं। आचार्य सिद्धसेन का उल्लेख दोनों में है। वह भी नयचक्र के समय-निर्धारण में उपयोगी है।

आचार्य दिग्नाग का समय विद्वानों ने ई० ३४५-४२५ के आसपास माना है। अर्थात् विक्रम सं० ४०२-४८२ है। आचार्य सिंहगणि जो नयचक्र के टीकाकार हैं अपोहवाद के समर्थक बौद्ध विद्वानों के लिए 'अद्यतनबौद्ध'¹ विशेषण का प्रयोग करते हैं। उससे सूचित होता है कि दिग्नाग जैसे बौद्ध विद्वान् सिर्फ मल्लवादी के ही नहीं, किन्तु सिंहगणि के भी समकालीन हैं। यहाँ दिग्नागोत्तरकालीन बौद्ध विद्वान् तो विवक्षित हो ही नहीं सकते; क्यों कि किसी दिग्नागोत्तरकालीन बौद्ध का मत मूल या टीका में नहीं है। अद्यतनबौद्ध के लिए सिंहगणि ने 'विद्वन् मन्य' ऐसा विशेषण भी दिया है। उससे यह सूचित भी होता है कि 'आजकाल के ये नये बौद्ध अपने को विद्वान् तो समझते हैं, किन्तु हैं नहीं'। समग्र रूप से-'विद्वन्मन्याद्यतन बौद्ध' शब्द से यह अर्थ भी निकल सकता है कि मल्लवादी और दिग्नाग का समकालीनत्व तो है ही, साथ ही मल्लवादी उन नये बौद्धों को सिंहगणि के अनुसार 'छोकरे' समझते है। अर्थात् समकालीन होते हुए भी मल्लवादी वृद्ध हैं और दिग्नाग युवा। इस चर्चा के प्रकाश में परंपराप्राप्त गाथा का विचार करना जरूरी है।

विजयसिंहसूरिप्रबंध में एक गाथा में लिखा है कि वीर सं. ८८४ में मल्लवादी ने बौद्धों को हराया। अर्थात् विक्रम ४१४ में यह घटना घटी। इससे इतना तो अनुमान हो सकता है कि विक्रम ४१४ में मल्लवादी विद्यमान थे। आचार्य दिग्नाग के समकालीन मल्लवादी थे यह तो हम पहले कह चुके ही हैं। अत एव दिग्नाग के समय विक्रम ४०२-४८२ के साथ जैन परंपरा द्वारा संमत मल्लवादी के समय का कोई विरोध नहीं है और इस दृष्टि से 'मल्लवादी वृद्ध और दिग्नाग युवा' इस कल्पना में भी विरोध की संभावना नहीं। आचार्य सिद्धसेन की उत्तराविधि विक्रम पांचवी शताब्दी मानी जाती है। मल्लवादी ने आचार्य सिद्धसेन का उल्लेख किया है। अत एव इन दोनों आचार्यों को भी समकालीन माना जांय तब भी विसंगति नहीं। इस प्रकार आचार्य दिग्नाग, सिद्धसेन और मल्लवादी ये तीनों आचार्य समकालीन माने जांय तो उनके अद्यावधि स्थापित समय में कोई विरोध नहीं आता।

वस्तुतः नयचक्र के उल्लेखों के प्रकाश में इन आचार्यों के समय की पुनर्विचारणा अपेक्षित है; किन्तु अभी इतने से सन्तोष किया जाता है।

---

१ नयचक्रटीका पृ० १९—"विद्वन्मन्याद्यतनबौद्धपरिक्लृप्तम्"

१ प्रभावक चरित्र-मुनिश्री कल्याणविजयजी का अनुवाद पृ० ३७, ७२।

जैनदर्शन

महात्मा भगवानदीनजी

दर्शन पर लेखनी उठाने से पहिले मैं दो-एक बात साफ कर देना चाहता हूं।

दर्शन के पहिले किसी तरह का कोई शब्द नहीं जोड़ना चाहिए। जैसे 'जैन आदमी' कानों को खटकता है, वैसे ही 'जैनदर्शन' कान को खटकना चाहिये। दर्शन तो दर्शन ही है। उसे जितना बंधनमुक्त रक्खा जाय, उतना ही वह फलेगा-फूलेगा।

दर्शन पर कोई कुछ लिखे, और उस लेख में आज तक सब दर्शनों का निचोड़ न आये-ऐसा हो ही नहीं सकता। अपढ़ से अपढ़ आदमी के मस्तक में आज तक के सब दर्शन बीज रूप से मौजूद हैं। यह ही हाल तर्कविद्या का है। हर आदमी हर रोज थोड़ा बहुत अपने अन्दर बीज रूप से बैठे दर्शन और तर्क से काम लेता रहता है। पागल तक का अपना दर्शन और अपना तर्क होता है। दर्शन के बिना आदमी का जीवन दूभर हो जाय-समाज में रहने के योग्य ही न रह जाय।

दर्शन की बाल्यावस्था कितनी ही हंसी उड़ाने योग्य क्यों न हो, पर वह है आज तक के दर्शन की जड़। उससे इन्कार करना या उसकी खिल्ली उड़ाना अपनी खिल्ली उड़ाना है। न जाने क्यों ? आदमी अपनी असलियत छिपाने का अभ्यासी बन गया है। कौन जवान और कौन बूढ़ा ऐसा है जिसके अन्दर उसका बालकपन ज्यों का त्यों मौजूद न हो। पर कोई भी उसे आसानी से मान कर न देगा। जो बूढ़ा दूसरा बालकपन यों ही नहीं नाम पा गया। बड़ी महेनत का फल है। जो बूढ़ापे में बालक बना रहता है वह ही ज्ञानी है, वह ही परम ज्ञानी हो सकता है। नहीं तो बालकपन भुलाकर बूढ़ा सटया जायगा और अन्ड-बन्ड बोलने लगेगा। दार्शनिक को बालक कीसी बात करने दीजिये। अगर आप रोकेंगे तो टोटे में रहेंगे। और समाज को भी बड़ा घाटा होगा।

घूंघट में जैसे बहू बेटीपने को ससुराल में छिपाये रख सकती है, पर न भूल सकती है, न खो सकती है, न मिटा सकती है। पिहर में जाकर वह फिर ऐसे ही ऊपर उतरने लगता है, जैसे पानी के नीचे दबाकर रक्खी हुई तूम्बी दाब हटने पर ऊपर उतराने लगती है। ठीक इसी तरह बाल्यकालीन दर्शन स्वाधीन होकर ऐसे खिल उठता है और ऐसी उड़ान लेने लगता है, जैसे पिंजड़े के अन्दर का पक्षी पिंजड़े से बाहर होकर।

'दर्शन' आदमी की इस शंका का जवाब है कि 'मैं क्या हूँ? यह जगत क्या है? इस जगत में मेरा क्या स्थान है?' इत्यादि। इन शंकाओं के जवाब में जितने आदमियों के जितने उत्तर मिलेंगे वे तथ्य में एक होते हुए भी विस्तार में इतने भिन्न मिलेंगे कि हर कोई आदमी उनके एक होने पर विश्वास ही नहीं कर सकते।

वृक्ष के पीड़, गुद्धे, डाली, पत्ते, कली, फल, बीज सभी तो एक हैं। पर हरएक के लिये नहीं। वृक्ष की इन भिन्नताओं पर एक होने का किसी न किसी तरह विश्वास कराया जा सकता है, पर किसीके गले यह बात उतारनी कितनी कठिन है कि पेड़, पौधे, पशु, पक्षी, नर, नारी, नभ, पाताल सब एक हैं। मानना हो तो मानना। इस बात को कोई सुनकर भी नहीं देगा। आज दुनियां इस अनोखे तथ्य को सुन लेती है और सहन कर लेती है। इसका यही मतलब है कि वह इसको इतना ही असत्य समझती है, जितना कहानी में पशु-पक्षी तो क्या ईंट-पत्थर तक का बोलना।

दर्शन की पहुंच बहुत गहरी होती है। पर दर्शन-सागर की गहराई को सामने रख कर उसे बहुत ही उथली कहना पड़ेगा। आदमी के मस्तक की डोलची सात सागर से पानी आखिर ले ही कितना सकती है? जैसे गिलहरी का मुंह एक टॅट से भर जाता है, वैसे ही आदमी के मस्तक की डोलची एक लोटा ज्ञान-जल से भर जाती है।

'गागर में सागर' की कहावत प्रसिद्ध है। इसका कहीं यह मतलब न समझ बैठना कि गागर में सागर समा गया। 'पिण्डे ब्रह्माण्ड' का यह अर्थ न समझना कि पिण्ड में ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। बस इसका इतना ही अर्थ समझना चाहिये कि जहां तक आदमी की पहुंच है उसके लिये गागर का जल और पिण्ड का ब्रह्माण्ड ही काफी हैं।

असल में देखा जाय तो हर व्यक्ति दार्शनिक है; पर किसी एक के यह ही अकेला काम सुपुर्द करके उसको दार्शनिक कह कर पुजवा देना दूसरी बात है। पर यह कोई बूरी बात नही है। बूरी बात तो यह है कि उसको यह समझ बैठना कि उसने जो कुछ कहा है वह किसी और जगह है ही नहीं। जो कुछ उसने कहा है वह ही ठीक है, शेष सब गलत। वह ही प्रमाण है, दूसरा कोई नहीं। वह इतना कह गया है कि अब कुछ कहने के लिये ही नहीं रहा। इत्यादि।

इन बातों के साथ-साथ यह बात तक भूला दी जाती है कि वह दार्शनिक भी हम जैसा आदमी रह चुका है। और उस दार्शनिक में भी आदमी का बालकपन इसी तरह से जीवित है, जैसे हम सब में। इस असलियत के भूला देने से समाज को बेहद नुकसान हुआ है।

और जिस दर्शन ने समाज को एक करने के लिये जन्म लिया था उसने उसको अनेक कर दीया। बहुत दिनों तक दर्शनों की गिनती छ यानि तीन के दुगुने छ थी, पर अब तो वह गिनती बढ़ रही है और इसी हिसाब से समाज में भेदभाव बढ़ता जा रहा है।

हम ऊपर कह आये हैं कि दर्शन, 'मैं क्या हूं'? जैसे–सवालों का जवाब है। पर 'मैं क्या हूं' यह सवाल मामूली सवाल नहीं। शुरू के आदमी में इतनी ताकत ही न थी कि वह ऐसे सवाल उठा सके। ऐसे सवाल तो प्राणी की लाखों वर्ष की मेहनत का फल है। शुरू में तो आदमी लड़ना, मरना ही जानता था। डरता, डराता भी खूब था। अब दर्शन की उत्पत्ति भय से रह जाती है। 'दर्शन कमल' डरकी कीचड़ से उगा है।

जिस तरह बड़े से बड़े आविष्कार के सिद्धान्त में मामूली सी बात रहती है, वैसे ही ऊँचे से ऊँचे विचार की तह में बहुत मामूली बात ही रहा करती है। मामूली बात में ही विचारक की महान् शक्ति छिपी दिखाई देती है। अणु की तुच्छता का कुछ ठिकाना है? पर उसी तुच्छ में छिपी कितनी महान् शक्ति मिली?

किसी एक मामूली सी बात को लेकर एक नया दर्शन खड़ा किया जा सकता है। जैसे सत्य ही ईश्वर, ताप ही परम तत्व है, कुछ नहीं में ही सब कुछ समाया हुआ है, जो है वह मिट नहीं सकता, जो नहीं है वह पैदा नहीं हो सकता, जन्म–मरण है ही नहीं, आत्मा का कुछ बिगड़ता ही नहीं, सब ब्रह्म ही ब्रह्म है, आत्मा ज्ञाता है–कर्ता नहीं। इत्यादि।

दर्शनशास्त्र के विस्तार के लिये विद्या की इतनी जरूरत नहीं जितनी लगन और अभ्यास की है। विचार स्वाधीनता कल्पना कबूतरी को जगह देती है और फिर कोहरे से आवेष्टित जगह में आगे बढ़ने से राह मिलती ही है, वैसे ही दर्शन–पथ में कदम बढ़ता ही है। जिस तरह आविष्कारों के कर्ता न महापण्डित थे–न पण्डित, वैसे ही दर्शनकार भी ज्यादा पढ़े–लिखे न थे। अभ्यास से ज्ञानी और महाज्ञानी बने थे।

दर्शन के सिद्धान्त पंडितों और महापंडितो के हाथों में पड़ कर जटिल से जटिलतर और जटिलतम और गूढ़ से गूढ़तर और गूढ़तम बन जाते हैं। जब कि वह ही ज्ञानी के हाथों में पड़ कर सरल से सरलतर और सरलतम बन जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका जवाब सीधा है। पंडित पढ़ता है और पढ़ता है, पढ़े हुए को ही विचारता है, पोथी के पत्रों में ही विचरता है; जब कि अपढ़ चाहे बन चाहे प्रकृति के अन्दर ही पैठता है और रहस्य सागर में डुबकी लगा कर सीपियों से अपनी झोली भर लाता है। ज्ञानी के सामने दर्शन ऐसे आ मौजूद होता है और सत्य ऐसे दर्शन देने लगता है, जैसे हाथ पर रक्खा हुआ आंवला या कलाई पर पहना हुआ कंगन। यह कितना बड़ा अन्तर है?।

जिस तरह पुराने बने हुए किले में आज की जरूरत के ख्याल से सैंकडों कमियां कही जा सकती हैं, पर उनको बनाने वालेकी भूल नहीं कहा जा सकता; वैसे ही पुराने दर्शन ग्रंथों में उनको आज की विज्ञान की कसौटी पर कसने पर कुछ कमियां मिल सकती हैं, पर उन्हें भूल नहीं कहा जा सकता। और फिर ये कमियां मूल सिद्धान्त में नहीं होंगी-विस्तृत व्याख्या में मिलेंगी। उदाहरण के तौर पर आदमी का देह ले लीजिये। जब तक अणु की यह परिभाषा मानी गई कि अणु पदार्थ का वह छोटे से छोटा हिस्सा है जिसके फिर टुकड़े नहीं हो सकते, तब तक मनुष्य-देह में बहुत ही कम पोल थी। ऐसा मालूम होता था कि आदमी का देह ठोस ही ठोस है। आज भी मामूली आदमी लोहे के मनोटे को बहुत ठोस ही समझेगा, पर विज्ञानी उसे एकदम पोला कह रहे हैं। अब आदमी की पोल का कहीं ठिकाना है? अब अगर आत्मा मनुष्य देह के ठोस भाग में ही रहता है तो मनुष्य को दबा कर कितना छोटा किया जा सकता है, इसका अनुमान भी पुराने पंडित नहीं लगा सकते। अब से सैंकड़ों वर्ष पहिले यह बात आसानी से कही जा सकती थी कि मुक्त आत्मा का आकार अपने चर्मशरीर से किंचित् ऊन होता है, और यह बात ठीक कही गई थी। उन दिनों कोई इसका खंडन नहीं कर सकता था। पर यह कोई सिद्धान्त की बात न थी। यह था पंडितों का विस्तार। इस विस्तार को धक्का लगने से आत्मा का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। वह तो जैसा है वैसा बना रहेगा। अब मुक्त आत्मा का वह स्वरूप मान लिया जायगा जो आज की कसौटी पर ठीक उतरेगा। आज की कसौटी आदमी की देह में इतनी पोल बताती है कि उसको अगर दबा कर ठोस बनाया जाय तो वह राई के दाने जितनी भी नहीं रह जायगी। और तोल में उतनी ही होगी जितना वह आदमी होगा। यानि डेढ़-दो मन। लोहे के मनोटे का भी यही हाल होगा। अब आज के मुक्त आत्मा का आकार इतना छोटा रह जायगा कि उसे किसी तरह भी वेदी पर विराजमान करके दर्शकों को दिखाया न जा सकेगा। इस खोजने सिद्धान्त को धक्का नहीं पहुंचाया, सत्य का कुछ नहीं बिगाड़ा—सिद्धान्त और सत्य पर से भ्रम का एक आवरण हटा दिया। सिद्धान्त और सत्य अब भी निरावरण हुए हैं या नहीं यह पता नहीं।

जिसे जैनदर्शन कहा जाता है आज उसकी कोई बात ऐसी नहीं है जो सारी दुनियां में न फैल गई हो। वह जैनों के लिये भले ही साल के कुछ दिन की चीज हो या दुनियां के विज्ञानियों में जैनदर्शन नाम से पुकारे जानेवाले सारे सिद्धान्त आये दिन की चीज बने हुए हैं। हीरे को अमुकचन्द तिजोरी में रख कर अलभ्य चीज कह सकते हैं और सेठानीजी और रानी हीरे के गहने को गले में डाल कर इठलाती हुई चल सकती हैं। सेठ उसको कण्ठे का बोझा बना सकते हैं। राजा उसे मुकुट में जड़ कर और मुकुट पहन कर अपने को बड़ा

समझ सकते हैं, पर विज्ञानियों की नजर में हीरा मशीनों की धुरी की चूल बनने के योग्य है। और आज उसका यह उपयोग हो रहा है। शीशा काटने का कलम हीरे का बना होता है। ठीक इसी तरह मन्दिरों में बंद सिद्धान्त, ग्रन्थों के सिद्धान्त जगह-जगह बिखरे हुए मिलेंगे और काम में आते हुए मिलेंगे।

एक दिन एक ग्रेजुएट साधु हम से आकर मिले। वह रूस, ब्रिटानिया और अमेरिका घूमे हुए थे। विदेशियों की बड़ी तारीफ़ करते हुए बोले, "एक महान् पंडितने हमें एक अनोखा और गजब का सिद्धान्त बताया।" मैं पूछ बैठा, "वह क्या था?" बोले, "वह है यह—मानना, जानना और करना। सफलता का यही निचोड़ है।" मैं उनकी बात सुन कर मुस्काया। मुस्कराहट जल्दी ही हंसी का रूप ले बैठी। वे बिगड कर बोले, "आप इसे छोटी बात समझते हैं? ऐसे सिद्धान्त बड़ी मेहनत और अनुभव से हाथ आते हैं।" मैं बोला; "मैं इस लिये नहीं हंसा कि आपने कोई मामूली बात कही, मैं तो यों हंसा कि मैं अब तक इसे मामूली बात समझता रहा। बारह बरस की उमर से मेरे मां बाप मुझे यह ही रटाते रहे। यह हिन्दुस्तान का बहुत पुराना सिद्धान्त है। यह कह कर मैंने उनको सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्रवाला सूत्र पढ़ कर सुना दिया। वे उसे सुन कर पहिले तो खिलखिला कर हँसे और फिर सौम्य चहरा बना कर बोले, "फिर भारत इतने दिन गुलाम क्यों रहा?" बात आई-गई हो गई।

दर्शनसूत्र ताले में बन्द करके रक्खे नहीं जा सकते। ये तो एक बार किसी के मुंह से निकले कि सारी दुनियां में फैले। इन में यह सिफत है कि ये दुनियां के हर हिस्से में फल-फूल सकते हैं और वट वृक्ष की तरह बहुत बड़े हिस्से पर छा सकते हैं।

जैन दर्शनकार नाम से पुकारे जानेवाले रिषियोंने अपने समय में यह कोशिश की कि वे दर्शन विषय पर इतना लिख जांय कि कुछ लिखने को न रह जाय।

अब सुनिये उन्होंने क्या किया। उन्होंने सारे अक्षर लिये और हिसाब लगा कर यह देखा कि इन अक्षरों से कितने शब्द बन सकते हैं तो उन्होंने उतने ही शब्द तैयार कर लिये। जब उन्हें यह मालूम हो गया तो उसी हिसाब से ग्रन्थ रच डाले। ये ग्रन्थ मिलते नहीं हैं यह दूसरी बात है; पर उनके लिखे जाने का हाल जरूर मिलता है। इतना होने पर भी यह बात उनकी नजर से रह गई कि नई-नई ध्वनियां भी बन सकती हैं, उनके लिये नये अक्षर भी गढ़े जा सकते हैं। ह्रस्व और दीर्घ स्वर के बीच में एक से ज्यादा और भी आवाजें हो सकती हैं। फिर भी जो कुछ उन्होंने किया वह इतने मार्के का जरूर है कि आज के विद्वानों को भी उनके प्रयत्नों की कहानी सुन कर दांतों तले अंगुली दाबनी पड़ती है।

और सुनिये, समय का विभाजन करके वे इस नतीजे पर पहुंचे कि संसार में समय की अपेक्षा चार और केवल चार ही तरह की चीजें हो सकती हैं। (१) वे जो हमेशा से हैं और हमेशा तक रहेंगी। (२) वे जो हमेशा से हैं, पर हमेशा तक नहीं रहेंगी। (३) वे जो शुरू तो हुई हैं, पर हमेशा तक बनी रहेंगी। (४) वे जो शुरु होती हैं और हमेशा तक नहीं रहतीं। इन चारों के शास्त्रीय नाम हैं (१) अनादिअनन्त (२) अनादिसान्त (३) सादिअनन्त (४) सादिसान्त। अब इनके उदाहरण लीजिये। (१) जीव (२) जीव और कर्म का सम्बन्ध (३) मुक्ति (४) कर्म का परिचय।

जैन दर्शनकारों को यह सिद्धान्त मान्य था कि न कुछ से कुछनहीं पैदा हो सकता। जो कुछ है वह नष्ट नहीं हो सकता। इसीको यों भी कहा जा सकता है-नया पैदा नहीं होता, पुराना मिटता नहीं। आज तक के विज्ञानकी कसौटी पर यह सिद्धान्त खरा समझा जाता है। किसी को इससे इन्कार नहीं।

बदलता रहना ही बना रहता है। वह सिद्धान्त भी आज तक सर्वमान्य है। रूस इस सिद्धान्त पर बहुत जोर देता है। इसको थोड़ा खोल कर रखना होगा।

बदलते रहने के सिद्धान्त के आधार पर यह बात आसानी से कही जा सकती है कि हर चीज हर क्षण बदलती रहती है। दीपक की ज्योत तो यहाँ तक सिद्ध करती दिखाई देती है कि जो ज्योत इस क्षण है, वह दूसरे क्षण है ही नहीं। क्यों कि दूसरे क्षण की ज्योत में नया तेल जल रहा है। वह तेल नहीं जो पहिले जल रहा था। सिनेमा की फिल्मने तो इस सिद्धान्त की तस्वीर खींच कर रख दी। सिनेमा के खेल में प्रत्येक क्षण नया चित्र आता है। उससे पहिला चला जाता है।

इन बदलावों के नाम शास्त्रीय रख दिये गये। वे ये हैं (१) उत्पाद (२) व्यय (३) द्रव्य। इन्हीं तीन गुण के नाम चित्रकला की बोली में हैं—ब्रह्मा, महेश, विष्णु। इन्हीं को लेकर पुराण खड़े हो गये। बस निचोड़ इतना है कि हर चीज में हर समय एक ही साथ तीनों हालतें मौजूद-कुछ बनते रहना, कुछ बिगड़ते रहना और फिर भी अटल बने रहना। उदाहरण के लिये कुम्भकार के चाक पर की मिट्टी को लीजिये। वह शुरू में मिट्टी का लौंदा है। वह ही लौंदा अपने लौंदपने को मिटाता जाता है, घड़े को पैदा करता जाता है और मिट्टीपने को अटल रखता है। ये ऐसे सत्य हैं कि स्वयंसिद्ध हैं। किसी तर्क की अपेक्षा नहीं रखते। इनसे कोई इन्कार भी कैसे कर सकता है। पर यह कहना कि किसी एक आदमीने इन सब को किसी खास समय में सोच डाला-बात इतनी बढ़ा कर कहना है कि वह सत्य की कोटी को लांघ जाती है। अनेक की, अनेक वर्ष

की, अनेक तरह की कोशिशों का ही फल है कि मानव-समाज इस सचाई तक पहुंचा। हर एक चीज अनेक गुणवाली है। इस पर एक पहलू से ही विचार नहीं किया जा सकता। अनेक पहलुओं से ही विचार करना होगा। यह एक नया सिद्धान्त है जो जैन दर्शनकारों को मान्य है। इसीका नाम है 'अनेकान्त'। इस सिद्धान्त के समझ लेने से वाद-विवाद का महल इस तरह ढह जाता है, जिस तरह बालू के टीले पर खड़ा मकान। इस सिद्धान्त का नाम झगड़ा-फैसल-सिद्धान्त भी रक्खा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि लोगोंने इसको ताऊ-झगड़ू बना रक्खा है।

इसीसे मिलता, जुलता जैनदर्शनकारों का 'नयवाद' भी है, जिसका नाम है 'स्याद्वाद' जो सप्तभङ्गी नय के नाम से मशहूर है। संस्कृत के स्यात् शब्द का अर्थ होता है, शायद। इसी शायद को लेकर, 'है और नहीं' के मेलसे सात रूप बना लिये गये हैं। इसका निचोड़ इतना ही है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप ठीक नहीं कहा जा सकता-अवक्तव्य है। और हकिकत है ही ऐसी। हर क्षण बदलती दुनियां को ठीक रूप में पकड़ना मुश्किल ही नहीं, असम्भव है। सप्तभङ्गी नय पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख दिया गया है।

जैन दर्शनकार को यह बात स्वीकार नहीं कि किसी एक ईश्वरने इस जगत को बनाया है। इस सीधी-सादी बात की अस्वीकृति सिर ओढ़ कर जैनदर्शनकारने एक आफत सिर पर लेली।

मकान गिराना आसान है; पर अपनी मरजी के माफिक दूसरा मकान खड़ा करना काम है, और मुश्किल काम है। ईश्वर का खण्डन कोई भी कर सकता है; पर ईश्वर के विना जग की रचना की योजना तो हर कोई तैयार नहीं कर सकता। ईश्वर का खण्डन जैनों के मैदान में आने से पहिले हो चुका था और जगत् की छोटी-मोटी योजना भी तैयार हो चुकी थी; पर वह इतनी विस्तृत नहीं थी कि आपकी और मेरी समझ में आ जाय। इसलिये वह फैल न पाई। जैनदर्शनकारोंने खूब ही ईश्वर का मण्डन किया और दुगुने जोरसे उसका खण्डन किया और चौगुना जोर लगाकर नई योजना खड़ी कर दी और ईश्वर के बिना दुनियां को बनाकर दिखा दिया और दुनियां में निर्बन्धशाही भी नहीं होने दी। राजा नहीं और अराजकता भी नहीं-यह चमत्कार नहीं तो और क्या है? राजकारी क्षेत्र में जो लोकशाही है, धार्मिक क्षेत्र में वह ही लोकशाही पैदा कर दी। कर्मसिद्धान्त तैयार करके ईश्वर की जरूरत का अन्त कर दिया। ईश्वर जब था, था तो वह तब भी आदमी से गद्दी पाया हुआ राजा? पर जैनदर्शनकारोंने तो एक ईश्वर की जगह अनेक ईश्वर खड़े कर दिये हैं। रूसियों की तरह प्रेसिडेन्ट की जगह प्रीसिडियम बना दिया। यानि प्रमुख की जगह

प्रमुखायत खड़ी कर दी। जैसे पंच से पंचायत, वैसे ही प्रमुखों की प्रमुखायत। याद रहे, जैनदर्शन में सरपंच को कोई स्थान नहीं। हां, तो अब जगत छ द्रव्यों का बना रह गया। आकाश, काल, धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल। इन छहों को दो भागों में भी बाँटा जा सकता है— जीव और अजीव।

जगत को आजकल के विज्ञानियों की तरह अधूरा नहीं छोड़ दिया। उसकी भी हद-बंधी कर दी। उसका आकार है डेढ़ डुमरु जैसा। अर्थात् एक डुमरु के ऊपर दूसरा डुमरु रख दिया जाय और ऊपरवाला डुमरु आधा काट डाला जाय तो दिखाई देनेवाले जगत् का आकार बन जायगा। इसको ज्यादा विस्तार से समझाने की जरूरत नहीं। क्यों कि यह लम्बा-चौड़ा विषय है और यहां जरूरी बातें कहना जरूरी है।

ऊपर बताये हुए छ द्रव्यों में से आकाश और काल को सब जानते हैं। जीव व पुद्गल (जड़) से भी सब परिचित हैं। धर्माधर्म पारिभाषिक शब्द हैं। जैनदर्शनकारों का धर्मद्रव्य आजकल के विज्ञानियों के ईथर से कुछ-कुछ मेल खाता है और धर्मद्रव्य एक ऐसी अदृश्य शक्ति है जो सारे जगत् में फैली हुई है और जो जड़चेतन के गमनागमन में सहायक होती है।

अधर्मद्रव्य भी एक अदृश्य शक्ति है जो सारे जगत् में फैली हुई है और जड़चेतन के ठहरने में सहायक होती है। यह ध्यान रहे कि धर्मद्रव्य सड़क की तरह न किसी को चलाने की प्रेरणा करता है, न अधर्म द्रव्य सराय की तरह या धर्मशाला की तरह किसी को उसमें आ टिकने के लिये कहता है। जड़, चेतन अपने आप गतिमान होते और ठहरते हैं।

ये छहों द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। ये हैं जैनदर्शनकारों के दर्शन की मूल। इसी मूल पर जगत् का वृक्ष खड़ा है और सब काम अनादिकाल से चल रहा है और अनन्त-काल तक चलता रहेगा।

इस सब का वर्णन विस्तार के साथ तो लेख में लिखा नहीं जा सकता। इसके लिये तो ग्रन्थ और ग्रन्थों की ही आवश्यकता होगी। पर जिनकी दर्शन में पैठ है और जिनकी दर्शन में रुचि है, वे इस बानगी से कुछ न कुछ जरूर समझ लेंगे। और अगर उनमें जिज्ञासा जाग गई तो वे जैन ग्रन्थों से या किसी जानकार से विस्तारपूर्वक जान भी लेंगे। इत्यलम्।
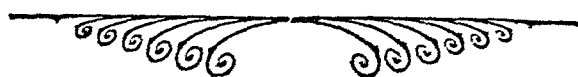
उत्सर्ग और अपवाद

उपाध्याय, कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी महाराज

जैन धर्म की साधना मनोजय की साधना है। वीतरागभाषित पन्थ में साधना का लक्ष्य है–मनोगत विकारों को जीतना। मनोविजेता जगतो विजेता–यह जैनधर्म की साधना का मुख्य सूत्र है। जैनधर्म की साधना–विधिवाद के अतिरेक और निषेधवाद के अतिरेक का परित्याग करके दोनों कूलों के मध्य में होकर बहनेवाली सरिता के तुल्य है। सरिता के प्रवाह के लिये, सरिता के विकास के लिये, सरिता के जीवन के लिये दोनों कूल आवश्यक हैं। एक कूलवाली सरिता सरिता नहीं कही जा सकती। जीवन सरिता की भी यही दशा है। एक ओर विधिवाद का अतिरेक है, दूसरी ओर निषेधवाद का अतिरेक है–दोनों के मध्य में होकर प्रवाहित होती है–जीवन सरिता। जीवन सरिता के प्रवाह को, जीवन सरिता के विकास को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये दोनों अतिरेकों का त्याग आवश्यक है। अति-विधिवाद और अतिनिषेधवाद से बचकर चलनेवाली जीवन सरिता ही अपने अनन्त लक्ष्य में विलीन हो सकती है।

साधना की सीमा में संप्रवेश पाते ही साधना के दो अंगों पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है–"उत्सर्ग तथा अपवाद।" साधना के ये दोनों अंग प्राण हैं। इनमें से एक तर का भी अभाव हो जाने पर साधना अधूरी है, विकृत है, एकांगी है, एकान्त है। जीवन में एकान्त कभी कल्याणकर हो नहीं सकता; क्यों कि वीतराग देव-संक्षुण्ण पथ में एकान्त मिथ्या है, अहित है, अशुभंकर है। मनुष्य द्विपद है। वह अपनी यात्रा अपने दोनों पादों से ही भली भाँति कर सकता है। एक पद का मनुष्य लंगड़ा होता है। ठीक साधना भी अपने दो पदों से ही सम्यक् प्रकार से गति कर सकती है। उत्सर्ग और अपवाद–साधना के ये दो चरण हैं। इनमें से एकतर चरण का भी अभाव यह सूचित करेगा कि साधना पूरी नहीं, अधूरी है। साधना के जीवनविकास के लिये उत्सर्ग और अपवाद आवश्यक ही नहीं, अपितु अपरिहार्य भी हैं। साधक की साधना के महा पथ पर जीवन-रथ को गतिशील एवं विकासोन्मुख रखने के लिये उत्सर्ग और अपवाद रूप दोनों चक्र सशक्त तथा सक्रिय रहने चाहिये, तभी साधक अपनी साधना से अपने साध्य की सिद्धि कर पाता है।

कुछेक विचारक जीवन में उत्सर्ग को ही पकड़ कर चलना चाहते हैं। वे अपनी सम्पूर्ण

शक्ति उत्सर्ग से चिपट कर ही खर्च कर देने पर तुले हुये हैं। वे जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप ही करते रहते हैं। उनकी दृष्टि में (एकांगी दृष्टि में) अपवाद धर्म नहीं, एक महत्तर पाप है। इस प्रकार के विचारक साधना के क्षेत्र में उस कानि हथिनी के समान हैं जो चलते समय मार्ग के एक ओर ही देख पाती है। दूसरी ओर कुछ साधक वे हैं जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद को पकड़ कर ही चलना चाहते हैं। जीवन पथ में वे कदम-कदम पर अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते हैं। जैसे शिशु विना किसी सहारे के चल ही नहीं सकता। ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय कोटि में नहीं आ सकते। जैन धर्म की साधना एकान्त की नहीं, वह अनेकान्त की सुन्दर और स्वस्थ साधना है।

जैन संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिने अपने "उपदेशपद" ग्रन्थ में एकान्त पक्ष को लेकर चलनेवाले साधकों को संबोधित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है-" भगवान् जिनेश्वरदेवने न किसी वस्तु के लेने का एकान्त विधान किया है और न किसी वस्तु के छोड़ने का एकान्त निषेध ही किया है। भगवान् तीर्थंकर की एक ही आज्ञा है, एक ही आदेश है कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो, उसमें सत्य-भूत होकर रहो, उसे वफादारी के साथ करते रहो।"

आचार्यने जीवन का महान् रहस्य खोलकर रख दिया है। साधक का जीवन न एकान्त निषेध पर चल सकता है और न एकान्त विधान पर ही। कभी कुछ लेकर और कभी कुछ छोड़ कर ही वह अपना विकास कर सकता है। एकान्त का परित्याग करके वह अपनी साधना को निर्दोष बना सकता है।

साधक का जीवन एक प्रवहणशील तत्त्व है। उसे बाँधकर रखना भूल होगी। नदी के सातत्य प्रवहणशील वेग को किसी गर्त में बाँधकर रख छोड़ने का अर्थ होगा-उसमें दुर्गंध पैदा करना तथा उसकी सहज स्वच्छता एवं पवित्रता को नष्ट कर डालना। जीवनवेग को एकान्त उत्सर्ग में बन्द करना यह भी भूल है और उसे एकान्त अपवाद में कैद करना यह भी चूक है। जीवन की गति को किसी भी एकान्त पक्ष में बांधकर रखना हितकर नहीं। जीवनवेग को बांधकर रखने में क्या हानि है? बांधकर रखने में, संयत करके रखने में तो कोई हानि नहीं है; परन्तु एकान्त विधान और एकान्त निषेध में बाँध रखने में जो हानि है-वह आचार्यप्रवर हरिभद्रसूरि के शब्दों में ही सुनिए—

१-" न वि किंचि वि अणुण्गात, पडिसिद्धं वा वि जिगवरिंदेहिं।
तित्थगराणं आणा, कज्जं सच्चेग होयव्व॥"

—उपदेशपद

"देश, काल और रोग के कारण साधक जीवन में भी कभी ऐसी अवस्था आ जाती है कि अकार्य कार्य बन जाता है तथा कार्य अकार्य हो जाता है। जो विधान है उसे निषेध कोटि में ले जाना पड़ता है और जो निषेध है उसे विधान बनाना पड़ता है[१]।"

यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि उत्सर्ग और अपवाद—दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, साधक हैं; बाधक और घातक नहीं हैं। दोनों के सुमेल से साधक का मार्ग प्रशस्त होता है। एक ही रोग में जिस प्रकार वैद्य को किसी वस्तु को अपथ्य कह कर निषेध करना पड़ता है, देश और काल की परिस्थिति वशात् उसी रोग में उस निषिद्ध पथ्य का विधान भी करना पड़ता है। परिस्थितिवश जिस अपथ्य का निषेध किया था, फिर उसीका कभी परिस्थिति में विधान भी देखा जाता है; परन्तु इस विधि और निषेध दोनों का लक्ष्य एक ही है–रोग का उपशमन, रोग का उन्मूलन करना। उदाहरण के लिये आयुर्वेद में यह विधान है कि 'ज्वर रोग में लंघन अर्थात् भोजन का परित्याग हितावह एवं स्वास्थ्य के अनुकूल रहता है; परन्तु श्रम, क्रोध, शोक और काम ज्वर होने पर लंघन से हानि ही होती है[२]।' भोजन का त्याग एक स्थान पर अमृत है, हितकर है और दूसरे स्थान पर विष है, अहितकर है।

इसी प्रकार उत्सर्ग और अपवाद दोनों का एक ही लक्ष्य होता है—जीवन की संशुद्धि। उत्सर्ग अपवाद का पोषक होता है और अपवाद उत्सर्ग का सहायक। दोनों के सुमेल से चारित्र की संशुद्धि और पुष्टि होती है। उत्सर्ग मार्ग पर चलना यह जीवन की सामान्य पद्धति है और अपवाद मार्ग पर चलना यह जीवन की विशेष पद्धति है। ठीक वैसे ही जैसे कि राजमार्ग पर चलनेवाला यात्री कभी राजमार्ग का परित्याग करके समीप की पगदंडी भी पकड़ लेता है; परन्तु फिर वह उसी राजमार्ग पर आ जाता है। परिस्थितिवश उसे वैसा करना पड़ा था। यही बात उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के संबंध में लागू पड़ती है।

प्रश्न किया जा सकता है–कब उत्सर्ग पर चलें और कब अपवाद पर ? प्रश्न वस्तुतः बड़े ही महत्व का है। किन्तु इसका समाधान भी बड़ा ही महत्वपूर्ण है। साधक स्वयं ही अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार यह निर्णय कर सकता है कि कब उत्सर्ग को ग्रहण करें, कब अपवाद को ? अन्ततोगत्वा उत्सर्ग और अपवाद का निर्णय साधक स्वयं

---

१ उत्पद्यते हि सावस्था, देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म कार्यं च वर्जयेत्॥ —स्याद्वादमञ्जरी

२ कालाविरोधिनिर्दिष्टं, ज्वरादौ लङ्घनं हितम्।
ऋतेऽनिलश्रमक्रोध, शोककामकृतज्वरात्॥

ही कर सकता है, दूसरा नहीं। शास्त्र, टीका, भाष्य और निर्युक्ति काफी लम्बी दूर तक साधक का हाथ पकड़ कर चलाने का प्रयत्न करते हैं। जैसे शिशु को उसका पिता उसका हाथ पकड़ कर चलाना सिखाता है; परन्तु कुछ दिनों बाद वह शिशु को उसकी शक्ति पर ही छोड़ कर अलग हो जाता है। अन्त में साधक पर ही सब कुछ छोड़ दिया जाता है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—"[1]भंते! यह उत्सर्ग क्या है? और यह अपवाद क्या है?" आचार्य समाधान देता है, "जीवन जीने की जो सामान्य विधि है वह उत्सर्ग है और जो विशेष विधि है वह अपवाद है।"

भोजन करना यह जीवन की सामान्य विधि है, क्यों कि बिना भोजन के जीवन टिक नहीं सकता; परन्तु अजीर्ण हो जाने पर भोजन का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। भोजन का त्याग ही जीवन हो जाता है-यह विशेष विधि है। यह बात भूलना नहीं चाहिये कि विशेष विधि सामान्य विधि की रक्षा के लिये ही होती है। अपवाद भी उत्सर्ग मार्ग की रक्षा के लिये ही अंगीकार किया जाता है।

शिष्य फिर प्रश्न उपस्थित करता है-"भंते! उत्सर्ग को छोड़ कर अपवाद मार्ग में जाने वाले साधक के क्या स्वीकृत व्रत भंग नहीं हो जाते?" आचार्य एक रूपक के द्वारा इसका सुंदर समाधान करते हैं:—

एक यात्री त्वरित गति से पाटलीपुत्र नगर की ओर चला। वह यथाशक्ति चलता रहा, क्यों कि शीघ्र पहुँचना उसे अभीष्ट था; परन्तु थकान होने पर वह विश्राम करने लग जाता है जिससे विलम्ब हो गया। वह यात्री मार्ग में यदि विश्राम न करे तो स्वस्थ नहीं रह सकता। फिर अपने लक्ष्य पर कैसे पहुँचेगा? [2]बृहत्कल्पभाष्य का यह रूपक साधक जीवन पर कितना सुन्दर घटित होता है।

साधक अपने उत्सर्ग मार्ग पर चलता है और उसे यथाशक्ति उत्सर्ग मार्ग पर चलना ही चाहिये; परन्तु उसे कारणवशात् अपवाद मार्ग पर आना पड़े तो यह उसका विश्राम होगा। यह इस लिये किया जाता है कि फिर वह अपने स्वीकृत पथ पर द्विगुणित वेग के साथ आगे बढ़ सकता है, अपने ठीक लक्ष्य पर जा पहुँच सकता है। उसका विश्राम करना, बैठना भी चलने के लिये होता है। उसका अपवाद भी उसके उत्सर्ग की रक्षा के लिये ही होता है।

---

१ "सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः, विशेषोक्तो विधिरपवादः।" —दर्शनशुद्धि

२ "धावतो उव्वाओ, मग्गन्नू किं न गच्छइ कमेणं।
किं वा मउई किरिया; न कीरए असहुओ तिक्खं ॥ ३२०॥ —बृहत्कल्पभाष्य; पीठिका

शिष्य प्रश्न करता है—" भंते! उत्सर्ग अधिक है या कि अपवाद अधिक है ?" शिष्य के प्रस्तुत प्रश्न का बृहत्कल्पभाष्य में यह समाधान किया है:—

" वत्स! उत्सर्ग और अपवादों की संख्या में भेद नहीं है। जितने उत्सर्ग होते हैं, उसके उतने ही अपवाद भी होते हैं और जितने अपवाद होते हैं, उसके उतने ही उत्सर्ग भी होते हैं।"

इससे सिद्ध होता है कि साधना के उत्सर्ग और अपवाद अपरिहार्य अंग हैं।

शिष्य प्रश्न करता है—" भंते! उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों में कौन बलवान है और कौन दुर्बल ?" इसका समाधान भी बृहत्कल्पभाष्य में दिया गया है:—

" वत्स! उत्सर्ग अपने स्थान पर श्रेयान् और बलवान है। अपवाद अपने स्थान पर श्रेयान् एवं बलवान् है। उत्सर्ग के स्थान पर अपवाद दुर्बल है और अपवाद के स्थान पर उत्सर्ग दुर्बल है।"

शिष्य जिज्ञासा प्रस्तुत करता है—" भंते! उत्सर्ग और अपवाद में साधक के लिये स्वस्थान कौनसा है?" और परस्थान कौनसा है? इस जिज्ञासा का सुन्दर समाधान बृहत्कल्प-भाष्य में इस प्रकार दिया गया है :—

" वत्स! जो साधक स्वस्थ और समर्थ है उसके लिये उत्सर्ग स्वस्थान है और अपवाद परस्थान है। किन्तु जो अस्वस्थ एवं असमर्थ है उसके लिये अपवाद स्वस्थान है और उत्सर्ग परस्थान है।"

देश, काल और परिस्थितिवशात् उत्सर्ग और अपवाद स्वस्थान और परस्थान होते रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि साधक के जीवन में उत्सर्ग और अपवाद दोनों का समान भाव से परिस्थितिवश ग्रहण किया जाना चाहिये।

जैन धर्म की साधना न अति परिणामवाद को लेकर चलती है—न अपरिणामवाद को लेकर। वह तो परिणामवाद को लेकर ही चलती है। जो साधक परिणामी है वही उत्सर्ग और अपवाद के मार्ग को भली भाँति समझ सकता है। अति परिणामी और अपरिणामी

---

१ जावइया उस्सग्गा, तावइया चेव हुंति अववाया।
जावइया अववाया, उस्सग्गा तेत्तिमा चेव ॥ ३२२ ॥ —बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका

२ सट्ठाणे सट्ठाणे, सेया बलिणो य हुंति खलु एए।
सट्ठाण-परट्ठाणा, ए हुंति वत्थू तो निप्फन्ना ॥ ३२३ ॥ —बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका

३ संथरओ सट्ठाणं, उस्सग्गो असहुणो परट्ठाण।
इय सट्ठाण परं वा, न होइ वत्थू विणा किंचि ॥ ३२४ ॥ —बृहत्कल्पभाष्य, पीठिका

उत्सर्ग–अपवाद को समझने में असमर्थ रहता है। इस संबंध में व्यवहार भाष्य में एक बड़ा ही सुन्दर रूपक आया है:—

एक आचार्य के तीन शिष्य थे। अपना पदभार किसको दें? तीनों की परीक्षा के विचार से आचार्य एक एक शिष्य को बुलाकर कहते हैं–" मुझे आम्र ला कर दो।" अतिपरिणामी साथ में दूसरी भी चीजें लाने को कहता है। अपरिणामी कहता है–" आम्र कररता नहीं, मैं कैसे ला कर दूं।" परिणामी कहता है–" भंते! आम्र कितने प्रकार के है? कौनसा प्रकार और कितने लाऊँ? आचार्य की परीक्षा में परिणामवादी उत्तीर्ण हो जाता है; क्यों कि वह उत्सर्ग और अपवाद के मार्ग को भलीभाँति जानता है। वह गुरु की हीलना भी नहीं करता और अतिपरिणामी की तरह एक वस्तु मंगाने पर अनेक वस्तु लाने को भी नहीं कहता। परिणामवादी ही जैन साधना का समुज्वल प्रतीक है; क्यों कि वह समय पर देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अपने जीवन को ढ़ाल सकता है।

अपरिणामी उत्सर्ग के ही चिपटा रहेगा। अतिपरिणामी अपवाद का भी दुरुपयोग करता रहेगा और किस समय पर कितना परिवर्तन करना यह उसे भान ही नहीं रहेगा। अपरिणामी जड़ होकर रहेगा। धर्म के रहस्य को, साधना के महत्त्व को परिणामी साधक ही सम्यक् प्रकार से जानता है और उसके अनुसार अपने जीवन को पवित्र एवं समुज्वल बनाने का नित्य निरन्तर प्रयत्न भी करता ही रहता है।

उत्सर्ग और अपवाद के रहस्य को जाननेवाला गीतार्थ कहा जाता है। गीतार्थ अपने देश, काल एवं परिस्थितिवश उत्सर्ग से अपवाद में और अपवाद से उत्सर्ग में आ जा सकता है। परिस्थिति आने पर अपवाद का आश्रय लेनेवाला अपराधी और हीन नहीं कहा जा सकता; क्यों कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों में भगवान् की आज्ञा अनुस्यूत है। उत्सर्ग से अपवाद में जाने में अधर्म नहीं होता। इस संबंध में यहाँ पर कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं:—

वर्षा बरसते समय भिक्षु अपने उपाश्रय से बाहर नहीं निकलता; क्यों कि जलीय जीवों की विराधना होती है, हिंसा होती है—भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु साथ में इसका यह अपवाद भी कि चाहे वर्षा बरस रही है तो भी भिक्षु शौच और पेशाब करने बाहर जा सकता है। कच्चे जल की जहाँ स्पर्श मात्र की भी आज्ञा नहीं वहाँ यह आज्ञा अपवाद मार्ग है।

भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है कि वह मनसा, वाचा, कायेन किसी भी प्रकार के जीव की हिंसा न करें। क्यों नहीं करें? इसके समाधान में दशवैकालिक सूत्र में भगवान्ने कहा

१ " वच्चमुत्त न धारए।" द. वै. अ. ५, गाथा १९।

है—"[1] जगती तल के समग्र जीव-जन्तु जीवित रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता; क्यों कि सब को अपना जीवन प्रिय है। प्राणीवध घोर पाप है; इस लिये निर्ग्रन्थ भिक्षु इस घोर पाप का परित्याग करते हैं।"

इसका अपवाद भी होता है। आचारांग में कहा गया है कि "एक भिक्षु जो कि अन्य मार्ग न होने पर विषम पथ से जा रहा है, यदि वह गिरने लगे, पड़ने लगे तो वह अपने आप को गिरने से बचाने के लिये तरू को, गुच्छ को, गुम्फ को, लता को, वल्ली को तथा तृण, हरित आदि को पकड़ कर संभल जाए और फिर अपने मार्ग पर चढ़ जाय। या ऊपर से नीचे उतर जाय।[2]"

भिक्षु का उत्सर्ग मार्ग तो यह है कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे। परन्तु हरित बनस्पति को पकड़ कर चढ़ने या उतरने में कितनी हिंसा होती है? जीवों की कितनी विराधना होती है? इसी प्रकार भिक्षु को नदी पार करने का विधान भी आया है। यहाँ पर उत्सर्ग को छोड़ कर अपवाद मार्ग पर आना ही पड़ता है। जीवन-आखिर जीवन ही है। उत्सर्ग में रह कर समाधि रहे तो वह ठीक। यदि अपवाद में समाधि भाव रहे तो वह भी ठीक। संयम में समाधि रहे यही मुख्य बात है।

सत्य भाषण यह भिक्षु का उत्सर्ग मार्ग है। दशवैकालिक में कहा है—"[3]मृषावाद, असत्य भाषण लोक में सर्वत्र एवं समस्त महापुरुषों द्वारा यह निन्दित है। असत्य भाषण अविश्वास की भूमि है। इस लिये निर्ग्रन्थ मृषावाद का सर्वथा त्याग करते हैं।"

परन्तु साथ में इसका अपवाद भी है। आचारांग सूत्र में वर्णन आता है कि एक भिक्षु मार्ग में जा रहा था। सामने से एक व्याध या कोई मनुष्य आ गया, बोला-"आयुष्मन् श्रमण! क्या तुमने किसी मनुष्य अथवा पशु आदि को इधर आते-जाते देखा है?" इस प्रकार के प्रसंग पर प्रथम तो भिक्षु उसके वचनों की उपेक्षा कर के मौन रहे। यदि बोलने

---

१ सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गथा वज्जयंति णं॥ —द वै अ ६. गा. ११.

२ "से तत्थ पयलमाणे वा, रुक्खाणि वा, गुच्छाणि वा, गुम्माणि वा, लयाओ वा, वल्लीओ वा, तणाणि वा, हरियाणि वा, अवलंबिय अवलंबिय उत्तरिज्जा ।" —आचाराग, २ श्रुत, ईर्याध्ययन, उद्देश २,

३ "मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥" —द. वै. अ. ६, गा. १२,

जैसी ही स्थिति हो तो 'जानता हुवा भी यह कह दे कि मैं नहीं जानता।'

यहाँ पर असत्य बोलने का स्पष्ट उल्लेख है। यह भिक्षु का अपवाद मार्ग है। इस प्रकार के प्रसंग पर असत्य भाषण भी पापरूप नहीं है दोषरूप नहीं है। सूयगडांग सूत्र में भी यही अपवाद आया है। वहाँ कहा गया है:—

"[2]जो मृषावाद दूसरे को ठगने के लिये बोला जाता है वह हेय है, त्याज्य है; परन्तु जो हित बुद्धि से या कल्याण भावना से बोला जाता है वह दोषरूप नहीं है, पापरूप नहीं है।"

उत्सर्ग मार्ग में अनेषणिक आहार भिक्षु के लिये अभक्ष्य कहा गया है। वह उसकी कल्प की मर्यादा में नहीं है। परन्तु कारणवशात् अपवाद मार्ग में वह अनेषणिय आहार अभक्ष्य नहीं रहता। भिक्षु उसे ग्रहण कर सकता है।

सूयगडांग सूत्र में स्पष्ट कहा जाता है कि "आधाकर्मिक आहार खानेवाले भिक्षु को एकान्त पापी कहना भूल है। उसे एकान्त पापी नहीं कहा जा सकता।"

"[3]अपवाद दशा में आधाकर्म आहार का सेवन करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता। एकान्तरूप में यह कहना कि इसमें कर्मबंध होता है–ठीक नहीं।"

किसी भिक्षुने संथारा कर लिया। भक्त और पान का जीवन भर के लिये त्याग कर दिया है। शिष्य प्रश्न करता है—"[4]भंते! यदि उस भिक्षु को असमाधि भाव हो जाय और वह भक्त पान मागने लगे तो देना चाहिये कि नहीं?"

---

१ "तुसिणीए उवेहिज्जा, जाणं वा नो जाणंति वइज्जा।"
भिक्षोर्गच्छत. कश्चिद् सम्मुखीन एतद् ब्रूयात् आयुष्मन् श्रमण! भवता पथ्यागच्छता कश्चिद् मनुष्यादि-रुपलब्ध? तं चैव पृच्छन्तं तूष्णीभावेनोपेक्षेत। यदि वा जानन्नपि नाहं जानामि, इत्येवं वदेत्।
आ. २ श्रुत, ईर्याध्ययन, उद्देश ३.

२ "सादियं ण मुस बूया, एस धम्मे वुसीमओ।"
यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावाद. स परिहीयते। यस्तु संयमगुप्त्यर्थं न मया मृगा उपलब्धा इत्यादिकः स न दोषाय।"
सूत्रकृताग, अ. ८, गा. १९.

३ अहाकम्माणि भुंजंति अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्तेत्ति जाणिज्जा, अणुवलित्तेति वा पुणो ॥ ८ ॥
एएहिं दोहिं ठाणेहिं ववहारो न विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं अणायार तु जाणए ॥ ९ ॥
सूत्रकृताग, २ श्रुत.
आधाकर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुञ्जानः कर्मणा नोपलिप्यते। तदाधाकर्मेऽपि भोगेनावश्यं कर्मबन्धो भवति, इत्येव नो वदेत्।
—टीका

४ अथ किं कारणं प्रत्याख्याप्य पुनराहारो दीयते?

व्यवहार भाष्य में इसका सुन्दर समाधान दिया गया है। आचार्य कहते हैं।—भिक्षु को असमाधि भाव हो जाने पर और उसके भक्त पान मांगने पर उसे भक्त पान अवश्य दे देना चाहिये; क्यों कि उसकी प्राणों की रक्षा के लिये आहार कवच है।"

शिष्य पूछता है कि त्याग कर देने पर भी भक्त पान क्यों देना चाहिये? आचार्य कहते हैं:—[2]

"भिक्षु की साधना का लक्ष्य है कि वह परीषह की सेना को मनःशक्ति से, वचःशक्ति से और कायबल से जीते।" परीषह सेना के साथ युद्ध वह तभी कर सकता है, जब कि समाधिभाव में रहे। बिना भक्त पान के उसे समाधि भाव नहीं रह सकता; अतः उसे कवचभूत आहार देना चाहिये?

शिष्य प्रश्न करता है—"भंते! संथारा करनेवाला भिक्षु भक्त पान मांगे। उसे न दे और उसकी निन्दा करे तो क्या होता है?" आचार्य कहते हैं—"[3]जो उसकी निन्दा करता है, जो उसकी भर्त्सना करता है, उसको चार मास का गुरु प्रायश्चित आता है।"

भिक्षु का यह उत्सर्ग मार्ग है कि वह अपने चतुर्थ महाव्रत की रक्षा के लिये नव-जात कन्या का भी स्पर्श नहीं करता। परन्तु अपवाद रूप में वह नदी आदि में प्रवाहित होनेवाली भिक्षुणी का हाथ पकड़ कर उसे निकाल भी सकता है। यह भिक्षु का अपवाद मार्ग है।

कथित उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साधक जीवन में जितना महत्व उत्सर्ग का है अपवाद का भी उतना ही महत्व है। उत्सर्ग और अपवाद में से किसी का भी परित्याग नहीं किया जा सकता। दोनों धर्म हैं, दोनों ग्राह्य हैं। दोनों के सुमेल से जीवन स्थिर बनता है। एक समर्थ आचार्य के शब्दों में कहा जा सकता है कि "[4]जिस देश और काल में एक वस्तु अधर्म है, तद्भिन्न देश और काल में वह धर्म भी हो सकती है।"

१ अशने पानके च याचिते तस्य भक्तपानात्मकः कवचभूत आहारो दातव्यः।
व्य भा. उद्देश १०, गा. ५३३, टीका

२ हंदि परीसहचमू जोहेयव्वा मणेण काएण।
तो मरणदेसकाले कवयभूओ उ अहारो॥ ५३४॥
परीषहसेना मनसा, कायेन, (वाचा च) योधेन जेतव्या। तस्याः पराजयनिमित्तं मरणदेशकाले (मरणसमये) योधस्य कवचभूत आहारो दीयते। —व्य. भा. उद्देश १०,

३ यस्तु तं भक्तपरिज्ञाव्याघातवन्तं खिंसयति, (भक्तप्रत्याख्यान प्रतिभग्न एष इति) तस्य प्रायश्चित्त चत्वारो मासा अनुद्घाता गुरुकाः। व्य. भा उद्देश १०, गा. ५५१

४ यस्मिन् देशे काले, यो धर्मो भवति।
स एव निमित्तान्तरेषु, अधर्मो भवत्येव॥

अतिचार रहित चारित्र का पालन करना यह भिक्षु जीवन का लक्ष्य है। यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु देश, काल और परिस्थितिवश यदि अतिचार का सेवन भी करना पड़े तो वह अपवाद मार्ग है। यह भी धर्म है, अधर्म नहीं। यह भी मोक्ष का कारण है, अकारण नहीं। उत्सर्ग के समान अपवाद मार्ग भी मोक्ष में हेतु है।

इस संबंध में व्यवहार भाष्य में कहा गया है कि "अतिचार का सेवन दो तरह से होता है–दर्प से और कल्प से।"

देश, काल और परिस्थितिवश कारण को लेकर अतिचार का सेवन किया जाता है। वही अपवाद रूप धर्म है। और वह अपवाद मार्ग पतन का कारण नहीं, बल्कि कर्म क्षय का ही कारण है। इस कथन का उल्लेख व्यवहार भाष्य में स्पष्ट रूप में आया है। वहाँ कहा गया है कि "जो कारणविशेष में अतिचार का सेवन करता है वह अपवाद मार्ग पर चलनेवाला है। वह आराधक ही है, विराधक नहीं।

विधिवाद और निषेधवाद के मध्य में होकर प्रवाहित होनेवाली जीवन सरिता अपने संलक्ष्य पर अवश्य पहुँचती है। उत्सर्ग और अपवाद के मध्य में होकर चलनेवाला साधक अपनी साधना में अवश्य ही सफल होता है। दोनों आगम विहित मार्ग हैं। यह साधक पर निर्भर है कि किस स्थिति में उत्सर्ग पर चलता है और किस दशा में अपवाद पर चलता है। शास्त्र का काम तो इतना ही है कि दिशा दर्शन कर दे। चलनेवाला तो आखिर साधक ही है।

१ या कारणमन्तरेग प्रति सेवना क्रियते, सा दर्पिका, या पुनः कारणे सा कल्पिका।

व्य. भा. उद्देश १, गा. ३८, टीका.

२ अन्ना वि तु पडिसेवा, सा उ न कम्मोदएग जा जयतो।

सा कम्मक्खयकरणी, दप्पा जय कम्मजगणी उ ॥ ४२ ॥

या कारणे यतमानस्य यतनया प्रवर्तमानस्य प्रतिसेवना, सा कर्मक्षयकरणी। सूत्रोक्तनीत्या कारणे यतनया यतमानस्य ततस्तत्राज्ञाराधनात्।

व्य. भा. उद्देश १,

जैनधर्म का कर्मवाद

पं. चैनसुखदास "न्यायतीर्थ" जैन संस्कृत कालेज, जयपुर

वाद का अर्थ सिद्धान्त है। जो वाद कर्मों की उत्पत्ति, स्थिति और उनकी रस देने आदि विविध विशेषताओं का वैज्ञानिक विवेचन करता है-वह कर्मवाद है। जैनशास्त्रों में कर्मवाद का बड़ा गहन विवेचन है। कर्मों के सर्वांगीण विवेचन से जैनशास्त्रों का एक बहुत बड़ा भाग सम्बद्ध है। कर्मस्कन्ध-परमाणुसमूह होने पर भी हमें दिखता नहीं। आत्मा, परलोक, मुक्ति आदि अन्य दार्शनिक तत्वों की तरह वह भी अत्यन्त परोक्ष है। उसकी कोई भी विशेषता इन्द्रियगोचर नहीं है। कर्मों का अस्तित्व प्रधानतया आप्तप्रणीत आगम के द्वारा ही प्रतिपादित किया जाता है। जैसे आत्मा आदि पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए आगम के अतिरिक्त अनुमान का भी सहारा लिया जाता है, वैसे कर्मों की सिद्धि में अनुमान का आश्रय भी लिया गया है।

जैनों के कर्मवाद को समझने के लिए सचमुच तीक्ष्णबुद्धि और अध्यवसाय की जरूरत है। जैन ग्रन्थकारोंने इसे समझाने के लिए स्थान-स्थान पर गणित का उपयोग किया है। अवश्य ही यह गणित लौकिक गणित से बहुत कुछ भिन्न है। जहा लौकिक गणित की समाप्ति होती है, वहां इस अलौकिक गणित का प्रारंभ होता है। कर्मों का ऐसा सर्वांगीण वर्णन शायद संसार के किसी वाङ्मय में मिले। जैनशास्त्रों को ठीक समझने के लिए कर्मवाद को समझना अनिवार्य है।

कर्मों के अस्तित्व में तर्क—

संसार का प्रत्येक प्राणी परतन्त्र है। यह पौद्गलिक (भौतिक) शरीर ही उसकी परतन्त्रता का द्योतक है। बहुत से अभाव और अभियोगों का वह प्रतिक्षण शिकार बना रहता है। वह अपने आपको सदा पराधीन अनुभव करता है। इस पराधीनता का कारण जैनशास्त्रों के अनुसार कर्म है। जगत में अनेक प्रकार की विषमताएं हैं। आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के अतिरिक्त, जो प्राकृतिक विषमताएं हैं उनका कारण मनुष्यकृत नहीं हो सकता। जब सब में एक सा आत्मा है, तब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट और वृक्ष-लताओं आदि के विभिन्न शरीरों और उनके सुख, दुःख आदि का कारण क्या है? कारण के

विना कोई कार्य नहीं हो सकता। जो कोई इन विषमताओं का कारण है वही कर्म है-कर्मसिद्धान्त यही कहता है।

जैनों के कर्मवाद में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है-उसका अस्तित्व ही नहीं है। उसे जगत की विषमताओं का कारण मानना एक तर्कहीन कल्पना है। उसका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले दार्शनिक भी कर्मों की सत्ता अवश्य स्वीकार करते हैं। 'ईश्वर जगत के प्राणियों को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है'। उनकी इस कल्पना में कर्मों की प्रधानता स्पष्टरूप से स्वीकृत है। 'सब को जीवन की सुविधाएं समान रूप से प्राप्त हों और सामाजिक दृष्टि से कोई नीच-ऊंच नहीं माना जाए'-मानव मात्र में यह व्यवस्था प्रचलित हो जाने पर भी मनुष्य की व्यक्तिगत विषमता कभी कम नहीं होगी। यह कभी संभव नहीं है कि सब मनुष्य एक से बुद्धिमान हों, एकसा उनका शरीर हो, उनके शारीरिक अवयवों और सामर्थ्य में कोई भेद न हों। कोई स्त्री, कोई पुरुष और कोई नंपुसक होना दुनियां के किसी क्षेत्र में कभी बन्द नहीं होगा। इन प्राकृतिक विषमताओं को न कोई शासन बदल सकता है और न कोई समाज। यह सब विविधताएं तो साम्यवाद की चरम सीमा पर पहुंचे हुए देशों में भी बनी रहेंगी। इन सब विषमताओं का कारण प्रत्येक आत्मा के साथ रहनेवाला कोई विजातीय पदार्थ है और वह पदार्थ कर्म है।

कर्म आत्मा के साथ कब से हैं और कैसे उत्पन्न होते हैं?

आत्मा और कर्म का संबंध अनादि है। जब से आत्मा है, तबसे ही उसके साथ कर्म लगे हुए हैं। प्रत्येक समय पुराने कर्म अपना फल दे कर आत्मा से अलग होते रहते हैं और आत्मा के रागद्वेषादि भावों के द्वारा नये कर्म बंधते रहते हैं। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक आत्मा की मुक्ति नहीं होती। जैसे अन्तिम बीज जल जाने पर बीजवृक्ष की परम्परा समाप्त हो जानी है, वैसे ही रागद्वेषादिक विकृत भावों के नष्ट हो जाने पर कर्मों की परम्परा आगे नहीं चलनी। कर्म अनादि होने पर भी सान्त हैं। यह व्याप्ति नहीं है कि जो अनादि हो उसे अनन्त भी होना चाहिए-नहीं तो बीज और वृक्ष की परम्परा कभी समाप्त नहीं होगी।

यह पहले कहा है कि प्रतिक्षण आत्मा में नये २ कर्म आते रहते हैं। कर्मबद्ध आत्मा अपने मन, वचन और काया की क्रिया से ज्ञानावरणादि ८ कर्मरूप और औदारिकादि ४ शरीररूप होने योग्य पुद्गलस्कन्धों का ग्रहण करता रहता है। आत्मा में कषाय हो तो यह पुद्गलस्कन्ध कर्मबद्ध आत्मा के चिपट जाते हैं-ठहरे रहते हैं। कषाय (रागद्वेष) की

तीव्रता और मन्दता के अनुसार आत्मा के साथ ठहरने की कालमर्यादा कर्मों का स्थिति-बन्ध कहलाता है। कषाय के अनुसार ही वे फल देते हैं। यही अनुभवबन्ध या अनुभाग-बंध कहलाता है। योग कर्मों को लाते हैं, आत्मा के साथ उनका संबंध जोड़ते हैं। कर्मों में नाना स्वभावों को पैदा करना भी योग का ही काम है। कर्मस्कन्धों में जो परमाणुओं की संख्या होती है, उसका कम ज्यादा होना भी योगहेतुक है। ये दोनों क्रियाएं क्रमशः प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध कहलाती हैं।

कर्मों के भेद और उनके कारण—

कर्म के मुख्य आठ भेद हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। जो कर्म ज्ञान को प्रकट न होने दे वह ज्ञानावरणीय, जो इन्द्रियों को पदार्थों से प्रभावान्वित नहीं होने दे वह दर्शनावरणीय, जो सुखदुःख का कारण उपस्थित करे अथवा जिससे सुखदुःख हो वह वेदनीय, जो आत्मरमण न होने दे वह मोहनीय, जो आत्मा को मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक के शरीर में रोक रक्खे वह आयु, जो शरीर की नाना अवस्थाओं आदि का कारण हो वह नाम, जिससे ऊंच-नीच कहलावे वह गोत्र और जो आत्मा की शक्ति आदि के प्रकट होने में विघ्न डाले वह अन्तराय कर्म है।

संसारी जीव के कौन २ से कार्य किस २ कर्म के आस्रव के कारण हैं-यह जैन शास्त्रों में विस्तार के साथ बतलाया गया है। उदाहरणार्थः—ज्ञान के प्रकार में बाधा देना, ज्ञान के साधनों को छिन्न-भिन्न करना, प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाना, आवश्यक होने पर भी अपने ज्ञान को प्रकट न करना और दूसरों के ज्ञान को प्रकट न होने देना आदि अनेकों कार्य ज्ञानावरणीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। इसी प्रकार अन्य कर्मों के आस्रव के कारणों को भी जानना चाहिये। जो कर्मास्रव से बचना चाहे वह उन कार्यों से विरक्त रहे जो किसी भी कर्म के आस्रव के कारण हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के छट्ठे अध्याय में आस्रव के कारणों का जो विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है वह हृदयंगम करने योग्य है।

कर्म आत्मा के गुण नहीं हैं—

कुछ दार्शनिक कर्मों को आत्मा का गुण मानते हैं। पर जैन मान्यता इसे स्वीकार नहीं करती। अगर पुण्यपापरूप कर्म आत्मा के गुण हों तो वे कभी उसके बन्धन के कारण नहीं हो सकते। यदि आत्मा का गुण स्वयं ही उसे बांधने लगे तो कभी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। बन्धन मूल वस्तु से भिन्न होता है। बन्धन का विजातीय होना जरूरी है।

अगर कर्मों को आत्मा का गुण माना जाय तो कर्म नाश होने पर आत्मा का नाश भी अवश्यंभावी है; क्यों कि गुण और गुणी सर्वथा भिन्न २ नहीं होते। बन्धन आत्मा की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है; किन्तु अपना ही गुण अपनी ही स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कर सकता। पुण्य और पाप नामक कर्मों को यदि आत्मा का गुण मान लिया जाय तो इनके कारण आत्मा पराधीन नहीं होगा। और यह तर्क एवं प्रतीति सिद्ध है कि ये दोनों आत्मा को परतंत्र बनाए रखते हैं। इस लिए ये आत्मा के गुण नहीं, किन्तु एक भिन्न द्रव्य हैं। यह भिन्न द्रव्य पुद्गल है। यह रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाला एवं जड़ है। जब राग-द्वेषादिक विकृतियों के द्वारा आत्मा के ज्ञानादि गुणों को घातने का सामर्थ्य जड़ पुद्गल में उत्पन्न हो जाता है, तब यही कर्म कहलाने लगता है। यह सामर्थ्य दूर होते ही यही पुद्गल दूसरी पर्याय धारण कर लेता है।

कर्म आत्मा से कैसे अलग होते हैं?

आत्मा और कर्मों का सयोग संबंध है। इसे ही जैनपरिभाषा में एकक्षेत्रावगाह संबंध कहते हैं। सयोग तो अस्थायी होता है। आत्मा के साथ कर्म संयोग भी अस्थायी है। अतः उसका विघटन अवश्यंभावी है। खान से निकले हुए स्वर्णपाषाण में स्वर्ण के अतिरिक्त विजातीय वस्तु भी है। वह ही उसकी अशुद्धता का कारण है। जब तक वह अशुद्धता दूर नहीं होती, उसे सुवर्णत्व प्राप्त नहीं होता। जितने अंशों में वह विजातीय संयोग रहता है उतने अंशों में सोना अशुद्ध रहता है। यही हाल आत्मा का है। कर्मों की अशुद्धता को दूर करने के लिए आत्मा को बलवान प्रयत्न करने पड़ते हैं। इन्हीं प्रयत्नों का नाम तप है। तप का प्रारंभ भीतर से होता है। बाह्य तपों को जैनशास्त्रों में कोई महत्त्व नही दिया गया है। अभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिए जो बाह्य तप अनिवार्य हैं वे स्वतः ही हो जाते हैं। तपों का जो अन्तिम भेद ध्यान है वही कर्मनाश का कारण है। श्रुतज्ञान की निश्चल पर्यायें ही ध्यान हैं। यह ध्यान उन्हीं को प्राप्त होता है जिन का आत्मोपयोग शुद्ध है। शुद्धोपयोग ही मुक्ति का साक्षात् कारण अथवा मुक्ति का स्वरूप है। आत्मा की पाप और पुण्यरूप प्रवृत्तिएं उसे संसार की ओर खींचती हैं। जब इन प्रवृत्तियों से वह उदासीन हो जाता है, तब नये कर्मों का आना रूक जाता है। इसे ही जैनशास्त्रों की परिभाषा में "संवर" कहा गया है। संवर हो जाने पर जो पूर्व संचित कर्म हैं वे अपना रस देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और नये कर्म आते नहीं, तब आत्मा की मुक्ति हो जाती है। एक बार कर्मबन्धन से आत्मा अलग होकर फिर कभी कर्मों से संपृक्त नहीं होता। मुक्ति का प्रारंभ है, पर अन्त नहीं है। वह अनन्त है। मुक्ति ही आत्मा का चरम पुरुषार्थ है। इसकी प्राप्ति अभेदरत्नत्रय से होती है।

जैनशास्त्रों में कर्मों के नाश होने का अर्थ है आत्मा से उनका अलग हो जाना। यह तर्कसिद्ध है कि किसी पदार्थ का कभी नाश नहीं होता। उसका केवल रूपान्तर होता है। पदार्थ पूर्वपर्याय को छोड़ कर उत्तर पर्याय ग्रहण कर लेता है। कर्मपुद्गल कर्मत्व पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय धारण कर लेते हैं। उनके विनाश का यही अर्थ है।

"**सतो नात्यन्तसंक्षयः**" (आप्तपरीक्षा)

"**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**" (गीता)

"**नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति**" (स्वयंभूस्तोत्र)

आदि जैनाजैन महान् दार्शनिक सत् के विनाश का और असत् के उत्पाद का स्पष्ट विरोध करते हैं। जैसे साबुन आदि फेनिल पदार्थों से धोने पर कपड़े का मैल नष्ट हो जाता है अर्थात् दूर हो जाता है, वैसे ही आत्मा से कर्म दूर हो जाते हैं। यही कर्मनाश, कर्ममुक्ति अथवा कर्मभेदन का अर्थ है। जैसे आग में तपाने की विशिष्ट प्रक्रिया से सोने का विजातीय पदार्थ उससे पृथक् हो जाता है, वैसे ही तपस्या से कर्म दूर हो जाते हैं।

कर्मबंधन और मोक्ष

पं० मिश्रीलाल बोहरा जैन " न्यायतीर्थ, " इन्दौर

आत्मा मिथ्यात्वादि कारणों द्वारा अपने साथ जो कर्मवर्गणा के पुद्गल बांधता है वही कर्म है। अथवा अंजनचूर्ण परिपूर्ण से डिबिया के तुल्य निरंतर पुद्गल परमाणुओं से भरे हुए इस लोक में क्षीर-नीर न्याय से अथवा लोहाग्नि न्याय से कर्म पुद्गल की वर्गणा को आत्मा अपने साथ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योगादि अभ्यंतर एवं बाह्य हेतुओं का संबद्ध करता है वही कर्म है। कर्म रूपी है-अरूपी नहीं, क्योंकि कर्मबंधन से आत्मा को उपघात होता है या अनुग्रह भी होता है। यदि कोई शंका करे कि अरूपी आत्मा को उपघात अथवा अनुग्रह कैसे हो सकता है ? समाधान में शास्त्रकार कहते हैं कि बुधजन को मद्यपान से मति-संभ्रम का उपघात और ब्राह्मी सेवन से मति का अनुग्रह होता है। यद्यपि यह आत्मा शुभाशुभ कर्म समय-समय पर बांधता है व छोड़ता भी है; परन्तु प्रवाह से कर्मबंध आत्मा को अनादि से है। अन्यथा कर्मबंधन से पूर्व आत्मा निर्लेप था और फिर कर्मबंध हुआ-इससे तो फिर सिद्ध परमात्मा को भी कर्मबंधन होना चाहिये; अत एव कर्मबंधन 'अनादिकं तत् प्रवाहेण' इस वचन से कर्मबंध अनादि है। यहां पर कोई यह कहे कि अनादि संयोग का वियोग कैसे हो सकता है ? उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि 'काञ्चनोपलवत्' न्याय से यह आत्मा कर्मों से भवस्थिति परिपक्व होने पर विमुक्त हो जाता है। जैसे सुवर्ण और उपल (मिट्टी) का संयोग अनादि है; पर तथाविध सामग्री से उनका वियोग हो जाता है। श्री सिद्धसेनदिवाकर महाराजने कल्याणमंदिर में कहा भी है कि—

" ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन, देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके, चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥ "

प्रत्येक आत्मा रागद्वेषादि विभाव कारणों से अनादिकाल से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग सेवन करके अष्ट कर्मों का संचय करता है। जैसे स्निग्ध (चिकटे) वस्त्र को रज जलदी ही चिपकती है, वैसे ही रागद्वेष रूपी चिकनाई के कारण इस आत्मा को कर्मरज लग जाती है। क्षीर-नीर की तरह आत्मा के साथ कर्म मिल जाते हैं और जब तक वीतराग देव के परम हितकारी वचनानुसार तप-संयम का सेवन करने में आता नहीं, वहाँ तक यह आत्मा स्वकीय स्वाभाविक गुणों के आस्वादन से पूर्ण वंचित रह कर विभावदशा में रागद्वेष

व मोह के वशीभूत होकर बारंबार जन्म-मरण के कष्टों को सहन करता रहता है। ऐसे कर्मजन्य विपाक से परिमुक्त होकर आत्मा के स्वकीय नैसर्गिक गुणों का आस्वादन करना प्रत्येक भव्यजनों का कर्त्तव्य है। हमें दुःख का कारण कर्म को समझना प्रथम कर्त्तव्य है; क्योंकि कारण के विना कार्य नहीं होता। अतः दुःख के कारण कर्म के स्वरूप, कर्म की मूल व उत्तर प्रकृति तथा बंध, उदय, उदीरणा व सत्ता इन्हें भलिभाँति समझना चाहिये। इनसे छुटकारा पाने के लिए सुख के कारण तत्त्वश्रद्धारूप-सम्यग्दर्शन, तत्त्वप्रकाशक-सम्यग्ज्ञान व तत्त्व आचरण-सम्यक्चारित्र के स्वरूप को समझ कर रत्नत्रयी धारण करना चाहिये। जैसे मलिन वस्त्र विशेष प्रकार से जल साबून द्वारा शुद्ध किया जाता है, ठीक वैसे ही यह आत्मा भी रत्नत्रयी द्वारा कर्मरज के मल से परिमुक्त होकर पूर्ण पवित्र सिद्धात्मा तुल्य बन जाता है।

विश्व के विचार-प्रांगण में जैन तत्त्वज्ञान की गंभीरता

श्री रतनलाल संघवी "न्यायतीर्थ-विशारद" छोटी सादड़ी.

विषय की पृष्ठ-भूमि—

विशाल विश्व के विस्तृत सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रांगण में आजदिन तक अनेक विचारधाराऐं और विविध दार्शनिक कल्पनाऐं उत्पन्न होती रही हैं और पुनः कालक्रम से अनन्त के गर्भ में विलीन हो गई हैं। किन्तु कुछ ऐसी विशिष्ट, शांतिप्रद, गंभीर तथा तथ्ययुक्त विचारधाराऐं भी समय-समय पर प्रवाहित हुई हैं; जिनसे कि मानव-संस्कृति में सुखशांति, आनंद-मंगल, कल्याण और अभ्युदय का संविकास हुआ है।

इन दार्शनिकता और तात्विकताप्रधान विचारधाराओं में जैनदर्शन तथा जैनतत्त्व-ज्ञान का अपना विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। इस जैन तत्त्वज्ञान की विमलधाराने मानवसंस्कृति में और तत्त्वज्ञान की विचारणा में महान् कल्याणकारी और क्रांतियुक्त परिवर्तन किये हैं। इससे मानव-व्यवहार और मानव-संस्कृति के विकास की प्रवाहदिशा ही मुड़ गई है। जैनतत्त्वज्ञानने मानवधर्मों के आचारक्षेत्र और विचारक्षेत्र-दोनों में ही मौलिक क्रांति की है और दोनों ही क्षेत्रों में अपनी महानता की विशिष्ट तथा स्थायी छाप छोड़ी है।

चौवीस तीर्थंकरसंबंधी जैनपरंपरा के अनुसार जैनतत्त्वज्ञान की प्राचीन मीमांसा और समीक्षा नहीं करते हुए आधुनिक इतिहास और विद्वानोंद्वारा मान्य दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीरस्वामी के युग के इतिहास पर विचारपूर्वक दृष्टिपात करें तो प्रामाणिकरूप से पता चलता है कि उस युग में भारत की संस्कृति वैदिक रीतिनीतिप्रधान थी। उत्तर-भारत और दक्षिण-भारत के अधिकांश भाग में वैदिक यज्ञ-याग करना, वेद-मंत्रों का उच्चारण करके जीवित विभिन्न पशुओं को ही अग्नि में होम देना, बलिदान किये हुए पशुओं के मांस को पका कर खाना और इसी रीति से यज्ञ के मांस द्वारा पूर्वजों का तर्पण करना ही धर्म का रूप समझा जाता था। ईश्वर के अस्तित्व को एक विशिष्ट शक्ति के रूप में कल्पना करके उसे ही सारे विश्व का नियामक-कर्त्ता-हर्त्ता और स्रष्टा मानना, वर्ण-व्यवस्था का निर्माण करके शूद्रों को पशुओं से भी गया बीता समझना-इस प्रकार की धार्मिक विकृति और सांस्कृतिक विकृति महावीरयुग में हो चली थी।

समाज पर और राज्य पर ब्राह्मण-संस्कृति का, उपरोक्त वैदिकपद्धति का प्राधान्य हो

चला था, वेदानुयायी तथाकथित ब्राह्मणवर्ग राजावर्ग पर अपना वर्चस्व स्थापित कर चुका था और इस प्रकार समाज में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ही सर्वस्व थे । धर्ममार्ग 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति ' के आधार पर कलुषित तथा उन्मार्गगामी हो चला था । ऐसी विषम और विपरीत परिस्थितियों में दीर्घ तपस्वी महावीरस्वामीने इस तपोपूत ऋषि-भूमि भारत पर आज से २५४० (पच्चीस सौ चालीस) वर्ष पूर्व जैनधर्म को मूर्त्तरूप प्रदान किया । चूं कि वर्तमान जैनतत्त्वज्ञान की धारा भगवान् महावीर के काल से ही प्रवाहित हुई है; अत एव इस निबन्ध की परिधि भी इसी काल से प्रारंभ होकर उत्तरकाल से संबंधित समझी जानी चाहिये, न कि प्राक् ऐतिहासिक काल से ।

महावीरस्वामीने इस सारी परिस्थिति पर गम्भीर विचार किया और उन्हें यह तथाकथित धार्मिकता विपरीत, आत्म-घातक, पाप-पंक से कलुषित और मिथ्या प्रतीत हुई। उन्होंने अपने असाधारण व्यक्तित्व के बल पर मानवजाति के आचारमार्ग में और विचार-क्षेत्र में आमूल-चूल क्रांति करने के लिये अपना सारा जीवन देने का और राजकीय तथा गृहस्थसंबंधी भोगोपभोगजनित सुखों का बलिदान देने का दृढ़ निश्चय किया ।

इनके मार्ग में भयंकर और महती कठिनाइयाँ थीं; क्यों कि इन द्वारा प्रस्तुत की जानेवाली क्रांति का विरोध करने के लिये भारत का तत्कालीन सारा का सारा ब्राह्मणवर्ग और ब्राह्मणवर्ग का अनुयायी करोड़ों की संख्यावाला भारतीय जनता का जनमत था । राज्यसत्ता और वैदिक अंध-विश्वासों पर आश्रित, अजेय शक्तियुक्त जनमत इनके क्रान्तिमार्ग पर, पग-पग पर, कांटे बिछाने के लिये याने उपसर्ग और बाधाएं उपस्थित करने के लिये तैयार खड़ा था।

निर्मम और निर्दय हिंसाप्रधान यज्ञों के स्थान पर आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक तपप्रधान सहिष्णुता का उन्हें विधान करना था एवं मांसाहार का सर्वथा निषेध करके अहिंसा को ही मानव इतिहास में एक विशिष्ट और सर्वोपरि सिद्धान्त के रूप में प्रस्थापित करना था । ईश्वरीय विविध कल्पनाओं के स्थान पर स्वाश्रयी आत्मा की अनंत शक्तियों का दर्शन कराकर वैदिक मान्यताओं में एवं वैदिक विधि-विधानों में क्रांति लाना था । ईश्वर और आत्मासंबंधी तत्त्वज्ञानमय विचारधारों को आत्मा की ही प्राकृतिक स्वभाव-जनित अनंतता में प्रवाहित करना था ।

इस प्रकार असाधारण और विषमतम कठिनाइयों के बीच तप, तेज और त्याग के बल पर अपनी अनुपम कष्टसहिष्णुता के आधार पर अश्रुतपूर्व तपस्वी भगवान् महावीर-स्वामी द्वारा प्रगति दिया हुआ विचारमार्ग ही जैनदर्शन अथवा जैनधर्म कहलाया ।

इस प्रकार भगवान् महावीरस्वामी का महान् तपस्यापूर्ण बलिदान बतलाता है कि

उन्होंने अपनी तपोपूत निर्मल आत्मा में धर्म का मौलिक स्वरूप प्राप्त किया, जिसके बल पर उनका आध्यात्मिक कायाकल्प हो गया। ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, आत्मविश्वास और भूत-दया के अमूल्य तत्त्व उनकी आत्मा में परिपूर्णता को प्राप्त हो गये।

उनके महान् ज्ञानने उन्हें संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अनादि, अनन्त और अपरिमेय एवं शाश्वत् धर्म-सिद्धान्तों के साथ संयोजित कर दिया। जहाँ संसार के अन्य अनेक महात्मा इतिहास में खड़े हैं; वहीं हम प्रातःवन्दनीय भगवान् महावीरस्वामी को अपने अलौकिक आत्मतेज से चमकते हुए असाधारण तेजस्वी के रूप में देखने हैं। सुदीर्घ तपस्या से प्रज्वलित उनका जीवन, 'सत्य और अहिंसा' के दर्शन के लिये किया हुआ एक अत्यंत असाधारण और अनुपम शक्तिशाली सफल प्रयत्नवाला दिखलाई पड़ता है। सत्य और अहिंसा की दुरभिगम्य समस्या को उन्होंने अपने आत्म-बलिदान द्वारा सुलझाया। आज के इस वैज्ञानिकता-प्रधान विश्व में हम में से प्रत्येक को उसे अपने लिये सुलझाना है। उनका आदर्श, उनकी कष्ट-सहिष्णुता और ध्येय के प्रति उनकी अविचल दृढ़ निष्ठा हमें बल और संकेत प्रदान करती हैं, हमारे धैर्य को सहारा देती है और बतलाती है कि यही मार्ग सच्चा है। इसी मार्ग द्वारा हम अवश्य सफल हो सकते हैं। बशर्ते कि हमारे प्रयत्न भी सच्चे हों। अब हमें यह देखना है कि भगवान् महावीरस्वामीने जैनधर्म के रूप में विश्वसंस्कृति के आचारक्षेत्र तथा विचारक्षेत्र को क्या २ विशेषताएँ प्रदान की हैं।

अहिंसा की स्थापना।

मानव-जाति का आज दिन तक जितना भी प्रामाणिक और विद्वन्मान्य इतिहास का अनुसंधानपूर्ण पता चला है, उससे यह प्रामाणिक रूप से सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर स्वामी द्वारा प्रेरित जैनधर्म के पूर्वकाल में याने महावीरयुग के प्रारंभ होने के पूर्व-समय में इस पृथ्वी पर कई मानवजाति मांस आहार करनेवाली थीं। विविध पशुओं का मांस खाने में न तो पाप माना जाता था और न मांस-आहार के प्रति परहेज ही था एवं न घृणा ही। ऐतिहासिक उल्लेखानुसार सर्व प्रथम मानवजाति में से मांस-आहार को परित्याग कराने की परिपाटी और परंपरा प्रामाणिक रूप से तथा अविचल दृढ़ श्रद्धा के साथ जैनधर्मने ही प्रस्थापित की है।

ज्ञानबल के द्वारा और आचारबल के द्वारा मानवजाति को मांस-आहार से मोड़ने का सर्वप्रथम श्रेय जैनधर्म को ही है। इस प्रकार "विश्वधर्मों की आधारशिला एवं प्रमुखतम आचार-सिद्धान्त अहिंसा ही है तथा अहिंसा ही हो सकती है-' ऐसी महान् और अपरिवर्तनीय मान्यता मानवजाति में पैदा करनेवाला सर्वप्रथम धर्म जैनधर्म ही है। इस ऐतिहासिक

तत्त्व को विश्व के गण्य-मान्य विद्वानोंने सर्व-सम्मत सिद्धान्त मान लिया है। विश्व के अन्य धर्म अहिंसा की इतनी सूक्ष्म, गंभीर और व्यवहारयोग्य योजना प्रस्तुत नहीं करते हैं-जैसी कि जैनधर्म प्रस्तुत करता है।

जैनधर्मने अपने कठिन तप-प्रधान आचारबल के आधार पर और अकाट्यतर्कसंयुक्त ज्ञानबल के आधार पर संपूर्ण हिन्दू धर्म बनाम वैदिक धर्म पर और महान् व्यक्तित्वशील बौद्धधर्म पर ऐसी ऐतिहासिक अमिट छाप डाली कि सदैव के लिये 'अहिंसा ही धर्म की जननी है' यह सर्वोत्तम और स्थायी सिद्धान्त "धार्मिक-क्षेत्रों" में स्वीकार कर लिया गया। जैनधर्म की इस अमूल्य और सर्वोत्कृष्ट देन के कारण ही ईसाई, मुस्लिम आदि इतर धर्मों में भी अहिंसा की प्रकाशयुक्त कुछ किरणें प्रविष्ट हो सकी हैं।

जैन-संस्कृति सदैव अहिंसावादिनी, सूक्ष्म प्राणियों की भी रक्षा करनेवाली और मानवजीवन के विविध क्षेत्रों में भी अहिंसा का सर्वाधिक प्रयोग करनेवाली रही है। इस दृष्टि-कोण से जैनतत्त्वज्ञानने जीव-विज्ञान का अति सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययनयोग्य विवेचन किया है जो कि विश्व साहित्य का सुन्दर, रोचक तथा ज्ञानवर्धक अध्याय है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि जैनधर्म की अहिंसासंबंधी देन की तुलना विश्वसाहित्य में और विश्वसंस्कृति में इतर सभी धर्मों की देनों के साथ नहीं की जा सकती है। क्योंकि अहिंसासंबंधी यह देन बेजोड़ है, असाधारण है और मौलिक है। यह उच्च मानवता एवं सरस सात्विकता को लानेवाली है। यह देन मानव को पशुता से उठा कर देवत्व की ओर प्रगति कराती है; अतः मानव इतिहास में यह अनुपम और सर्वोत्कृष्ट देन है।

आज के युग के महापुरुष, विश्वविभूति राष्ट्रपिता पूज्य गांधीजी के व्यक्तित्व के पीछे भी इसी जैनसंस्कृति से उद्भूत अहिंसा की शक्ति छिपी हुई थी-इसे कौन नहीं जानता है?

जैनधर्म में मानव की समानता

अहिंसा के महान् व्रत और असाधारण सिद्धान्त का मानव-जीवन के लिये व्यावहारिक तथा क्रियात्मक रूप देने के लिये दैनिक क्रियाओं संबंधी और जीवनसंबंधी अनेकानेक नियमों तथा विधि-विधानों का भी जैनधर्मने संस्थापन और समर्थन किया है। तदनुसार जैन-सिद्धान्तों में वर्ण-व्यवस्था को कोई स्थान नहीं है। जैनधर्म वर्ण-व्यवस्था को हेय दृष्टि से देखता है; क्यों कि मानव-मानव में भेद करना स्पष्टतः हिंसा करना है। जैन-संविधान में मानवमात्र समान है और मानवता का संविकास करना ही जैनधर्म का मूलभूत लक्ष्य है। अतः वर्ण-व्यवस्था का तिरस्कार करता हुआ जैन तत्त्वज्ञान आदेश देता है कि जन्म की दृष्टि से न तो कोई उच्च है और न कोई नीच; किन्तु अपने-अपने अच्छे अथवा बुरे

आचरणों द्वारा ही समाज में कोई नीच अथवा कोई उच्च हो सकता है। मानवमात्र अपने आप में स्वयं एक ही है। मानवता एक और अखण्ड है। सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विधि-विधानों का मानवमात्र समान अधिकारी है। जो अपने आप को जैन कहता हुआ भी अन्य को इन अधिकारों के उपयोग में बाधक होता है अथवा अन्य को इन अधिकारों से वंचित करता है वह जैनधर्म के अनुसार मिथ्यात्वी है और जैन नहीं है; किन्तु जैनाभास है। भगवान् की आज्ञा का वह विराधक है और तदनुसार उसे नरक में जाना पड़ेगा ऐसा शास्त्र में स्पष्टतः उल्लेख है।

किसी भी धर्म को जो केवल निवृत्तिप्रधान बतलाता है वह अपरिमार्जनीय भयंकर भूल करता है। जैनधर्म भी सात्विक और नैतिक प्रवृत्ति का विधान करता हुआ मानवसंस्कृति तथा मानवजीवन के विकास के लिये विविध पुण्य के कामों का स्पष्ट उल्लेख और आदेश देता है। उपलब्ध भूतकालीन प्रामाणिक इतिहास से यह बात पूर्णतः संपुष्ट है कि कुशल शासक, सफल सेनापति, योग्य व्यौपारी, कर्मण्यसेवक और आदर्श गृहस्थ बनने के लिये जैनधर्म में कोई रुकावट नहीं है। इसी लिये विभिन्न काल और विभिन्न क्षेत्रों में समय-समय पर जैनसमाज द्वारा संचालित आरोग्यालय, भोजनालय, शिक्षणालय, वाचनालय, अनाथालय, जलाशय और विश्रामस्थान आदि-आदि रूप से किये जानेवाले सत्कार्यों की प्रवृत्ति का लेखा देखा जा सकता है।

जाति, देश, रंग, लिंग, भाषा, वेश, नकल, वंश और काल का कृत्रिम भेद होते हुए भी मूल में मानवमात्र एक ही है। अतः मानवमात्र को एक ही और समान ही समझो और मानव के हित में मानव की विना किसी भी प्रकार की भेदभावना के श्रद्धापूर्वक सेवा करो। यह है जैनधर्म की अप्रतिम और अमर घोषणा—जो कि जैनतत्त्वज्ञान की महानता को विश्व के सभी धर्मों के सामने सचाई और वास्तविकता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देती है।

आत्मतत्त्व और ईश्वरवाद

ईस्वी सन् एक हजार वर्ष पूर्व से लगा करके ईस्वी सन् बीसवीं शताब्दी तक के युग में याने व्यतीत हुए इन तीन हजार वर्षों में भारतीय साहित्य के ज्ञानसंपन्न प्रांगण में आत्मतत्त्व और ईश्वरवाद के संबंध में हजारों ग्रंथों का निर्माण किया गया। कुल मिलाकर लाखों ऋषि-मुनियोंने, तत्त्व-चिंतकों ने और आत्म-मनीषियोंने, ज्ञानियों तथा दार्शनिकों ने इस विषय पर गंभीर अध्ययन, मनन, चिंतन और अनुसंधान किया है। इस विषय को लेकर भिन्न भिन्न समय में सैकड़ों राज्यसभाओं में घन-घोर और तुमुल शास्त्रार्थ हुए हैं। इसी प्रकार इस विषय पर मतभेद होने पर अनेक प्रगाढ़ पांडित्य-संपन्न दिग्गज विद्वानों को देशनिकाला भी

दिया गया है। शास्त्रार्थ में तात्कालिक और तथाकथित पराजय हो जाने पर अनेक विद्वानों को विविध रीतिसे मृत्यु-दंड भी दिया गया है। इस प्रकार भारतीय दर्शनशास्त्रों का यह एक प्रमुखतम और सर्वोच्च विचारणीय विषय रहा है।

जैनदर्शन ईश्वरत्व को स्वीकार करता हुआ उसको केवल एक आदर्श और उत्कृष्ट-तम ध्येय मानता है। जैनतत्त्वज्ञान ईश्वर को विश्व का बनानेवाला याने स्रष्टा और नियामक एवं पालक नहीं मानता है। ईश्वरत्व अनुभोग्य एवं एक लक्ष्यरूप है। ईश्वरत्व प्रत्येक आत्मा का उत्कृष्टतम विकास मात्र है; और इसके सिवाय कुछ नहीं। इन उक्त पंक्तियों की अति सामान्य और अति स्थूल व्याख्या निम्न प्रकार है:—

जैनदर्शन की मान्यता है कि संपूर्ण ब्रह्मांड याने अखिल लोक में केवल दो तत्त्व ही हैं। एक तो जड़रूप अचेतनात्मक पुद्गल और दूसरा चेतनाशील आत्मतत्त्व। इन दो तत्त्वों के आधार से ही संपूर्ण विश्व का निर्माण हुआ है। सपूर्ण ज्ञात और अज्ञात विश्व के हर क्षेत्र में, हर स्थान में और हर अंश में, यहाँ तक कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग में ये दोनों ही तत्त्व परस्पर में दूध-पानी की तरह समिश्रित रूप से भरे पड़े हैं। कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ कि ये दोनों तत्त्व घुले-मिले न हों। फिर भी इनका अपना-अपना अस्तित्व सत्ता की दृष्टि से स्वतंत्र और पृथक्-पृथक् है। इनकी अनेक अवस्थाएँ हैं। इनके अनेक रूपान्तर और पर्यायें हैं। विविध प्रकार की इनकी स्थिति है। इस प्रकार सपूर्ण विश्व के आधार का ढाँचा मूलतः इन दोनों तत्त्वों के आधार पर ही बना हुआ है। इन दो के अतिरिक्त तीसरा और कोई नहीं है।

जड़-पुद्गल अनेक शक्तियों में बिखरा हुआ है। इस की संपूर्ण शक्तियों का पता लगाना मानव-शक्ति और वैज्ञानिकों के भी बहिर की बात है। रेडियो, वायर्लेस, तार, टेलीविजन, रेडार, वाष्प-शक्ति, विद्युत-शक्ति, अणुबम, कीटाणुबम, हाईड्रोजनबम, इथर तत्त्व, कास्मिक-किरणें, युरेनियम, थोरेनियम, तारा-नक्षत्रों की बनावट का मूल आधार और दृश्यमान् जगत् के सभी पदार्थ आदि विभिन्न रीति से दिखलाई पड़नेवाले शक्ति के साधन केवल इस जड़ तत्त्व के ही रूपान्तर मात्र हैं। इस प्रकार की अनंतानंत शक्तियाँ इस जड़ तत्त्व में निहित हैं जो कि स्वाभाविक, प्राकृतिक और कालातीत है। इससे विपरीत चेतन तत्त्व है। यह भी संपूर्ण संसार के हर क्षेत्र, हर स्थान और हर अंश में अनंतानंत रूप से सघन लोहे के परमाणुओं के समान पिंडीभूत है। जैसे समुद्र के तल से लगा कर सतह तक जल ही जल भरा रहता है और तल-सतह के बीच में कोई भी स्थान जल से खाली नहीं

रहता है; वैसे ही अखिल विश्व में कोई भी स्थान ऐसा खाली नहीं है जहाँ कि चेतन-तत्त्व अनंतानंत मात्रा में न हो। जैसे जल के प्रत्येक कण में जो कुछ तत्त्व और जो कुछ शक्ति है, वैसा ही तत्त्व और वैसी ही शक्ति समुद्र के संपूर्ण जल में है। इसी तरह से समूह रूपेण पिंडी-भूत संपूर्ण चेतन तत्त्व में जो-जो शक्तियाँ अथवा वृत्तियॉ हैं; वे ही और उतनी ही शक्तियाँ, वृत्तियॉ भी एक-एक चेतन-कण में अथवा प्रत्येक आत्मा में हैं। ये वृत्तियाँ अनंतानंत रूप हैं और शक्तियॉ भी अपरिमित हैं, जो कि इस चेतन-कण में स्वाभाविक हैं, प्राकृतिक हैं, अनादि हैं, अक्षय हैं और परस्पर में तादात्म्यरूप हैं। इन्हीं से चेतन-शक्ति बनी हुई है और चेतन-शक्ति से ही इनका अस्तित्व है। ये परस्पर में उपादान-कारणरूप हैं। इन का अस्तित्व अनादि-अनंतरूप है। ये शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा के साथ सहजात और सहचर धर्मवाली हैं। सांसारिक अवस्था में परिभ्रमण करते समय आत्मा की इन शक्तियों के साथ पुद्गलों का अति सूक्ष्मतम से अति सूक्ष्मतम अदर्शनीय आवरण अनिष्ट वासनाओं के कारण से और वृत्तियों के संस्कारों से संमिश्रित रहता है। इस कारण से ये शक्तियाँ मलीन, विकृत, अविकसित, अर्धविकसित एवं विपरीत रूप से विकसित आदि नाना रूपों में प्रस्फुटित होती हुई देखी जाती हैं।

चेतनतत्त्व सामूहिक पिंड में संबद्ध होने पर भी प्रत्येक चेतन-कण का अपना-अपना अलग-अलग अस्तित्व है। समूह से अलग हो कर वह अपना पूर्ण और सांगोपांग विकास कर सकता है। जैसा कि हम प्रतिदिन देखते हैं कि विभिन्न चेतन कणोंने मनुष्य-तिर्यंच आदि अवस्थाओं के रूप में अपना-अपना विकास करके इन अवस्थाओं को प्राप्त किया हैं और यदि विकास की गति नहीं रुके तो निरन्तर विकास करता हुआ प्रत्येक चेतन-कण ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है-जो कि विकास और ज्ञान की तथा पवित्रता एवं सर्वोच्चता की अंतिम श्रेणी है। यह 'परमतम सर्वश्रेष्ठ विकासशील अवस्था' प्रत्येक चेतन-कण में स्वाभाविक है; परन्तु 'उसका विकास कर सकना अथवा विकास नहीं कर सकना' यह प्रत्येक चेतन-कण के अपने-अपने प्रयत्न और अपनी-अपनी परिस्थिति पर निर्भर है। प्रत्येक चेतन-कण में अर्थात् प्रत्येक आत्मा में यह स्वाभाविक शक्ति है कि वह अपने स्वरूप को ईश्वर-रूप में परिणित कर सकता है और इस प्रकार अपने में विकसित, अखण्ड, परिपूर्ण और विपलज्ञान द्वारा विश्व की संपूर्ण अवस्थाओं को और उसके हर अंश को देख सकता है।

प्रत्येक आत्मा अनादि है, अक्षय है, नित्य है, शाश्वत है, अचिन्त्य है, शब्दातीत है, अगोचर है; मूल रूप से ज्ञानस्वरूप है, निर्मल है, अनन्त सुखमय है। सारांश यह है कि साक्षात् ईश्वरस्वरूप ही है। इस कारण से सभी प्रकार की सांसारिक मोह और माया आदि

विकृतियों से यह आत्म-तत्त्व मूलतः पूर्णतया रहित है और उनसे भिन्न है। प्रत्येक आत्मा अनंत शक्तिशाली और अनंत सात्विक सद्गुणों का पिंड-मात्र है। वास्तविक दृष्टि से ईश्वरत्व और आत्म-तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। यह जो विभिन्न प्रकार का अन्तर दिखलाई पड़ रहा है उसका कारण बाह्य-कारणों से संलग्न और उसमें विजड़ित वासनाएं और संस्कार हैं। इन्हीं से विकृतिमय अन्तर अवस्था की उत्पत्ति होती है। वासना और संस्कारों के हटते ही आत्मा का मूल स्वरूप प्रगट हो जाया करता है। जैसे कि बादलों के हटते ही सूर्य का प्रकाश और धूप निकल आती है, वैसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिये। अखिल विश्व में और संपूर्ण ब्रह्माण्ड में अनंतानंत गुणित अनंतानंत आत्माएं पाई जाती हैं। इनकी गणना कर सकना ईश्वरीय ज्ञान के भी बहिर की बात है। ये अपरिमित और अनुपमेय संख्या में विद्यमान हैं। परन्तु सभी आत्माओं में गुणों की एक समानता होने के कारण से जैनदर्शन का यह दावा है कि प्रत्येक आत्मा सात्विकता और नैतिकता के बल पर ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है; याने अपने में स्थित सम्पूर्ण ईश्वरत्व को प्रत्येक चेतनकणरूप आत्मा प्रकटित कर सकता है। इस प्रकार आजदिन तक अनेकानेक आत्मा-ओंने ईश्वरत्व की प्राप्ति की हैं। ईश्वरत्व प्राप्ति के पश्चात् ये आत्माएं भूतकाल में ईश्वरत्व-प्राप्त अनेकानेक आत्माओं की ज्योति में उनके समान ही उद्भूत ज्योतिरूप होती हुई अभिन्नरूप से संमिश्रित हो जाती हैं तथा परस्पर में समान रूप से एकत्व और एकरूपत्व प्राप्त कर लेती हैं। इस प्रकार अंतरहित समय के लिये याने सदैव और निरन्तर के लिये ये आत्माएं इस संसार से परिमुक्त हो जाती हैं।

मुक्त होने के पश्चात् संसार में पुनः लौटकर आना उनके लिये सर्वथा असंभव हो जाता है। क्यों कि संसार-आगमन का कारण संस्कार और वासनाएँ हैं जो कि उन मुक्त आत्माओं से सर्वथा आत्यंतिक रूप से विलग हो चुकी हैं। इस प्रकार संसार का कारण नष्ट हो जाने से पुनः जन्म-मरण जैसे कार्य भी आत्यंतिक रूप से क्षीण हो जाया करते हैं। उपरोक्त रीति से मुक्त और ईश्वरत्वप्राप्त आत्मायें पूर्णतया वीतरागी होने से संसार के सर्जन, विनाशन, रक्षण, परिवर्धन और नियमन आदि प्रवृत्तियों से सर्वथा परिमुक्त होती हैं। वीतरागता के कारण से ही सांसारिक प्रवृत्तियों में भाग लेने का उनके लिये कोई कारण शेष नहीं रह जाता है। यह है जैनदर्शन की 'आत्मतत्त्व और ईश्वरत्व' विषयक मौलिक दार्शनिक विचारधारा जो कि हर आत्मा में पुरुषार्थ, स्वाश्रयता, कर्मण्यता, नैतिकता, सेवा, परोपकार एवं सात्विकता की उच्च और उदात्त लहर पैदा करती है।

संसार में जो विभिन्न-विभिन्न आत्म-तत्त्व की श्रेणियाँ दिखाई दे रही हैं उनका कारण

मूल-गुणों में विकृति की न्यूनाधिकता है। जिस-जिस आत्मा में जितना-जितना सात्विक गुणों का विकास है वह आत्मा उतनी ही ईश्वरत्व के पास है और जिसमें जितनी-जितनी विकृति की अधिकता है उतनी-उतनी ही वह ईश्वरत्व से दूर है। सांसारिक आत्माओं में परस्पर में पाई जानेवाली विभिन्नता का कारण सात्विक, तामसिक और राजसिक वृत्तियाँ हैं जो कि हर आत्मा के साथ कर्मरूपसे, संस्काररूपसे और वासनारूपसे संयुक्त हैं।

वेदान्त-दर्शन संबंधी ' ब्रह्म और माया ' का विवेचन, सांख्य-दर्शन संबंधी ' पुरुष और प्रकृति ' की व्याख्या, बौद्ध-दर्शन संबंधी ' आत्मा और वासना ' का उल्लेख तथा जैन-दर्शन संबंधी उक्त ' आत्मा और कर्म ' का सिद्धान्त मूल में काफी समानता रखते हैं। शब्द-भेद, भाषा-भेद और विवेचन-प्रणालिका-भेद होने पर भी अर्थ में, मूल तात्पर्य में और मूल-दार्शनिकता में भेद प्रतीत नहीं होता है। जैसा जैन-दर्शन का कथन है उसीके अनुरूप भिन्न २ शब्दों के वेश में और भिन्न २ कथन-प्रणाली के ढाँचे में उसी एक तात्पर्य को याने ' आत्मा ही ईश्वर है ' इसी बात को उक्त सभी दर्शन कहते हैं।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि जैन-दर्शन की मान्यता ' वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक ' आदि वैदिक बनाम हिन्दू-धर्म के अनुसार तथा इस्लाम-क्रिश्चियन आदि मत--मतान्तरों के अनुसार केवल ' ईश्वर एक ही है-' ऐसी नहीं हो कर अपने ही प्रयत्नों द्वारा विकास की सर्वोच्च और अंतिम श्रेणि प्राप्त करनेवाली, निर्मलता और ज्ञान की अखण्ड तथा अक्षय धारा प्राप्त करनेवाली और इस प्रकार ईश्वरत्व प्राप्त करनेवाली अनेकानेक आत्माओं की सर्वोच्च विमलज्ञान-ज्योति के रूप में सम्मिलित होकर तदनुसार प्राप्त होनेवाले परमात्मवाद में है। इस प्रकार अनंत आत्माओंने अपना-अपना विकास करके उस सर्वोच्च पद को अक्षय काल के लिये प्राप्त किया है जिसे ' ईश्वरत्व ' कहा जाता है। परन्तु यह ध्यान में रहे कि ईश्वरत्वप्राप्त सभी आत्माओं में प्रगटित और विकसित गुणों की संख्या और स्थिति सर्वथा एक ही है। उनमें परस्पर में किसी भी प्रकार की भिन्नता अथवा विशेषता नहीं होती हैं। अतः सभी ईश्वरत्वप्राप्त आत्माओं की सादृश्यता होने से और ईश्वरत्व जैसे गुण की एक-रूपता होने से यह भी कहा जा सकता है कि मूल दृष्टि से ईश्वर एक ही है। यह कथन गुणों की प्रधानता से है। आत्माओं की संख्या की दृष्टि से तो यह कहना पड़ेगा कि ईश्वर अनेक हैं; क्योंकि ईश्वरत्वप्राप्त आत्माएं अनेक हैं। इस तरह से प्रमाणित है कि ' ईश्वर एक भी है और अनेक भी हैं ' जो कि स्याद्वाद दृष्टि से निर्बाध है।

अत एव इस सृष्टि का कर्त्ता, हर्त्ता, रक्षक और नियामक कोई एक ईश्वर नहीं है; परन्तु इस सृष्टि की संपूर्ण प्रक्रिया स्वाभाविक है। इसी बात को वेदान्त दर्शन और सांख्य

दर्शन भी क्रम से कहते हैं कि 'माया और प्रकृति' द्वारा ही विश्व का संचालन हो रहा है। 'ब्रह्म और पुरुष' तो दर्शक मात्र हैं, निष्क्रिय जैसे हैं। अतः ईश्वरकृत सृष्टि के सिद्धान्त को निषेध करनेवाले जैन, बौद्ध, वेदान्त और सांख्य इस दृष्टि से लगभग एक ही कोटि में आते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि हर आत्मा का उत्थान और पतन अपने-अपने कृत कर्मों के अनुसार ही हुआ करता है। ईश्वरत्व जैसी शक्ति का विश्व के संचालन में न तो प्रत्यक्ष रूप से ही हस्तक्षेप है और न परोक्षरूप से ही वह ईश्वर इस विश्व का संचालन किया करता है।

ईश्वरकर्तृत्व जैसी संस्कार-बद्ध जड़-मान्यता के विरोध में उपरोक्त प्रकार की सैद्धान्तिक और मौलिक दार्शनिक क्रांति भगवान् महावीरस्वामीने निडर हो कर केवल अपने आत्म-बल के आधार पर प्रस्थापित की, जो कि अजेय और सफल प्रमाणित हुई। तत्कालीन ईश्वर-कर्तृत्व मान्यता के अधिनायकरूप प्रचंड और प्रबल प्रवाह के प्रतिकूल प्रभु महावीर अपने 'पुरुषार्थ द्वारा साध्य प्रभुपद' की प्रस्थापना के प्रचार-कार्य में असदिग्ध रूप से विजयी हुए। परिणाम यह प्रसूत हुआ कि वैदिक मान्यता क्षीण होती हुई निर्बलता की ओर बढती गई। तत्कालीन गण-राज्य, राजागण, जनता और मध्यमवर्ग तेजी के साथ वैदिक मान्यताओं का परित्याग करते हुए और भगवान् महावीरस्वामी के शासन-चक्र में प्रविष्ट होते हुए देखे गये।

साधारणतः संपूर्ण मानवजाति हजारों ही नहीं, किन्तु लाखों वर्षों से यह मानती आई है कि ईश्वर ही इस सृष्टि का कर्ता है-प्राणियों के सुख-दुःख का वह विधाता है। वह ईश्वर ही हमें मोक्ष, स्वर्ग, नरक आदि गतियां प्रदान किया करता है। इस प्रकार मानवजाति ईश्वर पर ही एक मात्र आश्रित रही है। आत्मा की स्वतंत्र-शक्ति और इसके पुरुषार्थमय प्रयत्न पर आज दिन तक अविश्वास ही किया जाता रहा है। परन्तु धन्य है उन असाधारण तपस्वी और अतुलनीय आत्म-बलशाली प्रभु महावीरस्वामी को, जिन्होंने कि ईश्वर-कर्तृत्व-वाद के सामने विद्रोह का झंड़ा लहराया और ईश्वर से डरने वाली जनता के सामने अपनी आत्म-शक्ति का विश्वास कराया तथा उन्हें यह समझाया किः—

अप्पा कत्ता-विकत्ता य; दुहाण य सुहाण य।
अप्पा कामदुहाधेणू; अप्पा मे नन्दणं वणं॥

यह अपनी आत्मा ही सुखों की अथवा दुःखों की कर्त्ता और विकर्त्ता है। यह आत्मा ही कामधेनु है और नंदनवन भी यह आत्मा ही है। इस प्रकार लाखों वर्षो के जड़बद्ध विचार के प्रतिकूल नवीन विचारधारा का प्रस्तुत करना अलौकिक शक्ति का प्रदर्शन करना है। विश्व-विचार-क्षेत्रमें जैन-दर्शन की यह सर्वथा मौलिक और गंभीर भेंट है कि जिसके

द्वारा पुरुषार्थ और प्रयत्न की ओर मानव जनता को उत्साहपूर्ण प्रेरणा मिलती है। इस विचार-क्रांति की कोटि की अन्य विचारधारा ढूंढ़ने पर भी शायद ही मिल सकेगी।

इस प्रकार महावीर-युग में प्रचलित यज्ञ-प्रणाली में हिंसा-अहिंसा की मान्यता में, वर्ण-व्यवस्था में और दार्शनिक-सिद्धान्तों में आमूल-चूल परिवर्तन देखा गया। यह सब महिमा केवल ज्ञात-पुत्र, निर्गंथ, श्रमण भगवान् महावीरस्वामी की कड़क तपस्या और गंभीर दार्शनिक सिद्धान्तों की है।

वेदों पर आश्रित तथा कथित वैदिक सभ्यताने मध्य-युग में भी जैन-धर्म और जैन-दर्शन को खत्म करने के लिये भारी प्रयत्न किये; किन्तु वह असफल रही। इस प्रकार प्रत्येक चेतन-कणरूप आत्मा की अखंडता का, उसके विभु-स्वरूप का, उस की व्यापक शक्ति का अपने आप में परिपूर्णता का, ईश्वर से सर्वथा निरपेक्ष रहते हुए अपनी पूर्ण स्वतंत्रता का और स्वयमेव ईश्वरस्वरूप ही है-ऐसी स्व-आश्रयता का विधान करके जैन-दर्शन विश्व-साहित्य में 'आत्मवाद और ईश्वरवाद' संबंधी अपनी मौलिक विचार-धारा प्रस्तुत करता है-जो कि मानव-संस्कृति को महानता और स्वतंत्रता की ओर बढ़ाने वाली है। अतएव भारतीय राजनीति के क्षेत्र में सैकड़ों वर्षों तक विदेशी भीषण आक्रमणों, देश में आई हुई हीनतम गुलामी की आंधियों, पारस्परिक फूट की विनाशक विभीषिकाओं, समय-समय पर उत्पन्न अतिवृष्टि-अनावृष्टिजनित दुर्भिक्षों की जंजालमय बेडियों और अन्य धर्मों की असहिष्णुतामय दुर्भावनाओं के द्वारा प्रबल और प्रचंड प्रहार करने पर भी जैन-दर्शन की यह मौलिक विचार-धारा ज्यों की त्यों अक्षुण्ण ही रही-इसका मूल कारण इस में निहित शुभ, प्रशस्त और हितावह मौलिक विचार-क्रांति ही है। निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो विदित होगा कि इसकी आत्मवादसंबंधी विचार-धारा बे जोड़ है और त्रिकाल सत्य है।

स्याद्वाद अर्थात् निर्लेप दृष्टिकोण—

दार्शनिक सिद्धान्तों के इतिहास में स्याद्वाद का स्थान सर्वोपरि है। स्याद्वाद का उल्लेख सापेक्षवाद, अनेकान्तवाद अथवा सप्तभंगीवाद के नाम से भी किया जाता है। विविध और परस्पर में विरोधी प्रतीत होनेवाली मान्यताओं का और विपरीत तथा विघातक विचार-श्रेणियों का समन्वय करके सत्य की शोध करना, दार्शनिक संक्लेश को मिटाना और धर्मों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को मोतियों की माला के समान एक ही सूत्र में अनुस्यूत कर देना अर्थात् पिरो देना ही स्याद्वाद की उत्पत्ति का रहस्य है। निःसदेह जैनधर्मने स्याद्वाद सिद्धान्त की व्यवस्थित रीति से स्थापना करके और युक्ति-संगत विवेचना करके विश्व-साहित्य में विरोध और विनाशरूप विविधता को सर्वथा मिटा देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

विश्व के मानव-समूहने सभी देशों में, सभी कालों में और सभी परिस्थितियों में नैतिकता तथा सुख-शांति के विकास के लिये समयानुसार आचार-शास्त्र एवं नीति-शास्त्र के जो भिन्न-भिन्न नियम और परंपराए स्थापित की हैं वे ही धर्म के रूप में विख्यात हुई और तात्कालिक परिस्थिति के अनुसार उनसे मानव-समूहने विकास, सभ्यता और शांति भी प्राप्त की। किन्तु कालान्तर में वे ही परंपरायें अनुयायियों के हठाग्रह से सांप्रदायिकता के रूप में परिणित होती गई; जिससे धार्मिक-क्लेश, मतांधता, अदूरदर्शिता, हठाग्रह आदि दुर्गुण उत्पन्न होते गये और अखण्ड मानवता एक ही रूप में विकसित नहीं होकर खण्ड-खण्ड रूप में होती गई। ईसी लिये नये-नये धर्मों की, नये-नये आचार-शास्त्रों की और नये-नये नैतिक नियमों की आवश्यकता होती गई और तदनुसार इनकी उत्पत्ति भी होती गई। इस प्रकार सैंकड़ों पन्थ और मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये और इनका परस्पर में द्वंद्व युद्ध भी होने लगा। खण्डन-मण्डन के हजारों ग्रंथ बनाये गये। सैंकड़ों बार शास्त्रार्थ हुए और मानवता धर्म के नाम पर कदाग्रह के कीचड़ में फंस कर सक्लेशमय हो गई। ऐसी गम्भीर स्थिति में कोई भी धर्म अथवा मत-मतान्तर पूर्ण सत्यरूप नहीं हो सकता है। सापेक्ष रूप से सत्यमय हो सकता है। इस सापेक्ष सत्य को प्रकट करनेवाली एक मात्र वचन-प्रणाली स्याद्वाद के रूप में ही हो सकती है। अत एव स्याद्वाद सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में और मानवता के विकास में असाधारण महत्व रखता है; और इसीका आश्रय लेकर पूर्ण सत्य प्राप्त करते हुए सभ्यता और संस्कृति का समुचित संविकास किया जा सकता है।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ अस्तिरूप अथवा सत्‌रूप है। जो सत्‌रूप होता है वह पर्याय-शील होता हुआ नित्य याने अविनाशी होता है। पर्यायशीलता और नित्यता के कारण से ही हर पदार्थ अनन्त धर्मोंवाला और अनन्त गुणोंवाला है तथा इन्हीं अनन्त धर्म-गुणों के कारण से ही एक ही समय में और एक ही साथ उन सभी धर्म-गुणों का शब्दों द्वारा कथन भी नहीं किया जा सकता है-इसी लिये स्याद्वादमय भाषा की और भी अधिक आव-श्यकता प्रमाणित हो जाती है। 'स्यात्' शब्द इसी लिये लगाया जाता है कि जिससे संपूर्ण पदार्थ उसी एक अवस्थारूप नहीं समझ लिया जाय। अन्य गुण-धर्मों का भी और अन्य अवस्थाओं का भी अस्तित्व उस पदार्थ में है-यह तात्पर्य 'स्यात्' शब्द से जाना जाता है।

'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद है, संभवतः है, कदाचित् है-' ऐसा नहीं है; क्यों कि ये सब संशयात्मक हैं। अतएव 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'अमुक निश्चित् अपेक्षा से-' ऐसा संशय-रहित स्वरूपवाला है। यह 'स्यात्' शब्द सुव्यवस्थित दृष्टिकोण को बतलानेवाला है। मतांधता के कारण से ही दार्शनिकोंने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय

किया है और आज भी अनेक विद्वान् इसको विना समझे ही कुछ का कुछ लिख दिया करते हैं।

'स्यात् रूपवान् वस्त्र है' अर्थात् अमुक अपेक्षा से कपड़ा रूपवाला है। इस कथन में केवल कपड़े के रूप से ही तात्पर्य है; और उसी कपड़े में रहे हुए गंध, रस, स्पर्श आदि गुण-धर्मों से अभी कोई तात्पर्य नहीं है। इस का यह अर्थ नहीं है कि 'कपड़ा रूपवाला ही है और अन्य गुण-धर्मों का निषेध है।' अत एव इस कथन में यह रहस्य है कि रूप की प्रधानता है और अन्य शेष की गौणता है-नकि निषेधता है। इस प्रकार अनेक विधि से वस्तु को क्रमसे और मुख्यता-गौणता की शैली से बतलाने वाला वाक्य ही स्याद्वाद सिद्धान्त का अंश है। 'स्यात्' शब्द नियामक है; जो कि कथित गुण-धर्म को वर्तमान काल में मुख्यता प्रदान करता हुआ उसी पदार्थ में रहे हुए शेष गुण-धर्मों के अस्तित्व की भी रक्षा करता है। इस प्रकार 'स्यात्' शब्द वर्णन किये जाने वाले गुण-धर्म की मर्यादा की रक्षा करता हुआ शेष धर्मों के अस्तित्व को भी स्वीकार करता हुआ परोक्ष रूपसे उनका भी प्रतिनिधित्व करता है। जिस शब्द द्वारा पदार्थ को वर्तमान में प्रमुखता मिली है वही शब्द अकेला ही सारे पदार्थत्व को घेर कर नहीं बैठ जाय; बल्कि अन्य सहचारी धर्मों की भी रक्षा हो-यह कार्य 'स्यात्' शब्द करता है।

'स्यात् वस्त्र नित्य' है-यहां पर कपड़ा रूप पुद्गल द्रव्य की सत्ता के दृष्टिकोण से नित्यत्व का कथन है और पर्यायों की गणना की दृष्टि से अनित्यता की गौणता है। इस प्रकार त्रिकाल सत्य को शब्दों द्वारा प्रकट करने की एक मात्र शैली स्याद्वाद ही हो सकती है। प्रतिदिन के दार्शनिक झगड़ों को देखता हुआ सामान्य व्यक्ति न तो धर्म के रहस्य को ही समझ सकता है और न आत्मा एवं ईश्वर-संबंधी गहन तत्त्व का ही अनुभव कर सकता है। उल्टा विभ्रम में फंस कर कषाय का शिकार बनजाता है। इस दृष्टि कोण से अनेकान्तवाद मानव-साहित्य में बे जोड़ विचार-धारा है। इस विचार-धारा के बल पर ही जैन-धर्म विश्व के धर्मों में सर्वाधिक शांति-प्रस्थापक और सत्य के प्रदर्शक का पद प्राप्त कर-लेता है। इस प्रकार अनेकान्तवाद ही सत्य को स्पष्ट कर सकता है। क्यों कि सत्य एक सापेक्ष तत्त्व है। सापेक्षिक सत्य द्वारा ही असत्य का अंश निकाला जा सकता है और इस प्रकार पूर्ण सत्य तक पहुंचा जा सकता है। इसी रीति से मानव के लिये ज्ञान-कोष की श्री वृद्धि हो सकती है जो कि सभी विज्ञानों की अभिवृद्धि करती है। अद्वैतवाद के समर्थ और महान् आचार्य श्री शंकराचार्य और अन्य विद्वानों द्वारा समय-समय पर किये जाने वाले प्रचंड प्रचार और प्रखर शास्त्रार्थ के कारण से ही बौद्ध-दर्शन सरीखा महान् प्रबल दर्शन तो भारत से

निर्वासित हो गया और लंका, बर्मा, चीन, जापान एवं तिब्बत आदि देशों में जाकर विशेष रूप से पल्लवित हुआ; जबकि जैन-दर्शन प्रबलतम साहित्यिक बाधाओं और प्रचंड तार्किक आक्रमणों के सामने भी टिका रहा। इसका कारण केवल 'स्याद्वाद' सिद्धान्त ही है। इसी का आश्रय ले कर जैन विद्वानोंने प्रत्येक सैद्धान्तिक-विवेचना में इसको मूल आधार बनाया।

स्याद्वाद सिद्धान्त जैन तत्त्वज्ञानरूप आत्मा का प्रखर प्रतिभासंपन्न मस्तिष्क है, जिस की प्रगति पर यह जैन-दर्शन जीवित है और जिसके अभाव में यह जैन-दर्शन समाप्त हो जाता है।

मध्य-युग में भारतीय क्षितिज पर होनेवाले राजनैतिक तूफानों में और विभिन्न धर्मों द्वारा प्रेरित साहित्यिक और वाद-विवादात्मक शास्त्रार्थ आँधियों में भी जैनदर्शन का हिमालय के समान अडोल और अचल बने रहना केवल स्याद्वाद सिद्धान्त का ही प्रताप है। जिन जैनेतर दार्शनिकोंने इसे संशयवाद अथवा अनिश्चयवाद कहा है; निश्चय ही उन्होंने इसका गम्भीर अध्ययन किये बिना ही ऐसा लिख दिया है। आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सभी दार्शनिकोंने एवं महामति मीमांसकाचार्य कुमारिल भट्ट आदि भारतीय धुरंधर विद्वानोंने इस सिद्धान्त का शब्द रूप से खण्डन करते हुए भी प्रकारान्तर से और भावान्तर से अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विरोधों के उत्पन्न होने पर विरोधात्मक विवेचनरूप विविधताओं का समन्वय करने के लिये इसी सिद्धान्त का आश्रय लिया है।

दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीरस्वामीने इस सिद्धान्त को 'सिया अत्थि, सिया नत्थि, सिया अवक्तवं' के रूप में फरमाया है। जिस का यह तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु-तत्त्व किसी अपेक्षा से वर्तमानरूप होता है और किसी दूसरी अपेक्षा से वही नाशरूप भी हो जाता है। इसी प्रकार से तीसरी अपेक्षा विशेष से वही तत्त्व त्रिकाल सत्तारूप होता हुआ भी शब्दों द्वारा अवाच्य अथवा अकथनीय रूपवाला भी हो सकता है।

जैन तीर्थङ्कर कहे जानेवाले पूज्य भगवान् अरिहंतोंने इसी सिद्धान्त को 'उप्पन्ने वा, विगमेइ वा, धुवेइवा'-इन तीन शब्दों द्वारा 'त्रिपदी' के रूप में संग्रन्थित कर दिया है। इस त्रिपदी का जैन-आगमों में इतना अधिक महत्त्व और सर्वोच्चशीलता बतलाई है कि जिनके श्रवण-मात्र से ही गणधरों को चोदह पूर्वों का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। द्वादशाङ्गीरूप वीतराग-वाणी का यह हृदय-स्थान कहा जाता है।

भारतीय साहित्य के सूत्ररूप रचना-युग में निर्मित और जैन-संस्कृत-साहित्य में सर्वप्रथम रचित होने से महान् तात्विक आदि ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ-सूत्र' में इसी सिद्धान्त का

' उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ' इस सूत्र के द्वारा उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो सत् याने रूप अथवा भावरूप है उसमें प्रत्येक क्षण-क्षण में नवीन-नवीन पर्यायों की उत्पत्ति होती ही रहती है एवं पूर्व पर्यायों का नाश अथवा परिवर्तन होता रहता है; परन्तु फिर भी मूल द्रव्य की द्रव्यता, मूल सत् की सत्ता पर्यायों के परिवर्तन होते रहने पर भी ध्रौव्यरूप से बराबर कायम रहती है। विश्व का कोई भी पदार्थ इस स्थिति से वंचित नहीं है।

भारतीय साहित्य के मध्य-युग में तर्क-जाल- संगुम्फित घनघोर शास्त्रार्थ रूप संघर्ष-मय समय में जैन-साहित्यकारोंने इसी स्याद्वाद सिद्धान्त को ' स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात् अवक्तव्यं ' इन तीन शब्द-समूह के आधार पर सप्तभङ्गी के रूप में स्थापित किया है। इस प्रकारः—

(१) " उप्पन्ने वा, विगएवा, धुवे वा " नामक अरिहंत-प्रवचन,

(२) " सिया अत्थि, सिया नत्थि, सिया अवक्तव्वं " नामक आगम-वाक्य,

(३) " उत्पाद-ध्रौव्य-युक्तं सत् " नामक संस्कृत-शब्द सूत्र और

(४) " स्याद् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अवक्तव्यं " नामक संस्कृत वाक्य।

ये सब स्याद्वाद-सिद्धान्त के वाचक रूप हैं, शब्द रूप कथानक हैं अथवा भाषा रूप शरीर हैं। स्याद्वाद का यही बाह्य रूप है।

स्याद्वाद के संबंध में विस्तृत लिखने का यहाँ पर अवसर नहीं है; अत एव विस्तृत जानने के इच्छुक महानुभाव अन्य ग्रंथों से इस विषयक ज्ञान प्राप्त करें। इस प्रकार विश्व-साहित्य में जैन-दर्शन द्वारा प्रस्तुत अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद एक अमूल्य और विशिष्ट योगदान है, जो कि सदैव उज्ज्वल नक्षत्र के समान विश्वसाहित्याकाश में अति ज्वलंत ज्योति के रूप में प्रकाशमान होता रहेगा और विश्व-धर्मों के संघर्ष में चीफजस्टिस याने सौम्य प्रधान न्याय-मूर्त्ति के रूप में अपना गौरवशील स्थायी स्थान बनाये रक्खेगा।

कर्मवाद और गुणस्थान—

जैन-दर्शन ईश्वरीय-शक्ति को विश्व के कर्त्ता, हर्त्ता और धर्त्ता के रूप में नहीं मानता है, जिस का तात्पर्य ईश्वरीय सत्ता का विरोध करना नहीं है; अपितु आत्मा ही कर्ता है और आत्मा ही भोक्ता है-इसमें नियामक का कार्य स्वकृत कर्म ही करते हैं। कर्म का उल्लेख वासना शब्द से, संस्कार शब्द से और प्रारब्ध शब्द से तथा ऐसे ही अन्य शब्दों द्वारा भी किया जा सकता है। ये कर्म अचेतन हैं, रूपी हैं, पुद्गलों के अति सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतम अंश से निर्मित होते हैं। ये अखिल लोक-व्यापी होते हैं। कर्म-समूह अचेतन और जड़ होने पर

भी प्रत्येक आत्मा में रहे हुए विकारों और कषायों के बल पर 'जड़-औषधि के गुण-दोष अनुसार' अपना फल यथा समय में और यथा रूप में प्रदर्शित कर दिया करते हैं।

इस कर्म-सिद्धान्त का विशेष स्वरूप कर्मवाद के ग्रंथों से जानना चाहिये। यहाँ तो इतना ही पर्याप्त होगा कि कर्म-वाद के बल पर जैन-धर्मने पाप-पुण्य की व्यवस्था का प्रामाणिक और वास्तविक सिद्धान्त कायम किया है। पुनर्जन्म, मृत्यु, मोक्ष आदि स्वाभाविक घटनाओं की संगति कर्म-सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित की है। सांसारिक अवस्था में आत्मासंबंधी सभी दशाओं और सभी परिस्थितियों में कर्म-शक्ति को ही सब कुछ बतलाया है। फिर भी आत्मा यदि जागृत और सचेत हो जाय तो कर्म-शक्ति को परास्त करके अपना संविकास करने में स्वयं समर्थ हो सकती है।

कर्म-सिद्धान्त जनता को ईश्वर-कर्तृत्व और ईश्वर-प्रेरणा जैसे अंध-विश्वास से मुक्त करता है और इसके स्थान पर आत्मा की स्वतंत्रता का, स्व-पुरुषार्थ का, सर्व-शक्ति-संपन्नता का और आत्मा की परिपूर्णता का ध्यान दिलाता हुआ इस रहस्य का उल्लेख करता है कि प्रत्येक आत्मा का अंतिम ध्येय और अंतिम विकास ईश्वरत्व-प्राप्ति ही है।

जैन-धर्मने प्रत्येक सांसारिक आत्मा की दोष-गुण-संबंधी और ह्रास-विकास-संबंधी आध्यात्मिक-स्थिति को जानने के लिये, निरीक्षण के लिये और परीक्षण के लिये 'गुण-स्थान' के रूप में एक आध्यात्मिक जाँच प्रणाली अथवा माप-प्रणाली भी स्थापित की है, जिस की सहायता से समीक्षा करने पर और मीमांसा करने पर यह पता चल सकता है कि कौनसी सांसारिक आत्मा कषाय आदि की दृष्टि से कितनी अविकास-शील है और कौनसी आत्मा चारित्र आदि की दृष्टि से कितनी विकास-शील है?

यह भी जाना जा सकता है कि प्रत्येक सांसारिक आत्मा में मोह की, माया की, ममता की, तृष्णा की, क्रोध की, मान की और लोभ आदि वृत्तियों की क्या स्थिति है? ये दुर्वृत्तियाँ कम मात्रा में हैं अथवा अधिक मात्रा में? ये उदय अवस्था में हैं अथवा उपशम अवस्था में हैं? इन वृत्तियों का क्षय हो रहा है अथवा क्षयोपशम हो रहा है? इन वृत्तियों की परस्पर में उदीरणा और संक्रांति भी हो रही है अथवा नहीं? सत्तारूप से इन वृत्तियों का खजाना कितना और कैसा है? कौनसी आत्मा सात्विक वृत्तिवाली है और कौनसी आत्मा तामसिक वृत्तिवाली? तथा कौनसी राजस् प्रकृति की है? अथवा अमुक आत्मा में इन तीनों प्रकृतियों की संमिश्रित स्थिति कैसी क्या है? कौनसी आत्मा देवत्व और मानवता के उच्च गुणों के नजदीक है और कौन आत्मा इनसे दूर है?

उपरोक्त अति गम्भीर आध्यात्मिक समस्या के अध्ययन के लिये जैनदर्शनने 'गुण-

स्थान ' बनाम आध्यात्मिक क्रमिक विकास-शील श्रेणियाँ भी निर्धारित की हैं जिनकी कुल संख्या चौदह हैं। यह अध्ययन-योग्य, चिंतन-योग्य और मनन-योग्य एक सुन्दर, सात्विक और विशिष्ट विचार-धारा है-जो कि मनोवैज्ञानिक पद्धति के आधार पर आंतरिक-वृत्तियों का उपादेय और हितावह चित्रण है।

इस विचार-धारा का वैदिक-दर्शन में भूमिकाओं के नाम से और बौद्ध-दर्शन में अवस्थाओं के नाम से उल्लेख और वर्णन पाया जाता है; किन्तु जैन-साहित्य में इसका जैसा सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन सुसंयम और सुव्यवस्थित पद्धति से पाया जाता है उसका अपना एक विशेष स्थान है और वह विद्वानों के लिये और विश्व-साहित्य के लिये अध्ययन एवं अनुसंधान का विषय है।

भौतिक विज्ञान और जैन-खगोल आदि—

जैन-साहित्य में खगोल-विषय के संबंध में भी इस ढंग का वर्णन पाया जाता है कि जो आज के वैज्ञानिक खगोलज्ञान के साथ वर्णन का भेद; भाषा का भेद; और रूपक का भेद होने पर भी अर्थान्तर से तथा प्रकारान्तर से बहुत कुछ सदृश ही प्रतीत होता है।

आज के भौतिक-विज्ञानने सिद्ध करके बतलाया है कि प्रकाश की चाल प्रत्येक सेकिंड में एक लाख छीयासी हजार (१,८६०००) मील की है। इस हिसाब से (३६५¼ दिन × २४ घंटा × ६० मिनिट × ६० सेकिंड × १,८६०००) मील जितनी महती और विस्तृत दूरी के माप के लिहाज से ' एक आलोक वर्ष ' ऐसी संज्ञा वैज्ञानिकोंने दी है। वैज्ञानिकों का कहना है कि आकाश में ऐसे-ऐसे तारे हैं, जिनका प्रकाश यदि यहाँ तक आ सके तो उस प्रकाश को यहाँ तक आने में सैकड़ों ' आलोक-वर्ष ' तक का समय लग सकता है। ऐसे ताराओं की संख्या लौकिक भाषा में अरबों-खरबों तक की खगोल-विज्ञान बतलाता है। आकाश-गङ्गा बनाम निहारिका नाम से ताराओं की जो अति सूक्ष्म झांकी एक लाइन के रूप से आकाश में रात्रि के आठ बजे के बाद से दिखाई देती है उन ताराओं की दूरी यहाँ से सैकड़ों ' आलोक-वर्ष ' जितनी वैमानिक विद्वान् कहा करते हैं।

इस विषय में जैन-दर्शन का कथन है कि (३८११२९७० मन × १०००) इतने मनों के वजन का एक गोला पूरी शक्ति से फेंका जाने पर छः महिने, छः दिन, छः पहर, छः घड़ी और छः पल में जितनी दूरी वह गोला पार करे, उतनी दूरी का माप ' एक राजू ' कहलाता है। इस प्रकार यह संपूर्ण ब्रह्मांड याने अखिल लोक केवल चौदह राजू जितनी ऊंचाई का है और चौड़ाई में केवल सात राजू जितना है। अब विचार कीजियेगा कि

वैज्ञानिक सैकड़ों और हजारों आलोक वर्ष नामक दूरी-परिमाण में और जैन-दर्शनसम्मत राजू के दूरी-परिमाण में कितनी सादृश्यता है ?

इसी प्रकार सैकड़ों और हजारों आलोक वर्ष जितनी दूरी पर स्थित जो तारे हैं वे परस्पर में एक-दूसरे की दूरी के लिहाज से करोड़ों और अरबों मील जितने अन्तर वाले हैं और इनका क्षेत्रफल भी करोड़ों और अरबों मील जितना है। इस वैज्ञानिक तथ्य की तुलना जैन-दर्शनसम्मत वैमानिक देवताओं के विमानों की पारस्परिक दूरी और उनके क्षेत्रफल के साथ कीजियेगा तो पता चलता है कि क्षेत्रफल के लिहाज से परस्पर में कितना वर्णनसाम्य है।

वैमानिक देवताओं के विमानरूप क्षेत्र परस्पर की स्थिति की दृष्टि से एक दूसरे से अरबों मील दूर होने पर भी मूल देवता याने मुख्य इन्द्र के विमान में आवश्यकता के समय में 'घंटा' की तुमुल घोषणा याने ध्वनि-विशेष होने पर शेष संबंधित लाखों मीलों की दूरी पर स्थित लाखों विमानों में उसी समय बिना किसी भी दृश्यमान आधार के और किसी भी पदार्थ द्वारा संबंध रहित होने पर भी 'वायर-लेस पद्धति से' तुमुल घोषणा और घंटा-निनाद शुरु हो जाता है। यह कथन 'रेडियो और टेलीविजन एवं संपर्क-साधक अन्य विद्युत-शक्ति' का ही पूर्व प्रकरण नहीं तो और क्या है ? ऐसा यह 'रेडियो-संबंधी' शक्ति-सिद्धान्त जैन-दर्शन हजारों वर्ष पहिले ही व्यक्त कर चुका है।

शब्द रूपी हैं, पौद्गलिक हैं और क्षणमात्र में ही सारे लोक में फैल जाने की शक्ति रखते हैं-ऐसा विज्ञान जैन-दर्शनने हजारों वर्ष पहले ही चिंतन और मनन द्वारा बतला दिया था। इस सिद्धान्त को जैन-दर्शन के सिवाय आज दिन तक विश्व का कोई भी दर्शन मानने को तैयार नहीं हुआ था। वही जैन-दर्शन द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्त अब 'रेडियो-युग' में एक स्वयंसिद्ध और निर्विवाद विषय बन सका है। भारतीय अन्य दर्शन 'शब्द' को अरूपी और आकाश का गुण मानते आये हैं; किन्तु जैन दर्शन शब्द को रूपी, पुद्गलात्मक, पकड़ में आने योग्य और पुद्गलों की अन्य अवस्थाओं में रूपान्तर होने योग्य मानता आया है।

पुद्गल के हर सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु में और अणु-अणु में महान् सृजनात्मक शक्ति और संयोग-अनुसार अति भयंकर विनाशक शक्ति स्वभावतः रही हुई है-ऐसा सिद्धान्त भी जैन-दर्शन हजारों वर्ष पहले ही समझा चुका है। वही सिद्धान्त अब 'एटमबम, कीटाणु-बम और हाइड्रोजन एलेक्ट्रिक बम' बनने पर विश्वसनीय समझा जाने लगा है।

आज का विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर अनन्त ताराओं की कल्पनातीत विस्तीर्ण वलयाकारता का, अनुमानातीत विपुल क्षेत्रफल का और अनन्त दूरी का जैसा वर्णन

करता है और ब्रह्मांड की अनन्तता जैसा बयान करता है, उस सब की तुलना जैन-दर्शन में वर्णित चौदह राजू प्रमाण लोक-स्थिति से और लोक के क्षेत्र-फल से भाषाभेद, रूपकभेद और वर्णनभेद होने पर भी ठीक-ठीक रीति से की जा सकती है।

आज के भूगर्भ-वेत्ताओं और खगोलवेत्ताओं का कथन है कि पृथ्वी किसी समय में याने खरवों वर्ष पहले सूर्य का ही सम्मिलित भाग थी। 'नीलों और पद्मों' वर्षों पहले इस ब्रह्मांड में किसी अज्ञानशक्ति से अथवा कारणों से खगोल-वस्तुओं में आकर्षण और प्रत्या-कर्षण हुआ और उस कारण से भयंकर से भयंकर अकल्पनीय प्रचंड-विस्फोट हुआ जिससे सूर्य के कई-एक बड़े-बड़े भीमकाय टुकड़े छिटक पड़े। वे ही टुकड़े अरबों और खरबों वर्षों तक सूर्य के चारों ओर अनंतानंत पर्यायों में परिवर्त्तित होते हुए चक्कर लगाते रहे। अंत में वे ही टुकड़े आज बुध, मंगल, गुरु, शुक्र, शनि, चन्द्र और पृथ्वी के रूप में हमारे सामने हैं। पृथ्वी भी सूर्य का ही टुकड़ा है और यह भी किसी समय में आग का ही गोला थी, जो कि असंख्य वर्षों में नाना पर्यायों तथा प्रक्रियाओं में परिवर्त्तित होती हुई आज इस रूप में उपस्थित है। उपरोक्त कथन जैन-साहित्य में वर्णित 'आरा-परिवर्तन' के समय की भयंकर अग्नि-वर्षा, पत्थर-वर्षा, अंधड़-प्रवाह, असहनीय और कल्पनातीत सतत जलधारा-वर्षण एवं अन्य तीक्ष्णतम एवं कर्कशतम पदार्थों की कठोर शब्दातीत रूप से अति भयंकर स्वरूपवाली वर्षा के वर्णन के साथ विवेचना की दृष्टि से कितनी समानता रखती है-यह विचारणीय है।

इतिहासज्ञ विद्वानों द्वारा वर्णित प्राक्-ऐतिहासिक युग में प्रकृति के साथ प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा ही जीवन-व्यवहार चलानेवाले-मानवजीवन का चित्रण और जैनसाहित्य में वर्णित प्रथम तीन आराओं से संबंधित युगल जोड़ी के जीवन का चित्रण शब्दान्तर और रूपान्तर के साथ कितना और किस रूप में मिलता-जुलता है? यह एक खोज का विषय है।

जैन-दर्शन हजारों वर्षों से वनस्पति आदि में भी चेतनता और आत्मतत्त्व मानता आ रहा है। साधारण जनता और अन्यदर्शन इस को नहीं मानते थे। परन्तु श्री जगदीश-चन्द्र बोसने अपने वैज्ञानिक तरीकों से प्रमाणित कर दिया है कि वनस्पति में भी चेतनता और आत्मतत्त्व है। अब विश्व का सारा विद्वान् वर्ग इस बात को मानने लगा है।

साहित्य और कला—

भगवान् महावीरस्वामी के युग से ले कर आजदिन तक इन पचीस सौ वर्षों में अवि-च्छिन्नरूप से हर युग में और हर समय में जैन-समाज में उच्च कोटि के ग्रंथ-लेखकों का

विपुल वर्ग और विद्वानों का समूह रहा है; जिन का सारा जीवन चिंतन में, मनन में, अध्ययन में और विविध विषयों में उच्च से उच्च कोटि के ग्रंथों का निर्माण करने में ही व्यतीत हुआ है। खासतौर पर जैन-साधुओं का बहुत बड़ा भाग प्रत्येक समय में इस कार्य में संलग्न रहा है। इस लिये अध्यात्म, दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, मंत्र-तंत्र, संगीत, सामुद्रिक और लाक्षणिक-शास्त्र, भाषाशास्त्र, छंद, काव्य, नाटक, चंपू, पुराण, अलंकार, कथा, कोष, व्याकरण, तर्कशास्त्र, योग-शास्त्र, चित्रकला, स्थापत्यकला, मूर्तिकला, गणित, नीति, जीवन-चरित्र, इतिहास, तात्त्विक-शास्त्र, आचार-शास्त्र, लिपि-कला, ध्वनि-शास्त्र, पशु-विज्ञान एवं सर्व-दर्शनसंबंधी विविध और रोचक तथा ललित-ग्रंथोंका हजारों की संख्या में निर्माण हुआ है।

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तामिल, तेलगु, कन्नड़, गुजराती, हिन्दी, महाराष्ट्रीय एवं इतर भारतीय और विदेशी भाषाओं में भी जैन-ग्रंथों का निर्माण हुआ है। जैन-साहित्य की रचना अविछिन्न धारा के साथ मौलिकतापूर्वक विपुल मात्रा में प्रत्येक समय में होती रही है। और इसी लिये जैनवाङ्मय में 'विविध भाषाओं का इतिहास', 'लिपियों का इतिहास', 'भारतीय-साहित्य का इतिहास', 'भारतीय-संस्कृति का इतिहास', 'भारतीय राजनैतिक इतिहास' एवं 'व्यक्तिगत जीवन-चरित्र' आदि विभिन्न इतिहासों की प्रामाणिक सामग्री भरी पडी है। जिसका अनुसंधान करने पर भारतीय-संस्कृति के समुज्ज्वल पटल पर रोचक, ज्ञान-वर्धक और प्रामाणिक प्रकाश पड़ सकता है।

जैन-साहित्य के विविध कारणों से हजारों ग्रंथों के विनष्ट हो जाने के बावजूद भी आज भी अप्रकाशित ग्रंथों की संख्या हजारों तक पहुंच जाती है, जो कि भारत के और विदेशों के विविध भंडारों और पुस्तकालयों में संग्रहित है। जैन-दर्शन के कर्म-कर्त्ता-वादी और पुनर्जन्मवादी होने से इसका कथा-साहित्य विलक्षण मनोवैज्ञानिक शैली वाला है। और इसी कारण से यह कथा-साहित्य आत्मा को स्वाभाविक, वैभाविक और उभयात्मक अनन्त वृत्तियों का और प्राणियों की जीवन-घटनाओं का विविध शैली से और आश्चर्यजनक प्रणाली से चित्रण करता हुआ रोचक एवं ज्ञान-वर्धक विश्लेषण करने वाला है। अतएव इस की कथा-निधि विश्व-साहित्य की महती एवं अमूल्य संपदा है-जो कि प्रकाश में आने पर ही ज्ञात हो सकती है।

जैन मूर्त्ति-कला और जैन स्थापत्यकला भारतीय-कला के क्षेत्र में अपना विशिष्ट और महान् स्थान रखती है। जैन कला का ध्येय 'सत्यं, शिवं और सुन्दरं' की साधना करना ही रहा है और इस दृष्टि से 'कला केवल कला के लिये ही है' के साथ में उससे

जीवनोत्कर्ष करनेवाली प्रेरणा प्राप्त हो–इस संमिलित आदर्श का जैन कलाकारों द्वारा ठीक–ठीक रीति से पालन किया गया है।

समाज का युग-कर्त्तव्य—

आज का युग मशीन प्रधान है। तार, टेलीफोन, मोटर, जहाज, रेलगाड़ी तथा रेडियो के विपुल साधनों से एवं अणुबम, उद्जनबम की शक्ति से आज संसार की शकल ही पलट गई है एवं दिन प्रतिदिन विशेष–विशेष अन्तर पड़ता जा रहा है। दैनिक जीवन–व्यवहार की वस्तुओं का उत्पादन विशाल पैमाने पर उपरोक्त शक्तियों के आधार से तैयार किया जा रहा है। विश्व को भौतिक साधनों से परिपूर्ण और एक सामान्य द्वीप के रूप में परिणित किये जाने का भारी प्रयत्न किया जा रहा है। इसका परिणाम यह आया है कि प्राचीन विचार–धाराओं का, प्राचीन विश्वासों का और प्राचीन संस्कृति का वर्तमान–युग की परिस्थिति से और विचारों से सर्वथा ही संबंध कट गया हो ऐसा प्रतीत हो रहा है। जो विचार और जो विश्वास आज दिन तक आधार–भूत और सम्माननीय गिने जाते थे वे सब अब शंका के घेरे में, तर्क की जाम में और अंध–विश्वास के रूप में मालूम पड़ने लगे हैं। ऐसे असाधारण समय में 'जैन–धर्म की रक्षा' का महान् प्रश्न उपस्थित हो गया है। इसे कोरी कल्पना अथवा भ्रम–मात्र ही नहीं समझें; यह वास्तविक वस्तुस्थिति है। भारतमें सामाजिक और आर्थिक क्रांति सन्निकट हैं और तदनुसार धनवानों का धन क्रमशः गवर्नमेंट के खजानों में निश्चित रूप से आगामी पच्चीस वर्षों में अवश्यमेव चला जानेवाला है। ऐसी ध्रुव–स्थिति में जैनधर्म के प्रचार, प्रसार और साहित्य के प्रकाशनार्थ भारी रकम का फण्ड इकट्ठा किया जाना परम आवश्यक है।

आज हमारी समाज में एक सौ से ऊपर करोड़पति और हजारों लखपति हैं। आज समाज का नेतृत्व इन्हीं के हाथों में है। और इस प्रकार समाज का भविष्य सत्ता और पूंजी के मध्य अधर झूल रहा है। इन धनवालों का नैतिक कर्त्तव्य है कि ये सज्जन आज के युग में जैन–धर्म, जैन–दर्शन, जैन–साहित्य और जैन संस्कृति के प्रचार के लिये, विकास के लिये और कल्याण के लिये साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था विपुलमात्रा में करें। यही युग–पुकार और युग–कर्त्तव्य है।

आनेवाला युग साहित्य का प्रचार और साहित्य का प्रकाशन ही चाहेगा और इसी कार्य द्वारा ही जैन–समाज और जैन–धर्म टिक सकेगा।

क्या कोई बतला सकता है कि आनेवाले नवीन समाजवादी अर्थ व्यवस्थावाले, यांत्रिक

साधनोंवाले, भौतिकतामय जीवनवाले और प्रछन्न नास्तिकतावाले ऐसे अभूतपूर्व युग में जैन धर्म और जैन-संस्कृति के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये और इसके पूर्ण विकास के लिये समाज क्या कुछ प्रयत्न करेगा ?

अनन्त गुणों के प्रतीक, मङ्गलमूर्त्ति, परम प्रभु वीतरागदेव से आज शरद्-पूर्णिमा के निर्मल एवं पुनीत शुभ दिवस पर यही पावन प्रार्थना है कि अहिंसा प्रधान आचार द्वारा और स्याद्वादप्रधान विचारों द्वारा मानव-जाति में नैतिकता और सात्त्विकता का प्रशस्त एवं परिपूर्ण प्रकाश फैले तथा अखण्ड मानवता 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की ओर प्रगुणात्मक प्रगति करे। तथास्तु।

अपरिग्रह।

संतप्रवर श्री गणेशप्रसादजी वर्णी, ईसरी.

परिग्रह पाप निवार जिन जाना आतम पन्थ।
आत्मतत्त्व में रमि रहे नमौं पूर्ण निर्ग्रन्थ ॥

इस भवाटवी संसार में प्राणियों की जो अवस्था हो रही है–वह किसी से गुप्त नहीं। प्रत्येक को अनुभव है। इसका मूल कारण क्या है? इसका खरतरदृष्टि से विचार करना हमारा मुख्य ध्येय है।

यदि आप अल्प उपयोग लगा कर अन्वेषण करेंगे, तब इसका मूल कारण परिग्रह ही पावेंगे। परिग्रह क्या है?

इस पर विचार करने से ही उसका स्वरूप समझ में आजावेगा। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ही परिग्रह हैं। इनमें भी मिथ्यादर्शन ही मूल है। इसके सद्भाव में ही मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अन्तर्भूत होते हैं। मिथ्यादर्शन के चले जाने पर ज्ञान में मिथ्यात्व और चारित्र में मिथ्यात्व व्यवहार नहीं रहता है। ज्ञान में सम्यक् और चारित्र में संयम व्यवहार होने लगता है। तब चारित्र के विकार जो क्रोधादिरूप परिणमते हैं–परिणमो, जैसा मिथ्यात्व के साथ उनका बल था वह नहीं रहता।

जब तक श्वान (कुत्ता) स्वामी के साथ रहता है, वह सिंह के सदृश पौरुष दिखलाने की चेष्टा करता है। परन्तु स्वामी का समागम छूट जाने पर वह तब एक यष्टिप्रहार से भाग जाता है।

अतः क्रोध, मान, माया, लोभ इनको जब तक मिथ्यादर्शन का समागम रहता है, तब तक इनकी शक्ति पूर्ण रहती है। इसके अभाव में यह बात नहीं रहती। अतः आवश्यक है कि हम इस शत्रु से पहले अपनी आत्मा को पृथक् करें।

यह मिथ्यात्व परिग्रह दूर हो सकता है; क्यों कि औदयिक भाव है। स्वामीने इसका लक्षण यों लिखा है:—

"यस्य सद्भावे आत्मा निजस्वरूपात्पराङ्मुखो जायते तदेव मिथ्यादर्शनं।" इसका निरूपण करना अति कठिन है। यह तो अपने कार्य से जाना जाता है। पदार्थों में अनन्त

शक्तियां हैं। वे दृष्टिगोचर नहीं। उनका कार्य्य से अनुभव होता है। जैसे आत्मा में सत्ता नामक शक्ति है; परन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं । वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से जानी जाती है। वात रोगका प्रत्यक्ष नहीं । पैरों में वेदना होने से उसके होनेका अनुभव किया जाता है । वह वैद्य को भी प्रत्यक्ष नहीं । नाड़ी की गति से अनुमान करता है कि अमुक रोग इसको है। हम आत्मा और शरीर के मेल को आत्मा मानते हैं। दो पदार्थों को एक मानना दोनों के स्वरूप का परिचायक नहीं । इसीका नाम मिथ्याज्ञान है । यह ज्ञान जिसके सद्भाव में होता है उसीका नाम मिथ्यादर्शन है । जैसे जब कामला रोग हो जाता है, तब मनुष्य 'पीतः शंखः' यह भान करता है । यद्यपि शंख पीत नहीं हुवा; परन्तु कामला रोग में पीत ही दिखाई देता है । उस रोग के सद्भाव में यही होता है ।

अतः उससे लड़ना महती अज्ञता है-उसे अज्ञानी बताना सर्वथा अनुचित है । यदि उसके ऊपर आप का प्रेम है तो उसका कामला रोग दूर हो वह करना आप का कर्तव्य है।

उसको मूर्ख कहना किसीको शोभाप्रद नहीं । अन्तरङ्ग प्रमेय की अपेक्षा उसका ज्ञान सत्य है। बाह्य प्रमाण की अपेक्षा में वह ज्ञान मिथ्या है। अन्तरङ्ग के प्रमेय की अपेक्षा सत्य है। अतः बाह्य और अन्तरङ्ग २ प्रकार के प्रमेय हैं। अन्तरङ्ग प्रमेय की अपेक्षा कोई ज्ञान अप्रमाण नहीं । बाह्य प्रमेय की अपेक्षा प्रमाण भी है और अप्रमाण भी है। हम व्यर्थ में ही परस्पर में विरोध कर लेते हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि यदि किसीका ज्ञान भ्रान्त है तो आप उस भ्रान्ति को वारण करिये। सर्वथा तो मिथ्या नहीं है। अन्तरङ्ग प्रमेय तो है ही, किन्तु बाह्य प्रमेय नहीं है । इसीसे उसे भ्रान्त कहते हो । जैसे किसीको रज्जु में सर्पभ्रान्ति हो गयी, वह भागता है। यदि उसके ज्ञान में सर्प न होता, तब वह भयभीत होकर पलायमान न होता। विचार से देखो तो उसका भागना, जब तक उसके ज्ञान में सर्प है, ठीक है । किन्तु जो कोई उसे यथार्थ ज्ञान करा देवे वही उसका मित्र है । हे भाई ! दूरत्वादि दोष से आप को रज्जु में सर्प की भ्रान्ति तो गई। वहां सर्प नहीं है, रज्जु है । तथाहि-प्रथम तो रज्जु में 'सर्पोऽयं' यह सर्प है। उत्तरकाल में जब समीप क्षेत्र में आता है, तब प्रथम ज्ञान के विरुद्ध यह ज्ञान होता है- 'नायं सर्पः' यह सर्प नहीं है । ऐसा बाह्य ज्ञान होने से भ्रान्ति का अभाव हो जाता है।

मिथ्यात्व परिग्रहका स्वरूप—

इसी प्रकार इस जीव को अनादिकाल से मिथ्यात्व रोग हो रह है । उसके उदय में शरीर में आत्मबुद्धि हो रही है। शरीर को ही आत्मरूपेण प्रतीति करता है।-फल उसका नाना योनियों में पर्यटन होता है । ऐसी कोई भी योनि नहीं जहां इस जीवने जन्म न धारण किया हो ।

अन्य योनियों की कथा को छोड़ो। जिस शरीर में आप हो उसे अपना मानते हो। क्या यह अतथ्य नहीं जो उसे अपना मानते हो ? और इसके उत्पन्न होने में जो कारण हों उन्हें माता-पिता मानते हो और जिनका माता-पिता के साथ सम्बन्ध है उन्हें दादा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची, मामा-माई, मौसी-मौसिया आदि नाना प्राणियों के साथ बन्धुता का व्यवहार करते हो। यह सब तो निज के ही हैं। किन्तु जिनसे कोई संबंध नहीं, केवल एक ग्रामवासी हैं, उनके साथ भी आत्मीय पितामातादि तुल्य व्यवहार होता है। इतना परिग्रह संसार में होजाता है कि उसे लिखने में पूरा समय चाहिये।

अब विशेष बात विचारने की यह है कि जब शरीर को निज मान लिया, तब जिनके द्वारा शरीर का पोषण होता है उनसे राग सुतरां हो जाता है और जो प्रतिकूल हुये उनसे द्वेष होना स्वाभाविक है। इस प्रकार राग के कारण उनके जो पोषक हैं उनमें राग और जो घातक हैं उनसे द्वेष हो जाता है। इस प्रकार की पद्धति द्वेष में जान लेना चाहिये। इस प्रकार यह राग-द्वेष की परंपरा ही अनन्त यातनाओं की जननी है। इन सर्व उपद्रवों का मूल कारण मिथ्यात्व है (इति मिथ्यात्व परिग्रह)। इसके सद्भाव में ही हमारे क्रोध, मान, माया, लोभ की उत्पत्ति होती है।

क्रोध की उत्पत्ति का मूल हेतु—

शरीर में ममताभाव है। हम शरीर को निज मानते हैं। किसीने हमारे प्रतिकूल कार्य किया, हमारी उसमें अनिष्ट बुद्धि हो जाती है। जिसमें अनिष्ट बुद्धि हुई उसको दूर करने की हम चेष्टा करते हैं। वहां पर मनमें यह विचार होता है कि कब इस अनिष्ट से पिण्ड छूटे, यह आपत्ति कहां से आगयी। सानन्द से जीवनयात्रा हो रही थी। इस दुष्टने आकर विघ्न कर दिया। कब इसका विध्वंस हो ? इत्यादि। यदि हमारा वश होता तो इस को क्या ? इसके बन्धुवर्ग को भी यमलोक में पहुंचा देते; परन्तु क्या करें, इतनी शक्ति नहीं। इत्यादि नाना प्रकार के विकल्पजालों से मन चिन्तना करता रहता है।

वचन के द्वारा नाना असभ्य वचनों का प्रयोग करता है। रे दुष्ट ! हमारे सामने से हट जा, शर्म नहीं आती, हमारे निर्विघ्न विषयानन्द में तूने भोजन में मक्खी का काम किया। अरे ! कोई है नहीं। इस दुष्ट को आंख के सामने से हटा दो। ऐसे दुष्टों के द्वारा ही तो जगत की सुख-सामग्री हरण की जाती है।'

काया के द्वारा लाठी आदि का भी प्रयोग करने में नहीं चूकता। यदि शत्रु बलवान हुवा तो वचन और काय के व्यापार से वञ्चित रहता है। केवल मन ही मन दुःखी रहता है।

निरन्तर अनिष्ट चिन्तन में ही समय जाता है। १ सेकण्ड भी शान्ति नहीं। दैवयोग से जिसके ऊपर क्रोध किया था उस का किसी के द्वारा पराभव हो जावे, तब फूल कर कुप्पा हो जावे और जिसने उस का अनिष्ट किया उस को कोटिशः धन्यवाद देता है कि महाशय ! धन्य है आप को जो ऐसे कण्टकसे उद्धार किया। वह बहुत ही लुच्चा था। आप जैसे पुरुष न होते तो जगत् चैन की निद्रा न ले सकता। दैवयोग से कोई भी उस का विरोधी न हो, तब आप स्वयं घात कर मृत्यु का भागी बन जाता है। क्रोध कषाय के उदय में जीव की ऐसी दुर्दशा होती है। (इति क्रोध परिग्रह)

अब मान कषाय की कथा सुनिये—

मान कषाय के उदय में अपने को उच्चतम मानने की इच्छा होती है। साथ ही अन्य को अपने से लघु मानने की इच्छा रहती है। यदि कोई अपने से महान् हुवा, तब उस के सद्‌गुणों में भी वह नाना प्रकार के मिथ्या दोष निकालने का प्रयत्न करता है। यदि इस समय कोई कहे कि तुम इतने महान् हो कर क्यों अन्य में मिथ्यादोषों का आरोप करते हो, अभी तो तुम उस के अंश को भी नहीं पाते; यदि वह चाहे तो तुम्हारे सदृश मनुष्यों को मोल ले सकता है, अभी तक उसने जो दान किया है तुम्हारे पास तो अभी उस की अपेक्षा कुछ भी नही है। इत्यादि। इस को श्रवण कर महान दुःखी होता है। बड़े प्रयत्नों से जो सञ्चय धन का किया था उसे एकदम जोश में आकर दान दे देता है। दानानन्तर संक्लेश हो उस का कुछ भी विचार नही। इसी प्रकार अन्य कार्यों में भी जान लेना।

यदि किसीने वेला किया, तब आप, उस से मेरी प्रतिष्ठा अधिक हो, तेलादि उपवास कर बैठता है। चाहे अनन्तर क्लेश हो-उसकी परवाह नहीं।

कारण इसका यह है कि जो मान कषाय के उदय में अपने को सर्वोपरि मानने की इच्छा रहती है उस की पूर्ति न होने से आमरणान्त कष्ट पाना स्वीकार होता है। परन्तु मान कषाय को नहीं छोड़ता। एक छात्र था। बहुत ही विद्वान् था; परन्तु अन्य को तुच्छ गिनता था। प्रत्येक के साथ शास्त्रार्थ कर उसे तिरस्कृत कर वह अपने को महान् गिनता था। उसके अध्यापक गुरूने उस को बहुत समझाया कि ऐसा करने से एक दिन बहुत ही क्लेश उठाना पड़ेगा। यदि कोई अधिक विद्वान् आगया और उसके द्वारा पराजय हो गया, तब क्या दशा तुम्हारी होगी। तब वह गुरुजी से बोला कि आप गुरु हैं, उस से मैं लोकलज्जावश संकोच करता हूं तथा आप से अध्ययन किया है-इससे भय करता हूं। कौन जगत में ऐसा है जो मेरे समक्ष ठहर सके ? एक वार बृहस्पति से भी शास्त्रार्थ कर सकता हूं।

दैवयोग से एक दिन एक बंगाली छात्र से शास्त्रार्थ हुवा और बंगाली छात्रने उसे पराजित कर दिया। वह पराजित हो कर गंगा में डूब कर मर गया। यह गप्प नहीं। हाथरस में श्रीहरजशरायजी महाशय बड़े भारी नैयायिक थे। यह उनके शिष्य की कहानी है। (इति मान परिग्रह)

माया परिग्रहका स्वरूप—

अब मायाकषाय के सद्भाव में यह जीव नाना प्रकार के छलकपट करता है। मन में कुछ है, वचन में कुछ है और काया के द्वारा अन्य ही हो रहा है। किसी को पता नहीं क्या करेगा। क्रोधी व मानी से जीव अपनी रक्षा कर सकता है। परन्तु मायावी से रक्षा होना अत्यंत कठिन है; क्यों कि उसका व्यवहार सर्वथा अन्तरङ्ग के विरुद्ध है। जैसे बक (बगुला) इस प्रकार शनैः शनैः गमन करता है कि देखनेवाले को यह भास ही नहीं होता है कि इससे किसी प्राणी का घात होगा। परन्तु होता क्या है? वह मछली आदि जन्तुओं को पकड़ लेता है। यही हाल 'मायावी' का है। जो ऊपर से महान् पुरुषों के अनुरूप आचरण करता है। जिसके आचरण से अच्छे २ मनुष्य उसके प्रशंसक बन जाते हैं। फल यह होता है कि अन्त में उसके मायाजाल में फंस कर प्रशंसक को विपत्ति-महार्णव में गोते लगाने पड़ते हैं। मायाचारी की प्रवृत्ति सर्वथा विरुद्ध रहती है। उसे यह भान नहीं कि अन्त में भण्डा-फोड़ हो ही जावेगा। उसका इस ओर लक्ष्य नहीं होता। लक्ष्य हो तो माया क्यों करे? मैं स्वयं अपने किये मायाचार की कथा कहता हूं।

मैं जिन दिनों मथुरा में अध्ययन करता था, उन दिनों श्रीमान् स्वर्गीय पण्डित गोपालदासजी महाविद्यालय के मन्त्री थे। मैं उन दिनों चौरासी पर अध्ययन करता था। पं० ठाकुरप्रसादजी, "वैयाकरणाचार्य, वेदान्ताचार्य" जैन महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक थे। पण्डित नरसिंहदासजी धर्मशास्त्र के अध्यापक थे। मेरे मन में यह बात आई कि श्री बाईजी के पास बुंदेलखण्ड जाना। छुट्टी मांगी, नहीं मिली। मनमें आया कि ऐसी मायाचारी करो कि जिससे छुट्टी मिल जावे। मैंने एक पत्र बाईजी के नाम का लिखा—'बेटा! आशीर्वाद। मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं। तुम छुट्टी लेकर १५ दिन के लिये चले आवो.' वह पत्र मथुरा के डाकखाने में डाल दिया और मुझे मिल भी गया। मैंने उसे लिफाफे में बन्द कर पंडितजी के पास भेज दिया। १५ दिन का अवकाश मिल गया। अन्तमें लिखा था, 'जब देश से वापिस आओ, तब आगरा हमसे मिल कर मथुरा जाना' मैं देश से लौटकर जब मथुरा जाने लगा पंडितजी से आगरा में मिला। पंडितजीने भोजन करने को कहा कि भोजन कर लो, भोजन करने के बाद मथुरा चले जाना। मैंने भोजन किया। पश्चात् पंडितजी को प्रणाम कर रेल पर जाने लगा।

पंडितजीने एक श्लोक लिखा और कहा कि इसे याद कर लो, फिर चले जाओ। मैंने जब श्लोक देखा तो यह था :—

उपाध्याये नटे धूर्ते कुट्टिन्यां च तथैव च।
माया तत्र न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता ॥

मैं शीघ्र ही भाव समझ गया। मैंने नम्र शब्दों में महाराज से कहा—"महाराज! अपराध हुआ, क्षमा प्रार्थी हूं। उत्तरकाल में अब ऐसा अपराध न होगा।"

श्री मंत्रीजीने कहा—"जाओ, हम प्रसन्न हैं। क्यों कि मैंने निर्माय अपराध स्वीकार किया था। मथुरा अधिष्ठाता के पास पत्र आया कि इस छात्रको ऽ॥ शेर दुग्ध दिया जावे। विशेष क्या लिखें! मायाचारी पुरुष अपने अनिष्ट को न गिन महादुःखी रहते हैं। (इति माया परिग्रह)

लोभ परिग्रहका स्वरूप—

अब लोभ कषाय के उदय में यह पर पदार्थ को अपनाने का प्रयत्न करता है। यद्यपि परवस्तु हमारी नहीं, परन्तु लोभ कषाय में यह भाव आजाता है। आजन्म उससे सम्बन्ध नहीं त्यागना चाहता। लोभ के वशीभूत हो कर अपने गुरु जनों से भी नहीं चूकता। यदि लोभ कषाय न हो, तब यह जीव दुर्गति का पात्र नहीं होवे। विषयों में प्रवृत्ति, धन का संग्रह आदि लोभ ही के तो पर्याय है। अन्य की ही कथा छोड़ो। लोभी मनुष्य अपने शरीर के लिये पुष्टकारी पदार्थों का सेवन नहीं कर सकता। यदि किसी को धन देने से महोपकार होता है, परन्तु लोभी मनुष्य के भाग्य में यह कहाँ, वह लोभ नहीं छोड़ सकता। यदि उसका बालक बीमार हो जावे, स्त्री बीमार हो जावे, आप स्वयं बीमार हो जावे, तब उसको द्रव्य देना पड़ता है। बने वहाँ तक वह परमार्थ औषधालय ही से औषध लाकर काम चलावेगा। यदि द्रव्य व्यय करके शिक्षा मिलती होगी तो वह न लेकर, जहां बालकों से फीस नहीं ली जाती है वहाँ प्रबन्ध करेगा। वहाँ बालक को भेजने में संकोच न करेगा। ऐसा लोभी लोभ के वशीभूत हो कर निमन्त्रणादि में मर्यादा से अधिक भोजन कर अजीर्ण रोग की वेदना सहन कर महान् दुःख का पात्र होता है।

एक उपाख्यान इस विषय में है:—

चार चोर चोरी करने गये। और वे १०००००) एक लाख रुपये का माल लाये। वे जहां के थे जब वह ग्राम २ मील रह गया, तब उन्होंने विचार किया कि कुछ भोजन कर के ही घर जाना चाहिये। दो आदमियों से कहा, "बाजार से भोजन लाओ। सानन्द से भोजन कर के शाम को घर चले जावेंगे" दो आदमी परस्पर जल्प करते २ बाजार में

पहुंचे। उन्होंने विचार किया कि एक लाख में २५०००)-२५०००) ही तो प्रत्येक को मिलेगा; परन्तु क्या कोई ऐसा उपाय है कि ५००००)-५००००) मिले? एकने कहा, " यदि वे दो मर जावें, तब अनायास मनोरथ की पूर्ति हो सकती है। इसका उपाय यह है कि बाजार से हलाहल विष लिया जावे और उसे पेड़ों में मिलाया जावे और वे पेड़े (मिठाई) उन दोनों को दिये जावें। वे तत्काल मर जावेंगे। हम-तुम आधा-आधा बांट लेंगे।" ऐसा ही किया और पेड़ा लेकर स्थान पर चलने लगे। उधर भी उन दोनोंने विचार किया कि ऐसा करोकि जिससे वे दोनों मार दिये जावें और हम दोनों आधा-आधा माल बांट लें। वे यह विचारते ही थे कि ये दोनों सामने आते हुये दिखाई दिये। इन दोनों पर उन दोनोंने बन्दूक चलाई और दोनों मृत्यु को प्राप्त हुये। पश्चात् जो मिठाई ये लाये थे उसे दोनोंने खायी। खाते ही वे दोनों भी मर गये। लोभ की ही महिमा थी जो चारों मृत्युवश हो गये। आज संसार में सर्व व्यग्र हैं. शान्ति चाहते हैं; पर शान्ति नहीं मिलती। यह सर्व लोभ की ही तो महिमा है।

हमारी सन्तान दर सन्तान सुख से काल व्यतीत करे। जैसे बने तैसे धन संग्रह करो- लोभ ही की तो महिमा है। जिन महानुभावोंने नाना कारागारों में रह कर अनेक कष्टों को सहन कर स्वराज्य प्राप्त किया तथा जिन के यह अभिप्राय थे कि स्वराज मिलने पर हम सादगी से अपना निर्वाह करेंगे, आज उनकी वेष-भूषा को देख कर चित्त में आश्चर्य की तरंगे उठती हैं। जो है, लोभ! तेरी महिमा अपार है। इस के जाल से बचना अल्प शक्तिवालों को अति दुर्लभ है। ऐसे २ महान् त्यागी विद्वान् जिन्होंने सादा भोजन और खादी वस्त्र का व्यवहार कर देश को सदाचार सिखाया, आज वे यदि किसी सभा में जाते हैं; तो पचासों पुलिसमेन उनकी रक्षा को चाहिये। जिस जनताने उनको अपना पूर्ण हितैषी रूप से देखा था, आज वही जनता उनसे इतनी रुष्ट हो जावे—यहाँ यही निश्चय होता है कि खादीधारी वे महाशय लोभ के चक्र में आ गये। यद्यपि लोभ से प्राप्त वस्तु शान्ति का कारण नहीं। आप देखते हैं कि धन के अर्जन में दुःख, रक्षण में दुःख तथा नाश होने पर भी दुःख। कोई अवस्था सुखकर नहीं। बड़े-बड़े महापुरुष इस लोभ परिग्रह की तृष्णा में इतने व्यग्र हैं कि वे आत्महित से वञ्चित रहते हैं। कहां तक लिखें? मोक्ष का लोभ भी मोक्ष का बाधक है। (इति लोभ परिग्रह)

हास्य परिग्रह—

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये भी परिग्रह हैं। जब हास्य कषाय का उदय होता है, तब आप फूला रहता है। अन्य को चाहे कष्ट भी हो; परन्तु आप को हास्य विना चैन नहीं पड़ता।

जैसे बावला नाना रोग से पीड़ित है, परन्तु फिर भी कोई कल्पना कर हंसने से बाज नहीं

आता; ऐसी संसारी मनुष्य की दशा है। जहां परपदार्थ अपनी इच्छा के अनुकूल हुवा-फूल गये; यद्यपि उस परपदार्थ का परिणमन उसीके आधीन है। परन्तु इसको मानने में ऐसी मिथ्या कल्पना जो है। उसे अपने अनुकूल मान फूला नहीं समाता। (इति हास्यपरिग्रह)

रतिपरिग्रह—

रति में भी यही बात है। जो पदार्थ अपने को चाहियें, वे चेतन हों चाहे अचेतन हों, सुहा गये। और उन में रति हो गई। उन पदार्थों का परिणमन अपने आधीन नहीं। परन्तु हमारी मिथ्या मान्यताने इस प्रकार हमारी परिणति को अपने वश कर रक्खा है कि हमारी दशा मदिरा पान करनेवालों से एक अंश अधिक ही है। कितना ही कोई कहे कुछ समझ में नहीं आता ॥ (इति रतिपरिग्रह)

अरतिपरिग्रह—

यदि जो पदार्थ अनुकूल थे वे प्रतिकूल हो जावें, तब अरति कषाय के उत्पन्न होने का अवसर आने में विलम्ब नहीं। केवल अपनी इच्छा के अनुकूल उस पदार्थ की परिणति हमारे ज्ञान में आजानी चाहिये। चाहे उस में वह परिणति हो या न हो।

जैसे जब कोई मनुप्य अपनी पत्नी के भाई आदि से मिलता है और परस्पर अनेक प्रकार के अशिष्ट शब्दों का प्रयोग करके प्रसन्न होता है। वहाँ यह सिद्ध होता है कि हमारे ज्ञान में अनुकूलता चाहिये। विषयों में चाहे जो परिणमन हों। जो हमको रुच गया उसमें हमारी रति होजाती है। प्याज, लहसुन के खानेवाले लहसुन और प्याज की गन्ध को जानकर प्रसन्न होते हैं और हम दूर से ही पलायमान होते हैं। प्याज खानेवालों को आनन्द आता है और हमें उसमें अरतिभाव। अन्यत्र भी इसी प्रकार अरतिभाव जानना। (इति अरतिपरिग्रह)

शोकपरिग्रह—

जब हमसे इष्ट पदार्थ का वियोग होता है, उस समय हम शोक में मग्न हो जाते हैं। शोकदशा का अनुभव वही जानता है जिसको शोकानुभव हो रहा है। जब अनिष्ट पदार्थ का संयोग होता है, तब भी वही दशा होती है जो इष्टके वियोग में होती है। इस प्रकार शोकपरिग्रह जानना। (इति शोकपरिग्रह)

भयपरिग्रह—

इसी तरह भय भी एक परिग्रह पिशाच है। यह भी तब होता है, जब हमारे घातक पदार्थ उपस्थित होते हैं। क्योंकि हमने जिन पदार्थों को अपना मान रखा हैं, वे हमारे हैं

नहीं। समय पाकर वे जावेंगे या कोई उन का अपहरण कर ले। दोनों में एकसी ही कथा है। परन्तु हम अपने समक्ष उनका अपहरण होने में भय करते हैं। जैसे रज्जु में सर्पभ्रान्ति होने से हमको भय होता है-इसका भी मूल कारण शरीर को अपना मानना है। यदि सर्पने आकर हमको काट लिया तो हम अकालमृत्यु के ग्रास हो जावेंगे। यदि शरीर को निज न मानते तो भय की कथा न होती। इसी तरह अन्य पदार्थों को अपनाना ही भय का कारण है। (इति भयपरिग्रह)

जुगुप्सापरिग्रह—

इसी तरह जुगुप्सा भी परिग्रह है। इसके उदय में जो पदार्थ हमारी रुचि के विरुद्ध हैं, उन्हें देखकर हम ग्लानि करते हैं, नाक-भौं सिकोड़ते हैं, आंख बन्द कर लेते हैं और अगर सह्य न हुवा तो मूर्छित हो जाते हैं।

यद्यपि शरीर भी इन्हीं पदर्थों का पिण्ड है, जिन्हें देखकर हमें ग्लानि आती है। प्रातःकाल इन्हीं करकमलों से उसे धोना पड़ता है। उस समय शौच नहीं जावें यह नहीं हो सकता; क्योंकि रोगी होनेका, पेट में वेदना होने का भय जो लगा है। जिस कार्य को आप स्वयं करते हो और प्रतिदिन वार-वार करते हो उसी काम को यदि आप जैसे ही मनुष्य पर्यायवाले ने कर दिया और उस पर आप ग्लानि करें-यह क्या न्याय है?

यह आलाप करें कि यह नीच है, भंगी है, इनसे दूर रहो। इसकी कथा छोड़ो। तुम्हारे यहां जब पंक्तिभोजन होता है, तब मिष्टान्न तो आप लोग उदराग्नि में फेंक देते हो और जो कुछ पत्तल में शेष रहा उसे भी अपने रूप में नहीं रहने देते। कुल्ला आदि करके उसे सानी बना देते हो। इसे तो अन्नरूप से वे ही उपयोग में लावेंगे जो हमारे सदृश ही मनुष्य हैं।

यदि उन्हें भी शिक्षा आदि दी जावें तो वे भी बैरिस्टर, डॉक्टर, हेडमास्टर आदि बनकर हाइकोर्ट, कालेज, अस्पतालों में कुर्सी की शोभा बढ़ा सकते हैं।

अस्तु! यह तो लौकिक कथा रही तथा लौकिक में आप उनको स्पर्श न करिये; क्योंकि वे अस्पृश्य हैं। अस्पृश्य तो शरीर है। उसे स्पर्श करो या मत करो कुछ हानि नहीं। यही अन्य को उपदेश दो। परन्तु जो कल्याण का जनक सम्यग्दर्शन है और जिसके होते ही आत्मा सम्यक्चारित्र का पात्र होता है क्या आप उसे रोक सकते हैं? कहां जाते हो? यह तो चाण्डाल है, ऐसा कह कर नहीं रोक सकते।

समन्तभद्रदेवने तो यहां तक कहा है:—

सम्यग्दर्शनसंपन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥

चाण्डाल–यदि चाण्डाल के कर्तव्य को त्याग देता है तो वह उसी जन्म में महान् हो सकता है। और जो उत्तम कुल तथा जातिका है उन्हीं ही चाण्डाल कर्तव्यों से अधम हो सकता है। अतः किसी से जुगुप्सा न कर के पाप सम्पादन करने वाले भावों से जुगुप्सा करो। ये तुच्छ हैं, नीच जातिवाले हैं–यह सोचकर जुगुप्सा मत करो। परमार्थ से जुगुप्सा हेय है। हेय का अर्थ–जुगुप्सा न करो॥ (इति जुगुप्सापरिग्रह)

इसी प्रकार स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद ये परिग्रह हैं। इन की महिमा किसी से गुप्त नहीं। स्त्रीवेद के उदय में पुरुषरमण की अभिलाषा होती है। पुरुषवेद के उदय में स्त्री–रमण की अभिलाषा होती है और नपुंसकवेद के उदय में उभयरमण की अभिलाषा होती है। जगत् मात्र के प्राणी इन के जाल में फंसे हुये हैं। अतः इस विषय में विशेष विवेचन करना कोई उपयोगी नहीं। (इति स्त्रीवेद–पुंवेद–नपुंसकवेदपरिग्रह)

इस प्रकार मिथ्यात्वादि चतुर्दश परिग्रह के भेद हैं। इन्हीं को अन्तरङ्ग परिग्रह कहते हैं। (इति अन्तरंगपरिग्रह)

धन धान्यादि बाह्य दश परिग्रह हैं। यद्यपि ये बाह्य हैं, और न आत्मद्रव्य में इनका अस्तित्व है और न इन में परिग्रह का लक्षण ही जाता है; फिर भी परिग्रह के लक्षण पर विचार कर के इन को ' मूर्च्छा परिग्रह ' कर के लिखा है।

अर्थात् मूर्छा को परिग्रह कहते हैं। (ममेदं) यह मेरा–ऐसा जो भाव है उसे ही मूर्च्छा कहते हैं। यह भाव आत्मा में होता है। उसी से यह आत्मा धनादिको निज मानता है। यह लक्षण जड़ पदार्थों में नहीं जाता। अतः उन्हें परिग्रह मानना सर्वथा अनुचित है। ठीक है, परन्तु उन्हें जो परिग्रह कहा है उसका तात्पर्य है कि धनादि पदार्थ मूर्छा में निमित्त पड़ते हैं और इसी से उन्हें परिग्रह कहा है। बंध का कारण तो अन्तरंग मूर्छा है–बाह्य पदार्थ मूर्छा नहीं; अत एव बन्ध का जनक नहीं। इसी से आचार्योंने बंध के कारण योग और कषाय को कहा है। श्री १०८ भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यने समयसार में लिखा है:—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणोदु होदि जीवस्स।
णहि वत्थुदो दुबंधो अज्झवसाणेण बंधोदु॥

यद्यपि वस्तु की प्रतीति कर जीव को अध्यवसान भाव होता है तथापि वस्तु बंध का जनक नहीं। अध्यवसान भाव ही बंध का जनक है। यदि ऐसा है, तब बाह्य वस्तु के त्याग का उपदेश क्यों दिया जाता है? उत्तर–अध्यवसान त्याग के लिये ही बाह्य वस्तु का त्याग कराया गया है। अध्यवसान में नियम से कोई न कोई विषय होना चाहिये। अन्यथा जैसे

वीरमाता के शूरवीर पुत्र को अध्यवसान भाव होता है; वैसे 'वंध्यासुतं हिनस्मि' यह भी भाव हो जावे। अतः अध्यवसान निवारण के लिये बाह्य वस्तु के त्याग की भी परमावश्यकता है।

अध्यवसान भावके अनुकूल बाह्यकार्य हो–यह नियम नहीं। जैसे हमने यह अध्यवसान किया कि इस को संसारबंधन हो, वह मुक्त हो जावे। परन्तु उन जीवोंने वैसा भाव नहीं किया; अत एव न वह बंधा और न अन्य छूटा। और हमने तो अध्यवसान भाव नहीं किया कि अमुक बंध को प्राप्त हो तथा अमुक मुक्त हो और उनने वैसे कारण मिलाये कि जिसे वह बंध गया और अन्य मुक्त हो गया।

अध्यवसान भाव ही संसार का जनक है। जिन को संसार इष्ट नहीं, उन्हें संसार का कारण अध्यवसानरूप अन्तरंग परिग्रह को त्यागना चाहिये। साथ ही अध्यवसान में जो विषय पड़ता है उसे तो नियम से त्यागना ही चाहिये। केवल वस्तु में कुछ नहीं होता। समागम से ही यह संसार होता है। जैसे केवल परमाणु में कुछ विकृति नहीं। और जब वे ही परमाणु एक–दूसरे से सम्बन्ध को प्राप्त हो जाते है, तब शब्द, बन्ध, स्थूल, सूक्ष्म, संस्थानादि अनेक पर्यायों के रूप में परिणमित हो जाते हैं।

जैसे स्फटिक मणि स्वयं स्वच्छ स्वभाववाली है, परिणमनशील है, स्वयं केवल लाल परिणमन को नहीं प्राप्त होती। परद्रव्य के द्वारा ही वह स्वयं भिन्नरूप (रागादि) परिणमन करती है। परद्रव्य का सम्बन्ध जैसे स्फटिक मणि को स्वच्छ स्वभाव से च्युत कर उसे भिन्न रूप (रागादि) परिणमन करा देता है, ऐसे ही आत्मा परिणमनशील है–स्वच्छ स्वभाव है। केवल स्वयं रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु परद्रव्य के निमित्त को पाकर रागादि रूप परिणमन को प्राप्त होजाता है तथा अपने स्वच्छ स्वभाव से च्युत हो जाता है।

परद्रव्य भी स्वयं ज्ञानावरणादि रूप नहीं परिणमता। वह भी जीवके रागादि परिणामों का निमित्त पाकर मोहादिरूप परिणमन को प्राप्त हो जाता है। आनादिकाल का यह सम्बन्ध है। किन्तु बीजवृक्षवत् यदि दग्धबीज हो जावे, तब फिर वृक्ष नहीं होता। इसी तरह यदि रागादि भावरूप बीज दग्ध होजावे, तब भवांकुर न हो। अतः जिन्हें यह संसार दग्ध करने की अभिलाषा है, उन्हें उचित है कि वे रागादि त्यागें। केवल गल्पवाद से कुछ न होगा। जैन सिद्धान्त में अल्प भी परिग्रह मोक्षमार्ग में बाधक है।

श्रीकुन्दकुन्द आचार्यने तो यहाँ तक लिखा है कि अल्प भी परिग्रह बन्ध का कारण है। तथाहि–गाथा—

हवदि ण हवदि बंधो मेद हि जीवेऽथ कायचेट्ठम्मि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि सवणा छंडिया सव्वं।

परिग्रह से संयम का घात होता है। यह इस श्लोक से दिखाया गया है। काय के हलनचलन व्यापार से जीव के घात होने पर निश्चय से बन्ध हो वा नहीं हो; किन्तु परिग्रह से नियम से बन्ध होता है। प्रमत्तयोग होने से हिन्सा होती है। यदि प्रमत्तयोग न हो तो हिंसा नहीं होती। परन्तु परिग्रह का रखना ममत्व परिणाम के विना नहीं होता; अतः परिग्रहत्याग ही धर्म का मूल है।

परमार्थ से देखा जावे तो शान्ति के उपाय परिग्रहत्याग में ही हैं। जब हम को किसी पदार्थ को देखने की लालसा होती है, हम जब तक उस पदार्थ को नहीं देख लेते, व्याकुल रहते हैं। इसका मूल कारण देखने की लालसा है। जब हम विषयीभूत पदार्थ को देख लेते हैं, निराकुल हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुवा कि—

देखने की लालसा का परिग्रह ही दुःख का मूल कारण था। उसको मिटने से हम निराकुल हुये। यही पद्धति सर्वत्र जानना चाहिए। इसी प्रकार जो बाह्य पदार्थ को रखते हैं, उनको उस पदार्थ की लालसा है-वही बन्ध का जनक है।

कहां तक लिखें? आचार्योंने जो कुछ परोपकार आदि किये वे भी परिग्रह ही में अंतर्भूत हो जाते हैं। आत्मा जो परोपकारकार्य में प्रवृत्ति करता है इसका मूल कारण परोपकार करने की लालसा है। और लालसा नाम इच्छा का है।

इच्छा आभ्यंतर परिग्रह है। परिग्रह ही दुःख की खानि है। जब तक वह काम न करे, आत्मा में शान्ति नहीं; अतः महर्षियोंने परोपकार किया अपने ही दुःख मेटने के लिये। व्यवहार में कुछ किया कहो। अन्य कथा छोड़ो। आज जो संसार में धार्मिक कार्यों की उत्पत्ति होती है उसका मूल कारण परिग्रह है। यहां तक कि केवली भगवान् की दिव्य ध्वनि के द्वारा संसार के कल्याण का यदि कोई उपदेश होता है-वह भी कैसे? यदि ऐसा कहे तो विचार कर उत्तर यही होगा कि वह भी मोह मे बांधी प्रकृति का उदय है। प्रवचनसारादि ग्रन्थों में महाव्रतादिक होना भी परिग्रह कहा है।

व्रतों का होना संज्वलन कषाय के उदय का कार्य है। वास्तव में देखा जावे तो महाव्रतादि चारित्र नहीं। चारित्र में मल है। जब तक यह मल दूर न होगा, आत्मा यथाख्यात चारित्र का अधिकारी नहीं। चारित्र तो वह है जहां कषाय का लेश नहीं। अन्य कथा छोड़ो। प्रवचनसार में कहा है—

किं किंचणत्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोऽथ देहस्स।
संगत्ति जिणवरिंदा अप्पडिकम्मत्ति मुद्दिट्ठा॥

अथ अहो देखो! अनंतज्ञानादि चतुष्टय या आत्मक मोक्ष के अभिलाषी पुरुष-देह के होने पर भी परिग्रह है। इसीसे अथवा ऐसा जानकर सर्वज्ञ वीतरागदेवने ममत्वभाव रहित शरीर-क्रिया के त्याग का उपदेश किया। क्या अन्य भी परिग्रह हैं? ऐसा तर्क भी होता नहीं। जहां शरीर को भी अपना मानना छूट गया-वहां पर अन्य की कथा छोड़ो। शरीर तो पर है ही। इसकी कथा छोड़ो। जिन भावों द्वारा शरीर में निज कल्पना होती थी तथा पुत्र-कलत्रादि में रागादि परिणाम होते थे उन परिणामों को अपनाना होता था। उसे भी त्यागने का उपदेश है। यह भी छोड़ो। जिन के द्वारा संसार उच्छेद का उपदेश मिलता था, उनमें भी ममता का निषेध बताया है। अन्य कहां तक कहें।

श्री १०८ आचार्य कुन्दकुन्द देवने तो यहां तक पंचास्तिकाय में लिख दिया हैं कि भगवान् का उपदेश है-यदि साक्षान्मोक्ष की अभिलाषा है, तब इस में भी अनुराग छोड़ो (त्यागो)। यह भी कथा त्यागो। मोक्ष में भी अभिलाषा करना मोक्ष का बाधक है। अथ जिन्हें संसार-दुःख निवारण करना इष्ट है तो सर्व पदार्थों का संपर्क त्यागें। सम्पर्क-त्याग से तात्पर्य यह है कि जो हमारी निजत्व की कल्पना होती है वह न हो। पदार्थों का सम्पर्क तो रहेगा, क्यों कि लोक तो षड् द्रव्यमय है। इस लोक में ६ द्रव्य. घृत घट की तरह भरे हुये हैं, वे सर्व पदार्थ आत्मीय-आत्मीय अनंत धर्मों के साथ तादात्म्य संबंध से अनुस्यूत हो रहे हैं।

सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जावे तब जितने गुण हैं वे सर्व गुण अपने २ परिणमन के साथ तादात्म्य संबन्ध रखते हैं। सर्व जुदे २ हैं। सर्वका अविष्वग्भाव संबंध है। इसी संबंध से उन सर्व के पिण्ड को द्रव्य कहते हैं। इन द्रव्यों में दो द्रव्य यानी जीव और पुद्गल-इन दोनों में विभाव नाम की शक्ति है, जिसके सम्बन्ध से दोनों की विलक्षण अवस्था हो जाती है। इसी का नाम संसार है। जब आत्मा की अवस्था संसार होती है तभी आत्मा अपने स्वरूप को विकृत अनुभव करता है। यह कहना अन्यथा नहीं।

आप ही से पूछते हैं। जब आप मिश्री को चखते हैं, तब मीठे रस का अनुभव करते हैं। और यदि मीठे रस के लालची हुये, तब कहना ही क्या है? फूले नहीं समाते। यहां पर थोड़ी दृष्टि लगाइये। क्या ज्ञान मीठा हो गया! ज्ञान तो चेतना का पर्याय है। चेतना अमूर्त्तिक है। कैसे मूर्त्ति-परिणमन को प्राप्त हुवा? तब यही कहना पड़ेगा कि जैसे दर्पण में मुख झलकता है। क्या दर्पण में मुख चला गया? नहीं गया। मुख के सान्निध्य को पाकर दर्पण का परिणमन हो गया? मुख से भिन्न वह परिणमन है। इसी प्रकार मिश्री का मीठा-पन मिश्री में है। किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान में ऐसा ही होता है। यही कारण है जो इन्द्रिय-

जन्य ज्ञान को कथञ्चित् मूर्तिक कहा । परमार्थ से ज्ञान मूर्तिक नहीं । उसी तरह आत्मा व्यवहार से परपदार्थों के साथ सम्बन्ध होने से अनन्त संसार का पात्र होता हुआ ८४ लक्ष योनियों में परिभ्रमण कर रहा है । जिस योनि में जाता है उसी में अहम्बुद्धि मान लेता है । और पदार्थ अपनी मान्यता के अनुकूल हुए तो उनमें राग और जो प्रतिकूल हुये उन में द्वेष कल्पना कर मोह–राग–द्वेष के द्वारा इसी संसारचक्र में भ्रमण करता रहता है । वास्तव में देखें तो आज तक हम इस मूल में ऐसे उलझे हैं कि जो स्वयं जान कर भी नहीं संभलते । अहम्बुद्धि कभी पर में नहीं होती ।

मैं सुखी, दुःखी, रंक, राव हूं । क्या इसमें आप का परिचय नहीं है ? परन्तु फिर भी कोई प्रयत्न कर के इनको पृथक् करने का नहीं । मोह–मदिरा से उन्मत्त इसी चक्र में आत्मा फंस गया है । कोई उपाय दृष्टिपात नहीं होता । नशा उतरने पर यदि फिर से मदिरापान न करें तब आराम पा सकता है । परन्तु फिर उसी संस्कार के द्वारा वही मदिरापान करता है और फिर उसी चक्र में आ जाता है । संसार को सुधारने का उपाय–प्रयत्न करता है । आप सुधरे इस पर दृष्टि नहीं । अनादिकाल से परपदार्थों को ही सुख का कारण मान कर संचय करने का सतत प्रयत्न करता है ।

संचय करने का लक्ष्य केवल अन्तरङ्ग की अभिलाषा है । यद्यपि उन पदार्थों में कोई भी प्रयोजन निज का नहीं । केवल हम संसार में उच्चतम मनुष्यों की गणनामें मुख्यतम माने जावें–ऐसा मानना कुछ सुखकर नहीं । कल्पना करो प्रथम तो ऐसा होना असंभव ही । अथवा हो भी जावे तो भी इससे सुख होने का क्या सम्बन्ध है ? सुख तो निरभिलाषा में है । अभिलाषा निरन्तर परपदार्थों की होती है जो हमारे नहीं । जो हमारे नहीं उन्हे अपनाने की कल्पना ही अनंत संसार का जनक है । जिन को जितनी विशेष आकांक्षा होगी वे उतने ही दुःखी होंगे ।

लोक में जितना अधिक धन जिसके होगा, वह उतना ही दुःखी होगा । संसार में मध्यलोक में सर्व से अधिक परिग्रही चक्री होता है; परन्तु निरन्तर वह यही चाहता है कि कब इस आपत्ति से पृथक् हो जाऊं । यदि वह परिग्रह सुखकर होता तो उससे विरक्त होने का भाव न करता । भाव ही नहीं, विरक्त हो जाता है और फल उसका जो है उसे प्राप्त करता है । यह तो अन्य की कथा है ।

मनुष्य को उचित है कि वह अपनी परिस्थिति के अनुकूल पदार्थों का संचय करे तो लाभ है, सो नहीं । हमारे मन में यह विचार लिखते–लिखते आयाः—

जो तुम जगत् के मनुष्यों के संचय की कथा लिख रहे हो इस से तुमको क्या लाभ ?

मेरी बुद्धि में यही आया जो परिग्रह संचय करनेवाला है वह चाहे सुखी हो, चाहे दुःखी। हम अपने समय को आत्मनिर्मलता करने में लगाते जिससे शांति पाते-सो तो किया नहीं। केवल अन्य की कथा करके व्यर्थ दुःख के पात्र बनते हो। मोही जीवों की यही दुर्दशा होती है। परन्तु अपनी दुर्दशा का अनुभव नहीं करता। केवल जगत को दुःखी मानकर उनके दुःख निवारणार्थ प्रयत्न करता है। वे इसके प्रयत्न से चाहे सुखी हों, चाहे दुःखी हों। वे जानें, पर आप तो नियम से दुःखी हो जाता है। इस लेख को लिखकर मुझे तो कुछ आनन्द नहीं आया। क्यों? मैं स्वयं परिग्रही बन गया। प्रथम तो इस लेख को लिखने में अन्य विचारो से चित्त को हटा कर इसी लेख की चिन्ता में लग गया। लिखने के वास्ते कागजों की याचना करनी पड़ी। स्याही की आवश्यकता हुई। अन्य कार्यों में समय को न लगा कर इसी में लगाने की चिन्ता हुई। यह सर्व हो कर यह चिन्ता हुई कि लोग प्रसन्न होंगे या नहीं, कोई अप्रसन्न तो न हो जावेगा। आगम तो यह कहता है जो गुरुविनय, गुरुवाक्य, परोपकार के कार्य, आगम-रचना यह भी परिग्रह हैं।

सम्यग्दर्शन के होते ही परपदार्थ मात्र में उपेक्षा आजाती है। अन्य का विकल्प छोड़ो। जो महाव्रतों का पालना यह भी परिग्रह है; क्यों कि संज्वलन कषाय के उदय में यह भाव होता है जो बन्ध का जनक है। यह जाने दो। जो अपायविचय में यह भाव होते है कि कैसे यह प्राणी संसार मार्ग से च्युत होकर मोक्षमार्ग में आवे! यह भी परिग्रह है-बंध का कारण है।

अतः जिन्हें अपरिग्रह का आनंद लेना हो, उन्हें उचित है कि वे परिग्रह की अभिलाषा परित्याग करदें। तदुक्तं—

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागिता?॥

जो मूढ हैं उसके परिग्रह में वीतरागभाव देखा जाता है। जिस को देह में आस्ता नहीं हैं उसके न किसी से राग है और न किसी पदार्थ में विराग है। जो शरीर को आत्मीय धन मानता है उसी के अनेक प्रकार के भाव देखे जाते है। कभी तो राग और कभी द्वेष करता है। जिसके परपदार्थ से भिन्न निज का परिचय हो गया है वह शरीर में निज को नहीं देखता। जब पर में परत्वबुद्धि और आप में निजत्वबुद्धि हो गयी, तब परवस्तु चाहे छिद जावे, चाहे भिद जावे, चाहे विप्रलय को प्राप्त हो जावे हमें दुःख नहीं होता। अतः सिद्धान्त यह निकला कि परवस्तु को जानना बुरा नहीं। उसे निज मानना ही अनर्थ परम्पराओं का मूल है। आज जगत् मात्र दुःखी क्यों है? परको अपनाता है। भारत में

विदेशीय सत्ता थी और सहस्रों वर्ष उनने यहां पर शासन किया। शासन में जो होता है वही उनने किया। अन्त में यही निश्चय किया कि ग्रह पर है, इस को त्यागना ही श्रेयस्कर है।

अन्त में अत्यंत निर्मलता के साथ छोड़ कर चले गये और इतिहास में अपूर्व उदाहरण लिखवा गये। यदि इसी दृष्टान्त को हम अपने ऊपर लागू करें, तब जगत् के पदार्थों को छोड़ने में विलम्ब करना अच्छा नहीं। यह जो दृष्टान्त दिया उस का अन्तर्दृष्टि से विचार करो। तब यही आवेगा कि परवस्तु को अपनाना ही संसार का मूल है।

सारांश—

लिखना इसमें बहुत है, परन्तु लिखने में असमर्थ हैं। सार यही है—

"दुःख का मूल परिग्रह है और सुख का मूल अपरिग्रह।" जो पदार्थ पर हैं वे तो भिन्न हैं ही। उनका त्याग करना तो हो ही रहा है। जिन भावों से उन्हें निज मानते हो वे रागादिभाव जो विकृतभाव है और आत्मा को अनंत संसार का पात्र बनाते हैं उन्हें त्यागो। उनका त्याग ही परिग्रहत्याग है। इसीका नाम अपरिग्रह है।

इसके होने पर आत्मा को वह शान्ति मिलती है जिसका अनन्तवां भाग भी इन्द्र, चक्रवर्ती महाराजा को दुर्लभ है।

जीवों की वेदना

पं० मुनिश्री कन्हैयालालजी महाराज " कमल "

विद् ज्ञाने धातु से वेदना शब्द की निष्पत्ति होती है; अतः स्वतः सिद्ध है कि जड़ चैतन्यमय इस जगत में केवल चैतन्य ही संवेदनशील है। क्योंकि-" जीवो उवओग-लक्खणो " इस आगम वाक्य से चैतन्य का लक्षण ही उपयोग अर्थात् अनुभूति कहा गया है।

इष्ट, अनिष्ट पुद्गल का संयोग होने पर मन और इन्द्रियों के माध्यम से चैतन्य को जो अनुभूति होती है उसे ही वेदना कहते हैं।

यदि अभेद विवक्षा से कहा जाए तो वेदना एक सामान्य शब्द है; अतएव वेदना का एक ही प्रकार है। और भेद विवक्षा से कहा जाए तो वेदना के अनेक भेद हो सकते हैं। किन्तु वेदना शब्द के श्रवण मात्र से सर्वसाधारण को जो अवबोध होता है वह केवल सुख-दुःख की अनुभूति का होता है, अत एव वेदना संबंधी विविध विचारों का मूल यही अनुभूति है।

सुख-दुःख की अनुभूति यद्यपि प्राणीमात्र को होती है और प्राणीमात्र को सुख प्रिय एवं दु:ख अप्रिय है। किन्तु सुख-दुःख की परिभाषा क्या है? १. सुख-दुःख के देनेवाले कौन हैं? २. सुख-दुःख के निमित्त एवं उपादान क्या हैं? ३. और सुख-दुःख की अनुभूति सबको समान होती है या नहीं?

प्राणी जगत् की इन जटिल पहेलियों का हल भगवान् महावीर और उनके समकालीन विचारकोंने निकाला है उसीका संक्षिप्त संदर्भ जैन आगमों से उद्धृत कर यहां प्रस्तुत किया है।

सापेक्ष वेदना—

जैन आगमों में प्रत्येक वस्तु के गुण-धर्म का चिन्तन निरपेक्ष नहीं होता, अपितु किसी एक अपेक्षा को लेकर होता है; अत एव जैनों का सापेक्षवाद सुप्रसिद्ध है। प्रस्तुत वेदना विषयक कथन भी सापेक्ष है।

वैषयिक सुख का अभिलाषी वैराग्यमय जीवन को दुःखी जीवन मानता है-' पव्वज्जा हु दुक्खं ', उत्त०। और आध्यात्मिक सुख का अभिलाषी भोगमय जीवन को दुःखी जीवन मानता है-' सव्वे कामा दुहावहा ', उत्त०। जो पुद्गल एक को इष्ट हैं, वे दूसरे को अनिष्ट

हैं और जो एक को अनिष्ट हैं, वे दूसरे को इष्ट हैं। जैसे–नीम के पत्ते मनुष्य को कड़वे लगते हैं और ऊंट उन्हें बड़े चाव से खाता है। अत एव सुख–दुःख सदा सापेक्ष होते हैं।

सुख–दुःख का प्रत्यक्ष दर्शन—

राजगृह में कुछ ऐसे दार्शनिक थे जो भगवान् महावीर के मन्तव्यों के आलोचक थे। वे जनसाधारण के सामने भगवान् महावीर पर ऐसा आक्षेप करते थे कि यदि महावीर सर्वज्ञ या सर्वदर्शी हैं तो राजगृहनिवासियों को बोर यावत् जूं, लीख जितने परिमाण में भी सुख–दुःख का प्रत्यक्ष दर्शन करा दें।

भगवान् महावीर इस आक्षेप का परिहार इस प्रकार करते थेः—

हे गौतम! सारे संसार में भी कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जो कभी किसी व्यक्ति को सुख–दुःख का प्रत्यक्ष दर्शन करा सकता हो; क्योंकि ज्ञान अमूर्त होता है और सुख–दुःख का अनुभव भी उपयोग–ज्ञानरूप होता है। इस संबंध में भगवान् महावीरने यह युक्ति भी दी हैः—

जिस प्रकार एक महान् शक्तिशाली देव सुगन्धित द्रव्यों से भरे हुए डिब्बे का ढकन खोलकर केवल तीन चुटकियों में संपूर्ण जम्बूद्वीप की इक्कीस परिक्रमा करता हुआ उस डिब्बे के सुगंधित पुद्गलों को सारे जम्बूद्वीप में फैला देता है, फैले हुए उन मूर्त सुगन्धित पुद्गलों को एकत्र करके कोई मानव किसी भी मानव को बोर यावत् जूं, लीख जितने परिमाण में यदि प्रत्यक्ष नहीं दिखा सकता है तो सुख–दुःख के अमूर्त अनुभव को मूर्त रूप में कैसे प्रत्यक्ष करा सकता है। (भग० श० ६, उ० १०.)

सुख–दुःख का कर्त्ताः—

भगवान् महावीर के समय में राजगृह में अनेक दार्शनिक थे। उनमें से कुछ दार्शनिकों का यह मन्तव्य था कि प्रत्येक व्यक्ति को सुख–दुःख का देनेवाला ईश्वर है अथवा व्यक्ति के इष्ट देवी–देवता या स्वजन–सबंधी प्रसन्न होने पर सुख और अप्रसन्न होने पर दुःख देते हैं। किन्तु इस संबंध में भगवान् महावीर का क्या मंतव्य है यह जानने के लिये गौतम गणधरने भगवान् महावीर से एक समय पूछाः—

भगवन्! जीवों को जो सुख–दुःख है, वह आत्मकृत है अपना किया हुआ है, परकृत या उभयकृत है?

हे गौतम! जीवों को जो सुख–दुःख है वह आत्मकृत है; किन्तु परकृत या उभयकृत नहीं है। और यही स्थिति चौवीस दण्डक में स्थित समस्त सांसारिक जीवों की है अर्थात् भगवान् महावीर की यही मान्यता थी कि सभी जीव अपने ही किये हुए कर्मफल से सुखी

और दुःखी होते हैं । व्यवहार में सुख-दुःख के निमित्त कारण अन्य हो सकते हैं; किन्तु वास्तव में उपादान कारण तो व्यक्ति का स्वकृत कर्म ही होता है । (भग० श० १७, उ० ४.)

गाहाओ–जहेह सीहोव मिअङ्गहाय, मच्चू नरं नेइ हू अंतकाले ।
नतस्त माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मंसहरा भवंति ॥
न तस्स दुक्खं विभयंतिनाइओ, न मित्त वग्गा न सुया न बंधवा ।
एकोसयं पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥ (उत० अ० १३.)

जिस प्रकार मृग को सिंह ले जाता है उस समय उसे कोई बचा नहीं सकता है । इसी प्रकार मानव को मृत्यु ले जाती है, उस समय उसके माता-पिता, भाई-बहन, स्वजन और मित्र कोई उसे बचा नहीं सकते और न उसके दुःखों को बाट सकते हैं । अपितु अपने किये हुए कर्मों को वही भोगता है; क्यों कि कर्म कर्ता का ही अनुसरण करता है ।

इसके लिये आगम में एक उदाहरण है :—

मालव देश के एक गांव में एक सेठ बहुत ही संपन्न था । उसके मकान की दिवारें काठ की बनी हुई थीं । कुछ चोर उस सेठ के वहां चोरी करना चाहते थे, किन्तु वे लकड़ी की दीवार में सेंध लगाना नहीं जानते थे । इस लिए वे एक चतुर बढ़ई को कुछ प्रलोभन देकर साथ ले गए । इधर बढ़ई दीवार में बड़ी कुशलता से कर्णिकाकार छेद बना रहा था । उधर खट २ की आवाज से गृहस्वामी जाग गया था । छिद्र तैयार होने पर चोरोंने कहा, "पहले तूं प्रवेश कर, बाद में हम ।" बढ़ई ने ज्यों ही अन्दर पैर डाले, सतर्क गृहस्वामीने उसके पैर पकड़ लिए । बढईने साथी चोर से कहा, "कोई अन्दर खेंच रहा है; इस लिए तुम मुझें बाहर खेंचो ।" गृहस्वामी और चोर बढ़ई को पूरा बल लगाकर बहुत देर तक खेंचते रहे । इस खींचतान की प्रबल पीड़ा से बढ़ई अपने ही बनाये हुए सेंध में मर गया । इसी तरह किए हुए कर्मों का क्षय(मोक्ष) फल भोगे विना नहीं होता । (उत० अ० ४, गा० ३.)

वेदना का अनुभव—

जीव जब निश्चित रूप से आत्मकृत वेदना का अनुभव करता है, तब तो जिस प्रकार भोजन करते ही क्षुधा शान्त होती है और पानी पीने पर पिपासा शान्त होती है; इसी प्रकार कर्मबन्ध होते ही कर्मफल की प्राप्ति होनी चाहिए । किन्तु कर्म सिद्धात के अनुसार कर्मबन्ध के बाद भी विपाक काल "अबाधाकाल" पूरा हुए विना फलप्राप्ति नहीं होती है । इस देरी का कारण जानने के लिए भगवान् महावीर से गौतम गणधरने एक समय पूछाः—

हे भगवन् !-क्या जीव स्वयंकृत दुःख-सुख का वेदन करता है ?

हे गौतम ! उदय हुए कर्म का ही वेदन करता है, अनुदय कर्म का नहीं। और यही स्थिति चौवीस दंडक स्थित समस्त सांसारिक जीवों की है। जिस प्रकार वृक्ष का धान्य या वीज बोते ही फलप्राप्ति नहीं होती है; इसी प्रकार विपाक काल पूरा हुए विना कर्मफल की प्राप्ति नहीं होती है। (भग० श० १ उ० २.)

एकान्त दुःख—

भगवान महावीर के समकालीन कुछ दार्शनिक ऐसे थे जो संसार में केवल दुःख ही दुःख मानते थे; किन्तु उनका यह मन्तव्य भगवान् महावीर की दृष्टि में युक्तिसंगत नहीं था। क्यों कि नैरयिक जीवों में एकान्त दुःख वेदना होते हुए भी कुछ क्षण सुख संवेदन के होते हैं और वे क्षण तीर्थंकर-जन्म और मित्रदेव के मिलने के होते हैं।

भवनपति आदि चारों देवनिकायों में यावज्जीवन सुख सवेदन होते हुए भी कुछ क्षण दुःख वेदन के होते हैं और वे क्षण परस्पर विग्रह, मात्सर्य, च्यवन से पूर्व, अन्य देव द्वारा देवी या आभरण का अपहरण आदि के होते हैं। तिर्यंच और मनुष्य भी अपने जीवन में कभी सुख और कभी दुःख का अनुभव करते है। (भग० श० ६ उ० १०.)

वेदना में परिवर्तन—

जो जीव इस जन्म में दुःखी है वह अनन्त अतीत के जन्मों में भी दुःखी ही था और अनन्त अनागत जन्मों में भी वह जीव दुःखी ही रहेगा। इसी प्रकार जो जीव इस जन्म में सुखी है वह अतीत में भी सुखी था और अनागत में भी सुखी ही रहेगा। दुःखी सुखी नहीं हो सकता और सुखी दुःखी नहीं हो सकता—कुछ दार्शनिक जन साधारण में ऐसी भ्रान्त धारणा फैला रहे थे। इस संबंध में भगवान् महावीर से गौतम गणधरने एक समय पूछा—

हे भगवन् ! जीव तीनों काल में कभी दुःखी और कभी सुखी—इस प्रकार नाना रूपों में परिणत होता है या एक रूप में ही स्थित रहता है ?

हे गौतम ! कर्मबद्ध जीव कभी दुःखी और कभी सुखी—इस प्रकार नाना रूपों में परिणत होता है। किन्तु एक रूप में परिणत नहीं रहता। कर्ममुक्त जीव ही एक रूप में परिणत रहता है। (भग० श० ६, उ० १०.)

वेदना के भेद और संवेदनशील जीवों का वर्गीकरण—

१. सुख-दुःख और दुःख-सुख का एक साथ सवेदन।

२. साता-असाता और साता-असाता साता असाता का एक साथ सवेदन।

प्रकृतियां मन्दफलदा हो जाती हैं और अशुभ अध्यवसाय एवं अशुभ अनुष्ठान से मन्द-फलदा प्रकृतियां तीव्रफलदा हो जाती हैं। (भग० श० ५, उ० ५.)

वेदना के तीन भेद—

शारीरिक, मानसिक और शारीरिक–मानसिक 'दोनों एक साथ।' रोगों से होनेवाली वेदना शारीरिक, पश्चाताप या चिन्ताजन्य वेदना मानसिक और रोग एवं चिंता से एक साथ होनेवाली वेदना शारीर–मानसी कही जाती हैं। नरक, देव, गर्भज, तिर्यंच और मनुष्यों को तीनों वेदना होती हैं और समस्त संमूर्छिम जीवों को केवल शारीरिक वेदना होती है।

(पन्न० पद ३५.)

स्पर्शज वेदना के तीन भेद—

"शीत, उष्ण और शीतोष्ण" ये तीनों वेदना क्षेत्र और काल की अपेक्षा से सुखद और दुःखद होती हैं। शीतऋतु में शीत स्पर्श दुःखद और उष्ण स्पर्श सुखद होता है। ग्रीष्मऋतु में उष्ण स्पर्श दुःखद और शीत स्पर्श सुखद होता है। वसंत या वर्षा में शीतोष्ण स्पर्श सुखद होता है। देव, मनुष्य और तिर्यंच में ये तीनों वेदनाएं होती हैं। प्रथम तीन नरकों में उष्ण वेदना, चौथी, पांचवी और छठी में शीत और उष्ण दो वेदना और सातवीं नरक में एकान्त शीत वेदना होती है। (पन्न० पद ३५.)

मानसिक वेदना के दो भेद—

"निदा और अनिदा"

"नितरां निश्चितं वा सम्यग्दीयते चित्तमस्यामिति निदा" इस व्युत्पत्ति से यह सिद्ध है कि जिस वेदना में मन का व्यापार निश्चित हो वह निदा वेदना कही जाती है। तीव्र मानसिक संकल्प से जब वेदना का अनुभव होता है वह निदा वेदना और मन्द मानसिक संकल्प से जब वेदना का अनुभव होता है अनिदा वेदना कही जाती है।

जो जीव पूर्व जन्म में और इह जन्म में गर्भज होते हैं वे निदा वेदनावाले होते हैं, जो जीव पूर्व जन्म में और इह जन्म में समूर्छिम 'मनरहित' होते हैं वे अनिदा वेदनावाले होते हैं और जो जीव पूर्व जन्म में संमूर्छिम और इह जन्म में गर्भज होते हैं वे निदा–अनिदा दोनों वेदनावाले होते हैं। अथवा विवेकवान् की वेदना निदा और अविवेकी की वेदना अनिदा कही जाती है। नैरयिक, भवनपति, वाणव्यन्तर, गर्भज, तिर्यंच और मनुष्य निदा अनिदा, कहीं दोनों वेदनावाले होते है। संमूर्छिम तिर्यंच और मनुष्य केवल अनिदा वेदनावाले होते हैं। ज्योतिषी और वैमानिक सम्यग्दृष्टि-देवों की निदा वेदना और मिथ्यादृष्टि देवों की अनिदा वेदना होती है। (पन्न० पद ३५)

वेदना के चार भेद—

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से वेदना चार प्रकार की होती हैः—

१. द्रव्यवेदना–किसी पदार्थ के निमित्त से जो वेदना होती है वह द्रव्यवेदना कही जाती है।

२. क्षेत्रवेदना–नरक आदि स्थानविशेष जो वेदना होती है वह क्षेत्रवेदना कही जाती है।

३. कालवेदना–नरकायु आदि जीवनकाल के निमित्त से जो वेदना होती है वह कालवेदना कही जाती है।

४. भाववेदना–वेदनीय कर्म के उदय से जो वेदना होती है वह भाववेदना कही जाती है। चारों वेदनाएं चौवीस दंडक के समस्त सांसारिक जीवों को होती हैं। (पन्न० पद ३५)

इच्छा या अनिच्छापूर्वक वेदना—

वेदना दो प्रकार की है—अकाम वेदना, सकाम वेदना। संज्ञी जीव मन के सद्भाव में समर्थ और असंज्ञी जीव मन के अभाव में असमर्थ माने गए हैं; क्योंकि सुखद संयोग पाकर प्रवृत्त होने का और दुःखद प्रसंग पाकर निवृत्त होने का सामर्थ्य केवल संज्ञी जीव में है–असंज्ञी जीवों में नहीं। असंज्ञी जीव अकाम वेदनावाले होते है और संज्ञी जीव अकाम–सकाम दोनों वेदनावाले होते है।

असंज्ञी जीवों की अकाम वेदना—

जिस प्रकार निर्मल नेत्रवाला मनुष्य भी दीपक के विना अंधकार में पड़े हुए पदार्थों को देखता नहीं है अथवा नीचे, ऊपर या सामने पड़े हुए पदार्थों को अवलोकन किए विना देखता नहीं है। फिर भी अंधेरे में या अकस्मात् सामने पड़ा हुआ इष्ट या अनिष्ट पदार्थ पाकर सुखी या दुःखी होता है। इसी प्रकार कई इच्छाशक्तिसंपन्न संज्ञी जीव भी इच्छा के विना किसी पदार्थ को प्राप्त नहीं करते हैं। फिर भी अकस्मात् इच्छा के विना भी इष्ट या अनिष्ट पदार्थ पाकर सुखी या दुःखी होते हैं–यही संज्ञी जीवों की अकाम वेदना है।

संज्ञी जीवों की सकाम वेदना—

जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति समुद्र लांघे विना समुद्र पार के दृश्य नहीं देख सकता अथवा स्वर्ग में गए विना स्वर्गीय सुख नहीं पा सकता। फिर भी जिस की समुद्र पार के दृश्य देखने की और स्वर्गीय सुख पाने की तीव्र अभिलाषा है वह व्यक्ति केवल तीव्र संकल्प से सुखी या दुःखी होता है। इसी प्रकार कई संज्ञी जीव भी केवल इच्छा से ही सुखी या दुःखी होते हैं अर्थात् सकाम वेदनावाले होते हैं। (भग० श० ७, उ० ७)

नारकीय वेदना—

नारकीय जीव दस प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं—सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, कण्डू, चिंता, भय, शोक, जरा और व्याधि। (ठा० अ० १०, भग० श० ७, उ० ८.)

जिस प्रकार सशक्त सुदृढ़ शिल्पी लोहे को पक्ष पर्यन्त प्रखर ताप से तपाकर यदि उष्ण वेदना से विकल नैरयिक पर डाले तथापि मानव लोक का अत्युष्ण लोहा उस नैरयिक को उष्ण प्रतीत नहीं होता है। अथवा जिस प्रकार ग्रीष्मऋतु में सूर्यताप से संतप्त वृद्ध गजराज जलाशय में जलक्रीडा करके सुखानुभव करता है, ठीक इसी प्रकार उष्ण वेदनावान् नैरयिक भी मानवलोक की प्रचण्ड अग्नि में सुखद स्पर्श का अनुभव करता है। इसी प्रकार शीत वेदनावाले नैरयिक को भी मानवलोक के हिमपुञ्ज का अति शीत स्पर्श भी शीत प्रतीत नहीं होता है। उक्त दोनों उदाहरणों में शीत स्पर्श का कथन घटित करना चाहिए। (जीवा० प्रति० ३)

स्थावर जीवों की वेदना—

पृथ्वीकाय आदि स्थावर जीवों की वेदना का स्वरूप समझाने के लिए सर्वज्ञ भगवान् महावीरने दो उदाहरण दिये हैं:—

जिस प्रकार बलवान युवा पुरुष जराजर्जरित देह-दुर्बल-ग्लान वृद्ध के मस्तक पर अपने दोनों हाथों से प्रहार करता है, उस समय वह वृद्ध जैसी वेदना का अनुभव करता है उससे भी अधिक अनिष्ट, अकांत, अप्रिय, अमनोज्ञ वेदना का अनुभव स्थावर जीव करते हैं। (भग० श० १९, उ० ३.)

अथवा—जिस प्रकार एक अपंग, अंध, मूक, बधिर व्यक्ति के बदन में एक युवा पुरुष सुचीवेध करता है, उस समय उस अपंग, अंध, मूक, बधिर व्यक्ति को जैसी वेदना होती है वैसी ही वेदना स्थावर जीवों को होती है। वेदना की अनुभूति भी उस पुरुष की तरह स्थावर जीव भी केवल स्पर्श इन्द्रिय से कर सकते है। (आचा० प्रथम)

देवताओं का सुख-संवेदन—

जिस प्रकार एक स्वस्थ सुन्दर और संपन्न युवक अपनी अति सुन्दरी नवविवाहिता प्राणप्रिया को अपने घर छोड़कर व्यापार के लिए विदेश में जाय। वहां वह सोलह वर्ष तक व्यापार करता रहे और संचित विपुल धनराशि को लेकर पुनः स्वदेश लौटे, उस समय वह चिर विवाहिता प्राणप्रिया पतिदेव का हृदय से स्वागत करे और वह पाककुशला विविध पकान्न, मिष्टान और व्यञ्जन बनाये। युवक भी स्नान करके वसनभूषण से सुसज्जित होकर भोजन करने बैठे, पत्नी पंखा झलती रहे और पति को भोजन कराती रहे। भोजन के बाद युवक स्वजन-

संबंधियों से मिलने में दिन बिताए, संध्या होने पर पत्नी शयनागार सजावे, स्वयं भी सुसज्जित होकर सुकोमल शय्या पर प्राणप्रिय के साथ बैठे, कुछ देर तक उस चिर विरही युगल की वार्ताएं हों और बाद में वे दोनों प्रणय-प्रकर्ष से सांसारिक सुख-साधना में निमग्न हों-उस समय उस युवक-युवति-युगल को जैसा सुखानुभव होता है, उससे भी अनन्त गुणा अधिक सुख का अनुभव देव-देवियों को होता है।

वाणव्यंतर देवों से नागकुमार आदि सभी भवनपतियों का और उनसे असुरेन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा, चन्द्र, सूर्य आदि उत्तरोत्तर समस्त सुरसमूह का सुखानुभव अनन्त गुणा अधिक है। (सूर्य० पन्न०)

यहां यह ध्यान रहे कि जिन जीवों को वेदनाबुद्धि ग्राह्य नहीं है उन्हीं जीवों की वेदना का सोदाहरण वर्णन आगमों में किया गया है।

सुख-दुःख के कारण—

आगमों में सुख दो प्रकार का कहा गया है-वैषयिक सुख, आध्यात्मिक सुख। वैषयिक सुख-दुःख का कारण वेदनीय कर्म माना गया है। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं-सातावेदनीय और असातावेदनीय। सांसारिक वैषयिक सुख का वेदन सातावेदनीय उदय से और दुःख का वेदन असातावेदनीय के उदय से होता है।

प्राणीमात्र के प्रति अनुकंपा आदि शुभ अध्यवसायों से आकर्षित शुभ पुद्गल संघात का जब आत्मा के साथ संबंध होता है तब सातावेदनीय कर्म का बंध कहा जाता है।

प्राणातिपात आदि पापाचरण के समय अशुभ अध्यवसायों से आकर्षित अशुभ पुद्गल संघात का जब आत्मा के साथ संबंध होता है तब असातावेदनीय कर्म का बंध कहा जाता है।

जिस व्यक्ति के सातावेदनीय कर्म का उदय होता है उसे इष्ट, कान्त, प्रिय एवं मनोज्ञ पुद्गलों का संयोग सुखकारक होता है। (भग० श० ६, उ० ७)

जिस व्यक्ति के असातावेदनीय कर्म उदय होता है उसे अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय एवं अमनोज्ञ पुद्गलों का संयोग और मनोज्ञ पुद्गलों का वियोग दुःखकारक होता है।
(भग० श० ६, उ० ७)

नैरयिक जीवों को सदा अनिष्ट पुद्गलों का ही संयोग होता है; इसलिए वे सदा दुःख का ही वेदन करते हैं। देवताओं को सदा इष्ट पुद्गलों का ही संयोग होता है; इसलिए वे सदा सुख का ही संवेदन करते हैं। तिर्यंच और मनुष्यों को कभी इष्ट पुद्गलों और कभी अनिष्ट पुद्गलों का संयोग होता रहता है; इसलिए वे कभी सुख और कभी दुःख भोगते हैं।
(भग० श० १४, उ० ९)

मानव जीवन के सुख—

१ आरोग्य, २ दीर्घ आयु, ३ धन-धान्य से परिपूर्णता, ४ काम, ५ भोग, ६ संतोष, ७ मनोरथों की पूर्ति, ८ सुखभोग, ९ निष्क्रमण और १० अनाबाध। अंतिम दो सुख आध्यात्मिक जीवन के हैं। (ठा० सू० ७३७)

वेदनीय कर्म का उदाहरण—

जिस प्रकार मधुलिप्त असिधारा का आस्वादक मधु के आस्वाद से सुखानुभूति और असिधारा के स्पर्श से जिह्वाछेदजन्य दुःखानुभूति करता है, ठीक इसी प्रकार आत्मा भी इष्ट पुद्गल के योग से सुखानुभूति और अनिष्ट पुद्गल के योग से दुःखानुभूति करती है। (कर्म० भा० १)

वेदनीय कर्म के भेद—

फलकी अपेक्षा से सातावेदनीय के आठ भेद हैं-मनोज्ञ, शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, मनसुख, वचनसुख और कायसुख। इसी प्रकार असातावेदनीय के भी आठ भेद हैं-अमनोज्ञशब्द यावत् कायअसुख। (पन्न० कर्मप्रकृति पद २३)

कारणों की अपेक्षा से सातावेदनीय के दो भेद हैं-ईर्यापथिक अर्थात् केवलयोगहेतुक, सांपरायिक अर्थात् कषायहेतुक। असातावेदनीय केवल सांपरायिक-कषायहेतुक ही होता है।

वेदनीय कर्म की स्थिति और अबाधाकाल—

योगहेतुक साता वेदनीय कर्म की स्थिति केवल दो समय की है। सांपरायिक सातावेदनीय कर्म की स्थिति जघन्य बारह मुहूर्त, उत्कृष्ट पंद्रह कोटाकोटि सागरोपम और अबाधाकाल पंद्रह सौ वर्ष का है। असातावेदनीय की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून एक सागरोपम की, उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागर की और अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। यहां अबाधाकाल उत्कृष्ट कहा गया है; अतएव बद्धकर्म की स्थिति के अनुसार ही अबाधाकाल समझना चाहिए। बद्धकर्म में फल देने की शक्ति का संचय अबाधाकाल में ही होता है। (पन्न० कर्म० २३)

वेश्याओं, कसाइयों और हिंसकों को संपन्न और सुखी देख कर तथा धार्मिक पुरुषों को दरिद्री और दुःखी देख कर बहुत से व्यक्तियों की यह धारणा बन गई है कि पापी सुखी और धर्मात्मा दुःखी होते हैं।

भगवान् महावीरने इन विचारों का प्रतिवाद करते हुये कहा हैं कि तीनों काल में अर्थात् सर्वदा समस्त दुःखों का मूल पापकर्म होता है और सुखों का मूल पुण्यकर्म होता है और यही स्थिति समस्त सांसारिक जीवों की है। (भग० श० ७, उ० ८)

आध्यात्मिक सुख—

वेदना प्रचुर इस विश्व में सुख कहां? जहां देखो वहां दुःख ही दुःख है।
यथा गाथा—जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।

अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ की संति जंतुणो ॥ १५ ॥ (उत० अ० १९)

यद्यपि सातावेदनीय के उदय से वैषयिक सुख का अनुभव सांसारिक जीवों को होता है; किन्तु वह भी सुख नहीं, सुखानुभास है। क्यों कि—

गाथा—जहा किंपाग फलाणं, परिणामो न सुन्दरो।

एवं भूत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥ (उत० १९-१७.)

आयुर्वेद में किंपाक फल, मीठा विष 'वच्छनाग' को कहते हैं। जिस प्रकार मीठा विष खाते समय मीठा लगता है; किन्तु परिणमन होने पर प्राणहर होता है। इसी प्रकार क्षणिक वैषयिक सुख प्रारम्भ में अच्छे लगते हैं और बाद में उन सुखों की आसक्ति से ही व्यक्ति के प्राण जाते हैं।

अथवा श्लेष्म का आस्वादन करती हुई मक्षिका श्लेष्म से लिपट कर ही मरती है, इसी प्रकार भोगों में आसक्त व्यक्ति की मृत्यु भी भोगों के भोगते २ ही होती है; अतएव श्रमण की साधना आध्यात्मिक सुख के लिए होती है। जिस प्रकार विद्यार्थी का अध्ययनकाल सुखमय नहीं होता, अपितु अध्ययन के बाद का जीवन सुखमय होता है। इसी प्रकार श्रमण का साधना काल सुखमय नहीं होता अपितु उत्तरकाल सुखमय होता है; क्योंकि साधनाकाल में अनेक प्रकार के उपसर्ग, परीषह तथा तपाचरणजन्य दुःख होते हैं। किन्तु—

यत्तदग्रे विषमिव, परिणामेऽमृतोपमम्।

तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तं, गीता० ॥ ३७ ॥

साधना की सफलता पर प्राप्त होनेवाला सुख अव्याबाध होता है। कहा भी है— "सव्व दुक्ख पहीणट्ठा-पक्कमंति महेसिणो" अर्थात् दुःखों का समूल नाश करने के लिए महर्षियों की साधना होती है।

आत्मिक सुख का अमोघ उपाय—

भगवान् महावीरने कहा—

गाथा—आयावयाही! चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।

छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि सम्पराए ॥ ५ ॥

(दशवै० अ० २)

इस विश्व में यदि निराबाध सुख चाहते हो तो जिस प्रकार मार्गातिक्रामक अश्व को बागडोर मोड़ कर सुपथ पर लाया जाता है, उसी प्रकार इष्ट, अनिष्ट विषयों के राग-द्वेष से तुम अपने मन को मोड़ कर साधना के सुपथ पर लगाओ, इच्छओं का निग्रह करो और सुकुमार से कोमल शरीर का मोह छोड़ कर आतापना लो, क्लेशाकुल विश्व में सुख प्राप्त करने का यही एक मात्र उपाय है ।

श्रमण का सुख—

वेदनीय कर्म के क्षयोपशम से होनेवाला श्रमणों का आध्यात्मिक सुख केवल अनुभव-गम्य होता है, शब्दगम्य नहीं । फिर भी मानव की जिज्ञासा पूर्ती करने के लिए भगवान् महावीरने श्रमण के सुख की तुलना की है:—

एक मास के दीक्षित का सुख व्यन्तर देवों के सुख से, दो मास के दीक्षित श्रमण का सुख नागकुमार आदि भवनपतियों के सुख से, तीन मास के दीक्षित श्रमण का सुख असुरेन्द्र के सुख से, आगे क्रमशः यावत्, एक वर्ष के दीक्षित का सुख सर्वार्थसिद्ध के देवों के सुख से अधिक है । यह वर्णन रत्नत्रय के यथार्थ आराधक श्रमण का है । (भग० श० १४, उ० ९)

श्रमण की साधना—

जिस प्रकार पाथेय (वह भोज्य वस्तु जिसे पथिक राह में खाने के लिए अपने साथ ले जाता है) साथ लेनेवाले मनुष्य की यात्रा सुखद और न लेनेवाले की यात्रा दुःखद होती है, इसी प्रकार रत्नत्रय की साधना रूप पाथेय साथ लेनेवाले साधक की परभव यात्रा सुखद और न लेनेवाले की परभव यात्रा दुःखद होती है । (उत्त०)

सिद्धों का सुख—

वेदनीय कर्म के आत्यंतिक क्षय से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है । यद्यपि सिद्धों का सुख अनुपम है, फिर भी समझने के लिये कुछ कल्पनाएं प्रस्तुत की गई हैं—

१. जिस प्रकार एक पुरुष सर्व रसनिष्पन्न भोजन से क्षुधा पिपासा से निवृत्त हो जाय और उसकी उस अविच्छिन्न अमित तृप्ति के सुख से सिद्धों के सुख की तुलना की जाय तो तुलना नहीं हो सकती ।

२. संसार के समस्त मानवीय और दैवी सुख से भी सिद्धों के सुख की तुलना नहीं हो सकती ।

३. शाश्वत, अनन्त, अतीत, अनागत और वर्तमान के दैवी सुख से भी सिद्धों के सुख की तुलना नहीं हो सकती । (उववाई)

मरण कैसा हो ?

उपाध्याय श्री हस्तीमलजी महाराज

संसार में संभव ही कोई प्राणी हो जो मरण को नहीं जानता हो। छोटे से छोटे कीट, पतंग से लेकर नरेन्द्र, असुरेन्द्र और देवेन्द्र तक भी इसके प्रभाव से प्रभावित हैं।

भयंकर से भयंकर रोग में फंसनेवाला असहाय रोगी भी मरना नहीं चाहता। भले उसे कितना ही रोग, शोक, वियोग या अपमान सहना पड़े। फिर भी वह प्राणी यही चाहेगा कि मरूं नहीं। कारण मरण सब से बड़ा भय है। कहा भी है:–'मरण समं नत्थिभयं'। मरण से बचने के लिये मनुष्य हर संभव उपाय को करने के लिये तैयार रहता है। उसने मृत्युञ्जय और महामृत्युञ्जय के भी पाठ कराये, सुसज्जित सेनाओं के बीच अपने को सुरक्षित रक्खा; फिर भी मरण से नहीं बच पाया। मरण के सामने मंत्रबल, तंत्रबल, यंत्रबल और शस्त्रबल सभी बेकार हैं। कहावत भी है:–'काल वेताल की धाक तिहु लोक में।' सच है जगत के जीवमात्र मरण का नाम सुनते ही रोमांचित हो जाते हैं।

किन्तु ज्ञानी कहते हैं–"मृत्योर्बिभेषिकिं मूढ ?" मूर्ख ! मृत्यु से क्यों डरता है ? यह तो पुराना चोला छोड़कर नया धारण करना है। इसमें भयभीत होने की क्या बात है ? निर्भय और निर्मल भाव से कर्त्तव्य पालन कर, फिर देख कि मरण भी तेरे लिये मङ्गल महोत्सव बन जायगा।

अतः यह जानना आवश्यक है कि मरण क्या है और वह कितने प्रकार का है ? तथा उत्तम मरण कैसा होना चाहिये।

जैनशास्त्र कहते हैं कि संसार का कोई भी द्रव्य सर्वथा नष्ट नहीं होता। अतः प्रश्न होता है कि 'मरण' जिसको कि नाश कहते हैं कैसे संगत होगा ? कारण द्रव्य का लक्षण 'उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त सत्' कहा है। उसका कभी नाश नहीं होता, तब मरण क्या हुआ ? यहां मरण का अर्थ आत्यन्तिक तिरोभाव या अदर्शन है। जब आयु पूर्ण कर जीव किसी शरीर से अलग होता है याने जीव या प्राणों का शरीर से सर्वथा संबंध छूट जाता है उसे मरण कहते हैं।

यद्यपि आत्मा अजर, अमर और अजन्मा है। वास्तव में उसका न जन्म है और

न मरण; फिर भी संसारावस्था में शरीरधारी जीव का शरीर की अपेक्षा जन्म और मरण कहा जाता है। संक्षेप में कहना चाहिये कि वर्तमान शरीर को छोड़कर जीव का प्रयाण कर जाना ही मरण है।

प्रकारः—जैनशास्त्रों में मरण पर बहुत गंभीर विचार किया गया है। श्रीस्थानाङ्ग, श्रीभगवती, श्रीउत्तराध्ययन आदि अंगोपांग सूत्रों के अतिरिक्त जैनाचार्योंने मरण पर स्वतंत्र प्रकरण भी लिखे हैं। मरणविभत्ति, भत्तपच्चक्खाण और समाधिमरण उनमें खास उल्लेख योग्य हैं।

यह निश्चित है कि संसार में दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थ मात्र एक दिन विलय होने वाले हैं। अचेतन में जड़ होने से हर्ष, शोक के भाव उत्पन्न नहीं होते। चेतन होने से जीव को ही हर्ष, शोक होते हैं। इसलिये यहां इसी के मरण का विचार करना है। आत्म-दर्शी महात्माओंने कहा है कि मरण केवल दुःखदायी ही नहीं वह सुखप्रद भी होता है।

अज्ञानी और ज्ञानी की दृष्टि से मरण भी बुरा और भला होता है। अज्ञानी पर्याय-दृष्टिप्रधान होने से प्राण-वियोग पर रोता और दुःख करता है, वहाँ ज्ञानी दिव्यदृष्टि की प्रधानता से धन, जन, प्राण के वियोग में भी प्रसन्न रहता है, सदा समरस रहता है। ठीक ही कहा है कि अज्ञानी मरण से डरते हैं, जब कि ज्ञानी उसको सहर्ष गले लगाते हैं। कारण, ज्ञानी समझता है कि मैं तो त्रिकाल सत्य हूँ, इस शरीर के पहले भी था, अब भी हूँ और शरीर छूटने पर भी रहूँगा, फिर सुकृताचरण से मैं कृतकृत्य हो चूका हूँ, अतः मुझे मरण से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। कहा भी है—"मरणादपि नोद्विजते कृतकृत्योऽस्मीति धर्माऽत्मा" शास्त्रों में मरण का विस्तार निम्नरूप से किया हैः—

भगवतीसूत्र में मरण के ५ प्रकार बतलाए हैं। जैसे—१ आवीचिमरण, २ अवधि-मरण, ३ आत्यन्तिकमरण, ४ बालमरण, ५ पंडितमरण।

प्रथम तीन प्रकार के मरण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव भेद से पांच २ प्रकार के बतलाये गए हैं[१]। प्रति समय आयुकर्म के दलिकों का क्षीण होते जाना यह आवीचिमरण है।

---

१. कइविहेणं भंते! मरणे पण्णत्ते? गोयमा! पंचविहे मरणे पण्णत्ते। तं जहा—आवीचियमरणे, ओहिमरणे, आदिं-तियमरणे, बालमरणे, पंडियमरणे। आवीचियमरणे णं भंते! कइविहे पण्णत्ते?। गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते! तं जहा—दव्वावीचियमरणे, खेत्तावीचियमरणे, कालावीचियमरणे, भवावीचियमरणे, भावावीचियमरणे। दव्वावीचियमरणे णं भंते! कइविहे पन्नत्ते? गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते। त जहा—णेरइयदव्वावीचियमरणे, तिरिक्खजोणियदव्वावीचियमरणे, मणुस्सदव्वावीचियमरणे, देवदव्वावीचियमरणे। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—णेरइयदव्वावीचियमरणे? गोयमा! जण्णं णेरइया णेरइए दव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं णेरइयाउयत्ताए गहियाइं बद्धाइं पुट्ठाइं कडाइं पट्ठवियाइं निविट्ठाइं अभिणिविट्ठाइं अभिसमण्णागयाइं भवंति, ताइं दव्वाइं आवीचि अणुसमय णिरंतर मरतीतिकट्टु, से तेणट्ठेण गोयमा! एवं वुच्चइ-णेरइय-

नरक आदि भव की स्थिति पूर्ण कर जो तत् तत् भवानुबन्धी सामग्री का त्याग किया जाता है वह अवधिमरण है। और एक बार मरने के बाद फिर उस भव से नहीं मरना यह आत्यन्तिकमरण है।

फिर स्थानांग सूत्र में मरण के तीन प्रकार भी बतलाये हैं।[२] जैसे–१. बालमरण, २. पंडितमरण, ३. बालपंडितमरण। विवेकरहित अविरत जीव का मरण बालमरण, तत्वज्ञानी संयमी का मरण पंडितमरण और सम्यग्दृष्टि व्रती गृहस्थ का मरण बालपंडितमरण कहलाता है। परिणामों के स्थिर, अस्थिर और वर्धमान शुभाध्यवसायों से प्रत्येक के तीन २ भेद होते हैं।

बालमरण जन्म–मरण की वृद्धि का कारण है। अतएव श्रमण भगवान् श्रीमहावीरने

दव्वावीचियमरणे एवं। जाव देवदव्वावीचियमरणे। खेत्तावीचियमरणे णं भते! कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–णेरइयखेत्तावीचियमरणे जाव देवखेत्तावीचियमरणे। से केणट्ठेणं भंते! एव वुच्चइ–णेरइयखेत्तावीचियमरणे। णेरइयखेत्तावीचियमरणे? गोयमा! जण्णं णेरइया णेरइयखेत्ते वट्टमाणा जाइं दव्वाइं णेरइयाउयत्ताए, एवं जहेव दव्वावीचियमरणे तहेव खेत्तावीचियमरणेऽपि एवं० जाव भावावीचियमरणे। ओहिमरणे णं भंते! कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा–दव्वोहिमरणे, खेत्तोहिमरणे० जाव भावोहिमरणे। दव्वोहिमरणेणं भंते! कइविहे पण्णत्ते?। गोयमा! चउव्विहे पन्नत्ते। त जहा–णेरइयदव्वोहिमरणे० जाव देवदव्वोहिमरणे। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ–णेरइयदव्वोहिमरणे णेरइयदव्वोहिमरणे?। गोयमा! जण्णं णेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं सपइं मरति जण्ण णेरइया ताइं दव्वाइं अणागए काले पुणो वि मरिस्सति, से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव दव्वोहिमरणे, एवं तिरिक्खजोणिय० मणुस्स० देवदव्वोहिमरणे वि। एव एएण गमएणं खेत्तोहिमरणे वि, कालोहिमरणे वि, भवोहिमरणे वि, भावोहिमरणे वि। आदितियमरणे णं भंते! पुच्छा? गोयमा! पचविहे पण्णत्ते। तं जहा–दव्वादितियमरणे, खेत्तादितियमरणे० जाव भावादितियमरणे। दव्वादितियमरणे ण भंते! कइविहे पण्णत्ते?। गोयमा! चउव्विहे पण्णत्ते त जहा–णेरइयदव्वाइंतियमरणे० जाव देवदव्वाइंतियमरणे। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ–णेरइयदव्वाइंतियमरणे णेरयइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं सपयं–मरति, जेणं णेरइया ताइं दव्वाइं अणागए काले णो पुणो वि मरिस्सति से तेणट्ठेण०जाव मरणे, एवं तिरिक्ख० मणुस्स० देवादितियमरणे, एवं खेत्ताइंतियमरणे वि। एवं जाव भावादितियमरणे वि। बालमरणेणं भंते! कइविहे पण्णत्ते? गोयमा दुवालसविहे पण्णत्ते?। तं जहा–बालयमरणे जहा खंदए० जाव गिद्धपिट्ठे॥ पंडियमरणे णं भते। कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते! तं जहा–पाओवगमणे य, भत्तपच्चक्खाणे य। पाओवगमणे णं भते! कइविहे पण्णत्ते?। गोयमा! दुविहे पण्णत्ते। तंजहा–णीहारिमे य, अणीहारिमे य० जाव णियमा अपडिक्कमे। भत्तपच्चक्खाणे णं भते! कइविहे पण्णत्ते? एवं तं चेव णवर णियमा सपडिकम्मे! सेवं भते। भंते ति [सूत्र ४९६] भ १३, श० ७ उ।

२. तिविहे मरणे पण्णत्ते तं जहा–बालमरणे, पडियमरणे, बालपंडियमरणे। बालमरणे तिविहे पण्णत्ते तं जहा–ठिअलेस्से, सकिलिट्ठलेस्से, पज्जवजातलेस्से। पडियमरणे तिविहे पण्णते तं जहा–ठिअलेस्से, असकिलिट्ठलेस्से, पज्जवजातलेस्से। बालपंडियमरणे तिविहे पण्णत्ते त जहा–ठिअलेस्से, असकिलिट्ठलेस्से, पज्जवजातलेस्से।

स्था. ३ उ. [२२२ सूत्र]

कहा है कि[1] तपस्वी निग्रन्थों को ऐसे मरण से नहीं मरना चाहिये। वे मरण निम्न प्रकार हैं—१. बलयमरण, २. वशार्तमरण, ३. निदानमरण, ४. तद्भवमरण, ५. गिरिपतन, ६. तरुपतन, ७. जलप्रवेश, ८. अग्निप्रवेश, ९. विषभक्षण, १०. शस्त्रघात, ११. वैहायस, १२. गृद्धपृष्ठमरण। बलायमरण आदि का स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) भूख प्यास आदि परिषहों से घबरा कर असंयम सेवन करते मरना बलायमरण है। (२) पतङ्ग आदि की तरह शब्दादि विषयों के अधीन होकर मरना वशार्तमरण है, जैसे किसी कामिनी के पीछे कामी का प्राण गंवाना। (३) ऋद्धि आदि की प्रार्थना करके सम्भूति मुनि की तरह मरना निदानमरण है। (४) जिस भव में है उसी जन्म (योनी) का आयु बांध कर मरना तद्भवमरण है। (५) पर्वत से गिर के मरना। (६) वृक्ष से लटक कर मरना। (७) जल में डूब कर मरना। (८) आग में सती आदि की तरह जीते जल मरना। (९) विष खा कर मरना। (१०) शस्त्र से आत्महत्या कर लेना। (११) फांसी लेकर मरना। (१२) पशु के कलेवर में गीध आदि का भक्ष्य बन कर मरना।

उपरोक्त १२ प्रकार के मरण से मरनेवाला जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के अनन्त २ जन्म करता हुआ चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है। इस प्रकार यह 'बालमरण' संसार को बढानेवाला है। भगवान् महावीर कहते हैं—"कौटुम्बिक झगडों से तंग आकर या धन-हानि, जन-हानि और मान-हानि की व्याकुलता में मरना दु:ख को घटाना नहीं बढ़ाना है"–यह 'पंडितमरण नहीं बालमरण' है।

माता, पिता, पुत्र या पति, पत्नी आदि प्रियजन के वियोग में मर जाना अथवा मृत पति के साथ जीते जल जाना भी उत्तम मरण नहीं है। बहुतसी बार मनुष्य शोक, मोह और अज्ञान के वश भी प्राण गमा देता है। व्यापार, धंधे में हानि उठाकर लेनदारों को देने की अक्षमता से सैंकडोंने मान-प्रतिष्ठा की आग में प्राणों की बलि कर दी और करते जाते हैं। अर्थाभाव में पारिवारिक भरण-पोषण और कर्जदारी की चिंता से भी कई हलाहल पी कर मरण की शरण ले लेते हैं। घर की लड़ाई-झगडों से तंग आकर और दुःख में ऊब कर भी कई ललनाएँ तेल छिटक कर जल मरती है। नौकरी नहीं मिलने से कई शिक्षित युवक और

१. दो मरणाइं समणेणं भगवया महावीरेगं समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं पणियाइं, णो णिच्चं कित्तियाइं, णो णिच्चं पूइयाइं, णो णिच्चं पमत्थाइं, णो णिच्च अब्भणुन्नायाइं भवंति। तंजहा-वलायमरणे चेव, वसट्टमरणे चेव १, एव णियाणमरणे चेव, तब्भवमरणे चेव २, गिरिपडणे चेव, तरुपडणे चेव ३, जलप्पवेसे चेव, जलणप्पवसे चेव ४, विसभक्खणे चेव, सत्थोवाडने चेव ५। दो मरणाइं० जावणो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं भवंति, कारणेग पुण अप्पडिकुट्ठाइं। तंजहा-वेहागसे चेव, गिद्धपट्ठे चेव ६।

परीक्षा में फेल होकर कई विद्यार्थी प्रतिवर्ष जीवन समाप्त करते सुने जाते हैं। इस प्रकार इच्छा से मरनेवालों की संख्या कम नहीं हैं। वास्तव में ये सब अकाम-मरण या बालमरण हैं। इस प्रकार चिन्ता, शोक या अभाव में झुलस कर कई मानव अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। सचमुच यह देश और समाज के लिये कलंक की बात है। समाज और राष्ट्र-नायकों को इसका उचित हल निकालना चाहिये। ऐसे अविवेकपूर्वक अकाममरण से मरना दुःख घटानेवाला नहीं होता। इससे तत्काल ऐसा प्रतीत होता है कि मर जाने से मैं अपनी आंखों यह दुःख नहीं देख पाऊँगा; किन्तु उसे ध्यान रखना चाहिये कि अकाममरण से वर्तमान का दुःख लाखों गुणा होकर फिर सामने आ सकता है। जब कि आज का विचारपूर्ण समर्थ मन भी नहीं रह पाता। सच बात यह हैं कि दुःख भगने से नहीं छूटता, वह तो शांतिपूर्वक भोगने से छूटता है।

पंडितमरण और उसके प्रकारः—भगवतीसूत्र के द्वितीय शतक, प्रथम उद्देश में प्रभुने खंदक संन्यासी को मरण का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि-पंडितमरण दो प्रकार का है-पादोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान। नीहारिम और अनीहारिम रूप से पादोपगमन दो प्रकार का हैं। यह प्रतिकर्म रहित ही होता है। भक्तप्रत्याख्यान नीहारिम और अनीहारिम दोनों प्रकार का सप्रतिकर्म होता है-अर्थात् इसमें शरीर की हलन-चलन रूप चेष्टाएं तथा सार-संभाल होती है। इन दोनों प्रकार के पंडितमरण से मरनेवाला जीव अनन्त-अनन्त नरक, तिर्यंच आदि के जन्म-मरण से आत्मा को विमुक्त करता यावत् संसार को पार करता है। भक्त प्रत्याख्यान आदि का स्वरूप एवं भेद निम्न दिये जाते हैं।

भक्तप्रत्यानख्यान-जिसमें तीन या चार प्रकार के आहारमात्र का त्याग होता है, और शरीर का हलन-चलन बन्द नहीं किया जाता उसे भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं।

इंगितमरण-इसमें सर्वथा खाने-पीने का त्याग किया जाता और मर्यादित क्षेत्र के अतिरिक्त शरीर से गमनागमन आदि चेष्टा भी नहीं की जाती है। पादोपगमन में यह विशेषता है कि वह शरीर की कोई चेष्टा नहीं करता, न करवट ही बदलता है। दूसरा भले कोई उसे इधर से उधर बैठा दे या करवट बदल दे, किन्तु स्वयं वह कोई चेष्टा नहीं करता, वृक्ष की तरह अडोल पड़ा रहता है।

भक्तप्रत्याख्यान में जलाहार लिया जाता है और वह सागारी भी होता है; किन्तु इंगितमरण और पादोपगमन में कोई आगार नहीं होता, न कोई जलाहार ही ग्रहण किया जाता है। भक्तप्रत्याख्यान सर्वदा सबके लिये सुलभ है; परन्तु इंगितमरण एवं पादोपगमन प्रथम ३ संहनन में और विशिष्ट श्रुतधारी को ही होते हैं। व्यवहार भाष्य में कहा है कि

सभी आर्या और सब प्रथम संहननहीन जीव तथा सब देशविरति भक्तप्रत्याख्यान को ही प्राप्त करते हैं।

पादोपगमनवाले को कभी पूर्वभव के वैर से कोई देव पातालकलशों में संहरण करदे तो वह उपसर्ग को सम्यक् प्रकार से सहन करता है। उस समय ऐसा सोचता है कि जैसे तलवार म्यान से भिन्न है, ऐसे जीव शरीर से भिन्न है; अतः उपसर्ग से मेरी कोई हानि नहीं होती। जैसे मेरु पूर्वादि चारों दिशा की प्रचण्ड वायु से कम्पित नहीं होता, वैसे पादोपगमन-वाला उपसर्ग में भी ध्यान से चलायमान नहीं होता है।

इनका आदर्श होता है उग्रतम कष्ट के समय भी अविचल रहकर मरण का आलिंगन करना। देखिये, कृष्ण वासुदेव के लघुभाई गजसुकुमारने मरणान्त कष्ट के समय भी कैसी अखण्ड शांति कायम रक्खी। भगवान् नेमनाथ की अनुमति लेकर जब महामुनि महाकाल श्मशान में ध्यान लगाकर देह-भान को भुलाकर आत्मध्यान में तल्लीन हो गये, उस समय सोमल ब्राह्मण उधर से निकला और महामुनि को देखते ही क्रोध से जल उठा। उसने गीली मिट्टी लेकर मुनि के शिर पर बाँधी तथा अंगारे रख दिये। शिर जलने लगा और नसें खिचने लगीं, फिर भी मुनिजी के मन में उफ तक नहीं; क्योंकि उन्होने क्रोध, मान, माया, लोभ के आंतर विकारों को जला दिया एवं प्राणीमात्र को आत्मसम समझ लिया था। अंतर में एक ही आवाज गूंजती थी कि-"मैं एक और शाश्वत हूँ। मेरा स्वरूप ज्ञान, दर्शन है। धन, दारा और परिवार आदि सब बाह्यभाव पर हैं। और वे संयोग सम्बन्ध से अपने व पराये होते हैं। वास्तव में ये मेरे नहीं। ज्ञान, दर्शनरूप उपयोग स्वभाव ही मेरा है। जो न कभी जलता है और न कभी गलता है।" कहा भी है—

"एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥"

अंग अंग के जलने पर भी गजसुकुमाल की प्रसन्नता अविचल रही और क्षणों में ही अखण्ड समाधि के साथ उन्होंने सकल कर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्त करली।

अधिकारी—वे लोग इसके अधिकारी नहीं होते, जिनका जीवन हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पापों में रचा-पचा होता है। जो अजितेन्द्रिय होकर अभक्ष्य भक्षण करता और विषय कषाय में रति मानता है वैसे असंयमशील प्राणियों का अंतिम समय में हाहाकार करते प्रयाण होता है। उनको पंडितमरण प्राप्त नहीं होता। अतः यह बालमरण है। क्रोध, लोभ या मोह और अज्ञान के वश जो आत्म-हत्याएं की जाती हैं वे सब भी बालमरण हैं।

अन्तिम क्षण तक भौतिक कामना की आकुलता होने से ये अकाममरण से मरते हैं। अतः पंडितमरण के अधिकारी नहीं होते।

संयमशील व्रती गृहस्थ या महाव्रतधारी साधु-साध्वी जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के पूर्ण त्यागी और जितेन्द्रिय हैं, आरंभ परिग्रह और विषय-कषाय से मन को मोड़ कर जिन्हों ने परमात्मा के चरणों में चित्त लगा दिया एवं ज्ञान के प्रकाश में जड़-चेतन का भेद समझकर तन, धन, परिजन से ममता हटाली है वे ही पंडितमरण के अधिकारी होते हैं। पंडितमरण में केवल विशुद्ध हेतु और प्रसन्नता के साथ देहत्याग किया जाता है; अतः इसे सकाममरण भी कहते हैं। सभी साधु और श्रावक पंडितमरण को प्राप्त नहीं करते, किन्तु पंडितमरण के अधिकारी कुछ विशिष्ट पुरुष ही होते है। जैसे कहा भी है—

न इमं सवेसु भिक्खुसु, न इमं सव्वेसुऽगारिसु।
नाणा सीला अगारत्था, विसम-सीला य भिक्खुणो ॥ उ. ५ ॥

यह मरण सभी भिक्षुओं में नहीं होता, न सब गृहस्थों को होता है। कारण विभिन्न-शील स्वभाव के गृहस्थ होते हैं और भिक्षुओं के भी संयमस्थान समान नहीं होते।

देखिये हजार वर्ष का संयम पालन करके भी कुंडरीकने चन्द दिनों की भोग-भावना में मरण बिगाड़ लिया, परिणामस्वरूप उसको नरक में जाना पड़ा और पुंडरीकने जीवन का लम्बा समय भोग एवं राग में बिता कर भी अंतिम दिनों की पवित्र साधना से जीवन सुधार लिया और पंडितमरण से मरकर सुगति प्राप्त की। यह पंडितमरण की ही महिमा है।

ज्ञानी कहते है-यदि तुम दुःख से ऊब गए हो, सहने की शक्ति खो चुके हो और मरना चाहते हो तो चिन्ता-शोक में देह को गला कर मरने की अपेक्षा तप-संयम में देह को विवेकपूर्वक गलाओ और ध्यानाग्नि में दुःख को जला कर हंसते-हंसते मरो, रोते हुए क्यों मरते हो।

विधिः—जब समझलो कि अब शरीर अधिक समय तक टिकनेवाला नहीं है अथवा धर्मरक्षा के लिये प्राणों का त्याग करना हैं तब सर्वप्रथम मन से वैरविरोध भुला कर अंतरात्मा को स्वच्छ बना लेना चाहिये। फिर तन, मन, धन, परिजनादि बाह्य वस्तुओं से मन मोड़ कर, आत्मस्वरूप में वृत्ति जमा कर, सदा के लिये अकरणीय पापकर्म और चतुर्विध आहार का त्याग कर लेना चाहिये।

अर्हन्त सिद्ध की साक्षि से यह निश्चय कर लो कि संसार के दृश्य पदार्थ सब पर और नाशवान् हैं। उनको अपना समझ कर ही चिरकाल से मैं भटक रहा हूँ, यह मेरा अज्ञान है।

वास्तव में तन एवं धन की हानि से मेरी कोई हानि नहीं होती। मैं सदा शुद्ध, बुद्ध एवं समरस हूँ। आग में जलना, पानी में गलना और रोग से सड़ना मेरा स्वभाव नहीं है। सड़ना, गलना, जलना आदि देह के धर्म हैं, अतः इस परमप्रिय देह का भी आज से स्नेह छोड़ता हूँ। मेरा न किसी पर राग है, न किसी पर द्वेष।

इसी प्रकार के मरण से अंवड़ सन्यासी के ७०० शिष्योंने भी सुगति प्राप्त की थी। कंपिलपुर से पुरिमताल की ओर जाते समय जब उनके पास का पानी समाप्त हो गया और तृषा के मारे होठ-कंठ सूखने लगे, तब उन्होंने उस दुःखद स्थिति में निम्न प्रकार का पंडितमरण स्वीकार किया था।

पहले गंगा के किनारे बालू को देखा, साफ किया और फिर पूर्वाभिमुख पर्यंकासन से बैठ कर दोनों हाथ जोड़े हुए इस प्रकार बोले-" नमस्कार हो सिद्धिप्राप्त जिनवर को और नमस्कार हो सिद्धिगति पानेवाले श्रमण भगवान् महावीर को, फिर नमस्कार हो हमारे धर्माचार्य धर्मगुरु अम्बड़ परिव्राजक को। हमने पहले धर्मगुरु अम्बड़ के पास स्थूल हिंसा, झूठ, अदत्त, संपूर्ण मैथुन और परिग्रह का त्याग किया है। अब श्रमण भगवान् महावीर के पास आजीवन सब प्रकार के हिंसा, झूठ, अदत्त, कुशील और परिग्रह का त्याग करते हैं। हम सर्वथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, अरतिरति, मायामृषा, और मिथ्यादर्शनशल्यरूप अकरणीय पापकर्म का आजीवन त्याग करते हैं। जीवन भर के लिये सब प्रकार का अनशनादि चतुर्विध आहार भी छोड़ते हैं और यह भी शरीर जो आज तक इष्ट, कांत एवं अत्यन्त प्रेमपात्र रहा जिसको सदा भूख, प्यास, सरदी, गरमी, दंश-मच्छर, चोरव्याल और रोग-शोक से बचाते रहे, उस प्रिय तन की भी अन्तिम श्वासोच्छ्वास के साथ हम ममता छोड़ते हैं। अब कुछ भी हो, इस ओर ध्यान नहीं देंगे। यह पंडितमरण ग्रहण करने की विधि है।

इस प्रकार वे संलेखनापूर्वक आमरण अनशन में काल की अपेक्षा नहीं करते हुए विचरते रहे। अन्तिम समय अनशनपूर्वक समाधिभाव में मरण पा कर ब्रह्मलोक के अधिकारी बने। उन्होंने अपना मरण सुधार लिया।

आत्महत्या और समाधिमरण:—बहुत से लोग यह समझा करते हैं कि संथारा या भत्तपच्चक्खाण से मरना यह आत्महत्या है। उनको समझना चाहिये कि आत्महत्या और समाधिमरण में बड़ा अन्तर है। आत्महत्या में निष्कारण शोक या मोहादिवश शरीर नष्ट किया जाता है। उसमें चिंता-शोक की आकुलता या मोह की विकलता होती है, जब कि समाधिमरण में भय, शोक को भूल कर प्रसन्न मन से सब को मैत्रीभाव से देखते हुए निर्मोह

भाव में देह त्याग किया जाता है। आत्महत्या में देह का दुरुपयोग है, जब कि समाधिमरण सभी प्रकार के वेगों को शान्त कर स्वस्थ मन से आयुकाल की निकट अंत में समाप्ति समझ कर किया जाता है।

आत्महत्या किसी कामना को लेकर होती है। उसमें क्रोध, लोभ या शोक, मोह कारण होते हैं, जब कि समाधिमरण निष्काम होता है। इसमें सभी प्रकार के विकारों को नष्ट कर केवल आत्मशुद्धि का ही लक्ष्य होता है।

समाधिमरण में ये पांच दूषण माने गये है। १. इस लोक में तन, धन, वैभव आदि सुखों की इच्छा करना, २. इन्द्रादि पद या स्वर्गीय सुख की आशा करना, ३. अधिक जीने की इच्छा करना, ४. कष्ट से घबरा कर जल्द मरने की इच्छा करना, ५. कामभोग-इन्द्रिय-सुखों की वांछा करना।

समाधिमरण में वहाँ कोई कामना नहीं रहती, वहां शरीर को अक्षम समझ कर या शील धर्मादि की रक्षा के लिये अनिवार्य समझ कर पवित्र हेतु से आत्महित के लिये शरीर त्यागा जाता है। अतः यह किसी तरह आत्महत्या नहीं कहा जा सकता। यह तो समाधिमरण या पंडितमरण है।

मरण महिमाः—मनुष्य चाहे जैसी भी उच्च कुल, जाति या योनि में उत्पन्न हुआ हो, यदि जीवन का सध्यामरण अंधकारपूर्ण है तो उसका सारा परिश्रम और साधन-संकलन व्यर्थ है। उसका जन्म दुःखवृद्धि के लिये है। वास्तव में जीवन शिक्षाकाल है और मरण परीक्षा-काल। जीवन कार्यकाल है और मरण विश्रांतिकाल। जैन महर्षिओंने कहा है कि—जिसका मरण सुधरा उसका जीवन सुधरा समझो और मरण बिगड़ा तो जीवन बिगड़ा समझो; क्यों कि मरण की संध्या पार करके ही प्राणी जीवन के नवप्रभात की ओर जाता है। शास्त्र में भी कहा हैः—

अन्तोमुहुत्तंमि गए, अन्तोमुहुत्तंमि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं जीवा गच्छन्ति परलोयं॥ उ. ३४॥

जिस लेश्या में जीव काल करता है, अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जीव परलोक में भी उसी लेश्यास्थान में जाकर उत्पन्न होता है। अतः आत्महितैषियों के लिये मरण सुधार की ओर लक्ष्य देना अत्यावश्यक है। शास्त्र कहते हैं कि तनधारी प्राणीमात्र को मरना तो है ही, चाहे धैर्यपूर्वक कष्टों को शांति से सह कर मरे या कायर की तरह दीन होकर मरे। तन, धन एवं परिवार के लिये अकुलाते हुए मरे या सब से ममता हटा कर निराकुल भाव से मरे। सत्य-

शील की आराधना करते हुए मरे अथवा शीलरहित अव्रत दशा में मरे। दोनों दिशामें मरना तो अवश्य है। तब कायर की तरह विलखते मरने की अपेक्षा संयमशील हो कर धैर्य से हंसते हुए मरना ही अच्छा है। कहा भी है:—

धीरेणं वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं।
दुण्हंपि हु मरियव्वे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥ ६४॥
सीलेण वि मरियव्वं निस्सीलेण वि अवस्स मरियव्वं।
दुण्हंपि हु मरियव्वे, वरं खु सीलत्तणे मरिउं॥ ६५॥ आतु० प.

उर्दू कविने भी कहा है—

" हंस के दुनियां में मरा, कोइ कोइ रोके मरा।
जिन्दगी पाई मगर, उसने जो कुछ हो के मरा॥ "

विद्वानों को ऐसे ही मरण से मरना चाहिये। इस प्रकार मरनेवाले मर के भी अमरता के भागी होते हैं।

अभ्युद्यत मरणविधि —(टिप्पण) विवेकी पुरुष जीवन की अन्तिम घड़ियों में पूरी सतर्कता रखते हैं, क्यों कि उस समय की जरासी गलती बने–बनाये काम को बिगाड़ देती है। अतः ज्योंही उन्हें जीवन–यात्रा में लम्बे समय तक शरीर टिकनेवाला नहीं है ऐसा प्रतिभासित होता है, त्योंही विना विलम्ब वे मरण को शानदार बनाने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। तन, धन, परिजन और सम्मान से मन मोड़कर वे एक मात्र आत्मलक्षी हो जाते हैं। तब पराये गुणावगुण देखने की अपेक्षा उनको आत्मदर्शी होकर अपना निरीक्षण करना ही अधिक प्रिय होता है और जीवन की छोटी–मोटी कोई भी चूक हो उसको विना संकोच के गीतार्थ के पास आलोचना द्वारा प्रगट करना और यथायोग्य प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि करना उनका प्रधान लक्ष्य होता है। जैसे सुयोग्य वैद्य भी अपनी चिकित्सा दूसरे से कराता है, वैसे ज्ञानसंपन्न साधक भी अन्य गीतार्थ के सम्मुख अपनी आलोचना करते और आत्मशुद्धि करते हैं।

मरण की तैयारी के लिये शास्त्रों में पहले संलेखना का विधान है। वह जघन्य ६ मास और उत्कृष्ट १२ वर्ष की होती है। उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ वें अध्याय में कहा है कि १२ वर्ष की उत्कृष्ट संलेखना, मध्यम १ वर्ष और जघन्य ६ मास की होती है। जो इस प्रकार है–पहले ४ वर्ष दूध आदि विगई का त्याग किया जाता है और दूसरे चार वर्ष में उपवास, वेला आदि विचित्र तप किये जाते हैं। फिर दो वर्ष एकान्तर तप और पारणक में आयंबिल किया जाता है। इग्यारहवें वर्ष में ६ महीने का सामान्य तप किया जाता और

६ महीने विकृष्ट तप किया जाता है। इसमें आयंबिल भी परिमित किये जाते हैं। बारवें वर्ष में उपवास आदि के पारणक में कोटि सहित आयंबिल आदि किये जाते हैं। बीच २ में मास और पक्ष के अनशन भी करते हैं। अ. ३६। २५२–५६।

व्यवहार सूत्र के दशम उद्देश के भाष्य में भी इस का विस्तार से वर्णन मिलता है। वहां प्रथम के चार वर्षों में विचित्र तप का इच्छानुसार–कामगुण पारणा और दूसरे चार वर्षों में विगइ, त्यागपूर्वक पारणा का उल्लेख है भा. ४१२ से ४२१। मध्यम और जघन्य संलेखना भी ऐसे मास और पक्ष के विभाग से की जाती हैं। इस प्रकार संलेखना के अनन्तर गुरु या गीतार्थ परीक्षित ही सामान्य रूप से इस मरण को स्वीकार करते हैं।

संलेखना द्वारा केवल शरीर को ही क्षीण नहीं किया जाता, बल्कि अन्तर के विकारों को भी क्षीण किया जाता है। जब तक आन्तरिक विकार क्षीण नहीं होते साधक उत्तम मरण को प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिये पहले परीक्षा की जाती थी। मनोनुकूल उत्तम भोजन को पाकर भी जब मरणार्थी उसको ग्रहण नहीं करता तब तक उसकी अगृध्नुता समझली जाती थी। इस पर एक छोटा उदाहरण दिया गया है—

किसी समय एक आचार्य के पास भक्त परिक्षार्थी शिष्य आया और उसने कहा, "मैं भक्त प्रत्याख्यान करना चाहता हूं।" तब आचार्यने पूछा–"तुमने सलेखना की है या नहीं?" शिष्य को आचार्य की बात से विचार हुआ। उसने सोचा मेरा शरीर हड्डी का पंजर सा हो चुका है, लोहू–मांस का कहीं नाम भी नहीं, फिर भी गुरुजी पूछते हैं कि सलेखना की या नहीं? रोष में आकर उसने अपनी अंगुली तोड़ डाली और बोला–"महाराज! देखो रक्त की एक बूंद भी नहीं है, क्या अब भी सलेखना बाकी है?" गुरुजीने कहा–"वत्स! यह तो द्रव्य संलेखना का रूप है जो तेरे शरीर से प्रत्यक्ष दिखता है, किन्तु अभी भाव सलेखना करनी है, कषाय के विकारों को सुखाना है। इसीलिये मैने पूछा था कि सलेखना की या नहीं। जाओ, अभी भाव संलेखना करो। फिर भक्त पच्चक्खाण संथारा प्राप्त होगा। व्य. भा. ४५०। इस प्रकार द्रव्य–भाव–सलेखनापूर्वक किया गया मरण ही पंडितमरण है। मरणान्तिक कष्ट, आघात-प्रत्याघात वा आतंक से निकट भविष्य में ही देह छूटने वाला हो वैसी स्थिति में द्रव्य सलेखना की आवश्यकता नहीं होती। उस समय आलोचनापूर्वक आत्मशुद्धि की जाती है और विचार एवं आचार की पूर्ण शुद्धि के साथ सर्वथा पापों के त्याग कर लिये जाते हैं।

ऋग्वेद १. १०१. '१ में इन्द्रद्वारा कृष्ण की गर्भवती स्त्रियों के मारे जाने का भी उल्लेख है।

इसी सम्बन्ध में भागवत पुराण के दशम स्कन्ध २४, २५ अध्यायों में तथा हरिवंश पुराण अध्याय १८ में जो भगवान् कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाने की कथा दी हुई है वह ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। इस कथा में बतलाया गया है कि एक बार शौरसेन देश में नन्द आदि गोपालोंने इन्द्र की संतुष्टि के लिए यज्ञ करने का विचार किया, परन्तु कृष्ण को उनकी यह बात पसन्द न आई। उसने उन्हें यज्ञ करने से रोक दिया। और गौओं को ले कर गोवर्धन पर्वत की ओर चल पड़ा। कृष्ण का यह कार्य इन्द्र को अच्छा न लगा। उसने रुष्ट हो कर मूसलाधार वर्षा द्वारा गोकुल को नष्ट करने का संकल्प कर लिया। इस पर कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत हाथ में उठा और उसके नीचे गोकुल को आश्रय दे इन्द्र को असफल बना दिया।

ऋग्वेदकालीन उत्तरी भारत में पांच क्षत्रिय जातियां प्रसिद्ध थीं। यदु, अनु, द्रुह्यु, तुर्वश और पुरु। ऋ. १०. ६२. १० में यदु और तुर्वश लोगों को दास संज्ञा से संबोधित किया है[2]। इसका कारण यही मालूम होता है कि वे वैदिक देवताओं और उनके लिए किये जानेवाले याज्ञिक अनुष्ठानों को माननेवाले न थे[3]। दूसरे यदु और तुर्वश लोग कृष्णवर्ण के थे अर्थात् अनार्यजाति के थे। इस लिये उनका याज्ञिक अनुष्ठानों से विरोध करना स्वाभाविक ही था। यास्काचार्यकृत निघण्टु २. ३. में इन पांच क्षत्रिय जातियों की गणना देवों में न करके मनुष्यों में की गई है। अथर्ववेद १२. १. १५ में भी इन्हें 'पञ्च मानवाः' तथा १२. १. ४२ में 'पञ्च कृष्टयः' कहा गया है। इसी आधार पर ए. बनर्जीने उपरोक्त क्षत्रियों की पांचों जातियों को आर्य न मान कर असुर जातियां कहा है[4]। उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि शौरसेनदेश के निवासी यादव और तुर्वश लोग भी अहिंसा धर्म के अनुयायी थे। संभवतः तुर्वश लोग वे ही हैं जो पीछे से भारतीय मध्यकालीन इतिहास में तूर राजपूत के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

अङ्गदेश के राजा आदित्यपुत्र वेन की कथा—

राजा अङ्ग के संसार से विरक्त हो वन में चले जाने पर उसका पुत्र वेन राज्यशासन का अधिकारी हुआ[5]। वह अपने नाना यम के धर्ममार्ग का अनुयायी था। यम आध्यात्मिक

---

१ प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा. निरहन्नृजिश्वना ॥

२. उत दासा परिविषे स्मद्दिष्टी गोपरीणसा। यदुस्तुर्वश्च मामहे ॥

3. Dr. A. C Das-Rigvedic culture P. 128.

4. Dr. A. Banerjee-Asura India. PP 17-19; 34-40.

5. भागवत पुराण स्कन्ध ४ अध्याय १४।

व्रात्य संस्कृति का एक महान् पुरुष था । वह तप, त्याग, ब्रह्मचर्य मार्ग का प्रवर्तक था । उसने घोर तपस्या द्वारा मृत्यु का सदा के लिये अन्त कर दिया था, इस लिये वह यम के नाम से प्रसिद्ध हुआ । वह आदि ब्रह्मा विवस्वत् मनु का पुत्र था, इस लिये वैवस्वत कहलाया । इस यम का और इसके वंशजों का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण १३. ४. ३. ६ में, ऋग्वेद १०. १० तथा अथर्ववेद १८. २ में मिलता है । जैन परम्परा में यह बाहुबली के नाम से प्रसिद्ध है । वेन भी उसके समान ही व्रात्यसंस्कृति को माननेवाला था । वह यद्यपि अपने युग का एक बड़ा मेधावी पुरुष था[1], ऋग्वेद ४. ५८, ४ में वर्णित है कि देवजनने पणियों द्वारा छुपाई हुई रहस्यमयी विद्या अर्थात् आत्मविद्या को इन्द्र, सूर्य और वेन इन तीन स्रोतों से प्राप्त किया था[2] । वेन बड़ा दानी, विद्वत्प्रेमी तथा सन्तों का भक्त था[3], परन्तु वह इन्द्रोपासना, तदर्थ होनेवाली याज्ञिक हिंसा तथा जातिवाद एवं मानसिक संकीर्णता का विरोधी था । इसलिये पीछे के वैदिक विद्वानोंने उसे अधर्म के वंश में उत्पन्न होनेवाला और अधार्मिक कहा है[4] । उसने अध्यात्मवादी होने के कारण तत्कालीन प्रचलित अध्यात्मपद्धति के अनुसार अपने राज्य में घोषणा की थी कि अहं (आत्मा ही) यज्ञपति है, प्रभु है । अहं (आत्मा) के अतिरिक्त और कोई यज्ञ का भोक्ता नहीं । इसलिये अन्य देवों के लिये यज्ञ, हवन, दान न करके अहं अर्थात् आत्मोपासना ही श्रेयस्कर है[5] । उसके राज्य में पुरुषों के समान स्त्रियोंको भी सब अधिकार प्राप्त थे । वैधव्य की दशा में वे भी पुनर्विवाह कर सकती थीं[6] । इसके अतिरिक्त उसके राज्य में सामाजिक विषमता नहीं थी । सभी जातियों के लोग आपस में अनेक विवाहसम्बन्ध करने में स्वतन्त्र थे । जिसके फलस्वरूप तत्कालीन भारत में अनेक संकर जातियों का जन्म हुआ[7] । इन बातों से रुष्ट होकर ऋषिगणने मन्त्रपूत कुशा से उसका वध कर डाला था ।

---

१. यास्ककृत निघण्टु ३ १५ में मेधावी नामों का उल्लेख करते हुए 'वेन' शब्द को भी समिलित किया है ।

२. त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमान गवि देवासो घृतमन्वविन्दन् ।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः ॥

३. प्र तद् दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवासु ॥ ऋ १०. ९३ १४ ।

इस मन्त्र में सूक्तद्रष्टा ऋषिने दुःशीम, पृथवान, वेन और असुर राम आदि धनपति राजाओं की दानशीलता का वर्णन किया है ।

४. हरिवंश पुराण अध्याय ४–६. भागवत पुराण स्कन्ध ४ अध्याय १४ ।

५. विष्णुपुराण प्रथम अंग, अध्याय १३, श्लोक १४ ।

६. मनुस्मृति ९. ६५. ६६ ।

७. बृहद्धर्मपुराण उत्तरकाण्ड अध्याय १३ ।

कपिलऋषि और नहुष की कथा—

महाभारत शान्तिपर्व अ. २६८ में महाराजा नहुष का आख्यान देते हुए बताया है कि एक बार महर्षि त्वष्टा अतिथिरूप से महाराजा नहुष के घर आये। महाराज नहुषने वेद-विधि के अनुसार उन्हें मधुपर्क देने के लिये गोवध करने का विचार किया। इतने में ज्ञान-वान्, संयमी महात्मा कपिल वहां आगये। उन्होंने नहुष को गोवध करने के लिये उद्यत देख कर अपनी नैष्ठिकी बुद्धि के प्रभाव से कहा कि ऐसे वेद को धिक्कार है जिसमें हिंसा का विधान है। पुनः शान्तिपर्व के अ. २६९ में कपिलऋषि कहते हैं कि जो मनुष्य सब प्राणियों को आत्मतुल्य समझता है उसके मार्ग में देवता भी मोहित होते हैं। यज्ञ आदि का फल नश्वर समझ कर मनुष्य को तत्त्वज्ञान का ही आश्रय लेना चाहिये। अहंकार और काम-वासनाओं के जीतने तथा चित्त की विशुद्धि एवं इन्द्रियों का संयम करने से ही मनुष्य ब्रह्म-ज्ञानी होता है। याज्ञिक अनुष्ठानादि सकाम कर्म की अपेक्षा निष्काम कर्म ही श्रेयस्कर है।

महात्मा बुद्ध और वर्षाऋतुचर्या की कथा—

विनयपिटक के तीसरे स्कन्ध के ३. १. १. के पढ़ने से पता लगता है कि जब तक बुद्ध महात्माने अपने भिक्षु संघ के लिये वर्षाऋतु के चातुर्मास में एक जगह ठहर कर वास करने का नियम नहीं बनाया था तबतक मगधदेश की जनता प्राचीन भारतीय अहिंसा पद्धति के कारण सदा बौद्ध भिक्षुओं के आचार की निन्दा करती रही और इस बात को देख कर वह हैरान थी कि किस प्रकार शाक्यपुत्र के श्रमण हरे तृणों का मर्दन करके एकेन्द्रिय जीव वनस्पति को पीड़ा देते हैं। और इस वनस्पति में रहनेवाले छोटे-छोटे प्राणिसमुदाय को मारते हुए हेमन्त में भी, ग्रीष्म में भी, वर्षा में भी विचरण करते हैं। ये दूसरे तीर्थ (मत) वाले साधु वर्षावास में एक ही जगह रहते हैं। ये चिड़ियां भी वृक्षों के ऊपर घोंसले बनाकर वर्षाऋतु में लीन होकर एक ही स्थान में रहती हैं। परन्तु ये शाक्यपुत्रीय श्रमण हरे तृणों का मर्दन करते हुए सदा विचरते रहते हैं। महात्मा बुद्ध को जब इस लोकनिन्दा का पता लगा तो उन्होंने भिक्षुओं को बुलाकर वर्षावास का आदेश दिया।

(१) पञ्च यज्ञ का विधान—

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि जिस भारतीय जनता को छोटे २ जन्तुओं की हिंसा भी बड़ी अखरती थी वह भला यज्ञार्थ होनेवाली पशुहिंसा, मांसाहार तथा सुरापान को कैसे सहन कर सकती थी। यही कारण है कि वैदिक आर्यजन के आगमन से ले कर आज तक जब कभी भी इसलामी सभ्यता (१२ वीं सदी) व ईसाई सभ्यता (१८ वीं सदी) के

कारण भारत में यज्ञ कुर्बानी आदि धार्मिक अनुष्ठानों, आहार, चिकित्सा व शिकार आदि मनोविनोद के लिये की जाने वाली हिंसक प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा तभी उनके विरोध में भारतीय चेतना सक्रिया हो उठी। आर्यजन की हिंसक प्रवृत्तियों के विरुद्ध होनेवाली प्रतिक्रिया का यह परिणाम मालूम देता है। हिंसानिवृत्ति और लोककल्याण के लिये श्रमणों के समान वैदिक कवियों ने भी पञ्च यज्ञों का विधान किया। बृहदारण्यक उपनिषद् में पञ्च यज्ञों के उद्देश्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह आत्मा सब भूतों का लोक है। अर्थात् गृहस्थी मनुष्य सब जीवों का, सब आश्रमों का एक मात्र अवलम्बन है। यह जो हवन व यजन करता है उसमें देवों का लोक (हित) होता है। यह जो स्वाध्याय करता है उससे ऋषियों का हित होता है। यह जो पितरों के लिये अन्नादि प्रदान करता है व सन्तान की इच्छा करता है उससे पितरों का हित होता है। यह जो मनुष्यों को वास व भोजन देता है उससे मनुष्यों का हित होता है। यह जो पशुओं के लिए तृण और जल देता है उससे पशुओं का हित होता है। यह जो घरों में रहनेवाले पशु, पक्षी तथा चींटियों तक के लिए अन्नजल देता है उससे उन सब का हित होता है। जैसे मनुष्य अपने लिए हित चाहता है, ऐसे ही ऐसा जानने वाले के लिये सभी प्राणी हित चाहते हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि गृहस्थ में रहते हुए मनुष्य से प्रतिदिन पांच प्रकार की हिंसा होती है। ओखली, चक्की, चूल्हा, झाड़ू और जलभरण ये हिंसा के कारण हैं। इन हिंसाओं के निराकरण के लिये महर्षियों ने प्रतिदिन पञ्च यज्ञ करना बतलाये हैं। जिन से गृहस्थ के कल्याण की वृद्धि होती है। उन यज्ञों के नाम ये हैं-ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथियज्ञ। शास्त्रों के पठन-पाठन तथा आत्मचिन्तन का नाम ब्रह्मयज्ञ है। पितृतर्पण को पितृयज्ञ कहते हैं। हवन व यजन करना देवयज्ञ है। समस्त जीवों के कल्याणार्थ अन्न, जल, वस्त्र आदि का दान भूतयज्ञ है। अतिथि अर्थात् साधुसन्त आदि आगन्तुकों के लिये सत्कारपूर्वक आहार आदि देना अतिथि यज्ञ है[२]। देवता, पितर और मनुष्यों को देकर भोजन करनेवाला गृहस्थ अमृत भोजन करता है। जो केवल अपना पेट पालने वाला है और अपने ही लिये रसोई बनाता है वह पापमय भोजन करता है[३]।

---

१. अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूताना लोकः।......यथाह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छे देवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति ॥ बृहदारण्यक १, ४, १६

२. (अ) मनुस्मृति ३, ६८-७४। (आ) स्कन्दपुराण-काशी खण्ड-पूर्वार्द्ध, अध्य० ३८

३. (अ) ऋग्वेद १०, ११७ ५-६। "केवलाघो भवति केवलादी।"
(आ) पितृदेवमनुष्येभ्यो दत्त्वाश्नात्यमृतं गृही।
स्वार्थं पचन्नघं भुङ्क्ते केवलं स्वोदरंभरि ॥ स्कन्दपुराण काशी खण्ड पूर्वार्ध ३८, ३७

(२) अहिंसामय ऋषिकुल जीवन—

महाभारत, रामायण, रघुवंश, शकुन्तला, कादम्बरी आदि साहित्यिक ग्रन्थों में वाल्मिकि, अगस्त्य, भृगु, कण्व, जाबालि आदि माननीय ऋषि-मुनियों के आश्रमों का जो वर्णन दिया हुआ है उससे भली-भांति विदित है कि ब्राह्मण ऋषियों के आश्रमों का वातावरण दया, सरलता, स्वच्छता से कितना सुन्दर था, विनय, भक्ति और सेवा से कितना सजीव था, उनका लोक मानवलोक तक ही सीमित न था। वह पशु-पक्षीलोक तथा वनस्पतिलोक तक व्याप्त था। वह आकाश से धरती तक और पूर्व क्षितिज से पश्चिम क्षितिज तक फैला हुआ था। ऋतुचक्र का नृत्य, उषा की अरुण मुस्कान, सूर्य की तेजस्वी चर्या, संध्या की शान्त निस्तब्धता, तारों भरे उत्तुंग गगन के गीत उनके आमोद-प्रमोद के साधन थे। सब ओर लतावेष्टित वृक्षों की पंक्ति, फलों की वाटिकायें, अलियों का गुंजार, पक्षियों के नाद, मोरों के नाच, मृगों की अठखेलियां, कमलों से भरपूर जलाशय उनकी नाट्यशाला के सजीव दृश्य थे। खाने के लिये प्राकृतिक फलफूल, पीने के लिये स्वच्छ नदीजल, पहिनने के लिये वल्कल, रहने के लिये तृणकुटी उन की धनसम्पदा थी।

(३) स्मृति ग्रन्थों में अहिंसामय विधान—

इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप स्मृति ग्रन्थों में भी आहार और व्यवसाय सम्बन्धी अहिंसा पर बहुत जोर दिया गया है। स्कन्दपुराण काशीखण्ड पूर्वार्ध अ. ४० तथा मनुस्मृति ११. ५४-९६ में कहा गया है कि मांस, मद्य, सुरा और आसव ग्रहण न करना चाहिये। कीड़े, मकोड़े, पक्षियों की हत्या करना अथवा मधुमिश्रित भोजन, निन्दित अन्न का भोजन, लहसुन, प्याज आदि अभक्ष्य चीजों का सेवन करना भी पाप है। खानों पर अधिकार जमाकर उनको खोदना, बड़े भारी यन्त्रों का चलाना, औषधियों का उखाड़ना, ईंधन के लिये हरे वृक्षों का काटना भी पाप है। याज्ञवल्क्य स्मृति १. १५६, बृहन्नारदीयपुराण २२. १२. १६ में पशुबलि और मांसाहार को लोकविरुद्ध होने से त्याज्य ठहराया। मनुस्मृति में यहांतक कहा गया है कि—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥ ६. ४६.

अर्थात् चलते समय मार्ग को देखते हुए चले। जल को वस्त्र से छान कर पीवे। सत्यभरी वाणी बोले और पवित्र सद्भावनापूर्वक आचरण करें।

उपसंहार—

भारतीय जीवन का आदर्श सदा योगी जीवन रहा है। भारत के लोग परमात्मा की कल्पना भी योगी के रूपमें ही करते रहे हैं और परमात्मरूप बनने के लिए सदा योगी जीवन को अपने जीवन का ध्येय मानते रहे हैं। इस ध्येय को लेकर ही भव्यजन ईश्वर की उपासना करते हैं—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्म भूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

उमास्वातिकृत मोक्षशास्त्रका मंगलाचरण.

इसी ध्येय को ले कर भारत के प्रसिद्ध राजयोगी भर्तृहरिने कहा है—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥

अर्थात् हे शम्भो ! वह दिन कब आयेगा जब अनादि कर्मबन्धनों को निर्मूल करने के लिए मैं योगियों के समान अकेला शान्तिभाव से विना किसी वस्त्र उपकरण और आडम्बर के अलिप्त एवं निष्काम हो कर विचरूंगा।

इस लिए शास्त्रकारों की दृष्टि में वे ही सद्गृहस्थ हैं जो गृहस्थ में रहते हुए भी परमात्मपद की सिद्धि के लिए सदा योगी बनने की भावना बनाये रखते हैं। भारतीयजन श्रमण योगियों के समान ही अपने खान-पान, व्यवहार व व्यवसायों में अहिंसा को अपनाते रहे हैं। यहां के लोग सदा अन्न, शाकभाजी, स्वच्छ व्यवहारी बने रहे हैं। ये सदा वनस्पति अथवा वृक्षों का सींचन करना, कीड़े, मकोड़े आदि क्षुद्र जन्तुओं से ले कर काग, चिड़िया, बन्दर, बैल, गाय आदि पशुओं तक को आहार दान देना, सांपों तक को दूध पिलाना एक पुण्यकार्य मानते रहे हैं। यहां के लोगों का खानपान सदा से बहुत सीधा-सादा रहता चला आया है। कृषि और पशुपालन इन के मुख्य व्यवसाय रहे हैं।[1] कृषि के द्वारा ये विविध प्रकार के अन्न मुख्यतः यव (जौ), व्रीहि (चावल), गोधूम (गेहूं), तिल, शामक, उड़द, मूंग, मसूर आदि पैदा करते थे[2]। इन ही अन्नों और पशुओं से प्राप्त घी, दूध पर इन का जीवन निर्भर था। ये अपने पशुओं को धन और अन्न को धान्य कहा करते थे।

---

१. अथर्व १२. १. ४२।

२. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे मसूराश्च मे। यजुर्वेद १८. १२

आज के भारतीय जीवन, विशेषतया पंजाबी जीवन को देखते हुए भले ही यह बात हमें आश्चर्यजनक प्रतीत हो, परन्तु समस्त भारतीय साहित्य और विदेशी यात्रियों के विशद विवरण से उक्त बात पूर्णतया सिद्ध है। आज के भारतीय जीवन में जितनी अधिक मांसाहार की प्रवृत्ति देखने में आ रही है वह सब मुसलीम और विशेष कर योरोपीय सभ्यता के दुष्प्रभावों का ही फल है।

ईसवी सन् से ३०० वर्ष पूर्व भारत में आनेवाले यूनानी दूत मेगस्थनीज से ले कर ईसवी सन् ७०० के लगभग आनेवाले चीनी यात्री इत्सिंग तक सभी यात्रियोंने भारत के अहिंसात्मक जीवन की पुष्टि की है।

इस प्रकार ऊपर के विस्तृत आख्यानों द्वारा यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भारत का मौलिक धर्म अहिंसा, तप, त्याग और संयम रहा है। त्रेतायुग के आरम्भ में हिंसात्मक याज्ञिक क्रिया-काण्ड आर्यजन के आगमन के साथ भारत में दाखिल हुआ और द्वापर के आरम्भ तक यहां की अध्यात्म संस्कृति के सम्पर्क से पूर्ण अहिंसात्मक अध्वर यज्ञ के रूप में परिणत हो गया।

अहिंसा—भगवती

भैंवरचन्द बाँठिया 'वीरपुत्र' न्यायतीर्थ, सि० शास्त्री, बीकानेर

शास्त्रकारोंने अहिंसा को 'भगवती' कह कर पुकारा है। हिंसा से विपरीत 'अहिंसा' कहलाती है। हिंसा का लक्षण करते हुए कहा गया है—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा

अर्थात्—मन, वचन, कायारूप तीन योगों से प्राणियों के दस प्राणों में से किसी भी प्राण का विनाश करना हिंसा है। जैसा कि कहा है—

पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलञ्च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणाः दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा॥

अर्थात्—पांच इन्द्रियां, तीन बल (मनोबलप्राण, वचनबलप्राण, कायबलप्राण) उच्छ्वास-निश्वास और आयु ये दस प्राण हैं। प्राणी से इन प्राणों का वियोग कर देना हिंसा है, इसके विपरीत अहिंसा है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

अप्रमत्ततया शुभयोगपूर्वकं प्राणाऽव्यपरोपणमहिंसा

अर्थात्—अप्रमत्तता (सावधानता) से शुभयोगपूर्वक प्राणियों के प्राणों को किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचाना एवं कष्ट में पड़े हुए प्राणी का कष्ट मिटा कर उसकी रक्षा करना अहिंसा कहलाती है।

समुद्र के अगाध जल में डूबते हुए और हिंसक जलजन्तुओं से भयभीत बने हुए एवं महान् तरङ्गों से इधर-उधर उछलते हुए प्राणियों के लिए जिस तरह द्वीप आधार होता है, उसी प्रकार संसाररूपी समुद्र में डूबते हुए, सैकड़ों दुःखों से पीड़ित, इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोगरूप तरङ्गों से भ्रान्तचित्त एवं पीड़ित प्राणियों के लिए अहिंसा द्वीप के समान आधार-भूत होती है। अथवा जिस तरह अन्धकार में पड़े हुए प्राणियों को दीपक अन्धकार का नाश कर इष्ट पदार्थ को ग्रहण कराने आदि प्रवृत्ति करवाने में कारणभूत होता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीयादि अन्धकार को नष्ट कर विशुद्धबुद्धि और प्रभा को प्रदान कर हेय पदार्थों के तिरस्कार (अग्रहण) और उपादेय पदार्थों के स्वीकार (ग्रहण) रूप प्रवृत्ति कराने में कारण

होने से अहिंसा दीपक के समान है। तथा आपत्तियों से प्राणियों की रक्षा करनेवाली होने से अहिंसा त्राण एवं शरणरूप है। श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम संवर द्वार में इस अहिंसा भगवती के ६० नाम कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) निवाण (निर्वाण)-मोक्ष का कारण होने से अहिंसा 'निर्वाण' कही जाती है।

(२) निव्वुई (निर्वृत्ति-निवृत्ति)-मन की स्वस्थता (निश्चिन्तता)। अथवा दुःखों की निवृत्ति (त्याग)।

(३) समाधि-चित्त की एकाग्रता।

(४) शक्ति-मोक्षगमन की शक्ति देनेवाली। अथवा शान्ति देनेवाली।

(५) कित्ती-यश, कीर्ति देनेवाली।

(६) कंती (कान्ति) तेज, प्रताप एवं सौन्दर्य और शोभा को देनेवाली।

(७) रति-आनन्ददायिनी।

(८) श्रुताङ्ग-श्रुत (ज्ञान) ही जिसका अङ्ग है ऐसी।

(९) विरति-पाप से निवृत्त करानेवाली। (१०) तृप्ति-सन्तोष देनेवाली।

(११) दया-सब प्राणियों की रक्षारूप होने से अहिंसा दया (अनुकम्पा) है। शास्त्रकारोंने दया की बहुत महिमा बतलाई है और कहा है।

सव्वजग्गजीवरक्खणदयट्ठयाए, पावयणं भगवया सुकहियं।

अर्थात्-सम्पूर्ण जगत् के जीवों की रक्षारूप दया के लिए ही भगवान्ने प्रवचन (सूत्र) फरमाये हैं।

(१२) विमुक्ति-संसार के सब बन्धनों से मुक्त करानेवाली।

(१३) क्षान्ति-क्रोध का निग्रह करानेवाली।

(१४) सम्यक्त्वाराधना-समकित की आराधना करानेवाली।

(१५) महत्ती-सब धर्मों का अनुष्ठानरूप होने से अहिंसा 'महत्ती' कहलाती है। जैसा कि कहा है—

एक्कं चिय एत्थ वयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवायविरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥

अर्थात्-वीतरागदेवने प्राणातिपात-विरमण (अहिंसा) रूप एक ही व्रत मुख्य बतलाया है। शेष व्रत तो उसकी रक्षा के लिए ही बतलाए गये है।

(१६) बोधि-सर्वज्ञप्ररूपित धर्म की प्राप्ति करानेवाली होने से बोधिरूप है अर्थात्

अहिंसा का दूसरा नाम अनुकम्पा है। अनुकम्पा बोधि (समकित) का कारण है। इसलिए अहिंसा को 'बोधि' कहा गया है।

(१७) बुद्धि–अहिंसा बुद्धिदायिनी होने से 'बुद्धि' कहलाती है। जैसा कि कहा है–

बावत्तरिकलाकुसला पंडियपुरिसा अपंडिया चेव।
सव्व कलाणं पवरं जे धम्मकलं न याणंति ॥

अर्थात्–सब कलाओं में प्रधान अहिंसा रूप धर्मकला से अनभिज्ञ पुरुष शास्त्र में वर्णित पुरुष की ७२ कलाओं में प्रवीण होते हुए भी अपण्डित है।

(१८) धृति–चित्त की दृढता देनेवाली। (१९) समृद्धि–समृद्धि देनेवाली।

(२०) ऋद्धि–आत्मिक ऋद्धि देनेवाली।

(२१) वृद्धि–आत्मिक गुणों की वृद्धि करनेवाली।

(२२) स्थिति–मोक्ष में स्थिति करानेवाली।

(२३) पुष्टि–आत्मिक गुणों को पुष्ट करनेवाली।

(२४) नन्दा–आनन्द देनेवाली। (२५) भद्रा–कल्याण देनेवाली।

(२६) विशुद्धि–पाप का क्षय करके जीव को निर्मल बनानेवाली।

(२७) लब्धि–केवलज्ञानादि लब्धि को देनेवाली।

(२८) विशिष्टदृष्टि–सब धर्मों में अहिंसा ही विशिष्ट दृष्टि अर्थात् प्रधान धर्म माना गया है। जैसा कि कहा है—

किं तए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए।
जत्थेत्तियं ण णायं, परस्स पीडा ण कायव्वा ॥

अर्थात्–प्राणियों को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचानी चाहिए, यदि यह तत्त्व न सीखा गया तो करोड़ों पद अर्थात् सैकड़ों शास्त्र पढ़ लेने से भी क्या प्रयोजन? क्योंकि अहिंसा के बिना वे सब पलालभूत अर्थात् निःसार हैं।

(२९) कल्याण–कल्याण की प्राप्ति करानेवाली।

(३०) मंगल–'मं पापं गालयतीति मंगलं' अर्थात् जो पापों को नष्ट करे वह मंगल कहलाता है। अथवा–'मंगं–श्रेयः लाति ददातीति मंगलं' अर्थात् कल्याण को देनेवाला मंगल कहलाता है। पापविनाशिनी होने से अहिंसा 'मंगल' कहलाती है।

(३१) प्रमोद–प्रमोद को देनेवाली। (३२) विभूति–सब विभूतियों को देनेवाली।

(३३) रक्षा–सब जीवों की रक्षा करनेवाली।

(३४) सिद्धावास-मोक्ष के अक्षय निवास को देनेवाली।

(३५) अनाश्रव-कर्मबन्ध को रोकनेवाली।

(३६) केवलीस्थान-अहिंसा केवली भगवान् का स्थान है अर्थात् केवलीप्ररूपित धर्म का मुख्य आधार अहिंसा ही है। इस लिए अहिंसा 'केवलीस्थान' कहलाती है।

(३७) शिव-शिव अर्थात् मोक्ष को देनेवाली।

(३८) समिति-सम्यक् प्रवृत्ति करानेवाली। (३९) शील-चित्त की समाधि रूप।

(४०) संयम-हिंसा से निवृत्त करानेवाली। (४१) शीलपरिघर-चारित्र का आश्रय।

(४२) संवर-नवीन कर्मों के आगमन को रोकनेवाली।

(४३) गुप्ति-मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकनेवाली।

(४४) व्यवसाय-विशिष्ट अध्यवसायरूप।

(४५) उच्छ्रय-मन के भावों को उन्नत बनानेवाली।

(४६) यज्ञ-भावपूजारूप। (४७) आयतन-गुणों का स्थान।

(४८) यजना-अभयदान देनेवाली। अथवा यतना-प्राणियों को रक्षारूप।

(४९) अप्रमाद-प्रमाद का त्यागरूप।

(५०) आश्वास-प्राणियों के लिए आश्वासरूप।

(५१) विश्वास-प्राणियों के लिए विश्वासरूप।

(५२) अभय-संसार के समस्त प्राणियों को अभयदान देनेवाली।

(५३) अमाघात-अमारि)-किसी भी प्राणी को न मारने का उद्घोष करनेवाली।

(५४) चोक्षा-पवित्र। (५५) पवित्र-पाप मल को धो कर पवित्र करनेवाली।

(५६) शुचि-भावशुचिरूप होने से अहिंसा 'शुचि' कही जाती है। जैसा कि कहा है—

सत्यं शौचं तपःशौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमम्॥

अर्थात्—सत्य, तप, इन्द्रियनिग्रह, सब प्राणियों की दया शुचि है और पांचवीं जल-शुचि कही गई है। उपरोक्त चार भावशुचि हैं और जलशुचि द्रव्यशुचि है।

(५७) पूया-(पूता या पूजा) पवित्र होने से 'पूता' और भाव से देवपूजारूप होने से अहिंसा 'पूजा' कही जाती है।

(५८) विमला-स्वच्छ-निर्मल। (५९) प्रभा-दीप्तिरूप।

(६०) निर्मलतरा-जीव को अति निर्मल बनानेवाली होने से अहिंसा 'निर्मलतरा' कही जाती है।

यथार्थ के प्रतिपादक होने से उपरोक्त साठ नाम अहिंसा भगवती (दया माता) के पर्यायवाची शब्द कहे जाते हैं ।

अहिंसा की आठ उपमाएं—

अहिंसा भगवती को आठ उपमाएं दी गई हैं । वे इस प्रकार हैं:—

(१) जिस प्रकार भयभीत प्राणियों के लिए शरण का आधार होता है, उसी प्रकार संसार के दुःखों से भयभीत प्राणियों के लिए अहिंसा आधारभूत है ।

(२) जिस प्रकार पक्षियों के गमन के लिए आकाश का आधार है, उसी प्रकार भव्यजीवों को अहिंसा का आधार है ।

(३) प्यासे पुरुष को जैसे जल का आधार है, उसी प्रकार भव्य जीवों को अहिंसा का आधार है ।

(४) भूखे पुरुष को जैसे भोजन का आधार है, उसी प्रकार भव्य जीवों को अहिंसा का आधार है ।

(५) समुद्र में डूबते हुए प्राणी को जिस प्रकार जहाज का या नौका का आधार है, उसी प्रकार संसाररूपी समुद्र में चक्कर खाते हुए भव्य प्राणियों को अहिंसा का आधार है।

(६) जिस प्रकार पशु को खूंटे का आधार है ।

(७) रोगी को औषधि का आधार है ।

(८) जंगल में मार्ग भूले हुए पथिक को किसी के साथ का आधार होता है, उसी प्रकार संसार में कर्मों के वशीभूत होकर नाना गतियों में भ्रमण करते हुए भव्य प्राणियों के लिए अहिंसा का आधार है । त्रस, स्थावर आदि सभी प्राणियों के लिए अहिंसा क्षेमंकरी (हितकारी) है । इस लिए इसे ‘ भगवती ’ कहा गया है । इस का सम्पूर्ण रूप से पालन करनेवाले ‘ भगवान् ’ बन जाते हैं ।
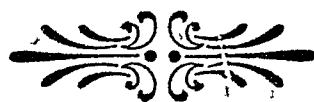
जीवन और अहिंसा।

श्री आत्मारामजी महाराज के सुशिष्य श्री ज्ञान मुनिजी-आध्यात्मिक

जगत में भगवती अहिंसा को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। अहिंसा आध्यात्मिक साधना की प्राथमिक भूमिका है, उसकी आधारशिला है। मानव-जीवन का उज्ज्वल प्रकाश भी अहिंसा की अमर भावना में ही निवास कर रहा है। अहिंसा और सत्य के अग्रदूत भगवान् महावीरने:—

*" धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो "

यह कह कर अहिंसा को धर्म और सर्वश्रेष्ठ मंगल स्वीकार किया है और साथ में—

+" देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो "

यह प्रतिपादन कर अहिंसा की उच्चता, महत्ता, सफलता और लोकप्रियता को भी उन्होंने सहर्ष माना है। इसके अतिरिक्त:—

" मा हिंस्यात् सर्वभूतानि, (और) अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः "

आदि महावाक्य भी अहिंसा के ही अपूर्व गुणगौरव को अभिव्यक्त कर रहे हैं। अहिंसा की महिमा महान् है। किसीने उसे धर्म के रूप में देखा है, कोई उसे मंगल के नाम से पुकारता है और किसीने अहिंसा को शान्ति का महापथ एवं आध्यात्मिकता का एक उज्ज्वल प्रतीक स्वीकार किया है।

अहिंसा का प्रतिपक्ष हिंसा है। अहिंसा के स्वरूप का अवबोध प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम हिंसा के स्वरूप को जान लेना उचित प्रतीत होता है।

स्वनामधन्य आचार्य उमास्वातिने स्वनिर्मित श्रीतत्त्वार्थ सूत्र में प्रमत्तयोग के साथ किये गये प्राणवध को हिंसा कहा है:—

" प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। "

आचार्यप्रवर उमास्वातिने हिंसा की व्याख्या दो अंशों द्वारा पूर्ण की है। उनमें प्रमत्तयोग प्रथम है और प्राणवध यह दूसरा अंश है। राग और द्वेष से पूर्ण व्यापार या जीवन

---

* अहिंसा, संयम, तप यह त्रिविध धर्म है और उत्कृष्ट मंगल है।

\+ जिस हृदय में धर्म निवास करता है, देवता भी उसको नमस्कार करते हैं।

में असावधानता का नाम प्रमत्तयोग है। प्राणों का वध प्राणवध कहलाता है। इन दोनों में प्रथम अंश कारण रूप से है जब कि दूसरा कार्यरूप से। आचार्यदेव का वचन यह है कि जिस हृदय में राग-द्वेष की धारा बह रही है, असावधानता का जहां सर्वतोमुखी प्रभाव है, प्रमाद जिसका नेतृत्व कर रहा है उस हृदय द्वारा यदि किसी जीवन का अपहरण हो रहा है, उसे दुःख या पीड़ा पहुंचाई जा रही है तो वहां हिंसा का जन्म होता है। हिंसा की डाकिनी वहां साकार रूप धारण कर लेती है। जिस प्राणवध में राग-द्वेष नहीं है, किसी प्रकार की अन्य कोई क्षुद्रभावना नहीं है तो वह प्राणवध प्राणों का नाशक होने पर भी हिंसा का रूप नहीं ले सकता है।

जीवन में अनेकों बार ऐसे अवसर आते हैं कि हम किसी को बचाने या उसको सुख-आराम पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु परिणाम उल्टा होता है। बचाये जानेवाले को कष्ट होता है, वह कराह उठता है, कई बार उसके जीवन का अन्त भी हो जाता है। प्राणोंके बचाने में पूर्णतया सचेत और सतर्क डाक्टर के हाथों से रोगियों के हो रहे प्राणनाश की बात यदा-तदा सुनने में आती रहती हैं, किन्तु ऐसी स्थिति में वह प्राणनाशक हिंसा का रूप नहीं ले सकता; क्योंकि वहां भावना रोगी की सुरक्षा की है-उसको बचाने की है-राग-द्वेष का वहां कोई चिन्ह भी नहीं है। अतः वहां हिंसा नहीं है। हिंसा वहीं होती है जहां राग-द्वेष का भाव होता है और राग-द्वेष की छाया तले जहां किसी के जीवन को लूटा जाता है। वस्तुतः मन, वाणी और शरीर से काम-क्रोध-मोह-लोभ आदि दूषित मनोवृत्तियों के साथ जब किसी प्राणी को शारीरिक या मानसिक किसी भी प्रकार की हानि या पीड़ा पहुंचाई जाती है तब उसे हिंसा कहा जाता है।

गुरु द्वारा किया गया शिष्यताड़न देखने में भले ही हिंसा प्रतीत हो, किन्तु वहां भावना की सात्विकता के कारण उसे हिंसा का रूप नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त अहित एवं अनिष्ट की वृद्धि से किसी को पिलाया गया गोदुग्ध भी हिंसा का कारण बन जाता है। अतः हिंसा का मूल राग-द्वेषपूर्ण भावना है। जहां-जहां भी राग-द्वेष की भावना निवास करती है वहां-वहां पर हीं हिंसा की उत्पत्ति होती चली जाती है।

हिंसा का विलोम अहिंसा है। अनुकम्पा-दया-करुणा-सहानुभूति-समवेदना आदि अहिंसा के ही पर्यायवाची शब्द हैं। मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी को शारीरिक, वाचिक और मानसिक किसी भी प्रकार का कष्ट या क्लेश न पहुंचाने का नाम अहिंसा है। अहिंसा का आराधक अहिंसक होता है। अहिंसा का जीवन एक निराला जीवन होता है। उसका मानस सदा दयाके झूले पर झूलता रहता है। उसके यहां किसी का अनिष्ट नहीं होता।

वहां निरन्तर मैत्री, स्नेह और सहानुभूति की धारा प्रवाहित होती रहती है। ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, संकीर्णता एवं असहिष्णुता आदि विकारों का सर्वनाश हो जाता है। अहिंसक जीवन जहां कहीं भी होता है संसार उसे प्रकाशस्तम्भ के रूप से देखता है। अहिंसक का प्रत्येक पद संसार की उन्नति अथ च अभिवृद्धि के लिये ही उठा करता है उसके रोम-रोम से—

" सुखी रहे सब जीव जगतके, कोई कभी न घबरावे।
वैर-पाप-अभिमान छोड़ जग, नित्य नये मङ्गल गावे॥ "

यहीं अमर स्वर गूंजता रहता है। संसार का हित और कल्याण ही उसकी साधना होती है। अहिंसक जीवन सदा जगत को सुखी, निरापद एवं आध्यात्मिकता के समुच्च सिंहासन पर विराजमान देखना चाहता है।

अहिंसा का सिद्धांत इतना लोकप्रिय सिद्धान्त है कि कुछ कहते नहीं बनता। संसार के सभी दर्शनों ने इसका स्वागत किया है। जैन दर्शन का तो कण-कण अहिंसा की आराधना कर रहा है। जैन दर्शन का ऐसा कोई विधिविधान नहीं है जहां अहिंसा के दर्शन नहीं होते। बौद्ध दर्शन भी इसके सम्बन्ध में मौन नहीं है। वैदिक परम्पराने " मा हिंस्यात् सर्वभूतानि " यह कह कर अहिंसा की महिमा को स्वीकार किया है। भारतीय दर्शनों के अतिरिक्त पाश्चात्य दर्शन भीः—

Thou shall not kill*

यह कह कर भगवती अहिंसा को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है। अहिंसा की अबाध गति है। उसके अपूर्व प्रभाव को झुठलाया नहीं जा सकता।

अहिंसा सदा से सुख का स्रोत रही है। उसकी आराधना से मानवने लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की सुख-शान्ति प्राप्ति की है। आज जो चारों ओर पारिवारिक-सामाजिक-राष्ट्रीय और आध्यात्मिक वैरविरोध दृष्टिगोचर हो रहा है, ईर्षा-द्वेष आदि दोषों ने मानव-समाज को सत्त्वहीन बना डाला है, उसका सर्वतोमुखी पतन कर दिया है इसका मूल कारण यदि कोई है तो वह मात्र अहिंसा का अनादर है। यदि मनुष्य अहिंसा को अपना जीवनसाथी बना ले और सब की सुख-सुविधा का उचित ध्यान रक्खे, मन, वाणी और शरीर द्वारा किसी का भी अहित न करे तब राष्ट्रीय-सामाजिक-पारिवारिक और आध्यात्मिक कोई भी संकट सर नहीं उठा सकता और मानव सदा सुशान्ति के झूले पर झूलता रहेगा।

---

* " तूझे किसी जीव को मारना नहीं " यह ईसा की १० आज्ञाओं में एक आज्ञा है।

जो अहिंसा एक हाथी को मगधनरेश श्रेणिक का राजकुमार बना सकती है, जो अहिंसा राजा मेघरथ को तीर्थंकरत्व प्रदान कर सकती है, जो अहिंसा धर्मरुचि अनगार के माध्यम से मुक्ति के द्वार खोल सकती है और जो अहिंसा शताब्दियों की भारतीय-परतन्त्रता की बेड़ियों को खण्ड-खण्ड कर सकती है वह अहिंसा आज के अशान्त मानव को शान्त क्यों नहीं कर सकती ? मानव के भीतर सोये सुख देवता को जगा क्यों नहीं सकती ? तीर्थंकरत्व या ईश्वरत्व को सामने ला कर खड़ा क्यों नहीं कर सकती ?

विश्वास रक्खो-आज भी अहिंसा में वही शक्ति है। आज भी अहिंसा मानव के क्लेशों और कष्टों का अन्त ला सकती है। आज भी अहिंसा दमतोड़ रही मानवता को जीवन प्रदान कर सकती है। किन्तु यह होगा तभी जब अहिंसा का आदर किया जाएगा, उसे जीवन का साथी बनाया जायेगा, उसकी आराधना में तन-मन अर्पण कर दिया जायेगा। किन्तु आज अहिंसा केवल कण्ठ पर निवास करती है। उसे जीवन में नहीं उतारा जा रहा। अहिंसा की समस्त मर्यादाओं को आज जीवन से प्रायः निकाल दिया गया हैं। इस लिये आज अहिंसा के चमत्कार हमें दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। वस्तुतः जीवनप्राप्त अहिंसा ही जीवन को अपने अपूर्व चमत्कार दिखाया करती है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का अहिंसक जीवन उस सत्य का वर्तमानकालीन एक ज्वलन्त उदाहरण है।

मानव स्थानकों में-मन्दिरों में-मस्जिदों में-गिर्जाघरों में और गुरुद्वारों में अहिंसा धर्म के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर सुन्दर प्रवचन करता है। अहिंसा धर्म की जय के नारे भी लगाता है; किन्तु उसे जीवनांगी बनाने का यत्न नहीं करता कितने आश्चर्य की बात है! जिस अहिंसा का जन्म ही हिंसा की आग पर पानी डालने के लिये हुआ था आज स्वार्थी मानव उसीका बहाना धारण कर जन-मानस में आग लगाने का यत्न करता है। और तो और संसार को सुखशान्ति का महापथ दिखानेवाला त्यागी वर्ग भी आज भटका फिरता है। सत्य-अहिंसा का महापाठ पढ़ानेवाला साधु समाज भी आज हिंसा का शिकार हो रहा है। आज साधुओं में लड़ाइयें होती है-क्लेश होते हैं। एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये साधु महात्मा भी दण्ड पेलते दिखाई देते हैं। सुन्दर वस्त्र पहनना, भोजन खाना और मिथ्या आत्मप्रशंसा एवं आत्मश्लाघा करना ही आज साधु जीवन की प्रायः साधना बन गई है। तभी तो पण्डित नेहरुने कहा था कि भारत के ८५ लाख साधुओं में मुश्किल से हजार साधु साधुता के धनी होंगे। आज भी यदि साधु अपनी मर्यादा को और अपने अहिंसा व्रत को सुरक्षित रखने के लिये सन्नद्ध हो जांय तो वे अपने को सर्वनाश से बचा सकते हैं। अहिंसा के महा-पथ पर चले बिना जीवन-सुरक्षा और जीवनोन्नति का कोई मार्ग नहीं है।

अहिंसा धर्म के जयनादों से, उसे जीवन में न लाकर, केवल उसकी दुहाई देते रहने से अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है। अहिंसा को जीवनोपयोगी न बना कर मात्र उसकी दुहाई देते रहने से तो अहिंसा बदनाम होती है और जनमानस में उसके लिये अश्रद्धा एवं अरुचि पैदा होती है। इस सत्य की पुष्टि गांधीजी के एक भाषण द्वारा हो जाती है जिस में उन्होंने कहा था कि जब मैं अहमदाबाद में था तब वहां के कांकरिया तालाब का पानी सूख जाने से जैनी लोग मछलियों को पानी पिलाने जाते थे और कई बार मैं देखता हूं दयाधर्मी चींटियों को आटा डालने जाते हैं। दूसरी तरफ उनका जीवन देखें तो मछलियों को पानी पिलानेवाले अपने पड़ौसी की तरफ वह भूखा है या बीमार है ? कुछ भी ध्यान नहीं देते हैं। मछलियों को पानी पिलानेवाले सट्टा और व्याज आदि के धन्धों द्वारा मानव का खून पी जाने में तनिक भी हिचकिचाते नही हैं। चींटियों को आटा डालनेवाले दूसरी ओर विधवा की धरोहर को अजगर की भांति निगल जाते हैं। यह सब देख कर मुझे आश्चर्य होता है कि यह जैनियों की अहिंसा कैसी है ?

जैनधर्म की अहिंसा महान् है। देश-जाति और पारिवारिक जीवन के निर्माण के लिये वह एक वरदान के रूप में हमारे सामने आती है। तथापि गांधी जैसे युगपुरुष के मानस में जो भ्रान्त धारणा बन गई उसका उत्तरदायित्व उन लोगों पर है जो अहिंसा धर्म की 'जय हो' के नारे तो लगाते हैं; किन्तु निज जीवन का एक कण भी उस से छूने नही देते। वस्तुतः जैन अहिंसा की लोकप्रियता और मार्मिकता से अनभिज्ञ और यथार्थ रूपसे उसे जीवन में न लानेवाले लोगों के दिखावटी कारनामों से ही अहिंसा की यह दुर्दशा हुई है और हो रही है।

अहमदाबाद के लोगों की अहिंसा के सम्बन्ध में महात्मा गांधीने जो जिक्र किया है उसके सम्बन्ध में मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है। जैन दर्शन का जहांतक मैंने अध्ययन किया है उसके आधार पर सक्षेप में मैं तो बस इतना ही कह सकता हूं कि अहमदाबाद के लोगों की अहिंसा जैनदर्शन की अहिंसा नहीं है। जैन दर्शन में ऐसी पंगु और अन्धी अहिंसा का कोई स्थान नहीं है। जैन दर्शन चींटियों और मछलियों की रक्षा की प्रेरणा अवश्य करता है, किन्तु वह चींटियों और मछलियों के साथ-साथ मानव-जीवन की रक्षा को अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्रदान करता है। मानव-जीवन को जैन दर्शनने सर्वोपरि स्थान दिया है। एकेन्द्रिय जीवन की अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीवन की रक्षा सर्वप्रथम है। यही जैनत्व है-यही जैन संस्कृति का अमर स्वर है। राष्ट्रपिता महात्मा गाधी विधवाओं की धरोहर अजगर की तरह निगल जाने वाले लोगों को भले ही जैनी कहें, किन्तु जैन दर्शन उन्हें जैन नहीं कहता।

ऐसे लोगों का जीवन जैनत्व से कोसों दूर है। ऐसे लोगों को जैनी नहीं कहा जा सकता। मैं तो कहता हूं-ऐसे लोग अपने को जैनी कहकर जैनत्व को लाञ्छित करते हैं। जैन दर्शन को बदनाम करते हैं। ऐसे लोगों को चाहिये कि वे अपने को जैन न कहें-अपने को जैन कहकर लोगों की आँखों में धूल न झोकें-उन्हें चाहिये कि वे अपने ऊपर जैनत्व का लेबल न रखें। विष की शीशी पर अमृत का लेबल नहीं रखना चाहिये।

आज अहिंसा के सप्ताह अवश्य मना लिये जाते हैं, किन्तु हृदयों में वैर-विरोध की आग निरन्तर जलती रहती है। कहिये-ऐसे कोरे अहिंसा सप्ताहों से मानव-जगत को कभी सुख-शान्ति का लाभ प्राप्त हो सकता है? कदापि नही। मानव-जगत में जब भी सुख-शान्ति की स्थापना होनी है तो वह एक मात्र अहिंसा के आराधन एवं आचरण से ही होती है। अहिंसा ही दुःखों की नाशिका है और अहिंसा ही शान्ति की संस्थापिका है। वस्तुतः अहिंसा का नेतृत्व ही मानव-जगत को सुखों के महामन्दिर तक ले जा सकता है। अहिंसा ही दुःखों की नाशिका है। अहिंसा ही शान्ति की संस्थापिका है।

जीवन और अहिंसा इन दोनों को मिल कर रहना चाहिये। इन दोनों का सामंजस्य ही मानव-जीवन की सफलता का अपूर्व महापथ है। यदि अहिंसा पूर्व दिशा की ओर जाने को कहती है; किन्तु मानव-जीवन पश्चिम दिशा की ओर बढ रहा है-तब बात नहीं बन सकेगी। ऐसी दशा में दुःखों का नाश नही होगा। जो जीवन अहिंसा को साथ ले कर बढता है, एक पग भी अहिंसा को पीछे नहीं जाने देता वही जीवन अपने लक्ष्य को पा सकता है। और ऐसा ही जीवन ऐहलौकिक और पारलौकिक दुःखों का सर्वनाश कर के मुक्ति के अखण्ड सुख-साम्राज्य को उपलब्ध करने में सफल हो पाता है।

जैन धर्म में स्त्रियों को समान अधिकार

सावलिया विहारी लाल वर्मा एम. ए, बी. एल, एम. एल. सी.

अनादि काल से संसार में स्त्रियों पर अन्याय और अत्याचार होता आया है। यद्यपि वेद के मन्त्रों के द्रष्टा कतिपय स्त्रियां हुईं, तथापि वैदिक काल में भी स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में समान अधिकार प्राप्त नहीं था। पौराणिक काल में तो स्त्रियों की जीवनपर्यन्त पुरुषों के आधीन रहने की व्यवस्था की गई और वेद और शास्त्र के पढ़ने के अधिकार से वे वञ्चित रखी गयीं।

किन्तु भारत के महान् धर्मप्रवर्तकों में एक भगवान् महावीर स्वामीने ही स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिया। आप समझते थे कि सन्यास का, ब्रह्मचर्य का, मोक्ष का अधिकार समानरूप से स्त्री और पुरुष को है। अतः महावीर स्वामी की संघव्यवस्था अद्भुत थी। आपने प्रारम्भ से ही चार संघ बनाये थेः—(१) मुनि (साधु) (२) आर्यिका (साध्वी) (३) श्रावक और (४) श्राविका। चारों संघों का स्वतंत्र और दृढ़ संगठन था। उनके नेता भी भिन्न-भिन्न थे। इसी संघ-व्यवस्थाने आज भी जैनधर्म को भारत में जीता जागता रखा है। जहाँ प्रायः एक ही समय फलने-फूलनेवाला और दूरस्थ संसार में विस्तृतरूप से फैलनेवाला बौद्धधर्म भारत से प्रायः विलुप्त हो गया। वहाँ यहाँ इसका मुख्य कारण महावीर स्वामी का प्रारम्भ से ही स्त्रियों और पुरुषों का समान सम्मान और अधिकार की भावना एवं व्यवस्था थी। आपने मुनि और श्रावक के साथ महिलाओं के लिए सिर्फ आर्यिका और श्राविका संघ की स्थापना ही नहीं की, किन्तु गृहस्थ महिलाओं को शास्त्र पढ़ने का पूर्ण अधिकार दिया। आपने जब संघ स्थापित किया तब प्रमुखपद एक महिला चन्दनबाला को दिया। इसी कारण जैनधर्म में स्त्री-पुरुष को सब जगह समान अधिकार प्राप्त है। महावीर स्वामी के समय में जहाँ १४००० मुनि (श्रमण) थे वहां ३६००० आर्यिकाएं थीं और इसी प्रकार १,६९००० श्रावकों की तुलना में ३,१८००० श्राविकाएँ थीं। संसार के किसी धर्म के पुरुष साधु-सन्तों की तुलना में स्त्री साध्वी-संतनियों की संख्या कभी बराबर भी नहीं हुई, अधिक होना तो दूर की बात है।

जैन ग्रन्थों में वर्णित सुभद्रा की कथा से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी के धर्म विषयक अधिकार-स्त्रियों को पुरुषों के समान ही देने के परिणामस्वरूप सुभद्रा विवाहिता

रमणी होने पर गृहस्थ सन्तनी हो सकी और अपने पतिव्रत धर्म के साथ-साथ अपने धर्म में अटल निष्ठा रखने के कारण अपने उभय परिवार की कीर्ति और मर्यादा बढ़ाने में सफल हुई। कथा निम्न प्रकार है।

चम्पानगर में निवास करनेवाले प्रतिष्ठित सेठ जिनदास की सुभद्रा नामक अनुपम सुन्दरी और जिनधर्मपरायणा पुत्री थी। वह गृहस्थरूप से अपने पिता-माता के साथ रहते हुए नमस्कार मन्त्र स्मरणपूर्वक दोनों समय सुबह-साम सामायिक, प्रतिक्रमण करती थी और अर्हन्त भगवान् का सदा स्मरण किया करती थी।

एक समय एक पथिक उसकी रूप-लावण्यशीलता और यौवन आदि समस्त गुणों पर मोहित हो गया और उसको प्राप्त करने के अभिप्राय से जैनधर्मावलम्बी नहीं होने पर भी प्रति॰ दिन यथाकाल सामायिक, प्रतिक्रमण आदि गुरुवन्दना तक की समस्त क्रियाएं करने लगा।

इस आडम्बरपूर्ण आचरण से जिनदास उसकी ओर आकृष्ट हो गया। पुराना नियम था कि जो वर १ कुल, २ धन, ३ वय, ४ विद्या, ५ धर्म, ६ शील और ७ सुन्दरता इन सात गुणों से युक्त हो उसे पिता समस्त गुणों से युक्त रूप और लावण्य से भरपूर कन्या देवे। जिनदास उसके दिखाई धर्मात्मापन से आकृष्ट तो हो गए, किन्तु उन्हें नहीं मालूम हुआ कि छद्मवेशी नवयुवक बुद्धदास कपट कर रहा है और बौद्धमत[1] का अनुयायी है। उसने उसे जैनधर्म का कट्टर अनुयायी समझकर भद्रा सुभद्रा को विवाहविधि से शीघ्र प्रदान करके विविध प्रकार के रत्न, सुवर्ण, हीरे आदि के आभूषण, दास, दासी, आसन, यान आदि तथा धर्मोपकरणों से शोभायमान करके कुल की रीति के अनुसार उसे सम्मान के साथ ससुराल भेज दी।

वहां पर भी सुभद्राने सामायिक, प्रतिक्रमण नियमपूर्वक उभयकाल जारी रक्खा और साथ-साथ जीवरक्षा, अभयदान तथा सुपात्रदान करती रही।

सुभद्रा की सास बुद्ध-धर्म की कट्टर अनुयायी थी। उसने कहा, "बेटी! अपने घर में बुद्धदेव की उपासना होती है। तुम भी उन्हीं की उपासना किया करो।" जब सासने इस प्रकार कहा तब उसे पति का सारा कपटपूर्ण रहस्य समझ में आ गया। उसने निश्चय किया कि दैवगति से अनहोनी भवितव्यता हो गयी तो भी अपना धर्म त्याग नहीं करना चाहिए। अतः वह अपने पति की सेवा में संलग्न रहकर पतिव्रत धर्मपालन करती हुई अपने धर्मकार्य पर अटल रही। चूंके वह सदाचारिणी और सुशीला थी; अपने कुल से विरुद्ध उसका आचरण देखकर सास यद्यपि सुभद्रा पर कुढ़ती थी तथापि वह बिना किसी कारण कुछ कर नहीं सकती थी।

---

१ कई ग्रन्थों में उसे शिवभक्त लिखा है।

संयोगवश कुछ काल व्यतीत होने पर एक महान् जिनकल्पी-मुनि गोचरी के लिए सुभद्रा के घर पधारे। वह ज्योंहि भिक्षा देने के लिए समीप आई त्योंहि उसने देखा कि मुनिराज के नेत्र में रजकण पड़ गया है। उससे नेत्र को हानि पहुंच सकती थी। अतः उसने बड़ी चतुराई से जीभ द्वारा वह निकाल दिया। उस समय दोनों के मस्तक भिड़ गये थे। इस लिए सुभद्रा के ललाट में लगा कुंकुम मुनि के ललाट में भी लग गया। सास को मनचाहा मौका मिला और उसने अपने पुत्र को दिखाते हुए कहा कि कुलटाने कुल कलङ्कित किया है। सुभद्रा को जब इस झूठी लांछना की खबर मिली तब वह शान्ति के साथ कायोत्सर्ग करने के लिए ध्यानधर कर बैठ गयी।

प्रभात होने पर द्वारपाल जब नगर का फाटक खोलने गया तब उसके लाख पयत्न करने पर भी किवाड़ हिले तक नहीं। सब आश्चर्यचकित हो गए। राजा जितशत्रु को भी इसकी खबर पहुंची। उसी समय आकाशवाणी हुई-"यदि कोई पतिव्रता, धर्मनिष्ठा और शीलवती स्त्री कच्चे धागे से चलनी में पानी निकालकर सींचे तब फाटक खुल सकते हैं, अन्यथा नहीं।" आकाशवाणी सुनकर अपने को सती समझनेवाली बहुत औरतें आईं, मगर सब निष्फल हुईं। अन्त में सुभद्रा इसमें सफल हुई।

स्त्रियों को दीक्षा देने के विषय में भगवान् बुद्ध को भी डर था, किन्तु महावीर स्वामी इस बात में निर्भय थे। महावीर स्वामी के जीवनकाल ही में लाखों स्त्री सन्यासिनियां पुरुषों की तरह धर्मप्रचार में संलग्न थीं। जो चार संघ थे उनमें मुनि श्रमण और साध्वी श्रमणी कहे जाते थे और श्रावक और श्राविका गृहस्थाश्रम में रहकर धर्मकार्य करते थे। आज भी श्रमणिकाएं धर्म-प्रचार करती हैं। इनका कर्त्तव्य है कि गृहस्थ जैनों के घरों में जांय और चेष्टा करें कि जैन स्त्री, बधू, कन्या को उचित शिक्षा तथा उपदेश मिलें। कन्या-शिक्षा के लिये वे बहुत प्रयत्नशील रहती हैं। जैन स्त्री-यतियों का यह कार्य सब धर्मावलम्बियों के लिए अनुकरणीय है। उपरोक्त कथा की नायिका सुभद्रा इसी कोटि की गृहस्थ रमणी थी। गृहस्थ धर्म में स्थित रहकर और आदर्श पतिव्रता नारी रहते हुए ही वह अपने धर्म पर दृढ रह सकी और अपने कल्याण के साथ-साथ कुल और जाति के मुख को उसने उज्ज्वल किया। यह सब महावीर स्वामी की उदार भावना का फल था। जिसकी तुलना संसार के धार्मिक अथवा इतर इतिहास में मिलना दुर्लभ है।

सांख्य और जैनधर्म

विद्याभास्कर श्री उदयवीर शास्त्री, प्रधानाचार्य. श्री शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ, बिकानेर

इस लघुकाय लेख में जैनधर्म के इतिहास अथवा उसकी प्राचीनता, अर्वाचीनता आदि के विषय में कुछ प्रकाश डालने का हमारा लक्ष्य नहीं है। यहाँ केवल जैनधर्म की कतिपय मान्यताओं का सांख्य-विचारधारा के साथ सामञ्जस्य अथवा असामञ्जस्य का प्रदर्शन करना ही इस लेख का उद्देश्य है।

'जैनधर्म' इस पद के दो अर्थ किये जा सकते हैं या समझे जा सकते हैं। एक 'जिन' नामक देवता को माननेवाले व्यक्तियों का धर्म अर्थात् 'जिन' को देवता माननेवाले जैन उनका जो भी कोई धर्म है वह जैनधर्म है। परन्तु इसीका दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जाता है जो पहले से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। वह है—'जिन' के द्वारा कहा हुआ धर्म—अभिप्राय यह कि 'जिन' ने जिस धर्म का प्रवचन किया, उपदेश दिया, वही जैनधर्म है।

'जिन' किसी एक व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने काम-क्रोधादि आत्मिक विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने से इस अवस्था या पद को प्राप्त कर लेता है और वही 'जिन' कहा जाता है। इस प्रकार ये 'जिन' किसी ईश्वर के अवतार नहीं, प्रत्युत साधारण जीव ही अपने बल, पौरुष के आधार पर इस स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक जीव का अपना स्वाभाविक गुण है—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल। जब जीव काम, क्रोधादि विकारों और उनके कारण—कर्मों से घिरा रहता है, तब उसके ये स्वाभाविक गुण अन्तर्हित रहते हैं, प्रकट नहीं हो पाते। इन पर विजय प्राप्त कर लेने पर वह अवस्था आ जाती है। जैनधर्म में 'जिन' की वही स्थिति है जो और धर्मों में परमात्मा की समझी जाती है। इस प्रकार विशेष अवस्था में प्रत्येक जीव परमात्मा बन सकता है। 'जिन' बन जाने पर अर्थात् काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि के नष्ट हो जाने पर उसके स्वाभाविक गुण प्रकाश में आ जाते हैं और वह सर्वज्ञ हो जाता है, सर्वशक्ति हो जाता है। उस अवस्था में दिये गये उपदेश प्रामाणिक होते हैं। क्यों कि दो ही कारणों से कोई कही गई बात अशुद्ध हो सकती है—एक अज्ञान के कारण, दूसरी राग-द्वेषादि के कारण। यह स्थिति 'जिन' जीव में नहीं रहती। इस लिये उनके उपदेश अशुद्ध न होने के कारण प्रामाणिक समझे जाते हैं।

प्रत्येक धर्म के दो अंग होते हैं–आचार और विचार। जैन के आचार का मूल है अहिंसा और विचार का मूल है स्याद्वाद। पहले हम यहां प्रथम अंग को ले कर ही कुछ विचार प्रस्तुत करते हैं। जैनधर्म आचार की दृष्टि से किसी प्राणी–जीवन के साथ खिलवाड़ नहीं करना चाहता। इस विषय में उसका मूलभूत उपदेश अहिंसा है। सब को सब के जीवनों की रक्षा करने की भावना ही इसमें अन्तर्निहित है। मन, वचन और कर्म किसी भी तरह से कोई अन्य को कष्ट न पहुंचा पावे। यदि वह ऐसा करता है अर्थात् कष्ट पहुंचाता है, अपनी सुविधा और आराम के लिये दूसरे की उपेक्षा करता है तो समझना चाहिये कि वह अधर्म का ही आचरण करता है और तब उस अधर्म का फल भोगने के लिये भी उसे तैयार रहना चाहिये। अभिप्राय यह है कि चाहे वह किसी भावना से भी हिंसा का प्रयोग करे, उसे उस अधर्माचरण का फल भोगना ही होगा।

अहिंसा की इस भावना को सांख्य ने पहले ही बहुत महत्त्व दिया है। वैदिक कर्मानुष्ठान यद्यपि मूल में सर्वथा अहिंसात्मक रहे हैं, पर मानव की दुर्बलताओंने उसे अनेक अंशों में हिंसायुक्त बना दिया। तब समाज में एक विवाद ऊठ खड़ा हुआ कि इसमें श्रेयस्कर क्या है? उस अति प्राचीनकाल के समाज के कतिपय नेताओं का यह विचार सामने आया कि वैदिक कर्मानुष्ठानों में हिंसा विधेय है, इस लिये वह अधर्माचरण नहीं। और इस लिये उसका दुःखरूप फलभोग भी नहीं होगा। उनकी दृष्टि से विधेय होने के कारण वस्तुतः उसे हिंसा ही नहीं माना जाना चाहिये, तब उसके दुःखरूप फल भोग का प्रश्न ही नहीं उठता।

इन भावनाओं के विपरीत सांख्य में विधेय हिंसा को भी वस्तुभूत हिंसा माना गया है। उसका दुःखरूप फलभोग निश्चित है। इस प्रकार की हिंसा का भी अनुष्ठान करके उसके दुःखरूप फल से बचा नहीं जा सकता। सांख्य में उसका विवेचन इस प्रकार है–'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' 'सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम्' 'अहिंसा परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च' इत्यादि अनेक श्रुति–स्मृति वाक्यों में अहिंसा को परम संमान्य धर्म स्वीकार किया गया है। परन्तु कतिपय यागों में बलि का विधान दृष्टिगोचर होता है। 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत भूतिकामः'। यह निश्चित है कि इस प्रकार के वाक्य वेद की मूल संहिताओं में कहीं उपलब्ध नहीं होते। इस लिये इन वाक्यों की अपेक्षाकृत प्रामाणिकता में संदेह किया जा सकता है। पर इसमें संदेह नहीं कि कोई ऐसा समय अवश्य वेदानुयायी समाज में रहा है, जब वह स्वभाव–सुलभ मानव दुर्बलताओं की प्रवृत्तियों के वशीभूत हो कर आर्ष सदुपदेशों को भी इच्छानुसार अपने मनमाने रूप में समझ कर उसीके अनुसार आचरण करने लगा। सांख्य में मानवप्रवृत्ति की दृष्टि से ही इस विषय पर विचार किया गया है। कतिपय

आचार्योंने इन वाक्यों के आधार पर यागानुष्ठानों में विधिप्राप्त पशुबलि को विशुद्ध धर्म का ही रूप मान लिया है और उसको हिंसा की कोटि से बाहर निकाल दिया है। मूल वेद की दृढ़ अहिंसा भावना के साथ इसका सामंजस्य करने के लिये उत्सर्ग और अपवाद नियमों का उपयोग किया है। उनका विचार है कि वेद में अहिंसा की भावना उत्सर्ग अर्थात् सामान्य नियम है। किसी विशेष नियम से उसकी बाधा हो जाती है। सामान्य वाक्य विशेष वाक्य के क्षेत्र को छोड़ कर ही प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यागीय पशुबलि को वेद विरुद्ध न समझ कर उसे धर्म का रूप दिया गया है।

सांख्य इन विचारों को इस रूप में स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि जब अहिंसा ही परम धर्म है तो किसी प्रकार की भी हिंसा को अधर्म के क्षेत्र से बाहर नहीं लाया जा सकता। यदि किसीने पशुबलि को यागानुष्ठान में उपयोगी बतलाया है तो भले ही उससे याग सम्पन्न कर लिया जावे, पर वह अपने स्वरूप में हिंसा अवश्य है और वह अधर्म है। किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचाने की स्थिति, चाहे वह याग के लिये हो या याग से अन्यत्र, दोनों जगह एक समान ही है। जब एक व्यक्ति आमिष का प्रयोग करता है तो उसका भी उदरपूर्ति में उपयोग है। याग में उपयोग याग को सम्पन्न करेगा, उदरपूर्ति में उपयोग उसको पूरा करेगा। वह हिंसा का स्वरूप दोनों जगह सर्वथा एक है। इसलिये खाली याग या देवता का नाम हिंसा को अहिंसा बनाने में बचना नहीं हो सकता। सांख्य का ऐसा विचार अहिंसा में उसकी परम निष्ठा को प्रकट करता है।

जैनधर्म में विचार का मूल स्याद्वाद है। यह निश्चित है कि सांख्य में इस प्रकार की बिचारशैली को स्वीकार नहीं किया गया। पर अपनी-अपनी विचारशैलियों के आधार पर जो परिणाम प्रकट किये गये हैं उन पर थोड़ा दृष्टिपात कीजिये। जैनधर्म के विचार जिस दृष्टि को ले कर चलते हैं, उसके अनुसार समस्त विश्व के मूलभूत तत्त्व दो भागों में विभक्त किये गये हैं-एक जीव तत्त्व, दूसरा अजीव अर्थात् जड़ तत्त्व।

सांख्य में भी मूलभूत तत्त्वों को दो भागों में बांटा गया हैं, यद्यपि उनके लिये नाम-पद अलग हैं, पर उनका अर्थ वही है। सांख्य में पुरुष और प्रकृति ये दो प्रकार के मूल तत्त्व माने गये हैं। पुरुष चेतन तत्त्व है तथा प्रकृति जड़ तत्त्व है। चेतन और जड़ दो प्रकार के स्वतन्त्र तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण ही सांख्य वैदिक दर्शनों में द्वैतवादी समझा जाता है। इस प्रकार ये दोनों दर्शन विश्व को सुलझाने के लिये जिन आधारभूत अथवा मूलभूत तत्त्व को लेकर चलते हैं, वे दोनों जगह समान ही प्रतीत होते हैं।

जैन धर्म की मान्यताओं के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्त्तनशील है। इसमें उत्पाद और विनाश हुआ करते हैं। पर इस परिवर्त्तन के साथ उसमें एकरूपता भी बनी रहती है। उस एकरूपता के आधार पर ही हम होनेवाले परिवर्त्तनों को पहचानते हैं। इस प्रकार वस्तु या द्रव्य तीन रूप में हमारे सामने आते हैं–उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य। उत्पाद और विनाश अथवा व्यय को बतलानेवाली स्थिति जैन धर्म में 'पर्याय' कही जाती है और वह अवस्था जो इन पर्यायों के चलते रहते बनी रहती हैं उसका नाम 'गुण' है। उदाहरण के लिये एक जीव द्रव्य ले लीजीये। उसके ज्ञान, सुख आदि गुण हैं और नर, नारकी आदि पर्याय हैं। फलतः प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्याय का स्वरूप है। चाहे इसको सत् कहा जाय अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त कहा जाय। एक ही बात है। इस में एक के कहने से दूसरी का कथन स्वतः हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य सत् है, द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है अथवा द्रव्य गुण और पर्याय का आश्रय या स्वरूप है। इन सब कथनों में एक ही अर्थ प्रतिपादित होता है।

परिवर्त्तनशीलता में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को समझाने के लिये पतञ्जलिने व्याकरण महाभाष्य में लिखा है कि सुवर्णपिण्ड की कुण्डल, रुचक, स्वस्तिक आदि आकृतियां बदलती रहती हैं, पर द्रव्य सुवर्ण वहां बना रहता है। इस प्रकार द्रव्य या वस्तु का स्वरूप यथात्मक है। कुण्डल, रुचक, स्वस्तिक आदि आकृतियों के आधार पर उत्पाद, विनाश और सुवर्ण प्रत्येक अवस्था में बने रहने में ध्रौव्य की स्थिति स्पष्ट होती है।

वस्तु की इस त्रयात्मकता को आचार्य समन्तभद्रने एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया है। एक राजा के एक पुत्र था और एक पुत्री। उसके पास एक सुवर्ण घट था। पुत्री उस सुवर्ण घट को चाहती थी। पुत्र चाहता था कि इस घट को तुड़वा कर उसके लिये मुकुट बनवा दिया जाय। राजाने पुत्र के हठ को स्वीकार कर घट को तुड़वाकर मुकुट बनवा दिया। घट के नाश से पुत्री को दुःख होता है। मुकुट के उत्पादसे पुत्र को सुख व प्रसाद होता है। परन्तु राजा केवल सुवर्ण का इच्छुक है। उसे घट के टूटने से न दुःख है और मुकुट के उत्पाद से न सुख। सुवर्ण वैसा ही बना है; इसलिये इन पर्यायों में वह उदासीन है। आचार्य के इस वर्णन में वस्तु के त्र्यात्मकत्व (एक घट का विनाश, मुकुट का उत्पाद और सुवर्ण का ध्रौव्य) की दो भावना सन्मुख आती हैं। वस्तु के इस परिवर्त्तन स्वभाव में उत्पाद और विनाश पर्याय हैं, सुवर्ण ध्रुव है। दूसरी भावना है–पुत्री को दुःख, पुत्र को सुख और राजा को औदासीन्य अथवा मोह–इस प्रकार वस्तु की सुख, दुःख, मोहात्मकरूप में भी त्र्यात्मकता स्पष्ट होती है।

सांख्य में इन भावनाओं को कुछ अन्य शब्दों में प्रकट किया जाता है । पर उससे अर्थ के प्रतिपादन में विशेष अन्तर नहीं आता । सांख्य में पुरुष अर्थात् चेतनतत्त्व को परिवर्तनशील नहीं माना गया । सांख्य का परिणामवाद वस्तु के परिवर्तन स्वभाव का आधार है । पर परिणाम अचेतन तत्त्व में ही संभव है। परिणामवाद के आधार पर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का स्पष्टीकरण किस प्रकार होता है–इस का विचार कीजीये । जैन धर्म में वस्तु की जिस स्थिति को ' पर्याय ' पद से प्रकट किया गया है, सांख्य में उसके लिये ' असत् ' शब्द का प्रयोग किया जाता है। ध्रौव्य को प्रकट करने के लिये जैन धर्म में ' गुण ' पद के स्थान पर सांख्य में ' सत् ' पद का प्रयोग होता है । इस प्रकार सांख्यदृष्टि से प्रत्येक जड़तत्त्व कार्यरूप से ' असत् ' है अर्थात् वस्तु का कार्यरूप ' ध्रुव ' नहीं है । जो अर्थ जैनदर्शन में ' पर्याय ' पद से प्रकट किया है, उसका बोध यहां 'कार्य' अथवा ' असत् ' पद से होता है । प्रत्येक जड़तत्त्व कार्यरूप से असत् रहते भी कारणरूप से ' सत् ' रहता है। घट टूट जाने पर भी कारण रूप से सत् है। घट का कारणरूप घट की आकृति के रहते भी रहता है और न रहते भी बना रहता है । इस प्रकार वस्तु के कार्यरूप में उत्पाद, विनाश और कारणरूप में ध्रौव्य स्पष्ट होता है । सांख्यदृष्टि से समस्त परिणामी जड़ जगत् के तीन मूल तत्त्व हैं–सत्त्व, रजस्, तमस् । इन को ' त्रिगुण ' कहा जाता है । जैनधर्म में ' गुण ' ध्रौव्य का रूप है । यहां भी समस्त परिणामी जगत् त्रैगुण्य रूप में ध्रुव है । इसके त्रैगुण्य रूप का कभी परिवर्तन नहीं होता । जिन में परिवर्तन होता है, वे पर्याय अथवा कार्य अनन्त हैं और समस्त उत्पाद एवं विनाश उन्हीं का रूप है । सत्त्व, रजस्, तमस् को सांख्य में सुख–दुःख–मोहात्मक कहा गया है । आचार्य समन्तभद्र के प्रतिपादन के अनुसार वस्तु की त्र्यात्मकता इस रूप में भी स्पष्ट होती है ।

जैन धर्म जीव को चेतन, कर्त्ता व भोक्ता मानता है । चेतना जीव का असाधारण लक्षण है । वह जानने व देखने आदि के रूप में प्रकट होती है । यह चेतना अथवा ज्ञान जीव का स्वरूप ही है । जैन दृष्टि से चैतन्य, ज्ञान में कोई पर्याय–भेद नहीं है और जीव का स्वरूप इन से कोई भिन्न नहीं है । हर्ष–विषाद, राग–द्वेष आदि अनेक पर्यायवाला ज्ञान अथवा चेतनस्वरूप एक आत्मा ही अनुभव से सिद्ध होता है । चैतन्य, बुद्धि, ज्ञान, अध्यवसाय आदि सब उसीके पर्याय कहे जाते हैं । अतः जीव अथवा आत्मा चेतन–ज्ञानस्वरूप ही माना जाता है । उसकी दो अवस्था होती हैं–एक बहिर्मुख, दूसरी अन्तर्मुख । जब यह बाह्य पदार्थ को ग्रहण करता है, तब वह बहिर्मुख है, यह उसका ज्ञान–स्वरूप है । इस अवस्था में ' यह घट है, यह पट है ' इत्यादि रूप से वस्तु की व्यवस्था होती है । अन्तर्मुख

अवस्था में बाह्य वस्तु का ग्रहण नहीं होता और वहां घट-पट आदि की व्यवस्था नहीं रहती। इस अवस्था को 'दर्शन' भी कहा जाता है। यह ज्ञान तथा दर्शन आत्मा का स्वभाव है। इन को आत्मा से पृथक् मानने पर आत्मा का स्वरूप जड़ रह जायगा जो जैन धर्म में मान्य नहीं है।

इसी रूप में आत्मा को कर्त्ता माना जाता है। 'मैं देखता हूं, मैं सुनता हूं' इत्यादि प्रतीति प्रत्येक पुरुष को होती है, अतः आत्मा का कर्तृत्व अनुभवसिद्ध है। इसी प्रकार आत्मा सुख, दुःख आदि का भोक्ता भी है। सुख, दुःख आदि की अनुभूति ही भोग है। और अनुभूति चैतन्य से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं। अनुभूति चेतन का ही स्वभाव है; अतः आत्मा को ही सुख, दुःख आदि का भोक्ता माना जाता है। फलतः जैन धर्म के अनुसार आत्मा चेतन, कर्त्ता तथा भोक्ता स्वीकार किया गया है।

सांख्य में आत्मा के ऐसे ही स्वरूप का पता लगता है। यहां आत्मा नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त माना गया है। नित्य शुद्ध का अभिप्राय है कि सुख, दुःख आदि का भोग करने अथवा राग, द्वेष आदि की अनुभूति दशा में भी आत्मा के अपने स्वच्छ शुद्ध स्वभाव में किसी प्रकार का अन्तर या विकार आदि दोष नहीं आता। लाल रंग के गुड़हल फूल (जपा कुसुम) की छाया स्वच्छ शुभ्र मणि में पड़ने पर मणि लाल प्रतीत होती है, पर वस्तुतः उस समय भी मणि लाल नहीं है, प्रत्युत स्वच्छ शुभ ही है। यदि ऐसा न हो तो उसमें लाल रंग की छाया की प्रतीति हो ही नहीं सकती। उस अवस्था में भी मणि को स्वच्छ शुभ मानना अनिवार्य है। न केवल मानना, अपितु वास्तविकता ही यह है। इसी प्रकार शुद्ध चेतन आत्मा को प्रकृति के साथ योग में बुद्धि आदि द्वारा सुख-दुःख आदि की समस्त अनुभूतियां होती हैं। अनुभूति ही आत्मा का स्वरूप है और यही प्रमाण है कि इस स्थिति में भी आत्मा अपने शुद्ध चेतन स्वरूप को परित्याग नहीं करता, अन्यथा अनुभूति का होना असंभव है। इसी कारण आत्मा नित्यबुद्ध भी है अर्थात् नित्य चेतन-स्वरूप है। उसकी यह अवस्था कभी किसी प्रकार भी विकार अथवा अन्यथा भावको प्राप्त नहीं होती।

यह विचार सांख्य के विषय में प्रसिद्ध है कि आत्मा सुख, दुःख आदि का भोक्ता है। पर आचार्योंने भोक्तृत्व के स्वरूप का विभिन्न रूपों में वर्णन किया है। आत्मा को सुख, दुःखादि का वास्तविक भोग होता है-इस आधार को लेकर प्रतिवादियोंने सांख्य पर यह आक्षेप किये हैं कि इस अवस्था में आत्मा विकारी क्यों नहीं होता। मूल सांख्य में (चिद-वसानो भोगः, सां. सू. १ । ६८) यहीं प्रतिपादन किया गया है कि साक्षात् चेतन आत्मा

को ही भोग होता है, अन्य बुद्धि आदि को नहीं। परन्तु प्रतिवादियों के आक्षेप से पराहत समझकर तात्कालिक सांख्य के व्याख्याकार आचार्योंने आत्मा के भोग की अन्यथा व्याख्या कर डाली। उनके विचार से समस्त भोग बुद्धि में होते है। पर बुद्धि स्वभावतः अचेतन है। उसमें स्वतः किसी प्रकार के भोग का सामर्थ्य संभव नहीं। जब चेतन की छाया के आपादन से उसमें यह शक्ति हो जाती है, तब बुद्धि के भोग को ही भ्रान्ति से आत्मा अपना समझता है। ऐसा उन आचार्योंने स्वीकार किया और अपने विचार से उन्होंने आत्मा को विकारी होने से बचा लिया।

यदि इस प्रतिपादन को थोड़ा सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन आचार्योंने वस्तुस्थिति को शीर्षासन करा दिया है। आईये, इस पर विचार कीजिये। सांख्य का अध्ययन करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह जानता है कि प्रकृति की समस्त सृष्टि-रचना 'परार्थ' है। 'परार्थ' पद के अभिप्राय से कोई सांख्याध्येता अपरिचित नहीं रहता। 'पर' आत्मा है, उसके लिये ही यह समस्त जगत् की रचना है। दूसरे रूप में इसी अर्थ को इस प्रकार वर्णन किया गया है कि आत्मा के भोग और अपवर्ग-रूप प्रयोजन को पूरा करने के लिये जगत् की रचना है। अब उन आचार्यों के अनुसार यदि वास्तविक भोग बुद्धि को होता है तो प्रकृति की सृष्टि-रचना 'परार्थ' कहां रही? बुद्धि तो प्रकृति का ही रूप है। यदि वस्तुतः उसीके लिये यह भोग है तो यह रचना 'स्वार्थ' होगई, 'परार्थ' नहीं रही, फिर बुद्धि में भोग का स्वतः सामर्थ्य नहीं। चेतन उसके भोग के लिये छाया आपादन करता है और उसे भोग करने का सामर्थ्य देता है। इस रूप में चेतन बुद्धि के उपयोग में आने का एक साधन मात्र रह जाता है। जब कि आत्मा साध्य और बुद्धि साधन थी। इन आचार्योंने आत्मा को विकार से बचाने के धोखे में उसे साध्य से साधनमात्र बना डाला। जिस आत्मा के लिये यह सब प्रकृति थी, अब वह आत्मा ही प्रकृति के लिये साधारण उपयोग मात्र की वस्तु रह गया। इस लिये वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा को भोग होना ही इस बात को स्पष्ट करता है कि आत्मा के अपने स्वरूप में किसी प्रकार का अन्तर या विकार नहीं आया है। क्योंकि भोग केवल अनुभूति है और यह आत्मा का अपना स्वरूप है। यदि आत्मा अपने स्वरूप से च्युत हो जाय तो भोग असंभव है। भोग आत्मा के अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित होने का प्रमाण है। मध्यकालिक व्याख्याकार आचार्योंने 'बुद्धि' को आत्मा बना दिया और आत्मा को बुद्धि-स्थान में ला पटका। इस प्रकार वस्तुस्थिति को शीर्षासन करा दिया गया।

भोक्ता होने के समान आत्मा कर्त्ता भी है। सांख्यदृष्टि से आत्मा के कर्तृत्व के आधार

पर विद्वानों म बहुत भ्रान्ति है। साधारण रूप में यह समझा जाता है कि सांख्य आत्मा को 'भोक्ता' तो मानता है, पर 'कर्त्ता' नहीं मानता। पर यह भी एक साधारण बात है कि आत्मा को भोक्ता मान कर उसे 'कर्त्ता' मानने से कैसे नकार किया जा सकता है। 'भोक्ता' में ही तो कर्त्ता अन्तर्निविष्ट है। भोग का 'कर्त्ता' ही भोक्ता है। तब भोक्ता मानकर कर्त्ता मानने से नकार कैसे? वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा के विषय में आये सांख्य के 'अकर्त्ता' पद को ठीक समझने का यत्न नहीं किया गया।

साधारणतया किसी भी क्रिया के करने में स्वतन्त्र अर्थात् अन्यनिरपेक्ष होना कर्तृत्व कहा जाता है। पर सांख्य में जब हम इसका विचार करते हैं तो दो भावना सन्मुख आती हैं—एक अधिष्ठातृत्व की और दूसरी उपादान की अर्थात् साख्य में अधिष्ठाता भी कर्त्ता है और उपादान भी। कारण यह है कि किसी भी अर्थ को अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रकृति से जगत बनता है, मट्टी से घड़ा बनता है, सुवर्ण से कुण्डल बनता है। इन स्थलों में प्रकृति, मट्टी, सुवर्ण का स्पष्ट ही उपादान रूप में वर्णन किया गया है। इसी अर्थ को एक अन्य प्रकार से उपस्थित किया जा सकता है। प्रकृति जगत् बन जाती है, मट्टी घड़ा बन जाती है, सुवर्ण कुण्डल बन जाता है। यहां पर प्रकृति, मट्टी और सुवर्ण-जगत्, घड़ा और कुण्डल के उपादान ही हैं; पर जिस ढंग से वाक्य में उनका प्रयोग किया गया है, उससे उनकी स्थिति 'कर्त्ता' रूप में प्रकट होती है। प्रकृति, मृत् तथा सुवर्ण वाक्य में कर्त्ता होते हुए भी कार्यक्षेत्र में वे जगत् आदि के उपादान ही हैं। इसका परिणाम यह निकला कि सांख्य में जहां कहीं प्रकृति को 'कर्त्ता' बताया गया है वहां उसके कर्तृत्व का यही अभिप्राय है अर्थात् वह उपादान रूप अर्थ का प्रतिपादक है। इसी भाव को लेकर इस के विपरीत आत्मा को 'अकर्त्ता' बताया गया है; क्योंकि आत्मा किसी कार्य का उपादान नहीं है। उपादान वही तत्त्व हो सकता है जो परिणामी है, आत्मा ऐसा नहीं है। फलतः जब उपादान के अर्थ में 'कर्तृ' पद का प्रयोग होता है, तब प्रकृति कर्त्ता और आत्मा अकर्त्ता कहे जाते हैं। इसी आधार पर सांख्यसप्तति की जयमंगला व्याख्या में पुरुष को अकर्त्ता बताते हुए लिखा है—'निर्गुणस्य पुरुषस्याप्रसवधर्मित्वादकर्तृत्वम्'। गुणों से अतिरिक्त पुरुष अप्रसवधर्मी होने से 'अकर्त्ता' कहा जाता है। गुण प्रसवधर्मी हैं, इसलिये कर्त्ता हैं। यहां 'कर्तृ' पद उपादान की भावना से परिणामी अर्थ को कहता है। वाचस्पतिमिश्रने भी १८ वीं आर्या के 'अकर्तृभावः' पद की यही व्याख्या की है—'अप्रसवधर्मित्वाचाकर्त्ता।' परन्तु दूसरी ओर कर्तृत्व का प्रयोग अधिष्ठातृत्व की भावना को प्रकट करने के लिये भी किया जाता है। जब हम कहते हैं कि एक चेतन के सान्निध्य

में किसी वस्तु का परिणाम होता है। तो उसका यह अभिप्राय है कि चेतन के सान्निध्य के विना उस वस्तु में परिणाम हो नहीं सकता। इसलिये अपनी सन्निधि के कारण वह चेतन उस परिणाम का साक्षी है। उसको सांख्य में अधिष्ठाता कहा जाता है और उस परिणाम का कर्त्ता भी; परन्तु परिणति क्रिया का वह आधार नहीं है। उस क्रिया का आधार वही अचेतन तत्त्व है जो परिणत हो रहा है।

इस अर्थ को उदाहरण के द्वारा ऐसे समझना चाहिये-जब किसी इन्द्रिय का विषय के साथ सम्पर्क होता है. तब इन्द्रिय में विषय की छाया अथवा उसका प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है और इन्द्रिय विषयाकार हो उठती है। यही इन्द्रिय का विषयाकार परिणाम है। इन्द्रिय के साथ अन्तःकरण-बुद्धि का साक्षात् सम्पर्क है। तब इन्द्रिय प्रणाली से अर्थात् इन्द्रिय मार्गद्वारा वह विषय बुद्धि तक पहुंचता है और बुद्धि का विषयाकार परिणाम हो जाता है। यह परिणाम की परम्परा यहां समाप्त हो जाती है। पर यह सब प्रक्रिया चेतन आत्मा की सन्निधि के विना संभव नहीं। इसलिये इस सब प्रक्रिया का कर्त्ता अथवा अधिष्ठाता चेतन आत्मा कहा जाता है। बुद्धि उस विषय को आत्मा में समर्पित कर अपना कार्य पूरा कर देती है। आत्मा उस विषय का अनुभव करता है, यही उसका कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व है। आत्मा जब उस विषय का अनुभव करता होता है, तब उसका विषयाकार परिणाम नहीं हो जाता। अचेतन बुद्धि तक ही परिणामपरम्परा पूरी हो जाती है। वस्तुतः वह भी अर्थ के प्रतिपादन करने का एक प्रकार मात्र है। अभिप्राय यह है कि चेतन का कर्तृत्व परिणाम पर आधारित नहीं है, परन्तु अचेतन में कर्तृत्व का कथन सर्वथा उसके परिणाम पर आधारित है। इस लिये सांख्य में जहां कहीं चेतन को अकर्त्ता कहा है, वह अचेतन के परिणाम अथवा उपादानरूप कर्तृत्व का ही निषेध है-चेतन के अधिष्ठातृरूप अथवा साक्षिरूप कर्तृत्व का नहीं। इस लिये सांख्य में आत्मा के साथ कहीं अकर्त्ता का प्रयोग होनेपर इस भ्रान्ति में न पड़ना चाहिये कि आत्मा के अधिष्ठातृत्व का यह निषेध किया गया है। इसी प्रकार प्रकृति के साथ कर्ता पद का प्रयोग होने पर इस भ्रम में न पड़ना चाहिये कि प्रकृति में अधिष्ठातृत्व को अंगीकार कर लिया गया है।

फलतः सांख्य के विचार से प्रकृति में उपादानमूलक कर्तृत्व है और चेतन आत्मा में अधिष्ठातृमूलक। लेखके कलेवर की वृद्धि के भय से यहां सांख्य के इस विषय के प्रमाण-भूत उल्लेखों का संग्रह करने की उपेक्षा कर दी है। इस प्रकार चेतनस्वरूप आत्मा सांख्यदृष्टि में भी कर्त्ता और भोक्ता है। जैनधर्म के कतिपय आचारविचारों को सांख्य के सन्तुलन पर हमने यहां परीक्षण किया है। विषय अधिक लम्बा है-इस समय इतना ही।

उपासकदशाङ्ग सूत्र में सांस्कृतिक जीवन की झांकी

नरेन्द्रकुमार भानावत

उपासकदशाङ्ग सूत्र जैन आगमों में सातवा अंग सूत्र माना जाता है। इस सूत्र में भगवान् महावीर के प्रमुख दस श्रावकों–आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सद्दालपुत्त, महाशतक, नन्दिनीपिता, सोलिहिपिया–का जीवनवृत्तान्त वर्णित है। इस सूत्र का जब हम मननपूर्वक अध्ययन करते हैं तब ढाई हजार वर्ष पूर्व की सांस्कृतिक चेतना हमारे सामने साकार हो उठती है। हमारा स्वर्णिम अतीत शत्–शत् मुखों से आत्मगायन करता दृष्टिगत होता है। श्रावकों की जीवन–झांकी में तत्कालीन लोक-रुचि रमत करती हुई, युगीन शिल्पकला मुस्कराती हुई, सामाजिक ऐश्वर्य उभरता हुआ और वैयक्तिक साधना इठलाती हुई प्रतीत होती है। उस समय का सांस्कृतिक जीवन आकाश के आदर्श को एक ओर अपने में समेटे हुए था तो दूसरी ओर धरती की धड़कन को अवलम्बन दिये हुए था। उस समय का सांस्कृतिक जागरण न निरा प्रवृत्तिमूलक था–न निरा निवृत्तिमूलक, न कोरा भौतिकवादी था–न केवल आध्यात्मवादी। प्रत्युत उस समय के सांस्कृतिक जीवन में भौतिकता और आध्यात्मिकता, प्रवृत्ति और निवृत्ति, आदर्श और यथार्थ दोनों का समपात संतुलन एवं सुखद समन्वय था। जब हम तत्कालीन जन–जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण और निकटता के साथ स्पर्श करते हैं तो हमें निम्न सांस्कृतिक विशेषताओं का पता चलता है।

नगर–निर्माण कला—उस समय का कला–कौशल उन्नति की चरम–सीमा पर पहुंचा हुआ था। नगर व्यापार के केन्द्र हुआ करते थे। उस समय के नगर प्रकृति की गोद में स्थित होते थे। जब हम वाणिज्यग्राम नगर का वर्णन पढ़ते हैं तो हमें मालूम होता है कि वह वनों तथा उपवनों से सुशोभित था, जिसके चारों ओर नगर कोट थी, जिसका निर्माण शिल्पियोंने किया था। प्रत्येक नगर में चैत्य होता था, जहां साधु–संन्यासी, श्रावक आकर दर्शन करते थे। इसके अलावा नगरों में पौषधशालाएं होती थीं जहां श्रावक पौषध करते थे। कुम्भकारों की दुकानें नगर से बाहर हुआ करती थीं। सद्दालपुत्त की पांच सौ दुकानें पोलासपुर नगर के बाहर थीं, जिन पर बहुत से नौकर काम किया करते थे। उस समय की कला का उभार हमें मिट्टी के बर्तनों में भी मिलता है। सद्दालपुत्त की दुकानों में जल भरने के

घड़े, छोटी घड़लियां, कलश, सुराही, कुंजे आदि नाना प्रकार के बर्तन बिका करते थे। नगर सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र माने जाते थे।

सामाजिक और आर्थिक जीवन—उस समय का सामाजिक जीवन बहुत बढा-चढा था। आनन्दादि श्रावकों का सामाजिक कार्यों में विशेष हाथ रहता था। उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली और आकर्षक होता था कि सर्वत्र उनकी पूछ होती थी। राजा ईश्वर यावत् सार्थवाहों के द्वारा बहुत से कार्यों में, कारणों में, मंत्रणाओं में, कुटुम्बों में, गुप्त बातों में, रहस्यों में, निश्चयों में और व्यवहारों में वे एक बार पूछे जाते थे, बार-बार पूछे जाते थे। वे अपने परिवार के मेढ़ी (मेघि) प्रमाण, आधार, आलम्बन, चक्षु अर्थात् पथ-प्रदर्शक पूछे और मेधीभूत यावत् समस्त कार्यों को बढ़ानेवाले होते थे। उनके पास धन-दौलत की कमी न थी। आनन्द, नन्दिनीपिता और शालेयिकापिता के पास १२-१२ करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी। चार-चार करोड़ सोनैयां निधानरूप अर्थात् खजाने में था, चार-चार करोड़ सोनैयों का विस्तार (द्विपद, चतुष्पद, धन-धान्य आदि की सम्पत्ति) था और चार-चार सोनैयों से व्यापार चलता था। इसके अलावा उनके पास गायों के चार-चार गोकुल थे (एक गोकुल में दस हजार गायें होती थीं)। इसी प्रकार कामदेव, चुलशतक, कुण्डकोलिक के पास १८-१८ करोड़ सोनैये थे और गायों के ६ गोकुल थे। चुलनीपिता, सुरादेव, महाशतक के पास २४-२४ करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति और आठ २ गायों के गोकुल थे। सद्दालपुत्र जो जाति का कुम्भकार था उसके पास तीन करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी और दस हजार गायों का एक गोकुल था। इतना धन होते हुए भी वे लोग उसे जमीन में नहीं गाड़ते थे, मक्खीचूस की भांति उसे एक जगह इकट्ठा करके तालाब के पानी की तरह उसमें सड़ान उत्पन्न करने की आदत नहीं थी। प्रत्युत वे तो धन का समुचित विभाजन कर अलग २ क्षेत्र में उसे बिखेर देते थे। उस समय का कुंभकार भी कितना धनाढ्य था और समाज में उसकी कितनी प्रतिष्ठा और पूछ थी इसका जीता जागता प्रतीक है श्रावक सद्दालपुत्र। वे ऋद्धि और सम्पत्तिशाली होते हुए भी अभिमानी नहीं थे। पशुपालन उनका धर्म था। आज के स्वतन्त्र भारत में गायों की जो दुर्दशा हो रही है उससे प्रत्येक भारतीय परिचित है। जब हम ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व की ओर अपनी निगाह दौड़ाते हैं और श्रावकों के पास दस-दस हजार गायोंवाले गोकुल पाते हैं तो लज्जा और ग्लानि के मारे हमारी आँखे मुंद जाती हैं। उस समय की संस्कृति कितनी धर्मप्राण, कितनी करुणामूलक, कितनी प्रेममयी रही होगी? उसमें सरलता, सहृदयता और सात्विकता का मेल कितना गुणकारी सिद्ध हुआ होगा?

धार्मिक जीवन—उस समय का जन-जीवन जटिल एवं बोझिल नहीं था। धर्म के नाम पर पारिवारिक संघर्ष न होता था। यद्यपि धार्मिक चर्चा, शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद, तर्कादि भी होते थे। गोशालक और सद्दालपुत्त का वादविवाद इस बात का प्रतीक है कि उस समय धार्मिक जगत में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्रवहमान थीं। एक नियतिवादी, दूसरी पुरुषार्थवादी। श्रावक सद्दालपुत्र प्रारम्भ में गोशालक (आजीविक मत) का अनुयायी था। एक दिन सद्दालपुत्र अपनी अन्दर की शाला से गीले मिट्टी के वर्तन निकाल कर सुखाने के लिये धूप में रख रहा था। तब भगवान्ने पूछा कि ये बर्तन कैसे बने हैं? सद्दालपुत्रने उत्तर दिया—"भगवन्! पहले मिट्टी लाई गई। उस मिट्टी में राख आदि मिलाई गई और पानी से भिगो कर वह खूब रौंदी गई। तब चाक पर चढा कर ये बर्तन बनाये गये हैं।" तब भगवान्ने पूछा—"ये वर्तन उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार आदि से बने हैं या बिना ही उत्थान आदि के।" सद्दालपुत्रने कहा, "सब पदार्थ नियत (होनहार) से ही होते हैं।" तब भगवान्ने कहा—"यदि कोई पुरुष तुम्हारे इन वर्तनों को चुरा ले या फेंक दे, फोड़ दे अथवा तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ मनमाने भोग भोगे तो उस पुरुष को तुम क्या दण्ड दोगे?" सद्दालपुत्रने कहा, "मैं उसे उलाहना दूंगा, डंडे से मारूंगा, यहां तक कि प्राण भी ले लूं।" भगवान्ने कहा—"तुम्हारी मान्यता के अनुसार तो न कोई पुरुष तुम्हारे वर्तन चुराता है, फोड़ता है, फेंकता है और न कोई तुम्हारी भार्या के साथ काम-भोग भोगता है; किन्तु जो कुछ होता है सब भवितव्यता से ही हो जाता है। फिर तुम उस पुरुष को दण्ड क्यों देते हो? अतः तुम्हारी मान्यता मिथ्या है।" इससे सद्दालपुत्र को बोध होता है और वह महावीर का अनुयायी हो जाता है। इसके बाद जब गोशालक उसके पास आता है तो वह किसी प्रकार उसका आदर-सत्कार नहीं करता। तब गोशालक भगवान् महावीर का 'महामाहण', 'महागोप', 'महासार्थवाह', 'महाधर्मार्थी', 'महानिर्यामक' के रूप में गुणानुवाद करता है। इससे प्रभावित हो कर सद्दालपुत्र गोशालक को पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक आदि देता है; किन्तु कोई धर्म या तप समझ कर नहीं।

इसी प्रकार कुंडकोलिकने देवता को निरुत्तर कर दिया। जब देवताने उससे कहा कि गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है; क्यों कि उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम कुछ भी नहीं। सब पदार्थ नियत हैं और महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर नहीं हैं, क्यों कि उसमें उक्त सभी गुण हैं और नियत कुछ भी नहीं है। इस बात को सुन कर दृढधर्मी श्रावक कुण्डकोलिकने जो प्रश्न किया वह कितना तार्किक एवं सटीक है। श्रावकने देव से पूछा—"तुम्हें जो दिव्य ऋद्धि, दिव्य कान्ति और दिव्य देवानुभाव प्राप्त हुआ है—क्या बिना ही

पुरुषार्थ के प्राप्त हो गया!" देवने कहा, "हाँ बिना ही पुरुषार्थ के प्राप्त हो गया।" तब कुंड-कोलिकने कहा, "यदि ऐसा है तो फिर जिन जीवों में उत्थान, पुरुषार्थ आदि नहीं हैं ऐसे वृक्ष, पाषाण आदि देव क्यों नहीं हो जाते? अतः तुम्हारा कथन मिथ्या है!" इस प्रकार पराजित देव आत्मग्लानि करने लगा। इस घटना से यह प्रकाशित होता है कि उस समय के श्रावकों में कितनी आत्मशक्ति और कितनी दृढ आस्था होती थी कि वे देवताओं तक को निरूत्तर कर देते थे और जिनकी प्रशंसा स्वयं भगवान् करते थे जो श्रमणों के लिए प्रेरणा-स्रोत सिद्ध होते थे। भगवान् महावीरने श्रमण निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथनियों को बुला कर कहा कि-"गृहस्थावास में रहते हुए गृहस्थ भी अन्य यूथिकों को अर्थ, हेतु, प्रश्न और युक्तियों से निरुत्तर कर सकते हैं तो हे आर्यो! द्वादशांग का अध्ययन करनेवाले श्रमण निर्ग्रन्थों को तो उन्हें हेतु और युक्तियों से अवश्य ही निरुत्तर कर देना चाहिए।" और श्रमण निर्ग्रंथोंने भगवान् के इन कथनों को सविनय 'तहत्ति' कहकर स्वीकार किया। इस प्रकार पुरुषार्थवादी विचारधारा भाग्यवादी विचारधारा पर धीरे-धीरे अपना अधिकार करती जा रही थी।

धार्मिक दृढ़ता—उस समय के श्रावक अपने कर्त्तव्य पर अडिग रहनेवाले थे। उनकी धर्मपरायणता की चर्चा स्वर्ग में भी चला करती थी। कामदेव को डिगाने के लिए मिथ्या-दृष्टि देवने क्या-क्या नहीं किया। विकराल पिशाच रूप धारण किया, मदोन्मत्त हाथी का रूप बनाया, भयंकर महाकाय विषधर का शरीर धारण किया, कामदेव को आकाश से धरती पर पटका; फिर भी वह अविचल भाव से अपने धर्म-ध्यान में स्थित रहा। आखिर देव हार गया और उससे क्षमा प्रार्थना करने लगा। उनके चरणों में गिर पड़ा। कामदेव की सहनशीलता और निर्भीकता की प्रशंसा करते हुए भगवान् ने श्रमण निर्ग्रंथ और निर्ग्रन्थनियों को उद्‌बोधन दिया है-"कि जब घर में रहनेवाले गृहस्थ भी देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करते हैं तो द्वादशांग-गणिपिटक के धारक श्रमण निर्ग्रन्थों को तो ऐसे उपसर्ग सहन करने के लिये सदैव तैयार रहना चाहिये।"

स्त्रियों को समान अधिकार—जैनधर्म में जो चार तीर्थों की स्थापना की गई है, उसके अनुसार-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका को बराबर अधिकार हैं। इससे इस सूत्र से हमे पता चलता है कि उस समय धर्म विषयक अधिकार दोनों-स्त्री और पुरुष को समान थे। उस समय के श्रावक जब घर आते थे तब सारी घटना अपनी स्त्री को सुनाया करते थे। दुराव और छिपाव जैसी प्रथा उस समय न थी। जब आनन्द भगवान् महावीर

१ इस शब्द के अप्रचलित एवं विचित्र प्रयोग में लेखक का कोई विशेष अर्थ हो। इससे रहने दिया है। सं० दौलतसिंह

से बारह व्रत धारण कर अपने घर पर आते हैं तब आते ही वे अपनी धर्मपत्नी शिवानन्दा को व्रत धारण की बात कहते हैं और आदेश देते हैं कि—" हे देवानुप्रिये ! जिस प्रकार मैंने श्री श्रमण भगवान् महावीर से श्रावक के बारह व्रत धारण किये हैं, उसी प्रकार तुम भी जा कर श्राविका का धर्म ग्रहण करो।" शिवानन्दा पति के कथन को सुन कर अत्यधिक प्रसन्न होती है और भगवान् के पास जा कर श्राविकाधर्म अंगीकार करती है। इस कथन या घटना से पता लगता है कि उस समय पति और पत्नी का धर्म एक होता था। वैयक्तिक घरेलू जीवन में धार्मिक विचार-भेद को स्थान नहीं था। पति का आज्ञापालन करना पत्नी अपना सौभाग्य समझती थी। ' देवानुप्रिय ' और ' देवानुप्रिये ' का सम्बोधन शिष्टता, पवित्रता और अगाध प्रेम का प्रतीक है।

माता और धर्मपत्नियों के कर्त्तव्य—उस समय जन-जीवन में ' अधिकार ' और 'कर्त्तव्य' दोनों का समन्वय था। अपने पतियों के साथ स्त्रियों का क्या धार्मिक सम्बन्ध होना चाहिये इसकी झांकी भी हमें इस सूत्र के अध्ययन से मिलती है। जब-जब देवोंने धार्मिक कृत्यों की परीक्षा के निमित्त असह्य उपसर्ग दिये तब-तब मा और पत्नीने पुत्र और पति को उद्बोधन देकर धर्म में दृढ़ किया। चुलनीपिता श्रावकने जब प्रतिज्ञा धारण कर पौषध किया तब देवने परीक्षा के निमित्त कई प्रकार के कष्ट दिये। अन्तिम उपसर्ग माता भद्रा के लिए था। तब मा की ममता और भक्ति के वशीभूत होकर उसने अनार्य पुरुष को पकड़ना चाहा। ज्योंहि वह पकड़ने उठा त्योंहि देव लोप हो गया और हाथ में खंभा आ गया। वह उसीको पकड़ कर जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसकी चिल्लाहट को सुन कर भद्रा सार्थवाही वहां आई और कहने लगी—" तेरी देखी घटना मिथ्या है। क्रोध के कारण उस हिंसक और पाप बुद्धिवाले पुरुष को पकड़ लेने की तुम्हारी प्रवृत्ति हुई है। इसलिये भाव से स्थूल प्राणातिपात-विरमणव्रत का भंग हुआ है। अयतनापूर्वक दौड़ने से पौषध का और क्रोध के कारण कषाय-त्यागरूप उत्तर गुण का भंग हुआ है। इसलिए हे पुत्र ! दण्ड, प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध करो।" चुलनीपिताने अतिचारों की आलोचना की। इसी प्रकार जब सद्दालपुत्र अग्निमित्रा भार्या के निमित्त से अपने धर्म से च्यूत हुआ तब उसकी भार्याने उसे उद्बोधन देकर धर्म में स्थिर किया। इन उदाहरणों से यह पता चलता है कि नर और नारी का सम्बन्ध केवल दैहिक नहीं है, केवल सांसारिक अभिलाषाओं और वासनाओं की पूर्ति के लिए ही उनका गठबन्धन नहीं हुआ। अपितु धर्मपूर्वक जीवन-यापन के लिए।

भगवान् की भक्त पर कृपा—भक्त के लिए भगवान् ही सर्वस्व हैं, वही उसका रक्षक है। जब महाशतक की भार्या रेवती मांसाहारिणी और मद्यपान करनेवाली बन गई और

उत्तरोत्तर उसकी प्रवृत्ति दुराचार की ओर बढ़ती गई तब वह अपने पति महाशतक को जिसने कि ग्यारह पडिमाओं को धारण करने के बाद अनशन व्रत ले लिया था, मदमाती हुई उपसर्ग देने लगी। शृंगारभरे हाव-भाव और कटाक्ष दिखाती हुई वह कहने लगी, " तुम्हें धर्म, पुण्य, स्वर्ग, मोक्ष आदि से क्या है, तुम मेरे साथ मनमाने भोग भोगो।" इस प्रकार वह काम के वशीभूत हो कर महाशतक को अपने धर्म से भ्रष्ट करने लगी। तब श्रावकने अपने अवधिज्ञान के द्वारा उसकी मृत्यु और नरक गति बतलाई जिससे वह डरकर चलती बनी। अनशन व्रत में सत्य कथन भी जो दूसरों को अप्रिय, कटु या पीड़ाकारी सिद्ध हो बोलना नहीं कलपता। इस की आलोचना के लिए महावीर स्वामीने अपने सुशिष्य गौतम-स्वामी को महाशतक के पास भेजा और गौतमस्वामी से प्रेरणा पाकर महाशतकने अपने अतिचारों की आलोचना की।

इसी प्रकार जब आनन्द श्रावक को परिणामों की विशुद्धता के कारण और ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया और जिस के फलस्वरूप वह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में लवणसमुद्र में पांच सौ योजन तक और उत्तर में चुल्लहिमवाम पर्वत तक देखने लगा। इसी प्रकार ऊपर सौधर्म देवलोक और नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुयच्चुत नामक नरकावास को जानने और देखने लगा। गौतम स्वामीने कहा कि, "श्रावक को इतने विस्तारवाला अवधिज्ञान नहीं हो सकता। इस लिए हे आनन्द! तुम इस बात के लिए दण्ड प्रायश्चित्त लो।" इस पर आनन्द की आत्मा बोल उठी, "क्या सत्य बात के लिए भी दण्ड लिया जाता है? दण्ड तो आप स्वयं लीजिएगा?" इस पर गौतमने भगवान् के पास जाकर सारा वृत्तान्त सुनाया। तब भगवान्ने कहा, "आनन्द का कथन सत्य है; अतः उससे जा कर क्षमा मांगो और प्रायश्चित्त लो।" इस घटना से यह सिद्ध होता है कि उस समय के श्रावक कितने कर्म-निष्ठ और सत्यनिष्ठ होते थे। वे अपने से बड़ों को भी उत्तर दे सकते थे और दण्ड के लिए विवश कर सकते थे। ऐसे ही धर्मप्रेमी श्रावकों पर भगवान् रीझते हैं, प्रसन्न होते है।

सांस्कृतिक जीवन—उस समय के श्रावकों का जीवन संयमित, मर्यादित एवं धर्म-निष्ठ था। दैववाद और पुरुषार्थवाद का समन्वय उनके जीवन में प्रतिक्षण होता था। उस समय के राजा स्वयं धर्मप्रेमी होते थे। जितशत्रु राजा भगवान् के पदार्पण का समाचार सुनते ही राजसी ठाट-बाट से उनको वन्दन करने के लिए जाते हैं। श्रावक लोग भी नगर के बीच हो कर राजमार्ग से वन्दन करने के लिए जाते हैं। जाने के पूर्व क्या पुरुष, क्या स्त्री? स्नान करते हैं, बहुमूल्य पर अल्प भारवाले परिधान पहनते हैं। लघुकरण रथ में बैठकर शिवानन्दा वन्दन के लिए प्रस्थान करती है। इस से उस समय की धार्मिक स्थिति और प्रभावना का पता चलता है।

जब श्रावकों में प्रौढत्व का पदार्पण होने लगता तब वे इस प्रकार का विचार किया करते थे कि–"मैं दीक्षा लेने में तो असमर्थ हूं। किन्तु मुझे अब यह उचित है कि मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी बना कर एकान्त साधना करूं।" इसी प्रकार सर्वप्रथम धर्मोपदेश सुनकर श्रावक लोग इतने प्रभावित होते थे कि हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना करते थे कि–"हे निर्ग्रन्थ! प्रवचन मुझे विशेष रुचिकर हुए हैं। आप के पास जिस तरह बहुत से राजा, महाराजा, सेठ, सेनापति, तालवर, कौटुम्बिक, माण्डलिक, सार्थवाह आदि प्रव्रज्या अंगीकार करते हैं, उसी तरह प्रव्रज्या ग्रहण करने में तो हम असमर्थ हैं; पर हम श्रावक के व्रत अंगीकार करना चाहते हैं।

आनन्द आदि श्रावकोंने जो व्रत अंगीकार किये हैं और सातवें व्रत उपभोग परिभोग की जो मर्यादा की है उससे उस समय का सांस्कृतिक स्तर हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाता है।

पांचवे व्रत में धन, धान्यादि की मर्यादा की जाती है। आनन्दने मर्यादा की थी कि मैं १२ करोड़ सोनैयां, गायों के चार गोकुल, पांच सौ हल और पांच सौ हलों से जोती जानेवाली भूमि, हजार गाड़े और चार बेड़ा जहाज के उपरान्त परिग्रह नहीं रखूंगा। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय के श्रावक पशुपालन के साथ-साथ खेती भी करते थे। उनका व्यापार विदेशों से भी होता था। अर्थात् उस समय भी सामुद्रिक व्यापार होता था। आनन्द के चार जहाज चारों दिशाओं में घूमा करते थे। ५०० हल और उन से जोती जानेवाली भूमि कितनी होगी? कितना उनका भरापूरा जीवन था!

सातवें व्रत में उपभोग-परिभोग की मर्यादा की जाती है? आनंद की उपभोग-परिभोग संबंधी मर्यादायें आज के दरिद्र और दुःखी जीवन के लिये स्वर्ग की सुख-स्मृति कराती हैं और सच कहा जाय तो आनंद की इन निम्न उल्लिखित मर्यादाओं में कुछ ही आज के बड़े २ महाराजा और सम्राटों के नित्य जीवन में मिलेंगी। उस समय की भारत की आशातीत वैभवस्थली पर आनंद का वैभव खण्ड मात्र था और ये मर्यादाएँ उस वैभव की रेखा मात्र थीं। आज के लिये ये केवल कल्पनाये हैं; परन्तु तत्कालीन महिम वैभव के लिये ये मर्यादायें थीं।

आनंद श्रावकने इस प्रकार मर्यादा की थीं :—

(१) उल्लणियाविहिः—स्नान करने के पश्चात् शरीर को पोंछने के लिए गमछा (Towel) आदि की मर्यादा करना। आनन्दने गन्धकाषायित (गन्धप्रधान लाल वस्त्र) का नियम किया था।

(२) दन्तवणविहिः—दांतुन का परिमाण करना। आनन्दने हरी मुलहटी का नियम किया था।

(३) फलविहिः—स्नान करने के पहले सिर धोने के लिए आंवला आदि फलों की मर्यादा करना। आनन्दने जिस में गुठली उत्पन्न न हुई हो ऐसे आंवलों का नियम किया था।

(४) अब्भंगणविहिः—शरीर पर मालिश करने योग्य तेल आदि का परिमाण निश्चित करना। आनन्दने शतपाक (सौ औषधियां डालकर बनाया हुआ) और सहस्रपाक (हजार औषधियां डालकर बनाया हुआ) तेल रखा था।

(५) उवट्टणविहिः—शरीर पर लगाए हुए तेल को सुखाने के लिए पीठी आदि की मर्यादा करना। आनन्दने कमलों के पराग आदि से सुगन्धित पदार्थ का परिमाण किया था।

(६) मज्जणविहिः—स्नानों की संख्या तथा स्नान करने के लिए जल का परिमाण करना। आनन्दने स्नान के लिये आठ घड़ा जल का परिमाण किया था।

(७) वत्थविहिः—पहनने योग्य वस्त्रों की मर्यादा करना। आनन्दने कपास से बने हुए दो वस्त्रों का नियम किया था।

(८) विलेवणविहिः—स्नान करने के पश्चात् शरीर में लेपन करने योग्य चन्दन, केशर आदि द्रव्यों का परिमाण निश्चित करना। आनन्दने अगुरू, कुंकुम, चन्दन चादि की मर्यादा की थी।

(९) पुप्फविहिः—फूलमाला आदि का परिमाण करना। आनन्दने शुद्ध कमल और मालती के फूलों की माला पहनने की मर्यादा की थी।

(१०) आभरणविहिः—गहने जेवर आदि का परिमाण करना। आनन्दने कानों के श्वेत कुण्डल और स्वनामांकित मुद्रिका का परिमाण किया था।

(११) धूवविहिः—धूप देने योग्य पदार्थों का परिमाण करना। आनन्दने अगर और लोबान आदि का परिमाण किया था।

(१२) भोयणविहिः—भोजन का परिमाण करना।

(१३) पेज्जविहिः—पीने योग्य पदार्थों की मर्यादा करना। आनन्दने मूंग की दाल और घी में भुने हुए चावलों की राब की मर्यादा की थी।

(१४) भक्खणविहिः—खाने के लिए पकान्न की मर्यादा करना। आनन्दने घृतपूर (घेवर) खांड से लिप्त खाजों का परिमाण किया था।

(१५) ओदणविहिः—क्षुधा निवृत्ति के लिए चावल आदि की मर्यादा करना। आनन्दने कमोद चावल का परिमाण किया था।

(१६) सूवविहिः—दाल का परिमाण करना। आनन्दने मटर, मूंग और उदड़ की दाल का परिमाण किया था।

(१७) घयविहिः—घृत का परिमाण करना। आनन्दने गायों के शरदऋतु में उत्पन्न घी का नियम किया था।

(१८) सागविहिः—शाकभाजी का परिमाण निश्चित करना। आनन्दने वथुआ, चू चू (सुस्थिय) और मण्डुकी शाक का परिमाण किया था। चू चू और मण्डुकी उस समय में प्रसिद्ध कोई शाकविशेष हैं।

(१९) माहुरयविहिः—पके हुए फलों का परिमाण करना। आनन्दने पालंग (वेल फल) फल का परिमाण किया था।

(२०) जेमणविहिः—खाने योग्य पदार्थों का परिमाण निश्चित करना। आनन्दने तेल आदि में तलने के बाद छाछ, दही और कांजी आदि खट्टी चीजों में भिगोये हुए मूंग आदि की दाल से बने हुए बड़े और पकौड़ी आदि का परिमाण किया था।

(२१) पाणियविहिः—पीने के लिए पानी की मर्यादा करना। आनन्दने आकाश से गिरे हुए और तत्काल ग्रहण किए (टांकी आदि में) जल की मर्यादा की थी।

(२२) मुहवासविहिः—मुख सुवासित करने योग्य पदार्थों का परिमाण करना। आनन्दने पंचसौगन्धिक अर्थात् लौंग, कपूर, कक्कोल (शीतल चीनी), जायफल और इलायची डाले हुए पान का परिमाण किया था।

इन मर्यादाओं से हम अनायास ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं कि उस समय के श्रावकों का रहन-सहन कितना ऐश्वर्यशाली था! वे खाने-पीने की कितनी चीजों का प्रयोग करते थे! स्नान करते समय कितनी वस्तुओं की आवश्यकता होती थी! शतपाक और सहस्रपाक तेल की कल्पना करना तो आज के विकासकालीन और वैज्ञानिक युग में भी व्यर्थ है। तेल को सुखाने के लिए भी अलग पीठी की आवश्यकता उस समय के लोगों को थी। स्नान के लिए आठ घड़े जल का परिमाण उनकी संयमित वृत्ति का परिचायक है। फूलों और आभूषणों का प्रयोग पुरुष भी करते थे। मटर, मूंग और उड़द की दाल उस समय ज्यादा प्रचलित थी। गायों का शरदऋतु में उत्पन्न घी ही वे प्रयोग में लाते थे। चू चू और मण्डुकी नामक शाक-भाजी आज कल्पनातीत बन गई हैं। दहीबड़ा, कांजीबड़ा और दालिया का प्रयोग भी वे करते थे। पीने के लिए वर्षा का इकट्ठा किया हुआ जल पवित्र और हितकर माना जाता था। लौंग, कपूर, जायफल, इलायची के प्रेमी थे, पर कक्कोल (शीतल चीनी) नामक वस्तु का आज अभाव है। इस प्रकार श्रावकों का जीवन कितना उच्च था! संयमित था! मर्यादित था! इतना वैभव और विलास होते हुए भी वे विनाश और पापमार्ग की ओर नहीं प्रवृत्त हुए; अपितु निवृत्ति मार्ग की ओर उन्मुख रहते आये। आज के हमारे जटिल जीवन से उनका जीवन कईगुणा सुखी और आनन्दित था।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव

श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, काशी विश्वविद्यालय

यह जगत अनन्त रूपों का भंडार है। श्री हार्ट की परिभाषा के अनुसार जिस वस्तु का ज्ञान होता है अथवा जो वस्तु उत्पन्न हुई है वे सब मूर्तियां या मूर्त रूप हैं[1]।

मूर्त रूपों की समष्टि ही जगत है। प्रजापति के दो रूप कहे गये हैं–मूर्त और अमूर्त। अमूर्त का मूर्त में आना यही सृजन कार्य है, जो सृष्टि के आदि से चल रहा है। नाना रूप देश और काल में उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न हो चुके हैं, उत्पन्न हो रहे हैं एवं भविष्य में भी यही क्रम चलता रहेगा। ये जितने रूप हैं, सब जिस स्रोत से प्रकट हुए हैं, वह प्रतिरूप है। ये प्रत्येक रूप जिसकी अनुकृति हैं वह मूल प्रतिरूप स्वयं अमूर्त होते हुए भी सब रूपों की समष्टि है। ये रूप नकल हैं; वह जो असल है वह प्रतिरूप है। वह प्रतिरूप ही रूप–रूप में परिणत हो गया है। वह प्रतिरूप मूल प्रतिबिंब है जिसकी छाया से सब रूप बने हैं।

वह प्रतिरूप एक है। उसमें नाना भाव नहीं। वह किसी एक रूप के साथ तदाकार नहीं होता; क्यों कि सभी रूपों के साथ उसका तादात्म्य है। वह मूल प्रतिरूप अमिट है। देश और काल से वंचित नहीं होता। नकल बनती और बिगड़ती है। उस मूल या असल का सत्य रूप कभी परिवर्तित नहीं होता। असल एक होता है। उसकी नकल या नमूने अनेक हो सकते हैं। प्रतिरूप एक था, रूप अनेक हैं। प्रतिरूप अमृत था, रूप मर्त्य हैं। प्रतिरूप अपरिवर्तनशील था, रूप परिवर्तनशील हैं। उस एक प्रतिरूप में सब रूपों का अन्तर्भाव है।

सब व्यक्त भावों की संज्ञा रूप है। जितने व्यक्त भाव हैं, अव्यक्त से उत्पन्न हुए हैं और अव्यक्त में लीन हो रहे है। गणित के शब्दो में कल्पना करें तो जितने अंक है सब रूप हैं। सब अंकों की समष्टि शून्य है। शून्य मे सब अंकों का अन्तर्भाव है। ऐसा कोई अंक नहीं जो शून्य में न हो। स्वयं शून्य रूपहीन या अरूप है। अत एव यह भी चरितार्थ होता है कि जो सब रूपों को अपने में धारण करता है वह स्वयं अरूप है। दूसरा उदाहरण लें। एक ओर गति गति है। जिस दिशा में वह प्रयुक्त होती है उस दिशा में उस ओर उसके व्यक्त

1. Any thing known or born is an image.

भाव को हम देखते हैं। किन्तु सब गतियों की समष्टि का नाम स्थिति है। जिस पदार्थ पर सब ओर से वेग और गतियां केन्द्रित होती हैं वह स्थितिभावापन्न हो जाता है। इसी प्रकार एक-एक वर्ण का अपना-अपना रूप है; किन्तु सब वर्णों की समष्टि स्वयं अवर्ण या रूपहीन हो जाती है। सूर्य की रश्मियों के पृथक् पृथक् वर्ण हैं, पर उनकी समष्टि का वर्ण श्वेत होता है। इस प्रकार विश्व के सब रूप जिस एक विन्दु में केन्द्रित होते हैं, वह मूल सब का प्रतिरूप है। उसे अरूप या रूपशून्य कह सकते हैं।

जो शून्य है उसीकी संज्ञा वज्र है। रूप या नकल विकृत हो सकती है, वह बिगड़ती रहती है। रखनेवाले के मन, प्राण और वाक् की शक्ति के अनुसार उसका नाश या विकार होता है, किन्तु इस विश्व में जो एक अचिन्त्य अप्रतर्क्य प्रतिरूप है वह वज्र की भांति दृढ़ है। जिसे अन्य कोई वस्तु पराभूत न कर सके वही वज्र कहा जाता है। वही प्रतिरूप वज्र है; क्यों कि वह देश और काल से पराभूत नहीं होता। वह अमूर्त है। उसीका एक अंश रूप या नकल में आ पाता है। सब रूपों से कई अधिक महान् अप्रधृष्य वह प्रतिरूप या मूल प्रजापति है जिसके विषय में कहा जाता है—'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।' वह असल किसी नकल से दबता नहीं। वह सबके ऊपर, सब से ठाढ़ा, सब का विधायक, स्वयं अमिट ध्रुव सत्तावाला, ऊंचे वृक्ष की भांति समस्त अन्तराल को अपने वितान से घेर कर खड़ा है। वह स्वयं सिद्ध है और सर्वप्रत्यक्ष है। विश्व का कोई भाग या कोई रूप उसके वितान से बचा नहीं। वह प्रतिरूप अन्तर्यामी और सूत्रात्मा इन दो रूपों से सब रूपों में आता है। उसका जो अव्यक्त अमृत भाग है वह प्रत्येक पिंड पदार्थ या रूप में प्रविष्ट अन्तर्यामी अंश है। उसका जो मूर्त वा व्यक्त भाग है वही प्रत्यक्ष पिंड का सूत्रात्मा है। एक सूक्ष्म है, दूसरा स्थूल। एक को अन्तः स्थिति और दूसरे को बाह्यस्थिति कहा जाता है।

प्रत्येक रूप का स्थूल उपादान जगत् के आदि कारण उसी प्रतिरूप से आया है और उसका सूक्ष्म भाग भी वहीं से आता है। प्रतिरूप से रूप भाव में आने के लिये सूक्ष्म और स्थूल ये दो धागे हैं। विश्व के जितने रूप है सबमें ये पिरोये हुए हैं। यही सब रूपों की एकतानता है। सृष्टि के आदि से नाना प्रकार के पुष्प, लता, वृक्ष, वनस्पति आदि उत्पन्न होते रहे हैं और हो रहे हैं। उनमें जो सादृश्य है उसका कारण यह है कि देश और काल का व्यवधान होने पर भी उन सब में एक ही अन्तर्यामी और एक ही सूत्रात्मा पिरोया हुआ है अर्थात् जो मूलभूत प्रतिरूप है उससे निर्गत सूक्ष्म और स्थूल के नियम सर्वत्र सब काल में एक समान रहे हैं।

वैदिक परिभाषा में केन्द्र बिन्दु को हृदय कहते हैं। जो हृदय है वही प्रजापति कहा

जाता है। जो केन्द्र है वह एक है। एक केन्द्र से नाना परिधि का आविर्भाव होता है। नियम है–'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।' एक ही सर्व हुआ है। एक प्रतिरूप सर्वरूप बना है।

शिल्पी निर्माण की इच्छा से जब ध्यान करता है, उसके ध्यान में सर्व रूप समाविष्ट रहते हैं। उसका प्रज्ञान या मन जब एक रूप को पकड़ता है तो वही रूप स्फुट हो कर चित्र या पाषाण में अभिव्यक्त हो जाता है, शेष रूप हट जाते हैं। समस्त रूपों की समष्टि में से जब एक रूप को शिल्पी एक बिन्दु पर प्रकट कर देता है, वहीं शिल्प की अभिव्यक्ति हो जाती है। उस रूप में अपने प्रतिरूप की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति होगी, उतनी ही श्रेष्ठ वह शिल्पकृति मानी जायगी। रूप वही अच्छा है जो अपने प्रतिरूप का अधिकतम परिचय दे सके, जिस में उसका सर्वोत्तम दर्शन मिल सके। वही शिल्पकृति विश्वरूप या प्रतिरूप के अधिक निकट है जिस में व्यक्ति का रूप कम से कम हो। व्यक्ति का रूप एक से परिच्छिन्न, सीमित, अतिसीमित होता है। वह समष्टि से अधिक से अधिक विच्छिन्न रहता है। व्यक्ति विशेष की प्रतिकृति मूर्ति की यही स्थिति होती है। वह मानों विश्वात्म भाव से दूर रहती है। यही उसके रूप की दरिद्रता है अथवा उसकी भावाभिव्यक्ति की सीमा है। भारतीय शिल्प में प्रतिकृति को इसी कारण अस्वर्ग्य कहा गया है। वह जड़ या मर्त्य भाव से आक्रांत होती है और नितान्त पार्थिव एवं स्थूल होती है। जैसे व्यक्ति देश और काल दोनों में सीमाबद्ध है, ऐसे ही भाव जगत् में उसकी प्रतिकृति भी विजड़ित होती है।

जो प्रतिरूप है उसकी सब से अधिक अभिव्यक्ति प्रतीक द्वारा ही की जा सकती है। प्रतीक का ही अपर नाम लिंग या केतु है। प्रतीक ही अमूर्त की सच्ची मूर्ति है। लिंग में व्यक्तिगत रूपों का अभाव होने से वह प्रतिरूप के सब रूपों को प्रकट कर सकता है। एक-एक रूप तो एक–एक मूर्ति से प्रगट किया जा सकता है, किन्तु सर्वरूपमय प्रतिरूप की अभिव्यक्ति लिंग मूर्ति से ही हो सकती है। जो स्वयं मूर्त भाव से कम से कम आक्रांत होता है वही प्रतिरूप का सब से अधिक परिचायक है। भारतीय शिल्पीने व्यक्तियों की प्रतिकृति या रूपों से मोह करना नहीं सीखा। उसके शिल्प का निर्माण उस भाव जगत् में होता है जिस में वह सर्वरूप का ध्यान करता है। सर्वरूप का तात्पर्य समाजव्यापी परिनिष्ठित रूप से है, व्यक्तिविशेष के सादृश्य से नहीं। युग विशेष में स्त्री–पुरुषों के प्रतिमानित सौंदर्य का ध्यान करके भारतीय शिल्पी उसे चित्र या शिल्प में प्रयुक्त करता है। व्यक्ति–विशेष के रूप को वह अपने तक्षण या चित्र में नहीं उतारता। वह तो समाज में आदर्शभूत सर्वरूपों का एक बिम्ब कल्पित करता है। रूप की वह भांति युग की भांति बन जाती है। मथुरा की यक्षीप्रतिमाएं स्त्रीविशेष की प्रतिकृति नहीं। वे नारी–जगत् की आदर्श प्रतिकृति

हैं। जो रूप उस देश में और उस काल में शिल्पी के मन में निष्पन्न हुआ वही इन रूपों में मूर्त हुआ है। बुद्ध मूर्ति देश, काल में जन्मे हुए ऐतिहासिक गौतम की प्रतिकृति नहीं है। वह तो दिव्य भावों से संपन्न रूप है। योगी के अध्यात्म गुणों से युक्त पुरुष की जो आदर्श आकृति हो सकती है वही बुद्ध की मूर्ति है।

गुणों की समष्टि की संज्ञा देवता है। उसका रूप मर्त्य पिंड के सौंदर्य पर निर्भर नहीं। वह तो दिव्य अमृत भावों से संपन्न होनेवाला रूप है। मानव का एकत्व भाव उसका मर्त्यभाव है। वह उसकी खंड स्थिति है। समष्टि में विलीन हो जाना ही अमृत भाव है। अतएव मर्त्य मानव के स्थान पर समष्टिगत मानव रूप ही भारतीय चित्र और शिल्प में पूजित हुआ है। देवता, राजा, ऋषि, योगी, अंतःपुर के परिचारक जन–ये सब समष्टि के अथवा आदर्श लोक के प्रतिनिधि बन कर शिल्प में मूर्त होते हैं। वे सब व्यक्ति रूप न हो कर प्रतीक रूप हैं। ऐसे ही पशु, पक्षी भी व्यक्तिगत सीमाभाव से विरहित समष्टि के प्रतीक या प्रतिनिधि रूप में ही चित्रित किये जाते हैं।

भारतीय शिल्पी का मन नितान्त सीमित या वैयक्तिक प्रतिकृति शिल्प में उल्लसित नहीं होता। यहां प्रतिकृति का अंकन अस्वर्ग्य माना गया है। यह तथ्य इसी दृष्टिकोण पर अवलम्बित है कि व्यक्ति का स्वतन्त्र रूप या सौंदर्य सीमाभाव में बद्ध होने के कारण प्रवाह से विरहित या खंडित हो जाता है। खंड भाव में मृत्यु का निवास है। जहां मृत्यु की छाया है, वहां आनन्द रूप अमृत की अनुभूति नहीं होती। आनन्द या अमृत की संज्ञा ही रस है। परिशुद्ध भारतीय परम्परा में उस अर्थ में प्रतिकृति के चित्रों के लिये स्थान नहीं है जिस अर्थ में आज हम ऐसे चित्रों को लेते हैं। किन्तु भारतीय विचारधारा शतपथों से प्रतीकवाद की उपासना करती है। प्रतीक ही की वैदिक संज्ञा 'केतु' है। कहा गया है कि प्रत्येक प्रतीक सृष्टि के उसी महान देव का 'केतु' या चिह्न है।

देवं वहन्ति केतवः

हम अपने चारों ओर भूतसृष्टि में जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं वह सब उसी देवाधिदेव के प्रतीक रूप में उसीकी महिमा को व्यक्त कर रहा है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आकाश, पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, बिंदु, रेखा, त्रिकोण, चतुष्कोण, सब उस देव के शिल्प हैं और उसी के रूप की प्रतीति करानेवाले प्रतीक हैं। भारतीय प्रतीकों का अपरिमित विस्तार है। नाना भांति के अलंकरण, वृक्ष और वनस्पति, पुष्प और लताएं, पशु और पक्षी, सब प्रतीक रूप में ही कला की कृतियों में स्थान पाते हैं। पूर्ण-घट, चक्र, त्रिरत्न, स्वस्तिक,

नन्दिपद, वर्धमान, देवगृह, रत्नपात्र, माल्यदान, मीनयुगल, श्रीवत्स, कौस्तुभ आदि जो अनेक मांगलिक चिह्न हैं, वे भी उन प्रतीकों के रूप हैं जिन्हे मानव की कलात्मक भाषाने शिल्प में सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिये कल्पित किया है । ये चिह्न कला की भाषा के लिये उस वर्णमातृका के समान हैं जो अर्थ की प्रतीति के लिये आवश्यक है । अनन्त अर्थ को आत्मसात् करने के लिये वाणी ही एक मात्र साधन है, यद्यपि इस साधन की भी सीमाएं हैं । क्यों कि अमूर्त अर्थ को मूर्त शब्दों द्वारा समग्र रूप में पकड़ पाना असंभव ही है, अतएव अन्ततोगत्वा प्रत्येक शब्द अपने अर्थ का प्रतीक मात्र ही बन कर रह जाता है ।

कला और काव्य दोनों ही का उपजीव्य भावलोक है। भाव सृष्टि से ही आरंभ में गुण सृष्टि का जन्म होता है और फिर भाव और गुण दोनों की समुदित समृद्धिभूत सृष्टि में अवतीर्णता होती है । भाव सृष्टि का संबंध मन से, गुणसृष्टि का प्राण से और भूत सृष्टि का स्थूल भौतिक रूप से है । इन तीनों की एकसूत्रता से ही लौकिक सृष्टि संभव होती हैं । इन तीनों के ही नामान्तर ज्ञान, क्रिया और अर्थ हैं । ज्ञान या मन से जब क्रिया या प्राण छन्दित होता है तभी अर्थ या भूत मात्रा का जन्म होता है । इस प्रकार प्रत्येक स्थूल भौतिक पदार्थ या शिल्पकृति भावों का एक प्रतीक मात्र है। इस प्रकार का प्रत्येक प्रतीक एक-एक रूप है जो विश्व के अनन्त अमूर्त अर्थों का मूर्त परिचायक बना हुआ है। इस प्रकार शब्द और अर्थ का, मूर्त और अमूर्त का अतिरमणीय विधान हमारे चारों ओर फैला हुआ है। वस्तुतः इसीके ओतप्रोत भाव का नाम विश्व है। इसमें मूर्त के अन्दर बैठा हुआ अमूर्त, अमृत, अर्थ प्रतिक्षण झांकता हुआ दिखाई पड़ता है अथवा यों कहें कि जो अनिरुक्त अर्थ है वह निरुक्त या अभिव्यक्त मूर्ति के द्वारा प्रकट हो रहा है ।

किसी वस्तु को देखने की तीन दृष्टियां मानी गई हैं–शिरोमूला, पादमूला और चक्षुमूला । सूक्ष्म से स्थूल की ओर आना शिरोमूला दृष्टि है, इसे ही ज्ञानदृष्टि या संचरदृष्टि भी कहते हैं । स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना अर्थात् स्थूल प्रतीक के द्वारा सूक्ष्म अर्थ तक पहुंचना, यह पादमूला दृष्टि है। इसे ही प्रतिसंचर क्रम या विज्ञान का दृष्टिकोण कहते हैं। तीसरी दृष्टि वह है जिसमें स्थूल और सूक्ष्म अथवा ज्ञान और विज्ञान, इन दोनों का समन्वय पाया जाता है, इसे चक्षुमूला दृष्टि कहते हैं। यह मध्य पतित दृष्टि ही समन्वय की दृष्टि है, जिसे गीता में ज्ञानविज्ञानसमन्वित दृष्टि कहा है । वस्तुतः उत्तम कला के साथ इसी दृष्टिकोण का संबंध है । इसमें आन्तरिक भाव और बाह्यरूप दोनों में सौदर्य का संतुलित विधान पाया जाता हैं।

शब्दसौंदर्य और अर्थसौंदर्य दोनों एक-दूसरे के साथ जहां समन्वित रहते हैं उसी श्रेष्ठ स्थिति को कविने वागर्थ से संपृक्त काव्य का आदर्श कहा है । जैसे काव्य में वैसे ही

कला में भी आभ्यंतर अर्थ और बाह्यरूप, दोनों का जहां एक समान रमणीय विधान हो, वहीं श्रेष्ठ कला की अभिव्यक्ति है।

गुप्त कला इसका उदाहरण है। उसमें बाह्यरूप की पूर्ण मात्रा को अनुप्राणित करनेवाला जो अर्थसौंदर्य है, वह शब्द का अद्भुत या विलक्षण रूप प्रस्तुत करता है। शिल्पी या चित्राचार्य अलंकरण संभार में सर्वांगी कलाकृतियों का निर्माण कर के ही परितृप्त नहीं हुए। उनकी कृतियां उस सविशेष अर्थ से प्राणवन्त हैं जो बुद्ध के अनुत्तर ज्ञान एवं शिव की समाधि से अथवा लोकसंरक्षण में व्यापृत परमेष्ठि विष्णु के अहर्निशि संवेदनशील स्वरूप से भावापन्न या ओजस्विनी बनी है। उन कलाकृतियों में कितनी रमणीयता, कितनी सजीवता और कितना अनन्त अक्षुण्ण आकर्षण है! इसे किस प्रकार कहा जाय! उनके सानिध्य में स्थूल सीमाभाव विगलित हो जाता है और मन दिव्य भावों के लोक में विलक्षण आनन्द, शान्ति और प्रकाश का अनुभव करता है। इस अमृत आनन्द या रस तक जो पहुंचा सके वही चिरंतन काव्य और कला है।

ऊपर कही हुई तीन दृष्टियों में से चाहे किसी भी दृष्टि को व्यक्तिगत रुचिभेद के कारण हम स्वीकार करें, किन्तु सर्वोपरि सत्य वही रहता है। जो स्थूल रूप, शब्द या कलाकृति है वह उसीका एक प्रतीक है। इस विषय में जो कोई एक देव सहस्रवा महिमाओं से सर्वत्र, सर्वदा प्रकट हो रही है, उसीकी महिमा के परिचायक ये सब प्रतीक हैं। इनके अस्तित्व की और कोई सफलता नहीं। सब का पर्यवसान उसी एक लक्ष्य में है। नाना रूप उसी एक प्रतिरूप का संकेत कर रहे हैं। किन्तु फिर भी उसकी महिमा प्रख्यात करने में ये पर्याप्त नहीं हैं। विश्व के रोम-रोम से यही महान् प्रश्न उठ रहा है—

कथमः स केतुः ?

कौनसा वह केतु है? कौनसा वह केतु है? इन समस्त प्रतीकों से प्रतीयमान, इन समस्त रूपों से आविर्भूत वह केतु, प्रतीक या प्रतिरूप कहां है? उस समग्र की प्राप्ति क्या संभव है? क्या ये प्रतिरूप उस प्रतिरूप के अनन्त सौंदर्य, उसकी अनन्त महिमा और उसके अनन्त आनन्द और ऐश्वर्य को पर्याप्त रूप से प्रकट कर सकते है? यही कहना पड़ता है कि स्थूल रूप और शब्द अपर्याप्त हैं। वे संकेत मात्र हैं, जो निरन्तर उस देवात्मक ज्योति की ओर संकेत कर रहे है—

देवं वहन्ति केतवः

विश्व के अप्रतर्क्य, तमोभूत, अप्रज्ञात पूर्व युग में जब अव्यक्त से व्यक्त भाव का उद्गम

हुआ, अमितने अपने आप को मितभाव में परिवर्तित किया। जब शान्त रस रूप महासमुद्र के गर्भ में स्पंदनात्मक बलों का जन्म हुआ और उन बलों के ग्रंथि-बन्धन से हिरण्यमय सार तेज की अभिव्यक्ति हुई तब से आज तक देवशिल्पी की उसी परम्परा में अनेक प्रतीकों का अजस्र निर्माण होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। प्रत्येक प्रतीक की संज्ञा हिरण्य तत्व है। वैदिक परिभाषा से अव्यक्त का व्यक्तभाव में आना ही हिरण्य है। देश और काल में जितने भी व्यक्तभाव हैं व्यक्तिकरण की एक ही मूल धारा से जुड़े हुए हैं। सबके केन्द्रों में एक ही सूत्र पिरोया हुआ है। जहां कहीं, जो कुछ भी निर्मित होता है या व्यक्त रूप प्राप्त करता है, वह विश्व के उसी अन्तर्यामी सूत्र के साथ जुड़ जाता है, जिसके प्रभाव से अव्यक्त और व्यक्त की यह महती प्रक्रिया सब ओर वितथ है। जो तत्व इतना महान् है, जो सब के मूल में है, प्रश्न होता है कि उसे आत्मसात् करने के लिये मानव के पास क्या उपाय है? इस प्रश्न का एक ही उत्तर संभव है और वह यह है कि रूपों के माध्यम से ही प्रतिरूप को समझना और पाना है। प्रतीकों के द्वारा ही देव की निगूढ आत्मशक्ति को पहचाना जा सकता है। हम एक भी भूत या स्थूल रूप का निराकरण नहीं कर सकते। हमें अपने समस्त कलात्मक विधानों की शक्ति से, उनकी रूपसंपादन-समृद्धि से इन समस्त प्रतीकों को सजाना है। इन्हें सुन्दरतम बना कर इन्हीं में उस प्रतिरूप के दर्शन करने हैं।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा

धीर इन्हीं भूतों में उसे ढूंढते और पहचानते है।

यही कला का दिव्य संदेश है और यही उसकी सार्थकता है और यही मानव-जीवन के साथ उसका शाश्वत अमिट संबंध है। जिसका धागा कभी टूट नहीं सकता। इस प्रकार कि इन स्थूल रूपों या भूतों में उस देव को पहचानना है—सार्थकता यह कि इनके अभ्यन्तर में निगूढ़ उस देव को पहचानने के लिये इन्हें अनन्त प्रकार से सजाना और संवारना है। जब-जब भी मानव-जीवन और कला का यह नित्य पारस्परिक संबंध शिथिल या ओझल हो जाता है तभी कला का ह्रास और जीवन की हानि होती है। अतएव उत्तम स्थिति वह है जिस में मानव हृदय दिव्य आनन्द और अमृत ऐश्वर्य के भावों से आनन्दोलित होता है और प्राणों की उस व्याकुलता के अनुरूप शान्ति के लिये अपने चतुर्दिक स्थूल या भौतिक प्रतीकों को रूप-संपन्न बनाता है। उसकी यह साधना ही उत्तम जीवन और महती कला को जन्म देती है।

काल के सतत प्रवाही क्रम में वारंवार कला के लिये प्राणवन्त युगों का आवाहन करना होगा और ऐसा करते हुए मानव स्वयं अपने ही केन्द्र की किसी अमृत प्रेरणा की पूर्ति करेगा।

सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं।

मुनिराज श्री हंसविजयजी महाराज के शिष्य मुनिश्री कांतिविजयजी

ईश्वर को सृष्टि का कर्ता माननेवाले लोगों का मन्तव्य है कि संसार में अनेक प्रकार के पदार्थ रहे हुए हैं। और वे किसी न किसीके बनाये हुए अवश्य हैं। जिस प्रकार रेल्वे, एरोप्लेन, मोटर, तार, टेलिफोन, अणुबम, वायरलेस आदि वस्तुएं बुद्धिमान मनुष्य की बनाई हुई दृष्टिगोचर हो रही हैं, उसी प्रकार ईश्वरने इस सृष्टि की रचना की। ईश्वर चाहे सो कर सकता है; क्यों कि ईश्वर महान् शक्तिशाली है।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या,
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय,
ब्रह्मावबोधधिषणं मुदमाप देवः॥

अर्थात् ईश्वरने अपनी शक्ति से वृक्ष, सरीसृप, पशुसमूह, पक्षी-दंश और मत्स्य इत्यादि नाना प्रकार के शरीरों का निर्माण किया। इतना करने पर भी ईश्वर के हृदय में सन्तोष यानी तृप्ति नहीं हुई। तब भगवानने मनुष्यदेह का निर्माण किया, क्यों कि मनुष्य में बुद्धि है। अर्थात् वह ब्रह्म साक्षात् स्वरूप उत्पन्न होता है। सृष्टि का वर्णन करते हुए श्रुति में कहा है कि—"स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी नैव रमते स द्वितीयमैच्छत्" (बृहदारण्यक उप०) इस ईश्वर को तृप्ति नहीं होती थी, क्यों कि वे अकेले थे। जिस प्रकार कोई मनुष्य मकान में अकेला होता है तब उसका दिल नहीं लगता, वह दूसरे साथी की इच्छा करता है; उसी प्रकार ईश्वर के दिल में ऐसी इच्छा हुई कि दूसरा होना चाहिये। दूसरा न होने के कारण ईश्वर को शान्ति नहीं मिलती थी-मन नहीं लगता था। उस ईश्वरने संकल्प किया कि 'बहुस्यां प्रजायेय'-मैं बहुत रूप में होऊँ और जन्म धारण करूँ। भगवद्गीता में भी कहा है कि—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत!
अभ्युत्थानाय धर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थात् जब-जब इस पृथ्वी पर हिंसा, झूठ, चोरी, जारी, अन्याय, अत्याचार आदि

फैल जाता है तब ईश्वर जन्म धारण कर के उस अन्याय और अत्याचार को नेशनाबूद करता है। मनुस्मृति में भी कहा है कि:—

> साभिध्याय शरीरात्स्वात्, सिसृक्षु विविधा प्रजाः।
> अप एव ससर्जादौ, तासु बीजमवासृजत् ॥

अर्थात् विविध प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करनेवाले ईश्वरने प्रथम अपने शरीर से ध्यान किया, जिस से पानी की उत्पत्ति हुई और उसमें बीजारोपण किया। उससे अंडा उत्पन्न हुआ। अंडे से ब्रह्माजी पैदा हुए और एक वर्ष पर्यंत भगवान् अंडे में रहे। फिर स्वयं ब्रह्माजीने ध्यान किया। ध्यान करके अंडे के दो विभाग किये। एक विभाग का स्वर्ग और दूसरे विभाग की पृथ्वी बनी और जो मध्यभाग था वहां आकाश हुआ।

यहाँ पर यह शंका होती है कि ईश्वरने जल की उत्पत्ति शरीर के ध्यान से की तो जल को कहाँ रक्खा? क्योंकि आधार के विना आधेय का रहना असंभव है और ईश्वर को शरीर ही नहीं तो ईश्वरने शरीर से ध्यान कैसे किया? और भी कहा है कि:—

> द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
> अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥

अर्थात् ईश्वरने अपने शरीर के दो विभाग किये। आधे शरीर से पुरुष की उत्पत्ति हुई और आधे से स्त्री की। सारांश यह है कि हम ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मान लें तो ईश्वर का ईश्वर नाम निरर्थक कहलायगा; क्योंकि ईश्वर को अजर, अमर, निरागी, निष्कलंकी, अशरीरी आदि शब्दों से संबोधित करते हैं। कहा भी है कि, "क्लेश–कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" अर्थात् क्लेश और कर्म जिसको नहीं हैं वही ईश्वर है। इसलिये जब ईश्वर अवतार धारण करेगा तो उसको राग, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, मान, माया, लोभ और जन्म–मरण सहित एवं शरीरी मानना पडेगा, जिसमें उपरोक्त कही हुई बातें होंगी। वह ईश्वर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि–"यत्र यत्र शरीरपरिग्रहस्तत्र तत्र दुःखम्" जहाँ जहाँ शरीर धारण करना पड़ता है वहाँ दुःख है। अब यहाँ पर शंका और होती है कि जब ईश्वरने सृष्टि की रचना की तो वह शरीर धारण करके की अथवा विना शरीर के। यदि कहें कि सशरीरी होकर की तो वह शरीर हमें क्यों नहीं दिखता? अर्थात् दिखना चाहिये, क्यों कि दूसरी वस्तुओं का हम उदाहरण देते हैं कि ये सभी वस्तुएं बुद्धिमान की बनाई हुई हैं और वे हमें दिख रही हैं। यदि कहें कि भगवान् का शरीर हमें नहीं दिख

सकता तो विना शरीरधारी के वस्तुएँ नहीं बन सकतीं। आकारवाली वस्तुओं का बनानेवाला भी आकारवाला होना चाहिये। जैसे कुम्भकार घट को बनाता है। यदि कहें कि यह तो भगवान् की लीला ही वैसी है तो जहां हम ईश्वर को राग, द्वेष रहित मानते हैं वहाँ पर लीला का होना असंगत बात है। लीला तो संसारी जीव करता है-ईश्वर नहीं। जब ईश्वर होकर लीला करेगा तब ईश्वर में और संसारी जीव में अंतर ही क्या ?, इसीलिये आनंदघनजीने कहा है कि:—

कोई कहे लीला रे लख अलख तणी, लख पूरे मन आश।
दोष रहितने रे लीला नवि घटे, लीला दोष विलास॥

भगवान् महावीरस्वामी गौतमस्वामी से फरमाते हैं कि:—

सयं भुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए॥
माहण समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासीय, आयणंता मुसं वदे॥ (निर्ग्रन्थप्रवचन)

अर्थात् हे गौतम! कई लोग कहते हैं कि सुख और दुःखमय यह संसार है, जिसकी रचना देवताओंने की। कई लोग कहते हैं कि इस सृष्टि की रचना ईश्वरने की। कईयों का कहना है कि सत्व, रज, तम गुण समान अवस्था प्रकृति है। उस प्रकृतिने जगत् की रचना की। कोई कहते हैं कि स्वभाव से ही बनता रहता है। जैसे सक्कर में मिठाश, पुष्प में सुगंध, विष्ठा में दुर्गंध स्वभाव से ही है। उसी प्रकार स्वभाव से ही सृष्टि की रचना हुई। कोई कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व जगत् अंधकारमय था। उस में केवल विष्णु ही थे। उनके हृदय में इच्छा हुई कि मैं सृष्टि की रचना करूँ। उसके अनन्तर उन्होंने सारे विश्व को रचा। सृष्टि की रचना करने पर भी विष्णु के हृदय में विचार स्फुरित हुआ कि इन सब का समावेश नहीं हो सकेगा। ऐसा विचार करके पैदा होनेवालों को मारने के लिये मृत्यु और यमराज को बनाया। उससे माया उत्पन्न हुई। कई लोग कहते हैं कि प्रथम ब्रह्माने एक अंडा बनाया। उसके फूटने से आधे का स्वर्ग और आधे का मृत्युलोक बना। उसके बाद पर्वत, नदी, समुद्र, नगर, गाँव आदि की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार सृष्टि की रचना कहते हैं वे सत्य को नहीं जानते। और भी भगवान् फर्माते हैं कि:—

सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडेति य।
तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाई वि॥

अर्थात् हे गौतम ! अपनी-अपनी कल्पना के मुताबिक लोग कहते हैं कि सृष्टि को ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर और देवताने बनाई। परंतु वास्तविक में यह बात नहीं है और न वे उस बात को जानते ही हैं। क्यों कि यह संसार अनादि अनन्त काल से चला आ रहा है। न तो इसका आदि है और न अन्त। ये काल के स्वभाव से न्यूनाधिक होता रहता है। संपूर्ण रूप से सृष्टि का नाश भी नहीं होता।

थोड़ी देर के लिये समझ लीजिये कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता है और ईश्वरने मनुष्य-योनि, देवयोनि, तिर्यञ्चयोनि, पशु-पक्षीयोनि, नर्कयोनि आदि योनियाँ बनाई—सृष्टि की रचना की। तो फिर संसार में एक सुखी, एक दुःखी, एक राजा, एक रंक, एक बुद्धिमान और एक निरामूर्ख, एक देवलोक के सुख का भोक्ता, एक दरिद्री, एक अच्छे-अच्छे मिष्टान्न एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की रसवतियों का आस्वादन करता है और एक को मुट्ठीभर चने भी चबाने को नहीं मिलते। इसका क्या कारण ?, ईश्वर में ऐसा भेद-भाव क्यों ?, अर्थात् हम ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं तो विरोधाभास मालूम पडता है। ईश्वर तो संसार के सभी प्राणी को समान भाव से देखनेवाला है। इसलिये ईश्वर सृष्टि का कर्ता नहीं कहला सकता। कर्म को ही कर्ता मानना पडेगा। ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानना ईश्वर पर दोषा-रोपण करना है।

जैनशास्त्रों में कहा गया है कि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय इन अष्ट कर्मों का जिन्होंने जड़मूल नाश कर दिया वे फिर संसार में जन्म धारण नहीं करते। उनको जन्म धारण करने योग्य कोई कर्म नहीं हैं और कारण भी नहीं हैं। कहा भी है कि:—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः॥

अर्थात् बीज के जल जाने के बाद अंकुर पैदा नहीं हो सकता। उसी प्रकार कर्मरूप बीज जल जाने के पश्चात् भवरूप अंकुर पैदा नहीं होता यानी जन्ममरण नहीं करना पड़ता। इस बात की पुष्टि करते हुए गीता में भी कहा है कि:—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति विभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं, न चैवं सुकृतं प्रभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

—ईश्वर न तो सृष्टि की रचना करता है और न किन्हीं कर्मों का कर्ता है। उसी प्रकार न वह प्राणियों को शुभाशुभ कर्म के फल को देनेवाला है। सभी स्वभाव से ही होता रहता है। किसी के पाप-पुन्य का उत्तरदायी भी वह प्रभु नहीं है। ये तो अज्ञान से ज्ञान का आच्छादन हो जाने के कारण प्राणी भूलभूलैया में पड़ा हुआ है। कहा भी है किः—

नक्षत्र-ग्रहपञ्जरमहर्निशं लोककर्मविक्षिप्तम्।
भ्रमति शुभाशुभमखिलं प्रकाशयत् पूर्वजन्मकृतम्॥

फिर भी कहा है किः—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति मिथ्याभिमानः, स्वकर्म सूत्रग्रथितो हि लोकः॥

अर्थात् सुख और दुःख का देनेवाला कोई भी नहीं है। दूसरा सुख या दुःख देता है, यह कहना कुबुद्धि है। मैं करता हूं ऐसा समझना मिथ्या अभिमान है। सारा संसार अपने कर्मरूप सूत्र से ग्रथित है। इसलिये ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मानकर कर्म को कर्ता मानना शास्त्रोक्त युक्तिसंगत एवं हितावह है।
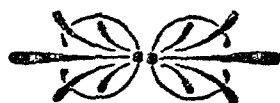
भारतीय संस्कृति के आधार[1]

डॉ० मंगलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल० (ऑक्सन)

जिस रूप में भारतीय संस्कृति का प्रश्न आज देश के सामने है, उस रूप में उसका इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। तो भी यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर इस पर विशेष ध्यान गया है।

वर्तमान भारत में यह प्रश्न क्यों उठा ? यह विषय रुचिकर होने के साथ-साथ मनन करने के योग्य भी है। हमारे मत में तो इसका उत्तर यही है कि, विदेशीय संघटित विचार-धारा तथा राजनैतिक शक्ति के आक्रमण का प्रतिरोध करने की दृष्टि से, हमारे मनीषियोंने अनुभव किया कि सहस्रों वर्षों की क्षुद्र तथा संकीर्ण सांप्रदायिक विचार-धाराओं और भावनाओं के विघटनकारी दुष्प्रभाव को देश से दूर करने के लिए आवश्यक है कि जनता के सामने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में एक सूत्र-रूप से व्यापक, मौलिक तथा समन्वयात्मक विचार-धारा रखी जाय। भारतीय संस्कृति की भावना को उन्होंने ऐसा ही समझा। वर्तमान भारत में भारतीय संस्कृति के प्रश्न के उठने का यही कारण हमारी समझ में आता है।

संस्कृति शब्द का अर्थ—

'संस्कृति' शब्द का अर्थ क्या है ? इस प्रश्न के झगड़े में हम इस समय पड़ना नहीं चाहते। सब लोग इसका कुछ-न-कुछ अर्थ समझ कर ही प्रयोग करते हैं। तो भी प्रायः निर्विवाद रूप से इतना कहा जा सकता है कि—

"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिकसम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिकजीवनस्योत्कर्षः पर्यवस्यति। तयैव तुलया विभिन्नसभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौ मीयेते। किं बहुना ! संस्कृतिरेव वस्तुतः 'सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' (छान्दोग्योपनिषद् ८।४।१) इत्येवं वर्णयितुं शक्यते। अतएव च सर्वेषां धर्माणां संप्रदायानामाचाराणां च परस्परं समन्वयः संस्कृतेरेवाधारेण कर्तुं शक्यते।" (प्रबन्धप्रकाश, भाग २, पृ० ३)।

---

[1] इस विषय का विशेष विवेचन, शीघ्र प्रकाशित होनेवाली हमारी नवीन पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का विकास' में मिलेगा।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी देश या समाज के विभिन्न जीवनव्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करनेवाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन की समाप्ति संस्कृति में ही होती है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति के द्वारा ही नापा जाता है। उसके द्वारा ही लोगों को संघटित किया जाता है। इसीलिए संस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और आचारों का समन्वय किया जा सकता है।

विद्वानों का इस विषय में ऐकमत्य ही होगा कि ऊपर के अर्थ में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग प्रायः बिलकुल नया ही है।

भारतीय संस्कृति के विषय में विभिन्न दृष्टियाँ—

संस्कृति के विषय में सामान्य रूप से उपर्युक्त विचार के होने पर भी, भारतीय संस्कृति की भावना के विषय में बड़ी गड़बड़ दिखाई देती है। इस विषय में देश के विचारकों की प्रायः परस्पर विरुद्ध या विभिन्न दृष्टियां दिखाई देती हैं।

इस विषय में अत्यन्त संकीर्ण दृष्टि उन लोगों की है, जो परम्परागत अपने-अपने धर्म या सम्प्रदाय को ही 'भारतीय संस्कृति' समझते हैं। संस्कृति के जिस व्यापक या समन्वयात्मक रूप की हमने ऊपर व्याख्या की है, उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता है। 'कल्याण' पत्रिका ने कुछ वर्ष पहले एक 'संस्कृति-विशेषांक' निकाला था। उस में लेख लिखने वाले अधिकतर ऐसे ही सज्जन थे, जिनको कदाचित् यह भी स्पष्ट नहीं था कि प्राचीन 'धर्म,' 'सम्प्रदाय' 'सदाचार' आदि शब्दों के रहने पर भी देश में 'संस्कृति' शब्द के इस समय प्रचलन का मुख्य लक्ष्य क्या है।

दूसरी दृष्टि उन लोगों की है, जो भारतीय संस्कृति को, भारतान्तर्गत समस्त सम्प्रदायों में व्यापक न मानकर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों से ही संबद्ध मानते हैं। इस दृष्टि वाले लोग यद्यपि उपर्युक्त पहली दृष्टिवालों से काफी अधिक उदार हैं, तो भी देखना तो यह है कि उपर्युक्त विचार-धारा से प्रभावित भारतीय संस्कृति में वर्तमान भारत की कठिन सांप्रदायिक समस्याओं के समाधान को तथा साथ ही संसार की सतत प्रगतिशील विचार-धारा के साथ भारतवर्ष को आगे बढ़ाने की कहां तक क्षमता है। यदि नहीं, तब तो यही प्रश्न उठता है कि कहीं भारतीय संस्कृति के इस नवीन आन्दोलन से देश को लाभ के स्थान में हानि ही न उठानी पड़े! हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनों पहले तक सबसे सम्मानित 'भारतीय संस्कृति' शब्द उपर्युक्त विचार-धारा के कारण ही अब अपने पद से नीचे गिरने लगा है।

तीसरी दृष्टि उन लोगों की है जो भारतीय संस्कृति को देश के किसी विशिष्ट एक या अनेक सम्प्रदायों से परिमित या बद्ध न मान कर, समस्त सम्प्रदायों में एक सूत्र रूपसे व्यापक, अत एव सबके अभिमान की वस्तु, काफी लचीली और सहस्रों वर्षों से भारतीय परम्परा से प्राप्त संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं और विषमताओं के विष को दूर करके राष्ट्र में एकात्मकता की भावना को फैलाने का एक मात्र साधन समझते हैं। स्पष्टतः इसी दृष्टि से भारतीय संस्कृति की भावना देश की अनेक विषम समस्याओं के समाधान का एकमात्र साधन हो सकती है।

दूसरी ओर, लक्ष्य या उद्देश्य की दृष्टि से भी, भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में लोगों में विभिन्न धारणाएं फैली हुई हैं। कोई तो इसको प्रतिक्रियावादिता या पश्चाद्गामिता का ही पोषक या समर्थक समझते हैं। संस्कृतिरूपी नदी की धारा सदा आगे को बहती है, इस मौलिक सिद्धान्त को भूल कर वे प्रायः यही स्वप्न देखते हैं कि भारतीय संस्कृति के आन्दोलन के सहारे हम भारतवर्ष की सहस्रों वर्षों की प्राचीन परिस्थिति को फिर से वापिस ला सकेंगे। पश्चाद्गामिता की इसी विचार-धारा के कारण देश का एक बड़ा प्रभाव-सम्पन्न वर्ग भारतीय संस्कृति की भावना का घोर विरोधी हो उठा है, या कम से कम उसको सन्देह की दृष्टि से देखने लगा है।

दूसरे वे लोग हैं, जो भारतीय संस्कृति को देश के परस्पर-विरोधी तत्त्वों को मिलाने-वाली, गंगा की सतत अग्रगामिनी तथा विभिन्न धाराओं को आत्मसात् करनेवाली धारा के समान ही सतत प्रगतिशील और स्वभावतः समन्वयात्मक समझते हैं। प्राचीन परम्परा से जीवित सम्बन्ध रखते हुए वह सदा आगे ही बढेगी। इसीलिए उसे संसार के किसी भी वस्तुतः प्रगतिशील वाद से न तो कोई विद्वेष हो सकता है, न भय।

उपर्युक्त विभिन्न विचार-धाराओं के प्रभाव के कारण ही भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में भी विभिन्न मत प्रचलित हो रहे हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

इस सम्बन्ध में जनता में सब से अधिक प्रचलित मत विभिन्न सम्प्रदायवादियों के हैं। लगभग दो-ढाई सहस्र वर्षों से इन्हीं सम्प्रदायवादियों का बोलबाला भारत में रहा है। इन सम्प्रदायों के मूल में जो आर्थिक, जातिगत, समाजगत या राजनैतिक कारण थे, उनका विचार यहां हम नहीं करेंगे; तो भी इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस दो-ढाई सहस्र वर्षों के काल में भी भारतवर्ष की राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में इन सम्प्रदायवादियों का काफी हाथ रहा है।

अपने-अपने सम्प्रदाय तथा परम्परा को ही सृष्टि के प्रारम्भ से ब्रह्मा, शिव आदि के द्वारा प्रायः प्रवर्तित कहनेवाले तथा अपने से भिन्न सम्प्रदायों को प्रायः अपने से हीन कहनेवाले लोगों के मत में तो 'विशुद्ध' भारतीय संस्कृति का आधार उनके ही संप्रदाय के प्रारम्भिक रूप में ढूंढना चाहिए।

ये लोग अपने-अपने संप्रदाय से अनन्तर-भावी या भिन्न संप्रदायों को प्रायः अपने मौलिक धर्म का विकृत या बिगड़ा हुआ रूप ही समझते हैं।

उदाहरणार्थ मनु के—

> चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
> भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥ (१२।९७)
> या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
> सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥
> उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
> तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ (१२।९५-९६)

अर्थात् चातुर्वर्ण्य और चारों आश्रमों के साथ-साथ भूत, वर्तमान और भविष्य तथा तीनों लोकों का परिज्ञान वेद से ही होता है। वेदबाह्य जो भी स्मृतियां या संप्रदाय हैं, वे तमोनिष्ठ तथा नवीन होने के कारण निष्फल और मिथ्या है—इत्यादि वचन, युगों के क्रम से धर्म के ह्रास की कल्पना, मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों में शूद्रराज्य की विभीषिका, पुराणों में "नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्" (अर्थात् नन्दों के अनन्तर वैदिक संप्रदाय के पोषक क्षत्रिय राजाओं का अन्त), धर्मशास्त्रों में चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के साथ संकरज जातियों की स्थिति की कल्पना, इत्यादि समस्त विचार-धारा उन्हीं संप्रदायवादियों का प्रतीक है, जो भारतीय संस्कृति को प्रगतिशील और समन्वयात्मक न मान कर केवल अपने-अपने संप्रदाय में ही अपनी विचारधारा को बद्ध रखते हैं।

एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता, असहिष्णुता की भावना और भारत के वर्तमान या ऐतिहासिक स्वरूप के समझने में वैज्ञानिक समष्टि दृष्टि का अभाव—इन बातों में ही इन लोगों का मुख्य वैशिष्ट्य दीख पड़ता है।

यह विचित्र-सी बात है कि हमारे कुछ आधुनिक इतिहास-लेखक तथा विचारक भी इस (बुद्धि-पूर्वक या अबुद्धि-पूर्वक) पूर्वग्रह (Prejudice) से शून्य नहीं हैं। सांप्रदायिक या जातिगत पूर्वग्रह के कारण वे भारतीय संस्कृति के इतिहास के अध्ययन में

समष्टि–दृष्टि न रखकर एकांगी दृष्टि से ही काम लेते रहे हैं। केवल बौद्धों आदि पर भारत के अधःपतन का दोष मढना ऐसे ही लोगों का काम है।

ऐतिहासिक गवेषणा में हमारी एकांगी दृष्टि का प्रधान कारण यह होता है कि हम प्रायः अपनी दृष्टि को संस्कृत साहित्य में ही परिमित कर देते है। पर संस्कृत साहित्य में कितनी अधिक एकांगिता है, इसका ज्वलन्त प्रमाण इसीसे मिल जाता है कि बौद्धकालीन उस इतिहास का भी, जिसको हम भारत का स्वर्ण–युग कह सकते है, संस्कृत साहित्य में प्रायः उल्लेख ही नहीं है। 'व्याकरण महाभाष्य' में पाणिनि के "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" (२।४।९) (अर्थात् जिन में परस्पर शाश्वतिक विरोध होता है, उनके वाचक शब्दों का द्वन्द्व समास एक वचन में रहता है) इस सूत्र का एक उदाहरण 'श्रमण–ब्राह्मणम्' दिया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि कम से कम ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व से ही श्रमण (अर्थात् जैन, बौद्ध) और ब्राह्मणों में सर्प और नकुल जैसी शत्रुता रहने लगी थी। संस्कृत साहित्य की उपर्युक्त एकांगिता के मूल में ऐसे ही कारण हो सकते हैं।

यही बात संस्कृतेतर साहित्यों के विषय में भी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में उपर्युक्त सांप्रदायिक तथा एकांगी दृष्टि के मुकाबले में आधुनिक विज्ञानमूलक ऐतिहासिक दृष्टि है। इसके अनुसार भारतीय संस्कृति को उसके उपर्युक्त अत्यन्त व्यापक अर्थ में लेकर, उसको स्वभावतः प्रगतिशील तथा समन्वयात्मक मानते हुए, वैदिक परम्परा के संस्कृत साहित्य के साथ बौद्ध–जैन साहित्य तथा सन्तों के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन, मूक जनता के अनंकित विश्वास और आचारविचारों के परीक्षण और भाषा के साथ–साथ पुरातत्त्व–सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक साक्ष्य के अनुशीलन के द्वारा समष्टि दृष्टि से भारतीय संस्कृति के आधारों का अनुसन्धान किया जाता है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में किस का कितना मूल्य है, यह कहने की बात नहीं है। स्पष्टतः उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टि से ही हम भारतीय संस्कृति के उस समन्वयात्मक तथा प्रगतिशील स्वरूप को समझ सकते हैं, जिसको हम वर्तमान भारत के सामने रख सकते हैं और जिसमें भारत के विभिन्न संप्रदायों और वर्गों को ममत्व की भावना हो सकती है। हम इस लेख में इसी दृष्टि से संक्षेप में ही संस्कृति के आधारों की विवेचना करना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृति के मौलिक आधार

भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में उपर्युक्त समन्वय-मूलक दृष्टि का क्षेत्र यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में अत्यधिक व्यापक और विस्तृत हो गया है, तो भी यह दृष्टि नितरां नवीन-कल्पनामूलक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष के ही विद्वानों की परम्परागत प्राचीन मान्यताओं में इस दृष्टि की पुष्टि में हमें पर्याप्त आधार मिल जाता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत के ज्ञाताओं से छिपा नहीं है कि वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म के लिए निगमागम-धर्म नाम पंडितों में प्रसिद्ध है। अनेक सुप्रसिद्ध ग्रन्थकारों के लिए, उनकी प्रशंसा के रूप में 'निगमागम-पारावार-पारदृश्वा' कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्टतः यही है कि परम्परागत पौराणिक हिन्दु धर्म का आधार केवल 'निगम' या वेद न होकर, 'आगम' भी है। दूसरे शब्दों में वह निगम-आगम-धर्मों का समन्वित रूप है। यहां 'निगम' का मौलिक अभिप्राय, हमारी सम्मति में, निश्चित या व्यवस्थित वैदिक परम्परा से है; और 'आगम' का मौलिक अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सांस्कृतिक परम्परा से है। 'निगमागम-धर्म' की चर्चा हम आगे भी करेंगे, यहां तो हमें केवल यही दिखाना है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों की भी अस्पष्ट रूप से यह भावना थी कि भारतीय संस्कृति का रूप समन्वयात्मक है।

इसके अतिरिक्त साहित्य आदि के स्वतन्त्र साक्ष्य से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। सबसे पहले हम वैदिक संस्कृति से भी प्राचीनतर प्राग्वैदिक जातियों और उनकी संस्कृति के विषय में ही कुछ साक्ष्य उपस्थित करना चाहते हैं।

वैदिक साहित्य को ही लीजिए। ऋग्वेद में वैदिक देवताओं के प्रति विरोधी भावना रखनेवाले दासों या दस्युओं के लिए स्पष्टतः 'अयज्यवः' या 'अयज्ञाः' (=वैदिक यज्ञ प्रथा को न माननेवाले), 'अनिन्द्राः' (=इन्द्र को न माननेवाले) कहा गया है। इन्द्र को इन दस्युओं की सैकड़ों 'आयसी पुरः' (=लोहमय या लोहवत् दृढ़ पुरियों को) नाश करनेवाला कहा गया है।

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में 'यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्" (१२।१।५) (अर्थात् जिस पृथ्वी पर पुराने लोगोंने विभिन्न प्रकार के कार्य किये थे और जिस पर देवताओंने 'असुरों' पर आक्रमण किये थे) स्पष्टतः प्राग्वैदिक जाति का उल्लेख है। भारतीय सभ्यता की परम्परा में 'देवों' की अपेक्षा 'असुरों' का पूर्ववर्ती होना और प्रमाणों से भी सिद्ध किया जा सकता है। संस्कृत भाषा के कोषों में असुरवाची 'पूर्वदेवाः' शब्द से भी यही सिद्ध होता है।

बौधायन धर्मसूत्र में एक स्थल पर ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के विषय में विचार करते हुए स्पष्टतः कहा है—

"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या···तत्रोदाहरन्ति ।
प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस ।
स एतान् भेदांश्चकार···तान् मनीषी नाद्रियेत ।"
(बौधायन धर्मसूत्र २।११।२९–३०)

अर्थात् आश्रमों का भेद प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक असुरने किया था ।

पुराणों तथा वाल्मीकि रामायण आदि में भारतवर्ष में ही रहनेवाली यक्ष, राक्षस, विद्याधर, नाग आदि के अनेक अवैदिक जातियों का उल्लेख मिलता है । जिस प्रकार इन जातियों की स्मृति और स्वरूप साहित्य में क्रमशः अस्पष्ट और मन्द पड़ते गए हैं, यहाँ तक कि अन्त में इनको 'देवयोनि–विशेष' [तु० विद्याधराऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः । पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥ (अमरकोश)] मान लिया गया । इससे यही सिद्ध होता है कि ये प्रागैतिहासिक जातियाँ थीं, जिनको क्रमशः हमारी जातीय स्मृतिने भुला दिया । अग्रवालों आदि की अनुश्रुति में भी 'नाग' आदि प्रागैतिहासिक जातियों का उल्लेख मिलता है ।

पुराणों में शिव का जैसा वर्णन है, वह ऋग्वेदीय रुद्र के वर्णन से बहुतकुछ भिन्न है । ऋग्वेद का रुद्र केवल एक अन्तरिक्ष–स्थानीय देवता है । उसका यक्ष, राक्षस आदि के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है । परन्तु पौराणिक शिव की तो एक विशेषता यही है कि उसके गण भूत, पिशाच आदि ही माने गए हैं । वह राक्षस और असुरों का खासतौर पर उपास्य देव है । इससे यही सिद्ध होता है कि शिव अपने मूलरूप में एक प्राग्वैदिक देवता था, जिसका पीछे से शनैः शनैः वैदिक रुद्र के साथ एकीभाव हो गया ।

वैदिक तथा प्रचलित पौराणिक उपास्य देवों और कर्मकाण्डों की पारस्परिक तुलना करने से भी हम बरबस इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्रचलित हिन्दू देवताओं और कर्म–काण्ड पर एक वैदिकेतर, और बहुत अंशों में प्रागैतिहासिक, परम्परा की छाप है ।

प्राचीन वैदिक धर्म की अपेक्षा पौराणिक धर्म में उपास्य–देवों की संख्या बहुत बढ़ गई है । वैदिक धर्म के अनेक देवता (ब्रह्मणस्पति, पूषा, भग, मित्र, वरुण, इन्द्र) या तो पौराणिक धर्म में प्रायः विलुप्त ही हो गए हैं या अत्यन्त गौण हो गए हैं । पौराणिक धर्म के गणेश, शिव–शक्ति और विष्णु ये मुख्य देवता हैं । वेद में इनका स्थान या तो गौण है या है ही नहीं । अनेक वैदिक देवताओं (जैसे विष्णु, वरुण, शिव) का पौराणिक

धर्म में रूपान्तर ही हो गया है। भैरव आदि ऐसे भी पौराणिक धर्म के अनेकानेक देवता हैं, जिनका वैदिक धर्म में कोई स्थान नहीं है।

पौराणिक देव-पूजा-पद्धति भी वैदिक पूजा-पद्धति से नितरां भिन्न है। पौराणिक कर्मकाण्ड में धूप, दीप, पुष्प, फल, पान सुपारी आदि की पदे-पदे आवश्यकता होती है। वैदिक कर्मकाण्ड में इनका अभाव ही है।

वैदिक धर्म से प्रचलित पौराणिक धर्म के इस महान् परिवर्तन को हम वैदिक तथा वैदिकेतर (या प्राग्वैदिक) परम्पराओं के एक प्रकार के समन्वय से ही समझ सकते हैं।

इसी प्रकार हमारी संस्कृति की परम्परा में विचार-धाराओं के कुछ ऐसे परस्पर-विरोधी द्वन्द्व हैं, जिनको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओं के साहाय्य के बिना नहीं समझ सकते। ऐसे ही कुछ द्वन्द्वों का संकेत हम नीचे करते हैं:—

१. कर्म और संन्यास

२. संसार और जीवन का उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकास का ही नाम अमृतत्व है। यही निःश्रेयस है।

इसके स्थान में—

संसार और जीवन दुःखमय हैं। अत एव हेय हैं। इनसे मोक्ष या छूटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

३. ज्योतिर्मय लोकों की प्रार्थना[1] और नरकों[2] का निरन्तर भय।

इन द्वन्द्वों में पहला पक्ष स्पष्टतया वैदिक संस्कृति के आधार पर है। दूसरे पक्ष का आधार, हमारी समझ में, वैदिकेतर ही होना चाहिए।

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष की प्राचीनतर वैदिकेतर संस्कृतियों में ही दूसरे पक्षों की जड़ होनी चाहिए। ऊपर संन्यासादि आश्रमों की उत्पत्ति के विषय में जो बौधायन धर्मसूत्र का मत हमने दिया है, उससे भी यही सिद्ध होता है। ऐसा होने पर भी हमारे देश के अध्यात्म-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र का आधार ये ही द्वितीय पक्ष की धारणाएं हैं।

---

१ तुलना कीजिए —उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। (यजु० २०।२१) तमसो मा ज्योतिर्गमय। इत्यादि।

२ 'नरक' शब्द ऋग्वेद संहिता, शुक्ल यजुर्वेद वा० संहिता, तथा सामवेद संहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्ववेद संहिता में केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।

ये धारणाएं अवैदिक हैं, यह सुनकर हमारे अनेक भाई चौंक उठेंगे, पर हमारे मत में तो वस्तु-स्थिति यही दीखती है।

इन्हीं दो प्रकार की विचारधाराओं को, बहुत अंशों में, हम क्रमशः ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय भी कह सकते हैं। 'ऋषि' तथा 'मुनि' शब्दों के मौलिक प्रयोगों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं। 'मुनि' शब्द का प्रयोग भी वैदिक-संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका 'ऋषि' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में, संक्षेप में, हम इतना ही यहाँ कहना चाहते हैं कि दोनों की मौलिक दृष्टियों में हमें महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक का झुकाव आगे चलकर हिंसा-मूलक मांसाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है; वहाँ दूसरे का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता (तथा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। जहाँ एक की परम्परा में वेदों को सुनने के कारण ही शूद्रों के कान में सीसा पिलाने का विधान है, वहाँ दूसरी ओर उसने संसार भर के शूद्रातिशूद्र के भी, हित की दृष्टि से बौद्ध, जैन तथा सन्त सम्प्रदायों को जन्म दिया है। इनमें एक मूल में वैदिक और दूसरी मूल में प्राग्वैदिक प्रतीत होती है।

४. इसी प्रकार हमारे समाज में वर्ण और जाति के आधार पर सामाजिक भेदों का द्वैविध्य दीखता है, वह भी इसी प्रकार का एक द्वन्द्व प्रतीत होता है।

५. पुरुषविधि देवताओं के साथ-साथ स्त्रीविधि देवताओं की पूजा, उपासना भी इसी प्रकार के द्वन्द्वों में से एक है।

६. हम एक और द्वन्द्व का उल्लेख करके अपने लेख के उपसंहार की ओर आते हैं। वह द्वन्द्व ग्राम और नगर का है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ 'ग्राम' शब्द वैदिक संहिताओं में अनेकत्र आया है, वहाँ 'नगर' शब्द का प्रयोग हमें एक बार भी नहीं मिला। वैदिक साहित्य और धर्मसूत्रों में भी वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है। दूसरी ओर, नगरों के निर्माण में मय जैसे असुरों का उल्लेख पुराणों आदि में मिलता है। नगरों के साथ ही नागरिक शिल्प और कला-कौशल का विचार संबद्ध है। यह विचारणीय बात है कि वैदिक संस्कृति के वाहक ऊपरी तीनों वर्णों में कला और शिल्प का कोई स्थान नहीं है। इन कामों को करनेवालों की तो ये लोग 'शूद्रों में गणना करते हैं। इस प्रवृत्ति की व्याख्या हमारी समझ में उपर्युक्त ग्राम तथा नगर के द्वन्द्व में, जो कि वैदिक और प्राग्वैदिक परिस्थितियों की ओर संकेत करता है, मिल सकती है।

उपसंहार

ऊपर के अनुसंधान से यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि भारतीय संस्कृति के मौलिक आधारों के विचार में हम उसकी प्रधान प्रवृत्तियों को, जिनमें अनेक परस्पर-विरोधी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ भी हैं, कभी नहीं समझ सकते, जब तक हम यह न मान लें कि उनके निर्माण और विकास में वैदिक संस्कृति की धारा के साथ-साथ एक वैदिकेतर या प्राग्वैदिक धारा का भी बड़ा भारी हाथ रहा है। दोनों धाराओं के समन्वय में ही हमें उन मौलिक आधारों को ढूँढना होगा।

वैदिक संस्कृति के समान ही वह प्राग्वैदिक संस्कृति भी हमारे अभिमान और गर्व का विषय होनी चाहिए। आर्यत्व के अभिमान के पूर्वग्रह से युक्त, और भारत में अपने साथ सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से प्रवृत्त यूरोपीय ऐतिहासिकों के प्रभाव से उत्पन्न हुई यह भावना कि—भारतीय सभ्यता का इतिहास केवल वैदिक काल से प्रारम्भ होता है, हमें बरबस छोड़नी पड़ेगी। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता, त्याग की भावना, पारलौकिक भावना, अहिंसावाद जैसी प्रवृत्तियों की जड़, जिनके वास्तविक और संयत रूप का हम को गर्व हो सकता है, हमको वैदिक संस्कृति की तह से नीचे तक जाती हुई मिलेंगी।

वैदिक संस्कृति का बहुत ही बड़ा महत्त्व है, जिसके विषय में एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है, तो भी भारतीय जनता के समुद्र में उसका स्थान सदा से एक द्वीप जैसा रहा है। मूक जनता की अवस्था के अध्ययन से तथा महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में वैदिकों की अपनी पृथक् अवस्थिति से यही सिद्धान्त निकलता है।

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वय

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का उक्त समन्वय अदृष्टविधया बहुत प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। परस्पर आदान-प्रदान से दोनों धारायें आगे बढ़ती हुई अन्त में पौराणिक हिन्दू धर्म के रूप में समन्वित हो कर आपाततः एक धारा में ही विकसित हुई। इस समन्वय का प्रभाव धर्म, आचार-विचार, भाषा और रक्त तक पर पड़ा। इसके प्रमाणों की यहां आवश्यक नहीं है।

इसी समन्वय को दृष्टि में रखकर, जैसा हमने ऊपर कहा है, निगमागम धर्म नाम की प्रवृत्ति हुई। इसीके आधार पर सनातनी विद्वान् बहुत ही ठीक कहते है कि हमारे धर्म का आधार केवल 'श्रुति' न हो कर 'श्रुति-स्मृति-पुराण' हैं।

पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समन्वय में बहुत

बड़ा काम भगवान् व्यास का था। अपने समय में पुराणों के 'संग्रह' या 'संपादन' में उनका बड़ा हाथ था—यही पौराणिक प्रसिद्धि है। 'पुराण' शब्द का अर्थ ही उपर्युक्त प्राग्वैदिक संस्कृति की ओर निर्देश करता है। उनको सहयोग उस समय के अनेकानेक 'ऋषि-मुनियों' ने दिया होगा, जिनमें से अनेकों की धमनियों में व्यास के सदृश ही दोनों संस्कृतियों का रक्त बह रहा था और प्रायः इसी लिए उनका विश्वास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में था।

यह समन्वित पौराणिक संस्कृति जो कि बहुत अंशो में वर्तमान भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड के समान है, न तो केवल वैदिकेतर ही कही जा सकती है; न उसको हम यूरोपीय विद्वानों के अभिप्राय से 'आर्य-संस्कृति' या 'अनार्य-संस्कृति' ही कह सकते हैं। उसकी तो समान रूप से उपर्युक्त दोनों धाराओं में सम्मान की दृष्टि होनी चाहिए। यही सनातन धर्म की दृष्टि है। इसी लिए यूरोपीय प्रभाव से हमारे देशके कुछ लोगों में आर्य, अनार्य, वैदिक, अवैदिक शब्दों को लेकर जो एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है, वह वास्तव में निराधार और अहेतुक है।

समन्वित धारा की प्रगति और विकास

गंगा-यमुना रूपी वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओं के संगम से बनी हुई भारतीय संस्कृति की यह धारा अपने 'ऐतिहासिक' काल में भी स्वभावतः स्थिर तथा एक ही रूप में नहीं रह सकती थी। इस लम्बे काल में भी तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों और आवश्यकताओं से उत्पन्न होनेवाली नवीन धाराओं से वह प्रभावित होती हुई और क्रमशः उन धाराओं को आत्मसात् करती हुई, नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे बढ़ती रही है।

वैदिक और वैदिकेतर संस्कृतियों का प्रारम्भिक समन्वय केवल नाम-मात्र में ही था। उन दोनों में अनेकानेक स्वार्थों और बद्धमूल परम्पराओं के कारण अनेक प्रकार के वैषम्य, गंगा की धारा में प्रारम्भ में बहते हुए परस्पर टकरानेवाले टेढ़े-मेढ़े शिलाखण्डों के समान, चिरकाल तक संयुक्त-धारा में भी वर्तमान रहे। परस्पर संघर्ष के द्वारा ही उन्होंने अपनी विषमता के रूप को धीरे-धीरे दूर किया है और भारतीय संस्कृति की धारा की महिमा को बढ़ाया है। यह क्रिया अब भी जारी है और जारी रहेगी। इसीमें भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता है।

उपर्युक्त वैषम्यों में एक बड़ा भारी वैषम्य उस बड़ी भारी मानवता के कारण था, जिसको उस समय की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियोंने सब प्रकार से दलित कर रखा था। भारतवर्ष के आगे के इतिहास में पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा उत्पन्न

होनेवाले जैन, बौद्ध, वैष्णव और सन्त आदि आन्दोलनों की उत्पत्ति और प्रसार में उपर्युक्त विषमताओं का बड़ा भारी हाथ था। समाजगत विषमताओंने ही भगवान् कृष्ण, महावीर, बुद्ध, कबीर, चैतन्य आदि महापुरुषों को जन्म दिया और उन्होंने उन विषमताओं के दूर करने में अपने महान् कार्य के द्वारा भारतीय संस्कृति की धारा की ही महत्ता को बढ़ाया।

भारतवर्ष के इतिहास में आनेवाले इसलाम और ईसाइयत के आन्दोलनों को भी हम भारतीय संस्कृति की धारा के प्रवाह से बिलकुल अलग नहीं समझते। प्रथम तो इन दोनों की आध्यात्मिकता और नैतिकता का आधार 'एशियाटिक' संस्कृति के इतिहास की परम्परा के द्वारा भारतीय संस्कृति की मौलिक धारा तक पहुँच जाता है। दूसरे इतिहास-काल में भी उनका, भारतीय बौद्ध संस्कृति का ऋणी होना कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तीसरे, उन दोनों में कम-से-कम ९५ प्रतिशत संख्या उन्हीं की है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के ही उत्तराधिकारी हैं, और आज भी उनमें सांस्कृतिक मूल्य की वस्तुओं पर भारतीयता की काफी छाप है। हमारा तो विश्वास है कि हम सहिष्णुता से काम लेते हुए, उनकी वास्तविक धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुँचाते हुए, उनमें सुप्त भारतीयता को जगा सकते हैं। और वे भी भारतीय संस्कृति की धारा से पृथक् नहीं रह सकते। हमारे मत में बौद्ध, जैन आदि धर्मों की तरह ही, भारतवर्ष की पूर्वोक्त विषमताओं से ही इन संप्रदायों के प्रसार में काफी सहायता मिली है और इनके द्वारा भारतीय संस्कृति भी प्रभावित हुई है, और उसको कई प्रकार के साक्षात् या असाक्षात् रूप से लाभ भी हुए हैं।

हम उपर्युक्त सब आन्दोलनों को भी एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का उपकारक और आधार कह सकते हैं।

आवश्यकता है कि हम भारतीय संस्कृति के विकास को समझने के लिए उपर्युक्त समष्टि-दृष्टि से काम लें। प्रत्येक भारतीय सांप्रदायिक एकांगी-दृष्टि को छोड़कर भारतीय संस्कृति के समस्त क्षेत्र के साथ अपने ममत्व को स्थापित करें और अपने को उसका उत्तराधिकारी समझें।

यह भारतीय संस्कृति स्वभावतः सदा से प्रगतिशील रही है और रहेगी। इसमें अपने जीवन की जो अबाध धारा बह रही है, उसके द्वारा ही यह भविष्य के देशीय या आन्तर्राष्ट्रीय मानवता के हित के आन्दोलनों का स्वागत करती हुई, अपनी अनन्त प्राचीन परम्परा की रक्षा करती हुई ही आगे बढ़ती जाएगी। इसी भारतीय संस्कृति में हमारी आस्था है।

पूर्वेशिया में भारतीय संस्कृति

आचार्य रघुवीर, एम्. ए., पी. एच. डी., डी. लिट्, सदस्य, राज्यसभा।

विक्रमाब्द १२० में वुंग सम्राट् मिंग को एक शुभ रात्रि में दिव्य स्वप्न हुआ कि पश्चिम दिशा के आकाशमार्ग से उड़ते हुए स्वर्णमय भव्यात्माने महल में प्रवेश किया। महल जगमगा उठा। चन्द्र की ज्योत्स्ना और सूर्य की रश्मियां फीकी पड़ गई। महाराजने चरणवन्दना की। प्रातः हुआ तो ज्योतिर्विदोंने पता लगाया कि यह स्वर्णकाय आत्मा पश्चिम देश के महामुनि पारंगत शुद्धोदन-पुत्र शाक्यसिंह सम्यक्-सम्बुद्ध भगवान गौतम हैं। तत्काल महाराज मिंगने तीन महामात्यों को थिएन् चुओ अर्थात् देवभूमि जम्बूद्वीप में जाकर बौद्धसूत्र और आचार्यों का अन्वेषण करने तथा सत्कारपूर्वक लाने के लिए आदेश दिया। ये धर्मसूत्र और धर्माचार्य गवेषक राजदूत कुछ ही मास के पश्चात् भारत के दो विद्वद्रत्नों को साथ लेकर महाराज मिंग के पास पहुंचे। ये विद्वद्रत्न थे काश्यप मातंग और धर्मरत्न। महाराजने लोयांग नगर में इनके लिए श्वेताश्व-विहार की स्थापना की। हमारे पूर्व पुरुष मातंग और धर्मरत्नने देवानामिन्द्र शुक्र के समान श्वेत अश्वों पर आरूढ होकर जम्बूद्वीप से चीन की राजधानी तक यात्रा की थी। इन्हीं पर अनेक धर्मग्रन्थ और रजतसुवर्ण मरकत तथा स्फटिक की विशाल और वैभवमयी मूर्तियोंने भी यात्रा की थी। काश्यप मातंग और धर्मरत्नने ४२ खण्डों के सूत्र का निर्माण किया और चीन के राजकुल में बुद्धधर्म के आदर्शों का पौधा लगाया। काश्यप मातंग मध्य-जम्बूद्वीप के निवासी थे।

राजनैतिक हलचल के होते हुए भी लोयांग के श्वेताश्व-विहार में धर्मकार्य बन्द नहीं हुआ। पश्चिम के देशों से पण्डित और मुनिगण आर्यमार्ग के सिद्धान्तों को लाते रहे। विक्रमाब्द २८० के लगभग मध्यभारत से हीनयान के आचार्य धर्मकालने चीन में प्रवेश किया। धर्मकाल का जन्म बड़े घराने में हुआ था। बाल्यकाल में इन्होंने वेद-वेदांगों का अभ्यास किया था। चीन में आकर इन्होंने प्रातिमोक्षसूत्र का अनुवाद किया। इस समय तक चीन में संसार-विरक्ति की भावना का सर्वथा अभाव था। चीनी संस्कृति में जीवन के भोग और आनन्द का ही स्थान था। चीन को इस भावना के समझने और स्वीकार करने में लगभग २०० वर्ष लगे।

आदिकाल से भारत के समान चीन के दो भाग रहे हैं–एक उत्तरापथ और दूसरा दक्षिणापथ। चीनी उत्तरापथ के साथ हमारा सम्पर्क स्थलमार्ग से था और दक्षिणापथ से जलमार्ग से। समुद्रमार्ग विक्रम से पूर्व खुल चुका था। हमारे विद्वान् और साहसी व्यापारी सुमात्रा, जावा, थाई, कम्बोज और चम्पा होते हुए दक्षिण चीन पहुंचा करते थे। विक्रम की दूसरी शताब्दी में चम्पास्थित वोकन के संस्कृत शिलालेख हमारे साक्षी हैं।

आज हम जो कुछ आपको सुना रहे हैं उसका आधार चीन के प्राचीन इतिहास हैं। हमारे अपने साहित्य में एक भी पंक्ति नहीं मिलती। कुछ हमारी इतिहास के प्रति उदासीनता या कुछ करालकाल की कृपा जिसके कारण सहस्रों, लाखों ग्रन्थ पिछले एक सहस्र वर्षों में प्रकृति अथवा वर्बर आततायियोंने नाश किए।

आज का भारतीय निरुत्साह, भूमिबद्ध, स्थापर सा, जड़बुद्धि, दूसरों का मुंह ताकनेवाला प्रतीत होता है। प्राचीन भारत के निवासी विशदबुद्धि, नये मार्गों के अन्वेषक, असभ्य देशों को सभ्य बनानेवाले, प्रकृति के उपासकों को आध्यात्मिकता के उपदेश सुनानेवाले, निर्मल और विश्व के गौरव थे। हम में उनका रक्त विद्यमान है, किन्तु उनकी प्रखरता और ज्वाला मन्द हो चुकी है।

जिस समय भारत के वणिक्पोत शिल्पियों, शिल्परत्नों, विद्याधनियों तथा विद्याधन से लदकर द्वीपद्वीपान्तरों में ज्ञान और विज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए मासानुमास, वर्षानुवर्ष गुजरात, केरल, चोल, उड़ीसा और वंग के समुद्रतटों से प्रस्थान करते थे, वह समय भारतीय मस्तिष्कों में प्रातः सायं स्मरणार्थ दिव्याक्षरों में अंकित कर देना चाहिए। भारत आलस्य को दूर करे, अन्धतमस् से उन्मग्न हो, कांटों और पत्थरों को हटाता हुआ, गरजता हुआ आगे बढ़े। यही तो हमारे पूर्वजों का इतिहास है।

अब चीन के भारतीय धार्मिक विजेताओं, नहीं–नहीं, चीन के भारतीय धार्मिक गुरुओं में से कुछ के चरित्र संक्षेपतः आपको सुनाते हैं।

विक्रम की तीसरी शताब्दी में याज्ञिक ब्राह्मण कुलोद्भूत पण्डित विघ्नने देश-देशान्तरों में पर्यटन करते हुए लंका से धर्मपद नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ को हस्तगत किया और वहां से चीन को प्रस्थान किया। यह ग्रन्थ अभी तक विद्यमान है। इसमें शिक्षा, श्रद्धा, शील, भावना, यमक, प्रमादचित्तादि तथा निर्वाण, संसार और सौभाग्यान्त ३६ अध्याय हैं।

विक्रमाब्द ३२२ में वु. वाइ और शू इन तीनों राजवंशों का ह्रास होकर पाश्चात्य चिन् वंश का उदय हुआ। इस वंश के आधी शताब्दी के राज्य में भारतीय विद्वान् और

उनके सहायकोंने ५०० से अधिक ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। केवल भारतीय ही नहीं, किन्तु मध्येशिया, तुर्किस्थान और स्वयं चीन के पण्डितोंने धर्मरक्ष आदि संस्कृत नाम धारण किए और भारतधर्म की सेवा की। अमिनाभ और अवलोकितेश्वर के संप्रदायों का आरम्भ हुआ। सद्धर्मपुण्डरीक और पंचविंशति साहस्रिका-प्रज्ञापारमिता जैसे जटिल और दुरूह किन्तु युगप्रवर्तक महान् ग्रन्थों का चीन के जीवन में प्रवेश हुआ।

दक्षिण में नानकिंग आरम्भ से ही भारतधर्म का केन्द्र रहा। विक्रमाब्द ३७४ में प्राच्य चिन् वंश की अरुणिमा के साथ भारतधर्म का दीप भी चमक उठा। भारतीय विद्वानों का नानकिंग में तांता बंध गया। राजपुत्र श्रीमित्रने राज्यभार छोड़ कर धर्मसेवा को अपनाया और उत्तर चीन से होता हुआ नानकिंग में आ पहुंचा। श्रीमित्र तान्त्रिक था। इसीने चीन में तन्त्र का प्रसार किया। तान्त्रिक मन्त्रों अथवा धारणियों का इसने चीनियों को शुद्ध उच्चारण सिखलाया। इनकी विश्वविख्यात धारणी महामायूरी विद्याराज्ञी है। इन्हीं दिनों धर्मरत्नने आगम साहित्य के ११० संस्कृत ग्रन्थों का चीनी में भाषान्तर किया। इस युग में उत्तर और दक्षिण दोनों ही भागों में आगमों का अनुवाद बड़े वेग से चला। इनमें से गौतम संघदेव कश्मीर के निवासी थे। संघदेव सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे। उन्होंने ही चीन में भारतीय दर्शन का श्रीगणेश किया तथा ज्ञानप्रस्थान और महाविभाषा जैसे अभिधर्म के मुख्य ग्रन्थों का चीनी में भाषान्तर किया।

चीनी साहित्य में इससे पूर्व दर्शनशास्त्र का सर्वथा अभाव था, इस अभाव की पूर्ति संघदेव और उनके अनुयायियोंने की। इनके काम को बुद्धभद्रने आगे बढाया। बुद्धभद्र का जन्म कपिलवस्तु में हुआ था। ये शाक्यमुनि के पितृव्य अमृतोदन के वंशज थे। कश्मीर में रह कर इन्होंने विनय का अध्ययन किया। जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियेन कश्मीर में आए और इनके गंभीर पाण्डित्य का साक्षात् किया तो प्रार्थना की कि भगवन् चीन में चलिए और प्रवचन कीजिए। उत्तर भारतखण्ड को पार करते हुए गंगासागर संगम के समीप से बुद्धभद्रने जलयान पर पदार्पण किया और वहां से टोंकिन पहुंचे और टोंकिन से चीन। चीन में उनका कूचा के भिक्षु कुमारजीव से शास्त्रार्थ हुआ और तब से उनकी ख्याति आठों दिशाओं में फैल गई। ये चीन में अवतंसक सम्प्रदाय के प्रवर्तक बने। संक्षेप में इन का सिद्धान्त निम्न प्रकार है।

प्रत्येक भूमि के कण में असंख्य बुद्ध विद्यमान हैं जो अवर्णनीय उदात्त-भावपूर्ण असंख्य लोकों की अभिव्यक्ति करते हैं। इनका आभास एक क्षण में और एक विचारसूत्र में संग्रथित है। ये सूत्र, भूत व वर्तमान और भविष्यत् के समस्त कल्पों की ग्रन्थि हैं। निखिल

बुद्धक्षेत्र और बुद्ध आत्माएं मेरे अपने काय में अबाध आविर्भूत होती हैं और एक केशाग्र पर भी एक विशाल बुद्धक्षेत्र दृष्टिगोचर हो जाता है। प्रत्येक द्रव्य में अन्य समस्त द्रव्य अन्तर्विद्ध तथा व्याप्त हैं। एक भी कण के नाश होने से समस्त विश्वसंहृति अपूर्ण हो जाती है। अन्योन्य प्रवेश, अन्योन्य आश्रय महायान विचारधारा के शिखर हैं। जब तक अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि नहीं होती तब तक जगत् इन्द्रियों के गोचर तक ही सीमित रहता है और मनुष्य दुःख और पीड़ा से बाहर नहीं निकल सकता। बुद्ध की करुणा समन्तभद्र, अर्थात् सब का भला हो, इस भावना से प्राणियों को अपनी गोदी में लेती है। छः पारमिताओं के द्वारा दशभूमि आरोहण करने पर बोधिसत्त्व अवस्था से मनुष्य बुद्धावस्था को प्राप्त होता है।

विक्रम की पांचमी शताब्दी के प्रख्यात विद्वान् धर्मनन्दी हैं। ये संस्कृत आगम साहित्य के परम विज्ञ थे। इनका जन्म तुरुष्क देश में हुआ था। इनके अवशिष्ट ग्रन्थों में एकोत्तरागम तथा अशोकराजपुत्रचक्षुर्भेदनिदानसूत्र विशेष उल्लेख के योग्य हैं। भारतीयता का जहां चारों ओर सम्मान था वहां कभी कभी कनफ्यूशस् और ताओ मत के अनुयायियों से संघर्ष भी हो जाता था। इन संघर्षों में छोटे और बड़े राजा भी भाग लिया करते थे। अनेकों बार विरोधी राजाओंने चीनी भिक्षुओं को बलात् गृहस्थ में प्रवेश कराया और बौद्ध विहारों को भस्मसात् किया। किन्तु ऐसी स्थिति कुछ समय तक ही और कभी कभी ही हुआ करती थी। भारतधर्म का चीन में उत्तरोत्तर आदर और प्रचार फेलता गया। लाखों, करोड़ों चीनियोंने बुद्धधर्म की शरण ली।

चीन की लिपि शब्दलिपि है, इस लिपि का शब्द की ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं। वर्णमाला की कल्पना ही नहीं। जो व्यक्ति पढ़ना, लिखना, सीखना चाहता है उसको सहस्रों ही चित्रमय चिन्हों का अभ्यास करना पड़ता है। समस्त जीवन लगाने पर भी कोई चीनी विद्वान् यह नहीं कह सकता कि मैं लिखे हुए सब शब्दों को पढ़ सकता हूं। जिस समय भारतवर्ष के सहस्रों नाम चीनियों के सामने आए तो प्रश्न उठा इनको चीनी में किस प्रकार लिखा जाए। इसके समाधानस्वरूप भारतीय नामों का अनुवाद किया गया। जैसे बुद्ध भगवान का नाम। इसको दो अक्षरों के संयोग से अभिव्यक्त किया गया। पहला अक्षर न-वाची और दूसरा मनुष्यवाची। इस संयोग का भावार्थ–जो मनुष्य नहीं, किन्तु मनुष्यों से ऊपर है। प्रायः अनुवाद व्युत्पत्ति के अनुसार किए गए। यथा नागार्जुन का नाम चीनी नाग–और श्वेत–वाची अक्षरों के संयोग से।

किन्तु तन्त्रशास्त्र के मन्त्रों की शक्ति मुख्यतया ध्वनि में निहित है। इसलिए मन्त्रों

को चीनी में लिखने की पद्धति का आविष्कार किया गया। इस आविष्कार के लिए चीन आज तक भारत का ऋणी है।

आगे चलने से पूर्व मैं आप को कश्मीर-निवासी ब्राह्मण बुद्धयशस् और उसके सर्वेतिहास विख्यात शिष्य कुमारजीव का परिचय करा देता हूँ। कुमारजीव का इतिहास विचित्र है। चीन के सम्राट् ने कूचा के राजा के पास कुमारजीव को मांगने के लिए अपने दूत भेजे। कूचा में कुमारजीवने अपने जीवन के ३० वर्ष व्यतीत किए थे। उसने कुमारजीव को देने से नकार किया। चीन के राजदूत सेनापति लू कुआंगने युद्ध की घोषणा की। कूचाने कारागार और ओख तुफूनि के मित्र राज्यों से सहायता की प्रार्थना की। घमासान युद्ध हुआ। कूचा और उसके साथी हार गए। कुमारजीव को बन्दी बना कर चीन में लाया गया। इस अन्तराल में चीन के सम्राट् का देहान्त हो गया। और अभिमानी सेनापति लू कुआंग ने कांसु प्रान्त में अपना स्वतन्त्र राज्य प्रतिष्ठापित किया। इस राज्य का दीपरत्न कुमारजीव था। पन्द्रह वर्ष की अवधि तक अर्थात् ४५८ विक्रमाब्द तक कुमारजीव यहां रहा। तत्पश्चात् कुमारजीव चीन की मुख्य राजधानी चांगान में लाया गया। इसको राज्यगुरु की पदवी दी गई। कुमारजीव के प्रवचनों के लिए विशाल भवन निर्माण किया गया, जिसमें तीन सहस्र शिष्य प्रतिदिन उनका प्रवचन सुनते थे।

कुमारजीव के पिता भारतीय कुमारायण थे और इनकी माता कूचा के महाराज की बहिन जीवा थी। कुमारजीव संस्कृत और चीनी के अद्वितीय पण्डित थे। कुमारजीव के जीवन का आदर्श चीनियों को सच्चे धर्म का ज्ञान कराना था। अभी तक जो संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद चीनी में हुए थे, वे विचार और भाषा की शुद्धता में मूल संस्कृत की कोटि तक न पहुंचते थे। सो कुमारजीवने पुराने अनुवादों का संशोधन और नये अनूदित ग्रन्थों का भाषान्तरण अपने हाथ में लिया। इस बृहत् कार्य में आठ सौ विद्वानों की सेना कुमारजीव को दी गई। इनमें भारतीय और चीनी सम्मिलित थे। कुमारजीवने अपने जीवन के अन्तिम बारह वर्ष इस कार्य को अर्पण किए।

भारत और उत्तर देशों के इतिहास में कुमारजीव का नाम सर्वप्रथम रहेगा। कुमारजीवने केवल ग्रन्थों का ही अनुवाद नहीं किया, किन्तु माध्यमिक और योगाचार के सिद्धान्तों को भी चीन में प्रवेश कराया। कुमारजीवने महायान के संस्थापक अश्वघोष की जीवनी लिखी। यह अभी तक चीनी भाषा में विद्यमान है। नागार्जुन के अत्यन्त शून्यतावाद पर कुमारजीव के ग्रन्थ अनुपम हैं।

हमारे पूर्वपुरुषों का चीन में धर्मप्रचार का इतिहास अति विशाल है। विक्रम की ११

वीं शताब्दी तक हमारे पूर्वज चीन में जाते रहे। १०२९ विक्रमाब्द में चीनी त्रिपिटक का प्रथम मुद्रण हुआ। इस मुद्रण के लिए १,३०,००० काष्ठपट्ट उत्कीर्ण किए गए। यह पुण्य कार्य प्रथम सुंग सम्राट् के राज्यकाल में हुआ। सम्राट् ने स्वयं त्रिपिटक की भूमिका लिखी। अगले ४०० वर्षों में त्रिपिटक के बीस भिन्न संस्करण प्रकाशित हुए।

दसवीं शताब्दी तक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद वेग से चलता रहा। तत्पश्चात् गति धीमी पड़ गई। १०६८ विक्रमाब्द में धर्मरक्ष की अध्यक्षता में नया अनुवाद-मण्डल बनाया गया। ११ वीं शताब्दी के अन्त में मध्येशिया पर मुसलमानों का अधिकार हुआ। तब से भारत और चीन का सम्पर्कमार्ग सदा के लिये बन्द कर दिया गया।

विक्रमाब्द १४८६ में महाराजा युन्-लौने विभिन्न भाषाओं का विद्यालय बनाया। इस विद्यालय में संस्कृत-अध्यापन का आदरणीय स्थान था।

चीन से भारतधर्म कोरिया में पहुंचा। विक्रमाब्द ४२९ में चीन के सम्राट्ने कोरिया में बौद्ध सूत्र और मूर्तियां भेजीं। बारह वर्ष के पश्चात् भिक्षु मारानन्द पाकचेई नगर में गया। इसके पचास वर्ष अनन्तर बौद्ध भिक्षु सिल्लानगर में पहुंच गए। राजओंने जीवित प्राणियों की हिंसा का निषेध किया। राजपुत्रोंने काषाय धारण किया। स्थान-स्थान पर बौद्ध विहार बनाया गया।

कोरिया से ५९५ विक्रमाब्द में महाराज कुदारने भगवान बुद्ध की मूर्ति, बौद्ध सूत्र और पताकाएं जापान के सम्राट् को उपाहाररूप में भेजीं और संदेश दिया कि आप भी इस सर्वोत्कृष्ट धर्म का प्रतिग्रहण करें। इससे आपको तथा आपकी प्रजा को अपरिमित लाभ होगा। यह धर्म भारत और कोरिया के बीच सभी देशों का धर्म है। यह संदेश राजसभा में सुनाया। इस समय जापान की राजसभा के दो पक्ष थे, इनमें से एकने संदेश का स्वागत किया और दूसरेने विरोध।

६५० विक्रमाब्द में जापान का पहला संविधान बना और उसमें बुद्ध, धर्म और संघ-रूपी त्रिरत्न को अपना आधार बनाया गया। राजकीय कोष की सहायता से विहार, विद्यालय, चिकित्सालय तथा वृद्ध और अनाथों के लिए धर्मशालाएं बनाई गईं। सूत्रों के अध्ययनार्थ चीन को विद्यार्थी भेजे गए। प्रथम प्रवेश के ७० वर्ष पश्चात् जापान में मन्दिरों की संख्या ४६, भिक्षुओं की ८१६ और भिक्षुणियों की ५६९ हो चुकी थी।

बौद्धधर्म दिनानुदिन उन्नति करता गया। देश के रक्षक भगवान् बुद्ध बने। विक्रमाब्द ७९८ में वैरोचन बुद्ध की ५३ फुट ऊंची कांस्यमूर्ति की नींव डाली गई।

आज जापान में बौद्धधर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं। प्रथम जो दो सम्प्रदाय, वे पश्चिम-वर्ती भारतदेश की सुखावती नाम स्वर्गभूमि के माननेवाले हैं। अमिताभ बुद्ध इनके रक्षक हैं। जैन अथवा ध्यान सम्प्रदाय, योद्धा और क्षत्रियों में बहुत प्रचलित हैं। ध्यानाभ्यास से वे कठोर यातनाएं अपने आदर्श के पालन के लिए सहन कर सकते हैं। निचिरेन सम्प्रदाय सद्धर्मपुण्डरीक नाम के जप को ही सर्वकल्याण का साधन मानता है। तेन्दाई और तान्त्रिक शिंगोन का प्रभाव उच्च कुलों में अधिक है। तथा जोदो और शिंशु साधारण जनता में फैले हुए हैं।

कोरिया और जापान से भारत का सीधा समुद्र द्वारा तथा चीन द्वारा सम्पर्क अवश्य रहा, किन्तु वहां जानेवाले भारतीय आचार्यों, शिल्पियों और व्यापारियों आदि के नाम और चरितों की सूचना का अभी तक कोई स्रोत उपलब्ध नहीं हुआ।

यदि भगवान् आप को पूर्वेशिया के देशों के पर्यटन का सौभाग्य प्रदान करें आर आप तिब्बत से अपना भ्रमण आरम्भ करें तो समस्त तिब्बत, मंगोलिया बाह्य तथा आभ्यन्तर, मंचूरिया, कोरिया, चीन और जापान के ग्रामों, पर्वतों और नदी नालों के तटस्थित मन्दिरों तथा भक्तों के भवनों में देवनागरी अक्षरों में लिखे हुए संस्कृत मन्त्रों को देख कर अपने दो सहस्र वर्ष प्राचीन पूर्वपुरुषों के लगाये हुए पुण्य वृक्ष के फलफूलों से अपनी आत्मा की तृप्ति कर सकते हैं, और यदि अपने कर्तव्य का तनिक ध्यान हो तो भारतमाता को फिर एक बार उन्नति के मार्ग पर ले जाने के लिए कटिबद्ध हो सकते हैं।

भद्रं श्रोतृभ्यः।

विशिष्ट योगविद्या

श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश शिष्य मुनि देवेन्द्रविजय ॥ "साहित्यप्रेमी"

[1]योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो, योगश्चिन्तामणि परः ॥
योगः प्रधानं धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयं ग्रहः ॥ ३७ ॥
कुण्ठी भवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा ।
योगवर्मावृत्ते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥ ३९ ॥
[2]योगः सर्वविपद्वल्ली, विताने परशुः शितः ।
आमूलमंत्रतंत्रं-व कार्मणं निर्वृतिश्रियः ॥ ५ ॥

इस संसार में अनादिकाल से जड़वादी और आत्मोत्थानाकांक्षियों की आध्यात्मिक ये दो विचार-परम्पराएँ प्रचलित हैं। दोनों विचारधारावादियोंने विश्व के चराचर संबंधी समस्त प्रश्नों को समझने-समझाने का अत्यधिक प्रयत्न कर अपने-अपने सिद्धान्तों की उत्पत्ति की है। दोनों विचार-श्रेणियाँ छत्तीस (३६) के अंक के समान जुदी जुदी हैं। जड़वादी धारा के माननेवाले मानते हैं कि:—'इन्द्रियों का सुख ही वास्तविक सुख है। इसको प्राप्त करने के लिये किये जाते हुये प्रयत्नों में पाप-पुण्य की दरार वृथा है। नीति और अनीति का प्रश्न ढोंग मात्र है। सुखभोग के लिये यदि जघन्य से जघन्य कार्य भी किया जाय तो कोई हर्ज नहीं है। चूंकि शरीर भस्मीभूत हो जाने पर तो पुनरागमन है ही नहीं। यह तो वृक पदवत् वृथा बनाया गया भ्रामक ढकोसला मात्र है। आधिभौतिक सुख ही वास्तव में जीवन का आनन्द है। अतः हे मनुष्यो, इसे प्राप्त करने के प्रयत्न करो।'

इस जड़वादी मान्यता के ठीक विपरीत आध्यात्मिक पथानुगामी की मान्यता है। ऐहिक सुख उनकी दृष्टि में सर्वथा अनुचित हैं। ऐहिक सुख एकदम अवांछनीय हैं। अतः ये आस्तिक धर्म कहे जाते हैं। जैन, वैदिक और बौद्ध तीनों धर्म आध्यात्मिक भावप्रधान हैं। इन्द्रियजन्य विषयसुख को माननेवाले नास्तिक हैं—जैसे चार्वाक।

आर्यावर्त के आस्तिक दर्शन जैन, वैदिक और बौद्ध इन तीनों का सुखनिरूपण लगभग समान है। तीनों का लक्ष्य आत्म-विकासक है। आध्यात्मिक सुख को प्राप्त करना, कर्ममल का क्षय करना इन दो को तीनों धर्मोंने भिन्नभिन्न ढंग से समझाया एवं बतलाया है।

---

१ श्रीहरिभद्रसूरिकृत योगबिन्दु। २ श्रीहेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्र।

योग शब्द "युज्" धातु से करण और भाववाची घञ् प्रत्यय लगने पर बनता है-जिसका अर्थ है "युजि च समाधौ" याने समाधी को प्राप्त होना। योग यह एक महान् आत्म-प्रगति का मार्ग है, जो वास्तव में आत्मा को अभिलषित स्थान-मोक्ष तक पहुंचाने में समर्थ है। जैन दर्शन में योग का अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन दर्शन प्रायः सम्पूर्ण रूपेण यौगिक साधनामय है। पातंजल योगदर्शन में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' से योग को चित्त की चंचलवृत्तियों का निरोधक कहा गया है। वैसे ही जैन दर्शन में योग को मोक्ष का अंग माना गया है—"मुक्खेण जोयणाओ जोगो[3]" याने जिन जिन साधनों से आत्मा कर्मों से विमुक्त होकर निज लक्ष्यविन्दु तक जाकर राग-द्वेष एवं काम क्रोध पर विजय प्राप्त करे उन-उन साधनों को योगांग कहा गया हैं। इस प्रकार आत्मोन्नतिकारक जितने भी धार्मिक साधन हैं वे सब योग के अंग हैं।

महर्षि पतंजलिकृत योगदर्शन में कहा गया है कि योग के अष्टांगों की परिपूर्ण रीत्या साधना-अनुष्ठान करने से चित्त का अशुभ मल का नाश होता है और आत्मा में शुद्धभाव (सम्यग्ज्ञान-केवलज्ञान) का प्रादुर्भाव होता है।[4] वे अष्टांग ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि[5]।

साधनाकर्ता व्यक्ति जितने-जितने अंश में योगानुष्ठान करता है उतने-उतने अंश में चित्त के अशुद्ध-मल का नाश होता है और जितने-जितने अंश में कर्ममल का क्षय होता हैं, उतने-उतने अंश में उसका ज्ञान बढ़ता है। अन्त में ज्ञान का यह विकास सम्यग्ज्ञान-केवलज्ञान में अपनी अन्तिम पराकाष्ठा को प्राप्त होता है। इस तरह योग के अष्ट अंगों का अनुष्ठान करने पर चित्त के अशुद्ध मल का नाश और विवेकख्याति-सम्यग्ज्ञान का प्रादुर्भाव-ये दो फल निष्पन्न होते हैं। योग के अष्टांगों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पांच वहिरंग साधन हैं और धारणा, ध्यान तथा समाधि ये तीनों अंतरंग साधन कहे गये हैं। पांच अंग चित्तगत मलके क्षय करने में सहायक हैं और अन्त के तीन अंग विवेकख्यातोदय केवलज्ञान प्राप्त करने में सहायभूत हैं।

उक्त अष्टांगों का स्वरूप-फल और इनकी साधना से मिलनेवाली लब्धियों का पातंजलयोगदर्शन मे बड़ा ही विस्तृत और परम व्यवस्थित विवेचन किया गया है।

---

३ श्रीहारिभद्रीय योगविंशातिका गा. १।

४ योगागानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तीः आविवेक ख्याते (सावनापाद सूत्र २८ वाँ)

५ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावगानि। (साधनापाद सूत्र २९ वाँ)

जैन दर्शन में उक्त योगांगों का आगमविहित स्वरूप क्या है ?, बस इसी स्थूल विषय का दिग्दर्शन यथामति करवाना ही इस लघु निबन्ध का उद्देश्य है।

१ यमः—योग के आठ अंगों में सर्वप्रथम स्थान यम का है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों महाव्रतों की संज्ञा 'यम' है। जैनागमों में इन पांचों की महाव्रत और अणुव्रत संज्ञा है। जैनागमों में और पातंजलयोगदर्शन में इस विषय में कहीं-कहीं कंचित्त वर्णन-शैली की भिन्नता के सिवाय कुछ भेद नहीं है। उक्त पांचों यमों (व्रतों) को त्रिकरण-त्रियोगसे पालन करनेवाला सर्वविरति-साधु-श्रमण-भिक्षु और देशतः परिपालन करनेवाला देशविरति-श्रमणोपासक या श्रावक कहलाता है।

(१) अहिंसा—पांच यमों में प्रथम स्थान अहिंसा का है। "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" अर्थात् प्रमत्तयोग से होनेवाले प्राणवधको, वह सूक्ष्म का हो या बादर का-त्रस का हो या स्थावर का, हिंसा कहते हैं। हिंसा की व्याख्या कारण और कार्य इन दो भेदों से की गई है। प्रमत्तयोग-रागद्वेष या असावधान प्रवृतिकारण है और हिंसा-कार्य। तात्पर्य यह है कि प्रमत्तभाव में होनेवाले प्राणीवधको हिंसा कहते हैं। ठीक इस से विरुद्ध अप्रमत्तभाव में रमण करते हुये रागद्वेषावस्था से परे रह कर प्राणी मात्र को कष्ट नहीं पहुंचाना अहिंसा है।

(२) सत्य—असदभिधानमनृतम्। असत्य बोलने को अनृत कहते हैं। भय, हास्य, क्रोध, लोभ, राग और द्वेषाभिभूत हो सत्य का गोपन करते हुये जो वचन कहा जाय वह असत्य है। और विचारपूर्वक, निर्भय हो, क्रोधादि के आवेश से रहित हो तथा अयोग्य प्रपंचों से रहित होकर जो वचन हित, मित और मधुर गुणों से समन्वित कर के कहा जाय वह सत्य है। वह सत्य भी असत्य है कि जो पराये को दुःखदायी सिद्ध हो। सत्य के श्री स्थानाङ्गसूत्र में दश प्रकार दिखलाये हैं:-१ जनपद सत्य। २ सम्मत्त सत्य। ३ स्थापना सत्य। ४ नाम सत्य। ५ रूप सत्य। ६ प्रतीत सत्य। ७ व्यवहार सत्य। ८ भाव सत्य। ९ योग सत्य और १० उपमान सत्य।

(३) अस्तेयः—"अदत्तादानं स्तेयम्" वस्तु के स्वामी की आज्ञा के विना ही वस्तु ग्रहण करना, फिर वह अल्प हो या बहुत, पाषाण हो या रत्न, छोटी हो या बड़ी,

---

६—दसविहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—

जणवय[१] सम्मय[२] ठवण[३] नामें[४] रूवे[५] पडुच्च सच्चे[६] य।
ववंहार[७] भाव[८] जोगे,[९] दसमें[१०] ओवम्मसच्चे[११] य॥

सजीव हो या अजीव उसको रागवश या द्वेष-वश हो कर लेना स्तेय-तस्कर वृत्ति है ! धन यह मनुष्यों का बाह्य प्राण है, अतएव उसे उसके स्वामी की आज्ञा के विना लेना प्रत्यक्ष रूप से हिंसा है ।

(४) ब्रह्मचर्यः—" मैथुनमब्रह्मः " मैथुनवृत्ति को अब्रह्म कहते हैं । याने कामवासनामय प्रवृत्तियों में प्रवर्तमान रहना अब्रह्म है और कामवासना की कुप्रवृत्तियों से त्रिकरण-त्रियोगतः परे रहना ब्रह्मचर्य है । श्रीसूत्रकृतांग सूत्र में कहा है कि—

" तवेसु उत्तमं बम्भचेरं "

तपों में उत्तम ब्रह्मचर्य है । श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र में ब्रह्मचर्य का महत्व दिखलाते हुये कहा गया है कि—" ब्रह्मचर्य का श्रेष्ठ प्रकार से परिपालन करने से शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, निर्लोभता और गुप्ति इन सब की आराधना सुलभ बनजाती है । ब्रह्मचारी को इस लोक मे और परलोक में यश-कीर्ति और लोक में विश्वासपात्रता मिलती है ।

(५) अपरिग्रहः—(अकिंचनता) मूर्च्छा परिग्रहः । संसार के समस्त लौकिक पदार्थों में मूर्च्छा-आसक्ति भाव रखना परिग्रह है । फिर वह भले अल्प हो या बहुत, सचित्त हो या अचित्त, अल्पमूल्य हो या बहुमूल्य । इन का संग्रह परिग्रह है । परिग्रह का त्याग अनासक्ति भाव से करना और उसकी फिर कभी त्रिकरण-त्रियोग से चाहना नहीं करना अपरिग्रह व्रत है । श्रीवीतराग-प्रवचन में परिग्रहवृत्ति (संग्रहवृत्ति) को आत्मा के लिये अत्यन्त घातक कहा गया है ।

जब से परिग्रहवृत्ति पोषित होती है, तभी से आत्मा का अधःपतन प्रारंभ हो जाता है और अपरिग्रहवृत्ति आत्मा को तृष्णा पर विजयी बना कर उन्नत बनाती है ।

जैनागमों में उक्त पांचों महाव्रतों की पांच पांच भावना कही गई हैं, जो महाव्रत पालक को अवश्य आदरणीय हैं ।

१ इर्यासमिति, मनोगुप्ती, वचनगुप्ती, आलोकित भोजन पान और आदानभण्डमात्रनिक्षेपन समिति, ये पांच भावनाएँ प्रथम (अहिंसा) महाव्रत की हैं ।

७—जम्मि य आराहियम्मि आराहियं वयमिणं सव्वं सील तवो य विणओ य सजमो य खंती मुत्ती गुत्ती तहेव य इहलोइय परलोइय जसे य किती य पच्चओ य ।

८ इरियासमिई । मणगुत्ती, वयगुत्ती आलोयभायणभोयणं आयाणभण्डमत्तनिक्खेवणा समिई ।

२ अनुविचिभाषण, क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भयप्रत्याख्यान और हास्य-प्रत्याख्यान, ये पांच भावनाएँ द्वितीय महाव्रत की हैं[9]।

३ अनुवीचि अवग्रह याचना, अभीक्ष्णावग्रहयाचना, अवग्रहावधारणा, साधर्मिकावग्रह याचना और अनुज्ञापित पानभोजन, ये पांच भावना तृतीय महाव्रत की हैं[10]।

४ स्त्री-पशु-नपुंमकसेवित शय्या-आसन त्याग, स्त्रीकथावर्जन, स्त्रीअंगप्रत्यंग-दर्शनत्याग, मुक्त-रति-विलास-स्मरणत्याग और प्रणीतरस-पौष्टिक आहार त्याग, ये पांच भावनाएँ चतुर्थ महाव्रत की हैं[11]।

५ श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शेन्द्रिय जन्य शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के विषय में अनासक्ति-राग का त्याग, ये पांच भावनाएँ पांचवें महाव्रत-अपरिग्रह व्रत की हैं[12]।

इस तरह उक्त पांच यमों (सार्वभौम महाव्रतों) की पांच पांच भावनाएँ हैं। वस्तुतत्व के पुनः पुनः अधिचिन्तन करने को भावना कहते हैं।

जिस प्रकार खड़ा किया हुआ तम्बू विना आधार(तनें) लगे नहीं ठहर कर, गिर जाता है, वैसे ही महाव्रतों को ग्रहण करने के पश्चात् उसे भावनारूप तने नहीं लगेंगे तो संभव है साधक साधना से च्युत हो जाय, अतः उक्त भावनाओं का अभ्यास साधक को करना अत्यावश्यक माना गया है।

उक्त पांचों महाव्रतों के विषय में जैनागम और पातंजलयोगदर्शन में प्रायः वर्णन-साम्यता है[13]। योग में अधिकार प्राप्त करने की इच्छा रखनेवालों का उक्त अहिंसादि पांच

---

९ अणुवितिभासणया, कोहविवेगे लोभविवेगे, भयविवेगे, हासविवेगे।

१० उग्गह अणुण्णावणया, उग्गहसीमजाणणया, सयमेव, उग्गहं, अणुगिण्हणया। साहम्मियउग्गहं, अणण्णविय परिभुंजणया, साहारणभत्तपानं अणुण्णविय परिभुंजणया।

११ इत्थीणं पसुपडगसंसत्तगसयणासणवज्जणया, इत्थी कहाविवज्जणया, इत्थीण इन्द्रियाणमालोयणवज्जणया, पुव्वरयपुव्वकीलियाणं अणणुसरणया। पणीताहारवज्जणया।

१२ सोइंदियरागोवरई, चक्खिंदियरागोवरई, घाणिंदियरागोवरई, जिब्भिंदियरागोवरई, फासिंदियरागोवरई।
—(श्रीसमवायांगसूत्र)

१३-" एसा सा भगवति अहिंसा जासा भीयाण विव सरण पक्खीणं पिव गमणं, तिसियाण पिव सलीलं खुहियाण पिव असण समुद्दमज्झमेव पोतवहण, चउप्पयाणं व आसमपय, दुहट्टियाण च ओसहि-बलं, अडविमज्झे विसत्थगमणं " आदि-(श्रीप्रश्नव्याकरण सूत्र)

" तत्र हिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रति-पादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तम्-स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमान. तामेवावदातरूपां अहिंसां करोति "
(व्यासकृत भाष्य २-३०)।

यमों का यथावत् पालन करना प्रथम कर्त्तव्य है। जब साधक व्यक्ति अहिंसादि के सुगमानुष्ठानार्थ एतद्विरोधि हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रहवृत्ति का सर्वथा त्याग कर देता है, तब उसे एक अनुपम आनन्द प्राप्त होता है जिसका वर्णन अवर्णनीय है।

२ नियम--योग का द्वितीय अंग है नियम। ईप्साओं पर विजय प्राप्त करने की दृष्टि से शास्त्रकार महर्षियोंने अनेक विधि-विधान (नियम) बतलाये हैं। जिन का योग्य प्रकार से विधिवत् पालन करने से मन आत्मरमण में लीन हो कर कर्म-संवर में अग्रसर होता है। पातंजलयोगदर्शन में 'नियम' पांच प्रकार का कहा गया है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और देवप्रणिधान।

शरीर और चित्त की शुद्धि का नाम 'शौच' है। जीवन सुखपूर्वक यापन-व्यतीत हो उतने हीं पदार्थों से अधिक के लिये तृष्णा से उत्पीड़ित नही होना 'संतोष' है। छः प्रकार का बाह्य और छः प्रकार का आभ्यन्तर तप विना किसी फलप्राप्ति की आकांक्षा से करना 'तप' है। आर्षर्षिप्रणीत शास्त्रों का परम विशुद्ध चित्त होकर पठन करना 'स्वाध्याय' है। आगमविहित समस्त धर्मानुष्ठानों में चराचर समस्त प्राणिहितचिन्तक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्री वीतराग की दर्शन-पूजन कर उनका ध्यान किसी ईप्सा से प्रेरित होकर नहीं करना 'देवप्रणिधान' है। पंचमांग-श्री व्याख्यानप्रज्ञप्ति-श्री भगवतीसूत्र मे नियमान्तर्गत 'शौच' 'स्वाध्यायादि' का वर्णन यों आया है:-हे भगवन्त, आप की यात्रा क्या है? । सोमिल ! तप, नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यकादि मे जो प्रवृत्ति है, वह मेरी यात्रा है[१४]।

शोच से आत्मदर्शन की योग्यता, सतोप से उच्चस्तरीय आत्मसुख की प्राप्ति, स्वाध्याय से इष्टदर्शन का समय, तपस्या से ईप्साओं पर विजयप्राप्ति और प्रणिधान से आत्मसमाधि की प्राप्ति होती है। नियम इतना ही सीमित नही है, अपितु जैनागमों में इसका अतीव व्यापक अर्थ किया गया है-श्री समवायांगसूत्र की ३२ वी समवाय में ३२ योग-[१५]संग्रह में नियम ही की तो झलक प्रस्फुटित होती है।

१४...से किं ते भन्ते ! जत्ता ! सोमिला ! ज मे तवनियमसजमसज्झायझाणावस्सयमादीएसु जोगेसु जयणा सेत्त त्ता........॥ ('श्रीभगवतिसूत्र शतक १८, १० वॉ उद्देश)

१५ बत्तीस जोगसगहा पण्णत्ता। त जहा:—१ आलोयण २ निखलावे। ३ आवईसुदढ्धम्मया, ४ अणिस्सिओवहाणे य, ५ सिक्खा ६ निप्पडिकम्मया, ७ अण्णायया, ८ अलोभे य, ९ तितिक्खा १० अज्जवे ११ सुई १२ सम्मदिट्ठो १३ समाहीय, १४ आयारे, १५ विणओवए १६ विईमईय १७ सवेगे, १८ पणिही १९ सुविहि २० संवरे। २१ अत्तदोसोवसहारे, २२ सव्वकामविरत्तया। २३-२४ पच्चक्खाणे २५ विउस्सग्गे २६ अप्पमादे २७ लवालवे। २८ झाणसवरजोगेय, २९ उदए मारणंतिए। ३० संगाणं च परिण्णाया, ३१ पायच्छित्तकरणेऽविय। ३२ आराहणाय मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा।

(२) बाहर से वायु भीतर खींचना 'पूरक' प्राणायाम है।

(३) हवा को नाभिमंडल में कुम्भ की तरह स्थिर करना 'कुम्भक' प्राणायाम है।

(४) वायु को नाभि आदि स्थानों से खींच कर हृदयादि में लेजाना 'प्रत्याहार' प्राणायाम है।

(५) तालु, नाक तथा मुख में वायु को रोकना। 'शान्त' प्राणायाम है।

(६) बाहर से हवा को खींच कर ऊपर ही हृदयादि में अवरुद्ध करना 'उत्तर' प्राणायाम है।

(७) बाहर से खीची हुई हवा को नीचे ले जाना 'अधर' प्राणायाम है।

उक्त प्राणायाम से साधन कर्त्ता को शारीरिक लाभ मिलता है। इसका विस्तृत वर्णन श्री हेमचन्द्रसूरिप्रणीत श्रीयोगशास्त्र के पांचवें प्रकाश से जानना चाहिये। हाँ, प्राणायाम का विषय जैनागमों में विस्तार से कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति में "ऊसासं ण णिरुंभइ" कह कर श्वासोश्वास को बलात्-रोकना निषिद्ध किया गया है। जैन योग मार्ग में प्राणायाम को अनावश्यक माना गया है। प्राणायाम को जितना हठयोग में स्थान मिला है उतना राजयोग में नहीं। प्राणायाम का सच्चा अर्थ यों है:—बाह्यभाव का त्याग रेचक है; अन्तर्भाव की पूर्णता पूरक और समभाव में स्थिरता तथा विषमभाव का त्याग कुम्भक है। वास्तव में इस भाव प्राणायाम का जितना अभ्यास श्रेष्ठ और हित-साध्य है उतना उक्त द्रव्य (रेचक पूरकादि) प्राणायाम से नहीं।

५ प्रत्याहार—योग का पाँचवां अंग प्रत्याहार है। चित्त और इन्द्रियों को समस्त बाह्य एवं शब्द, रूप, रस, गन्ध, वर्ण और स्पर्शादि से निवृत्त कर अन्तर्मुख करना प्रत्याहार है। "प्रतिकूलः आहारवृतिः प्रत्याहारः" अर्थ यह कि इन्द्रियों की बाह्यमुखता क्षय हो जाने पर वे सब अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब प्रत्याहार सम्पन्न होता है। प्रत्याहार के अभ्यास से आत्मा समभाव में स्थिर हो कर निज ध्येय पर स्थित होने के योग्य हो जाती है। यह इस योगांग-प्रत्याहार की विशेषता है। जैनागमों में प्रत्याहार के स्थान पर प्रतिसंलीनता शब्द आया है। यह बारह तपों में से छः प्रकार के बाह्यतपों में छट्ठा तप है। इसका वही अर्थ है जो प्रत्याहार का है। प्रतिसंलीनता चार[१९] प्रकार की है:—

"१ इन्द्रियप्रतिसंलीनता, २ कषायप्रतिसंलीनता, ३ योगप्रतिसंलीनता और ४ विविक्तशय्यासनसेवनता!"

---

१९ से किं तं पडिसंलीणया? चउव्विहा पण्णत्ता तंजहा:—१ इंदियपडिसलीणया २ कषायपडिसंलीणया ३ जोगपडिसंलीणया ४ विवित्तसयणासणसेवणया, आदि (औपपातिक सूत्र)

(१) इन्द्रियप्रतिसंलीनताः—स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांचों इन्द्रियों को उनके २३ विषयों में प्रवृत्त होने से रोकना और मिले हुये विषयों से राग-द्वेष रहित होना इन्द्रियप्रतिसंलीनता है। इसके स्पर्शेन्द्रियप्रतिसंलीनता, रसनेन्द्रियप्रति-संलीनता, घ्राणेन्द्रियप्रतिसंलीनता, चक्षुरिन्द्रियप्रतिसंलीनता और श्रोत्रेन्द्रियप्रतिसंलीनता, ये पांच भेद हैं।

(२) कषायप्रतिसंलीनताः—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। इसके उदय देनेवाले कारणों से परे रहना और उदित होने पर विफल बनाने का प्रयत्न करना कषायप्रतिसंलीनता है। इसके क्रोधप्रतिसंलीनता, मानप्रतिसंलीनता, मायाप्रति-संलीनता और लोभप्रतिसंलीनता ये चार प्रकार हैं।

(३) योगप्रतिसंलीनताः—मन, वचन और काया की योग संज्ञा है। अकुशल वाणी और अकुशल मनका अवरोध कर कुशलवाणी और कुशल मन की प्रवृत्ति तथा शरीर के अंगोपांगों से व्यर्थ ही कुचेष्टा नहीं करना योग प्रतिसंलीनता है! इसके मनयोग-प्रतिसंलीनता, वचनयोगप्रतिसंलीनता और काययोगप्रतिसंलीनता ये तीन भेद हैं!

(४) विविक्तशय्यासनसेवनताः—आरामस्थलों में, उद्यानों में तथा देवकुलों आदि में और स्त्री, पशु, पंडगसंसक्त रहित गृहों में सोना, बैठना, ध्यान करना विविक्तशय्यासन-सेवनता है। इसका विशेष वर्णन भगवतीसूत्र के २५ श. ७ उ: में देखना चाहिये।

६ धारणा—'अवगतार्थविशेषधारणं धरणा।' भ. सू.। याने जानी हुई बात को विशेषरूप से हृदय में धारण करना है। ध्येय देश पर चित्त को संस्थापित करके उसे एकाग्र करना यह धारणा है। चित्त सदा चंचल वृत्ति है। धारणा योग की साधना होने पर यह चित्त चंचल वृत्ति से दूर हो कर एकाग्रचित्त होता है याने चपलता का क्षय होता है। जब चपलता का संक्षय होता है चित्त एकाग्रचित्त होकर शुभ की ओर बढ़ता है। जैनागमों में एक पुद्गल विशेष पर, सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ पर दृष्टि को स्थिर कर के मन की एकाग्रता सम्पादनार्थ धारणा का समर्थन किया गया है[२१]।

---

२० तिविहे जोग पण्णत्ते तं जहा—'मणजोगे, वयजोगे, कायजोगे' (श्रीस्थानाङ्गसूत्र ३ स्थान)

२१ श्रीदशाश्रुतस्कंदसूत्र में-एगराइय भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकायेणं जाव अहियासेइ। कप्पइ से णं अट्ठमेण भत्तेणं अप्पाणएणं बहियागामस्स वा जाव रायहाणिस्स वा इसिपब्भारगएणं काएणं एगपोग्गलठितीएदिट्ठीए अणिमिसनयणे अहापणिहिएहिं गुत्तेहिं सव्विंदिएहिं दो वि पाए साहट्टु वग्घारिय पाणिमस्स ठाणं ठाइत्तए

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये योग के पांच अंग प्रथम अधिकारियों के लिये हैं। याने योग की प्रक्रिया से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिये अतीव उपयोगी हैं और अन्त के धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अंग मध्यम तथा विशिष्ट अधिकारियों के लिये अत्यावश्यकीय हैं।

७ ध्यान--यह योग का सप्तम अंग है। योग के यमादि सर्वांगों में यह विशिष्ट है। इस अंग को योगसर्वस्व भी कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जैनागमों में ध्यान के चार[22] भेद दिखलाये हैं–आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

आर्त्तध्यानः--दुःख के निमित्त या उस में होनेवाले सन्ताप को, मनोज्ञ वस्तु के वियोग एवं अप्रिय वस्तु के संयोग से चित्त में होनेवाली घबराहट को और मोहवश राज्योपभोग, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गन्ध, माला, मणि और रत्नमय आभूषणों में होनेवाली उत्कट अभिलाषा को आर्त्तध्यान कहते हैं। अथवा दुःख के लिये या दुःख में होनेवाला ध्यान आर्तध्यान है। या आर्त याने दुःखी प्राणी का जो ध्यान वह आर्तध्यान है। आर्त्तध्यान के चार[23] भेद हैं।

(१) अनिष्टसंयोग–आर्तध्यानः--जो निज चित्त को प्रिय नहीं हैं या अनिष्ट हैं ऐसे शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श विषयक तथा इनकी साधनभूत वस्तुओं का सयोग होने से उनके वियोग और उनका भविष्य में कभी संयोग नहीं होने के लिये प्रत्येक समय पुनः पुनः विचार करना अनिष्टसंयोग–आर्तध्यान है।

(२) इष्टसंयोग–आर्तध्यानः—जो अपने मन को प्रिय–मनोज्ञ हैं या इष्ट हैं ऐसे पांचों इन्द्रियों से सम्बन्धित विषयों का संयोगे होने और सयोग होने पर भविष्य में कभी भी वियोग नहीं होने की चिन्ता–इच्छा करते रहना तथा चित्त को उन्हीं में मग्न रखना इष्टसंयोग–आर्तध्यान है।

(३) रोगचिन्ता–आर्तध्यानः—नाना भाँति के बाह्य शारीरिक रोगों (भयंकर या

---

२२ चत्तारी झाणा पण्णत्ता। तं जहा–अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे
(श्रीस्थानाग सूत्र ४ स्था० १ उद्देशो)

२३ अट्टज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा–१ अमणुण्णसपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसत्ति समण्णागए यावि भवई। २ मणुण्णसपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसत्तिसमण्णागए यावि भवई। ३ आयकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसत्ति समण्णागए यावि भवई। ४ परिजुसियकामभोगसपउत्ते तस्स अविप्पओगसत्तिसमण्णागए यावि भवई।

अल्प) से या मानसिक व्याधियों से आक्रान्त होने पर उनसे मुक्त होने की सतत चिन्ता करना और अरोग होने पर भविष्यकाल में रोगाक्रान्त नहीं होने की चिन्ता करते रहना रोगचिन्ता-आर्तध्यान है।

(४) निदान-आर्तध्यानः—देव सम्बन्धी रूप, गुण, ऋद्धि का वर्णन देख या सुन कर या चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेवादि की ऋद्धि का वर्णन सुन कर उसे प्राप्त करने का तथा अपने किये तप और पालन किये संयम के फलरूप में उक्त देव एवं मनुष्य-सम्बन्धी सुख मिलने का निदान करना निदान-आर्तध्यान है। आर्तध्यान के चार लक्षण हैं[२४]-आक्रंदन, शोचना, तेपनता और परिवेदना।

रौद्रध्यानः—हिंसा, असत्य, चोरी और द्रव्यरक्षा में लीन रहना रौद्रध्यान है। अथवा-छेदन, भेदन, काटना, मारना, वध करना, दमन करना इत्यादि कार्यों में जो राग-भाव रखता है और जिसमें दयाभाव नहीं है, उस पुरुष का जो ध्यान सो रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं[२५]—

(१) हिंसानुबन्धी-रौद्रध्यान—कर्मवश दूसरे जीव दुःखी होते हैं, तब उन्हें देख कर प्रसन्न होना। निज स्वार्थवश या कौतुकवश दुःख देना, सताना या ऐसे उपाय करना कि जिससे वे विशेष दुःखी होवे। उन्हें दुःख दे कर आप प्रसन्न होना। असहाय जीवों को मारना या मरवाना और मारनेवालों के कार्यों की अनुमोदना कर प्रसन्न हो कर दूसरों को ऐसे निकृष्टतम कार्यों को करने की प्रेरणा देना, दुःखी प्राणियों को दुःखी देख कर ईर्ष्या करना और हिंसा के कार्यों में लीन रहना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।

(२) मृषानुबन्धी-रौद्रध्यानः—जिस वचन में केवल असत्य भाषा का ही व्यव-हार होता हो उसे मृषावाद कहते हैं। असत्य भाषण-हलाहल झूठ बोल कर दूसरों को व्यथित करना। परवंचन-धूर्त्तता कर प्राणियों को भूलावे में डाल कर ठग लेना और उनको दुःखी देख कर निजपरवंचन कला पर गर्व करना। परप्रतारणता-दूसरों को अकारण वध-बंधन में डाल कर क्रोधान्ध हो मारना। विश्वासघात-निज भोगेच्छाओं को सन्तुष्ट करने के लिये दूसरों को अपनी श्रेष्ठता दिखला कर विश्वास पैदा करके अन्त में धोखा देना। यह मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

---

२४ अट्टस्स णं ज्झाणस्स-चत्तारी लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा-१ कंदणया। २ सोयणया। ३ तिप्पणया। ४ विलवणया।

२५ रुद्दज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-१ हिंसाणुबंधी। २ मोसाणुबन्धी। ३ तेणाणुबंधी। ४ सारक्खणाणुबन्धी।

(३) स्तेनानुबन्धी-रौद्रध्यानः—हृदय में नित्य परधनहरण का विचार करना, करवाना और करनेवाले को भला मान कर उसकी अनुमोदना करना, स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान है।

(४) विषयसंरक्षणानुबन्धी-रौद्रध्यानः—संचित धन को कैसे सम्भाला जाय, इसे ऐसे स्थान पर रक्खूँ कि चोर नहीं ले जाय, ऐसी २ योजना बनाऊं कि जिसके सफल होने पर वहुत धन का स्वामी बनजाऊं, फिर अनेक प्रकार के बड़े-बड़े विशाल भवन बना कर उसमें निवास करूं और पांचों इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों के सुख भोगूँ तथा महारूपवती, नवयौवना, परममनोहर लीलावाली कामकेलीपंडिता ऐसी रमणियों के साथ पाणिग्रहण कर पंचविध भोग भोगूँ। ऐसे विचारों में प्रतिदिन रह कर ऐसे ही प्रपंचों में लगा रहना विषयसंरक्षणानुवन्धी रौद्रध्यान है।

रौद्रध्यान के चार लक्षण[२६] हैं:—उत्सन्नदोष, वहुलदोष, नाना(अज्ञान)दोष और आमरणदोष।

संसार के समस्त प्राणियों का अधिक भाग संसारभ्रमण के कारणभूत इन आर्तरौद्र की भीषण दुःखदायी जाल में फंसकर संसार में भ्रमण करते हैं। कोई अनिष्टसंयोग होने से उसका वियोग कैसे हो? इसके लिये चिन्तित हैं। कोई इष्टका वियोग होने से उसके संयोग के लिये उत्सुक हैं। तो कोई रोग के आतंक से उत्पीड़ित हैं। कोई ऐच्छिक विषयभोग के साधन संजुटित करने की दौड़में संलग्न हैं। कोई हिंसा के ताण्डव में लीन हैं। तो कोई असत्य भाषण में पटु हैं। कोई परधनहरण में दक्ष हैं। कोई सुखभोग के पीछे पागल हो रहे है। यह सारा ताण्डव आर्तरौद्र का ही है। वास्तव में ये दोनों ध्यान योगमार्ग में बाधक हैं। शास्त्रकारों ने इन का वर्णन इसी आशय से किया है कि—

साधक को योग मार्ग में प्रवृत्त होते हुए, आत्महित के लिये इन का (आर्त-रौद्र) त्याग करना चाहिये। अतएव जिसका त्याग करना है; उसके गुण-दोषों को भली प्रकार सोच लेना चाहिये कि हम इनका त्याग क्यों कर रहे हैं।

इन दोनों ध्यानों को दुर्ध्यान भी कहते हैं। श्री आतुर प्रत्याख्यान-प्रकीर्ण में इन के ६३ भेद भी “ अन्नाणझाणे ” आदि पाठ से कहे हैं। श्री आवश्यक सूत्र में आर्त

---

२६ रुद्दस्सणं ज्झाणस्स चत्तारी लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—१ उसण्णदोसे २ वहुदोसे। ३ अण्णाणदोसे। ४ आमरणंतदोसे।

और रौद्रध्यान को भवभ्रमण का कारण[27] और आर्त को तिर्यंचगतिप्रद तथा रौद्रध्यान को नरकगति का देनेवाला भी कहा गया है[28]।

धर्मध्यानः—आर्तध्यान और रौद्रध्यान जिस प्रकार अप्रशस्त हैं, वैसे ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त एवं क्रमशः देवगति और निर्वाणप्राप्ति में सहायक हैं[29]।

महाव्रतों का पालन करना, सूत्रों के अर्थों को जानना, बन्ध–मोक्ष तथा गमनागमन के हेतुओं का विचार करना, इन्द्रियों के २३ विषयों से पराङ्मुख होना, प्राणीमात्र पर दयाभाव रखना–धर्मध्यान है। अथवा आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के चिन्तन में मन को एकाग्र बनाना–धर्मध्यान है।

ध्यान सालम्बन और निरालम्बन है। तभी तो पहले साधक व्यक्ति को सालम्बन ध्यान में प्रवृति करनी होती है। जब वह सालम्बन ध्यान में प्रवीण हो जाता है, याने जब साधक धर्मध्यान से चित्त की एकाग्रता और निश्चलता सम्पादन करलेता है, तब शुक्ल ध्यान में उसका प्रवेश हो सकता है। इसी लिये योगमार्ग में पैठनेवाले मुमुक्षु जीवों को आत्मतत्त्व के मननार्थ धर्मध्यानगत वस्तुतत्त्व का चिन्तन कर मानसिक एकाग्रता एवं स्थिरता सम्पादन कर ही लेना चाहिये। ऐसा करने पर ही स्थूल से सूक्ष्म और सालम्बन से निरालाम्बन में प्रवेश शीघ्र हो सकता है। इसी आशय से परमपूज्य शास्त्रकारोंने शुक्लध्यान से पहले धर्मध्यान का निरूपण किया है।

धर्मध्यान के चार भेद हैं:—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

(१) आज्ञाविचयः–आज्ञा का अर्थ है परमज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् श्री वीतराग का आदेश। विचय का अर्थ है विचारना, चिन्तन करना और सोचना याने अनेकान्त का ज्ञान करानेवाली निर्दोप नयभंग और प्रमाण से गहन जिनाज्ञा को सर्वथा सत्य मानकर उस में प्रतिपादित तत्वों का चिन्तन करना।

श्री जिन–वीतरागप्ररूपित तत्वों का चिन्तन–मनन–अध्ययन करते समय यदि ज्ञानावरणीय कर्मोदय से तद् अर्थ समझ में नहीं आवे तो उसके लिये मन को शंकित नहीं

---

२७ भवकारणमट्टरुद्दाई। २८ अट्टेणतिरिक्खगतिं, रोद्दझाणेणगम्मत्ति नरयं।

२९ धम्मेण देवलोय, सिद्धिगतिं सुक्कज्झाणेण।

३० धम्मज्झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते तं जहा—
आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए।

करते हुए सोचना कि यह तत्त्ववार्ता श्री वीतराग भगवान् प्ररूपित होने से सत्य ही है; इसमें किसी प्रकार के असत्य को स्थान नहीं है। अत एव इसको न समझना मेरे कर्मों का ही दोष-अंतराय हैं। इस प्रकार सोच कर श्रीवीतरागभाषित तत्त्वों का चिन्तन-मनन करना और नहीं समझ सके ऐसे गूढ़ विषयगर्भित तत्त्वों की सत्यता के लिये चित्त को शंकित नहीं बना कर मन को एकाग्र बनाना आज्ञाविचयधर्मध्यान है।

(२) अपायविचयः—इस संसार में जीव को चारों गति में भ्रमण करानेवाले राग, द्वेष, कषाय और मिथ्यात्व हैं।

रागद्वेषरूपी अग्नि से संतप्त हुआ प्राणी ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध कर कभी नरक में, कभी निगोद में, कभी तिर्यंच में, कभी वनस्पति में, तो कभी मनुष्य योनि में, कभी देवयोनि में भटकता रहता है और निज आत्मशक्ति को भूल कर आत्मवंचन करता रहता है। अतः परमदयालु श्रीवीतराग प्रभु ने राग-द्वेष को संसार के भ्रमण का कारण बतलाया है।

क्रोध, मान, माया और लोभ भी यदि पराजित नहीं किये गये तो ये जीव को संसार-भ्रमण ही करवानेवाले हैं। अर्थात्-चारों कषाय संसाररूपी वृक्ष के मूल का सिंचन करनेवाले हैं। अज्ञान भी आत्मा का कम नुकसान करनेवाला नहीं है। जीव अज्ञान के वश हुआ अपने हिताहित को नहीं जान सकता।

इन राग-द्वेष, कषाय और अज्ञान के गर्त में गिरा हुआ प्राणी चारों गतियों में परिभ्रमण करता हुआ महारौद्र दुःख का भाजन बनता है। इस प्रकार राग-द्वेष और कषायादि के दुःखों का परिचिन्तन कर चित्त को धर्मध्यान में संलग्न करना अपायविचय धर्मध्यान है।

(३) विपाकविचयः—आत्मा परम विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वरूप है। उस पर ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का आवरण आ जाने से उसका सच्चा स्वरूप प्रकाशित नहीं होता। जिस प्रकार धधकता आग का अंगारा राख के कणों के आवरण से आवरणित हो जाता है, तब नहीं दीख पड़ता, उसी प्रकार परम विशुद्ध आत्मा कर्ममल से आवरणित होने के कारण दब जाती है याने नहीं दिखती है। उसे जो संयोग, वियोग, संपत्ति-विपत्तिजन्य सुख दुःख भोगना पडता है, वह सब उस (आत्मा) के निजोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का ही फल है। आत्मा को उसके पूर्वभवके संचित्त कर्म ही नरक, निगोद, तिर्यंच, देव और मानव गतियों में घुमा कर सुख-दुःख देते हैं। कर्मों के सिवाय उसे दूसरा कोई सुख-दुःखदाता है नहीं।

आत्मा की जुदी जुदी अवस्थाएँ भी उसके अपने पूर्वभवों के संचित शुभाशुभ कर्मों का ही फल हैं। इस प्रकार कषाय एवं योगजनित शुभाशुभ कर्म, प्रकृति, बन्ध, स्थिति, उदयोदीरणा, सत्ता आदि कर्मजन्य विपय का परिचिन्तन कर आत्मा को एकाग्र करना विपाकविचय धर्मध्यान है।

(४) संस्थानविचयः—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायादि द्रव्य और उनकी पर्यायादि, जीव-अजीव के आकार, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, लोकस्वरूप, पृथ्वी, द्वीप, सागर, नरक, भवन, विमानादि के आकार, लोकस्थिति, जीव की गत्यागति, जीवन, मरण के समस्त सिद्धान्तों का अविचिन्तन कर आत्मा को उनसे अलग करना संस्थानविचयधर्मध्यान है।

धर्मध्यान के[३१] चार लक्षण हैं:—आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, उपदेशरुचि और सूत्ररूचि।

धर्मध्यान के[३२] चार आलंबन हैं—वांचना, पृच्छना, परिवर्तना और धर्मकथा। धर्मध्यान की[३३] चार अनुप्रेक्षा हैं—अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा।

इस प्रकार चार भेद, चार लक्षण, चार आलम्बन और चार अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) से धर्णध्यान पूर्वतया परिपालित किया जा सकता है।

धर्मध्यान ध्याने से क्रमशः लेश्याओं की शुद्धि, वैराग्य की संप्राप्ति और शुक्लध्यान ध्याने की योग्यता प्राप्त होती है। धर्मध्यान ध्याने से मानसिक शान्ति और स्थिरता प्राप्त हो जाने से शुक्लध्यान में प्रवेश सुगम हो जाता है।

शुक्लध्यानः—पूर्वगत श्रुत के आधार पर मन की जो अत्यन्त स्थिरता और योगों का निरोध सो शुक्ल[३४]ध्यान है। अथवा जो ध्यान[३५] आठ प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय के कर्ममल को दूर करता है या शोक को नष्ट करता है वह शुक्लध्यान है।

शुक्लध्यान के[३६] चार भेद हैं—१ पृथकत्व-वितर्कसविचारि। २ एकत्ववितर्कअविचारी। ३ सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति और ४ समुच्छिन्नक्रियाअप्रतिपाति।

---

३१ धम्मस्स ण ज्झाणस्स चत्तारी लक्खणा पण्णत्ता। तं जहा—आणारुई, णिसग्गरुई, उवएसरुई, सुत्तरुई।

३२—धम्मस्स णं ज्झाणस्स चत्तारी आलंवणा पण्णत्ता तं जहा—वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा, धम्मकहा।

३३ धम्मस्स ण ज्झाणस्स चत्तारी अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, एगत्ताणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।

३४—समवायांगसूत्र ४ समवाय। ३५ स्थानांगसूत्र ४ स्थान।

३६ सुक्कज्झाणे चउविहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते। तं जहा पुहुत्त वियक्के सवियारी एगत्तवियक्के अवियारी, सुहुमकिरिए अप्पडिवाई, समुच्छिन्नकिरिए अणियट्टी।

(१) पृथकत्व-वितर्कसविचारी:—एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का भिन्न-भिन्न प्रकार से विस्तृत प्रकारेण पूर्वगत श्रुत के अनुसार द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक इत्यादि नयों से चिन्तन करना पृथक्त्ववितर्कसविचारी शुक्लध्यान है। यह ध्यान विचारपूर्वक होता है, तभी इसे सविचारी याने विचारपूर्वक होनेवाला कहा गया है। विचार का स्वरूप है-शब्दतः शब्द में अर्थतः अर्थ में और एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होना। यह ध्यान पूर्वधर को होता है। तथा माता मरुदेवी की तरह जो पूर्वधर नहीं हैं उन्हें अर्थ-व्यंजन और योगों में परस्पर संक्रमणरूप यह ध्यान होता है।

धर्मध्यान में अभी तक जो बाह्य वस्तुओं का अवलम्बन था वह इस ध्यान में मात्र श्रुत का ही अवलम्बन है।

(२) एकत्व-वितर्कअविचारी:—पूर्वश्रुत का आधार लेकर उत्पादादि पर्यायों के एकत्व याने अभेद से किसी एक पदार्थ-पर्याय का स्थिरचित्त से चिन्तन करना एकत्ववितर्कअविचारी शुक्लध्यान है। इस ध्यान में एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक शब्द से दूसरे शब्द में और एक योग से दूसरे योग में संचरण नहीं होता, अपितु ध्याता किसी एक पर्याय रूप अर्थ को लेकर मन, वचन और काया के किसी एक योग पर स्थिर होकर अभेद प्रधान चिन्तन करता है, यही एकत्ववितर्कअविचारी शुक्लध्यान है। इस ध्यान के ध्याता का चित्त, इस ध्यान से चित्तगत चांचल्य भावना सर्व प्रकारेण विनष्ट होकर, एकाग्र और निरोधरूप परिणाम को प्राप्त हो निष्प्रकम्प हो जाता है। जब साधक की उक्त स्थिति हो जाती है, तब उसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और मोहनीय इन चार घनघाती कर्मों का क्षय हो कर परम श्रेष्ठ ज्ञान (केवलज्ञान) प्राप्त होता है। यह परम ज्ञान प्राप्त होने पर साधक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग बन कर त्रिलोक (स्वर्ग-मर्त्य--पाताल) का पूज्य बन कर प्राणीमात्र का शरण बन जाता है।

(३) सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती:—जब केवली भगवान त्रयोदशम (सयोगी केवली) गुणस्थान को प्राप्त होते हैं, तब वे आयु के अन्तिम भाग में योगावरोध प्रारम्भ कर सूक्ष्म काययोग को रख कर शेष सब का निरोध करते हैं। उस समय श्वासोश्वास की सूक्ष्मतम क्रिया ही शेष रह जाती है, जिसमें पतन की किंचित्मात्र भी संभावना नहीं। इसी को सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती शुक्लध्यान कहते हैं।

(४) समुच्छिन्नक्रियाअप्रतिपाती:—यह शुक्लध्यान का अन्तिम चरण है, जो चतुर्दशम (अयोगी केवली) गुणस्थान में प्राप्त होता है। यह अन्तिम गुणस्थान है। जिस

समय श्वासोश्वास जैसी सूक्ष्मतम क्रिया का भी निरोध हो जाता है और समस्त आत्मप्रदेशों का हलन-चलनादि प्रकम्पन व्यापार भी परिसमाप्त हो जाता है, तब समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान सिद्ध होता है। इस अवस्था को प्राप्त साधक की आत्मा समस्त मानसिक, वाचिक और कायिक सूक्ष्म और स्थूल व्यापारों से अलग हो नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय इन चार अघाति कर्म को विनष्ट कर, शैलेसीकरण कर चार ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ) उच्चारण मात्र समय में निर्मल निष्क्रिय स्वरूप हो सम्पूर्ण सुखरूप मोक्षपद को प्राप्त होता है। यही मानव का चरम लक्ष्य है। यहाँ से आत्मा का संसार में पुनरागमन नहीं होता। सारांश यह है कि पृथकत्ववितर्कसविचारी ध्यान समस्त योगों में होता है। एकत्ववितर्कअविचारी किसी एक योग में और सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती मात्र काययोग में होता है और समुच्छिन्नक्रियाअप्रतिपाती अयोगी को ही होता है। छद्मस्थ के मन को निश्चल करना और केवली की काया को निश्चल करना ध्यान कहाता है।

शुक्लध्यान के चार लक्षण, चार आलम्बन और चार अनुप्रेक्षा हैं। विवेक, व्युत्सर्ग अव्यथं, असम्मोह ये चार लक्षण। क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव ये चार आलम्बन। अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा और अपायानुप्रेक्षा ये चार अनुप्रेक्षा (भावना) हैं।

जब साधक शुक्लध्यान ध्या कर केवलज्ञान प्राप्त करता है, तब उसमें समाधियोग भी संपूर्ण रूपेण होता है याने समाधि योग का आविर्भाव ध्यानयोग में हो जाता है। आगमों में समाधि का कहीं धर्मध्यान अर्थ किया है तो कहीं ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना का अर्थ किया गया है। तात्पर्य है कि समाधि का समावेश ध्यान में ही हो जाता है। जैन दृष्टि से योग का ही दूसरा नाम ध्यान है; अतः जैन दृष्टितः ध्यान योग में ही समाधि योग का आविर्भाव हो जाता है।

उपसंहार,—यद्यपि यहां योग का उक्त स्वरूप जैन पद्धत्यनुसार यत्किंचित् रूप में आलेखित है। इसे अवलोकन करने पर वाचकों को ज्ञात होगा की जैनागम और पातंजल योगदर्शन इस विषय को लगभग समानरूप से प्रतिपादित करते हैं। मात्र दोनों की वर्णनशैली ही भिन्न है।

---

३७ सुक्कस्सण झाणस्स चत्तारी लक्खणा पण्णत्ता। तंजहा—विवेके। विउसग्गे। अव्वहे, अस्समोहे।

३८ सुक्कस्सणं झाणस्स चत्तारी आलंवणा पण्णता। तं जहा-खती गुत्ती मुत्ती अज्जवे मद्दवे।

३९ सुक्कस्सणं झाणस्स चत्तारी अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ तं जहा—अवायणुप्पेहा, असुभाणुप्पेहा, अणंतवत्तियाणुप्पेहा, विपरिणामाणुप्पेहा। से तं झाणे। (श्री उववाई सूत्र)

आचार्य श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी महाराजने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का योग विषयक साहित्य में भी पूरा परिचय दिया है । आप अपने समय के उच्च कोटि के विद्वान् थे। आपने प्राचीन समय से आती हुई योगधारा को सम्पूर्ण रूपेण जो नूतन काया प्रदान की है वह परम अनुपम है ।

आपका निर्मित योग साहित्य इस समय चार ग्रन्थों (षोडशक प्रकरण, योगविंशतिका, योगदृष्टिसमुच्चय और योगविन्दु) में प्राप्त है । जिनमें आचार्य भगवान्ने एक ही योग (अध्यात्म) का भिन्न-भिन्न प्रकारेण विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। जिस प्रकार उक्त पातंजल योगदर्शन में आठ अंग योग के बतलाये हैं वैसे ही आचार्यश्रीने मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा, ये आठ अंग बतलाये हैं । उक्त प्रत्येक अंग में यम नियमादि का समावेश हो जाता है । इस विषय का विशेष ज्ञान प्राप्त करनेवालों को उक्त ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिये ।

हाँ, वाचक वर्ग को इस लेख में जो त्रुटि ज्ञात हो वह मेरे लिये रख दें और ग्राह्य जो हों वे पूर्वाचार्यों का प्रदत्त समझ कर निज जीवन में व्यवहृत कर आत्मविकास की साधना करने का प्रयत्न करें यही अभिलाषा है ।

४० इस लेख में इन ग्रंथों का साभार उपयोग किया गया है ।
श्री स्थानांग सूत्र , श्री समवायांग सूत्र, श्री उववाइसूत्र, श्री जैनागमों में अष्टांग योग ।

जिन, जैनागम और जैनाचार्य

जैनागमानाम्परिचयः ।

सा० वि० जैनाचार्य श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरीश्वरान्तेवासी–
पं० मुनिश्री कल्याणविजयजी—राजगढ़ (मध्यभारत)

' अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं '

सूत्राऽपेक्षया गणधरकर्तृकत्वेऽपि समयस्यार्थापेक्षया भगवत्कर्तृकत्वाद् वाच्यवाचकभावो न विरुध्यते ।

उक्तञ्च–श्रीवर्द्धमानाद् त्रिपदीमवाप्य, मुहूर्तमात्रेण कृतानि येन ।
अङ्गानि पूर्वाणि चतुर्दशोऽपि, स गौतमो यच्छतु वाञ्छितं मे ॥ गौ० अ० २

अथवा–उत्पादव्ययध्रौव्यप्रपञ्चः समयः तेषाञ्च भगवता साक्षात् मातृकापदरूपतयाभिधानात्–तथा चार्षम्–" उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा, इत्यदोषः । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं पदार्थसामान्यस्य लक्षणम् ।

तत्र–स्वजातित्वापरित्यागपूर्वकपरिणामान्तरप्राप्तिरूपत्वमुत्पादस्य लक्षणम् ।

स्वजातित्वापरित्यागपूर्वकपूर्वपरिणामविगमरूपत्वं व्ययस्य लक्षणम् ।

स्वजातिस्वरूपेण व्ययोत्पादाभावरूपत्वं, स्वजातित्वारूपेणानुगतरूपत्वं वा ध्रौव्यस्य लक्षणम् । तत्त्वार्थसूत्रे अ० ५ सू० २९ ।

यस्मिन् काले श्रमणभगवान्चरमतीर्थंकरश्रीमहावीरप्रभुः केवलदर्शन–ज्ञानोत्पत्तेरनन्तरं विहरन्, अपापापुर्या[1]–अपापायां मध्यमायां महसेनवने जगाम तदा तत्र सोमिलार्यो नाम विप्रः । स यज्ञं यष्टुमुद्यतः ।

---

१. प्रागस्या नगर्या अपापेति नामासीत् भगवास्तत्र कालगतत्वात् देवैस्तु पापेति उक्तम् ।

तत्र चैकादशोपाध्यायाः समागताः तेषाञ्च संदेहाः–क्रमेण १ जीवः २ कर्म ३ तज्जीव तच्छरीरे ४ पञ्चभूतानि सन्ति न वा ५ यो यादृशः स तादृशः ६ बन्ध ७ देवः ८ नैरयिकः–नारक ९ पुण्यं १० परलोक ११ मोक्षः अस्ति जीव इत्यादिना–आवश्यकमलयगिरि–द्वितीयखण्डे कथिता ।

"छिन्नंमि समयंमि जाइजरामरणं विप्पमुक्केणं ।
सो समणो पव्वइओ पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥

सप्रमाणेन जिनेन भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना जरामरणाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां विप्रमुक्त इव विप्रमुक्तस्तेन छिन्ने निराकृते संशये स इन्द्रभूतिः पञ्चभिः खण्डकशतैः छात्रशतैः सह श्रमणः प्रव्रजितः सन् साधुः गणधरः संजात इत्यर्थः । एवमन्येऽपि पराजिताः प्रव्रजिताश्च । तत्प्रणीतं ज्ञानं–शास्त्रं द्वादशाङ्गरूपश्रुतज्ञानमेवोपाङ्गादि । नैसर्गिकाधिगमिकान्यतरसम्यग्दर्शन-विशदीकृतज्ञानशालिनः प्राणिनः, तैरेव वेदितुं शक्यं वेद्यं परिच्छेद्यम् । न पुनः स्वस्वशास्त्र-तत्त्वाभ्यासपरिपाकशाणनिशातबुद्धिभिरप्यन्यैः । तेषामनादिमिथ्यादर्शनवासनादूषितमतितया यथावस्थितवस्तुतत्त्वानवबोधेन बोधरूपत्वाभावात् ।

तथा चागमः "सदसदऽविसेसणाउ भवहेउजदिच्छिओवलंभाउ ।
णाणफलाभावाउ मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ॥" विशेषावश्यक गा. ११५

अतएव तत्परिगृहीतं द्वादशाङ्गमपि मिथ्याश्रुतमामनन्ति, तेषामुपपत्तिनिरपेक्षं यदृच्छया वस्तुतत्त्वोपलम्भसंरम्भात् । सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुततया परिणमति, सम्यग्दृशां सर्वविदुपदेशानुसारि प्रवृत्तितया मिथ्याश्रुतोक्तस्याप्यर्थस्य यथावस्थितविधिनिषेध-विषयतयोन्नयनात् ।

तच्छ्रुतज्ञानं "मइपुव्वं जेण सुयं" (नन्दीसूत्र २४) 'श्रुतं मतिपूर्वकाद्यनेकद्वादश-भेदम्' तत्त्वार्थसूत्रे ।

तच्चाङ्गप्रविष्ट–अङ्गबाह्यभेदात् द्विविधः, द्वितीयस्त्वनेकविधः अङ्गप्रविष्टद्वादशाङ्गस्य मूलत उपदेष्टा श्रीसर्वज्ञो वीतरागः–यस्य स्वरूपं महात्मानो योगिनो निरंतरं ध्यायन्ति । स्वप्रतीत्या च तत्पदप्राप्तिमेव सर्वस्वप्राप्तिमनुभवन्ति, सर्वज्ञवचनानि संप्रधार्य श्रीगणधरैस्तन्न्यबन्धि । जैनागमेषु द्वादशाङ्गी प्रसिद्धाऽस्त्येव, तस्याः नामानि क्रमेण तेषां संक्षिप्ततया परिचयोऽस्मिन्, प्रस्तावे कर्तुं मया प्रयत्नो विधीयते । द्वादशाङ्गनामानि चैवम्–

---

१. इन्द्रभूतिः, २ अग्निभूतिः ३ वायुभूति सहोद्भवाः । ४ व्यक्तः, ५ सुधर्मा, ६ मण्डित, ७ मौर्यपुत्रौ सहोदरौ, ८ अकम्पितः, ९ अचलभ्राता, १० मेतार्यश्च, ११ प्रभासकः । इत्येकादशगणधराः ।

२. अनुत्तरज्ञानदर्शनादि धर्मगणं धरतीति–गणधरः ।

आचाराङ्गं सूत्रकृतं, स्थानाङ्गं, समवाययुक् ।
पञ्चमं भगवत्यङ्गं, ज्ञाताधर्मकथापि च ॥
उपासकान्तकृदनुत्तरोपपातिकादशाः ।
प्रश्नव्याकरणं चैव विपाकसूत्रमेव च ॥

१२ दृष्टिवादः अत्रान्तिमस्य दृष्टिवादस्य व्युच्छेदात् एकादशैवाङ्गानि-एकादशाङ्गेति संज्ञया श्वेताम्बरेषु प्रसिद्धानि ।

१. आचरणमाचारः-आचर्यते आसेव्यत इति वा शिष्टाचरितो ज्ञानादिः 'आदिशब्दा-द्दर्शनाचारचारित्राचारतपा, चारवीर्याचाराणाङ्ग्रहणम्, आसेवनविधिरित्यर्थः । तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्याचारः स चासावङ्गञ्च आचाराङ्गम्। तस्य द्वौ श्रुतस्कन्धौ तत्र प्रथमो नवाध्ययनात्मकः । द्वितीयः षोडशाध्ययनात्मकः, एवं पञ्चविंशतेरध्ययनानां पञ्चविंशतिशतसङ्ख्याङ्का श्लोकाः तत्र श्रीशीलाङ्काचार्यकृतटीका १२००० चूर्णि ८३०० श्रीभद्रबाहुस्वामिकृतनिर्युक्ति गाथा ३३८ श्लोकसंख्या ४५० संपूर्णसङ्ख्या २३२५० श्लोकपरिमिता ।

२. सूचनात् सूत्रं सूत्रेण स्वपरसमयसूचनेन कृतं सूत्रकृतम्, तस्य द्वौ श्रुतस्कन्धौ, तत्र प्रथमः षोडशाध्ययनात्मकः द्वितीयः सप्ताध्ययनात्मकः । एवं त्रयोविंशतेरध्ययनानां मूलश्लोक-संख्या २१०० । श्रीशीलाङ्काचार्यकृतटीका १२८५० चूर्णि १०००० श्रीभद्रबाहुस्वामिकृत-निर्युक्ति गाथा २०८ श्लोकसंख्या २५० संपूर्णसंख्या २५२०० परिमिता ।

३. तिष्ठन्त्यस्मिन्प्रतिपाद्यतया जीवादय इति स्थानमेकादशान्तसंख्याभेदो वा स्थानं, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि स्थानम् तच्चतदङ्गञ्च स्थानाङ्गम् । अस्य दशाध्यनानि-स्थानानि मूल-श्लोकसंख्या ३७७० श्रीअभयदेवसूरिकृतटीका १५२५० संपूर्णसंख्या १९०२० ।

४. समवायनं समवायः एकादिशतान्तसंख्यासमाविष्टानाम्पदार्थानां संग्रहः, तद्धेतुश्च ग्रन्थोऽपि समवायः । मूलश्लोक १६६७ श्रीअभयदेवसूरिकृतटीका ३७७६ पूर्वाचार्यकृतचूर्णिः ४०० सं. ५८४३ श्लो० परिमिता ।

५. भगवतीति पूज्याभिधानं अपरनाम व्याख्याप्रज्ञप्तिः पञ्चमाङ्गस्य सा चासौ अङ्गञ्च भगवत्यङ्गम् । तस्याः ४१ शतकानि मूलश्लोक १५७५२ श्रीअभयदेवसूरिकृतटीका १८६१६ । पूर्वाचार्यकृतचूर्णिः ४००० सं० संख्या ३८३६८ श्लोकपरिमिता । संवत् १५६८ वर्षे [illegible] १२००० श्लोकपरिमिता लघुवृत्तिः कृता ।

६. ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि तथैव । [illegible] मूल ५५०० श्रीअभयदेवसूरिकृतटीका ४२५२ संपूर्ण-संख्या ९७५२ श्लोकपरिमिता ।

७. उपासकाः श्रावकाः तद्गतक्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनरूपा उपासकदशाः । बहुवचनान्तमेतद् ग्रन्थनाम । दशाध्ययनात्मकः मूलश्लोक ८१२ श्रीअभयदेवसूरिकृत-टीका ९०० सं. संख्या १७१२ श्लो. परिमिता ।

८. अन्तो विनाशः स च कर्मणः तत्फलभूतस्य वा संसारस्य तं कुर्वन्ति ये तीर्थङ्करादयस्तेऽन्तकृतः तेषां दशाः प्रथमवर्गो दशाध्ययनात्मकत्वात्तत्संख्यया अन्तकृद्दशाः अध्ययनानि नवतिः मूलश्लोक ९०० श्रीमदभयदेवसूरिकृत टीका ३०० संपूर्णसंख्या १२०० श्लोकपरिमिता ।

९. न विद्यते उत्तरः प्रधानोऽस्मादित्यनुत्तर उपपतनं उपपातो जन्म अनुत्तरप्रधानः संसारेऽन्यस्य तथाविधस्याभावात् । उपपातोऽस्त्येषामित्यनुत्तरोपपातिकाः विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धविमानपञ्चकजन्मानो देवाः तद्वचक्ताव्यक्तप्रतिबद्धदशाः दशाध्ययनोपलक्षिता अनुत्तरोपपातिकदशाः । अध्ययनानि त्रयोविंशतिः मूलश्लोक २९२ श्रीअभयदेवसूरिकृत टीका १०० संपूर्णसंख्या ३९२ श्लोकपरिमिता ।

१०. प्रश्नः पृच्छा तन्निर्वचनं व्याकरणं प्रश्नव्याकरणं तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि प्रश्नव्याकरणम् । दशाध्ययनात्मकम् मूलश्लोक १२५० श्रीअभयदेवसूरिकृतटीका १६० ।

११. विपचनं विपाकः शुभाशुभकर्मपरिणामः तत्प्रतिपादकं श्रुतं विपाकश्रुतम् । विंशति–अध्ययनात्मकः मूलश्लोक १२१६ श्रीमदभयदेवसूरिकृतटीका ९०० संपूर्णसंख्या २११६ श्लोकपरिमिता ।

१२. दृष्टयो दर्शनानि तासां वदनं दृष्टिवादः दृष्टीनां पातो यत्रासौ दृष्टिपातोऽपि सर्वनयदृष्टय इहाख्यायन्त इत्यर्थः । सर्वमिदं प्रायो व्यवच्छिन्नम् । एतान्येवोत्तराध्ययनादि–उपाङ्गसंज्ञकाः ।

दश–पयन्ना–प्रकीर्णकाः ६ छेदसूत्राणि ४ मूलसूत्राणि सभाष्यवृत्तिचूर्णि–एते ४५ आगमाः प्रकीर्तिताः । तथाहि—

सुत्तं गणहररइयं, तहेव पत्तेयबुद्धरइयं च ।
सुय–केवलिणा रइयं, अभिन्नदस–पुव्विणा रइयं ॥

या श्रुतदेवी जिनमुखोद्भवात्रैलोक्याराधिता पूजनीया गणधरैरपि वन्दिता न तु भुवनपतिनिकायिनी श्रुताधिष्ठात्री । इति ज्ञातव्यम्—

१. महाभाष्यकारः—युगप्रधानाचार्या श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादा. येन आवश्यकसूत्रस्य सामायिकाख्यस्य प्रथमाध्ययनस्य मूलसूत्रोपरि तदेव विशेषावश्यकसञ्ज्ञकं गाथात्मकं भाष्यं रचितमस्ति तत् भाष्यमभिधीयते ।

श्रीमत्तीर्थङ्कराः तद्वैशिष्ट्यञ्च ।

सा. वि. जैनाचार्य श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरीश्वरान्तेवासी पं० मुनिश्रीकल्याणविजयजी–राजगढ़

अयि, सज्जनाः !

जैनधर्मेऽस्मिन् युगे चतुर्विंशतितीर्थङ्कराः संजाताः तेषां तीर्थप्रवर्तनेन–आभ्यन्तरवैशिष्ट्यं प्रतिपादितमेव, तस्य च नायमवसरः प्रकटीकरणाय, परञ्च पार्थिवादि शरीरवैशिष्ट्यं, तेषाम्पुनः कीदृशं शास्त्रे वर्णितं तदेवाहम् पाठकानामग्रे निवेदयामि । पुरातनाचार्यैः शास्त्रे यथावर्णितं—

सर्वज्ञो जितरागादि–दोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥

इह हि–अर्हतो भगवतः सर्वज्ञविशेषणद्वारेण केवलज्ञानलक्षणविशिष्टज्ञानप्रतिपादनात्–ज्ञानातिशयः ।

उक्तञ्च–केवलज्ञानलक्षणम् "सकलं तु सामग्रीविशेषतःसमुद्भूतसमस्तावरणक्षयापेक्षं निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम् ।" प्रमाणनयतत्त्वालोक–प. २, सूत्र २३ ।

'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' तत्त्वार्थ–इति त्रिकालविषयवस्तुनिवेदनाऽन्यथानुपपत्तेरतीन्द्रियकेवलज्ञानसिद्धिः । अतएव सर्वं जानातीति सर्वज्ञः, चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितः ।

तेषाञ्च देहोऽद्भुतरूपगन्धो, निरामयः स्वेदमलोज्झितश्च ।
श्वासोऽगन्धो रुधिरामिषं तु, गोक्षीरधाराधवलं ह्यविस्रम् ॥ १ ॥
आहारनीहारविधिस्त्वदृश्य×–श्चत्वार एतेऽतिशयाः सहोत्थाः ।

अथ कर्मक्षयजातिशयाः—

[1]क्षेत्रे स्थितिर्योजनमात्रकेऽपि, नृदेवतिर्यग्जनकोटिकोटेः ॥ २ ॥
[2]वाणी नृतिर्यक्सुरलोकभाषा, संवादिनी योजनगामिनी च ।
भामण्डलं चारु च मौलिपृष्ठे, विडम्बिताहर्पतिमण्डलश्रि ॥ ३ ॥

× अदृश्य–मासचक्षुषा न पुनरवध्यादिलोचनयुतेन ।

१. योजनप्रमाणेऽपि क्षेत्रे समवसरणभुवि समवसरन्ति नानापरिणामा जीवा· कथञ्चित्तुच्छतया यस्मिन् तत्समवसरणन्नृणा देवाना तिरश्चाञ्च जनानाङ्कोटिकोटिसंख्याना स्थितिरवस्थानम् ।

२. वाणीभाषा–अर्द्धमागधी–मागधी इत्यपि दृश्यते–नृतिर्यक्सुरलोकभाषया संवदति ।

सामे च गव्यूतिशतद्वये, रुजावैरेतयो मार्यति वृष्ट्यवृष्ट्यः ।
दुर्भिक्षमन्यस्वकचक्रतो भयं, स्यान्नैत एकादशकर्मघातजाः ॥ ४ ॥

अथ देवकृतानतिशयानाह—

खे धर्मचक्रं चमराः सपादपीठं, मृगेन्द्रासनमुज्ज्वलं च ।
छत्रत्रयं रत्नमयध्वजोऽङ्घ्रिन्यासे च चामीकरपङ्कजानि ॥ ५ ॥
वप्रत्रयं चारु चतुर्मुखाङ्गता, चैत्यद्रुमोऽधोवदनाश्च कण्टकाः ।
द्रुमानतिर्दुन्दुभिनाद उच्चकै,-र्वातोऽनुकूलः शकुनाः प्रदक्षिणाः ॥ ६ ॥
गन्धाम्बुवर्षं बहुवर्णपुष्पवृष्टिः, कचश्मश्रुनखाप्रवृद्धिः ।
चतुर्विधामर्त्यनिकायकोटिर्जघन्यभावादपि पार्श्वदेशे ॥ ७ ॥
ऋतूनामिन्द्रियार्थानामनुकूलत्वमित्यमी ।
एकोनविंशतिर्दिव्याश्चतुस्त्रिंशच्च मीलिताः ॥ ८ ॥ अभिधान चि०

तथाहि—सर्वज्ञसिद्धिप्रसङ्गेन यदुपन्यस्तं, सर्वज्ञकल्पश्रीमद्धेमचंद्राचार्येण, तदुद्धाहृत्य मदीयलेखस्याशयः प्रकटीक्रियते ।

अथ "ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम्" ॥

इति वचनात्—सर्वज्ञत्वमर्हतामीश्वरादीनामस्तु । मानुषस्य तु कस्यचिद्विद्याचरणवतोऽपि तदसम्भावनीयम् यत्कुमारिलः—

"अथापि वेददेहत्वाद्, ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
कामं भवन्तु सर्वज्ञाः, सार्वज्ञ्यं मानुषस्य किम् ॥"

---

३. योजनशते ज्वरादिरोगो न स्यात् ।

४. एवमेकादशा अतिशया. ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाख्यकर्मचतुष्टयस्य क्षयादुत्पद्यन्ते ।

५ धर्मप्रकाशकं चक्रं, ख इति वर्तते–६–७–८–९ ।

१०. समवसरणे रत्नसुवर्णरूप्यमयं प्राकारत्रयं मनोज्ञं भवति ।

११. चैत्याभिधानो द्रुमोऽशोकवृक्षः स्यात् ।

१२. सुखदत्वादनुकूलः ।

१३. बहुवर्णानाम्पञ्चवर्णानाञ्जानुनोरुत्सेधस्य, उच्चत्वस्य यत्प्रमाणं यस्याः सा जानूत्सेधप्रमाणमात्रा पुष्पवृष्टिः स्यात् ।

१४. भवनपतिव्यंतरज्योतिष्कवैमानिकदेवा प्रशान्तचित्रमानसा–प्रशान्तानि, समङ्गतानि चित्राणि रागाद्यनेकविधविकारयुक्ततया विविधानि मानसानि येषान्ते, समीपे धर्मं निशामयन्ति–शृण्वन्ति ।

१५. ऋतूनां वसन्तादीनां सर्वदा पुष्पादिसामग्रीभिरिन्द्रियार्थानां स्पर्शरसगन्धरूपशब्दानाममनोज्ञानापकर्षेण मनोज्ञानाञ्च प्रादुर्भावेनानुकूलत्वम्भवति ।

१६. देवैः कृता एकोनविंशतिस्तीर्थङ्कतामतिशयाः ।

इति आः ! सर्वज्ञापलापपातकिन् दुर्वदवादिन् ! मानुषत्वनिन्दार्थवादापदेशेन देवाधिदेवानधिक्षिपसि । ये हि जन्मान्तरार्जितोर्जितपुण्यप्राग्भाराः सुरभवभवमनुपमं सुखमनुभूय दुःखपङ्कमग्नमखिलं जीवलोकमुद्दिधीर्षवो नरकेष्वपि क्षणं क्षिप्तसुखासिकामृतवृष्टयो मनुष्यलोकमवतेरुः । जन्मसमयसमकालचलितासनसकलसुरासुरेन्द्रवृन्दविहितजन्मोत्सवाः किङ्करायमाणसुरसमूहाहमहमिकारब्धसेवाविधयः स्वयमुपनतामतिप्राज्यसाम्राज्यश्रियं तृणवदवधूयसमतृणमणिशत्रुमित्रवृत्तयो निजप्रभावप्रशमितेति मरकादिजगदुपद्रवाः । शुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्माण-आविर्भूतनिखिलभावाभावस्वभावावभासिकेवलबलदलितसकलजीवलोकमोहप्रसराः सुरासुरविनिर्मितां समवसरणभुवमधिष्ठाय श्च स्वभावभाषापरिणामिनीभिर्वाग्भिः प्रवर्तितधर्मतीर्थाश्च चतुस्त्रिंशदतिशयमयीं तीर्थाधिपत्वलक्ष्मीमुपभुज्य परं ब्रह्मसततानन्दं सकलकर्मनिर्मोक्षमुपेयिवाँसस्तान्मानुषत्वादि साधारणधर्मोपदेशेनापवदन् सुमेरुमपि लोष्ठादिना साधारणी कर्तुं पार्थिवत्वेनापवदेः ॥

किञ्च, अनवरतवनिताङ्गसम्भोगदुर्ललितवृत्तीनां विविधहेतिसमूहधारिणामक्षमालाद्यायत्तमनःसंयमानां रागद्वेषमोहकलुषितानां ब्रह्मादीनां सर्ववित्त्वसाम्राज्यम् । यदवदाम स्तुतौ—

" मदेन मानेन मनोभवेन, क्रोधेन लोभेन ससम्मदेन ।
पराजितानां प्रसभं सुराणां, वृथैव साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥ "

प्रमाणमीमांसा, पृष्ठ १२-१३

उक्तञ्च-दीर्घकालनिरन्तरसत्कारासेवितरत्नत्रयप्रकर्षपर्यन्ते, एकत्ववितर्काविचारध्यानबलेन निःशेषतयाज्ञानावरणीयादीनां घातिकर्मणां प्रक्षये सति चेतनास्वभावस्यात्मनः प्रकाशस्वभावस्येति

१. इतिः " अजन्यामीतिरुत्पातः । " इति हैमः २-४० । ईयते-प्राप्यते दु खमस्यामीतिः । पुं. स्त्री. । अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषका. खगा. । प्रत्यासन्नाश्च राजान. षडेता ईतयः स्मृताः ।

२. " मरको मार· " । इति हैमः २-२३९ मरणं मरक ।

३. शुचं क्लामयतीति शुक्लम्-शुच-शोके भ्वादिगण १८३ पाणिनीयः ध्यै चिन्तायाम् भ्वादिगण ९०८ पा. ध्यायते-चिन्त्यते तत्त्वमनेनेति ध्यानम् । शुक्लञ्च तद्ध्यानं च शुक्लध्यानम् ।

४. समवसरन्ति नाना परिणामा जीवाः कथञ्चित्तुच्छतया यस्मिन् तत्समवसरणम् ।

५. ज्ञानदर्शनचारित्राणि-इति रत्नत्रयम् ।

६. आदिशब्दात्-दर्शनावरणमोहनीयान्तरायाख्यकर्मणा ग्रहणम् ।

पढमं १ नाणावरणं, वीयं पुण २ दंसणस्स आवरणं ।
तइयं च ३ वेयणीयं, तहा चउत्थं च ४ मोहनीयं ॥ ५ ॥
५ आऊ ६ नामं ७ गोयं, अट्ठमियं ८ अंतराइयं होइ । कर्मविपाक ॥ ६ ॥

१. प्रथममाद्यं ज्ञानावरणं ज्ञानस्यावरणमाच्छादनं क्रियते येन कर्मणा तज्ज्ञानावरणम्, तस्य स्वभावोऽर्थानवगमः । एतत्कर्मादित्यप्रभाच्छादकमेघवज्ज्ञातृत्वशक्तिमावृणोति ।

२. दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं तस्यावरणं दर्शनावरणं तस्य स्वभावोऽर्थानालोचनम् । एतत्कर्मप्रदीपप्रभातिरोधायककुम्भवद्दर्शनमाच्छादयति ।

यावत् । स्वरूपस्य प्रकाशस्वभावस्य सत एवावरणापगमेनाविर्भाव आविर्भूतं स्वरूपम्मुखमिव शरीरस्य सर्वज्ञानां प्रधानं मुख्यं प्रत्यक्षम् । तच्चेन्द्रियादिसहायकविरहात्, सकलविषयत्वादसाधारणत्वाच्च केवलमित्यागमे प्रसिद्धम् ।

सर्वज्ञत्वञ्च सामान्यकेवलिनामप्यवश्यंभावीत्यतस्तद् व्यवच्छेदाय देवोऽर्हन्निति विशेष्यपदमपि विशेषणरूपतया व्याख्यायते ।

यथा हि भगवतां श्रीमदर्हतामष्टोत्तरसहस्रसंख्यबाह्यलक्षणसंख्याया उपलक्षणत्वेनाऽन्तरङ्गलक्षणानां सत्वादीनामानन्त्यमुक्तम् । —निशीथचूर्णि १७ उद्देशे.

जितरागादिदोषः—रागादिजेतृत्वाद् समूलकाषङ्कषितरागादिदोषः । अनेनाष्टादशदोषसंक्षयाभिधानादपायापगमातिशयः ।

अन्तरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगाः ।
हासो रत्यरतीभीतिर्जुगुप्सा शोक एव ॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा ।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥ अभिधान, चि. ७२—७३

जितरागदोषता तु—उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनामपि सम्भवतीत्यतः क्षीणमोहाख्याऽप्रतिपातिगुणस्थानप्राप्तिप्रतिपत्त्यर्थम् ।

---

३ वेद्यते—आह्लादिरूपेणानुभूयते यत्तद्वेदनीयम् । यद्यपि सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवत् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात् (सातासात)सुखदु खरूपमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते । तस्य स्वभाव. सुखदुःखसंवेदनम् । एतत्कर्म सुख दु ख चोत्पादयति ।

४. दर्शनचारित्रे च मोहमुत्पादयति मोहयति सदसद्विवेकविकलङ्करोति, आत्मानमिति वा मोहनीयम् । आद्यस्य दर्शनमोहनीयस्य स्वभावस्तत्त्वार्थश्रद्धानम्, एतत्कर्मदुर्जनसङ्गवत्तत्त्वार्थेऽश्रद्धामुत्पादयति। द्वितीयस्य चारित्रमोहनीयस्य स्वभाव इन्द्रियनियमनाभावः एतत्कर्माचरणेन इन्द्रियाणामव्यवस्थामुत्पादयति ।

५. एति—गच्छति गत्यन्तरमनेनेत्यायुः आयुर्नामकर्मणः स्वभावो भवधारणम् । एतत्कर्मकर्तॄणा मनुष्यपश्वादीनाम् देहं धारयति ।

६. नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनम्प्रति प्रवणयति जीवमिति, नामसञ्ज्ञककर्मण स्वभावो नारकादिनामकरणम्, इदङ्कर्मचित्रकारवन्नानाविधा· सञ्ज्ञा· आवत्ते ।

७ गूयते शब्यते उच्चावचै शब्दैरात्मा यस्मात्तद्गोत्रम्, कुम्भकार इव ।

८. जीवदानादिकं चान्तरा एति न जीवस्य दानादिक कर्तुं ददातीति—अन्तरायम्, एतत्कर्मकृपणवद्दानादिषु—अन्तरायञ्जनयति, इति ज्ञेयम् ।

१. मिच्छे २ सासण ३ मीसे ४ अविरय ५ देसे ६ पमत्त ७ अपमत्ते । ८ नियट्ठि ९ अनियट्ठि १० सुहुम ११ वसम १२ खीण १३ सजोगी १४ अजोगीगुणा ॥ —द्वि० कर्मग्रन्थ २ गाथा.

त्रैलोक्यपूजितः इत्यनेनाऽकृत्रिमभक्तिभरनिर्भरसुराऽसुरनिकायनायकनिर्मितमहाप्रातिहार्य-सपर्या परिज्ञापनात्–पूजातिशयः।

यावता यथोद्दिष्टगुणगरीयस्त्रिभुवनप्रभोस्त्रैलोक्यपूज्यत्वं न कथञ्चनव्यभिचरतीति तत्वम्। लौकिकानां हि देवाः पूज्यतया प्रसिद्धाः तेषामपि देवोऽर्हन्नेव पूज्य इति विशेषणेनानेन ज्ञापयन्ना-चार्यपरमेश्वरस्य देवाधिदेवत्वमावेदयति।

यथास्थितार्थवादी–प्रभोरविसंवादिवचनतया विश्वविश्वासभूमित्वात्, अतएव हि यथाव-ज्ज्ञानावलोकित वस्तुवादी कुनयैर्बाधितुं न शक्यते। तीर्थान्तरीयपरिकल्पिततत्त्वाभासनिरासेन भगवतो यथास्थितवस्तुतत्त्ववादित्वख्यापनेनैव प्रमाणमश्नुते। आत्ममात्रतारकमूकान्तकृत् केव-ल्यादिरूपमुण्डकेवलिनो यथास्थितवस्तुनिरूपणाऽसमर्थस्य व्यवच्छेदार्थं वा विशेषणमेतत्।

परमेशितुः परमकारुणिकतयानपेक्षितस्वपरपक्षविभागमद्वितीयं हितोपदेशकत्वं ध्वन्यते। अनेन वचनातिशयः प्रतिपादितः–अत्रायमाशयः–यद्यपि भगवानविशेषेण निखिलजगज्जन्तुजात-हितावहां सर्वेभ्य एव देशनावाचमाचष्टे। तथापि केषाञ्चिन्निचितनिकाचितपापकर्मकलुषिता-त्मनां रुचिरूपतया न परिणमते।

अपुनर्बंधकादि व्यतिरिक्तत्वेनायोग्यत्वात्—

तथा च–अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव,
रजनिकरगभस्तयो विशन्ति सुखमुपदेशगणाः।
गुरुवचनममलमपि सलिलमिव,
महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य॥ कादम्बरी पूर्वार्द्धे

---

१ १ कंकिल्लि २ कुसुमवुट्ठि ३ देवज्झुणि ४ चामरा ५ सणाइं च।
६ भावलय ७ भेरि ८ छत्त जयन्ति जिणपाडिहेराइं॥ —प्रवचनसारोद्धारे–द्वार ३९ गा. ४४०

२. अन्तो विनाशः स च कर्मण. तत्फलस्य वा संसारस्य कृतो येन सोऽन्तकृत्केवली–अतीतानागत-वर्तमानसूक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदी।

३. (१) द्रव्यभावमुण्डनप्रधानस्तथाविधवाह्यातिशयशून्य. केवली।
(२) सविग्नो भवनिर्वेदादात्मनि सरणं तु यः। आत्मार्थं सप्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली।
(३) यः पुनः सम्यक्त्वावाप्तौ भवनैर्गुण्यदर्शनतस्तन्निर्वेदादात्मनिःसरणमेव केवलमभिवाञ्छति तथैव चेष्टते स मुण्डकेवली भवति।

४–पावणं तिव्वभावा कुणइ ण वहुमन्नई भवं घोरम्। उचि अट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थवि अपुणवन्धोत्ति, इति धर्मसग्रहतृतीयाधिकरणे। पापमशुद्धकर्मतत्कारणत्वाद्धिन्सायपि पापम्। तन्नैव तीव्रभावाद्गाढसंक्लिष्टपरिणामात् करोति। अत्यन्तोत्कटमिथ्यात्वादि क्षयोपशमेन लब्धात्मनैर्मल्यविशेषत्वात्तीव्र इति विशेषणादापन्नम्। अतीव्र-भावात्करोत्यपि तथाविधकर्मदोषात्तया न वहुमन्यते न वहुमानविषयी करोति भवं ससार घोरं रौद्रं घोरत्वावगमात्। तथोचितस्थितिमनुरूपप्रतिपत्तिम्, च शब्द. समुच्चये सेवते कर्मलाघवात्सर्वत्रापि। आस्तामेकत्रदेशकालावस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृप्रभृतिषु मार्गानुसारिताभिमुखत्वेन मयूरशिशुदृष्टान्ताद्पुनर्बंधकः। उक्तनिर्वचनो जीव इत्येवविधक्रियालिङ्ग भवतीति। अभिधानराजेन्द्रकोषे प्र० भा० पृ० ६०७

॥तीर्थंकर भगवान्‌नी लोकोत्तर उपमाओ॥

॥श्रीतीर्थकृतामर्हतां लोकोत्तरादर्शाद्भुततरव्यक्तित्वपरिचायिका शास्त्रप्रसिद्ध उपमा॥

अर्हन्तो हि महागोपाः

॥जीवनिकाया गावो, जं ते पालेंति महागोवा।
मरणाइभया हि जिणा, निव्वाणवणं च पावेंति॥

—श्री आव० नि० गा० ९१६

॥तीर्थंकर भगवान्‌नी लोकोत्तर उपमाओ॥

॥श्रीतीर्थकृतामर्हतां लोकोत्तरादर्शाद्भुततरव्यक्तित्वपरिचायिका शास्त्रप्रसिद्ध उपमा॥

अर्हन्तो हि महामाहणाः

॥सव्वे पाणा ४ न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परि
घित्तव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा॥ 卐॥

—श्री आचारांग श्रु० ४ उ २ सू १

॥तीर्थंकर भगवान्‌नी लोकोत्तर उपमाओ॥

॥श्रीतीर्थकृतामर्हतां लोकोत्तरादर्शाद्भुततरव्यक्तित्वपरिचायिका शास्त्रप्रसिद्ध उपमा॥

अर्हन्तो हि महानिर्यामकाः

॥निज्जामगरयणाणं, अमूढनाणमइकण्णधाराणं।
वंदामि विणयपणओ, तिविहेण तिदंडविरयाणं॥

—श्री आव नि गा ९१४

॥तीर्थंकर भगवान्‌नी लोकोत्तर उपमाओ॥

॥पावंति निव्वुइपुरं, जिणोवइट्ठेणं चेव मग्गेणं।
अडवीइ देसियत्तं, एवं णेयं जिणिंदाणं॥

—श्री आव नि० गा० ९०८

मुनि श्री अभयसागरजी के सौजन्य से

विश्व के उद्धारक

पूज्य गुरुदेव श्री धर्मसागरजी गणिवर-चरणोपासक मुनिश्री अभयसागरजी

संसार में अनेक प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं। उनमें से कितनेक अपने पेट के गड्ढे को बड़ी परेशानी के साथ पूर्ण कर सकते हैं। कितनेक अपने आश्रितों का पालन-पोषण पूर्ण रूपसे कर नहीं सकते और कितनेक श्रीमंत पुरुष आश्रितों का बराबर पालन कर लेने के उपरांत दीन, दुःखी, अनाथ प्राणिओं को भी आश्वासनदायक सहकार दे कर उनके मूक आशीर्वाद के पात्र बनते हैं।

परन्तु अंगुलियों पर गिने जांय उतने ही जगतभर में कोई महापुरुष प्राणियों को संपूर्ण रूप से त्रिविध ताप से बचानेवाले, वास्तविक सुखशांति के देनेवाले और निष्कारण उपकार करनेवाले होते हैं।

ऐसे सर्वोत्तम महापुरुष अपने उच्च आदर्शानुकूल क्रियाशील जीवन से जो वारसा संसार को देते हैं उसे समझने के लिये शास्त्रकारोंने विविध प्रकार की उपमाएं शास्त्रों में अद्भुत ढ़ंग से समझाई हैं। उसमें की अति महत्व की कुछ उपमाओं का शास्त्रीय ढंगसे विचार इस लघु लेख में किया जा रहा है।

न्यायविशारद, न्यायाचार्य, पू० उपा. श्री यशोविजयजी महाराज श्री नवपदपूजा (ढा. १, गा. ४) में श्रीतीर्थंकर भगवंतों की लोकोत्तर उपकारिता समझाते हुए फरमाते हैं किः—

" महागोप महामाहण कहीए, निर्यामक सत्थवाह।
उपमा एहवी जेहने छाजे, ते जिन नमीए उच्छाह रे॥
—भविका ! सिद्धचक्र पद वंदो॥ "

श्रीतीर्थंकर परमात्माओं के अद्भुत व्यक्तित्व का यथार्थ परिचय करानेवाली ये महागोप, महामाहण, महानिर्यामक, महासार्थवाह की चार रूपक-उपमा प्रिय जीवों को अत्युपयोगी होती हैं, अतः उनका क्रमशः विवेचन किया जाता है।

१. महागोप—

जीवनिकाया गावो, जं ते पालेंति महागोवा।
मरणाइभयाहि जिणा, णिव्वाणवणं च पावेंति॥ आवश्यकनिर्युक्ति गा. ९१६

१. **महागोप चित्रपरिचयः**—वज्रासन में स्थित श्रीतीर्थंकर भगवंत के दोनो हाथों का तनिक मोड़—

जिस भांति ग्वाला अपने या गांव के गाय, भैंस, गाडर, बकरे आदि पशुओं का बराबर पालन-पोषण करता है और अच्छे घासचारे एवं मीठे पानी के स्थानवाले अच्छे जंगलों में ले जाता है एवं च बाघ, शेर, चित्ता आदि शिकारी पशुओं के त्रास से उनका बचाव प्रतिक्षण करता रहता है, इसी तरह छः जीव-निकायरूप समस्त अज्ञान प्राणिओं को धर्म की आराधना के साथ एवं सुयोग्य मार्गदर्शनरूप व्यवस्थित संरक्षण के साथ आत्मिकतत्व के रमणतारूप अच्छे घास-पानी से भरपूर सुंदर मोक्षरूप जंगल की ओर ले जाते हैं और रागद्वेषरूप बाघ एवं पुराने अशुभ संस्काररूप शिकारी पशुओं के त्रास से मधुर उपदेश के बल पर यत्नपूर्वक बचाते रहते हैं-तीर्थंकर भगवान्।

ऐसे श्री तीर्थंकर परमात्मा सचमुच में अखिल विश्व के छोटे-बडे प्राणी मात्र के सच्चे संरक्षक हैं और महागोप के महत्त्वपूर्ण विरुद को वे धारण कर अपनी लोकोत्तर जीवनशक्ति का परिचय दे रहे हैं।

२. महामाहण—

"सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्झावेयव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परियावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा॥"

—श्री आचारांग सूत्र अध्य. ४३. उ. १, सू. १.

इस अवसर्पिणी के आद्य तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवंत के पुत्र और आद्य चक्रवर्ती श्री भरतचक्रवर्ती के वे आदर्श महाश्रावक जो जहाँ-तहाँ होनेवाली हिंसा को "मा हण

झुकाव उन के आसपास खड़े हुए चारों गति के जीवों को बचालेने की भावकरुणा का द्योतक है। ग्रामीण पोषाक में रहा हुआ ग्वाला प्रभु की महागोपता सूचित करता है। एक टोपीवाली और एक पगडीवाली मानवाकृति प्राचीन-अर्वाचीन उभय संस्कृतिवाली मानव जाति को शरणागत बता रही है। वाम पक्ष पर नारकी और देवगति के प्रतीक बताये हैं। चारों ही गति के जीव प्रभु की भाव-दया के पात्र बने हुए हैं।

चित्र की उपर की गोलाई मे बाहीं ओर पृथ्वीकाय, तेउकाय और दायी ओर वायुकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय बताये हैं और चित्र के नीचे के अर्धवर्तुल मे जलचर, स्थलचर, खेचर आदि विविध पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों के प्रकार बताये हैं।

प्रभु के सदुपदेश द्वारा विश्व के समस्त प्राणियों के होते हुये कल्याग को बतानेवाला यह महागोप का चित्र श्री तीर्थंकरदेव परमात्मा की लोकोत्तर उपकारिता प्रदर्शित करता है।

२. महामाहण चित्रपरिचयः—भूमंडल के उच्च भाग पर श्री तीर्थंकर परमात्मा को वीतरागदशा में और उनके हाथों को अभयमुद्रा से फैले हुए बता कर संसार के प्राणियो को पापपूर्ण हिंसा के विषम मार्ग से मोड़ कर संयम और जयणा के अमोघ मार्ग पर आने का मधुर संकेत है और अभयदान का सूचक है।

चित्र के नीचे के अर्धवर्तुल में अज्ञान-अविवेक से कर्तव्यविमूढ बने हुए प्राणिओं की हिंसक प्रवृत्तिओं के नमूने बताये हैं।

मा हण " शब्दों से रोकने-थामने की चेष्टा करते थे, वे ही महाश्रावक आगे चल कर नौवें तीर्थंकर के निर्वाण के वाद माहण संस्था के सर्जक बन कर कालदोष एवं भवितव्यता योग से विकृत ब्राह्मण जाति के उत्पादक हुए।

इस तरह लोकोत्तर उपकारी श्री तीर्थंकर परमात्मा भव्यात्माओं को उद्देश्य कर निरंतर घोषणापूर्वक कह रहे हैं कि—" मा हण मा हण " " किसी जीव की हिंसा मत करो, हिंसा मत करो, शक्य जयणाबुद्धि और विवेकबुद्धि के समन्वय से अनर्थदंड का सर्वथा त्याग कर अर्थदंड के रूप में विवक्षता से आवश्यक रूप में की जानेवाली हिंसा के क्षेत्र में भी संकोच करते रहो ॥ "

उपरोक्त अभय संदेश श्री तीर्थंकरदेव भगवंत संसार के निखिल प्राणिओं को अपनी अभयमुद्रा से निरंतर सुना रहे हैं।

३. महानिर्यामक-

" णिज्जामगरयणाणं, अमूढणाणमईकण्णधाराणं।
वंदामि विणयपणओ, तिविहेण तिदंडविरयाणं ॥ "

—श्रीआवश्यकनिर्युक्ति गा. ९१४.

समुद्र के यात्रियों की क्षेम-कुशलता की दृष्टि से जहाज़ को चलानेवाले नाविक-खलासी-मलाहा एवं सुकानी की निपुण कार्यपद्धति की अत्यंत अपेक्षा रहती है; क्यों कि इसके विना जहाज़ पानी की गहराई में छिपे हुए जलावर्त्त पानी के भँवर-(चक्करदार पानी) में फँसकर या छोटी बड़ी पहाड़ियों से टकराकर चूर-चूर हो जाता है। शायद पुण्य संयोग से जहाज सुरक्षित भी रह गया तो भी सामने किनारे जिधर यात्रीको जाना हो उधर निपुण नाविक के विना व्यवस्थित रूप से जहाज़ सकुशल बढ नहीं सकता है।

---

३. महानिर्यामक चित्रपरिचयः—भयकर ससाररूप समुद्र बता कर उसमें भयकर तूफान और उछलते हुए पानी के बड़े-बड़े गोटे बता कर ससारी जीवो के अज्ञानपूर्ण व्यावहारिक जीवनरूप जहाज को अभी डूबने की स्थिति मे बताया है। नीचे के भाग में एक दुमंजिली साधनसंपन्न बडी नाव बता कर उसके आगे के तूतक पर नाव को चलानेवाला एक मल्लाह बता कर तीर्थंकरदेव भगवंत को निकट में पहाड़ी चट्टान पर मार्गदर्शक के रूप में बताया है। इससे समझने को मिलता है कि-वीतरागदेव भगवंतों के वचनों के आधार पर जीवन की तमाम क्रियाओ का वधारण बना कर विवेक और संयम के साथ हर प्रवृत्ति करनेवाले की जीवननौका जन्म-जरा-मरणादि के पानी से भरे हुए अति भयंकर संसारसमुद्र से सरलता से पार हो जाती है।

अत. श्री तीर्थंकर भगवतो का उपदेश ही मुमुक्षुओ के जीवन को पवित्र बनानेवाला है, इस चीज को यह चित्र ध्वनित करता है।

इसी तरह संसाररूप समुद्र में अज्ञान के कूहरे में फँस कर उल्टे रास्ते जा रहे संसारी जीवों के जीवन-जहाज़ को श्री तीर्थंकर परमात्मा स्वयं नाविक बन कर सम्यग् ज्ञानरूप सुकान की विशेषता के साथ ज्ञान-क्रिया से समन्वित सदुपदेशरूप जहाज़ चलाने की क्रिया करते हुए संपूर्ण योगक्षेम के साथ निर्विघ्न रूप से सामने के मोक्षकिनारे की ओर ले जाते हैं।

४ महासार्थवाह—

पावंति णिव्वुइपुरं, जिणो वइट्ठेण चेव मग्गेणं।
अडवीइ देसियत्तं, एवं णेयं जिणिंदाणं॥

—श्री आवश्यकनिर्युक्ति गा० ९०६

प्राचीनकाल में स्थलमार्ग से व्यापारादि के लिए जानेवाले पूर्व के पुण्य के योग से मिली हुई संपत्ति, शक्ति एवं साधनों से समृद्ध व्यापारी लोग साधनहीन अन्य व्यापारिओं को—जो कि मार्ग की विकटता, चौकीदारी या अन्नादि की व्यवस्था एवं विशिष्ट सहयोग न मिलने के कारण अर्थोपार्जन के लिए अकेले विदेशयात्रा करने का साहस नहीं कर सकते थे, सादर प्रेमपूर्वक उन्हें निमंत्रण देकर अपने साथ विदेश में ले जाते थे। बल्कि मार्ग में आनेवाले भयंकर जंगलों में व्यवस्थित चौकीदारी, जंगली शिकारी जीवोंसे संपूर्ण रक्षण एवं खाने-पीने की संपूर्ण व्यवस्था आदि सुयोग्य उत्तरदायित्व के साथ कुशलतापूर्वक बड़े-बड़े विकट जंगलों को पार करवा कर बड़े-बड़े शहरों में ले जाते थे। जिसको जहाँ जाना होता उसको वहाँ पहुंचा देते और व्यापार करने के लिये उन्हें आवश्यक धन-सम्पत्ति भी देते थे। लौटते समय उन सब को सुरक्षित-रूप से साथ लेकर सकुशल अपने-अपने घर पहुंचा देते थे।

ऐसे उदारचरित व्यापारिओं को प्राचीनकाल में सार्थवाह की मानपूर्ण पदवी दीजाती थी और उनका बड़ा सम्मान किया जाता था। असहाय व्यापारी एवं दुःखी वणिक्पुत्रों की

---

४. **महासार्थवाह चित्रपरिचयः**—अति गहन संसाररूप जंगल में व्यापार दृष्टिसे से ऊंट, बैल, घोडे, गद्धे, खच्चर आदि पर पूरा माल सामान असबाब लाद कर विदेशयात्रा करनेवाले सार्थ का दृश्य बताकर मुक्तिरूप नगर में पहुंच कर आत्मा की अद्भुत-अक्षय ज्ञानादि गुणों की संपत्ति पाने के लिए अत्युत्सुक हुए मुमुक्षु जीवों को बताया है।

परन्तु जंगल में पूरी सरक्षगता रखनेवाले **सार्थवाह** शेठ के मार्गदर्शन या देखभाल बिना वह विदेश-गमन करनेवाला सार्थ सकुशल प्रयाग नहीं कर सकता; अत: चित्र में बॉयी ओर एक बड़े पेड़ की आड़ में से आगे बढते हुए श्री तीर्थंकरदेव परमात्मा को और उनके पीछे केवलज्ञान के अत्युज्ज्वल प्रकाश से आलोकित विपुल मार्ग को बताया है। उस मार्ग से अपने पीछे २ समस्त जगतभर के मुमुक्षु प्राणिओं को निशंकरूप से चले आने का मधुर संदेश श्री तीर्थंकरदेव परमात्मा अपनी हितकर प्रशान्त मुद्रा से सुना रहे हैं।

हर तरह से सहायता करना, व्यवसाय में उनको निपुण बनाना वे सदा अपना कर्तव्य समझते थे । सार्थवाह की पदवी उनके साथ लग कर सार्थक होती थी ।

ठीक इसी भाँति श्रीतीर्थङ्कर परमात्मा भी संसाररूप महाभयंकर जंगल में से आत्म-कल्याण की भावनारूप व्यापार के अर्थी मुमुक्षु जीवों को सन्मार्ग के उपदेश-साधनों द्वारा राग-द्वेष आदि डाकुओं के त्रास से बचाकर और तदनुसार समय के पालन में आवश्यक एवं उपयोगी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की महामूल्य धन-संपत्ति देकर मोक्षरूप महानगर में सरलता से पहुंचा कर एवं आत्मिक शक्तिओं के अखूट खजाने का उनको स्वामी बनाकर सदाकालीन सुख-समृद्धि के पात्र बना देते हैं ।

अतः श्रीतीर्थङ्कर भगवंत विश्व के सुयोग्य मुमुक्षु जीवों को सन्मार्गोपदेश द्वारा कर्मों के बंधनों से छुड़ानेवाले एवं परम साधन सुख के भोक्ता बनानेवाले महासार्थवाह के रूप में जगत के सच्चे उद्धारक माने गये हैं ।

इस तरह जगत् के महान् तारणहार लोकोत्तर महिमाशाली अद्भुत व्यक्तित्व के स्वामी श्रीतीर्थङ्कर परमात्मा को सच्चे स्वरूप में पहचानने-समझने के लिये शास्त्रीय ये चार उपमाएं अत्युपयोगी हैं ।

इन्हें जानकर मुमुक्षु आत्मा श्रीतीर्थङ्कर परमात्मा के आदर्श जगत् के हितकारी यथार्थ स्वरूप को समझकर अपने अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्यक् प्रकार से प्रयत्नशील बने- यह ही शुभेच्छा है ।

तीर्थङ्कर और उसकी विशेषतायें

लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज' रतलाम

तीर्थङ्कर का अर्थ—

जैनधर्म के प्रचारकों को तीर्थंकर कहा जाता है, जिनको उस तीर्थंकरनामकर्म की प्रकृति से अरहन्तपद प्राप्त होता है और जो जैनकर्मवाद के दृष्टिकोण में सर्वोपरिपुण्यप्रकृति है। तीर्थंकर का अर्थ है-'जो तीर्थ को करे' अर्थात् जो धर्मरूपी तीर्थ का विस्तार करते हैं अथवा धर्म के चक्र का पुनरावर्त्तन करते हैं वे तीर्थंकर हैं।

उपर की पंक्तियों में जिस तीर्थ शब्द की बात कही गई है उसे कुछ विशेष समझ लेना आवश्यक है। तृ धातु से थ प्रत्यय सम्बद्ध होकर तीर्थ शब्द बनता है। तीर्थ का सरल अर्थ है-'जिस के द्वारा तरा जाय।' इस शब्दार्थ को ग्रहण करने से तीर्थ शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। उदाहरण के लिये देव-शास्त्र-गुरु, पवित्र धर्म, पवित्र कर्म, पवित्र स्थान आदि; परन्तु फिर भी पूर्व के अर्थ की मान्यता में, जो तीर्थ या तीर्थंकर के अर्थ के सम्बन्ध में है, कोई बाधा नहीं आती है। इस तीर्थ के शब्दार्थ से पूर्वोक्त तीर्थंकर के शब्दार्थ का समन्वय इस प्रकार होगा। जो देव-शास्त्र, पवित्र धर्म-कर्म-स्थान इत्यादि तीर्थों के आधारभूत प्रयोजन हैं वे तीर्थंकर हैं अथवा जो देव-शास्त्र-गुरु, पवित्र धर्म-कर्म-स्थान आदि तीर्थों को करते हैं तीर्थंकर हैं।

तीर्थंकर शब्द का एक अर्थ और भी हो सकता है। तीर्थ का अर्थ है-'सलिल' तीर्थ के अर्थ से तीर्थंकर के अर्थ का सामञ्जस्य इस प्रकार होगा। जो अपने जीवन में अनेकानेक जीवों के लिये, उनके उद्धार के अर्थ कल्याणमयी भावना से प्रेरित हो धर्मरूपी तीर्थ या सलिल की धारा प्रवाहित करते हैं वे तीर्थंकर हैं।

*तीर्थङ्कर प्रकृति का प्रभाव—

पहले कहा जा चुका है कि तीर्थंकरनामकर्म की प्रकृति से तीर्थंकर होते हैं जो पुण्य-प्रकृतियों में सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। पुण्यप्रकृति तीर्थंकर के बन्ध के कारण अन्य तदनु-

* गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेयशःकीर्त्तिसेतराणि तीर्थङ्करत्वं च। ये नामकर्म की ९३ प्रकृतिया हैं और उनमे अन्तिम तीर्थंकरप्रकृति है।

सारिणी पुण्य प्रकृतियां मिल कर तीर्थंकर के जीवन-चरित्र को अधिकाधिक रूप में आकर्षक और प्रभावक बना डालती हैं। जिससे सारा संसार प्रत्यक्ष में प्रभावित होता है और परोक्ष में कभी-कभी विश्वास प्रकट करके भी विस्मय तथा अज्ञान के वशीभूत हो आश्चर्य प्रकट करने लगता है। इतना ही नहीं कभी २ अविश्वास प्रकट करता हुआ असम्भव भी कह देता है।

तीर्थंकर-प्रकृति भावी तीर्थंकर के गर्भ में आने के पूर्व ही अपना अमित अतीव प्रशस्त प्रभाव प्रकट करना प्रारम्भ करती है। परिणामस्वरूप तीर्थंकर के गर्भकाल से अवतरण के काल पर्यन्त रत्नों की वर्षा होने लगती है और जन्म के समय तो नरक के नारकी तक एक क्षण को वैर और विरोध भूल कर महान् यातनापूर्ण जीवन से उन्मुक्त सरीखे हो जाते हैं। पृथ्वी के पुरुष और पशु तथा पक्षी ही नहीं बल्कि स्वर्गों के देवता भी तीर्थंकर के जन्म से मुदित होते हैं।

तीर्थङ्कर का व्यक्तित्व—

पुण्य के प्रताप से ही सब सहज सुलभ होता है। जब तीर्थंकर का पुण्य संसार में सर्वोपरि होता है तो उसका व्यक्तित्व कितना महान् और उच्च कोटि का होगा? यह कहना तो दूर रहा, संकुचित तथा सीमितसी मानवीय प्रतिभा सहर्ष सहस्र बार प्रयत्न करने पर अनुमान भी नहीं लगा पाती। तीर्थंकर सामान्य कुलीन नहीं होते। वे अधिकाधिक प्रतिष्ठित सम्माननीय राजवंशज क्षत्रिय होते हैं। अतएव सुनिश्चित है कि उनका व्यक्तित्व असाधारण होता है। वज्रवृषभनाराच संहनन (×जो छहों संहननों में सर्वश्रेष्ठ है) और समचतुरस्र संस्थान+ (जो छहों संस्थानों में सर्वोपरि है) तीर्थंकर के होता है, जिसके कारण तीर्थंकर का शरीर वज्रमय होता है और जो अतीव क्षमता रखता है तथा जो अपने आप में सब कुछ कर सकने की सामर्थ्य रखता है। तीर्थंकर शारीरिक-मानसिक, सामाजिक-सामूहिक सम्पूर्ण शक्तियों से संयुक्त हो सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य होता है। वह एक होकर भी अनेक व्यक्तियों को वश में ही नहीं करता, बल्कि अपने अनुकूल भी बना लेता है। इसी आधार पर तो विचारक तीर्थंकरों को *त्रेशठ शलाका पुरुषों में सर्वप्रथम स्थान देते हैं और जो तीर्थंकर के व्यक्तित्व की महत्ता को देखते हुये उचित भी है।

× वज्रर्षभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसहनन, अर्धनाराचसहनन, कीलकसहनन और असंप्राप्तासृपाटिकासहनन ये छह सहनन माने जाते हैं।

\+ समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जसंस्थान, वामनसस्थान और हुण्डकसंस्थान ये छः संस्थान माने गये हैं।

* २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र ये त्रेशठ शलाका पुरुष माने जाते हैं जिनके चरित्र प्रथमानुयोग सम्बन्धी शास्त्रों में मिलते हैं।

तीर्थङ्कर का जीवन—

तीर्थंकर पूर्ण पुरुषार्थी पुरुष होता है। वह धर्मवीर होने के साथ ही कर्मवीर भी होता है। तीर्थंकर का जीवन पूर्ण विकासमय होता है। वह अपने जीवन में उन कर्मों को, जिनके कारण संसार नाना प्रकार की योनियों में परिभ्रमण करता है, जीत कर कर्मवीर बनता है और ऐसे धर्म के चक्र का प्रवर्तन कर, जो नीचे से ऊँचाई पर पहुँचाने में समर्थ है, जो भारी से हल्का करने के लिये सतत सन्नद्ध है, धर्मवीर बनता है। जब तीर्थंकर कर्मवीर के रूप में ससार के कार्यों को कर के, जो उसे आवश्यक होते हैं, आत्मा से सम्बन्धित कर्मों पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत होता है, तब भी वह मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित करता है और जब वह धर्मवीर के रूप में संसार के कल्याण की कामना से प्रेरित हो कर समवसरणों की सभाओं में अपूर्व अश्रुत आत्मविभोरक धर्मोपदेशामृत का रस प्लावित करता है, तब भी वह अपनी ओर अन्य व्यक्तियों को आकर्षित करता है।

यद्यपि तीर्थंकर राजपुत्र होता है तो राजा बनता है, चक्रवर्त्ती बनता है, कामदेव भी बनता है-प्रजा और परिजन की ममता तथा मोह में भी फँसता है; तथापि संसार की मान्यता का सुख, जो एकसे अधिक दुःखों का बीज है, उसे अपनी ओर पूर्णतया आकर्षित नहीं कर पाता। सारे संसार की सुख-साधन सामग्रियों के समुदाय का सदुपयोग करते रहने पर भी वह आत्मा की ओर से, आत्म-धर्म की ओर से कभी भी पराङ्मुख नहीं होता। प्रत्युत सांसारिक जीवन में वह धार्मिक संस्कारों के अङ्कुरों को पूर्णतया जड़ जमाने का अवसर प्रदान करता है, जिसके आधार पर उसे अपना सच्चे सुख का पुष्पित-पल्लवित-फलित धर्म-विटप वृद्धिगत करना है। लोक के लोगों की दृष्टि में तीर्थंकर का जीवन आशा से भी कहीं अधिक सुखमय होता है। पर वह ऐसे विचार के धरातल पर नहीं आता। निर्वेद का कारण सम्मुख पाते ही वह वैराग्य की ओर आकर्षित ही नहीं होता, बल्कि उस रूप में जैनेश्वरी अमित सुखदायिनी दीक्षा के लिये संसार के समक्ष आ जाता है, जिसमें वह जीवन लेता और छोड़ता है-जिस से सदैव सुख की ही उत्पत्ति होती है और साथ ही जो सुख अजर और अमर तथा अक्षय एवं अनन्त भी है।

तीर्थङ्कर का दुःखवाद—

दुःखवाद तीर्थंकर को दार्शनिक विद्वान् एवं विचारक बना देता है। वह विषय-वासनाओं से विरक्त हो प्रकृति के शान्त एकान्त स्थान में विचरण करता है। पर्वतमालाओं, मनोरम उपत्यकाओं, गम्भीर गुफाओं की शरण लेता है। उन्नतम सर्वोच्चकोटि की आत्म-साधना में लवलीन होता है, वह विचारता है-' सुखद सिद्धि कैसे मिले? सफल सिद्ध किस

प्रकार बनूं! सच्चा सुख संसार में नहीं, दुरंगी दुनियां के झूठे और थोथे प्रलोभनों में सच्चा सुख कहाँ! वह तो आत्मा का गुण सा अमूल्य प्रतिनिधि है, जिसे आत्मा-आत्मा के स्वरूप को पहिचान कर ही प्राप्त कर सकती है। वास्तविक सुख तो कर्मों को पराजित करने के बाद-होनेवाले सच्चे आत्मकल्याण से मिलेगा।'

संसृति की पथच्छाया को पकड़ने का प्रयास निष्फल है। छाया पकड़ने से हाथ में नहीं आती, हताश ही होना पड़ता है। सुख संग्रह में नहीं, त्याग में है। त्याग से ही वृद्धि शक्य और सम्भव है। मुट्ठी में संग्रह करलेने पर तो मुट्ठी भर ही रह जावेगा और उसे ही मुक्त हस्त से वितरण कर देने पर वह कई गुनी वृद्धि प्राप्त करेगा और हम उसकी रक्षा की ओर से निश्चित हो सकेंगे। संसार में सुभग शरीर तक नश्वर है, नित्य नहीं-अनित्य है। संसृति की समृद्धि भी मृत्यु के समय शरण नहीं देती। जीवित अवस्था में जो तन-मन-धन सर्वस्व न्यौछावार करने के लिये प्रस्तुत रहते है वे ही मृत्यु अवस्था में शरीर को एक क्षण भी पड़े रहने देना उचित नहीं समझते। संसार की समृद्धि और परिजन का प्रेम भी साथ नहीं जाता। अपना धर्म और कर्म ही अपने हाथ तथा साथ रहता है। संसार का जीवन तो अनेक छल-छिद्रोंसे भरा है। 'टका बिन टकटकायते' लोकोक्ति के रहस्यवाद में ही संसार के व्यवहार का विज्ञान अन्तर्हित है और जो स्वार्थसिद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई भावनायें लिये हुये हैं।

दुरंगी दुनियां की दो जिह्वायें हैं, दो नीतियां है। जब जीवात्मा अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है तो फिर इस एकाकी जीवन को साथी बना कर सुखी होने का असफलतामय मोह नितान्त निस्सार है। और जो मुमुक्षु के लिये तो सर्वथा ही अवांच्छनीय है। जब जीवन में समीप ही साथी होगा तो उसके लिये हृदय में वह मोह भी होगा, जो मोहनीय* कर्म का कारण बन कर ससार में जीवात्मा को स्वरूप भुला कर उसकी उन्मत्त कीसी अवस्था कर देगा और जिससे जीवात्मा हिताहित, स्व-पर भेदाभेद का विज्ञान नहीं समझ कर जन्म-जरा-मरण आदि अनेक दुःख उठाया करेगा।

जब देह तक अपनी नहीं तो प्रत्यक्ष में पृथक् दीखनेवाले सचेतन-अचेतन की आशा ही क्या! देह आत्मा नहीं, आत्मा देह नहीं है। भूल कर के भी भ्रम में पड़ना भव को बाँधना है। जिस देह की अशुचिता से सारे ससार के पदार्थ अशुचितामय हो जाते है उसी देह को स्नान,

* ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म हैं। इनमें मोहनीय प्रमुख है। इसका स्वभाव सुरा-सुन्दरी सा है और इसकी स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर (अन्य कर्मों से कई गुनी) कही गई है।

विलेपन आदि से शुचितामय बनाने का मोह क्यों ? उसे ही अपना सर्वस्व समझकर सर्वस्व उसके पीछे लुटा देने की सनक सवार क्यों ? सोते को जगाया जा सकता है, पर जानबूझ कर सोये हुये को जगा लेना सम्भव नहीं । अनजान में की हुई अज्ञान की भूल सुधारी जा सकती है; पर जानकर करनेवाले जानकार की भूल नहीं सुधर सकती ।

मोहमयी निद्रा में संसार सोता है और कर्म के चोर सर्वस्व लूटते हैं, परन्तु संसार को इसकी सुद्धि ही कहाँ ? ऐसे संकट के समय में सद्गुरु काम आते हैं । जो जीवात्मा को जगाते हैं और मोहमयी निद्रा एवं तंद्रा दूर करते हैं । जब जीवात्मा सावधान होकर कुछ विशेष प्रयास आत्म-रक्षा के लिये करता है, आत्मिक शक्ति के अन्वेषण और परीक्षण को प्रस्तुत होता है तो परिणाम स्वरूप कर्मरूपी चोर, जो आकर लूट मार करनेवाले थे, नहीं आ पाते । जब जीवात्मा को कुछ सुखद सफलता समीप सी दिखाई देती है तो वह ज्ञान के दीपक को तप के तेज से प्रज्वलित करता है, और अपने घर में स्थित कर्मरूपी चोरों को भी निकाल बाहर करता है । फिर वह कुछ निश्चित और प्रसन्न-सा होकर विचारने लगता है-' लोक में मेरा कितना क्षुद्र स्थान है ! जब कि मुझे आत्मिक नैसर्गिक रूप से लोकोत्तर स्थान पर आसीन होना चाहिये । स्वर्ग ऊपर है और नर्क नीचे ! अच्छा करना पुण्य का कारण है और बुरा करना पाप का । मुझे स्वर्ग और नर्क, पाप और पुण्य, भला और बुरा, राग और द्वेष कुछ भी नहीं चाहिये । मुझे चाहिये निःकांक्षित अंगमयी धार्मिक क्रियायें, मुझे चाहिये आत्मिक कर्त्तव्य समझने के लिये अनासक्ति योग ।' संसार में सब कुछ मिल सकना सम्भव है । परन्तु यथार्थ ज्ञान नहीं । हितकारी मनोहर वचन अतीव दुर्लभ हैं । धर्म वह कल्पवृक्ष है जो संसार को विना याचना किये ही सर्वस्व प्रदान करता है । धर्म-तत्व नितान्त सूक्ष्म है । उस तक पूर्ण रूप से वही पहुंच सकता है जो निर्भ्रान्त और तत्वज्ञानी है । सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से मोक्ष मिलने की सम्भावना है । इनके अभाव या अपूर्णता में नहीं ।

तीर्थङ्कर विवेक के प्रकाश में—

दुःखवादजन्य गहरी अनुभूति लिये तीर्थङ्कर बननेवाला महान् व्यक्ति विवेक के प्रकाश में विचारता है ' समझदारी आने पर यौवन चला जाता है, जब तक फूलों की माला गूंथी जाती है फूल मुरझा जाते हैं, जिसके स्वागत के लिये समारोहमयी धूमधाम होती है उसके आनेके पहले ही प्रतीक्षा में ऑखें पथरा जाती हैं; मधुऋतु में फूल हँसते हुये आते हैं और मकरन्द गिरा कर मुरजा कर रोते हुये जाते हैं, मनुष्य मुट्ठी बॉधे हुये आते हैं और हाथ फैलाकर चले जाते हैं, ऑखोंसे ऑसू आते हैं और गालगीले कर के चले जाते हैं, दिन और रात बनते हैं-मिटते हैं, सूर्य और चन्द्र उदय और अस्त होते हैं, वैसे ही पुरुष, पशु और पक्षी

तथा स्वर्ग के देवता एवं नर्क के नारकी जन्म लेते हैं, मरते हैं और सुख-दुःख जो भी आता है सहते हैं-संसार का जीवन कहने के लिये है। इसमें कोई भी सुनिश्चित नियम नहीं है। मनुष्य का हृदय बड़ा रहस्यमय है। स्वार्थ और लाभ उसके लिये विशेष आकर्षण रखते हैं; परन्तु मनुष्य की मति में, मन में, आत्मा में एक ऐसी शक्ति भी है जिस की सहायता से, सदुपयोग से मनुष्य महान् वन्दनीय तीर्थंकर हो सकता है।'

'मैं मनुष्य हूं। मन और मतिवाला हूं। मेरा तो धर्म ही विश्वबन्धुत्व और समभाव की साधना तथा आत्मोन्नतिका है। अनन्तदर्शन-ज्ञान-सुख और वीर्य का स्वभाव से अधिकारी मनुष्य मैं, सूर्य-चन्द्र, गृह-नक्षत्र सा निष्पक्ष, प्राणीमात्र में एक मूलभूत अन्तरात्मा का प्रेरक, अधम से अधम के उत्थान का इच्छुक, पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म जैसे सभी भेदभावों से विलग, लोक से अलोक की ओर प्रगति का अभिलाषी, अपने साथ संसार को सुखी बनानेवाले स्वर्णोपदेशों का अक्षय भण्डार मैं, कहाँ अपनी अन्तरात्मा को भूल कर भौतिक भोग-वासना में फँस रहा हूँ ! क्या यही साधना करने के लिये मैं कानन में आया हूं ! क्या ऐसा कर के मैं अपने साथ संसार को नहीं छल रहा हूं ? यहाँ तो फूल में शूल हैं और मिलन में विरह, जन्म में मृत्यु जुड़ी तो विवेक में अविवेक और उत्थान में पतन भी। यहाँ अब और कहाँ तक धैर्य रक्खूं !'

'मेरा जीवन भव-सिंधु में भ्रमण करते करते कुत्सित और कलंकित हो गया है। जिस छाया-चित्र और काल्पनिक महत्त्व के लिये मैं दिन-रात दौड़ता था, आज उसीका मुझे अपने हाथों अवसान करना है; क्योंकि उसने मेरी शान्ति-मणि खोई, मुझे आत्म-स्वरूप से विस्मृत किया। ओह ! आज मैं कुछ समझ पा रहा हूं कि कहाँ और कितने नीचे हूं। यद्यपि नैसर्गिक क्रियाओं का लोप होजाने से मैं ही नहीं, सारा संसार दुःखी होरहा है और भौतिक भोगों के प्रभाव में हमारे धार्मिक संस्कार छूट रहे हैं। आज तक मैंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज नहीं सुनी थी, पर अब और अधिक मैं शरीर का मोह लेकर नहीं मरूंगा, बल्कि धर्म के चक्र का नियामक तीर्थंकर बनूंगा और वीतरागता, सर्वज्ञता तथा हितोपदेशिता पाकर रहूंगा।'

तीर्थङ्कर के केवलज्ञान पाने के बाद विचार—

'पहले तो जन्म से तीन ही ज्ञान थे। फिर चार हुये और आज पाँच+ या फिर वह एक जिसके सम्मुख अतीत के चारों ज्ञानों का कोई अस्तित्व नहीं। कितना गौरवमय आज

+ मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान।

का दिवस है ! ऐसा लगता है जैसे जीवन सफलता की सीमा पर आ गया है। काँच की राशि में खोया हुआ चिन्तामणि मिला। उनकी मुराद पूरी हुई। आज मैं सम्पूर्ण महत्वाकांक्षाओं से परे हूं और वासना के जल से कमल के फूल की भाँति ऊपर उठ गया हूं। प्रतीत होता है आज से पहले जो कुछ भी किया वह भ्रम भले न हो, पर सत्य भी न था; बल्कि अन्धकार और प्रकाश का एक अद्भुत सम्मिश्रण था। वस्तुतः परमनिधि तो मुझे आज मिली है। आज मुझे अपनी आत्मा में अन्तर्निहित पूर्णत्व एवं सर्वज्ञत्व की उपलब्धि हुई है।'

'बरसों की साधना के बाद आज ज्ञान के सिन्धु में शंका की तरंगे नहीं उठ रही हैं। मेरे मानसने प्रशान्त महासागर सदृश विमल प्रभा प्राप्त करली है। मेरा कर्मरूपी कुलाल प्रायः सभी विपाक निर्मितपात्र उतारने को उद्यत हो रहा है। प्रमुख घातिया पात्रों को तो वह उतार ही चुका, अब तो केवल कहने भर के अघातिया पात्र रह गये हैं जिनका उतारना बांये हाथ का खेल है, पर मैं अभी तरण ही बना हूं, तारण बनना शेष है। मुझे केवल अपना ही कल्याण नहीं करना; बल्कि दूसरों का भी; तब ही तो साधना पूर्ण कही जावेगी, अन्यथा तो स्वार्थ-सिद्धि कहलावेगी। और कुछ काल बाद में वह भी पा सकूंगा जो अभी तक पाया नहीं और जिसे पाने के लिये जीवन पर्यन्त प्रयत्न किया है।'

तीर्थंकर का तीर्थंकरत्व—

तीर्थंकर के तीर्थंकरत्व की पूर्णता का प्रारम्भ पूर्ण ज्ञानी होने के बाद ही होता है। तीर्थंकर के प्राप्त पूर्णज्ञान अथवा केवलज्ञान की सीमा अक्षुण्ण और अखण्ड तथा अनन्त होती है। इस ज्ञान के द्वारा वह संसार के सचेतन और अचेतन अनन्तानन्त पदार्थों और जीवों की अनन्तानन्त अवस्थाओं को एक क्षण मात्र में हथेली पर रखे हुये आंवले की भांति, हाथ की रेखाओं की भांति अत्यन्त सुविशद रीति से जान लेता है। तीर्थंकर धर्म-चक्रवर्ती की भांति [illegible] बनता है। 'और ने कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' का प्रतीक होता है। इसी प्रकार वह तीर्थंकर प्राप्त [illegible] ज्ञान के वितरण का निश्चय करता है और बहुजनहिताय बहुजनसुखाय [illegible] विहार भी करता है। पुण्यमय समवसरण में वह प्राणिमात्र को [illegible] हितमित-प्रिय वचन-संयुक्त धर्मोपदेश देता है। धर्मोपदेश देते तथा विहार (भ्रमण) करते हुए भी [illegible] में रहता है और देवता उसके पैरों के नीचे स्वर्ण-कमलों की रचना करते हैं।

तीर्थंकर संसारी जीवों को मार्ग बताता है और भक्तों को आत्मज्ञान देता है। पूजक ने [illegible] और भौतिक सुख के स्थान में अलौकिक सुख के लिये प्रेरणा

करता है। जन्म और जरा, विवाह और मरण, रोग और शोक, मोह और क्रोध, लोभ और क्षोभ, मान और माया जैसे रोग बताता है और उन्हें दूर करने का उपाय भी। दुखद जीवन के बन्धन से मुक्ति का मार्ग बतलाता है और सही श्रद्धा, ज्ञान के साथ सही दिशा में चारित्र-पालन के लिये भी समझाता है। अवसानकाल में, आयुकर्म के अभाव के कुछ काल पूर्व वह जीवन्मुक्त तेरह गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर किसी पुण्य प्रान्त में आत्मिक ध्यान में मग्न होता है और वहीं से 'अ इ उ ऋ' कहे जांय उतने काल में मोक्ष पालेता है। तीर्थंकर जीवात्मा से अन्तरात्मा, अन्तरात्मा से परमात्मा तथा परमात्मा से मुक्तात्मा बनता है और मुक्त आत्मा बन कर, मुक्त जीवन प्राप्त कर वह अलौकिक सुख ही सुख का अनुभव करता रहता है। वह संसार के चल-द्वन्द्वमय प्रपञ्च से सर्वदा को मुक्ति पालेता है। यहीं पर जा कर तीर्थंकर के तीर्थंकरत्व की, लक्ष्य की पूर्णता की इतिश्री होती है।

तीर्थङ्कर के कल्याणक—

तीथकर जीवन में अपना और दूसरों का कल्याण करते हैं, इस में सन्देह के लिये तिलतुष मात्र भी स्थान नहीं। जब साधन तथा साध्य में कोई विशेष अन्तर ही नहीं रहता है, तब ही कल्याणमयी भावना पूर्ण होती है। हां, तो लोक के लिये मंगलमूर्त्ति सरीखे तीर्थंकर के जीवन की कतिपय क्रियायें कल्याणक कह दी जावें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कल्याणक का अर्थ है-कल्याण करनेवाला व्यक्ति अथवा कार्य। जो अपना और दूसरों का कल्याण कर सके, वह व्यक्ति कल्याणक है और वह कार्य भी, मेरे लेखे, धन्य है जो कल्याण करता है। कारण यह है कि संसार कहीं पर कार्य से प्रभावित होता है और कहीं पर व्यक्तिगत विशेषता से। अतएव विचार के बिन्दु से कल्याणक के क्षेत्र में कार्य और व्यक्ति दोनों का ही समावेश करना समुचित और पूर्ण उपयुक्त होगा।

तीर्थंकर के जीवन के कल्याणक कार्यों का स्थूल वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार होगा: (१) गर्भकल्याणक (२) जन्मकल्याणक (३) दीक्षा या तप कल्याणक (४) ज्ञान या केवलज्ञान कल्याणक और पांचवाँ मोक्षकल्याणक। चूंकि इन कल्याणकों की परिभाषा, समय, जीवन का यथावश्यक प्रसंगोपात्त कार्यक्रम उनके नाम से ही काफी सुस्पष्ट है, अतएव इस विषय में मौन रहने से भी विषय की हानि नहीं होगी। इन कल्याणकों के ऊपर रूपचंद पाण्डे आदि कई एक विद्वान् एवं कवियोंने बहुत कुछ लिखा है।

तीर्थ के निर्माता तीर्थङ्कर—

जिन-जिन जगहों पर तीर्थंकर के चरण पड़ते हैं, जहाँ-जहाँ तीर्थंकर के कल्याणक

होते हैं, वे सभी स्थान कालान्तर में पूजनीय वन जाते हैं। पुरुष और पशु तथा पक्षी को ही नहीं, अपितु सुरासुरों को वहाँ का कण-कण तक भी शिरोधार्य होता है। जैनजनों के सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान सम्मेदशिखर, गिरनार, पालीताणा (शत्रुंजय) इस दिशा में साक्षीभूत हैं। तीर्थ के अमित अमोघ प्रभाव को स्पष्टतया स्वीकार करता हुआ संसार कहने लगता है-'तीर्थ के मार्ग की रज को पाकर मनुष्य कर्म-रजसे रहित हो जाता है। तीर्थों में भ्रमण करने से भवमें भ्रमण नहीं होता है। तीर्थ की यात्रा करने के लिये चञ्चल लक्ष्मी व्यय करने से अचञ्चल शिवलक्ष्मी मिलती है।' जगत तीर्थयात्रा करता हुआ मुमुक्षु भाव में आत्मा का हित करने के लिये कहता है-'तीर्थयात्रा उसीकी सफल है जो आत्मा के तीर्थ पर पहुंचा और आत्मा के तीर्थ(पानी)में ही निमग्न हुआ। सहर्ष सहस्र वार संसार के लेखे वे धन्य हैं तीर्थनिर्माता तीथकर जो दर्शनविशुद्धि 卐आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर बनते हैं और तीर्थ वनाते हैं।

तीर्थङ्कर की देन—

जैनधर्म, जिसकी विश्वव्यापकता महान् है और जिसकी प्राचीनता के चिह्न दिनप्रतिदिन मिलते ही जा रहे हैं तथा जो व्यक्ति और विश्व के उपकार की भावनाप्रधान है एवं जो प्राकृतिक जीवनसंगत सयुक्तिक धर्म है, जिसकी अहिंसा अवर्णनीय है और जिसका अपरिग्रह प्रशंसनीय है तथा जिसका कर्मवाद चिन्तनीय है एवं जिसका अनेकान्तवाद अनुकरणीय है, जिसे विश्व-धर्म अथवा मानव-धर्म या फिर जन-जन के मन-मन का धर्म कहा जा सकता है और जो विज्ञानों का विज्ञान तथा कलाओं की भी कला है, जो आत्मा को परमात्मा बना देने का विज्ञान सिखाता है और जीवात्मा को मुक्तात्मा बनने की कला सिखाता है तथा जिसमें अँधेरे में निशाना लगाने जैसा प्रयास कहीं पर भी अणुमात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होता, वह आज का उपलब्ध जैनधर्म-दर्शनसाहित्य साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थंकर की ही परम्परागत देन है। कहा जावे तो जैसे सृष्टि (जैन मान्यता के अनुसार) अनादि, अनिधन है, वैसे ही जैनधर्म भी और उसके प्रचारक-प्रसारक-प्रवर्त्तक तीर्थंकर भी हैं।

तीर्थङ्कर का महत्व—

मोक्ष-मार्ग-विहारी, शिवाकान्त तीर्थंकर जीवन का लक्ष्य प्राप्त करते है और उपलब्ध परमात्मस्वरूप में ही निरन्तर लयलीन रहते हैं। कर्म और कषायों से परे रह कर सुख का

卐 दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधि-वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकपरिहाणिमार्गप्रभावनावत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य।

अनुभव करते हैं। वे अजर, अमर, अक्षय, अनन्त, अनुपम, अद्भुत, लोकोत्तर सुख का अनुभव करते हैं। दुःख के अभाव में जैसे सुख मिलता और रात्रि के वीतने पर जैसे दिवस आता, वैसे ही वे आठों कर्मों के अभाव में आठ सद्गुण प्राप्त कर लेते हैं। *तीर्थंकर जीवन-काल में जब विश्ववन्द्य और जीवनमुक्त होता है तथा आदर्श और यथार्थ लिये रहता है, तब वह प्रत्येक मुमुक्षु को उपादेय और दर्शनीय होता है; क्यों कि तीर्थंकर के दर्शन उसे आत्म-तीर्थ के दर्शन कराने में सहायक होते हैं और उसको भी तीर्थंकर होने के लिये उत्तेजित करते हैं।

किन्तु वर्तमान काल में उनके प्रत्यक्ष दर्शन सुलभ नहीं, विदेह क्षेत्र में भले ही वीस तीर्थंकरों के विद्यमान रहने का उल्लेख हो, परन्तु जब हम वहाँ जा ही नहीं सकते तो उनसे हमारा मूलभूत प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता। अतएव उनकी तदाकार मूर्त्तियों को मन्दिरों में स्थापित कर उनके दर्शन किये जाते हैं। तीर्थंकर की ध्यान-मग्न सौम्यमूर्ति के दर्शन से वह सुशान्ति उपलब्ध होती है जो आज के अणुवम, उद्जन बम के युग में मनुष्य के लिये अतीव आवश्यक है। दर्शन करके दर्शक अलभ्य आत्मतुष्टि पा जाता है और भक्तिमय गुणानुवाद का गायक बन जाता है। तीर्थंकर की प्रतिमा के दर्शन कर वह अपने आप को धन्य मानता है और मानवीय जीवन को सफल तथा सार्थक हुआ समझने लगता है।

आज लगभग ढाई हजार वरस वीतने को हैं, तब से इस पृथ्वी पर कोई तीर्थङ्कर नहीं हुआ और न जैनजनों के मत से इस से भी कई गुने काल में होने की सम्भावना ही है। यह जानते हुये भी अगणित मन्दिरों में अथवा धर्म-स्थानों में जो अगणित धार्मिक क्रियायें तीर्थंकर को लक्ष्य कर, आत्मिक उद्धार की भावना लेकर की जा रही हैं, उनके मूलभूत आधार में ही तीर्थंकर का महत्व, जो अवर्णनीय है, अन्तर्हित है।

तीर्थङ्कर चौवीस—

जैनशास्त्रों में चौवीस तीर्थंकर माने जाते हैं। तीर्थंकर कहो या श्रेष्ठ महापुरुष भी-बात एक ही है। चौवीस तीर्थंकरों की भाँति हिन्दुओं में चौवीस अवतार, बौद्धों में चौवीस बुद्ध और जोरेस्ट्रीयनों [Zorastrians] में चौवीस अहूर [Ahuras] माने गये है। यहूदी धर्म में भी आलंकारिक भाषा में चौवीस महापुरुष माने गये हैं। जैनेतर स्रोतों द्वारा जैनधर्म के चौवीस तीर्थंकरों की मान्यता का समर्थन यह सूचित करता है कि जैन मान्यता सत्य पर

---

* अट्ठवियकम्मवियलासीदीभूदाणिरजणा णिच्चा। अट्ठगुणा किद किच्चा लोयग्गावासिणो सिद्धा॥ प्राकृत के सिवाय हिन्दी भाषा में यही आठ गुण इस प्रकार हैं.—समकित दर्शन ज्ञान, अगुरुलघू अवगाहना। सूक्ष्म वीरजवान निराबाध गुण सिद्ध के।

आधारित है। जैन ग्रन्थों में वर्त्तमान चौवीसी के सिवाय भूत और भविष्यत काल की चौवीसी के भी नाम मिलते हैं।

तीर्थंकर का स्थान—

तीर्थंकर, अर्हंत और जिनेन्द्र भी हैं। चूंकि वह भव्य जीवों के उद्धार के लिये उपदेश देता है, अतएव जैनजनोंने 'णमोकार मन्त्र' में सर्वप्रथम उसको ही 'णमो अरहन्ताणम्' कह कर नमस्कार किया है। सिद्ध भविष्य का बृहत् और साधु, उपाध्याय, आचार्य तीर्थंकर के भूत के संक्षिप्त संस्करण हैं। जो स्थान हिन्दुओं में अवतार का, बौद्धों में बुद्ध का, ईसाइयों में ईसामसीह का, मुसलमानों में पैगम्बर का, जोरेस्ट्रीयनों में अहूर का है, वही स्थान जैन-जनों में तीर्थंकर का है। चूंकि तीर्थंकर आत्मा की उपलब्धि कर लेते हैं, अतएव उन्हें कोटिशः प्रणाम है। इतना ही मुझे 'तीर्थंकर और उसकी विशेषतायें' निबन्ध में कहना है।
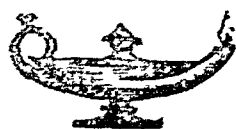
श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली

पं. श्रीकैलाशचन्द्र शास्त्री

अखण्ड जैन परम्परा के अन्तिम श्रुतधर श्रुतकेवली भद्रबाहु ही एक ऐसे महापुरुष हैं जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर अपनी पूर्ण श्रद्धा और भक्ति के साथ मानते हैं।

यों तो अन्तिम केवली जम्बूस्वामी के पश्चात् से ही दोनों सम्प्रदायों की गुर्वावलियां भिन्न-भिन्न होजाती हैं, किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहुरूपी संगम पर आकर गंगा जमुना की तरह वे पुनः मिल जाती हैं। गंगा जमुना तो प्रयाग में मिलकर फिर कभी जुदी नहीं हो सकीं, किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु के अवसान के साथ ही अखण्ड जैन परम्परा का तो सदा के लिये अवसान होजाता है और उनके पश्चात् जैन परम्परा स्थायीरूप से दो स्रोतों में प्रवाहित होने लगती है। और फिर उनके जीवन में श्रुतकेवली भद्रबाहु जैसा कोई संगमस्थल श्रुतधर अवतरित नहीं हुआ।

अतः श्रुतकेवली भद्रबाहु दोनों सम्प्रदायों के अन्तिम संगमरूप पवित्र तीर्थभूमि हैं। इस लेख के द्वारा हम दोनों सम्प्रदायों के साहित्य के आधार पर उसी तीर्थभूमि का किञ्चित् दर्शन कराना चाहते हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र और नन्दिसूत्र की स्थविरावलियों में श्री धर्मघोषसूरि के ऋषिमण्डलसूत्र तथा इनकी अर्वाचीन टीकाओं से और श्री हेमचन्द्रसूरिजी के परिशिष्ट पर्व से भद्रबाहुस्वामी के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है।

स्थविरावलियों के अनुसार श्री भद्रबाहु श्री यशोभद्रसूरिजी के शिष्य थे। तथा कल्पसूत्र की विस्तृत स्थविरावली के अनुसार भद्रबाहु के चार शिष्य थे, किन्तु भद्रबाहु की शिष्य-परम्परा उनसे आगे नहीं चल सकी, वे चारों ही स्वर्गवासी होगये। अतः श्वेताम्बरों में

---

१. स्थविरावली में जब भद्रबाहु के चार शिष्यो से चार शाखाएं निकली और उनके नाम मिलते हैं तो शिष्यपरम्परा आगे नहीं चल सकी, यह लिखना ठीक नही ज्ञात होता। शाखा निकलने का मतलब ही यह है कि उनकी परम्परा आगे चली। हा, कब तक चली, यह नही कहा जा सकता। स्थविरावली का उद्देश्य गण, कुल, शाखा का निर्देश कर देना ही है। अन्त तक की समस्त परम्परा बतलाने का नही, न यह सम्भव ही था। क्योंकि भगवान महावीर के १ हजार वर्षों में तो हजारो की संख्या में जैन मुनि हुए और अनेक गण आदि निकले, उनमें बहुत से दीर्घकाल तक भी चले होंगे। उन सब की दीर्घ परम्परा की मुनियो की नामावली देना तो बहुत बड़े ग्रन्थ का काम है।

भद्रबाहु के आगे स्थूलभद्र की परम्परा चलने से मतलब यही है कि युगप्रधान पट्टपरम्परा में वे ही आये।

सपा० श्री नाहटाजी

भद्रबाहु की शिष्य-परम्परा का अभाव है। उक्त स्थविरावलियां भद्रबाहु के गुरुभाई संभूतिविजय के शिष्य स्थूलभद्र से आगे चलती हैं।

ऋषिमण्डलसूत्र में भद्रबाहु की स्तुति एक गाथा के द्वारा की गई है, किन्तु उनके उत्तराधिकारी स्थूलभद्र की स्तुति वीस गाथाओं में की है। भद्रबाहु की स्तुति पर गाथा इस प्रकार है—

'दसकप्पववहारा निज्जूढा जेण णवमपुव्वाओ।
वंदामि भद्दबाहुं तमपच्छिम सयल सुयनाणिं॥'

अर्थात् जिसने नवम पूर्व से दशकल्प और व्यवहारसूत्र का उद्धार किया उन अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को मैं नमस्कार करता हूं।

'अपश्चिम' शब्द का अर्थ अन्तिम होता है, किन्तु 'पश्चिम नहीं' ऐसा भी किया जा सकता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार भी भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे, किन्तु श्वेतांवर परम्परा में स्थूलभद्र को भी छट्ठा श्रुतकेवली माना है। इस लिये अपश्चिम का अर्थ 'पश्चिम नहीं' लिया जाता है। स्थूलभद्र किस प्रकार से श्रुतकेवली बने, यह आगे ज्ञात होगा।

स्थविरावलियों और ऋषिमण्डलसूत्र से तो भद्रबाहु के विषय में इतनी ही जानकारी प्राप्त होती है। श्री हेमचन्द्रसूरि के परिशिष्ट पर्व से भी उनके अन्तिम जीवन की ही जानकारी होती है। उनके जन्मस्थान विगेरह के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

अर्वाचीन टीकाकारोंने प्रतिष्ठानपुरवासी प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर और भद्रबाहु को सहोदर भ्राता बतलाया है। किन्तु वराहमिहिर का समय विक्रम की छट्ठी शताब्दी सुनिश्चित है। उन्होंने अपनी पञ्चसिद्धान्तिका में उसका रचनाकाल शक सं. ४२७ दिया है, अतः विक्रम से ३०० वर्ष पूर्व होनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई नहीं हो सकते, यह निश्चित है। उक्त ग्रन्थों से मोटे तौर से भद्रबाहु के सम्बन्ध में इतनी ही जानकारी हो पाती है, दिगम्बर परम्परा में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जन्मादि का परिचय हरिषेण के कथाकोश से मिलता है। लिखा है—

पौण्ड्रवर्धन देश में देवकोट्ट नामक नगर है, उस नगर का पुराना नाम कोटीमत था। उसमें सोमशर्मा नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम सोमश्री था। उनके भद्रबाहु नामक पुत्र था। एक दिन भद्रबाहु अपने साथी बालकों के साथ खेलता था। खेल में उसने एक के ऊपर एक-एक करके चौदह गट्ट (कङ्कर) चढ़ा दिये।

चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य उधर से जाते थे। उन्होंने भद्रबाहु के इस हस्त-

कौशल को देखा। उन्हें लगा कि वह बालक चतुर्दशपूर्वधर बनेगा। उन्होंने उसे उसके पिता से मांग लिया और पढ़ा लिखाकर सुशिक्षित किया। शिक्षित होने के पश्चात् भद्रबाहु अपने पिता के पास चला गया और उनकी आज्ञा लेकर पुनः गुरु के पास लौट आया और मुनिदीक्षा लेकर साधु होगया। गोवर्धनाचार्यने उन्हें चतुर्दशपूर्व का पाठी बनाकर समाधि लेली।

उक्त कथाकोश का रचनाकाल शक संवत् ८१३ है। विक्रम की १६-१७वीं शताब्दी के रचित भद्रबाहुचरित में भी उक्त आख्यान इसी रूप में पाया जाता है। संभव है उसकी रचना कथाकोश में प्रदत्त भद्रबाहु कथा के आधार से ही की गई हो।

साधुजीवन—

श्रुतकेवली भद्रबाहु के साधुजीवन के विषय में उक्त कथाकोश में लिखा है—

एक बार श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने विशाल संघ के साथ भ्रमण करते हुए उज्जैनी नगरी में आये। उस समय उस नगरी का राजा चन्द्रगुप्त था। वह एक सम्यग्दृष्टि श्रावक था। एक दिन भद्रबाहु आहार के लिये निकले। एक घर में एक शिशु पालने में लिटा था। उस शिशुने भद्रबाहु से शीघ्र चले जाने के लिये कहा। उसके वचनों को सुनकर दिव्य ज्ञानी भद्रबाहु विचार करने लगे। उन्हें प्रतीत हुआ कि इस देश में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ेगा। उस दिन उन्होंने आहार नहीं लिया और विना भोजन लिये लौट आये। लौट कर उन्होंने संघ से कहा कि इस देश में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ेगा। मैं अल्पायु हूं, इस लिये यहीं रहूंगा। आप लोग यहां से समुद्र के तट की ओर चले जावें। इस बात को सुनकर राजा चन्द्रगुप्तने भद्रबाहु से जिनदीक्षा ले ली। वे दशपूर्वी हुए और विशाखाचार्य नाम से समस्त संघ के स्वामी बने। तत्पश्चात् भद्रबाहु की आज्ञानुसार समस्त संघ विशाखाचार्य के साथ दक्षिण देश को चला गया। और भद्रबाहुस्वामीने उज्जैनी के भाद्रपद देश में अनशनपूर्वक शरीर त्याग दिया।

इसके पश्चात् कथामें दक्षिण गये संघ का प्रत्यावर्तन, उत्तर भारतमें रह गये संघमें दुर्भिक्षके कारण शिथिलाचारिता का प्रवेश, अर्धस्फालक सम्प्रदायकी उत्पत्ति आदि का वर्णन है।

---

१. श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ सम्राट् चन्द्रगुप्त के दीक्षा लेने आदि के सम्बन्ध में मुनि कल्याणविजयजीने वीर निर्वाण सम्वत और जैन काल-गणना के पृष्ठ ७३ में विचार करते हुए लिखा है कि यदि भद्रबाहुने दक्षिण की यात्रा की हो तो वे द्वितीय भद्रबाहु ही हो सकते है। सरस्वती गच्छ की नन्दी आम्नाय की पट्टावली के अनुसार नैमित्तिक द्वितीय भद्रबाहु ईस्वीसन् से ५३ वर्ष और शक सम्वत् से ३१ वर्ष पूर्व हुए। वे ही दक्षिण में गये होंगे। चन्द्रगुप्त को शिष्य बताया है।

२. भद्रबाहु का स्वर्गवास मुनि कल्याणविजयजी के उक्त ग्रन्थानुसार पूर्व देश-बंगाल में ही हुआ था।

संपा० श्री नाहटाजी.

१६-१७ वीं शती के रत्ननन्दि भद्रबाहुचरित में भी उक्त कथा के अनुसार ही भद्रबाहु का जीवनचरित दिया है। कथा से उसमें इतनी विशेषता है कि चन्द्रगुप्त महाराज १६ स्वप्न देखते हैं और भद्रबाहु से उनका फल पूछ कर जिनदीक्षा ले लेते हैं तथा भद्रबाहु संघ के साथ दक्षिण की ओर विहार करते हैं। चन्द्रगुप्त भी उनके साथ जाते हैं। मार्ग में एक गिरिगुहा में भद्रबाहु समाधिपूर्वक प्राण त्याग करते हैं। चन्द्रगुप्त उनके चरणारविन्दों की पूजा करते हुए वहीं रहते हैं और जब विशाखाचार्य दक्षिण से लौटते हैं तो चन्द्रगुप्त उनसे मिलते हैं। इस चरित में राजा का चन्द्रगुप्ति नाम दिया है। कन्नड़ भाषा के चिदानन्द कविकृत मुनिवंशाभ्युदय में तथा देवचन्द्रकृत राजावलि कथा में भी भद्रबाहु का चरित वर्णित है। मुनिवंशाभ्युदय में लिखा है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु बेलगोला आये और चिक्कबेट्ट (चन्द्रगिरि) पर ठहरे। एक व्याघ्रने उन पर धावा किया और उनका शरीर विदीर्ण कर डाला। उनके चरणचिह्न अबतक गिरि की एक गुफा में पूजे जाते हैं।

इस प्रकार हरिषेण कथाकोश के सिवाय अन्य ग्रन्थों में भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा तथा दक्षिण में ही उनका स्वर्गवास बतलाया है। श्रवणबेलगोला में स्थित चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बस्ति के पास एक शिलालेख है जो वहां के समस्त शिलालेखों में प्राचीन माना जाता है। उसमें लिखा है–'महावीरस्वामी के पश्चात् परमर्षि गौतम, लोहार्य, जम्बू, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृत्तिकार्य, जय, सिद्धार्थ, धृतिषेण बुद्धिल आदि गुरु-परम्परा में होनेवाले भद्रबाहुस्वामी के त्रैकाल्यदर्शी निमित्तज्ञान द्वारा उज्जयिनी में यह कहे जाने पर कि वहां बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़नेवाला है, सारे संघ ने उत्तरापथ से दक्षिणापथ को प्रस्थान किया और वह एक समृद्ध जनपद में ठहरा। भद्रबाहुस्वामी संघ को आगे बढ़ने की आज्ञा देकर आप प्रभाचन्द्र नामक एक शिष्य के साथ कटवप्र पर ठहर गये और उन्होंने वहां समाधिमरण किया।

दिगम्बर पट्टावलियों के अनुसार श्रुतकेवलि भद्रबाहु के सिवाय एक भद्रबाहु और हुए हैं, जिनसे सरस्वती गच्छ की नन्दि संघ पट्टावली प्रारम्भ होती है। उक्त शिलालेख से भी यही व्यक्त होता है कि दूसरे भद्रबाहु दक्षिण गये थे। किन्तु वहीं के शिलालेख नं. ४०, ५४ और १०८, श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त को गुरुशिष्य बतलाते हैं। एक समय भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त को लेकर पाश्चात्य विद्वानों में खूब ऊहापोह चला था। डा. फ्लीट का

---

१. चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न देखने और भद्रबाहु का इनके फल के प्रतिपादन करने की कथा ज्यादा प्राचीन नहीं है। इसके सम्बन्धमें मुनि कल्याणविजयजीने उक्त ग्रन्थमें विचार किया है। सपा० श्री नाहटाजी.

२. देखो, जैन शिलालेखसंग्रह; मा. ग्र. मा. बम्बई।

मत था कि दक्षिण की यात्रा करनेवाले द्वितीय भद्रबाहु थे। दिगम्बर पट्टावली में उनके शिष्य का नाम गुप्तिगुप्त लिखा है। डा. फ्लीट का कहना था कि गुप्तिगुप्त का ही नामान्तर चन्द्रगुप्त है। किन्तु डा. ल्युमैन[1], डा. होर्नले[2], श्री. टॉमस[3], डा. स्मिथ[4], मि. राईस[5] और श्री जायस्वाल[6] श्रुतकेवली भद्रबाहु के ही पक्ष में थे। और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को ही उनके साथ जानेवाला मानते थे। अस्तु।

श्वेताम्बर परम्परा में हेमचन्द्राचार्यने अपने परिशिष्ट पर्व (सर्ग ९) में भद्रबाहु के युगप्रधान काल में मगध में बारह वर्ष के भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने का कथन किया है तथा मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को उनका समकालीन बतलाया है। उसमें लिखा है कि उस भयंकर दुष्काल में जब साधुओं को भिक्षा मिलना कठिन हो गया तब साधु लोग निर्वाह के लिये समुद्र के तट की ओर चले गये। भद्रबाहुस्वामी नेपाल[7] की ओर गये थे और वहां उन्होंने बारह वर्ष के महाप्राण नामक ध्यान की आराधना की थी।

सुभिक्ष होने पर जब साधुसंघ मगध में लौट कर आया तो जिसको जो याद था उसको लेकर ग्यारह अंगों की संकलना की गई। परन्तु दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का ज्ञाता वहां कोई नहीं था। तब संघने दो मुनियों को भद्रबाहुस्वामी को बुलाने के लिये भेजा। मुनियोंने जाकर निवेदन किया कि संघ का आदेश है कि आप मगध में पधारें। भद्रबाहुने कहा—"मैंने महाप्राण नामक ध्यान आरम्भ किया है जो बारह वर्षों में समाप्त होगा, अतः मैं नहीं जा सकता।" मुनियोंने लौट कर संघ से उक्त बात निवेदन कर दी। तब संघने पुनः दो मुनियों को भद्रबाहु के पास भेजा और उनसे कहा कि तुम जा कर उनसे पूछना कि जो श्री संघ का शासन नहीं माने उसे क्या दण्ड देना चाहिये? जब वे कहें कि उसे संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिये तो तुम उनसे जोरपूर्वक कहना कि आप इसी दण्ड के योग्य हैं। दोनों मुनियोंने जाकर भद्रबाहु से उक्त प्रश्न किया और उन्होंने भी उक्त उत्तर दिया। तब

---

१. वियना ओरियन्टल जर्नल, जि. ७, पृ. ३८२।

२. इन्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि २१, पृ ५९–६०।

३. अर्ली फेथ ऑफ अशोक, पृ. २३।

४. आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृ. ७५–७६।

५. इन्सक्रिपशन्स ऑफ श्रवणबेलगोल की भूमिका।

६. जर्नल ऑफ बिहार उडीसा रिसर्च सोसायटी जि. ३।

७. श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेपाल मे होनेका उल्लेख आवश्यकचूर्णि जैसे प्राचीन ग्रन्थों में मिलने से अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है— संपा० श्री नाहटाजी

मुनियों की प्रार्थना पर भद्रबाहुने कहा कि संघ मेरे पास कुछ साधुओं को भेज दें तो मैं उन्हें पूर्वों की वाचना दे दूंगा।

तित्थोगालीपइन्नय में लिखा है—" श्रमण संघने अपने दो प्रतिनिधि भद्रबाहु के पास भेज कर कहलाया कि ' हे पूज्य क्षमाश्रमण! आप वर्तमान में जिन तुल्य हैं, इस लिये पाटलिपुत्र में एकत्र हुआ ' महावीर का संघ ' प्रार्थना करता है कि आप वर्तमान श्रमण गण को श्रुत की वाचना दें।"

उत्तर में भद्रबाहुने कहा—" श्रमणो! मैं इस समय तुम को वाचना देने में असमर्थ हूं और आत्मिक कार्य में लगे हुए मुझे वाचना का प्रयोजन भी क्या है! " भद्रबाहु के उत्तर से नाराज होकर स्थविरों ने कहा-" क्षमाश्रमण! निष्प्रयोजन संघ की प्रार्थना का अनादर करने से तुम्हें क्या दंड मिलेगा? इसका विचार करो।" भद्रबाहुने कहा-" मैं जानता हूं, संघ इस प्रकार वचन बोलनेवाले का बहिष्कार कर सकता है।"

स्थविर बोले—" तुम यह जानते हुए भी संघ की प्रार्थना का अनादर करते हो। अब हम तुम को संघ में शामिल कैसे रख सकते हैं? श्रमण संघ आज से तुम्हारे साथ बारहों प्रकार का व्यवहार बन्द करता है।"

भद्रबाहु अपयश से डरते थे। इससे जल्दी संभल कर बोले-" मैं एक शर्त पर वाचना दे सकता हूं।"

इसके पश्चात् उनके पास ५०० साधु भेजे गये और वहां वे दृष्टिवाद अंग का अध्ययन करने लगे। किन्तु एक-एक करके सभी साधु वहां से चले आये, केवल स्थूलभद्र ही रह गये। और उन्होंने दस पूर्वों का अध्ययन किया। इतने समय में भद्रबाहु का ध्यान पूरा हुआ और वे मगध में लौट आये और वहीं उनका स्वर्गवास हुआ।

ऊपर के विवरण से प्रकट होता है कि दुर्भिक्ष के पश्चात् पाटलीपुत्र में जो प्रथम वाचना हुई, तत्कालीन युगप्रधान भद्रबाहु के अभाव में हुई तथा उसके पश्चात् संघ का उनके साथ अच्छा खासा विवाद भी हो गया और संघने उन्हें बहिष्कृत भी कर दिया। किन्तु अपयश के भय से भद्रबाहु ढ़ीले पड़ गये और उन्हें संघ की बात माननी पड़ी। इस तरह की घटना अपने समय के अन्य किसी युगप्रधान महापुरुष के साथ घटी हो, ऐसा मेरे देखने में नहीं आया।

परिशिष्ट पर्व के अनुसार स्वर्गवास से पूर्व भद्रबाहु अपना युगप्रधान पद स्थूलभद्र को दे गये थे। अतः भद्रबाहु के पश्चात् स्थूलभद्र ही युगप्रधान हुए। किन्तु पट्टावलियों में

स्थूलभद्र को संभूतिविजय का शिष्य बतलाया है । क्यों कि उन्होंने उनसे ही दीक्षा ली थी । भद्रबाहु का कोई शिष्य नहीं था । अतः उनकी पट्टावली श्वेताम्बर परम्परा में उनके साथ ही समाप्त हो जाती है[1] और छट्टे श्रुतकेवली स्थूलभद्र की परम्परा ही आगे चलती है ।

उधर दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य कुन्दकुन्दने अपने बोधपाहुड़[2] के अन्त में अपने को भद्रबाहु का शिष्य बतलाते हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपना गमक गुरु कहा है और उनका जयकार किया है । तदनुसार श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु के अन्वय में हुआ बतलाया है ।

पाटलीपुत्रीय वाचना में भद्रबाहु की अनुपस्थिति, श्रीसंघ का उनसे विवाद और संघ द्वारा उन्हें बहिष्कृत किया जाने का उल्लेख, तथा श्वेताम्बर परम्परा में भद्रबाहु की शिष्य परम्परा में उनकी मान्यता आदि बातों से यह प्रकट होता है कि उनके जीवनकाल में कोई बात ऐसी अवश्य हुई, जिसके कारण संघभेद हुआ ।

निर्युक्तिकर्ता भद्रबाहु—

श्वेताम्बर परम्परा में श्रुतकेवली भद्रबाहु निर्युक्तिकार के रूप में ख्यात हैं । आवश्यक-निर्युक्ति में उसके रचयिताने अपनी रची हुई निर्युक्तियों की नामावली इस प्रकार दी है— आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनि०, उत्तराध्ययननि०, आचाराङ्गनि०, सूत्रकृताङ्गनि०, सूर्य-प्रज्ञप्तिनि०, ऋषिभाषितनि०, पिण्डनि०, ओघनि० । इन निर्युक्तियों के सिवाय कुछ मूल ग्रन्थ भी उनके द्वारा रचित माने जाते हैं । यथा—बृहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध, भद्र-बाहुसंहिता, उवसग्गहरस्तोत्र आदि ।

श्रीआत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ में मुनिश्री चतुरविजयजी का एक लेख भद्रबाहुस्वामी पर प्रकाशित हुआ था । उसमें उन्होंने अनेक आन्तरिक प्रमाणों के आधार पर निर्युक्तियों के श्रुतकेवली भद्रबाहुकर्तृक होने में आपत्ति की थी और उन्हें द्वितीय भद्रबाहु-कृत बतलाया था । किन्तु श्वेताम्बर जैन वाङ्मय में दो भद्रबाहुओं का कोई निर्देश नहीं

---

१. भद्रबाहु के चार शिष्य और उनसे निकले हुए चार गणों का उल्लेख स्थविरावली में है, अतः भद्रबाहु का कोई शिष्य नहीं था और उनकी पट्टावली उनके साथ ही समाप्त होती है, यह लिखना ठीक नहीं है ।
—सपा० श्री नाहटाजी.

२ सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥
बारसअंगवियाण चउदसपुव्वंग विउलवित्थरणं ।
सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भायवओ जयओ ॥ ६२ ॥ —बोधपाहुड़

मिलता। अतः पूर्वकालीन ग्रन्थकारों और टीकाकारोंने भद्रबाहु के नाम से अभिहित प्रत्येक वस्तु को श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ सम्बद्ध कर दिया है। किन्तु विश्लेषण करने से आधुनिक विद्वानों को भद्रबाहु नाम के दो व्यक्ति होने की संभावना हुई और दूसरे वे भद्रबाहु जिन्हें वराहमिहिर का भाई बतलाया गया है। किन्तु उनके भी जन्म, गुरु, अन्त, शिष्यपरम्परा आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। और मिले भी तो कैसे, जब प्राचीन काल से ही यह भूल चली आती है।

द्वितीय भद्रबाहु—

किन्तु दिगम्बर पट्टावलियों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के सिवाय एक दूसरे भद्रबाहु का भी नाम आता है। भद्रबाहु के पश्चात् होनेवाले अंगज्ञानियों की परम्परा में उनका नम्बर उन्नीसवां है। उनके शिष्य लोहार्य के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में अंगज्ञान लुप्त हो गया। किन्तु सभी जगह भद्रबाहु नाम नहीं मिलता। भद्रबाहु के स्थान में धवला टीका में जसबाहु, जयधवला में जहबाहु और श्रुतावतार में जयबाहु नाम आता है। केवल आदिपुराण और नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में भद्रबाहु नाम आता है। सरस्वती गच्छ की पट्टावली इन्हीं भद्रबाहु से प्रारम्भ होती है, किन्तु उसमें भद्रबाहु के शिष्य का नाम गुप्तिगुप्त आता है, जब कि अंगज्ञानियों की परम्परा में भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य का नाम लोहार्य आया है। लोहार्य और गुप्तिगुप्त के एक ही व्यक्ति होने का कोई प्रमाण हमारे देखने में नहीं आया। उक्त पट्टावली में इन द्वितीय भद्रबाहु को ब्राह्मण लिखा है। उसके अनुसार विक्रम सम्वत् ४ तदनुसार ईस्वी पूर्व ५३ में वे आचार्यपद पर आसीन हुए थे। अतः उनका समय ईस्वी प्रथम शताब्दी होता है। इस तरह दिगम्बर परम्परा के इन द्वितीय भद्रबाहु और श्वेताम्बर परम्परा के वराहमिहिर के भाई द्वितीय भद्रबाहु के बीच में चारसौ वर्षों से भी अधिक

छेदसूत्रकार व निर्युक्तिकार भद्रबाहु भिन्न २ होने चाहिए.—

१ निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समय के सम्बन्ध में मुनि पुण्यविजयजीने सबसे अच्छा प्रकाश डाला है। उन्होंने पहले निर्युक्तिकार भद्रबाहु को ६ ठी शताब्दी का माना था। पर उसके बाद जैसलमेर-भन्डार से दशवैकालिक की प्राचीन चूर्णि के मिलने से उन्होंने निर्युक्तिकार भद्रबाहु को विक्रमीय द्वितीय शताब्दी से पहले का मान लिया है, अतः वे भद्रबाहु दिगम्बर परम्परा के द्वितीय भद्रबाहु जिन का समय सरस्वती गच्छ की पट्टावली के अनुसार प्रथम शताब्दी ईस्वी है, हो सकते हैं। वराहमिहर के भ्राता भद्रबाहु ६ ठीं शताब्दी के ही सम्भव है, इसलिए अब नए अनुसंधान के अनुसार भद्रबाहु दो के स्थान पर तीन हुए माने जाना चाहिए, और तभी सारी समस्याओं का हल ठीक से हो सकता है। भद्रबाहु संहिता व उवसग्गहरं स्तोत्र तृतीय भद्रबाहु के हैं इस सम्बन्ध में मुनि पुण्यविजयजी के संपादित बृहत्कल्प सूत्र के छठे भाग के आमुख व ग्रन्थकार परिचयादि द्रष्टव्य हैं। श्रुतकेवली भद्रबाहु का जन्म पौण्ड्रवर्द्धन बंगाल का ही ठीक लगता है।

—संपा० श्री नाहटाजी.

अन्तरकाल पाया जाता है। अतः दोनों का ऐक्य तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक इस सुदीर्घ अन्तरकाल को दूर न किया जावे।

एक बात और भी उल्लेखनीय है। दिगम्बर परम्परा के इन द्वितीय भद्रबाहु के गुरु का नाम यशोभद्र था और श्वेताम्बर परम्परा में श्रुतकेवली भद्रबाहु के गुरु का नाम यशोभद्र-सूरि था। श्वेताम्बर परम्परा में जम्बूस्वामि के पश्चात् प्रभवस्वामि, शय्यंभवसूरि, यशोभद्रसूरि, संभूतिविजयजी और भद्रबाहुस्वामि ये पाच श्रुतकेवली हुए। श्री यशोभद्रसूरि के दो शिष्य थे, संभूतिविजय और भद्रबाहु। यद्यपि पट्टावलियों में सभूतिविजयजी के पश्चात् भद्रबाहु को युगप्रधान पद दिया गया है, किन्तु श्री हेमचन्द्रसूरिने परिशिष्ट पर्व में लिखा है कि श्री यशोभद्रसूरि अपना आचार्य पद दोनों को ही प्रदान कर गये थे।

हम ऊपर लिख आये हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में श्रुतकेवली भद्रबाहु की शिष्यपरम्परा का अभाव है। परिशिष्ट पर्व में लिखा है कि उनके चार शिष्य थे, किन्तु कठोर शीत से उन चारों की मृत्यु हो गई।

कल्पसूत्र की स्थविरावली की विस्तृत वाचना में भद्रबाहु के चार शिष्यों के नाम इस प्रकार बतलाये हैं—

गोदास, अग्निदत्त, यज्ञदत्त, और सोमदत्त। गोदास से गोदासगण निकला। उस गण की चार शाखाएं थीं–तामालित्तिया, कोडीवरिसिया पौंडवद्धणिया, दासी खब्बडिया। गोदासगण से इन चार शाखाओं का उद्गम कैसे और इनकी आगे क्या दशा हुई? यह हम नहीं जान सके।

किन्तु दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु श्रुतकेवली का जन्म पौण्ड्रवर्धन देश के कोटीपुर नगर में हुआ बतलाया है। उक्त चार शाखाओं में से दो शाखाएं पौंड्रवद्धणिया और कोडीवरिसिया भद्रबाहु के जन्मस्थान का ही स्मरण कराती है।

डा० भण्डारकरने लिखा था–पुण्ड्र दक्षिणीकबीले थे जो उत्तरी बंगाल में आकर बसे थे और उन्होंने अपनी राजधानी का नाम पुण्ड्रवर्धन रखा था। तथा बंगाल के दिनाजपुर जिले में स्थित बागढ़ को उन्होंने कोटि वर्ष बतलाया था। इन्हीं से कल्पसूत्र में निर्दिष्ट गोदास गण की शाखायें निकली थीं। ऐसा भी उन्होंने लिखा था। डा. भण्डाकर

---

१. सूरिः श्रीमान यशोभद्रः श्रुतनिध्योस्तयोर्द्वयोः।
स्वमाचार्यत्वमारोप्य परलोकमसाधयत् ॥ ४ ॥ सर्ग ६।

२. अनल्स आफ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जि. १२, भा. २, पृ. १०६।

के कथानुसार पुण्ड्र और सुम्ह अर्थात् उत्तर और पश्चिमी बंगाल एक समय जैन धर्म के केन्द्र थे। भगवान् महावीर के समय से पुण्ड्र और सुम्ह जैन धर्म के प्रभाव में आगये थे। दिव्यावदान में लिखा है कि अशोकने पुण्ड्रवर्धन में बहुत से निर्ग्रन्थों को इस लिये मरवा दिया था कि उन्होंने बुद्ध की मूर्ति के प्रति भक्ति प्रदर्शित नहीं की थी। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री हुयनेतसांगने पुण्ड्रवर्धन में बहुत से निर्ग्रन्थों को देखा था। अतः पुण्ड्रवर्धन शताब्दियों तक जैनों का केन्द्र रहा है। अतः वही श्रुतकेवली भद्रबाहु का जन्म-प्रदेश हो सकता है।

संक्षेप में जैन ग्रन्थों से भद्रबाहु के सम्बन्ध में इतनी ही जानकारी हमें प्राप्त हो सकी है। खोज करने से और भी बातें ज्ञात हो सकती हैं। भद्रबाहु के जीवन और काल का अन्वेषण जैन धर्म के इतिहास के लिये अत्युपयोगी प्रमाणित होगा। इस में सन्देह नहीं है।

विमलार्य और उनका पउमचरियं

ज्योतिप्रसाद जैन, एम. ए. एलएल बी. पी एच. डी. लखनऊ

रामकथा प्राचीन अनुश्रुति की एक सर्वप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कथा है। भारतीय संस्कृति की ब्राह्मण, बौद्ध और जैन तीनों ही प्राचीन धाराओं ने नियमित इतिहास के प्रारंभकाल से बहुत पूर्व होनेवाले भारतीय नररत्न श्रीराम के चरित को अपनी २ परम्परा अनुश्रुतियों में स्मृत रक्खा और लेखनकला का प्रचार बढ़ने पर उसे रचनानिबद्ध करके अपने-अपने धार्मिक साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग बनाया।

महाकवि वाल्मीकि की संस्कृत रामायण ब्राह्मण परंपरा की सब से प्राचीन ज्ञात एवं उपलब्ध रामकथा है। इसके रचनाकाल के संबंध में अनेक मतभेद हैं। बहुमत उसे दूसरी शती ईस्वी पूर्व के लगभग रचा गया अनुमान करता है। वाल्मीकि के ग्रन्थ से ही रामकथा का प्रचार देश में बढ़ा और उसका रामायण नाम रूढ़ हुआ।

बौद्धधर्म के पालि त्रिपिटक का संकलन ईस्वीसन् के प्रारंभ के कुछ पूर्व सिंहल देश में हुआ था। उसके कुछ कालोपरान्त बौद्धों की परंपरा अनुश्रुतियें भी जातक ग्रन्थों के रूप में लिपिबद्ध होने लगीं। उन्हीं में से 'दशरथजातक' पालि भाषा में बौद्ध परंपरा की रामकथा का प्रतिनिधित्व करता है।

जैन परंपरा में प्राचीन तीर्थङ्करों के मुखद्वार से प्रवाहित होती आई रामकथा का अंतिम व्याख्यान अंतिम तीर्थङ्कर वर्द्धमान महावीर (५९९-५२७ ई० पू०) ने किया था। महावीर के निर्वाणोपरान्त लगभग पांच शताब्दियों पर्यन्त ज्ञान-ध्यान-तपलीन जैन साधु संघने महावीर द्वारा उपदेशित तत्त्वज्ञान, धर्माचार एवं परंपरा अनुश्रुतियों को गुरुशिष्य परंपरा में मौखिकद्वार से सुरक्षित रक्खा। दूसरी शती ईस्वी पूर्व के मध्य के लगभग कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल की प्रेरणा से मथुरासंघ के जैन गुरुओं के नेतृत्व में परंपरागम श्रुतज्ञान को संकलित एवं लिपिबद्ध करने तथा अपने धार्मिक साहित्य का प्रणयन करने के लिये एक प्रबल 'सरस्वती आन्दोलन' प्रारंभ हो गया था[1]। फलस्वरूप पहली शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध से ही जैन संघ में पुस्तक साहित्य प्रणयन का ॐ नमः हो

---

१. देखिये, लेखक की 'स्टडीज इन दी जैन सोर्सेज ऑफ दी हिस्ट्री ऑफ एन्सेन्ट इंडिया' का पचमं परिच्छेद-'सरस्वती मूवमेन्ट'।

गया, और तीसरी शती ई० के प्रारंभ तक विविध विषयके अनेक जैन ग्रन्थ निर्मित हो गये। कुछ आचार्यों ने आगम ज्ञान के कतिपय महत्त्वपूर्ण अंशों को भी यथावत् संकलित एवं लिपिबद्ध कर डाला और दूसरों ने उन पर टीकाएँ लिखनी भी प्रारंभ कर दीं। इस जैन साहित्यिक प्रवृत्ति के अग्रणी आचार्यों एवं आद्य प्रणेताओं में कुन्दकुन्द, कुमार, शिवार्य, विमलार्य, गुणधर, धरसेन, पुष्पदंत, भूतवलि, उमास्वामि, कुन्दकीर्त्ति, काणभिक्षु, यतिवृषभ, समन्तभद्र, पादलिप्त, शिवशर्म आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

विमलार्य का प्राकृत 'पउमचरियं' जैन परंपरा की सर्व प्राचीन ज्ञात एवं उपलब्ध लिखित रामकथा विश्वास की जाती है। स्वयं उसके लेखक के कथनानुसार उसकी रचना वीरनिर्वाण संवत् ५३० में अर्थात् सन् ईस्वी के प्रारंभ के तीन वर्ष पश्चात् हुई थी[2]। ग्रन्थ की भाषा प्राकृत का सरल सुष्ठु जैन महाराष्ट्री रूप है। परिमाण लगभग एक सहस्र श्लोक है। ११८ उद्देशों या सर्गों में ग्रन्थ विभाजित है। उद्देशों के अन्तिम पद्यों को छोड़ कर प्रायः सर्वत्र आर्या छन्द का प्रयोग हुआ है। पउमचरिय जैन पुराणों की टकसाली शैली में रचा गया है और महाराष्ट्री प्राकृत का सर्व प्राचीन महाभाष्य माना जाता है[3]।

महाराजा रामचन्द्र का मुनि अवस्था का नाम पद्म था, अतः जैन परम्परा में रामकथा का पद्मचरित या पद्मपुराण नाम ही रूढ़ हुआ। विमलार्य ने भी अपने ग्रन्थ का नाम 'पउमचरिय' ही प्रसिद्ध किया। यद्यपि उन्होंने कहीं-कहीं उसे राम या रामदेवचरित, राघवचरित आदि नामों से भी सूचित किया है। स्वयं अपना नाम भी उन्होंने प्रत्येक उद्देश के अन्त में तथा अन्यत्र भी मात्र 'विमल' रूप में दिया है। केवल ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका में अपने आप को विमलार्य या विमलाचार्य (विमलायरिएण) तथा उसके पूर्व प्रशस्ति पद्य में विमलसूरि (सूरिविमलेणं) कहा है। इसी प्रशस्ति के अनुसार राहु नामक आचार्य के शिष्य 'नाइलकुलवंशनंदिकर' विजय थे और इनके शिष्य ग्रन्थकर्त्ता विमल थे। किन्तु इसके उपरान्त ही दीगई पुष्पिका में विजय का कोई उल्लेख

---

२. पंचेव वाससया दुलमाए तीस वरस सजुत्ता।
वीरे सिद्धमवगए तओ निवद्ध इमें चरिय ॥ ११८ । १०३.

३. पउमचरिय का डा० जैकोवी द्वारा संपादित संस्करण सन १९१४ ई० में श्री जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित हुआ था। सन् १९३६ ई. में इसके प्रथम चार उद्देश अंग्रेजी भूमिका एवं अनुवाद सहित प्रो. वी. एम शाह ने सूरत से प्रकाशित किये थे।

४. राहू नामायरिओ ससमयपरसमयगहियसब्भावो।
विजयो य तस्स सीसो नाइलकुलवंसनन्दियरो ॥
सीसेण तस्स रइय राहवचरियं तु सूरिविमलेणं।
सोऊण पुव्वगए नारायणसीरिचरियाइं ॥

नहीं है और विमलार्य ने स्वयं को सीधे 'नाइलवंशदिनकर' राहुसूरि का ही शिष्य (या प्रशिष्य ?) सूचित किया है[5]।

पउमचरिय की सर्व प्राचीन उपलब्ध प्रति ताड़पत्रीय है। वि. सं. ११९८ (सन् ११४१ ई०) में राजा जयसिंहदेव के राज्य में भड़ौच नगर में लिखी गई थी[6]। विमलार्य के सर्व प्राचीन ज्ञात उल्लेख उद्योतनसूरि की 'कुवलयमाला' (७७८ ई०) में मिलते हैं, जिनके अनुसार विमलार्य न केवल अपने विमलांक काव्य (पउमचरिय) के रचयिता थे; वरन् सर्व प्रथम हरिवंश पुराण के भी रचयिता थे[7]। स्वयं पउमचरिय की प्रशस्ति के 'सोऊण पुव्वगए नारायणसीरिचरियाई' शब्दों से भी यही ध्वनित होता है कि विमलार्य ने श्री नारायण के चरित (अर्थात् कृष्णचरित या हरिवंश) की रचना पउमचरिय से भी पहले करली थी। पउमचरिय के नायक रामचन्द्र वलभद्र या बलराम थे। विमलार्य के इन उल्लेखों के उपरान्त उद्योतनसूरि ने ४१ वीं गाथा में वरांगचरित के कर्त्ता जटिलाचार्य तथा उनके प्रायः समकालीन पद्मचरित के कर्त्ता रविषेण (६७६ ई०) का उल्लेख किया है। उद्योतनसूरि के समकालीन अपभ्रंशभाषा के महाकवि (स्वयंभू लगभग ७७५–७९५ ई०) ने भी विमलार्य का एक प्राचीन कवि के रूप में स्मरण किया है। रविषेणका भी उन्होंने स्मरण किया हैं, किन्तु विमल के पश्चात्। संभव है कि जिस प्रकार स्वयंभू की रामायण विमल के पउमचरिय पर आधारित है, उसी प्रकार उनका 'अरिट्ठनेमिचरिउ' (हरिवंश) भी विमल के हरिवंश पर ही आधारित हो, और क्या आश्चर्य कि जिनसेन पुन्नाट के हरिवंश (७८३ ई०) का आधार भी विमलार्य का ही ग्रन्थ हो। इसके अतिरिक्त रविषेणका पद्मचरित (६७६ ई०) जो कि सर्वप्राचीन उपलब्ध संस्कृत जैन पुराण एवं रामचरित है, विमलार्य के पउमचरिय का ही विशद छायानुवाद प्रतीत

---

५. इह नाइलवंसदिणयरराहुसूरियसीसेण महप्पेण पुव्वहरेण विमलायरिएण विरइय सम्मत्तं पउमचरियं ॥

६. जैसलमेर ग्रन्थभंडार सूची, पृ १७.

७. जारिसयं विमलंको विमल को तारिसं लहइ अत्थ ।
अमयमइयं व सरसं सरसं चिय पाइयं जस्स ॥ ३६ ॥
वुहयण सहस्स दइयं हरिवंसुप्पत्तिकारयं पटमं ।
वदामि वदियं पि हु हरिवंसं चेव विमलपयं ॥ ३८ ॥

८. द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धचतुर्थवर्षयुक्ते ।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निवद्धम् ॥
इसकी तुलना फूटनोट २ से कीजिये ।
रविषेण का पद्मचरित माणिक्यचन्द्र दि. जै. ग्रंथमाला बंबई से प्रकाशित हुआ है।

होता है, यद्यपि रविषेणने इस बात का अथवा विमल या उनके ग्रन्थ का अपने पद्मचरित में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।

इस में भी सन्देह नहीं है कि रविषेण के पद्मचरित ने विमल के पउमचरिय को आच्छादित कर दिया। इस नवीन एवं अपेक्षाकृत विशद तथा विस्तृत संस्कृत रचना ने विमल के संक्षिप्त प्राकृत ग्रन्थ को विस्मृतप्रायः कर दिया और उसका प्रचार अवरुद्ध हो गया। जैन परंपरा में रामकथा की एक दूसरे से कुछ भिन्न दो धाराएँ प्राप्त होती हैं। प्रथम धारा का मूलाधार विमलार्य का पउमचरिय ही प्रतीत होता है, जिसे रविषेण के ललित संस्कृत ग्रन्थने अधिक लोकप्रिय बना दिया। स्वयंभू की अपभ्रंश रामायण, हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के सातवें पर्व में वर्णित रामकथा, देवविजय के रामचरित्र (१५९६ ई०), पं. दौलतराम के हिन्दी पद्मपुराण (१८ वीं शती) आदि ग्रन्थों में जैनी रामकथा की इसी धारा को अपनाया गया है। दूसरी धारा की उपलब्धि गुणभद्र के उत्तरपुराण (लगभग ८७५ ई०) के ६८ वें पर्व में वर्णित रामचरित्र में होती है और इसका मूलाधार कवि परमेष्टी का वागार्थसंग्रह (ल० ४ थी शती ई०) रहा प्रतीत होता है। जैनी रामकथा के इस रूप को पुष्पदंतने अपने अपभ्रंश महापुराण (१० वीं शती), चामुंडरायने अपने कन्नड पुराण (१० वीं शती), मल्लिसेनने अपने महापुराण (११ वीं शती) में तथा अन्य उत्तरवर्ती महापुराणकारोंने अपनाया। किन्तु रामकथा का यह रूप उतना लोकप्रिय एवं प्रचारप्राप्त कभी न हो सका जितना विमल और रविषेण की कथाका।

पउमचरिय के प्रकाश में आने के उपरान्त पिछले कई दशकों में अनेक प्रख्यात जैन-अजैन, पाश्चात्य पौर्वात्य प्राच्यविदों एवं विद्वानों ने उसके संबंध में पर्याप्त ऊहापोह किया है। कुछने भाषयिक एवं साहित्यिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का अध्ययन किया, तो कुछ ने सांस्कृतिक या ऐतिहासिक दृष्टि से तथा कुछ ने धार्मिक वा साम्प्रदायिक दृष्टि से। सबसे अधिक मतभेद इस ग्रन्थ की रचनातिथि के संबंध में है।

डा० ल्यूमेन स्वयं विमलार्य द्वारा प्रदत्त वी. नि. सं. ५३० (सन् ३ ई०) की तिथि को निर्विवाद रूप से ठीक मानते हैं[९]। पं. नाथूराम प्रेमी को भी उसे ठीक मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। पं. हरगोविन्दास पउमचरिय को विक्रम की पहली शती की रचना मानते हुए इसी तिथि का समर्थन करते है,[११] और प्रो. विन्टरनिट्ज भी इसी तिथि को

९ पउमचरियम्, वी एम शाह, सूरत, १९३६ ई० भूमिका पृ० ५

१०. अनेकान्त० व० ५. कि १-२ पृ. ३८-४८

११. देखिए फुटनोट ९.

मान्य करते हैं । उनके इस कथन का कि 'जैन मुनि विमलसूरिने प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में ही अपने पउमचरिय नामक प्राकृत काव्य द्वारा रामाख्यान का पुनरुद्धार किया था' स्पष्ट कारण यह है कि वे महावीर निर्वाण की जैकोबीद्वारा निर्धारित तिथि ४७७ ई० पू० (अथवा ४६७ ई० पू०) मान्य करते थे[१२]।

इसके विपरीत डा० जैकोबी, वुलनर, कीथ, के. वी. ध्रुव, हरिदास शास्त्री, वी. एम. शाह आदि विद्वान् तथा उनके आधार पर अधिकांश वर्तमान इतिहासज्ञ इस तिथि को अमान्य करते हैं[१३]। और पउमचरिय का रचनाकाल २ से लेकर ८ वीं शती ई० पर्यंत विभिन्न कल्पों में अनुमान करते हैं । इन विद्वानों के तर्कों के सारांश हैं कि (१) पउम-चरिय के कर्त्ता प्रश्नोत्तररत्नमाला के कर्त्ता विमलसूरि से अभिन्न हैं । (२) पउमचरिय रविषेण के संस्कृत पद्मचरित का उस के उपरांत किया गया प्राकृत रूपान्तर हो, यह संभव है । (३) ग्रन्थ में प्रयुक्त छन्दों की दृष्टि से वह ६ठी ७वीं शती से पूर्व की रचना प्रतीत नहीं होती (४) भाषा की दृष्टि से वह ४थी या ५वीं शती ई० की रचना प्रतीत होती है । (५) इस ग्रन्थ में यवनों तथा ज्योतिषशास्त्र संबंधी कुछ यूनानी शब्दों, तथा कतिपय नक्षत्रों के नाम, लग्न, सुरुंग आदि का प्रयोग, रोमन शब्द दीनार का तथा शकों का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि यह ग्रन्थ दूसरी अथवा तीसरी शती ई० से पूर्व का नहीं हो सकता । (६) विमलार्य ने अपना गुरुवंश 'नाइल' सूचित किया है और कल्पसूत्र थेरावलि के अनुसार नाइली शाखा का उदय पहली शती ई० के अन्त के लगभग हुआ प्रतीत है, अतः पउमचरिय दूसरी शती ई० के मध्य से अधिक पूर्व की रचना नहीं हो सकती । (७) ग्रन्थ पर कुन्दकुन्द और उमास्वामि की रचनाओं का प्रभाव लक्षित होता है । अतः वह दूसरी शती ई० से पूर्व का नहीं हो सकता । (८) ग्रन्थ में एक स्थान पर 'सियंवर' शब्द प्रयुक्त हुआ है जो श्वेतांबर सम्प्रदाय का सूचक प्रतीत होता है, अतः उसकी रचना दिगम्बर श्वेतांबर संघभेद (७९–८३ ई०) के पूर्व की नहीं हो सकती । (९) विमलार्य द्वारा प्रयुक्त महावीर निर्वाण संवत् ५२७ ई० पू० में प्रारंभ होनेवाला प्रचलित निर्वाण संवत् नहीं हो सकता, वरन किसी अन्य भ्रमपूर्ण आधार पर आधारित महावीर संवत् है । (१०) महावीर निर्वाण ५२७ ई० पू० मे नहीं वरन् ४७७ ई०

---

१२. हिस्टरी आफ इंडियन लिटरेचर, जि. २.

१३ अभी हाल में ही कुछ शीर्षस्थानीय भारतीय इतिहासज्ञ विद्वानो का मत इस विषय में जानने का संयोग हुआ था । वे जैकोबी आदि के मत को ही प्रमाण करते हैं और उसके विरुद्ध जाने का साहस नहीं करते ।

पू० या ४६७ ई० पू० में हुआ था और उसके आधार पर पउमचरिय की रचनातिथि वी. नि. सं. ५३० के अर्थ ५३ ई० या ६३ ई० होते हैं।

प्रथम मत पं० हरिदास शास्त्री का है[१४]। प्रश्नोत्तररत्नमालिका संस्कृत का प्राचीन सुभाषित काव्य है। इसकी दो एक टीकाएँ श्वेताम्बर विद्वानोंने भी की[१५] हैं। ग्रन्थ के इन संस्करणों के अंतिम पद्य में रचयिता के नाम के स्थान में केवल 'सितपट गुरु' लिखा है और इन टीकाकारों ने उसे विमलसूरिकृत प्रकट किया हैं। किंतु यह सिद्ध हो चुका है कि वह ग्रन्थ राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष नृपतुंग (८१५-७७ ई०) की या उनके नाम से उनकी राजसभा के किसी कवि की[१६] है। विमल नाम के विमल, विमलचन्द्र, विमलदास, विमलकीर्त्ति, ज्ञानविमल, नयविमल आदि जो अन्य श्वेतांवर या दिगम्बर विद्वान् हुए हैं वे सब १२ वीं शती ई० के उपरान्त के हैं। ८ वीं शती ई० के उपरान्त के किसी विद्वान का पउमचरिय के कर्त्ता के साथ समीकरण करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पउमचरिय को पद्मचरित (६७६ ई०) का पश्चाद्वर्ती रूपान्तर कहना कल्पनातिरेक है। अनेक प्राकृत रचनाओं का तो कालान्तर में संस्कृतीकरण हुआ[१७], किंतु किसी संस्कृत रचना का प्राकृतीकरण होने का स्यात ही कोई उदाहरण मिले। रविषेण के ग्रन्थ का परिमाण विमलार्य के ग्रन्थ से प्रायः दुगुना है और यह विस्तारवृद्धि विमलार्य के संक्षिप्त विवरणों का विशद व्याख्यान तथा अनेक प्रकरणों का कभी कभी आवश्यक विस्तार के साथ वर्णन करने का ही परिणाम दृष्टिगोचर होता है। तीसरे कुछ ऐसे प्राकृत पद हैं जिन्हें यदि संस्कृत में रूपान्तरित किया जाता तो मूल पाठ का भाव ही लुप्त हो जाता, अतः रविषेणने उनकी व्याख्या मात्र से ही संतोष कर[१८] लिया। चौथे, रविषेण के एक सौ वर्ष के भीतर होनेवाले उद्योतन एवं स्वयंभू ने रविषेण का भी स्मरण किया और विमल का भी और उस स्मरण से यह स्पष्ट है कि ये विद्वान्

---

१४ पउम, शाह, भूमिका पृ. ३।

१५. एक हेमप्रभ (११८६ ई) की और दूसरी देवेन्द्र एवं मणिभद्र (१३७२ ई०) की।

१६. स्टडीज़ इन दी जैन सोर्सेज, अध्याय ९।

१७. यथा भगवतीआराधना, पचसंग्रह, भावसग्रह षट्कर्मोपदेश, लोकविभाग, आदि।

१८. यथा—माहणसुंपुत्त एएजं उसभजिणेण वारिओ भरओ।
तेण इमे सयलच्चिय वुच्चंतिय माहणालोए॥ —पउमचरिउ, ४/८४
जिसका अनुवाद रविषेण ने निम्न प्रकार किया—
यस्मान्माहननं पुत्र कार्षीरिति निवारितः।
ऋषभेण ततो याता 'माहना' इति ते श्रुतिम्॥ —पद्मचरित, ४/१२२

विमलार्य को रविषेण से स्वतंत्र एवं पूर्ववर्ती विद्वान् विश्वास करते थे । ग्रन्थ में प्रयुक्त भाषा की दृष्टि से भी विद्वानों ने पउमचरिय को ७वीं शती ई० से पर्याप्त पूर्व की रचना निर्धारित की है । वास्तव में रविषेण का पद्मचरित विमलार्य के पउमचरिय का ही कहीं कहीं छायानुवाद, कहीं भावानुवाद और कहीं कहीं विशद व्याख्यान मात्र है । कथा की रूपरेखा, रचना शैली, ग्रन्थ एवं उद्देशों के शीर्षक, उनकी संख्या, स्वपरिचय एवं महावीर संवत् में रचनातिथि का देना आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बातों में रविषेणने विमलार्य का अद्भुत अनुसरण एवं अनुकरण किया है । प्रत्येक सर्ग के अन्त में उन्होंने अपनी छाप भी उसी प्रकार दी है और जैसे पउमचरिय ' विमलाङ्क ' काव्य कहलाता है पद्मचरित 'रव्यङ्क' काव्य कहलाता है ।

ग्रन्थ में प्रयुक्त छन्दों के आधार पर के. बी. ध्रुव उसे ६ठी या ७वीं शती की रचना अनुमान करते हैं[१९]। किंतु उद्देशों के अंतिम पद्यों तथा कतिपय फुटकर पद्यों को छोड़कर पउमचरिय का अधिकांश भाग आर्या छन्द में ही रचित है और यह छन्द प्राकृत भाषा के साहित्य में प्रायः प्रारंभकाल से ही पाया जाता है । केवल इस आधार पर इस रचना को इतना पीछे की निश्चित नहीं की जा सकती । अन्य भी किसी विद्वान्ने इस तर्क को मान्य नहीं किया है ।

भाषा संबंधी आधार एक अनिश्चित आधार है । उसी आधार पर यदि ध्रुवने पउमचरिय का रचनाकाल ६–७ वीं शती ई० अनुमान किया तो जैकोबी, कीथ और वुलनर ने ४–५ वीं शती और विन्टरनिट्ज ने प्रथम शती ई० । स्वयं कीथ ने इस तथ्य को मान्य किया कि विमलसूरि का पउमचरिय महाराष्ट्री प्राकृत का सर्व प्राचीन महाकाव्य है[२०]। और जैकोबी का कथन है कि ग्रन्थ की भाषा, व्याकरण और शैली को देखते हुए पउमचरिय उस काल की रचना प्रतीत होती है जब कि प्राकृत भाषा व्याकरण के नियमों से परिष्कृत नहीं हो पाई थी, उसकी काव्यशैली भी अति सरल एवं आद्ययुगीन है[२१]। इस विद्वान्ने यद्यपि इस स्थल पर इसे ४–५ वीं शती की रचना अनुमान की है तथापि अन्यत्र उसे उसके दूसरी शती ई० की होने में कोई बाधा प्रतीत नहीं हुई[२२]। आचार्य क्षितिमोहनसेन आदि अन्य भाषाविज्ञ कुन्दकुन्द, शिवार्य, विमलार्य आदि के ग्रन्थों में प्रयुक्त

१९. के बी. ध्रुव, इन्ट्रोडेक्शन टु प्राकृत ।
२०. कीथ—हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटेरेचर ।
२१. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ एथिक्स एण्ड रिलीजन, भाग ७ पृ. ४३७; मोडर्न रिव्यु दिसंबर १९१४
२२. जैकोबी–परिशिष्ट पर्व, भूमिका, पृ. १९.

जैन महाराष्ट्री को प्राकृत भाषा का आद्य या प्राचीनतम रूप मानते हैं। अस्तु, विमलार्य के ग्रन्थ की भाषा को अत्यंत प्राचीन मानते हुए भी जो इन प्रारंभिक प्राच्यविदों ने उसे सन् ३०० ई० से पूर्व का स्वीकार करने में संकोच किया उसका एक कारण यह भी है कि वे विद्वान् अपने सीमित साधनों एवं कतिपय रूढ धारणाओं के कारण भारतीय और विशेषकर जैन संस्कृति एवं साहित्य के इतिहासको अधिक प्राचीन मानने में संकोच करते थे।

जैकोबी, कीथ, वुलनर आदि का ही एक तर्क यह भी है कि, क्यों कि पउमचरिय में यवनों, शकों तथा कतिपय यूनानी एवं रोमन शब्दों का उल्लेख मिलता है, अतः यह ग्रन्थ ३–४ थी शती से पूर्वका नहीं हो सकता। अन्य आधुनिक विद्वान् भी इसी तर्क को सब से अधिक महत्त्व देते हैं। प्राचीन साहित्य में यवन शब्द यूनानियों के लिये प्रयुक्त होता था और यूनान एवं यूनानियों के साथ भारत एवं भारतीयों के सम्पर्क लगभग ६ ठी शती ई० पू० से मिलने लगते हैं। ४ थी शती ई० पू० में सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त तो अनेक यूनानी इस देश में बस भी गये और शनैः शनैः भारत वर्ष की जनता का अंग बन गये। स्वयं जैनों के साथ भी उनके निकट सम्पर्क रहे। ईस्वी सन् के प्रारंभ से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व होनेवाले यूनानी इतिहासकार ट्रागसने अपने समय से सौ डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हो जानेवाले एक अन्य यूनानी विद्वान के अनेक प्रमाण दिये हैं, जिनसे स्पष्ट प्रकट है कि ट्रागस का वह प्राचीन आधार जैनों, उनके धर्म एवं अनुश्रुतियों से भली भाँति परिचित था।[२३] शुंगकालीन (२ री शती ई० पू०) पातञ्जलि के महाभाष्य में भी यवनों का उल्लेख पाया जाता है। ऐसी परिस्थितियों में ईस्वीसन् के प्रारंभ में रचित विमलार्य के पउमचरिय में यवनों या यवनानी भाषा के कतिपय शब्दों का उल्लेख पाया जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। यूनान और भारत के सांस्कृतिक सम्पर्क तथा आदान–प्रदान विमलार्य के समय से शताब्दियों पूर्व प्रारंभ हो चुके थे। इसी प्रकार शक लोग भी उनके समय से लगभग एकसौ वर्ष पूर्व भारत में प्रविष्ट हो चुके थे और बस चुके थे। प्रथम शती ई० पू० में ही शक जाति में जैन धर्म का अच्छा प्रचार था और प्राचीन जैन अनुश्रुतियों में शकों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस्वीसन् के प्रारंभ के लगभग के मथुरा से प्राप्त जैन शिलालेखों में भी शकों का उल्लेख है।[२४] रोम एवं रोमन जाति के व्यापारिक संबंध भारतवर्ष के साथ २री शती ई० पू० से ही प्रारंभ हो गये थे और उनकी दीनार नामक मुद्राविशेष से बहुत से पश्चिमीतटवर्तीय भारतीय परिचित हो गये थे। प्रथम

२३. स्टडीज़ इन दी जैन सोर्सेज, अ० २; तथा प्रो० टार्नकृत ग्रीक्स इन इंडिया एण्ड बैक्ट्रिया।
२४. उपरोक्त स्टडीज़ इन दी जैन सोर्सेज़, अ ३, व ४; तथा कालकाचार्यकथानक,

शती ई० में तो रोमन सम्राटों के साथ भारतीय नरेश राजदूतों का भी आदान-प्रदान करने लगे थे। लगभग उसी काल में स्वयं एक जैन श्रमणाचार्य भंडौच नगर से चल कर रोम पहुँचे थे और वहाँ उन्होंने समाधिमरण किया था। अतः इन कतिपय विदेशी शब्द-प्रयोग के कारण विमलार्य की स्वप्रदत्ततिथि को अप्रमाण करने का कोई कारण नहीं है।

विमलार्यने अपने गुरुओं का अवश्य ही 'नाइलकुलवंसणंदियर' तथा 'नाइल० वंसदिणयर' विशेषणों के साथ स्मरण किया है। ग्रंथ के अंतिम भाग में केवल एक एक वार ये दो पद मिलते हैं। नंदिसूत्रपट्टावली में नागार्जुनसूरि के शिष्य भूतदिन्न को भी 'नाइलकुलवंसनंदिकरे' लिखा है[२५]। इनका समय लगभग ३-४थी शती ई० है। कल्पसूत्र-थेरावलि के अनुसार वज्रस्वामी के शिष्य आर्यवज्रसेन से 'अज्जनाइलीसाहा' (आर्य-नाइली शाखा) निकली थी[२६]। डा० जैकोवी ने वज्रस्वामी की मृत्युतिथि वी. नि. सं. ५७५ निर्धारित की है और उनके शिष्य वज्रसेन को लगभग वी. नि. सं. ५८०-६००। इस आधार पर उन्होंने विमलार्य को वीर निर्वाण के सातवीं शती के उत्तरार्ध से उपरांत का विद्वान् अनुमान किया[२७] है। किंतु वी. एम. शाहने इस नाइली या नागिल शाखा की उत्पत्ति अज्जनाइल से सन् ९३ ई० में हुई वताई है और इस आधार पर विमलार्य का समय लगभग १४३ ई० निश्चित किया[२८] है। किंतु उपरोक्त दोनों पट्टावलियों के इन उल्लेखों के अतिरिक्त नाइली शाखाका और कोई इतिहास नहीं मिलता। विमलार्य और उनके गुरु विजय एवं राहू का इस शाखा से संबंधित होनेका भी कोई अन्य उल्लेख नहीं मिलता और न किसी थेरावलि या पट्टावली में ही उनका नाम मिलता है। कल्पसूत्र थेरावली के आधार पर भी नाइली शाखा की प्राचीनता वी. नि. सं. ५७५ अर्थात् सन् ४८ ई० तक पहुँचती है। जैकोवी द्वारा मान्य महावीर निर्वाण की तिथि के अनुसार वह सन् ९८ या १०८ ई० होती है। समयसूचक ये मतभेद महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि विमलार्य का संबंध थेरावली में ही उल्लिखित शाखा से था और उसके पूर्व नाइल नामका कोई जैन मुनिवंश विद्यमान ही नहीं था। स्वयं प्रो. शाह के शब्दों से उनका इस विषय में संदेह ध्वनित होता[२९] है।

---

२५. पट्टावलीसमुच्चय, प्रथम भाग, पृ १४

२६ पट्टावलीसमुच्चय, प्रथम भाग, पृ. ८.

२७. परिशिष्टपर्व, जैकोवी भूमिका, पृ. १९.

२८. शाह, पउमचरियम्, भूमिका, पृ. ४

२९. वही।

पउमचरिय में कुन्दकुन्द, उमास्वामी आदि के ग्रन्थों का प्रभाँव खोजना असंगत सा है। प्रायः एक ही काल में होनेवाले विभिन्न विद्वानों के साधन-सामग्री और आधार प्रायः समान और बहुधा अभिन्न होते हैं। उन सबही आद्य ग्रन्थकारों का विशेष कर जैनधर्म सम्बंधी तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का निरूपण प्रायः समान है। भाषा, शैली, पद्धति आदि के भेद तो हैं, किन्तु मान्यताओं में विशेष अन्तर नहीं है। और उन सबकी आधार भूत सामग्री मौखिक परंपरा से प्राप्त श्रुतागम था। अतः जबतक किसी एक विद्वान् की कृति के निश्चिततया मौखिक अंश किसी दूसरे विद्वान् की कृति में पर्याप्तमात्रा में एवं यथावत उद्धृत किये गये न पाये जाँय या उसके मत, ग्रन्थ अथवा नामादि का स्पष्ट उल्लेख न पाया जाय, उनके परस्पर पूर्वापर के विषय में निश्चित निर्णय दे देना युक्तियुक्त नहीं है।

केवल एकाध बार प्रयुक्त 'सियंबर' जैसे शब्दको सम्प्रदायविशेष का सूचक मान [३१]लेना भी भ्रमपूर्ण है। पउमचरिय में श्वेतांबर या दिगम्बर किसी भी सम्प्रदाय का एक भी स्पष्ट संकेत नहीं है। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि संघभेद से पूर्व प्राकृत भाषा में 'सियंबर' शब्द था ही नहीं। और फिर उक्त विभाजन के पूर्व भी जैन संघ में सवस्त्र साधु अर्द्धफालकों आदि के रूप में तो कमसे कम कुछ कालसे विद्यमान थे ही। अतः इस आधार पर भी विमलार्य की तिथि को अमान्य करना असंगत है। वस्तुतः विविक्षित सियंबर शब्द पउमचरिय में किसी सम्प्रदायसूचक अर्थ में नहीं, वरन् अपने सामान्य शाब्दिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

जैकोबी का ही एक तर्क यह भी था कि विमलार्य द्वारा प्रयुक्त वीरनिर्वाण संवत् प्रचलित, अर्थात् ५२७ ई० पू० का संवत् नहीं था, वरन् महावीर निर्वाण की तिथि के संबंध में किसी भ्रान्त धारणा पर आधारित था। थेरावलियों के अनुसार श्वेतांबर आम्नाय में मान्य महावीर की शिष्यपरंपरा के एवं निन्हवों के इतिहास का विवेचन करते हुए इस विद्वान् ने काल संबंधी कई भूलों का निर्देश किया है और उपरोक्त निष्कर्ष निकाला है[३२]। किन्तु उसने महावीर निर्वाण की तिथि संबंधी उस भ्रान्त मान्यता के, या उसके आधार का अथवा उसके अनुसार मानीजानेवाली निर्वाणतिथि का कहीं कोई उल्लेख या स्पष्टीकरण नहीं किया, केवल आनुमानिक सकेत करके अपनी धारणा पुष्ट करली। वह यह भी कहीं नहीं कहता कि पउमचरिय की तिथिसूचक गाथा प्रसिद्ध है या उसमें वी. नि०

३०. अनेकान्त, व. ५, कि १०-११ पृ ३३७-३४४.

३१. वही।

३२ परिशिष्ट पर्व, जैकोबी, भूमिका पृ. १८-१९

सं. ५३० नहीं है अथवा उसके स्थान पर कोई और संख्या रही है। दूसरी ओर वह पउमचरिय का रचनाकाल वीरनिर्वाण की ७वीं शती के अंतिम भाग उपरान्त स्थिर करता है। प्रचलित मत के अनुसार यह समय दूसरी शती ई० के उत्तरार्ध में पड़ता है और स्वयं जैकोबी के मतानुसार (निर्वाण तिथि ४७७ या ४६७ ई० पू० होने पर) यह समय ३री शती ई० के प्रारंभ में पड़ता है। ऐसी स्थिति में उस कथित भ्रान्त मान्यता के अनुसार निर्वाण की तिथि ३२५–३०० ई० पू० के आसपास होनी चाहिये, किंतु निर्वाण तिथि संबंधी ऐसी किसी मान्यता का कहीं भी कोई प्रमाण, आधार या सकेत आज पर्यन्त उपलब्ध नहीं हुआ हैं। इसके अतिरिक्त पउमचरिय की तिथि के संबंध में जैकोबी का कभी भी एक मत नहीं रहा। अपने विभिन्न लेखों में उसने उसे २री से लेकर ५वीं शती ई० पर्यन्त भिन्न भिन्न समयो में रचा गया अनुमान किया है।

महावीर निर्वाणतिथि को भी जैकोबी ने पहले ४७७ ई० पू० में निर्णीत किया था, बाद में जार्ल चारपेटियर आदि के मत से प्रभावित हो कर उसे ४६७ ई० पू० प्रतिपादित किया। इन मान्यताओं के लिये भी कोई पुष्ट आधार नहीं है। कतिपय मध्यकालीन आधारों, दो एक भ्रमपूर्ण सूचनाओं के आधार पर इन विद्वानोंने निर्वाणकाल में ५० या ६० वर्ष कमी कर दीया है और उस में उनका प्रधान उद्देश्य महावीर निर्वाण की तिथि का बुद्ध निर्वाण की, उनके द्वारा निर्णीत ४८३–४ ई० पू०, तिथि के साथ समन्वय करना था। किन्तु स्वयं जैनों के दिगम्बर श्वेतांबर उभय संप्रदायों की प्राचीनतम काल से चली आई शिलालेखीय, साहित्यगत एवं मौखिक अनुश्रुतियें और मान्यतायें तथा अन्य बाह्य एवं अभ्यन्तर साधन सामूहिक रुप से महावीरनिर्वाण की तिथि ५२७ ई० पू० ही निर्विवाद रूप से सिद्ध करते हैं, और उसे अमान्य करने का एक भी अकाट्य प्रमाण या तर्क नहीं है[33]।

अब यदि विमलार्य का समय ईस्वीसन् का प्रारंभकाल है, जिसे असिद्ध करने के लिये भी कोई अकाट्य प्रमाण या तर्क नहीं है तो यह बात भी संभव प्रतीत नहीं होती कि उन्होंने प्रचलित निर्वाण संवत् के अतिरिक्त किसी अन्य निर्वाण संवत् का प्रयोग किया, अथवा उन्हें निर्वाण की ठीक तिथि ज्ञात नहीं थी। कालान्तर में प्राचीन अनुश्रुतियों के विभिन्न प्रदेश एवं कालवर्ती विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न भाषाओं में लिपिबद्ध कर दिये जाने पर तो अनेक भ्रमपूर्ण या भ्रामक सूचनाओं का प्रचार

३३. स्टडीज़ इन दी जैनसोर्सेज, अं. २, महावीर की तिथि।

पा जाना संभव है, किन्तु महावीर के पांच शताब्दियों के भीतर ही, जब जैन संघ अखंड एवं सुव्यवस्थित था और मौखिक परंपरा के संरक्षण की उत्तम व्यवस्था थी, इस प्रकार के भ्रमों का प्रचलित होना दुष्कर था।

ऐसी स्थिति में सन् ३-४ ई० की तिथि को अमान्य करने में केवल दो ही संभावनाएँ साधक हो सकती हैं। या तो तिथिसूचक गाथा में मूलपाठ 'पंचेव' के स्थान में 'छव्वेव' रहा हो। ग्रंथ की सर्व प्राचीन उपलब्ध प्रति उसकी रचना से लगभग हज़ार-ग्यारहसौ वर्ष उपरान्त की है। इस दीर्घ अन्तराल में ग्रन्थ की अनेक प्रतिलिपियां विभिन्न समयों में बनी होंगी, और किसी भी प्रतिलेखक की भूल से या उसे प्राप्त पाठ के त्रुटित खंडित होने के कारण मूल 'छच्चेव' का 'पंचेव' हो जाना नितान्त संभव है। और इस प्रकार पउमचरिय की रचनातिथि वी. नि. सं. ६३० अर्थात् सन् १०३-४ ई० हो सकती है। किन्तु यह बात निश्चयपूर्वक तभी कही जा सकती है कि जब कोई प्राप्तप्रतिसे प्राचीनतर वा अन्य समकालीन प्रति 'छच्चेव' पाठ को लिये हुए प्राप्त न हो जाय। इस सबंध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि ५३० की तिथि के विरुद्ध दिये जानेवाले जितने भी प्रमाण या तर्क हैं वे सबल या सारपूर्ण नहीं हैं, तथापि निश्चित तथा उसी तिथि का समर्थक प्रमाण भी उक्त एक स्वयं ग्रन्थगत उल्लेख के सिवा अन्य कोई नहीं है।

दूसरी संभावना यह हो सकती है कि पउमचरिय का निर्माण सन् ७८ ई० के शक संवत की प्रवृत्ति के काफी समय बाद हुआ हो। ७८ ई० के पूर्व केवल एक शक संवत प्रचलित था और वीर नि. सं. ४६१ अर्थात् ६६ ई० पू० में कालकाचार्य के प्रयत्न से शकों के सर्वप्रथम उज्जैनी प्रवेश के उपलक्ष में चलाया गया था। किन्तु ७८ ई० में उज्जैनी में शक-क्षत्रप चष्टनने एक दूसरा शक संवत प्रचलित किया। सातवाहनोंने भी उसे ही अपना लिया, क्योंकि कुषाण सम्राट् कनिष्क के राज्य का प्रथम वर्ष भी वही था। और कुषाणोंने भी उसी वर्ष से अपना संवत् माना। इस प्रकार दूसरी शती ई० में चार नामों से दो शक संवत् प्रचलित थे।[२४] दूसरी शती ई० में ही यति वृषभने अपनी तिलोयपण्णत्ति में वीर निर्वाण से ४६१ वर्ष तथा ६०५ वर्ष ५ मास उपरान्त क्रमशः होनेवाले दो शक राजाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। कालकाचार्यकथानक, तित्थोगालीपयन्ना, मेरुतुंगकृत स्थविरावलि आदि से भी इस कथनकी पुष्टि होती है। उस प्राचीन काल में (२री शती ई० से पूर्व) सामान्य रीति से किसी संवत् विशेष के अनुसार कालगणना नहीं की जाती थी, वरन्

२४. वही. अध्याय ३, व ४.

प्रमुख प्रमुख महत्त्वपूर्ण घटनाओं की आपेक्षिक दूरी स्मरण रक्खी जाती थी । इसी उद्देश्य से प्राचीन जैन अनुश्रुतियों में निर्वाणोपरान्त कालकी राज्यवंशावलि एवं वंशकालानुक्रम निर्वाण तिथि की अपेक्षा स्मरण रक्खे गये। अस्तु यह हो सकता है कि जिस समय विमलार्यने अपना ग्रन्थ लिखा उन्हें यह अनुश्रुति स्मरण रही की शक संवत् की प्रवृत्ति निर्वाण से ४६१ वर्ष बाद हुई है। उन्होंने भ्रम से ७८ ई० के शक सवत् को ही वह संवत् समझ लिया और क्योंकि उसको बीते उस समय ६८ वर्ष हो चुके थे उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचनातिथि वी० नि. सं. ५३० (४६१+६९) दे दी। यदि ऐसा हुआ हो तो पउमचरिय की तिथि ७८+६९=१४७ ई० हो सकती है।

कमसे कम यह तो निश्चित है कि विमलार्य अधुना ज्ञात आद्य जैन पुराणकार, जैन रामकथा के आद्य रचयिता, महाराष्ट्री प्राकृत के सर्वप्राचीन महाकाव्यकार तथा जैन साहित्य के आद्य प्रणेताओं में से एक थे। किसी पूर्व ग्रन्थ या ग्रन्थकार का उन्होंने उल्लेख नहीं किया, वरन् अपने साधनों और आधारों को मौखिक परम्परागत श्रुतज्ञान हीं सूचित किया। गुरुपरम्परा से प्राप्त अनुश्रुतियें, संक्षिप्त नामावलियें एवं गाथानिबद्ध कथासूत्र ही उनके आधार [३५] थे। वाल्मीकि की ब्राह्मणीय रामायण थोड़े काल पूर्व ही प्रचार को प्राप्त होना प्रारंभ हुई थी। उसके द्वारा प्रचारित भ्रामक मान्यताओं का निरसन करने तथा लोक में रामचरित संबंधी भ्रम को न बढ़ने देने की भावना ही उनको ग्रन्थरचना में प्रधान प्रेरक थी[३६]। इस प्रकारका भ्रामक प्रचार करनेवालों को उन्होंने 'कुकइ' (कुकवि) और उनकी रचनाओंको 'कुसत्थ' (कुशास्त्र) कहकर भर्त्सना की है।

रविषेण (६७६ ई०) के समय से शताब्दियों पूर्व से सुदूर पूर्व के सिंहल, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्निओ, मलय, काम्बुज, चम्पा आदि देशों में भारतीय राज्य एवं उपनि-

---

३५. णामावलि निबद्धं आयरियपरपरागयं सव्व ।
वोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेणं ॥ १/८
एयं वीरजिणेण रामचरियं सिद्धं महत्थं पुरा ।
पच्छा खंडलभूइणा उ कहियं सीसाणधम्मासय ॥
भूओ साहुपरपराए सयलं लोए ठियं पायडं ।
एत्ताहे विमलेण सुत्तसहियं गाहानिबद्धं कयं ॥ इत्यादि.

३६. अलियं पि सव्वमेयं उववत्ति विरुद्धं पच्चयगुणेहिं ।
न य सद्दहंति पुरिसा हवंति जे पंडिया लोए ॥ १/११७.
तह विवरीय पयत्थं कईहि रामायणं रइय । इत्यादि.

वेश स्थापित होने लगे थे। कई प्रदेशों का प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। इन प्रदेशों में भारतीय अनुश्रुतियाँ, धर्मकथाएं एवं लोककथाएं भी पहुँच चुकी थीं। वहाँ के प्राचीन मंदिरों के प्रस्तराङ्कनों में रामकथा के भी कई दृश्याङ्कन मिलते हैं। और प्रो० सिलवन लेवी आदि विशेषज्ञ विद्वानों का मत है कि उन प्रदेशों में प्राचीन काल में प्रचलित रामकथा के रूपका वाल्मीकीय रामायण की अपेक्षा जैन रामकथा के साथ अद्भुत साहृश्य है।[२७] इसका अर्थ है कि रविषेणके पद्मचरित के पूर्व ही जैनी रामकथा का भारतवर्ष में पर्याप्त प्रचार हो चुका था, और इसका श्रेय विमलार्य के पउमचरिय को ही हो सकता है। इसी कारण उसकी रविषेणके पद्मचरित की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीनता भी स्वतः सिद्ध है।

पउमचरिय के कर्त्ता के सम्प्रदाय के विषय में भी मतभेद रहे हैं। पीटसर्न साहब तो प्रारंभ में उसे एक बौद्ध कृति ही समझ बैठे थे, किन्तु पं. हरिदास शास्त्रीने उनका भ्रम निवारण किया।[२८] अब उसके पूर्णतया एक जैन कृति होने में तो कोई विवाद ही नहीं है, किन्तु स्वयं जैन विद्वानों में से कुछ उसे दिगम्बर तथा कुछ उसे श्वेताम्बर विद्वान की रचना प्रकट करते हैं। दिगम्बर विद्वान उसे रविषेण, स्वयंभू, आदि अनेक स्पष्टतः दिगम्बर विद्वानों द्वारा अपनाये जाने तथा उसीकी कथा को अपने आम्नाय में सर्वाधिक प्रचलित होने के कारण उसे दिगम्बर कृति कहते हैं। श्वेतांबर विद्वान् ग्रन्थकर्त्ता के गुरुवंश 'नाइल' का अपनी स्थविरावलियों में उल्लेख होने के कारण उन्हें श्वेतांबर मानते हैं। दोनों ही पक्षों को इस ग्रन्थ में अपनी-अपनी आम्नाय में प्रचलित मान्यताएं भी प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु पउमचरिय में जहां अनेक बातें ऐसी पाई जाती हैं, जो दिगम्बर मान्यताओं के अनुकूल हैं, किंतु श्वेताम्बर मान्यताओं के प्रतिकूल हैं तो कुछ ऐसी बातें भी हैं जो श्वेतांबर मन्यताओं के अनुकूल हैं और दिगंबर मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। साथ ही कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जो दोनों ही परंपराकी माम्यताओं से विलक्षण हैं और दोनों में से किसी को मान्य नहीं हैं[३१]। इस का एक ही कारण है और वह यह कि पउमचरिय के कर्त्ता विमलार्य न दिगंबर थे न श्वेतांबर। चाहे वे संघभेद के पूर्व हुए हो अथवा थोड़े समय उपरान्त, उन्होंने स्वयं ही दोनों में से किसी भी एक सम्प्रदाय से संबंद्ध नहीं किया। वास्तव में एक ऐसे तीसरे दल के व्यक्ति थे जो संघ-विभाजन के विरुद्ध थे और सम-

२७. देखिये लेखक की पुस्तक-'काम्बुज में भारतीय सस्कृति का प्रभाव',

२८. देखिये पीटरसन की हस्तलिखित ग्रंथ अनुसंधान रिपोर्ट।

३१. देखिये-अनेकात, व. ५, कि. पृ. ३८-४८, तथा व. ५ कि. १०-११ पृ. ३३७-३४४.

झोते या समन्वय द्वारा संघभेदरूपी फूट से महावीर के जैन संघ की रक्षा करने के लिये प्रयत्नशील थे। इसी कारण विमलाचार्य भी शिवार्य, उमास्वामि, आर्यभानु, नागहस्ति, सिद्धसेन प्रभृति कई अन्य प्राचीन आचार्यों की भांति दोनों ही सम्प्रदायों में समानरूप से मान्य हुए एवं अपनाये गये।

सारांश यह कि पउमचरिय के कर्त्ता विमलार्य जैन भारती के गौरव हैं। जैन साहित्य के इतिहास के आद्य निर्माताओं में से हैं। उनका पउमचरिय प्राकृत भाषा और उसके साहित्य के विकास एवं इतिहास की दृष्टि से, भाषाविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से[४०], प्राचीन भारतीय संस्कृति के ज्ञान की दृष्टि से, भारतीय कथासाहित्य, विशेषकर रामकथा, के विकास की दृष्टि से, अनेक प्रकार एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उनके ग्रंथ के अनेकविध गंभीर विशिष्ट अध्ययन उपयुक्त ज्ञानमनीषियों की प्रतीक्षा में हैं। अभीतक जो कुछ हुआ है वह अपर्याप्त है, जो होना शेष है वह उसकी अपेक्षा बहुत अधिक है।

४०. यथा, डा० घाटगे का निबंध, अखिलभारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन, लखनऊ, १९५१ ई० का निबंधसारसंग्रह, पृ. ११६.

दशपुर का ऐतिहासिक महत्त्व एवं

श्रीआर्यरक्षितसूरि

पं. मदनलाल जोशी. शास्त्री, सा. रत्न० मन्दसोर (मालवा)

भारतीय इतिहास का अवगाहन करने पर विविध प्रदेशों की पुरातनता के साथ हमें मालव प्रदेश की प्राचीन ऐतिहासिकता भी उपलब्ध होती है। वैसे मालव प्रदेश अपनी प्राकृतिक छटाओं, नैसर्गिक दृश्यों एवं वरदायी विशिष्ट वाङ्मय के लिये भी सदा प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन इतिहासों, ग्रन्थों, कथा-काव्यों आदि में मालव का गरिमामय समुल्लेख प्राप्त होता है। इसी मालव में प्राचीन अवन्तिका. विदिशा, माहिष्मती, धारा आदि पुरातन ऐतिहासिक नगरों के साथ ही 'दशपुर' नामक एक ऐसा प्राचीन नगर है, जिसका इतिहास आज भी अपने गौरवपूर्ण पृष्ठों में उस समय की पुरातन स्मृति दिलाता रहता है। एक समय यह नगर अत्यधिक आकर्षक, प्रगतिशील एवं समुन्नत होने के कारण अपने सम्पूर्ण मण्डल का केन्द्रबिन्दु था।

'दशपुर' का आधुनिक नाम मन्दसोर है। यह मालव के पश्चिमीय सिंहद्वार पर प्रहरी के समान स्थित हो कर, अपने अन्तर में अतीत के स्वर्णिम पृष्ठ संजोये खण्डहरों एवं उपलब्ध ध्वंसावशेषों में ही सही, अपनी पुरातनता की रक्षा किये हुए चिरसञ्चित गौरव की अभिव्यक्ति कर रहा है। यह प्राचीन नाम दशपुर से दशउर, दशउर से दशोर एवं दशोद-दसोद से मन्दसोर-बन गया है। इसी दशपुर का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं कलात्मक महत्त्व वास्तव में उल्लेखनीय है, इसमें सन्देह नहीं। विक्रम की पांचवीं शताब्दी में भारत के विविध स्थानों पर आक्रमण कर दशपुर में आये हुए आक्रान्ता हूण राज मिहिर-कुल को इसी दशपुर के जनेन्द्र सम्राट् यशोधर्मन ने परास्त कर विजय प्राप्त की थी। जिसके स्मृतिस्वरूप ही विशाल विजयस्तंभ दशपुर से ढाइ मील दूरी पर सौंधती (हूण हती) नामक स्थान पर आज भी अवस्थित है। जिस पर ब्राह्मी-लिपि एवं संस्कृत में यशोधर्मन के गुण-गौरवात्मक श्लोक खुदे हुए हैं। वे इस नगर एवं प्रतापी वीर यशोधर्मन की महत्ता के परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त यशोवर्मन से भी पूर्व जब यहां बन्धुवर्मा का शासन था, इसी नगर में एक विशाल एवं अद्वितीय कलापूर्ण सूर्यमन्दिर था। जो अपनी कलात्मकता के लिये सुदूरदूर प्रसिद्ध था।

राजतरङ्गिणी, कादम्बरी, कथासरित्सागर, मेघदूत, विविधतीर्थकल्प, पुराण, महाभारत आदि विविध ग्रन्थों एवं काव्यों में इस नगर का जिस रीति से वर्णन किया गया है-उसके आधार पर यह कहना सर्वांशतः समुचित है कि यह नगर कितना वैभवशाली एवं समृद्ध-समुन्नत था। महाकवि कालीदास *इस नगर के बड़े प्रशंसक रहे हैं। ऐसा उनके ग्रथों से ही विदित होता है।

अभी तक प्रायः अधिकांश अध्येता यही जानते हैं कि इस नगर का वर्णन उपर्युक्त ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। उपरांत इसके भी इस प्राचीन नगर का पुरातनकालीन सुरुचिपूर्ण विशद वर्णन जैन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। आवश्यककथा, दशवैकालिक, आवश्यक-चूर्णि, उत्तराध्ययनसूत्र, नन्दीसूत्रसवृत्ति, विविधतीर्थकल्प आदि विविध जैन ग्रन्थों में 'दशपुर' का अत्यन्त ही अनुपम एवं रुचिपूर्ण शैली से वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों में अभिलिखित वर्णनों के आधार पर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि 'दशपुर' में जैनधर्म एवं जैनदर्शन का कितना प्रबल प्रचार एवं सुदृढ़ अस्तित्व था?

"नन्दीसूत्रसवृत्ति" से यह सुस्पष्टतया प्रतीत होता है कि वीरनिर्वाण संवत् ५८४ में इसी नगर में 'आर्यरक्षित सूरि' नाम के एक सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हो गये हैं, जो अपने समय के उद्भट विद्वान्, सकल शास्त्रपारङ्गत एवं आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ता थे। यही नहीं, यहां तक इन के वर्णन में उल्लेख किया गया है कि ये इतने प्रकाण्ड विद्वान थे कि अन्य कई गणों के ज्ञानपिपासु जैनसाधु आप के अन्तेवासी (विद्यार्थी) रह कर ज्ञान प्राप्त करते थे। उस समय आर्यरक्षितसूरि का शिष्य होना महान् भाग्यशाली होने का सूचक माना जाता था। फलतः आपके शिष्यों एवं विद्यार्थियों की संख्या का कोई पार ही नहीं था।

आर्यरक्षित सूरि का दशपुर (आधुनिक मन्दसोर) से घनिष्ठतम सम्बन्ध था। सुविज्ञ पाठकों की जानकारी के हेतु यदि प्रस्तुत पंक्तियों में आर्यरक्षितसूरि का जीवनगत वह ऐतिहासिक विवेचन, जिसका कि दशपुर से अभिन्न सम्बन्ध है, कर दिया जाय तो अधिक समुचित एवं सुसङ्गत होगा।

'दशपुर' में जब उदयन नामक राजा राज्य करता था, उस समय उसके एक पुरोहित

* महाकवि कालिदास की जन्मभूमि की शोध में दशपुर का नाम भी विचारणीय है। ऐसा सुनने और जानने को मिला है। दशपुर के भाग्य में अगर यह गौरव लिखा गया तो दशपुर का मान फिर कितना ऊंचा उठ जायगा, कल्पनातीत है। लेखकने दशपुर को कालिदास की जन्म-भूमि ही लिख दिया था। नितात प्रमाणों के अभाव में हम वह तो स्वीकार नहीं कर सकते थे। लेखक की भावना को प्रस्ताव रूप से रख देने में कोई आपत्ति नहीं। सं० दौलतसिंह

था जिसका नाम था सोमदेव । सोमदेव की रुद्रसोमा नाम की पत्नी थी । इनके दो पुत्र थे—आर्यरक्षित एवं फल्गुरक्षित ।

प्रासङ्गिक कथानक का उल्लेख करते हुए 'नन्दीसूत्र' में इस प्रकार कहा गया है कि—

"आस्ते पुरं दशपुरं, सारं दशदिशामिव ।
सोमदेवो द्विजस्तत्र, रुद्रसोमा च तत्प्रिया ॥
तस्यार्यरक्षितः सूनुरनुजः फल्गुरक्षितः ॥"

पुरोहित सोमदेवने–जो स्वयं उच्चकोटि के विद्वान् थे, अपने ज्येष्ट पुत्र आर्यरक्षित को अपनी अध्ययन की हुई सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन कराया । किन्तु कुशाग्रमति मेधावी आर्यरक्षित इतने ही से सन्तुष्ट नहीं हुए और अधिक विद्याध्ययन के हेतु पाटलीपुत्र चले गये । वहां उन्होंने लगन एवं तन्मयता के साथ वेद उपनिषद् आदि चतुर्दश विद्याओं का अध्ययन किया ।

चतुर्दशापि तत्रासौ विद्यास्थानान्यधीतवान् ।
अथागच्छद् दशपुरं, राजाऽगात् तस्य सम्मुखम् ॥+ ॥ १ ॥

यहां से चतुर्दश विद्याओं का अध्ययन करने के पश्चात् जब आर्यरक्षित अपने गुरु का आशीर्वाद लेकर अपनी जन्मभूमि दशपुर (मन्दसोर) लौट कर आये, एवं उनके शुभागमन का सन्देश जब राजा, पुरोहित एवं नगरवासियों ने सुना तो सभीने प्रसन्न मन होकर हार्दिक अभिनन्दन के साथ आपका भव्य स्वागत किया ।

आर्यरक्षित अपनी माता रुद्रसोमा को छोड़कर प्रायः समस्त परिवार से मिल चुके थे। वे अधिक उत्सुक हो अपार प्रसन्नता के साथ जब माता के समीप गये एवं प्रणाम किया तो माता चतुर्दशविद्याधीत अलौकिक गुणसम्पन्न आर्यरक्षित जैसे पुत्र का साधारण शब्दों में स्वागत करती हुई कुछ भी न बोल कर मौन हो गई। माता के इस औदासिन्य पर आर्यरक्षित के विज्ञ, किन्तु कोमल, मानस पर वज्राघात–सा हुआ और वे तत्काल ही विनयभरे शब्दों में अपनी माता से निवेदन करने लगे "किं न ते मातस्तुष्टिर्मद्विद्ययाऽभवत्"—

"हे माता ! क्या आप को मेरे अध्ययन से सन्तोष नहीं हुआ ?"

माता रुद्रसोमाने गम्भीरतापूर्वक उत्तर देते हुए अपने पुत्र से कहा कि—

"तुष्याम्यहं दृष्टिवादं, पठित्वा चेत्त्वमागमः ?"

+१. विविधतीर्थकल्प पृ ७० में इसी आसय की पंक्ति इस प्रकार है ।—
"आर्यरक्षितोऽपि हि चतुर्दश विद्यास्थानानि तत्रैवाधीत्य दशपुरमागमत् ।"

" आर्यरक्षित ! तेरे विद्याध्ययन से मुझे तब हार्दिक सन्तोष एवं परम प्रसन्नता होगी जब तू जैनदर्शन एवं उसके साथ ही विशेषतः दृष्टिवाद का समग्र अध्ययन कर लेगा। "

मा की मनोभावना एवं उसके आदेशानुसार आर्यरक्षित इक्षुवाटिका में गये, जहां आचार्य श्री तोसलीपुत्र विराजमान थे एवं उनसे निवेदन किया कि—

" भगवन् ! युष्माकं सन्निधौ दृष्टिवादमध्येतुमागमम् ! "

" —मैं दृष्टिवाद का अध्ययन करने के हेतु आप की शरण में आया हूं ! "

आचार्य तोसलीपुत्रने आर्यरक्षित की तीव्रतर मेधा, प्रखरपाण्डित्य एवं सर्वतोऽधिक विनयशीलता देख कर यह अनुमान लगाया कि निश्चय ही यह जैनदर्शन का अध्ययन कर आत्मकल्याण के साथ ही जैनशासन की उन्नति में सहायक सिद्ध होगा। उन्होंने आर्यरक्षित को सम्बोधित करते हुए कहा—" दीक्षयाऽधीयते हि सः—वत्स ! दृष्टिवाद का अध्ययन दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ही किया जाता है, अतएव यदि तुम दीक्षा ग्रहण करो तो मैं तुम्हें सहर्ष दृष्टिवाद का अध्ययन कराडूंगा। अन्यथा नहीं। इसीलिये कि जैनदीक्षा के बिना दृष्टिवाद का अध्ययन सर्वथा असम्भव ही है ! "

" ज्ञानप्राप्ति एवं विशेषतः मातृहृदय को सन्तुष्ट करने के हेतु दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिये मुझे आप की आज्ञा शिरोधार्य है। भगवन् ! एवं मै जैन दीक्षा ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत हूं। मुझे शीघ्र ही दीक्षित कर ज्ञान—दान दीजिये प्रभो ! " आर्यरक्षितने आचार्य तोसलीपुत्र से करबद्ध हो कर निवेदन किया !

विशुद्ध ज्ञान–पिपासु मेधावी आर्यरक्षित की प्रार्थना स्वीकार करते हुए आचार्य तोसलीपुत्रने उन्हें दीक्षा देदी एवं अन्य नगर में विहार कर दिया। वहीं उन्होंने आर्यरक्षित को जप, तप, संयम अनेक सद्विधियों के साथ क्रमशः अङ्ग तथा उपाङ्ग एवं सूत्र तथा कतिपय पूर्वों का अध्ययन कराया। इसी प्रकार—

" दृष्टिवादो गुरोः पार्श्वे, योऽभूत्तमपि सोऽपठत्। "

अपने गुरु के समीप जो दृष्टिवाद था उसका भी आर्यरक्षितने समग्र अध्ययन किया।

इतने से आर्यरक्षित की जैनदर्शन के प्रति बढती हुई ज्ञानपिपासा शान्त नहीं हुई और वे अपने गुरुदेव की आज्ञा से गीतार्थ मुनियों के साथ उज्जयनी पहुंचे। वहां आचार्य भद्रगुप्तसूरि की सेवा में उनके स्वर्गगमन तक उनके द्वारा आदेश दिये गये नियमों का पालन करते हुए आर्य वज्रस्वामी के समीप पहुंचे एवं उनके अन्तेवासी बनकर विद्याध्ययन करने लगे।

इधर मा रुद्रसोमाने पुत्र के वियोग में अत्यधिक सन्तप्त हो आर्यरक्षित को बुलाने के लिये अपने द्वितीय पुत्र फल्गुरक्षित को उनके समीप भेजा।

फल्गुरक्षितने अपनी माता का सन्देश सुनाते हुए आर्यरक्षित से कहा—

"सोऽभ्यधाद्भ्रातरागच्छ, व्रतार्थी ते जनोऽखिलः।"

"हे भाई! आओ! पूरा परिवार तुम्हें देखने को उत्सुक है।"

"स ऊचे सत्यमेतच्चेद्, तत्त्वमादौ परिव्रज!"

"यदि यह सत्य है फल्गुरक्षित! तो सर्वप्रथम तुम भी दीक्षा लेकर विद्याध्ययन करो। सम्पूर्ण विद्याओं के साथ समग्र जैनदर्शन का अध्ययन कर हम दोनों एक साथ ही पूरे परिवार एवं माताजी से मिलने चलेंगे।" आर्यरक्षितने प्रसन्न होकर फल्गुरक्षित से कहा।

फल्गुरक्षितने विचार कर अपने अग्रज की बात मानली एवं दीक्षा लेकर उन्हीं के समीप में विद्याध्ययन करने लगे।

एक दिन अध्ययन करते करते आर्यरक्षित विचारमग्न हो सोचने लगा एवं गुरु वज्रस्वामी से पूछा—

"यविकैर्घूर्णितोऽप्राक्षीत्, शेषमस्य कियत्प्रभो!"

"गुरुदेव! दशमपूर्व की यविकाओं का तो मैं अध्ययन प्रायः समाप्त कर चूका हूँ—अब कितना अध्ययन और शेष है?"

"यह पूछना अभी उचित नहीं आर्यरक्षित! अभी कुछ और पढ़ो!" आर्य वज्रस्वामीने उत्तर देते हुए गम्भीरतापूर्वक कहा।

कुछ दिन और इसी प्रकार गहन अध्ययन में व्यतीत होने के पश्चात् पुनः आर्यरक्षितने गुरुदेव से वही प्रश्न किया।

वज्रस्वामीने तत्काल प्रत्युत्तर देते हुए कहा कि—

"स्वाम्यूचे सर्षपं मेरोर्बिन्दुमब्धेस्त्वमग्रहीः।"

"आर्यरक्षित! अभी तुमने मेरु के सरसों जितना और समुद्र में बिंदु जितना अध्ययन किया है। इसप्रकार अपार एवं गहनतम विषय में से अभी एक ही चरण लिया है, अभी अनन्त अनंत शेष है?"

वज्रस्वामी का उक्त कथन सुनकर आर्यरक्षित नत शिर हो पुनः ज्ञान की साधना एवं तत्त्व की आराधना में लग गये।

पुनः एक दिन अवसर पाकर आर्यरक्षितने वज्रस्वामी से निवेदन किया—

अथापृच्छत् प्रभो यामि, भ्राता मामाह्वयत्यलम् ।

"भगवन्! मुझे देखने के लिये मेरे सभी सम्बन्धी उत्सुक हो रहे हैं। यह देखिये फल्गुरक्षित मेरा अनुज मुझे बुलाने आया है। कृपया मुझे एक वार जाने की अनुमति दे दीजिये। मैं तत्काल ही वहां से पुनः लौटकर अपने अध्ययन में रत हो जाऊंगा।"

वज्रस्वामीने आदेश देते हुए कहा—"वत्स! यदि तुम जाना ही चाहते हो तो जाओ! तुम्हें आशीर्वाद देता हूं कि तुम्हारा अधीतज्ञान तुम्हारी आत्मा के लिये कल्याणकारी हो।"

आर्य वज्रस्वामी की आज्ञा प्राप्त कर आर्यरक्षित 'दशपुर' की ओर विहार करने के पूर्व अपने दीक्षागुरु आचार्य तोसलीपुत्र के दर्शनार्थ उनके समीप गये। आचार्यदेवने अपने शिष्य आर्यरक्षित को सर्वथा योग्य समझकर आचार्य पद दे दिया एवं दूसरे भव की साधना में लग गये।

आचार्य होकर आर्यरक्षितने दशपुर की ओर विहार किया। नगर के समीप पहुंचते ही फल्गुरक्षितने प्रथम जाकर माता को शुभ सन्देश दिया। अधिक दिवसों के पश्चात् अपने पुत्र के आगमन का शुभसंवाद सुनकर मा रुद्रसोमा अत्यधिक प्रसन्नता से पुलकित हो उठीं एवं पुत्र के स्वागत में जुट गई। जब पिता सोमदेव एवं माता रुद्रसोमा अन्य सम्बन्धियों एवं नागरिकों के साथ नगर के बाह्योद्यान में पहुंचे तो वहां आर्यरक्षित के जैनसाधु के वेश में दर्शनकर वे दोनों मुग्ध से रह गये।

रुद्रसोमा प्रारम्भ से ही जैनमतावलम्बिनी श्राविका थी। अपने पुत्र के दीक्षित मुनिवेश में दर्शन कर उसके नयनो में हर्षाश्रु भर आये और वह अपने आप को धन्य मानने लगी।

आचार्य आर्यरक्षितने अपने माता, पिता एवं अन्य जनसमुदाय को ऐसा प्रभावोत्पादक आत्मकल्याणकारी मंगलमय उपदेश दिया कि सभी दीक्षित होने के लिये प्रार्थना करने लगे।

और—प्रव्राज्य स्वजनान् सर्वान्, सौजन्यं प्रकटीकृतम् ॥

आर्यरक्षितने माता, पिता, भार्या तथा अन्य पारिवारिक जनों एवं दूसरे भाविक मनुष्यों को दीक्षा देकर मुनिव्रत दे दिया एवं इस प्रकार अपनी सज्जनता का शुभ परिचय देते हुए वह कार्य किया जो प्रायः विरले ही जन किया करते हैं।

जैनदर्शन के पूर्वाचार्यों के इतिहास का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्टतया ज्ञात

होता है कि आचार्य आर्यरक्षितसूरि पूर्वाचार्यों में महान् परमोज्ज्वल यशस्वी एवं सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न जैनाचार्य हो गये हैं। निश्चित ही वे अपने समय के उद्भट, अद्वितीय विद्वान् एवं तत्त्ववेत्ता आदर्श आचार्य थे। उनकी इस अलौकिक विद्वत्ता एवं अभूतपूर्व देवोपम जीवन से मालवप्रदेश के प्राचीन दशपुर (मन्दसोर) नगर को वस्तुतः गौरवशाली महान् पद प्राप्त हुआ है।

आचार्य आर्यरक्षितसूरिने न केवल अपने ही क्षेत्र में, अपितु यत्र तत्र सर्वत्र विचरण करते हुए जहाँ-जहाँ समाज अज्ञानान्धकार में लिप्त हो कुपथगामी हो रहा था, या पूर्व से ही था, उसको विशुद्ध जैनदर्शन का प्रकाशदान कर सन्मार्ग प्रदर्शित किया। जिस पर चलकर असंख्य जनसमुदायने आत्मकल्याण किया। उस समय की सुषुप्ति को जागृति में परिणत कर समाज में श्रावकों की संख्या में आचार्यप्रवरने जो अभिवृद्धि की वस्तुतः वह असाधारण ही थी। एक वार जो भी व्यक्ति आपके सम्पर्क में आते कि उन्हे सहसा ज्ञान का चमत्कार-पूर्ण दिव्यप्रकाश प्राप्त होता था।

ततस्तानि प्रबुद्धानि श्रावकत्वं प्रपेदिरे ॥

वे जागृत हो कर श्रावकत्व ग्रहण करते। साधुत्व एवं आचार्यत्व को पर्याप्तरीत्या सार्थक करते हुए आचार्य आर्यरक्षितसूरिने अपने स्वयं का कल्याण करते हुए 'स्व' में ही पर के दर्शन कर समुदार वृत्ति से विभिन्नरीत्या जो लोककल्याण किया वह अपने समय का एक अनुपम आदर्श ही है।

वैसे आर्यरक्षितसूरि का शिष्यसमुदाय भारी संख्या में था ही, किन्तु उनके मुख्य शिष्यों के सम्बन्ध में कहा है कि—

तत्र गच्छे च चत्वारो, मुख्यास्तिष्ठन्ति साधवः ॥
आद्यो दुर्बलिका पुष्पो, द्वितीयः फल्गुरक्षितः ।
विन्ध्यस्तृतीयको गोष्ठा-माहिलश्च चतुर्थकः ॥

उनके गच्छ में मुख्यतया आर्यरक्षितसूरि के चार शिष्य थे—दुर्बलिकापुष्प, फल्गुरक्षित, विन्ध्य एवं गोष्ठामाहिल। ये चारों ही चारों दिशाओं में प्रसिद्धिप्राप्त विद्वान् एवं तत्त्व-ज्ञानी थे। इनकी विद्वत्ता के सामने किसी भी विषय का कोई भी शास्त्रपारङ्गत धुरन्धर पण्डित शास्त्रार्थ के लिये साहस नहीं कर सकता था। कहते हैं कि एक समय गोष्ठामाहिल ने मथुरा में किसी विद्वान् को शास्त्रार्थ में ऐसा पराजित किया कि वह इनकी मनस्विता पर मुग्ध हो अपने अहंत्व का परित्याग कर इनका शिष्य बन गया। इससे गोष्ठामाहिल के

साथ ही इनके गुरु आर्यरक्षित एवं शेष तीनों शिष्यों के प्रकाण्डपाण्डित्य एवं उनकी तज्जन्य निर्मल यशस्विता का चारों ओर व्यापकरूप से प्रचार तथा प्रसार हो गया।

आचार्य आर्यरक्षितसूरि ने बहुजनहिताय व सुखाय सार्वजनिक हितदृष्ट्या सबसे उत्तम एवं महान् कार्य यह किया कि उन्होंने दूरदर्शिता से यह जान कर कि वर्तमान के साथ ही भविष्य में भी जैनागमों की गहनता एवं दुसहवृत्ति से असाधारण मेधावी भी एक बार उन्हें समझने में कठिनाई का अनुभव करेगा; इसलिये आगमों को चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया। वे यहां तक समझ गये थे कि—

चतुर्ष्वेकैकसूत्रार्थाख्याने स्यात्कोऽपि न क्षमः।

—इन विद्याव्यसनी परम मनस्वी चारों शिष्यों में से भी कोई एक-एक सूत्र की व्याख्या करने में पूर्णतया समर्थ न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में किसी दूसरे की शक्ति नहीं की विशुद्ध व्याख्या कर उन्हें अपने जीवन में आत्मसात् कर सके।

अतएव— ततोऽनुयोगाँश्चतुरः पार्थक्येन व्यधात् प्रभुः।

इससे पश्चात् आचार्य आर्यरक्षितसूरिने उन आगमों को पृथक् पृथक् चार अनुयोगों में इस प्रकार विभक्त कर दिया:—

१ करणचरणानुयोग ३ गणितानुयोग
२ धर्मकथानुयोग ४ द्रव्यानुयोग

इसके साथ ही आचार्य आर्यरक्षितने अनुयोगद्वारसूत्र की भी रचना की जो कि जैन-दर्शन का प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण आगम माना जाता है। यह आगम आचार्यप्रवर की दिव्यतम दार्शनिक दृष्टि का परिचायक है।

आर्यरक्षित सूरि के सम्बन्ध में और भी अनेक आदर्श एवं उल्लेखनीय घटनाएँ हैं। उनका विशद परिचय सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री विजयराजेन्द्रसूरिरचित अभिधानराजेन्द्रकोश के अन्तर्गत अज्जरक्खिय (आर्यरक्षित) शब्द की व्याख्या करते हुए उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त निर्वृत्तिसूत्र में तो आप का वर्णन है ही।

इस प्रकार मालव प्रदेश के परमप्राचीन नगर दशपुर (मन्दसोर) की अन्यान्य विषयक ऐतिहासिक महत्ता के साथ आचार्यप्रवर आर्यरक्षितसूरि का भी सुदृढ़ सम्बन्ध है, जिस के कारण दशपुर के ऐतिहासिक गौरव की अभिवृद्धि हुई है।†

† इस लेख में दिये गये श्लोक अभिधानराजेन्द्रकोश से उद्धृत किये गये हैं। —लेखक

मालव–मनीषी श्री प्रभाचन्द्रसूरि

सू. ना. व्यास, उज्जैन

विद्वद्वर प्रभाचन्द्रसूरि मालवस्थित धारानगरी के प्रसिद्ध पुरातन पण्डित हो गए हैं। ई. स. ८३८ में प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेनने अपने 'महापुराण' में इनके विषय में लिखा है—

चन्द्रांशु शुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रं कविं स्तुवे । कृत्वा चन्द्रोदयं येन शाश्वदाह्लादितं जगत् ॥४७॥

इससे प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्र की कीर्ति चन्द्र की कौमुदी के समान सर्वत्र प्रकाशित हो रही थी। वे उच्च कोटि के पण्डित थे। उन्होंने न्याय–शास्त्र पर महत्त्वपूर्ण रचना की थी। ई. स. ५१३ के आचार्य माणिक्यनन्दी के ग्रन्थों पर भी इन्होंने टीका लिखी थी। माणिक्यनन्दी और अकलंक आचार्यों का अनुसरण कर प्रभाचन्द्रने अपना मौलिक न्याय ग्रन्थ निर्मित किया था। उसका स्वयं उन्होंने उल्लेख किया है। प्रभाचन्द्रने अपने 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' में लिखा है—

माणिक्यनन्दिपद×प्रतिमाप्रबोध(क)म् । व्याख्याय बोधनिधिरेष पुनः प्रबन्धः ॥

अकलंक के अनुसरण मात्र से कुछ विद्वानों का मत है कि प्रभाचन्द्र इनके शिष्य हैं, परंतु इस शंका का निवारण स्वयं प्रभाचन्द्रने अपने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' के अंत में किया है—

गुरुश्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिता शेष सज्जानकः ।

और श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः । प्रभाचन्द्र श्चिरंजीव्यात् रत्ननन्दि पदे रतः ॥

उन्होंने माणिक्यनन्दी और रत्ननन्दी को अपने गुरुस्थान पर माना हैं। इससे अकलंक का गुरु होना सिद्ध नहीं होता।

प्रभाचन्द्र प्रतिभाशाली पण्डित थे। वे धाराधीश्वर भोजके राज्यकाल में थे। यह उन्होंने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में लिखा भी है।

'इतिश्रीभोजदेवराष्ट्रे श्रीमद्धारानिवासि× परमपरमेष्टि प्रणामार्जि×मलपुण्पनिरा×तकर्ममलकलंके, श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेननिखिलंप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतं परीक्षामुखपदविवृत्तमिति।'

परंतु यह भोजराज ७ वी ८ वीं शती के थे, ११ वीं शती के भोजराज के समय धारा में अमितगति और मानतुङ्गसूरि विद्यमान थे।

एक विद्वान्ने प्रभाचन्द्र का काल १०×० (ई. स. १११५) ठहराया है। अपनी पुष्टि के लिए उन्होंने बतलाया है कि नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती संवत् १०३४ में हुए थे।

उनके ग्रन्थों की गाथाएं तथा पूज्यपादकृत जैनेन्द्र व्याकरण के कुछ सूत्र प्रभाचन्द्रने अपने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में उद्धृत किये हैं। इस कारण प्रभाचन्द्र इनसे पूर्व नहीं हो सकते। परंतु पूज्यपाद का समय पांचवीं शती है। इसके बाद इनके ग्रन्थ से कोई उद्धरण ले तो विस्मय का कारण नहीं। न प्रभाचन्द्र को पीछे होने की आवश्यकता ही है।

इसी प्रकार नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती का समय भी इन्हीं विद्वान् ने १०३४ माना है, पर वह समय भी ठीक नहीं मालूम होता। नेमिचन्द्र चामुण्डराज के समय में हुए हैं। चामुण्डराज वि. सं. ७३५ में हुआ है। इन भ्रांत आधारों पर प्रभाचन्द्र को ११-१२ वीं शती में समझना उचित नहीं है।

इसी प्रकार दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता पुस्तक में प्रभाचन्द्र को ४५३ का बतलाया गया है। किन्तु प्रभाचन्द्रने बाण की कादम्बरी से— 'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये'

यह श्लोक उद्धृत किया है। यह प्रसिद्ध है कि श्रीहर्ष का शासन ई. सं. ५४४ में था। इसीकी सभा में बाण कवि था। छट्टी सदी के बाण कवि के उद्धरण को चौथी सदी में प्रभाचन्द्र कैसे उपयोग में ला सकते थे ? यह भी स्पष्ट असंगति है।

'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में भर्तृहरि के व्याकरण का एक श्लोक मिलता है।

'नसोस्ति उभयोलोके यः शब्दानुगमादृते'

प्रो. पाठकने व्याकरणकार भर्तृहरि का समय ६५० माना है। चीनी यात्री हुएनत्संगने ६२९-६४५ में भारत-प्रवास किया था। उसने उस समय भर्तृहरि को व्याकरणकर्ता के रूप में प्रसिद्ध होना सूचित किया है। यदि ६५० भी भर्तृहरि का समय समझ लिया जावे तो दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता की सूचना में दोसौ वर्ष से ऊपर की भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है।

प्रभाचन्द्रने भर्तृहरि और कुमारिल भट्ट का भी उल्लेख किया है। संभवतः वे उनके समकालीन हो ? परंतु पूर्ववर्ती कदापि नहीं।

जो कुछ भी। धारानगरी में भोजराज के समय जो देश-विदेश से अनेक प्रतिभाशाली विद्वान् एकत्रित होते थे, और धारानगरी की राजसभा विद्वत्सभा के रूप में सुशोभित होती थी, उसी सभा के प्रतिभाशाली पण्डित प्रभाचन्द्र भी थे। उनकी रचना जहाँ न्यायशास्त्र के लिये अलंकारभूत है, वहाँ मालवभूमि की यशोगाथा की उज्ज्वल परम्परा भी प्रतिपादित करनेवाली है। मालव के यशस्वी विद्वानों में प्रभाचन्द्रसूरि का नाम सुवर्ण वर्णों से अंकित रहेगा। उनके 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' द्वारा न्याय साहित्य समृद्ध बना है।

विद्वान् लेखक का हस्तलेखन अत्यन्त ही अस्पष्ट होने से जहाँ नितांत अपठ्य था, वहाँ हमने पूर्ति करने की धृष्टता न करते हुये × (चिह्न) लगा दिया है। सपा० दौलतसिंह लोढ़ा.

वृत्तिकार अभयदेवसूरि

रिषभदास रांका, पूना २

संस्कृति के विकास में अनेक महापुरुषों के प्रयत्न तथा सेवाएँ काम में लगी हैं। आज जिस रूप में हम संस्कृति को पा रहे है उस रूप में रखने तथा उसका विकास करने में अनेकों के परिश्रम तथा शक्ति लगी है। जैन संस्कृति को जिस रूप में आज हम देखते हैं उसको अक्षुण्ण रखने में जिन महापुरुषोंने अपनी सेवाएँ और शक्ति का उपयोग किया हैं उन महापुरुषों में से अभयदेवसूरि भी एक थे। ज्ञान और चारित्र का जिन में सुमेल हो और जिनकी कहनी-करनी एकसी हो ऐसे लोग बहुत कम पाये जाते हैं। पर जिनका ज्ञान आत्मविकास और आत्म-साधना के लिए होता है वे अपने ज्ञान को आचरण में लाकर भी अनुभव प्राप्त करते हैं, उसे वे लोगों के सन्मुख रखते हैं। वह अनुभवजन्य ज्ञान, फिर जिस में राग की मात्रा कम हो, निसंदेह हितकर ही होता है। अभयदेवसूरि ऐसे साधकों में से थे। उन्होंने जैन ही नहीं, पर वेदवेदांगों का भी गहराई के साथ अध्ययन किया था। आचारप्रवण व्यक्तियों में ज्ञान और उदारता बहुत कम पाई जाती है, पर अभयदेवसूरि में ज्ञान, चारित्र और अनुभवव्यापकता का सुंदर सुमेल था, जिससे उनके द्वारा यह महान् कार्य हो सका।

उनका जन्म उस समय हुआ था जिस समय चैत्यवासी संप्रदाय का प्राबल्य था। जैन धर्म को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए आचार में कुछ शिथिलता लाई गई थी। मंत्र, तंत्र, ज्योतिष, वैद्यक, नैमित्तिक शास्त्र की सहायता लेकर श्रमण जैन धर्म को बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे। राजाश्रय तथा राजसत्ता के बल का धर्मप्रचार में उपयोग किया जा रहा था। मंदिरों की व्यवस्था करनेवाले पूजारी और व्यवस्थापक लोग जो मंदिरों के धन का दुरुपयोग करने लग गए थे उनकी व्यवस्था अपरिग्रही साधुओंने ली और वे व्यवस्था करने लग गए थे। त्यागी वर्ग के हाथ में व्यवस्था लेने का उद्देश्य भले समाज हित का रहा हो, पर परिग्रह का स्वभाव ही ऐसा है कि वह उपयोग करने वाले को नीचे गिराता ही है और यही बात चैत्यवासी संप्रदाय के विषय में हुई। परिग्रह का मंदिरों के लिए उपयोग करनेवाले त्यागी उसका उपयोग अपने उपभोग के लिए भी करने लग गए थे। आचार की शिथिलता के पक्ष में शास्त्रवचनों का उपयोग होने लग गया था। इन चैत्यवासी

मुनियों में आगम के ज्ञाता और शास्त्रियज्ञान के जानकार विद्वान् थे और शास्त्र भी अधिकतर उन्हीं के पास था; क्योंकि शास्त्रभंडारों की व्यवस्था करना उन्हीं के आधीन थी, पर उनका ऐसा करना महावीर के उपदेशों से प्रतिकूल था और निवृत्तिपरायण जैनतत्त्वज्ञान से मेल नहीं खाता था। इसी लिए हरिभद्र जैसे आचार्योंने इस संप्रदाय के खिलाफ कठोर टीका की थी। संवेगी संप्रदाय के मुनि आचारपालन में अधिक ध्यान देते थे, किन्तु प्रभाव तो चैत्यवासियों का ही उन दिनों में अधिक था। यहां तक की जैन संस्कृति का केन्द्र पाटण जो उन दिनों गुजरात की राजधानी था, उसमें चैत्यवासियों की इजाजत के बिना प्रवेश करना भी संवेगी मुनियों के लिए कठिन था। संवेगी परंपरा में कभी-कभी चैत्यवासी मुनि शामिल हो जाते थे, जो विद्वान् तथा आगमों के ज्ञाता होते थे। अभयदेवसूरि जिस परंपरा में दीक्षित हुए थे, उनके गुरु के गुरु वर्धमानसूरि पहले चैत्यवासी थे, और वे बाद में आगमों के चिंतन तथा वैराग्य उत्पन्न होने के कारण सवेगी बन गए थे। चूंकि वे विद्याप्रेमी तथा विद्वान् थे, इसलिए उनके शिष्य भी बहुश्रुत तथा विद्वान् थे। शुद्ध क्रियावाले संयमी श्रमणों की परंपरा बढाने की दृष्टि से उन्होंने अपने शिष्य जिनेश्वरसूरि तथा बुद्धिसागरजी को पाटण भेजा था, जिन्होंने अपनी विद्वत्ता के बल पर राजपुरोहित के यहां बड़ी कठनाई से स्थान पाया था और अपना काम शुरू किया और सफलता पाई।

जिनेश्वरसूरि अभयदेवसूरि के गुरु थे। जिनेश्वरसूरि जब पाटण से विहार कर जालोर की ओर गए तो वहां से उनका विहार धारानगरी की ओर हुआ। उस जमाने में धारानगरी विद्या तथा संस्कृति की केन्द्र थी। वहां महीधर श्रेष्ठि रहते थे जिनकी भार्या का नाम धनदेवी था और पुत्र का नाम अभयकुमार था। जिनदेवसूरि के संपर्क से अभयकुमार में वैराग्य जगा और साधु बनने के संकल्प को मातापिता से कह कर उसने आज्ञा प्राप्त की। आचार्यने योग्य पात्र, संकल्प की दृढ़ता और वैराग्यभाव देख कर वि. सं. ११०४ में उसको दीक्षा दी और अभयदेव मुनि नाम रखा। मुनि का जन्म विक्रम संवत १०८८ में हुआ था।

अभयदेव का वैराग्य आत्मकल्याण के लिये ही था, अतः वे कठोर तप, संयम और ज्ञान की साधना करने लगे। जैन दर्शन ही नहीं, पर वेदोपनिषदों का भी अध्ययन किया। उन्होंने दीक्षा ले कर १० साल तक शास्त्र-अध्ययन किया। २६ साल की उम्र में वे शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता हो गए थे। उनका संयम, उनकी योग्यता और विद्वत्ता देख कर उनके गुरुने उनको आचार्य पदवी दी और वे अभयदेवसूरि कहलाने लगे।

शास्त्रों के अध्ययन तथा तत्कालीन समाज की स्थिति के अवलोकन का परिणाम यह

हुआ कि शास्त्रों या आगमों की योग्य व्याख्या ही आचार की विकृति दूर करने का ठीक उपाय है। इस लिए आचार की विकृति दूर करने के लिए शास्त्रों की शुद्ध व्याख्याएं होनी चाहिए। अभयदेवसूरि अपने मन में शास्त्रों की व्याख्याएं ठीक करने का संकल्प करके उसकी तैयारी में लगे। साधनों की सुविधा की दृष्टि से पाटण अनुकूल स्थान था, क्यों कि वहां आगम की भिन्न-भिन्न वाचनाएं मिलने में सुविधा थी और चैत्यवासी संप्रदाय के विद्वानों का सहयोग वहां प्राप्त हो सकता था। वे चार साल तक अंतर-बाह्य तैयारी करते रहे और विक्रम संवत ११३० में उन्होंने अंगसूत्रों पर वृत्तियां लिखने का काम शुरू किया। अपने काम की गंभीरता और उसका महत्त्व जान कर उन्होंने इस काम के लिए प्रतिकूल आचार पालनेवाले चैत्यवासी संप्रदाय के आचार्य द्रोणाचार्य का सहयोग लिया। इसमें उनकी उदारता तथा व्यापकता और गुणग्राह्यता के दर्शन होते हैं। वे स्वयं शुद्ध आचार तथा कठोर संयम के पक्षपाती थे। लेकिन शिथिलाचारवालों के प्रति उनमें उदारता थी, जिससे वे इस महान् कार्य में द्रोणाचार्य का सहयोग प्राप्त कर कार्य को अधिक से अधिक प्रामाणिक और निर्दोष कर सके। इस कार्य में द्रोणाचार्य की विद्वत्ता और बहुश्रुतता का साथ न मिलता तो वे केवल संवेगी संप्रदायके साधुओं के सहकार्य से इस महान् तथा उपयोगी कार्य को स्यात ही इतना कर पाते या नहीं, कहना कठिन है। क्यों कि संवेगियों में शुद्ध आचार और कठोर संयम-वाले तो बहुत थे, पर विद्वानों की कमी थी।

अभयदेवसूरि की तप और संयम में विशेष-श्रद्धा थी। उन्होंने वृत्तियों का काम शुरू करते समय तपसे प्रारंभ किया और काम पूरा होने तक बराबर आयंबिल तप करते रहे। यह कार्य संवत ११२८(?) तक चलता रहा। इस काल में करीब ६०००० साठ हजार श्लोकों की उन्होंने रचना की। वे उपलब्ध पाठों को देख कर शुद्ध करते, फिर उस पर वृत्ति रचते और द्रोणाचार्य को बतला कर उनसे प्रामाणिकता की मोहर लगवाते। पाठों को शुद्ध करने का काम कितना कठिन तथा परिश्रम का है यह तो वे ग्रंथों का प्रामाणिक संपादन करने-वाले ही जान सकते हैं। आज साधनों की सुगमता और वैपुल्य होने पर भी एक एक ग्रंथ के संपादन में कई वर्ष बीत जाते हैं। फिर उन दिनों, जब साधनों की कमी थी, आगमों के अनेक पाठान्तर और वे भी अव्यवस्थित हों, तब कितना अधिक परिश्रम करना पड़ा होगा और वह भी लूखा-सूखा खा कर। इस तप और परिश्रम का शरीर पर परिणाम होना स्वाभा-विक था। अभयदेवसूरि को रक्तविकार हुआ। जो विरोधी विचार रखते थे, उन्होंने यह बात फैलाई की आगमों के गलत अर्थ करने का यह परिणाम है और इस लिए कोढ़ की बीमारी हुई। अभयदेवसूरि को इस अपवाद से बहुत दुःख हुआ। उन्होंने अनशन कर प्राणत्याग करने

तक का विचार किया । प्रभावक चरित्रकारने लिखा है कि उनको स्वप्न में नागराजने आकर कहा कि थंभण गांव के पास शेढ़ी नदी के किनारे दबी हुई प्रतिमा निकाल कर तीर्थ की स्थापना करो। नागराज के अपनी जिह्वाद्वारा उनके रोग को चूसने का उन्हें आभास हुआ। हम तो उस बात को उनकी संकल्पशक्ति का ही परिणाम मानते हैं जो स्वप्नरूप में प्रकट हुई हो।

वे कमजोर हालत में ही थंभण ग्राम की ओर जाने को तैयार हुए। उनके साथ अनेक श्रावक और साधु थे। वहाँ जाकर उनको स्वप्न में जिस जगह को बताया गया था वहां खुदवाने पर भव्य प्रतिमा दिखाई दी। प्रतिमा के दर्शन करते ही 'जय तिहुअणवर-कप्परूक्ख' इस स्तोत्र की रचना स्वाभाविक ही भक्ति के आवेश में हुई। धीरे धीरे उनकी बीमारी दूर हुई और वे स्वस्थ हुए। थंभण पार्श्वनाथ तीर्थ की स्थापना उन्हीं के द्वारा हुई। आज जो जैन साहित्य और आगम जिस रूप में पाये जाते हैं, उनको उस रूप में रखने में अभयदेवसूरि का बहुत बड़ा हिस्सा है। उन्होंने जैन आगमों पर वृत्तियां लिख कर तथा उचित संशोधन का कार्य कर संघ पर बहुत उपकार किए हैं। उनका कार्य उस समय तो महत्त्वपूर्ण था ही, पर बाद की पीढियों के लिए भी उसका बड़ा महत्त्व है।

इस लिए उनकी गणना उपाध्याय विनयविजयजीने युगपुरुषों में की हैं सो यथार्थ है। जैनदर्शन साहित्य तथा आचार जो आज बहुत कुछ मूल स्थिति में पाया जाता है, उसको मूल तत्त्वों के निकट रखने में अभयदेवसूरिजी का कार्य बहुत कुछ कारणभूत है। उन्होंने स्थानांग, समवायांग, ज्ञाता, भगवति सूत्र के अतिरिक्त पंचाशक सूत्र पर, जिसकी रचना आचार्य हरिभद्रसूरिने की थी, वृत्ति की रचना की थी जिसमें ७४८० श्लोक थे।

उनका कार्यक्षेत्र अधिकतर पाटण ही रहा और कहा जाता है कि देहावसान भी वहीं पर हुआ। पर कुछ लोग कपडवणज में पादुका होने से देहत्याग भी वहीं पर हुआ मानते हैं। भले ही देहत्याग कहीं भी हुआ हो, पर कपडवणज भी उनके प्रमुख कार्यक्षेत्रों में से एक था।

हम देखते हैं, जिन में निराग्रहवृत्ति और व्यापकता होती हैं, वे ही ऐसे महत्त्वपूर्ण और स्थायी स्वरूप के काम कर पाते हैं। और यह बात तभी आती है, जब अध्ययन गहरा तथा व्यापक हो। ऐसे ज्ञानी अपने संप्रदाय या धर्म का पालन निष्ठा के साथ करते हुए भी दूसरों के प्रति उदार होते हैं और यही सच्चे ज्ञानी की निशानी है। ऐसे महान् पुरुष हमारे यहाँ होते रहे हैं और आज भी मौजूद हैं। तभी हम में सहिष्णुता आज भी पाई जाती है। अभयदेवसूरि ऐसे महापुरुषों में से थे जिन में व्यापकता, ज्ञान और चरित्र का सुमेल था और जिन्होंने निराग्रही वृत्ति रख कर महान् कार्य किया।

देवेन्द्रसूरिकृत नव्य-कर्मग्रन्थ

डॉ. मोहनलाल मेहता, एम. ए., पी एच. डी.

आचार्य देवेन्द्रसूरि (विक्रम की १३-१४ वीं शती) ने जिन पांच कर्मग्रंथों की रचना की है उनका आधार शिवशर्मसूरि, चन्द्रर्षिमहत्तर आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा बनाये गये प्राचीन कर्मग्रंथ हैं। देवेन्द्रसूरिने अपने कर्मग्रन्थों में केवल प्राचीन कर्मग्रंथों का भावार्थ अथवा सार ही नहीं दिया है; अपितु नाम, विषय, वर्णनक्रम आदि बातें भी उसी रूप में रखी हैं। कहीं कहीं नवीन विषयों का भी समावेश किया है। प्राचीन षट् कर्मग्रंथों में से पांच कर्मग्रंथों के आधार पर आचार्य देवेन्द्रसूरिने जिन पांच कर्मग्रंथों की रचना की है वे नव्य-कर्मग्रंथ कहे जाते हैं। इन कर्मग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं: कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्ध-स्वामित्व, षडशीति और शतक। ये पांचों कर्मग्रंथ क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पंचम कर्मग्रंथ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त पांच नामों में से प्रथम तीन नाम विषय को दृष्टि में रखते हुए रखे गये हैं, जबकि अन्तिम दो नाम गाथा संख्या को लक्ष्य में रख कर रखे गये हैं। इन पांचों कर्मग्रंथों की भाषा प्राकृत है। जिस छंद में इनकी रचना हुई है उसका नाम आर्या है। प्रस्तुत निबन्ध में उपर्युक्त पांच कर्मग्रंथों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

कर्मविपाक—

ग्रंथकार ने प्रस्तुत ग्रंथ के लिए आदि एवं अन्त में 'कर्मविपाक' (कम्मविवाग) नाम का प्रयोग किया है। कर्मविपाक का विषय सामान्यतया कर्मतत्त्व होते हुए भी इसमें कर्मसम्बन्धी अन्य बातों पर विशेष विचार न किया जा कर उसके प्रकृति-धर्म पर ही प्रधानतया विचार किया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो प्रस्तुत कर्मग्रंथ में कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियों के विपाक-परिपाक फल पर ही मुख्यतया वर्णन किया गया है। इसी दृष्टि से इसका 'कर्मविपाक' नाम भी सार्थक है।

ग्रंथ के प्रारंभ में आचार्य ने बताया है कि कर्मबन्ध सहेतुक अर्थात् सकारण है। इसके बाद कर्म के स्वरूप का परिचय देने के लिए ग्रंथकार ने कर्म की चार दृष्टियों से विचार किया है; प्रकृति, स्थिति, अनुभाग अथवा रस एवं प्रदेश। प्रकृति के मुख्यतया आठ भेद हैं: ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन आठ मूल प्रकृतियों के विविध उत्तरभेद होते हैं जिनकी संख्या १५८ तक होती हैं। इन भेदों का

स्वरूप बताने के लिए आचार्य ने प्रारंभ में ज्ञान का निरूपण किया है। ज्ञान के पांच भेदों का संक्षेप में निरूपण करते हुए तदावरणभूत कर्म का सदृष्टान्त निरूपण किया है। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के नव भेदों में पांच प्रकार की निद्राएं भी समाविष्ट हैं। इसे बताते हुए आचार्यने इन निद्राओं का मनोरंजक वर्णन किया है। तदनुसार सुख और दुःख के जनक वेदनीय कर्म, श्रद्धा और चारित्र के प्रतिबन्धक मोहनीय कर्म, जीवन की मर्यादा के कारणभूत आयु कर्म, जाति आदि विविध अवस्थाओं के जनक नाम कर्म, उच्च और नीच गोत्र के हेतुभूत गोत्रकर्म एवं प्राप्ति आदि में बाधा पहुंचानेवाले अन्तराय कर्म का संक्षेप में वर्णन किया है। अन्त में प्रत्येक प्रकार के कर्म के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत कर्मग्रंथ में ६१ गाथाएं हैं।

कर्मस्तव—

प्रस्तुत ग्रंथ में कर्म की चार अवस्थाओं का विशेष विवेचन किया गया है। ये अवस्थाएं हैं-बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता। इन अवस्थाओं के वर्णन में गुणस्थान की दृष्टि प्रधान रखी गई है-बन्धाधिकार में आचार्यने चौदह गुणस्थानों के क्रम को लेते हुए प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीव की कर्मबन्ध की योग्यता-अयोग्यता का विचार किया है। इसी प्रकार उदय आदि अवस्थाओं के विषय में भी समझना चाहिए। गुणस्थान का अर्थ है आत्मा के विकास की विविध अवस्थाएँ। इन्हीं अवस्थाओं को हम आध्यात्मिक विकास-क्रम कह सकते हैं। जैन परम्परा में इस प्रकार की चौदह अवस्थाएं मानी गई है। इन में आत्मा क्रमशः कर्ममल से विशुद्ध होता हुआ अन्त में मुक्ति प्राप्त करता है। कर्मपुंज का सर्वथा क्षय कर मुक्ति प्राप्त करनेवाले प्रभु महावीर की स्तुति के बहाने से प्रस्तुत ग्रंथ की रचना करने के कारण इसका नाम 'कर्मस्तव' रखा गया है। इसकी गाथा-संख्या ३४ है।

बन्ध-स्वामित्व—

प्रस्तुत कर्मग्रंथ में मार्गणाओं की दृष्टि से गुणस्थानों का वर्णन किया गया है एवं यह बताया गया है कि मार्गणास्थित जीवों की सामान्यतया कर्मबन्ध-सम्बन्धी कितनी योग्यता है व गुणस्थान के विभाग के अनुसार कर्म के बन्ध की योग्यता क्या है। इस प्रकार इस ग्रंथ में आचार्यने मार्गणा एवं गुणस्थान दोनों दृष्टियों से कर्मबन्ध का विचार किया है। संसार के प्राणियों में जो भिन्नताएं अर्थात् विविधताएं दृष्टिगोचर होती हैं उनको जैन कर्म-शास्त्रियोंने चौदह विभागों में विभाजित किया हैं। इन चौदह विभागों के ६२ उपभेद हैं। वैविध्य के इसी वर्गीकरण को 'मार्गणा' कहा जाता है। गुणस्थानों का आधार कर्मपटल

का तरतमभाव एवं प्राणी की प्रवृत्ति-निवृत्ति है; जबकि मार्गणाओं का आधार प्राणी की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विभिन्नताएं हैं। मार्गणाएं जीव के विकास की सूचक नहीं हैं; अपितु उसके स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का पृथक्करण मात्र हैं-जबकि गुणस्थानों में जीव के विकास की क्रमिक अवस्थाओं का विचार किया जाता है। इस प्रकार मार्गणाओं का आधार प्राणियों की विविधताओं का साधारण वर्गीकरण है जबकि गुणस्थानों का आधार जीवों का आध्यात्मिक विकास-क्रम है। प्रस्तुत कर्मग्रंथ की गाथा-संख्या २४ है।

षडशीति—

प्रस्तुत ग्रंथ को 'षडशीति' इस लिए कहते हैं कि इसमें ८६ गाथाएं हैं। इसका एक नाम 'सूक्ष्मार्थ-विचार' भी है और वह इसलिए कि ग्रंथकारने ग्रंथ के अन्त में 'सुहुमत्थावियारो' (सूक्ष्मार्थविचारः) शब्द का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में मुख्यतया तीन विषयों की चर्चा है, जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान। जीवस्थान में गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन आठ विषयों का वर्णन किया गया है। मार्गणास्थान में जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्प-बहुत्व इन छः विषयों का वर्णन है। गुणस्थान में जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बंधहेतु, बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता और अल्प-बहुत्व इन दस विषयों का समावेश किया गया है। अन्त में भाव तथा संख्या का स्वरूप भी बताया गया है। जीवस्थान के वर्णन से यह मालूम होता है कि जीव किन किन अवस्थाओं में भ्रमण करता है। मार्गणास्थान के वर्णन से यह विदित होता है कि जीव के कर्मकृत व स्वाभाविक कितने भेद हैं। गुणस्थान के परिज्ञान से आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति का आभास होता है। इस जीवस्थान, मार्गणास्थान एवं गुणस्थान के ज्ञान से आत्मा का स्वरूप एवं कर्मजन्यरूप जाना जा सकता है।

शतक—

शतक नामक पंचम कर्मग्रन्थ में १०० गाथाएं हैं। यही कारण है कि इस का नाम शतक रखा गया है। इस में सर्व प्रथम बताया गया है कि प्रथम कर्मग्रंथ में वर्णित प्रकृतियों में से कौन कौन प्रकृतियां ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्वघाती, देशघाती, अघाती, पुण्यधर्मा, पापधर्मा, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना हैं। तदनन्तर इस बात का विचार किया गया है कि इन्हीं प्रकृतियों में से कौन कौन प्रकृतियां क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी एवं पुद्गलविपाकी हैं। इस के बाद ग्रंथकारने प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध (रसबन्ध) एवं प्रदेशबन्ध इन चार प्रकार

के बन्धों का स्वरूप बताया है। इन का सामान्य परिचय तो प्रथम कर्मग्रंथ में दे दिया गया है, किन्तु विशेष विवेचन के लिए प्रस्तुत ग्रंथ का आधार लिया गया है। प्रकृतिबन्ध का वर्णन करते हुए आचार्यने मूल तथा उत्तरप्रकृतियों से सम्बन्वित भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित एवं अवक्तव्य बन्धों पर प्रकाश डाला है। स्थितिबन्ध का विवेचन करते हुए जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति एवं इस प्रकार की स्थिति का बन्ध करनेवाले प्राणियों का वर्णन किया है। अनुभागबन्ध के वर्णन में शुभाशुभ प्रकृतियों में तीव्र अथवा मन्द रस पड़ने के कारण, उत्कृष्ट व जघन्य अनुभागबन्ध के स्वामी इत्यादि बातों का समावेश किया है। प्रदेशबन्ध के वर्णन में वर्गणाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है एवं अन्त में उपशमश्रेणी एवं क्षपकश्रेणी का स्वरूप बताया गया है।

लुंकाशाह और उनके अनुयायी

भंवरलाल नाहटा

सोलहवीं शताब्दी भारत का एक विशिष्ट संक्रान्तिकाल है। यों तो मुसलमानों के आक्रमण मुहम्मद गौरी से प्रारंभ होकर अलाउद्दीन खिलजी के समय तक बड़े क्रूर रहे। भारतीय देवालयों पर जबरदस्त प्रहार हुआ। जनता पर भी अमानवीय कृत्य हुए। इनसे जन-जीवन त्रस्त हो उठा। एक ओर धार्मिकता पर आघात, दूसरी ओर आजीविका और धन-संपत्ति पर। धर्म और धन मनुष्य के लिए प्राणों से भी अधिक प्रिय होते हैं। धन को ग्यारहवां प्राण कहा गया है और धर्म तो सर्वस्व है ही। फलतः अलाउद्दीन के बाद जब थोड़ी शांति प्राप्त हुई तो ध्वस्त मन्दिरों का जीर्णोद्धार और नवीन निर्माण का कार्य जोर-शोर से आगे बढ़ा। तेरहवीं, चौदहवीं शती की भी बहुत धातुप्रतिमाएं मिलती हैं, पर पन्द्रहवीं व सोलहवीं में तो उनकी संख्या और भी बढ़ जाती है। ज्ञानभण्डारों की सुरक्षा के प्रति जागरुकता और नवीन भण्डारों की स्थापना इस युग की उल्लेखनीय घटना है, जब कि मुसलमानों द्वारा विध्वंस-कार्य जोरों पर था। बहुतसी मूर्त्तियों व प्रतियों को भूमिगृह और प्रच्छन्न स्थानों में सुरक्षा के लिए रख दिया गया था। पन्द्रहवीं के उत्तरार्द्ध में जब थोड़ा शांत वातावरण देखा गया तो उन पुस्तकों को सुरक्षित स्थानों में स्थानान्तरित किया गया एवं बहुतसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की प्रतिलिपियां ताड़पत्र व कागज पर खरतरगच्छाचार्य जिनभद्रसूरि और तपागच्छ के सोमसुन्दरसूरि आदिने श्रावकों के सहयोग से अच्छे लहियों से करवायीं। लुंकाशाह का पूर्वजीवन भी ऐसे ही एक प्राचीन शास्त्रों की प्रतिलिपि करनेवाले लहिए के रूप में आलेखित मिलता है। सं. १४७५ में उनका जन्म हुआ, उनकी जाति व स्थान के सम्बन्ध में विविध मत हैं।

सोलहवीं शताब्दी में मूर्त्तिपूजा के विरोधी अनेक व्यक्ति हुए। मुसलमान तो मूर्त्तिपूजा के विरोधी थे ही। भारत में अनेक हिन्दू व जैन देवालयों का विध्वंस कर उन्होंने जनता की परम्परागत श्रद्धा पर प्रबल आघात किया। उसीका परिणाम हुआ कि भारत के विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों में कुछ ऐसे व्यक्ति निकले जिन्होंने मूर्त्तिपूजा का विरोध ही अपने जीवन का ध्येय बना लिया। महात्मा कबीर, श्वेताम्बर जैनों में लुंका, दिगम्बरों में तारणस्वामी इस मूर्त्तिपूजा विरोधी मत के अगुआ या नेता बने। लुंकाशाह की अपनी निजी कोई

रचना उपलब्ध नहीं है । पर उनके मत के विरोध में जो अनेकों ग्रन्थ लिखे गये उनसे उनके व्यक्तित्व की कुछ झांकी मिलही जाती है। दिगम्बर तारणस्वामी के ग्रन्थ मिलते हैं। उनकी भाषा बड़ी अटपटी और विचार भी अव्यवस्थित हैं। मूर्त्तिपूजा विरोधी आन्दोलन को समयने भी साथ दिया। एक ओर चारों तरफ़ मूर्त्तियें मुसलमानों द्वारा तोड़ी जा रही थीं, दूसरी ओर मूर्त्तिपूजा में होनेवाली क्रियाओं में हिंसादि को वताया गया। कुछ आडम्बर भी बढ़ चुका था। ऐसे ही कई कारणों से उस आन्दोलन को बल व सफलता प्राप्त हुई।

सर्वप्रथम हम लुंकाशाह के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो प्राचीन उल्लेख प्राप्त हुए हैं, उन्हें उपस्थित करते हुए उनके मत एवं अनुयायिओं के सम्बन्ध में सप्रमाण विचार करेंगे, जैसा कि उपर कहा गया है। लुंकाशाह के सम्बन्ध में उनके विरोध में लिखे गये साहित्य में ही अधिक तथ्य मिलते हैं। लुंकाशाह ने स्वयं कुछ लिखा नहीं, इस लिए उनकी मान्यताओं के सम्बन्ध में विरोधी साहित्य ही एक मात्र आधार है। आश्चर्य की बात है कि लुंकाशाह के अनुयायी लखमसी, भाणा आदि किसी भी समसामयिक व्यक्ति ने अपने उपकारी पुरुष की जीवनी और सिद्धान्त के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। लुंकाशाह के बाद सत्तर वर्ष तक उनके किसी भी अनुयायी ने इनके सम्बन्ध में कुछ भी लिखा हो ऐसा ज्ञात नहीं होता, जब कि विरोधी साहित्य उनके समकालीन या बहुत निकटवर्त्ती ही प्राप्त है। संवत् के उल्लेखवाली सबसे पुरानी विरोधी रचना गुजरात के विशिष्ट कवि लावण्यसमय की सिद्धान्त चौपाई है जो सं. १५४३ के कार्त्तिक शुक्ला ८ को बनाई गई थी। उसमें लुंकाशाह के सम्बन्ध में लिखा गया है—

सइं उगणीस वरिस थया, पणचालीस प्रसिद्ध।
त्यार पछी लुंकु हुअउ, असमंजस तिण कीध॥
लुंका नामइ मुंहतलउ, हूंतु एकइ गाम
आवी खोटि बिहुं परइ, भागु करम विरामि।
रलइ खपइ खीजइ घणुं, हाथि न लागइ काम।
तिणि आदरिउं फेरवी, कर्म लीहासु ताम
आगम अरथ अजाण तुं, मंडइ अनरथ मूलि।
जिनवर वाणी अवगिणी, आप करिउं जग धूलि।

---

१. जन्म का संवत् वि १४७२ का० शु० १५ भी मिलता है।

२. जाति प्राग्वाट थी यह अधिक विश्वस्त है।

३ लुंका सिरोही राज्यान्तर्गत अरहटवाडा के निवासी थे।

देखिये प्राग्वाट इतिहास, पृ० ३५८ संपादक-दौलतसिंह लोढ़ा.

रूठउ देव किस्युं करइ, वदति चपेट न देइ ।
किसी कुबुद्धि तिसी दिइ, जिण बहु काल रुलेइ ॥
देश अवन्ती मइं सुण्युं, तिहिं मंडपगढ जोइ ।
तिहां वछिआती आविया, मिल्या लखमसी सोइ ।
लुंकइ द्रव्य अपावि करि, लोभिइं कीधउ अंध ।
लुंका मत लेक भणी, पारिख उडिउ खंध ॥
पारिख हुअउ कुपारसी, जोइ रचिउ कुधर्म ।
पारिख किंपि न परखिउ, रयणरूप जिन धर्म ॥
लुंकइ बात प्रकाशी इसी, तेहनउ शीस हुइ लखमसी
तेणइ बोल उथाप्या घणा, ते सघला जिनशासनतणा ।

उसके बाद लुंका मत का खण्डन किया गया है । यह रचना जैनयुग पुस्तक ५ अंक ९-१० के पृष्ठ ३४० में प्रकाशित हो चुकी है । बीकानेर के उ. जयचंदजी के भंडार में हस्तलिखित वह प्रति भी विद्यमान है ।

इसके बाद सं. १५४४ के लगभग खरतरगच्छ के कमलसंयमोपाध्याय ने सिद्धान्त-सारोद्धार नामक ग्रन्थ बनाया जिस में लिखा गया है—

संवत पनर अठोतरउ जाणि, लुंकु लेहउ मूलि लिखाणि ।
साधु निंदा अहनिशि करइ, धर्म धडाबंध ढीलउ धरइ ॥
तेहनइ शिष्य मिलिउ लखमसी, तेहनी बुद्धि हियाथी खिसी ।
टालइ जिनप्रतिमा नइ दान, दया दया करि टालइ दान ॥
टालइ विनय विवेक विचार, टालइ सामायक उचार ।
पडिकमणा नउं टालइ नाम, भामइ पड़िया घणा तिणिठाम ॥
संवत पनर त्रु बीसइ कालि, प्रगट्या वेशधार समकालि ।
दया दया पोकारइ धर्म, प्रतिमा निंदी बांधइ कर्म ॥
एहवउ हुयउ पिरोजजिखान, तेहनइ पातिसाह दिइ मान ।
पाड़इ देहरा नइ पोसाल, जिनमत पीड़इ दुसमाकाल ॥
लुंका नइ ते मिलिउ संजोग, ताव मांहि जिम सीसक रोग ।
डगमगि पड़िउ सगलउ लोक, पोसालइ आवइ पणि फोक ॥

लावण्यसमय की सिद्धान्तचौपई के अनुकरण में बीका ने असूत्र-निराकरण बत्तीसी

बनाई जो जैनयुग वर्ष ५ अंक १-२-३ के पृष्ठ ८८ में प्रकाशित हुई है। उसमें लिखा है कि:—

वीर जिनेसर मुगतिईं गया, सइ ओगणीस वरस जव थया।
पणयालीस अधिक माजनइ, प्रागवाट पहिलइ सजनइ ॥ १ ॥
लंका लीहानी उतपति, सीख्या बोल दस वीस नी छिति।
मति आपणी करिउ विचार, मूलि कषाय बधारण हार ॥ २ ॥
तसु अनुवइ हउओ लाखणसीह, जिनवर तणी तीण लोपी लीह।
चउप्पदी कीधउ सिद्धान्त, करिउ सतां संसार अनंत ॥ ३ ॥
शिण व्याकरणिहि बालाबोध, सूत्र वात बे अरपि विरोध।
करी चउपद्धा जण जण दया, लोक तणा तीण मावजि गया ॥ ४ ॥

सं० १६१७ ज्ये. शु. १५ बुधवार को कनकपुरी में रचित हीरकलशकृत कुमति-विध्वंसण चौपई में इस प्रकार वर्णन मिलता है:—

इण मतिनी संभलियो आदि, गुज्जर देशि अहमुदा वादि।
लुंउकउ लेहउ तिहां किणि वसइ, मुनिवर परति लिखइ अहिनिसइ ॥ ९१ ॥
पुस्तक लिखी लियइ मुहमदी, सुखइ समाधी वसइ तिहां सदी।
एक दिवस निसुणउ तसु वात, लिखतां पाना छोडिया सात ॥ ९२ ॥
मुणिवर परतइ देखी चूक, लुंका हाथि बेठि की भूक।
रीसाणउ लेहउ मनमांहि, लुंका मति मंडिउ तिणि ठाहि ॥ ९३ ॥
संवत पनरह अठ्ठोतरइ, जिनप्रतिमा पूजा परिहरइ।
आगम अरथ अवर परि कहइ, इण परि मिथ्यामति संग्रहइ ॥ ९४ ॥
लखमसीह तसु मिलिउ सीस, वक्रमती नर बहुली रीस।
बेउ मिली निषेधइ दान, विनय विवेक न आपइ ध्यान ॥ ९५ ॥
पनरह सइ चउतीसइ समइ, गुरु विणि वेस धारिया अनुक्रमइ।
संघमांहि तिणि कारणि नहीं, वीतराग इम बोलइ सही ॥ ९६ ॥

दिगम्बर " भद्रबाहु चरित्र " में इस प्रकार लिखा है कि:—

मृते विक्रमभूपाले, सप्त विंशतिसंयुते।
दश पंच शताब्दाना–मतीत शृणुता परम ॥

लुंकामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः ।
देशेऽत्र गौर्जरख्याते, विद्वता जिननिर्जरे ॥
अणहिल्लपत्तने रम्ये, कुलजोऽभवत् ।
लुंकाभिधो महामानी, श्वेतांशुकमताश्रयी ॥
दुष्टात्मा दुष्टभावेन कुपितः पापमण्डितः ।
तीव्रमिथ्यात्वपाकेन लूंकामतमकल्पयत् ॥

(दिगम्बर यह समीक्षा पृ. १३)

दिगम्बर ग्रन्थ लुंकामतनिराकरण जो सुमतिकीर्तिने कोकादा नगर में सं. १६२७ में बनाया, उस में लिखा है:—

अणहिलपुर पाटण गुजरात, महाजन वसइ चउरासी न्यात ।
लघु सारवी न्याते पोरवाड़, लोको सेठि लीहो छि वाड़ ॥
ग्रंथसंख्या नई कारणइ वल्यउ, जैनयति सुं बहु चिड़भडयउ ।
लोके लीहे कीधा भेद, धर्म तणा उपजाया छेद ॥
शास्त्र जाणे श्वेताम्बर तणा, कालइ नल दीधा आपणा ।
प्रतिमा पूजा छेद्या दान, धर्मतणी तिण कीधी हाण ॥
संवत पनर सत्तावीस, लुंका मत ऊपना कहीस ।
पडत काल थी आव्या फरंग, फोज रोग हवो नरभंग ॥

इसके बाद तो सं. १६२९ में धर्मसागरोपाध्यायने प्रवचनपरीक्षा एवं गुणविनय वाचक ने लुंका मत निराकरण चौपाई में बहुत विस्तार से खण्डन किया है। हम लेख-विस्तारभय से पिछले ग्रन्थो में जो ज्ञातव्य मिलता है उसको भविष्य के लिए रख कर यहां केवल ब्रह्मकविरचित जिनप्रतिमास्थापन ग्रन्थ के आधार से थोड़ा परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं। यह ग्रन्थ सं. १६०७ के कार्तिक सुदि १३ को रचा गए है। इस में तेरह अधिकार हैं। उन में लुंका मत की उत्पत्ति, पारखमत और नयेलुंके का मान्यताभेद आदि विषय विशेष महत्त्व के हैं। लुंकामत-उत्पत्ति बहलाते हुए कहा गया है—

संवत पनर बतीसउ गयउ, एक भेदमति तिहांथी थयउ ।
अहमदावाद नगर मंझारि, लुंकउ महतो वसइ विचारि ॥
अक्षर तसु आवड़ता भला, ए छइ मोटी पहली कला ।
लिखतउ पुस्तक घणा पोसालि, करतउ आजीविका संभालि ॥

जे करता महात्मा वखाण, ते सांभलतउ बुद्धि विनाण।
अक्षर खंडो जाणइ अर्थ, गाथा भणवइ तेह समर्थ॥
इक दिवस कांई लिखिगउ कूड़, थई महातमा ओलंभा मूड़।
अति कहतां रीसाणउ घणउ, फल देखाड़ि क्रोधह तणउ॥
सकल जोधमांहि मोटो क्रोध, तेह थकइ न लहइ प्रतिबोध।
क्रोध वसइ जे भापइ लवइ, भगवंत कहइ कूड़ी हुवइ॥
तउ पणि पोसलिइ नित जाइ, कहिवा आजीविका उपाइ।
मनमांहे चिन्तइ अवसर लही, भिक्षा भांजउ एहनी सही॥
तउ देखीजे हरखे आचार, ते गाथा नउं करइ उद्धार।
संघ अर्थ मेली अति घणउ, संग तजइ ते लिखिवा तणउ॥
मिलिउ तिसि तेहनइ लखमसी, तिणे बिहुं वात विमासी इसी।
सूत्रे बोल्यउ जे आचार, ए पासिते नहीं लिगार॥

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों का समुच्चय रूप में भावार्थ यह है कि सं. १४७५ (वीर संवत् १९४५) के आसपास लुंकासाह का जन्म हुआ। उनकी जाति पोरवाड़ थी। पहले घर की अवस्था अच्छी हो सकती है, पर फिर आर्थिक कमजोरी आ जाने से उन्होंने अपनी आजीविका ग्रन्थों की नकलें कर चलाना आरंभ किया। उनके अक्षर सुन्दर थे। यति महात्माओं के पास सं. १५०८ के लगभग विशेष संभव है कि अहमदावाद में लेखन का काम करते हुए कुछ विशेष अशुद्धि आदि के कारण उनके साथ बोलचाल हो गई। वैसे व्याख्यानादि श्रवण द्वारा जैन साध्वाचार की अभिज्ञता तो थी ही और यति महात्माओं में शिथिलाचार प्रविष्ट हो चुका था। इस लिए जब यतिजीने विशेष उपालम्भ दिया तो रुष्ट हो कर उनका मानभंग करने के लिए उन्होंने कहा कि शास्त्र के अनुसार आपका आचार ठीक नहीं है एवं लोगों में उस बात को प्रचारित किया। इसी समय पारख लखमसी उन्हें मिला और उसके संयोग से यतियों के आचारशैथिल्य का विशेष विरोध किया गया। जब यतियों में साधु के गुण नहीं हैं तो उन्हें वन्दन क्यों किया जाय? कहा गया। तब यतियोंने कहा—"वेष ही प्रमाण है। भगवान की प्रतिमा में यद्यपि भगवान के गुण नहीं फिर भी वह पूजी जाती है!" तब लुंकाशाहने कहा कि—"गुणहीन मूर्त्ति को मानना भी ठीक नहीं और उसकी पूजा में हिंसा भी होती है। भगवानने दया में धर्म कहा है" इस प्रकार अपने मत का प्रचार करते हुए कई वर्ष बीत गये। सं० १५२७ और सं० १५३४ के बीच विशेष संभव सं० १५३०–३१ में भाणा नामक व्यक्ति स्वयं दीक्षित हो कर इस मत का सर्व प्रथम मुनि हुआ। इसके बाद

समय के प्रवाह से यह मत बहुत फैलता गया। पर संघ का नेता जैसा विद्वान् और कुशल होना चाहिए था, न होने के कारण अल्प काल में ही कई विभिन्न मतों की सृष्टि तो गयी। लगभग १०० वर्ष के अन्दर ही लुंका मत की १३ शाखाएं हो गयीं और सं० १६१३–२९ के बीच सैंकड़ों की संख्या में लुंका मत के साधु मूर्तिपूजक साधु–संघ में आ कर सम्मिलित हो गए। उनकी तेरह शाखाओं में चार विशेष रूप से प्रसिद्ध हो गयीं जिनके अनुयायी आज भी विद्यमान हैं। पर वे सभी मूर्तिपूजा का विरोध त्यागकर पूर्ण समर्थक बन गये हैं। वास्तव में मानव स्वभाव ही मूर्तिपूजा का समर्थक है। अमूर्त भावों को विशिष्ट व्यक्ति ही ग्रहण कर सकते हैं। मूर्ति या रूप तो सब के लिए प्रभावोत्पादक या आकर्षक है। अच्छी या बुरी जिस चीज के सम्पर्क में हम आते हैं, निमित्तवासी आत्मा होने से उस पर तदनुरूप प्रभाव पड़ता ही है। इसलिए कबीर आदि प्रायः सभी मूर्ति विरोधी संप्रदाय अंत में मूर्ति को मान्य करने लगे। लौंकामत की चार प्रधान शाखाएं हैं। उनमें नागौरी लौंका की दो गद्दियें बीकानेर में हैं, दूसरा गुजराती लौंकागच्छ है जिसकी गद्दी वड़ौदा व एक अन्य स्थान में है। तीसरा उत्तराधगच्छ जो पंजाब या उत्तर प्रदेश में प्रचारित हुआ। इनकी परम्परा के संबन्ध में हमारा एक लेख प्रकाशित हो चुका है। चतुर्थ वीजामत या विजयगच्छ है जिसके श्रीपूज्य कोटा में हैं। इन चारों शाखाओं की मान्यताओं में क्या अन्तर है? यह जानने के साधन अभी प्राप्त नहीं हुए। केवल नागौरी लुंकागच्छ के समाचारी सम्बन्धी एक ग्रन्थ बीकानेर के बड़े ज्ञानभण्डार में देखा गया है। इस गच्छ का प्रभाव अजीमगंज आदि में भी रहा और इस गच्छ के आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्त्तियें व पादुकाएं आदि भी कई स्थानों में प्राप्त हैं।

ब्रह्मर्षि के प्राप्त ग्रन्थ में लौंकाशाह के कुछ समय पश्चात् ही पारखमती और नए लौंकों में जो मतभेद हुआ उसके कुछ सूत्र प्राप्त होते हैं। उनके अनुसार पारखमती तो दयाधर्म को प्रधानता देता था, इसलिए साधुओं का नदी पार होना आदि हिंसा होनेवाले कार्य अमान्य करता था। पर नये लौंकामती शास्त्राज्ञा होने के कारण केवल दया धर्म को आगे कर जिनाज्ञा को प्रधानता न देने में अनौचित्य समझते थे। इसी प्रकार कई अन्य मान्यताओं में भी पुराने पारखमती लुंका और नये लुंकानुयायिओं में मतभेद था।

लौंकामतानुयायी पहले ४५ आगम मूलरूप से मानते थे। सं. १५४० के लिखे हुए मतपत्र की नकल हमारे संग्रह में है। उसमें लुंकानुयायी पासा आदिने अपने हस्ताक्षरों से यह स्वीकार किया है कि ४५ आगमों में मूर्तिपूजा का पाठ दिखाने पर हमें मान्य होगा। उसके ऊपर ४५ आगमों के नाम व उनकी श्लोकसंख्या लिखी हुई है, पर पीछे से जब मूर्त्ति-

पूजक संप्रदाय के विद्वानों द्वारा उनके बतलाये हुए ४५ आगमों में -जो स्थान-स्थान पर मूर्त्ति-पूजा के समर्थक पाठ थे उनको जब दिखाया गया तब उन्होंने कुछ जिनागमों को न मानने का कोई भी कारण मिला या जिनके बिना उनका काम चल सकता था उनकी मान्यता छोड़ दी गयीं। ४५ आगम में १४ को बाद देकर ३१ की मान्यता हुई और किसीने उनमें भी दो और कम करके २९ ही मान्य रखे।

ब्रह्मऋषि विरचित जिनप्रतिमास्थापन प्रबन्ध एवं प्रवचनपरीक्षा में २९ आगमों की मान्यता का उल्लेख है, फिर ३ और मान्य किये गये और अब स्थानकवासी व तेरापंथी संप्रदायों में ३२ आगमों की मान्यता है। पर यह कब से प्रारंभ हुई यह अन्वेषणीय है।

ब्रह्मर्षि ने अपने ग्रन्थ में ऐसी १०१ बातों का निर्देश किया है जिन्हें २९ सूत्रों को ही मान्य रखनेवालों के लिए मानने का कोई आधार नहीं। बहुत सी युक्तियों और शंकाओं के गीतार्थ बुद्धि से समाधान इस प्रकार की रचनाओं में प्रचुरता से पाये जाते हैं। कब-कब किन-किन कारणों को ले कर सूत्रों की मान्यता का तारतम्य और क्रियाकलापों में भेद-विभेद आ कर नवीन सम्प्रदायों का उद्गम और विकास हुआ? आगम सूत्र एवं पंचाङ्गी मान्यता एवं गुरुगम के अभाव में विशृङ्खलता किस प्रकार पनपी? इन सब बातों का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन कर तथ्यों को प्रकाश में लाना परमावश्यक है। आशा है विद्वान लोग आज के युग में उस महाश्रुतसमुद्र में भरे रत्नों से अधिकाधिक लाभ उठाने से वञ्चित नहीं रहेंगे।
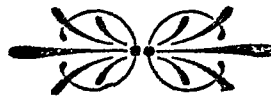
पू. उपाध्याय श्री मेघविजयजी गुम्फिता अर्हद्गीता

पन्यास श्री रमणीकविजयजी महाराज

वीतरागदेव श्री महावीर-वर्धमानस्वामी के इन शासन के पच्चीसौ वर्ष तक हरएक शताब्दी में अनेक विद्वान् जैनाचार्य और मुनिपुङ्गव होते रहे हैं। अठारवीं शताब्दी में जो अनेक विद्वान् मुनिप्रवर हुए हैं, उनमें उच्चकोटि के विद्वान् और महाकवि के नाम से प्रसिद्ध उपाध्याय श्री मेघविजयजी महाराज का विशिष्ट स्थान है।

उपाध्याय श्री मेघविजयजी जगप्रसिद्ध मुगलसम्राट् अकबर के प्रतिबोधक जगद्गुरु श्री हीरविजयसूरीश्वरजी की परंपरा में हुए हैं। उनके दीक्षागुरु पंडित श्री कृपाविजयजी महाराज थे। तपागच्छीय आचार्यप्रवर विजयदेवसूरि के पट्टधर श्री विजयप्रभसूरिने उनको वाचक-उपाध्याय की पदवी से अलंकृत किया था। इतना सहज परिचय श्री मेघविजयोपाध्यायजी के स्वरचित ग्रंथों की प्रशस्तिओं में प्राप्त होता है। इससे ऐसा अनुभूत होता है कि वे श्री विजयप्रभसूरि के धर्मसाम्राज्य में मुख्यतः विद्यमान थे।

आज उनकी उपलब्ध कृतिओं को देखने से ज्ञात होता है कि उनका पाण्डित्य असाधारण था और वह साहित्य की विविध दिशाओं में व्याप्त था। उन्होंने व्याकरण, काव्य, छंद, न्याय, दर्शन, कथासाहित्य, ज्योतिष, सामुद्रिक, मंत्र, यंत्र, अध्यात्म आदि अनेक विषय के ग्रंथों की रचना की है।

अध्यात्मविषयक तीन ग्रंथों की उन्होंने रचना की है। (१) मातृकाप्रसाद (२) ब्रह्मबोध और (३) अर्हद्गीता। इन तीन ग्रंथों में से अर्हद्गीता का परिचय यहां दिया जाता है।

ब्राह्मण-परंपरा में गीताग्रंथ ख्यातनाम है जो महाभारत का एक अंश है। गीता में अठारह अध्याय हैं और उनका अन्य नाम ब्रह्मविद्या निरूपक योगशास्त्र है। ("ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे") गीता भारतीय साहित्य का उत्तम ग्रंथरत्न है, ऐसा सर्व पंडितों का अनुमान है।

जैनेतर परंपरा में जो साहित्य विशिष्ट सुप्रसिद्ध और आत्मशोधन आदि के लिये उपयोगी था, जैनेतर साहित्य के अनुकरणरूप जैनाचार्योंने भी वैसा और वैसे ही नाम के साहित्य का सृजन करने का कभी २ प्रयत्न किया है। ऐसे प्रयत्नों से वे साक्षर और सामान्य

जनता तक अपना धर्मोपदेश पहुँचा सके हैं। इसीका साक्ष्य देखना हो तो 'वसुदेवहिंडी' नामक ग्रंथ को देखें।

इसके अतिरिक्त ऐसे अनुकरणों को समझाने के लिये आचार्य श्री हरिभद्रसूरि आदि के स्वरचित धर्मबिन्दु, ललितविस्तरा आदि ग्रंथों तथा मेघदूत के अनुकरणरूप और माघ-काव्य आदि की पादपूर्ति जैसे ग्रंथों तथा अन्य जैन कई कवियों द्वारा रचित कई-एक ग्रंथ साक्ष्य में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

उपाध्याय श्री मेघविजयजी भी इसी तरह की पूर्व गुरुपरंपरागत अभिरुचि से प्राप्त आत्मशोधन दृष्टि से अर्हद्गीता रचने को उत्तेजित होते हैं। उन्होंने भी अपनी कृति का अर्हद्गीता या-तत्त्वगीता या भगवद्गीता नाम दिया है। अर्हद्गीता में छत्तीस अध्याय हैं। यह श्रीकृष्ण की गीता से दुगुनी है। श्रीकृष्ण की गीता में 'श्री भगवान् उवाच' या 'श्री अर्जुन उवाच' ऐसे वाक्य दिये हैं। इस ग्रंथ में भी 'श्री भगवान् उवाच' और 'श्री अर्जुन के' स्थान पर 'श्री गौतम उवाच' ऐसे वाक्य हरएक अध्याय के प्रारम्भ में ही प्रस्तुत हैं। गीता में श्रीकृष्ण के लिये 'भगवान्'-शब्द प्रयुक्त किया गया है। अर्हद्गीता में श्री महावीरस्वामी के लिये 'भगवान्' शब्द प्रयुक्त किया गया है। श्री कृष्ण की गीता में पृच्छक 'अर्जुन' श्री कृष्ण का परममित्र है। प्रस्तुत गीता में श्री 'इन्द्रभूति-गौतम' श्री महावीरस्वामी के मुख्य और प्रिय शिष्य हैं। इन छत्तीस अध्यायों में ज्ञानसाधन तथा क्रियासाधन ऐसे आध्यात्मिक विषयों की चर्चा है। चर्चा में समय प्रसंगोचित भिन्न-भिन्न दर्शनों का समन्वय और अधिकतर वेदान्त का समन्वय तथा 'ॐ नमः सिद्धः' इस उक्ति की नाना रूप से उद्बोधना दी गई है। इससे आगे बढ़ कर ज्योतिष, सामुद्रिक, तिथि-विचार, आयुर्वेदिकविचार और नयों का निरूपण आदि विविध विषयों की चर्चा इसी गीता में की है। इन सब विषयों का विस्तृत परिचय न देते हुए संक्षेप में ही ग्रंथ की मुख्य-मुख्य विशेषता और इनमें निरूपित बातें ही मुख्यतया यहाँ बताने की धारणा है।

---

१ देखियें 'वसुदेवहिंडी' मध्यमखड प्रथमपत्र :—

उनमें जो उल्लेख हैं उनका साराश यही है कि नलराजा, नहुपराजा, राम, रावण, जनमेजय, कौरव-पाडवों आदि की कथाओं में लोग प्रीति-श्रद्धा रखते हैं। प्राकृत धर्मकथाओ को सुन कर भी लोग उनमें अभिरुचि नही बताते है। अत. रसिक लोगों के लिये शृंगारकथाशैली के अवलम्बन से धर्म को समझाने की बुद्धि से शृंगारप्रधान कथाए लिखी जाती हैं। कामकथा में रसिक लोग पूछते हैं कि उत्तम कामभोग की कैसे प्राप्ति कर शकें ? उनको प्रत्युत्तर शृंगारप्रधान शैली मे ही दिया जाता है। और वह यही है कि-उत्तम चारित्र्यके आचरण से उत्तम कामभोग उपलब्ध कर सकते हैं।

ऋग्वेद के प्रत्येक मंत्र के शिर पर मंत्र का ऋषि, छंद आदि बताया है[२]। वैसे ही अर्हद्गीता के प्रारंभ में अर्हद्गीता का ऋषि गौतम है, छंद अनुष्टुप् है, देव सर्वज्ञ जिन परमात्मा है। "प्राप्तेऽपि नृभवे यत्नः कार्यः" इत्यादि इस गीता का कीलक है। तदुपरांत जगह-जगह वैदिक मंत्र की तरह वसट्, स्वधा, स्वाहा, आदि मंत्राक्षरों का प्रयोग उपाध्याय श्री मेघविजयजीने किया है।

यद्यपि अर्हद् गीता श्री मेघविजयजी उपाध्यायने अपने आप की (स्वयं) कल्पना से उद्भावित की है और रची है। इतना होते हुए भी उन्होंने नम्रभाव से अपनी इस रचना का श्री गौतमस्वामी के मुख में प्रश्नरूप में और श्री महावीरस्वामी के मुख में प्रत्युत्तर रूप से आयोजन किया है।

जैन परंपरा में कितने ही ऐसे प्राचीन अर्वाचीन ग्रंथकार हो गये हैं जिन्होंने नम्र भाव से अपनी रचना को श्री महावीरस्वामी के मुख से शब्दातीत की है। प्रस्तुत गीता ग्रंथ में श्री मेघविजयजीने उपर्युक्त पूर्व गुरुपरंपरा की पद्धति स्वीकृत की है।

उ. श्री मेघविजयजी अपनी इस कृति के बारे में कहते हैं किः—

"श्रीवीरेण विबोधिता भगवता श्रीगौतमाय स्वयं,
सूत्रेण ग्रथितेन्द्रभूतिमुनिना सा द्वादशांग्यां पराम्।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीं षट्त्रिंशदध्यायिनीं,
मातस्त्वां मनसा दधामि भगवद्गीते! भवद्वेषिणीम्" ॥१॥ [अ. गीता प. ३]

अर्थात्—भगवान महावीर स्वयंने गौतम को छत्तीस अध्याययुक्त और अद्वैतामृत रस को बहानेवाली अर्हद्गीता या भगवद्गीता कही है और श्री इन्द्रभूति मुनिने इसको द्वादशांगी में सूत्ररूप से गुंफित की है। इतना लिखने के बाद उन्होंने गीता को माता कहकर उसका ध्यान किया है। उपर बताये हुए श्लोक के अन्त में बताया है कि—

इति परसमयमार्गपद्धत्या शास्त्रप्रज्ञाश्रुतदेवतावतारः ॥

इस तरह परमत की पद्धति के अनुसार शास्त्रप्रज्ञारूप श्रुतदेवता का आविर्भाव हुआ समझना चाहिए।

---

२. ॐ अस्य श्रीअर्हद्गीताख्यपरमागमबीजमंत्ररूपस्य सकलशास्त्ररहस्यभूतस्य श्रीगौतमऋषिः, अनुष्टुप्छंदः, श्रीसर्वज्ञो जिनः परमात्मा देवता, प्राप्तेऽपि नृभवे यत्नः कार्यः प्राणभृता तथा, इति बीजम्, येनात्माऽऽत्मन्यवस्थाता तद् वैराग्यं प्रशस्यते इति शक्तिः, अमुक्तोऽपि, क्रमान्मुक्तो निश्चयात् स्यादनिच्छया इति कीलकम् ॥
[अर्हद्गीता, पत्र ३]

इसमें सब मिलकर छत्तीस अध्याय हैं। इनमें चौदहसे सोलह अध्यायों का ब्रह्मकाण्ड नाम दिया है। और सत्रह से छत्तीस अध्यायों का कर्मकाण्ड नाम दिया है। एकसे तेरह अध्यायों का सामान्य अध्याय नाम दिया है।

इस गीता में मुख्यतः विवेचना इस प्रकार है। चौथे अध्याय के १९ वें श्लोक में दिखाया है कि किसीभी अपेक्षा से आश्रव भी संवर हो जाता है और किसी अपेक्षा तक संवर भी आश्रव हो जाता है—

" संवरः स्यादाश्रवोऽपि संवरोऽप्याश्रवाय ते।
ज्ञानाज्ञानफलं चैतन्मिथ्या सम्यक्श्रुतादिवत् ॥ १९ ॥ "

ग्रंथकारने इसी विवेचन में प्रधानतया विवेक को (मुख्य) स्थान दिया है। बिना विवेक संवर आश्रव होता है और सविवेक आश्रव भी संवर हो जाता है, ऐसा उनका कहने का तात्पर्य है। उनका यह कथन जैन सिद्धांत से पूर्णतः अविरुद्ध है। यह हरएक विवेकशील की समझ में आ सकता है।

६ वें अध्याय के पंद्रहवें श्लोक में धर्म को अमृतरूप बताया है—

" वातं विजयते ज्ञानं दर्शनं पित्तवारणम्।
कफनाशाय चरणं धर्मस्तेनामृतायते ॥ १५ ॥ "

इस उक्ति को समझाते हुये वे कहते हैं कि–ज्ञान वातदोष को पराजित करता है। दर्शन पित्तरोग को निवारता है और चारित्र्य कफदोष नष्ट करता है। इन दृष्टियों से धर्म को अमृतरूप बताया हैं।

ग्रन्थकारने जो ज्ञान–दर्शन–चारित्र्य को वात–पित्त–कफ को निवारनेवाले बताये हैं, यह वस्तुस्थिति गहन चिंतन से सत्य प्रतीत होती है। क्योंकि वातप्रकृतियुक्त प्राणी में ज्ञान कम मात्रा में ही होता है। जैसे बुद्धिशक्ति बढ़ती जाती है वैसे ही वातप्रकृति शिथिल होती जाती है। इसी तरह जिस प्राणी में दर्शनमोह हो उसमें क्रोधादि कषाय अधिकतर दृष्टिगोचर होते हैं। कषाय और पित्त अंशतः समान प्रकृति हैं। सम्यग् दर्शन से पित्त शिथिल होता है। परिणाम यह होता है कि चारित्र्यशील प्राणी अनुष्ठान की ओर प्रतिक्षण क्रियाशील रहता है और ऐसा होने से उसकी जड़तावर्धक कफप्रकृति शिथिल होती जाती है। इसी तरह ग्रन्थकार ज्ञानादि तीन गुणों का तथा वातादि तीन दोषों का पारस्परिक संबंध स्थापित करते हैं। यह निष्कर्ष उन्होंने स्वयं अनुभव से प्राप्त किया है ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि ऐसा उल्लेख

हमने अन्य ग्रन्थों में नहीं देखा है और न सुना भी है। उपाध्यायजी का यह विवेचन अपूर्व एवं नवीन रीति का है, लेकिन यह कथन पूर्णतः सत्य है इसमें कोई संदेह नहीं है।

अध्याय १४ श्लोक ६ से ८ में उपर बताथी हुई बात का पुनः निरूपण है। वे लिखते हैं कि—

" ज्ञानावरणसंज्ञेयो वातः सिद्धान्तवादिनाम् ।
पित्तमायुः स्थितेर्वाच्ये नामकर्म कफात्मकम् ॥ ६ ॥
रक्ताधिक्येन पित्तेन मोहप्रकृतयोऽखिलाः ।
दर्शनावरणं रक्तकफसांकर्यसम्भवम् ॥ ७ ॥
तत्तद्विकारजं वेद्यं गोत्रं पित्तकफात्मकम् ।
अन्तरायः सन्निपातादेषां विकृतिकारणम् ॥ ८ ॥ "

सैद्धान्तिकों के मत अनुसार ज्ञानावरण वात दोष है, आयुष्य स्थिति का नाम पित्त दोष है और नामकर्म कफरूप है। जहाँ जिस में रक्त की आधिक्यता है वहाँ पित्त प्रकृति से सर्व मोहप्रकृतियाँ उदित होती हैं। वात और कफ का सम्मिश्रितभाव दर्शनावरण है और अनुविकारों से होनेवाली सुख दुःख की अनुभूति वेदनीय है। गोत्रकर्म पित्त-वात-कफरूप है। वात-पित्त-कफ के सन्निपातरूप अंतरायकर्म इन तीनों विकृतियों का कारणभूत बनता है। इसी लीये सभी भावों का निरूपण कर के मैंने उपर बताया है। इसी बाह्य और अंतर हेतु से और प्रयत्न से मन को निराग्रही करने का आत्मार्थी पुरुष को यत्न करना चाहिये।

उपर्युक्त कथन में उ. श्री मेघविजयजीने ज्ञानावरणीय आदि कर्म और वात-पित्त-कफ आदि दोषो में जो संबंध स्थापित किया है वह एक अश्रुतपूर्व है। लेकिन गहन चिंतन से उनका यह कथन किसी भी अनुभवी ज्ञानी और आत्मार्थी की कसोटी पर से अभिन्न हो जाय ऐसा है। उनकी इस उक्ति से स्पष्ट दिखायी पडता है कि आध्यात्मिक शुद्धि के पारग जिज्ञासु देह को दुश्मन समझें और आरोग्य संयम की आराधना में अनुकूल हो सके ऐसी चर्या ही सावधानी से उनको निर्वाहित करनी चाहिये। स्पष्ट यह है कि वात-पित्त-कफ संभूत विषमता को मिटाना जरूरी है और इस उद्देश के लिये आहारशुद्धि पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। उनके कहने का तात्पर्य ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा की स्वस्थता मन के आरोग्य पर निर्भर है और वही आरोग्य देह के आरोग्य का कारण है।

आठवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में शौच विषयक आदेश करते हुये वे कहते हैं—

" शौचं च द्रव्यभावाभ्यां यथार्हता स्मृतम् ।
अस्वाध्यायं निगदता दशधौदारिकोद्भवम् ॥ १९ ॥ "

अर्हन्त भगवानने दश प्रकार के अस्वाध्याय का निर्देश किया है। इससे प्रतीत होता है कि भगवानने द्रव्यशौच और भावशौच इन दोनों को स्वीकृत किया है। द्रव्यशौच और भावशौच इन दोनों की सापेक्षता का जैन शासन में सहज भी कम मूल्य नहीं है। द्रव्यशौच, पानी–मिट्टि आदि से बाह्यशुद्धि और भावशौच, ध्यान–चिंतन से आत्मशुद्धि।

ब्रह्मकाण्ड के पंद्रहवे अध्याय के पंद्रहवे श्लोक में उपाध्यायजीने कहा है कि—

" जैना अपि द्रव्यमेकं प्रपन्ना जगतीतले ।
धर्मोऽधर्मोऽस्तिकायो वा तथैक्यं ब्रह्मणे मतम् ॥ १५ ॥ "

सापेक्षरूप से विचार करते जैन सम्मत द्रव्यवाद और वेदान्त सम्मत ब्रह्मवाद दोनों एक समान ही हैं। इतना कहकर वे वेदान्त और जैन दर्शन का पारस्परिक सामञ्जस्य स्थापित करते हैं। वे अन्योन्य के सर्जनात्मक और निषेधात्मक विवाद में पगरण नहीं करते। लेकिन उन दोनों की सम्मति दर्शाते है। इसी संगति से उनका मानसिक उदार आशय आप ही प्रदर्शित होता जाता हैं।

कर्मकाण्ड के अठारहवें अध्याय के श्लोक सातमें वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि—

" द्रव्यक्षेत्रकालभावाऽपेक्षया बहुधा स्थितिः ।
आचाराणां दृश्यतेऽसौ न वादस्तत्र सादरः ॥ ७ ॥ "

आचारों की भिन्नता, विध–विध क्रियाओं की भिन्नता और नाना प्रकार की अनुष्ठान भिन्नताओं की महत्ता स्थापित करने की नहीं है और उनपर चर्चा करना उचित नहीं है। आचार–क्रिया आदि अनुष्ठान की जो भिन्नता दिखायी पडती है वह द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव की अपेक्षा से दिखायी पडती है। इसलीये किसी भी आत्मार्थी को स्वयं आत्मशुद्धि को छोडकर उनके वादविवाद के चक्कर में पड़े यह आदरणीय नहीं है। उनका यह विचार उनके ही समय में लाभदायी था, इतना ही नहीं, बल्के वर्तमान युग में भी वही विचार हम सब के लिये इतना ही लाभदायी है। इसी पूर्ववर्ती वाणी–विचार से संप्रक्त रहकर हम सब मिलकर शक्य सत्प्रवृत्ति करेंगे तो सर्व के लिये श्रेयस्कर होगा।

उपाध्यायजीने १९ वे अध्याय के श्लोक ११–१२ में उपनिषद् की एक ऐसी ही सुन्दर उक्ति का विवेचन किया है। वह उक्ति यह है—

" आत्मा वा अहो श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । "

इसका जैन दृष्टि से विवेचन करते समय श्रवण, मनन और निदिध्यासन किसे कहना, इसके संबंध में उन्होंने अद्‌भूत विवेचन किया है—

" श्रोतव्यश्चापि मन्तव्यः साक्षात्कार्यश्च भावनैः ।
जीवो मायाविनिर्मुक्तः स एव परमेश्वरः ॥ ११ ॥
श्रोतव्योऽध्ययनैरेव मन्तव्यो भावनादिना ।
निदिध्यासनमस्यैव साक्षात्काराय जायते ॥ १२ ॥ "

कर्मकाण्डरूप २७ वें अध्याय के १५ वें श्लोक में उपाध्यायजीने सहज ही उदार भाव से ' जिन ' और ' शिव ' दोनों की एकरूपता का समर्थन किया है । समर्थन की उनकी शैली अद्भुत और निराली है । वे कहते हैं कि—

" एवं जिनः शिवो नान्यो नाम्नि तुल्येऽत्र मात्रया ।
स्थानादियोगाज्जशयोर्नवयोश्चैक्यभावात् ॥ १५ ॥ "

अर्थात्—जिन का 'ज' और 'इ' तथा शिव का 'श' और 'इ' दोनों का तालव्य-स्थान है, तथा जिन का 'न' और शिव का 'व' दोनों का दंतव्यस्थान समान है और उनके अनुनासिक स्थान भी समान हैं । इस तरह 'जिन' और 'शिव' दोनों समानार्थी हैं और शब्दद्दष्टि से भी दोनों समान हैं । इस लिये 'जिन' और 'शिव' के बीज में किसी भी तरह की भिन्नता उपस्थित करने की नही है । उनकी यह तुलना मौलिक एवं अपूर्व, अश्रुत भांति की है और वाचक वर्ग को सहज ही कुतुहलदायी भी है, ऐसा हमारा अनुमान है ।

इसी ही अध्याय के १८ वे श्लोक में श्वेताम्बर की तरह दिगम्बर मुनि की पवित्रता को भी वे मानते हैं और उसे हृदयातीत करने को हमको सूचित करते हैं । उनका कहना हैं कि बाह्यलिङ्ग मुख्य नहीं, गौण है । जहाँ पवित्रता का स्थान है वहाँ साधारणतया साधुता है ही और वह वंदनीय भी है ।

" श्वेताम्बरधरः सौम्यः शुद्ध कश्चिन्निरम्बरः ।
कारुण्यपुण्यः सम्बुद्धः शान्तः क्षान्तः शिवो मुनिः ॥ १८ ॥ "

९ वें अध्याय के श्लोक १३ और १४ में वे बताते हैं कि जिनकी ऐसी धारणा है कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनों में वैमनस्य है, उनकी धारणा मूलभूत ही निराधार है । लक्ष्मी ज्ञानधर्म को ग्रहण करनेवाले पुरुप के ही वश होती है । क्योंकि ज्ञानी निष्पाप है, निष्पाप होने से ज्ञानी पुरुषोत्तमरूप होते हैं । लक्ष्मी ऐसे पुरुषोत्तमस्वरूप सरस्वतीसंपन्न ज्ञानी को ही निःसंदेह उपलब्ध होती है । लक्ष्मी और सरस्वती के बीच में वैमनस्य है, ऐसा अनुमान करना योग्य नहीं है—

" वैरं लक्ष्म्याः सरस्वत्या नैतत् प्रामाणिकं वचः ।
ज्ञानधर्मभृतो वश्या लक्ष्मीर्न जडरागिणी ॥ १३ ॥
ज्ञानी पापाद् विरतिभाग् यः स वै पुरुषोत्तमः ।
तस्यैव वल्लभा लक्ष्मीः सरस्वत्येव देहभाक् " ॥ १४ ॥

अर्हद्गीता में चर्चित विषय वाचक को आकर्षित कर सकें इस दृष्टि से उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ यथामति देने का प्रयत्न ही हमने किया है ।

अंतिम ३६ वें अध्याय के श्लोक २० में उन्होंने अपना नाम सूचित किया है—

" छंदोविशारदैरेवदर्शि शिवशर्मणे ।
धर्मस्तस्मान्नित्यसुखं श्रीमेघविजयोदयः ॥ २० ॥"

यह पुस्तक मूलतः धूलिया (पश्चिम खानदेश) से पत्राकार में छपाया हुआ है । यद्यपि छपाई सुंदर है, परन्तु उसमें अशुद्धि की मात्रा बहुत ही हैं । कोई विवेकी विद्वान् इसी ग्रंथ का शुद्ध रूप से पूर्ण श्रम, समय और योग्यता लगा कर पुनः संपादन करे और उसका वर्तमान भाषा में विवेचन करे तो यह पुस्तक महद् उपयोगी हो सके ऐसी संभावना है ।

आचार्य श्री राजेन्द्रसूरिजी की ज्ञानोपासना

श्री अगरचन्द नाहटा

जैन दर्शन में आत्मा का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग हो उसीका नाम जीव है और इसीलिए इन आत्मिक गुणों का परिपूर्ण विकास ही आत्मा की चरम उपलब्धि है। तत्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र में ही मोक्ष मार्ग को बतलाते हुए "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सूत्र दिया है। इन गुणों को आच्छादित करनेवाले कर्मों के कारण ही अनादिकाल से प्राणी संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। जितने २ अंश में इन गुणों का विकास होता जायगा, आच्छादित करनेवाले कर्मों का उपशम, क्षयोपशम और क्षय होता जायगा। मानव में इन गुणों के विकास की सबसे अधिक सम्भावना है; इसीलिए मानवगति के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता, कहा गया है। प्रत्येक मानव का कर्तव्य है कि अपनी आत्मा के इन गुणों के अधिकाधिक विकास करने का पूरा प्रयत्न करे।

जैन मुनियों का जीवन ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधनामय ही है। सब से पहले मनुष्य की दृष्टि यानी श्रद्धा सम्यक् होनी चाहिए। फिर जो कुछ वह जानता है उसके अनुसार हेयोपादेयपूर्वक जीवन होना चाहिए। जो बातें आत्मिक गुणों का घात करनेवाली हैं उनका त्याग करें और उन गुणों के विकास में जो सहायक हों उन्हें ग्रहण करें। ज्ञान के बिना मनुष्य अन्धा है, क्यों कि उसे हित और अहित का विवेक नहीं होता। ज्ञान स्व-परप्रकाशक है। वह जिसे प्राप्त है; उसका तो कल्याण है ही, पर उसके द्वारा जगत के जीवों को भी प्रकाश मिलता है। ज्ञान अनन्त है। उसे ५ प्रकार का बतलाया गया है। जिसमें मति और श्रुत परोक्ष ज्ञान हैं, अवधि और मनपर्यव देश प्रत्यक्ष हैं, और कैवल्यज्ञान पूर्णतः प्रत्यक्ष है और वही ज्ञान का परिपूर्ण विकास है। पंचम काल में पिछले तीन ज्ञान प्राप्त नहीं हैं, पहले के दो ही हैं। इन में से श्रुत ज्ञान का महात्म्य विशेष रूप से वर्णित किया गया है, क्यों कि आज मोक्ष की साधना का आधार यही रह गया है। उस ज्ञान को विशेष ज्ञानियों की परम्परा मिली हुई है, इसी लिए श्रुतज्ञानी केवलज्ञानी समान तक कहा गया है। केवलज्ञानी जगत के स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से जानता है और श्रुतज्ञानी उस के देखे और बतलाये हुए स्वरूप को परोक्ष रूप से जानता है। खेद है कि

आज श्रुतज्ञान भी बहुत ही थोड़े में बच पाया है। दृष्टिवाद, १४ पूर्व आदि का ज्ञान तो लुप्त ही हो गया है। जो कुछ बच पाया है उसका विस्तार भी आज हम जैसे मन्द बुद्धियों के लिए कम नहीं है। उपलब्ध शास्त्रों का स्वाध्याय और मनन निदिध्यासन हम नहीं कर पा रहे हैं। जिनका शास्त्रीय अनुभव एवं ज्ञान गंभीर हैं व अपने ज्ञान का प्रकाश दूसरों तक फैला रहे हैं वे महापुरुष धन्य हैं।

आचार्य राजेन्द्रसूरिजी उन महापुरुषों में हैं जिनका जीवन ज्ञान की अखण्ड उपासना में लीन था। चारित्र के साथ उनका ज्ञानबल बहुत ही तेजस्वी था। अपने जीवन में उन्होंने करीब ६१ ग्रन्थों की रचना की। प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं का और व्याकरण, शब्दशास्त्र व सिद्धान्त आदि अनेक विषयों का उनका ज्ञान बहुत ही गम्भीर था। तभी तो वे अभिधान राजेन्द्रकोश जैसे महान् ग्रन्थ का निर्माण कर सके। एक ग्रन्थ भी उनको अमर बनाने के लिए काफी है। पर उनकी तो ज्ञानोपासना विविध क्षेत्रों में गतिमान रही है। जनसाधारण के लिए बहुत से ग्रन्थों की उन्होंने अपनी प्रिय भाषा मालवी और गुजराती में रचना की। पद्यबद्ध रास आदि बनाए और गद्य में बालावबोध आदि टीकाएँ कीं। इसी प्रकार संस्कृत में भी इन्होंने कई ग्रन्थ व अनेक स्तोत्र आदि बनाये। पूज्य यतीन्द्रसूरिजी की सूचना अनुसार आप के रचनाओं की सूची इस प्रकार है:—

आचार्यश्री के रचित मुद्रित ग्रन्थ

	ग्रन्थ नाम	रचना सं०
१	पर्युषणाष्टाह्निका व्याख्यान (मारवाडी भाषान्तर....	१९२७
२	चैत्यवंदन जिन चतुर्विंशतिका+	१९२८
३	जिनस्तुति चतुर्विंशतिका+	१९२८
४	जिन स्तवन चतुर्विंशतिका+	१९२८
५	धनसार कुमार चोपाई	१९३२
६	अघटकुमार चोपाई	१९३२
७	एकसौ आठ बोल का थोकड़ा	१९३४
८	प्रश्नोत्तर पुष्पवाटिका (मारवाड़ी भाषा)	१९३६
९	सकलैश्वर्य (विहरमान जिन) स्तोत्र*	१९३६
१०	अक्षयतृतीया कथा (गद्य संस्कृत)×	१९३८
११	श्री कल्पसूत्र बालावबोध	१९४०
१२	आवश्यक विधिगर्भित शान्तिनाथ स्तवन+	१९४२
१३	गच्छाचार पयन्ना भाषान्तर	१९४४
१४	तत्त्वविवेक (तत्त्वत्रयस्वरूप)	१९४५
१५	विहरमाण जिनचतुष्पदी*	१९४६
१६	पंच सप्ततिशत स्थान चतुष्पदी	१९४६
१७	पुंडरिकाध्ययन सज्झाय+	१९४६
१८	साधुवैराग्याचार सज्झाय+	१९४६
१९	श्रीनवपद सिद्धचक्र पूजा	१९५०

२० तेवीस पदवी विचार सज्झाय+ १९५३
२१ चोपड़ खेलनस्वरूप सज्झाय+ १९५३
२२ चोमासी देववंदन सविधि* १९५३
२३ ज्ञानपंचमी देववंदन सविधि* १९५३
२४ नवपदतप ओली देववंदन सविधि* १९५३
२५ कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी १९५४
२६ जिनोपदेशमंजरी कथात्मक १९५४
२७ श्रीकेशरियानाथ विनति स्तवन+ १९५४
२८ स्वगच्छीय मर्यादा पट्टक १९५६
२९ रजःपर्वणि होलिका कथा गद्य संस्कृत ....
३० श्री अभिधान राजेन्द्र (प्राकृत, मागधी, संस्कृत कोश) १९६०
३१ प्राकृत शब्द रूपावली× १९६०
३२ प्राकृत व्याकरण व्याकृति× १९६१
३३ दीपमालिका देववंदन विधि* १९६१
३४ श्रीमहावीर पंचकल्याणक पूजा १९६२
३५ कमलप्रभा शुद्ध रहस्य १९६३
३६ प्रभु स्तवन सुधाकर (छुटक २ स्तवनादि)

अमुद्रित ग्रन्थ

१ होलिका प्रबंध सार १९१६
२ सिद्धान्तप्रकाश (खंडनात्मक) १९२९
३ कल्याणमंदिर स्तोत्र प्रक्रियावृत्ति १९३५
४ सिद्धान्त बोल सागर १९४१
५ आसक्तदशाङ्ग सूत्र भाषान्तर १९५०
६ स्वरोदय ज्ञान यंत्रावली १९५१
७ उपदेशरत्नसार गद्य संस्कृत १९५१
८ दीपमालिका कथा गद्य संस्कृत
९ खर्परतस्कर प्रबंध गद्य संस्कृत
१० उत्तमकुमारोपन्यास गद्य संस्कृत
११ सव्वगाहा पयरण (सुक्तिसंग्रह)
१२ मुनिपति राजर्षि चोपाई
१३ त्रैलोक्यदीपिका
१४ चतुःकर्मग्रन्थ अक्षरार्थ
१५ पंचाख्यान कथासार गद्य संस्कृत
१६ षडावश्यक-अक्षरार्थ
१७ द्वाषष्टि मार्गणा यंत्रावली
१८ पाइयसद्दम्बुही कोश (प्राकृत शब्द, संस्कृतानुवाद, विभक्तिनिर्देश और संस्कृतअर्थ)
१९ सारस्वत व्याकरण साधनिका भाषाटीका
२० कर्तुरीप्सिततमं कर्म श्लोक व्याख्या
२१ सप्ततिशतस्थान-यंत्रावली
२२ जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र-बीजक सूचि
२३ धातुपाठतरंग (पद्यबद्ध) १९३३
२४ षड्द्रव्य-विचार भाषा १९२७
२५ धन्ना चोपाई १९५५
२६ नीतिशिक्षा-द्वय पचीसी
२७ कामधेनुसारिणी

'+' इस चिह्नवाले ग्रन्थ "प्रभुस्तवन सुधाकर" में, '※' इस चिह्नवाले ग्रंथ "पंचसप्ततिशतस्थानक चतुष्पदी" में '×' इस चिह्नवाले ग्रंथ 'अभिधान राजेन्द्रकोश के प्रथम भाग में और '*' इस चिह्नवाले ग्रंथ देववंदनमाला में मुद्रित हैं।

ग्रन्थ निर्माण के साथ साथ आपने बहुत से ग्रन्थों की नकलें भी कीं। ऐसी कई प्रतियाँ आहोर के राजेन्द्रसूरि जैनागम ज्ञानभण्डार में हैं। आपने प्राचीन प्रतियों के संरक्षण का भी बड़ा प्रयत्न किया और बहुत से ग्रन्थों की नकलें करवा कर भी अपने भण्डारों मे रखीं। आप के संस्थापित ७ भण्डार मालवे में और ५ भण्डार मारवाड़ में होने की सूचना पूज्य यतीन्द्रसूरिजी से मिली है। मालवे में १ कुक्षी, २ राजगढ़, ३ आलिराजपुर, ४ बड़नगर, ५ रतलाम, ६ जावरा और ७ खाचरोद और मारवाड़ में ८ आहोर, ९ जालोर, १० बागरा, ११ सियाणा तथा १२ शीवगंज मे हैं। इनमें से ११ भण्डार व उनके सूचीपत्र तो मेरे अवलोकन में नहीं आये, पर आहोर का भण्डार कई वर्ष पहले मैंने स्वयं वहाँ जाकर देखा था और उसका सूचि-पत्र भी फिर मँगवा कर देखा है। यह ज्ञान-भण्डार बहुत ही महत्वपूर्ण है। करीब २५० बण्डलों में ३५०० हस्तलिखित प्रतियाँ और करीब ४००० मुद्रित पुस्तकें हैं। हस्तलिखित प्रतियों में कई अन्यत्र अप्राप्त ग्रन्थ भी हैं। कई वर्षों पूर्व मैंने पल्लीवाल गच्छ पट्टावली व हुंडिका नामक एक बृहद् ग्रन्थ मंगवा कर नकल करवाई थी। इनकी प्रतियाँ अन्यत्र नहीं मिलतीं। हुंडिका खरतर गच्छ के उपाध्याय गुणविनय द्वारा सग्रहीत करीब १२००० श्लोकों का एक बड़ा संग्रह है। २८८ पत्रों में मूल और ८ पत्रों में उसकी सूची (स्वयं गुणविनय उपाध्याय की लिखी) है। सं. १६५७ से रुणा में यह संग्रहग्रन्थ बनाया गया और इसका बीजक मेदनीतट (मेड़ता) में लिखा गया। अभी मैंने इस भण्डार की कुछ और भी प्रतियाँ मंगवाकर देखी। उनमें खरतरगच्छीय जिनप्रभसूरि शाखा के राजहंसगणीरचित "जिनवचन रत्नकोश" नामक अलभ्य ग्रन्थ देखनें में आया। सं. १५२५ में १८७५गाथावाला यह सग्रह ग्रन्थ ४३ विषयों की गाथाओं के सग्रहरूप है। इसका आदि अन्त, आदि कुछ विवरण नीचे दिया जा रहा है:—

आदि—सिरि वद्धमाण पाए, सुरासुर नमंसिए पणमि उण।
जिण नयण रयणकोसं, पगरणमेयं भणिस्सामि ॥ १ ॥
एगारस अंगाइं, बारउवंगाइ सपइन्नाया चत्तारि।
मूल छयेय नंदि अणु उग पणयाला ॥ २ ॥
संसती निज्जुती भासो वसुदेवहिंडि संगहणी।
विवहारकप्प चुन्नी, विसेस आवस्सयाईया ॥ ३ ॥
उवए समाल बहु पुप्पमाल, संदेह दोल आवलिए।
पवयण सारुद्धारे सट्ठिसए पिंडविसुद्धीए ॥ ४ ॥

सिद्धंत पण रणाणं एए सिउं अहा जिणु दिट्ठं ।
तं सव्वमिहं वुत्थे आलावुद्धार गाहाहिं ॥ ५ ॥
रयणतय १ मित्थतं २ नय ३ समई ४ गुत्ति ५ गइड्ढि ६ झाणे ७ ।
छक्कायरक्ख ८ लेसा ९ जिणपूआ १० सत्तखित्ताय ११ ॥ ६ ॥
आयरण मणायणयं १२ जिणमती १३ अट्ठ कम्मपयडील १४ ।
पासत्थाई संगो १५ अपसत्थपसत्थ स उणाइं १६ ॥ ७ ॥
चुविह धम्म १७ पमाया १८ छविह मावस्सयं १९ चेयतियं २० ।
सेतुञ्ज तित्थ २१ अट्ठावयं च २२ पुणपंचपव्वीय २३ ॥ ८ ॥
घन्नाण मजीयतं २४ संसारविराग २५ सुलह बोहितं २६ ।
कप्पाकप्पं पिंडं २७ सामय अट्ठाहिया २८ बंभं २९ ॥ ९ ॥
भक्खाभक्खं ३० विवहारनिच्छयं ३१ तहय सुगुरू विणयंन ३२ ।
चुसरण ३३ नमुक्कारो ३४ सुसीस दुस्सीस परिणामो ३५ ॥ १० ॥
सामायारीदसहा ३६ मरणं दुविहं च ३७ रागदोसो य ३८ ।
आलोवण ३९ प्पयावण ४० आणा ४१ आराहणा ४२ जयणा ४३ ॥ ११ ॥
सिरि खरतगज नहयल, नहमपि जिणतिलयसूरिसीसस्स ।
सिरि हरखतिलयगुरूणो, गुणगणगुरूणो सुसीसेण ॥ १२ ॥
सिरि राजहंसगणिपइ एमाइति चत्तदार वित्थारं ।
अणुकम सो भो भवा किहिज्झ माणं निसामेह ॥ १३ ॥
चरणकरणाणु जे भो धम्मकहा गणिय द्व्व अणुइयो ।
एए जहत्थ नमो अणु उगा हुंति चत्तारि ॥ १४ ॥

अंत—पिंडनिर्युक्तो यतनाद्वारं ।

जिणवयण रयणकोसं, सुपगरणं जे पढ़ंति पाढ़ंति ।
ते कम्मरयवि मुक्का, भवा गच्छंति सिद्धिगई ॥ १९ ॥
ते अत्तणोहि एसीजो, सम्मं सद्दहेइ एयंपि ।
अवुस्सु उतिज्झायइ, बहुस्सुउ तिव्व संवेगो ॥ २० ॥
पगरणमेयं सुचा, जस्स न जायं तुज्झा अवेरगां ।
नय उद्यमोय धम्मे, तं जाणि अणंतसंसारी ॥ २१ ॥
समणगण संघ पुज्जा, भविय जण कमल बोहणे सुज्ञा ।
जिनराजसूरि पूज्या पालिय निरवज्ज पवज्जा ॥ २२ ॥
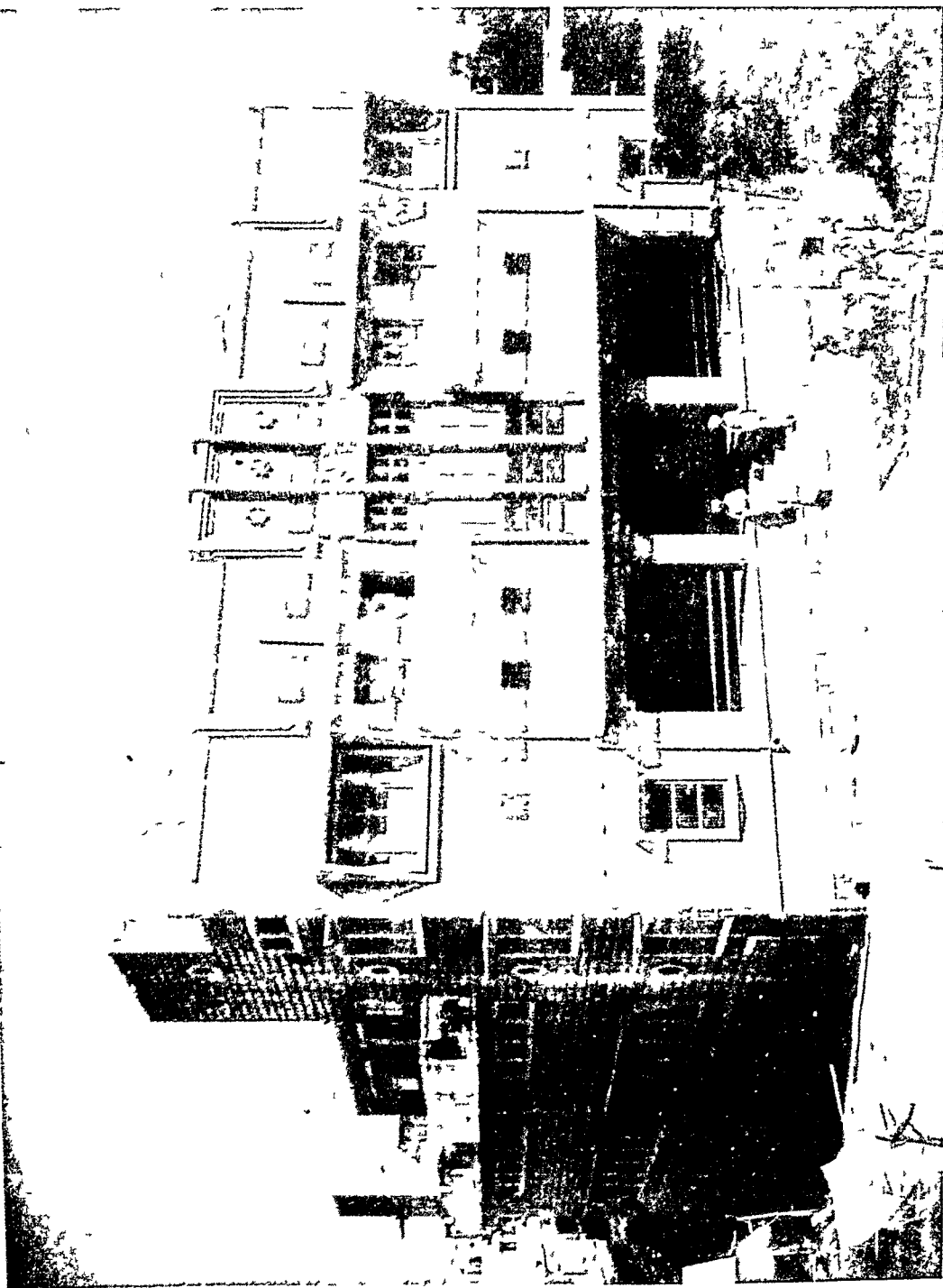
श्री राजेन्द्रसूरि धर्मक्रिया–प्रार्थना मदिर वि स २००७ आहोर (मारवाड–राजस्थान)
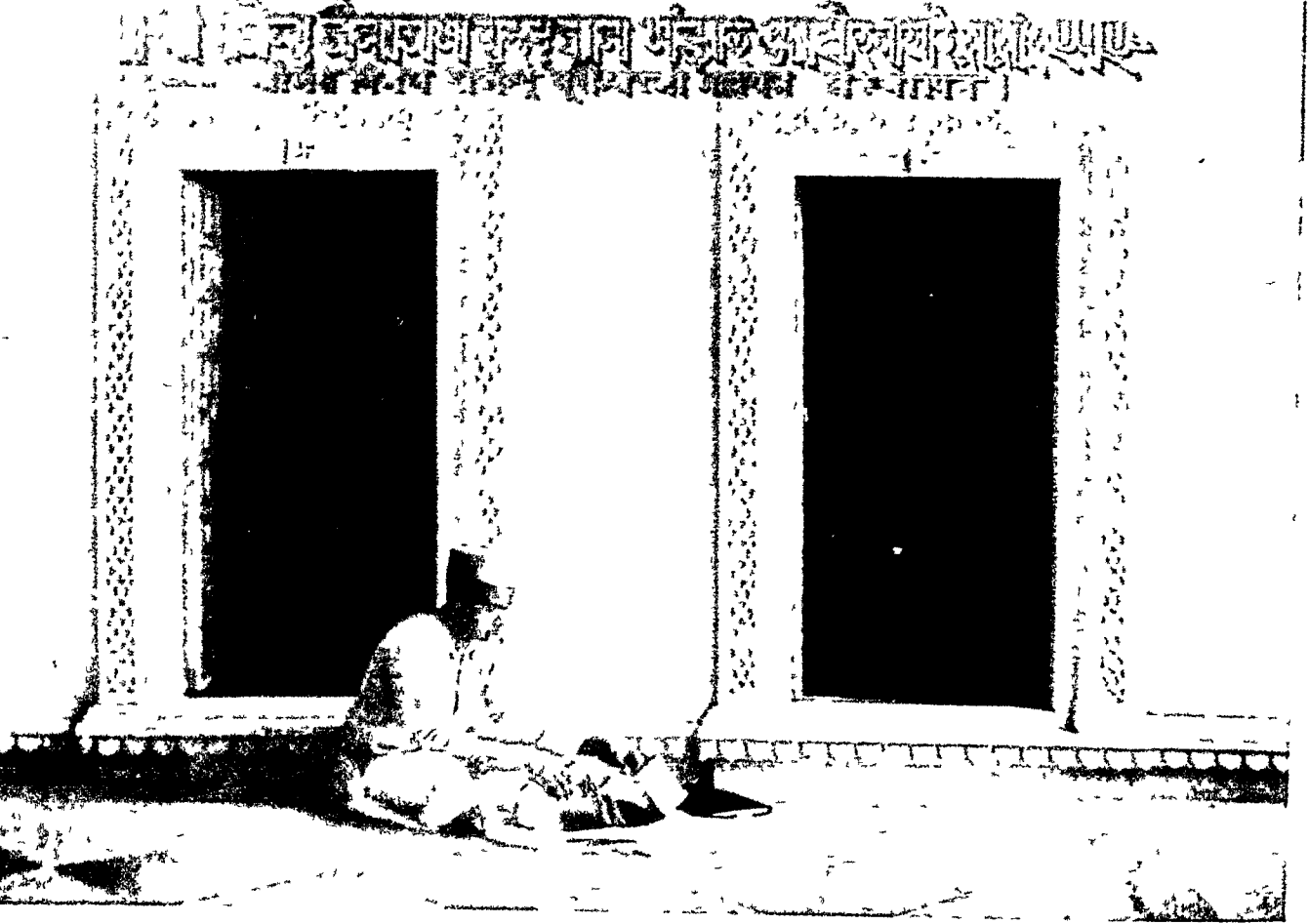
निज्जिय बहु वुहवाया विगयपमाया सयाउयक्खाणा ।
जिनराजसूरि पाया हवंतु, ते सुप्पसाया मे ॥ २३ ॥
निय सीस वग्गकज्जे अणोररााउ सुयसमुद्दाउ ।
पगरणमिण मुद्धरियं, गणिणा सिरिराजहंसेण ॥ २४ ॥
जं किंचि मए लिहियं असुद्धरूवं पयक्खरं वावि ।
सोहं तुतं सुयराह अमच्छ राम मपसन्नमणा ॥ २५ ॥
चक्खु दहीसँ मिइँ मही' विक्कमवरिसंमि मंडलकरंमि ।
पणहुतरि सहीयायं अठारसयं सिलोगाणं ॥ २६ ॥
जावय खे रविचन्दा, पहामयंताय मारंह खितं ।
तावय पगरणमेयं पढिज्ज माणं थिरं होउ ॥ २७ ॥

इति श्रीजिनवचन रत्नकोस प्रकरणं समाप्तं ॥ छ ॥

॥ ग्रंथाग्रं १८७५ ॥ शुभं भवतु ॥ श्री ॥ पत्र ४३ राजेन्द्रसूरि ज्ञानभण्डार-आहोर

इस भण्डार की सूची सं. २००१ में यतीन्द्रसूरिजीने बनाई थी, पर बहुत से ग्रन्थों के कर्ताओं के नाम सूची में नहीं हैं और कुछ के नाम जो दिए हैं गलत भी हैं। इसलिए सावधानीपूर्वक विवरणात्मक सूची बनाने की आवश्यकता है। राजेन्द्रसूरिजी हमारे लिए ज्ञानकी महान् सम्पत्ति उपरोक्त १२ भण्डारों में रख गए हैं, उसका ठीक से उपयोग हो। आज अधिकांश भण्डारों के व्यवस्थापक न स्वयं उसका लाभ उठाते हैं और न दूसरों को उठानें में सहायक होते हैं। यह एक तरह से ज्ञान की आसातना ही है जो मिटानी आवश्यक है।

राजेन्द्रसूरिजीने दूसरी एक ज्ञानसेवा अपने शिष्यों को ज्ञान दे कर विद्वान् बनाने के रूप में की है। उनके शिष्यमण्डल में कई अच्छे विद्वान् हुए हैं, व जिन्होंने अपने गुरुश्री के कामको आगे बढ़ाया। अभिधान राजेन्द्रकोश को उन्होंने प्रकाशित करवाया, नये ग्रन्थ बनाये व बहुत से ग्रन्थ छपवाए। यह सब राजेन्द्रसूरिजी की ज्ञानोपासना का ही सुफल है। स्वर्गीय आचार्यश्री की इन विविध प्रकार की ज्ञानोपासना से हम प्रेरणा व शिक्षण ग्रहण करें यही सच्ची गुरुभक्ति होगी।

अभिधान राजेन्द्रकोश और उसके प्रणेता

युगपुरुष श्री राजेन्द्रसूरि

कर्मठ आगमसेवी विद्वान्प्रवर मुनिश्री पुण्यविजयजी महाराज

आचार्यप्रवर श्रीराजेन्द्रसूरि महाराज जैनशासन में एक समर्थ पुरुष हुए हैं। उनका शताब्दीमहोत्सव मनाया जाता है, यह अति महत्त्व का एवं विद्वद्गण के लिये आनन्द का विषय है। जिस महापुरुषने अभिधानराजेन्द्र नामक महाकोश का या विश्वकोश का निर्माण कर के जैन प्रजा के उपर ही नहीं, समग्र विद्वज्जगत के उपर महान् अनुग्रह किया है, और ऐसी महर्द्धिक कृति का निर्माण कर के उन्होंने सारे विद्वत्संसार को प्रभावित एवं चमत्कृत किया हैं, ऐसी प्रभावक व्यक्ति का शताब्दीप्रसंग समस्त विश्व के लिये आनन्दस्वरूप है।

महति-महावीर-वर्धमानस्वामि के शासन में अनेकानेक शासनप्रभावक युगपुरुष हो चुके हैं-स्थविर आर्य भद्रबाहुस्वामी, स्थविर आर्यस्कन्दिल, श्रीनागार्जुन स्थविर आदि श्रुतधरोंने जैन आगमों की वाचना-लेखन आदि द्वारा रक्षा की। श्रीदेवर्धिगणि क्षमाश्रमण, गंधर्ववादिवेताल शान्तिसूरि आदि अनुयोगधर स्थविरोंने जैन आगमों को व्यवस्थित कर एकरूप बनाये। स्थविर श्रीभद्रबाहुस्वामी, स्थविर आर्यगोविंद आदि प्रावचनिक स्थविरोंने आगमों के उपर निर्युक्तिरूप गाथाबद्ध व्याख्या ग्रंथों की रचना की। स्थविर आर्यकालकने आगमों के बीजकरूप अर्थात् विषयानुक्रमणिकारूप गाथाबद्ध संग्रहणी शास्त्रों की रचना की। श्रीसंघदासगणि क्षमाश्रमण, श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, श्रीसिद्धसेनगणिक्षमाश्रमण आदि आगमिक आचार्योंने जैन आगमों के उपर भाष्य-लघुभाष्य-महाभाष्य आदि प्रासादभूत गाथाबद्ध विशाल व्याख्याग्रन्थ लिखे। स्थविर अगस्त्यसिंह, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, जिनदास महत्तर, गोपालिक महत्तर शिष्य आदि स्थविरोंने आगमों के उपर अति विशद प्राकृत व्याख्याग्रन्थों का निर्माण किया। याकिनीमहत्तरापुत्र आचार्य श्रीहरिभद्र, श्रीशीलांकाचार्य, वादिवेताल श्रीशान्तिसूरि, नवाङ्गीवृत्तिकार श्रीअभयदेवाचार्य, आचार्य श्रीअभयदेवसूरिनिर्मित नवाङ्गीवृत्ति के परीक्षक एवं शोधक श्रीद्रोणाचार्य, मलधारी हेमचन्द्रसूरि, आचार्य श्रीचन्द्रसूरि, आचार्य श्रीमलयगिरि, आचार्य श्रीक्षेमकीर्त्ति आदि सूरिवरोंने जैनआगमों के उपर विस्तृत एवं अति स्पष्ट वृत्ति, व्याख्या, विवरण, टीका, टिप्पणों की रचनाएं कीं। आचार्य श्रीसिद्धसेन दिवाकर, श्रीमल्लवादी आचार्य, श्रीसिंहवादिगणि क्षमाश्रमण, आचार्य श्रीहरिभद्र, श्रीसिद्धव्याख्याता, अभयदेव तर्क-

पञ्चानन, वादिवेताल श्रीशान्तिसूरि, श्रीमुनिचन्द्रसूरि, श्रीवादिदेवसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य, श्रीरत्न-प्रभसूरि, श्रीनरचन्द्रसूरि, मलधारी देवप्रभसूरि, पञ्चप्रस्थान महाव्याख्या ग्रन्थ के रचयिता श्रीअभयतिलकगणि, श्रीराजशेखर, श्रीपार्श्वदेवगणि प्रमुख तार्किक आचार्योंने विविध प्रकार के दर्शनप्रभावक मौलिक शास्त्रों की एवं व्याख्या ग्रन्थों की रचना की। आचार्य श्रीशिवशर्म, श्री· चन्द्रर्षि महत्तर, श्रीगर्गर्षि, श्रीअभयदेवसूरि, श्रीजिनवल्लभगणि, श्रीदेवेन्द्रसूरि आदि कर्मवाद-विषयक शास्त्रों के ज्ञाताओंने कर्मवादविषयक मौलिक शास्त्रों का निर्माण किया। इस प्रकार अनेकानेक आचार्यवरोंने जैन आगमिक एवं औपदेशिक प्रकरण, तीर्थङ्कर आदि के संस्कृत-प्राकृत चरित्र और कथाकोश, व्याकरण-कोश-छन्द-अलङ्कार-काव्य-नाटक-आख्यायिका आदि विषयक साहित्यग्रन्थ, स्तोत्रसाहित्य आदि का विशाल राशिरूप में निर्माण किया है। अन्त में कितनेक विद्वान् महानुभाव आचार्य एवं श्रावकवरोंने चालू हिंदी, गूजराती, राज-स्थानी आदि भाषाओं में प्राचीन विविध ग्रन्थों का अनुवाद और स्वतंत्र रासादि साहित्य का अति विपुल प्रमाण में आलेखन किया है। इस प्रकार आज पर्यन्त अनेकानेक महानुभाव महापुरुषोंने जैन वाङ्मय को समृद्ध एवं महान् बनाने को सर्वदेशीय प्रयत्न किया है; जिससे जैन वाङ्मय सर्वोत्कृष्टता के शिखर पर पहुंच गया है।

इस उत्कृष्टता के प्रमाण का नाप निकालने के लिये और इसका साक्षात्कार करने के लिये आयत गज भी अवश्य चाहिये। अभिधानराजेन्द्रकोश का निर्माण करके सूरिप्रवर श्रीराजेन्द्रसूरि महाराजने जैन वाङ्मय की उत्कृष्टता एवं गहराई का नाप निकालने के लिये यह एक अतिआयत गज ही तैयार किया है।

'विश्व की प्रजाओंने धर्म, नीति, तत्त्वज्ञान, संस्कृति, कला, साहित्य, विज्ञान, आचार-विचार आदि विविध क्षेत्रों में क्या, कितनी और किस प्रकार की प्रगति एवं क्रान्ति की है? और समग्र प्रजा को संस्कार का कितना भारी मौलिक वारसा दिया है?' इसका परिचय पाने के अनेकविध साधनों में सबसे प्रधान साधन, उनकी मौलिक भाषा के अनेक-विध व्याकरण एवं शब्दकोश ही हो सकते हैं, विशेषकर शब्दकोश ही।

प्राकृत भाषा, जैन प्रजा की मौलिक भाषा होने पर भी इस भाषा के क्षेत्र में प्रायोगिक विधान का निर्माण करने के लिये प्राचीन वैदिक एवं जैनाचार्योंने काफी प्रयत्न किया है। और इसी कारण पाणिनि, चंड, वररुचि, हेमचन्द्र आदि अनेक महावैयाकरण आचार्योंने प्राकृत व्याकरणों की रचना की है। आचार्य श्रीहेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण प्राकृत, मागधी, शोरसेनी, पैशाची, चूलिकापैशाची एवं अपभ्रंश भाषा, इन छ भाषाओं का व्याकरण होने से प्राकृत व्याकरण की सर्वोत्कृष्ट सीमा बन गया है। क्यों कि भाषाशास्त्रविषयक अनेक दृष्टि-

बिंदुओं को नजर में रखते हुए आचार्यने इस व्याकरण का निर्माण किया है। प्राकृतभाषा विश्वतोमुखी एवं बहुरूपी भाषा होने के कारण यद्यपि इसका परिपूर्णतया विधानात्मक व्याकरण बनाने का कार्य अति दुष्कर ही था, फिर भी आचार्य श्री हेमचन्द्रने अपनी समृद्ध विद्वत्ता के द्वारा इसका बीजरूप संग्रह एवं निर्माण सर्वश्रेष्ठ रीत्या कर दिया है, जिससे हेमचन्द्र के व्याकरण में आर्ष, देश्य आदि विविध प्रयोगों के विधान का संग्रह एवं समावेश हो गया है। स्थानकवासी विद्वद्भूषण कविवर श्री रत्नचन्द्रजी स्वामीने अपने अर्धमागधी व्याकरण में इन्हीं आर्ष प्रयोगादि को सुचारु रीत्या पल्लवित किया है। पंडित बेचरदासजी दोशी, आचार्य श्री कस्तूरसूरि, पंडित प्रभुदास पारेख आदिने गूजराती भाषा में प्राकृत व्याकरणों का निर्माण किया है। पाश्चात्य विद्वान् डा. पिशल, डॉ. कोवेल आदिने भी अंग्रेजी में प्राकृत व्याकरणों की रचना की है, किन्तु इन सबों का मुख्य आधार आचार्य श्रीहेमचन्द्र का प्राकृतव्याकरण ही है।

इस प्रकार प्राकृतभाषा के व्याकरण के क्षेत्र में काफी प्रयत्न हुआ है और हो रहा है। किन्तु प्राकृतभाषा के शब्दकोश के विषय में पर्याप्त एवं व्यापक कहा जाय ऐसा कोई प्रयत्न आजपर्यंत नहीं हुआ था। ऐसे समय में बीसवीं सदी के एक महापुरुष के अन्तर में एक चमत्कारी स्फुरणा हुई, जिसके फलस्वरूप अभिधानराजेन्द्रकोश का अवतार हुआ। यद्यपि प्राचीन युग में प्राकृतभाषा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले शब्दकोशों का निर्माण आचार्य पादलिप्त, शातवाहन, अवन्तीसुन्दरी, अभिमानचिह्न, शीलाङ्क, धनपाल, गोपाल, द्रोणाचार्य, राहुलक, प्रज्ञाप्रमाद, पाठोदूखल, हेमचन्द्र आदि अनेक आचार्योंने किया था, किन्तु इन शब्दकोशों में सिर्फ देशी शब्दों का ही संग्रह था, प्राकृतभाषा के समृद्ध कोश वे नहीं थे। ऐसा समृद्ध एवं व्यापक कोश बनाने का यश तो श्रीराजेन्द्रसूरिजी महाराज को ही है। यहाँ एक बात विद्वान् वाचकों के ध्यान में रहनी चाहिए कि-आज कितने भी विश्वकोश तैयार हो, फिर भी देश्य शब्दों का सर्वान्तिम विशद, विशाल एवं अतिप्रामाणिक शब्दकोश आचार्य श्रीहेमचन्द्र के बाद में किसीने भी तैयार नहीं किया है। देशी शब्दों के लिये सर्वप्रमाणभूत प्रासादशिखर-कलश समान देशी शब्दकोश श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचित देशीनाममाला ही है।

प्राकृत ग्रन्थों का अध्ययन करनेवालों के लिये, और खास कर जब प्राकृत भाषा का सम्बन्ध, सहवास, परिचय और गहरा अध्ययन धीरे-धीरे घटता-घटता खंडित होता चला हो, तब प्राकृत भाषा के विस्तृत एवं व्यवस्थित शब्दकोश की नितान्त आवश्यकता थी। ऐसे ही युग में श्रीराजेन्द्रसूरि महाराज के हृदय में ऐसे विश्वकोश की रचना का जीवंत संकल्प हुआ। यह उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं उनके युगपुरुषत्व का एक अनूठा प्रतीक है।

अभिधानराजेन्द्रकोश की रचना के बाद पं० श्रीहरगोविन्ददासजीने पाइयसद्दमहण्णवो,

स्थानकवासी मुनिवर श्रीरत्नचन्द्रजी स्वामीने जिनागमशब्दकोश आदि कोश और आगमोद्धारक आचार्यवर श्रीसागरानन्दसूरि महाराजने अल्पपरिचितसैद्धान्तिकशब्दकोश आदि प्राकृत भाषा के शब्दकोश तैयार किये हैं, किन्तु इन सबों की कोशनिर्माण की भावना के बीजरूप आदि कारण तो श्रीराजेन्द्रसूरि महाराज एवं उनका निर्माण किया अभिधानराजेन्द्रकोश ही है ।

विविधकोश निर्माण के इस युग में संभव है कि भविष्य में और भी प्राकृत भाषा के विविध कोशों का निर्माण होगा ही, फिर भी अभिधानराजेन्द्रकोश की महत्ता, व्यापकता एवं उपयोगिता कभी भी घटनेवाली नहीं है, ऐसी इस कोश की रचना है । यह अभिधान कोश मात्र शब्दकोश नहीं है, वह जैन विश्वकोश है। जैनशास्त्रों के कोई भी विषय की आवश्यकता हो, इस कोश में से शब्द निकालते ही उस विषय का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जायगा । आज के जैन–अजैन, पाश्चात्य–पौर्वात्य सभी विद्वानों के लिये यह कोश सिर्फ महत्त्व का शब्दकोश मात्र नहीं, किन्तु महत्त्व का महाशास्त्र बन गया है। यही कारण है कि अभिधानराजेन्द्रकोश आज एतद्देशीय और पाश्चात्यदेशीय सभी विद्वानों की स्तुति एवं आदर का पात्र बन गया है ।

अपभ्रंश साहित्य का मूल्यांकन

देवेन्द्रकुमार एम. ए. अध्यक्ष: हिन्दी विभाग. डिग्री कालेज, अलमोड़ा

अपभ्रंश भाषा की खोज-खबर १८८६ ई० में शुरू हुई और साहित्य की १९३४ में। तब से अबतक बहुमूल्य और पर्याप्त अपभ्रंश साहित्य प्रकाश में आया है। प्रस्तुतः प्रबंध का लक्ष्य उसी का साहित्यिक आलोड़न और मूल्यांकन करना है। अपभ्रंश वैसे प्राकृत की अंतिम अवस्था है, परन्तु उस का अपभ्रंश यह नाम उसे प्राकृत से कुछ भिन्न कर देता है। और वह आ० भा० आ० भाषाओं के अधिक निकट ले आता है। प्राचीन उल्लेख और उपलब्ध अप० साहित्य से यह सिद्ध है कि अपभ्रंश पर पश्चिमी प्रभाव प्राकृतों की अपेक्षा अधिक है। अपभ्रंश साहित्य का काल और राजपूत काल एक साथ चलते हैं। मेरा निष्कर्ष है कि भरतमुनि की आभिरोक्ति वास्तव में पश्चिमी भारत की एक बोली थी जो राजपूत काल में व्यापक भाषा बन बैठी। जिस प्रकार संस्कृत आर्य-अनार्य संघर्ष और संगम से निकली, पालि-प्राकृत बुद्ध, महावीर की धार्मिक क्रांति से उठ खड़ी हुई; उसी तरह अपभ्रंश भी गुप्तोत्तर काल की राजनैतिक उथलपुथल में महत्व पा गई। यह कोरी काव्य भाषा नहीं, अपितु लोकजीवन की ठोस भाषा रही। कवि स्वयंभू ने एक रूपक में बताया है कि वट-रूपी उपाध्याय, पक्षीरूपी शिष्य को 'कक्का-किक्की,' आदि वर्णमाला पढ़ा रहा था। बारह खड़ी की यह लोकभाषा अपभ्रंश ही थी; क्योंकि इस प्रकार की ध्वनियां स्वयं उक्त कवि के पउमचरिउ में हैं। यह धारणा भी निर्मूल है कि संस्कृत-वैयाकरणों ने इस भाषा को घृणा से अपभ्रंश कहा था। अपभ्रंश-कवियों ने इसे अपभ्रंश नहीं कहा? क्यों कि पुष्पदंतने महा-पुण्य में अवहंश (अपभ्रंश साहित्य) के अध्ययन-अध्यापन का उल्लेख किया है। स्वरूप और विधा की दृष्टि से इस का बहुत सीमित साहित्य है। इस की अपेक्षा प्राकृतों का क्षेत्र विस्तृत था। भरतमुनि के अनुसार आभिरोक्ति का नाटक में प्रयोग हो सकता था। परंतु नाटकों में प्राकृत ही रूढ़ रही। इसलिए अपभ्रंश-काव्यभाषा ही रही। वैसे स्वयंभू और पुष्पदंतने अपभ्रंश के दूसरे काव्य रूपों का उल्लेख किया है, परंतु वे अनुपलब्ध हैं।

साधारणतया अपभ्रंश-साहित्य का युग ७ वीं से १२ वीं सदी तक है। वैसे बोली रूप में इसका अस्तित्व दो चार सदियों पूर्व से था। काव्य-रचना भी इस में हो रही थी। स्वयंभू ने धनदेव, धइल्ल, अज्जदेव, गाइंद आदि अपभ्रंश-कवियों का निर्देश किया है।

१२ वीं के अनन्तर १३ और १४ वीं सदियों में उत्तर भारत में जो साहित्य उपलब्ध है उसमें अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट है; अतः वह हिन्दी-साहित्य का आदिकाल होने की अपेक्षा अपभ्रंश का अंतिम अंतिम काल है। अधिक से अधिक उसे मिश्रित काल कहा जा सकता है। यह इस लिए भी आवश्यक है कि इस साहित्य का जैसे हिन्दी से संबन्ध है वैसे ही अन्य उत्तर भारतीय आर्यभाषाओं से भी है। इस काल के लिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक सिद्ध-सामन्त-काल, आदि काल, वीरगाथा काल, आदि नाम सुझाते हैं, पर वास्तव में ७ से १२ शती तक अपभ्रंश काल मानना ही संगत है। भारतीय इतिहास का यह रजपूत-काल है।

सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद उत्तर भारत की राजनीति डगमगा उठी। कन्नौज को लेकर संघर्ष मच गया। अंत में प्रतिहारोंने उसे ले लिया। दक्षिण में राष्ट्रकूट वंश प्रबल हो उठा। गुर्जर प्रतिहारों से उनकी सदैव ठनी रही। इससे राजपूत कमजोर हुए। उत्तरार्ध में गूजरात में सोलंकी वंश के शासन की जड़ जमी। इनके अतिरिक्त चौहान, चेदी, गहड़वाल, चंदेले भी प्रमुख रहे। हर्ष के युग की हूण जाति भारतीय समाज में खप चुकी थी, और उसीके मिश्रण से जो जातिया उठीं वे सशक्त थीं; पर वे मिथ्याभिमानी, संघर्षप्रिय और राष्ट्रीय आदर्शों से परे थीं। उस युग की सब से बड़ी घटना है, यवन-आक्रमण। सन् ७११ में मुहम्मद बिन कासिमने देवल जीत लिया था, और एक ही साल में समूचा सिन्ध उसके कब्जे में आ गया। दूसरा हमला मुहम्मद गजनवी के नेतृत्व में ११ वीं सदी के प्रारम्भ में हुआ। सन् १०२६ में सोमनाथ की ऐतिहासिक लूट के बाद पंजाब दूसरी अधीनता में चला गया। तीसरा यवन आक्रान्ता था, मुहम्मद गोरी। पहले उसे हारना पड़ा, पर पृथ्वीराज को हरा कर वह मध्य-प्रदेश के भीतरी अंचल में घुसता गया। जयचंद को हारते ही बना। अब उसे बिहार-बंगाल के विजय में देर नहीं लगी; क्यों कि ये प्रान्त गहड़वाल और सेन वंशों की आप सी लड़ाईयों से पहले ही वीरान हो चुके थे। इतनी बड़ी अभाग्यपूर्ण घटना का अलोच्य साहित्य में उल्लेख न होने के चार कारण है—१-लेखकों का राजनैतिक घटनाओं के प्रति सचेत न होना, २-सांस्कृतिक दृष्टि से इस घटना का प्रभावहीन होना, ३-जिन प्रदेशों में यह साहित्य रचा गया वे उस आक्रमण से अछूते थे और ४-कवियों की दृष्टि का धार्मिक होना। सामाजिक स्थिति बदल रही थी। दक्षिण के राजघरानों की स्त्रियां संगीतादि के सार्वजनिक उत्सव में भाग लेती थीं। ब्राह्मण के प्रति चरित्र के कारण श्रद्धा थी। व्यापार, खेती और किसानी राजसेवा की अपेक्षा सम्मानित समझी जाती थीं। तामिल देश में एक

आस्तिक वेगपूर्ण आंदोलन उठा। उसका लक्ष्य शिव या विष्णु की भक्ति का प्रचार करना था। दशवीं शती में उनके गीतों का संग्रह हुआ। संगठन की दृष्टि से वैष्णवों की अपेक्षा शैव प्रबल थे। वीर शैव मत की टक्कर जैन धर्म से थी। बौद्ध धर्म अवनत दशा में था। ऐतिहासिक विद्वान् इस्लाम और इसाई धर्म के भारत प्रवेश की भी कल्पना करते हैं। फिर भी उस काल में धार्मिक सहिष्णुता थी। एक ही घर में विभिन्न-विश्वास के लोग रह सकते थे। धर्म में मंदिर और भक्ति की प्रथा थी। दार्शनिक चिन्तन समृद्ध था। भक्ति के आचार्य उसी युग में हुये। संस्कृत-साहित्य के सिवा दक्षिणी भाषाओं का साहित्य भी बनने लगा था। संस्कृत में ऐतिहासिक चरित्र काव्यों की धूम थी। जहा तक आलोच्य साहित्य का संबंध है, उसमें पौराणिक वस्तु का ग्रहण अधिक है। काव्य-सिद्धान्तों के लिए अप० कवियों के उपजीव्य दन्डी और भामह हैं। वस्तुसंघटन में संस्कृत प्राभृत काव्य-परम्परा का प्रभाव भी है। अन्य उपादान और विवरण के लिए मुख्य स्रोत है राजसिद्धान्तमयी। युगचेतना से यह साहित्य एकदम अछूता नहीं। राजपूत शासकों की राजनीति, स्वभाव, विद्यानुराग, आदि गुणों को इस साहित्य के कथा-नायकों के जीवन से आंका जा सकता है। इस युग में धर्म आडंबरपूर्ण था। राजा का धार्मिक होना आवश्यक था। धर्म राज्य से विस्तार चाहता था, और राज्य धर्म से प्रेरणा। अंतिम काल में यह साहित्य दरबार में पहुंचने लगा था।

अपभ्रंश के कवियों का जीवन पूर्णतः सामाजिक था। उनकी सभी रचनायें प्रामाणिक हैं। बौद्ध स्फुट कवियों की जीवनी अवश्य अंधकार में है। चाहे प्रवन्ध कवि हों या मुक्तक, सभी का उद्देश्य धार्मिक या सांस्कृतिक है। इस साहित्य के तीन भाग हैं। प्रवन्ध, खण्ड और काव्य। प्रवन्ध काव्य के दो भेद हैं, पुराण काव्य और चरित्र काव्य। इनमें अन्तर यह है कि एक में अलौकिकता है तो दूसरे में लौकतत्व, एक में विस्तार है तो दूसरे में संक्षेप, एक में अवान्तर प्रसंगों और कथाओं की भरमार है तो दूसरे में कथावस्तु यथासंभव सुनियोजित है। एक में धार्मिक और पौराणिक रूढियों की प्रचुरता है, दूसरे में अपेक्षाकृत कम है। एक वस्तुतत्त्व असम्बद्ध है, दूसरे में सम्बद्ध। चरित्र काव्य में भी दो भेद हैं, धार्मिक और सामाजिक। इनमें पौराणिक और धार्मिक रूढ़ियों की अपेक्षा काव्य रूढ़ियां अधिक हैं। जैसे मंगल-विधान, ग्रन्थ-रचना के उद्देश्य का उल्लेख, आत्मविनय, सज्जनदुर्जन-वर्णन, कथा के मध्य में स्तुति या प्रार्थना, अंतिम पुष्पिका में कवि का आत्मपरिचय और श्रोता-वक्ता शैली। धार्मिक अतिरंजना के अनुरोध से अलौकिक तथ्यों की योजना प्रायः इनमें दिखाई देती हैं। इन चरित्र काव्यों में धर्म के साथ सामाजिक संमिश्रण का अन्तरभाव होता है। रामचरितमानस और पद्मावत भी वस्तुतः हिन्दी के चरित्र काव्य हैं। आचार्य शुक्लने इन्हें रचना-

प्रधान माना है। पर यह समीचीन नहीं। क्योंकि उनमें मुख्य कार्य की समाप्ति के बाद भी कथा चलती रहती है। इनमें कार्य–कारण–योजना खोजना व्यर्थ है। 'आत्मविनय' की परम्परा साहित्य में कई कारणों से है। १–धार्मिकता के कारण गुरुपरम्परा का उल्लेख आवश्यक था, २–लोक भाषा में रचना होने से और ३–संस्कृतज्ञों के उपहास से बचने के लिए। दुर्जन के ये कवि तीन अर्थ करते हैं–(१) जो उनकी कविता में अरुचि रखते है। (२) कुछ लोगों का स्वभाव ही दुष्ट होता है और (३) स्फुट कवियोंने असामाजिक व्यक्ति को दुर्जन कहा है। अपभ्रंश प्रबन्ध काव्य में गीत तत्त्व है। कथामध्य में आये हुए प्रार्थनागीतों से यह प्रमाणित है। इन में अलंकरण, तन्मयता और उपास्य के प्रति दीनता है। इस युग में श्रीकृष्ण के जीवन को लेकर धवल गीत आदि काफी प्रचलित थे। पउमचरिय में श्रीराम दरबार में नट बन कर चारण–गीत गाते है। नायिकाओं के रूप–चित्रण और लीला–विलास के वर्णन में विशालता है। धार्मिक चरित काव्यों में पौराणिकता और धर्मानुरूप सामाजिकता होती है, जब कि रोमांटिक काव्यों में नायक के रोमाटिक कार्यों का अतिरंजित आलेखन रहता है। चलते कथानक में आध्यात्मिक संकेत की प्रवृत्ति भी इन काव्यों में है। उदाहरण के लिए जसहरचरिउ में नायक जब पत्नी के कक्ष में जाता है, तब कवि सात भूमियों का उल्लेख करता है। हिन्दी कवि जायसी भी ऐसा करते है। परवर्ती बहुत से रासो ग्रन्थों में भी यही बातें हैं। अतः रासो नाम देख कर सभी को गेय मान लेना ठीक नहीं है। भेद केवल यह है कि रासों में आध्यात्मिक भक्ति का स्थान राजभक्ति ले लेती है। श्रीराम और श्रीकृष्ण कथा का जो रूप इस साहित्य में है, वह थोड़ा हिन्दू कथा से भिन्न है। खण्ड काव्य के रूप में केवल संदेशरासक ही उपलब्ध है। इसमें घटना नहीं, उसकी प्रतिक्रिया भर है। अधिकतर कवि-कल्पना की क्रीड़ा है। डा. हजारीप्रसादने इसे गेय माना है। पर यह ठीक नहीं। मुक्तक के दो भेद हैं, गीतमुक्तक और दोहामुक्तक। गीतमुक्तक प्रबन्ध काव्यों और पदों में मिलते है। गेय रूप में उपलब्ध गीत सामूहिक गान के लिए हैं। जैसे चर्चरी और उपदेश, रसायन–रास। मुक्तकस्वरूप की दृष्टि से दोहा दो प्रकार का है–कोष और स्फुट। दोहा कोष भी दो तरह का है। एक में प्रवृत्ति है, जबकि दूसरे में उग्र अध्यात्म। विषय की दृष्टि से स्फुट दोहा–काव्य तीन प्रकार का है—शृंगार, वीर तथा नीति वा धर्मपरक। इनके अतिरिक्त सदर्भ और इतिवृत्तमूलक मुक्तकों के उदाहरण भी अपभ्रंश में उपलब्ध हैं। सावयदोहाकार को छोड़ कर सभी मुक्तक कवि उग्र अध्यात्मवादी हैं। प्रबन्ध कवि प्रवृत्तिमूलक है। बाह्य उपासना और कर्मकाड का विरोध ये मुक्तक कवि करते हैं। कोरा शास्त्रीय ज्ञान इन्हें स्वीकार्य नहीं। अधिकाश सिद्ध कवियों की शैली साधनात्मक हैं, जबकि जैन कवियों की भावात्मक। पर साधनात्मक शैली का प्रभाव इन पर भी कहीं कहीं है।

वस्तुविवरण में यह साहित्य समृद्ध है। देशवर्णन के अन्तर्गत ग्राम, नगर और द्वीपवर्णन की प्रथा प्रायः मिलती है। गोकुल और शरावबस्तियों का भी वर्णन मिलता है। पुष्पदंतने रासलीला और गोपियों की स्वच्छन्द लीला का चित्रण किया है। देशों के भी नाम गिनाने की परम्परा इन काव्यों में है। विवाह वर्णन भी बड़े सजीव हैं। इन में प्रायः मध्यम और श्रेष्ठि वर्ग के विवाहों का रोचक वर्णन है। भोजनवर्णन की प्रवृत्ति भी है। स्वयंवर का वर्णन बहुत है जिन का अंत अधिकतर युद्ध में होता है। कभी कभी वधू को पाने के लिए वर को कठोर परीक्षा भी देनी पड़ती थी। इस में प्रेम-प्रसंगों की अपेक्षा युद्धप्रसंग अधिक हैं। युद्धवर्णन में योधाओं के उल्लासपूर्ण अभियान, आत्मश्लाघा, पति-पत्नी संवाद, गर्वोक्ति आदि का वर्णन रहता है। आतंक का भी चित्रण ये कवि करते हैं, परन्तु टंकार का बड़ा ही प्रभावक वर्णन है। युद्ध में विजय बहुत बार दिव्य शस्त्रों पर अवलंबित रहती है। स्त्रियों की गर्वोक्तियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस में श्रृंगार और गर्व का मेल समझना चाहिये। युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व दूत द्वारा संधिप्रस्ताव और मैत्री-मंडल का प्राय उल्लेख है। सामूहिक युद्ध की अपेक्षा द्वन्द्वयुद्ध का अधिक महत्त्व था। गजवर्णन बराबर मिलता है। जलक्रीड़ा का चित्रण अवश्य रहता है। इसमें वसंत या शरद ऋतुयें पृष्टभूमि बन कर आती है। स्त्रीवर्णन की तीन विधाएँ है—१. शास्त्रीय दृष्टि से, २. प्राकृतिक आधार पर व ३. चरित्र को लेकर। कन्या की अपेक्षा अप० कवि वधू का रूपचित्रण अधिक करते हैं। इन कवियों का सौन्दर्यकाल प्रायः अलंकृत है। फिर भी उसमें बीभत्स और अरुचिकर कल्पनाएं नहीं है। नखशिखवर्णन की अपेक्षा रूप के सामूहिक प्रभाव का ही ये कवि उल्लेख करते है। साधारणतया प्रथम दर्शन के बाद ही रूपचित्रण ये कवि नहीं करते। किसी भाव की पृष्ठ भूमि के रूप में रूपचित्रण करना इन्हें बहुत पसंद है। नर की अपेक्षा नारी का रूपचित्रण अधिक है। पर उसमें नखशिख-चित्रण भी है और शिखनख भी। नारी के अंगों की उपमा में प्रायः प्रकृति के उपमान ही काम आते हैं। ये कवि नारी और प्रकृति में भेद नहीं करते। वर्णन में उपमा या उत्प्रेक्षा की झड़ी लगा देना साधारण बात है। अतिशयोक्ति भी है, पर कम। पुरुष के वर्णन में शौर्य की व्यंजना है। किसी सुन्दर पुरुष को देख कर स्त्रियों की प्रतिक्रिया का उल्लेख करना इन कवियों की विशेषता है। हिन्दी के कवि तुलसीने रामवनगमन के वर्णन में भी इसी तरह ग्राम-वधुओं का संनिवेश किया है। गर्व की व्यंजना सर्वाधिक है। पात्र द्वारा भावव्यंजना के साथ तथ्य व्यंजना भी अप० चरित काव्यों में खूब है। संवाद शैली इन काव्यों में विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

अपभ्रंश कवि वैसे तो सभी रसों की योजना करते हैं, परन्तु उनका अंत होता है

शांत रस में। ये कवि शांत और भक्ति को भी रस मानते है। रस व्यंजना का ढंग शास्त्रीय होते हुए भी उस में लोकरुचि का प्रभाव है। आ० शुक्लद्वारा निर्दिष्ट प्रेम की चार पद्धतियों से भिन्न पद्धतियां भी इन काव्यों में मिलती हैं। प्रेम वैषम्य है, पर उसका अंत अनिष्ट में परिणत नहीं होता। संभोग शृंगार के खुले वर्णन की प्रवृत्ति स्वयंभू की अपेक्षा पुष्पदंत में अधिक है। कामक्रीड़ा शृंगार में आती है। जलक्रीड़ा उसी का अंग है। संस्कृत आलंकारिक भी यहीं मानते थे। पूर्व राग का वर्णन उग्र और अतिरंजित है। कामदशाऍं भी इसी में आती हैं। विप्रलंभ में इनका उल्लेख नहीं है। प्रयत्न नायक भी करता है और नायिका भी। विचारधर जातियों में यौन संबंध शिथिल हैं। पर मानवी प्रसग में ये कवि शरीर संबन्ध को बचा लेते हैं। आलोच्य साहित्य में पूर्वराग कई कारणों से उत्पन्न होता है। कई कामदशाऍं ऐसी हैं जिनका साहित्य शास्त्रों में नाम नहीं मिलता। वस्तुतः इन की व्यवस्थित मीमांसा की आवश्यकता है। विप्रलंभ के भी कई कारण है। सबसे बड़ी बात यह है कि ये कवि वियोग के कल्पित कारणों की अपेक्षा, उसके यथार्थ कारणों की कल्पना करते है। यहां प्रेम सामाजिक भी और ऐकान्तिक भी। रति के उपादानों की योजना की अपेक्षा ये कवि परिस्थिति और चेष्टाओं का अधिक वर्णन करते है। युद्ध की बहुलता से वीर रस की योजना स्वाभाविक है। उसके कारण है—कन्या का उद्धार, अपहरण, स्वयंवर या दिग्विजय। मुख्य युद्धवीर हैं। धर्मिक साहित्य होने से धर्मवीर, धन—वीर आदि भेदों की कमी नहीं। वर्णन की कई पद्धतिया हैं, शैली में अलंकरण है। युद्धरत पात्रों के वर्णन में रौद्र की व्यंजना है। युद्ध और उपसर्ग के प्रसग में भयानक आता है। विनाश के दृश्याकन और विरक्ति उत्पन्न करने में बीभत्स। करुणाभाव अधिक है, पर करुणा के समूचे वेग को आध्यात्मिक साधना में प्रवाहित कर देना इन कवियों की विशेषता है। वात्सल्य की सुंदर व्यंजना इस में है, उसके संयोग वियोग दोनों पक्ष गृहीत हैं, बाल लीला इसी का अंग है। हास्य रस लगभग नहीं जैसा है। अलंकारों में अप० कवि दंडी और भामहसे अनुप्राणित हैं। साहित्यमूलक अलंकार उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक आदि बहुत हैं। ये कवि उपमान के लोप निह्नव आदि में न पड़ कर उसे भावना के सांचे में ढाल देते हैं। मूर्त की अपेक्षा अमूर्त उपमान ये अधिक रखते हैं। उपमानों की योजना केवल कवियों के मानसिक पक्ष को ही स्पष्ट नहीं करती, अपितु अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों को भी प्रगट करती है। उत्प्रेक्षा में भी यही बात है। प्रकृति संबन्धी रूपक विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। रूपक स्वयंभू को बहुत पसंद है और उत्पेक्षा पुष्पदंत को, अतिशयोक्ति उतनी लोकप्रिय इन में नहीं। अन्य परम्परागत अलंकारों की भी योजना है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक और श्लेष की मुख्यता है। उद्गात्मिक कथन संदेश रासक है। आध्यात्मिक पसंग में प्रतीक शैली भी प्रयुक्त हुई है।

अपभ्रंश छन्दों का भेद और विभाजन कई तरह से हो सकता है। पर यह निश्चित है कि उसमें शास्त्रीय और लोक छंदो का प्रयोग बराबर हुआ है। छंद में यह साहित्य समृद्ध है। मात्रिक छंदो का मूल 'दुवइ' है। वस्तुतः अनुप्रास, यमक, मात्रा और यति के भेद से अपभ्रंश छंद के भेद-प्रभेद हुए। विषय और प्रयोग से भी इन में छंद बदलता है। लय और गेयत्व का इसमें विचार रखा जाता है। अन्त्यानुप्रास अपभ्रंश छन्द की आत्मा है। वर्ण वृत्तों में भी यही बात है। अपभ्रंश कडवक मात्रिक छंद से नहीं, अपितु वर्ण छंदों से भी बनते हैं। इस प्रकार लोकभाषा काव्य में शास्त्रीय छंद का प्रयोग बहुत प्राचीन है। पर अन्त्यानुप्रास की पाबंदी वर्ण वृत्तों में भी है। इससे सिद्ध है कि अपभ्रंश में संस्कृत छंद उसीकी प्रकृति में ढल कर आए। अन्त्यानुप्रास (तुक) और दो पदों की समानता अप० कवि के छंदों का मुख्य आधार है। पदों में भी यही बात है। अप० कवि छंदों में संगीत का भी पुट देते हैं। स्वयंभू और पुष्पदंत इसके उदाहरण हैं।

प्रकृति चित्रण में भी अपभ्रंश साहित्य समृद्ध है। हिन्दी आलोचना में प्रकृति चित्रण की विधाओं का कोई निश्चित क्रम नहीं। वस्तुतः प्रकृति चित्रण की विधाऐं होनी चाहिये शुद्ध, उद्दीपन, अलंकृत और आरोपित शैली। इन सभी में प्रकृति चित्रण इस साहित्य में उपलब्ध है। शुद्ध प्रकृति चित्रण के दो भेद हैं-पृष्ठभूमि और यथातथ्यप्रकृति चित्रण। पर इन में भेदक रेखा खींचना कठिन है। अलंकृत शैली में मानवी-करण उपमा उत्प्रेक्षा की शैलियाँ आ जाती हैं। आरोपित वाद में रहस्यवाद आदि की विधायें खप जाती हैं। ये कवि प्रकृति के उग्र और मधुर दोनों रूप वर्णित करते हैं। उपालंभ और अतिशयोक्ति नहीं हैं। प्रकृति चित्रण से ये दार्शनिक निष्कर्ष भी निकालते हैं। परिगणन की परिपाटी भी है। प्रकृति में नारी रूप देखना अप० कवियों को अच्छा लगता है। रावण के सीताहरण पर नंदनवन की समूची प्रकृति विद्रोह कर उठती है। पुष्पदंत का यह प्रकृति-विद्रोह वर्णन सचमुच विश्वसाहित्य में भी अनूठा है।

समाज चार वर्णों में विभक्त था। जातियों की उत्पत्ति में मतभेद था। परिवार प्रथा सम्मिलित थी और उसमें झगड़े टंटे थे। बहुविवाह प्रथा थी। आर्थिक विषमता थी। पर राज्य और वैश्य परिवार सम्पन्न थे। राजनैतिक दृष्टि से सार्वभौम सत्ता के लिए युद्ध होते रहते थे। उच्च वर्ग की शिक्षापद्धति अच्छी थी, उसमें युद्ध और कला के अध्ययन की व्यवस्था थी। पर साधारण जनता निरक्षर ही थी। राजदूत का पद महत्व का था। राजतंत्र होते हुए भी राजा के अधिकार सीमित थे। राजपुर के राजा को धनवई के लिए इस लिये छोड़ना पड़ा; क्यों कि प्रजा विरुद्ध हो उठी थी। संस्कृत, प्राकृत के साथ अप० साहित्य की भी शिक्षा

दी जाती थी। राजकुमारियाँ संगीत और नृत्य में बहुत शिक्षा ग्रहण करती थीं। विवाह संबन्ध ढीले थे। वेश्या नृत्य और द्यूतक्रीड़ा का बहुत रिवाज था। उत्तम समाज में जलक्रीड़ा, संगीत, नृत्य, प्रेक्षण आदि काफी लोकप्रिय थे। जब कि जनता, चर्चरी, रासलीला, दोलाक्रीड़ा-आदि को पसंद करती थी। मल्लयुद्ध बहुत लोकप्रिय था। लोकाचार और अंधविश्वास बहुत थे। शकुन और अपशकुन, भूत-प्रेत में विश्वास था। धर्म में आडंबर था। यद्यपि भक्ति की धारा उठ पड़ी थी। साम्प्रदायिक युद्धों के बीच सहिष्णुता बढ़ रही थी। बाजार वस्तुओं से भरे थे, पर वस्तुओं में मिलावट भी थी।

दार्शनिक खण्डन-मण्डन भी इस साहित्य में हैं। मुख्य रूप से पशुबलि, वैदिक कर्म-काण्ड और ब्राह्मणवाद की आलोचना है। दर्शनों में चार्वाक, क्षणिकवाद, मीमांसा और सांख्य-दर्शन की ही चर्चा है। हिंसा और नरबलि के कारण वाममार्गी, देवी सम्प्रदाय और कोल और कापालिक मार्ग की खूब निंदा है। ईश्वरवाद की आलोचना इनके लिए स्वाभाविक थी। फिर भी ये कवि वर्णव्यवस्था को उठा देने के पक्ष में नहीं हैं। वर्णशंकर को ये बुरा बताते हैं। जैनधर्म में आडम्बर बहुत था। उपवास, रात्रिभोजनत्याग और पञ्चकल्याणक का असीम पुण्य फल बताया गया है। जिनपूजा और मंदिर प्रतिष्ठा का उत्साह के साथ वर्णन है। मंदिर का सामाजिक उपयोग भी होता था। बिम्बप्रतिष्ठा में वैदिक विधि का पूरा अनुकरण था। अन्य देवी-देवताओं की उपासना भी थी। वास्तव में इस युग की धर्मसाधना का लक्ष्य लौकिक अभ्युदय ही था। यह बात अवश्य है कि ये कवि धार्मिकता का उपयोग अपने पात्रों के चरित्र में नैतिक क्रांति लाने के लिए करते हैं। अपभ्रंश कवि कथा-चरित्र और आख्या-यिका में भेद नहीं करते। शिव और जिन की तुलना और ब्रह्मभेद इस साहित्य की प्रमुख विशेषता है। इसका मुख्य कारण था, शैवों और जैनों का सह अस्तित्व। दूसरा कारण है, शिव के स्वरूप आर्य-अनार्य तत्त्वों का मेल। जैन साहित्य में शिव और ऋषभ की एकता बहुत समय से मानी जाती रही है। इस दृष्टि से विष्णु की अपेक्षा शिव का दर्जा इस साहित्य में ऊंचा है। तुलसीदासने भी राम और शिव में भी अभेद दिखाने का प्रयत्न किया है।

जैन धर्म की प्राचीनता और उसका प्रसार

प्राङ्ऐतिहासिक काल में जैन धर्म।

कामताप्रसाद जैन, D. L, M R. A S.

जैन धर्म को एक सम्प्रदाय विशेष समझना गलत है-सम्प्रदाय तो वह अर्वाचीन काल में बना दिया गया है। वस्तुतः वह धर्मविज्ञान है-वीतरागभाव की साधना का उपाय वह बताता है। मानव जीवन की सार्थकता के लिये वह एक सही मार्ग है। इसीलिये आचार्योंने उसे 'मार्ग' कहा है। 'धर्म' भी वह है, परंतु वस्तुस्वभावमूलक-'वत्थुसहावो धम्मो'। इस दृष्टि से विचार करने पर हम जैनधर्म और सत्य में कोई अन्तर नहीं पाते। चूंकि सत्य शाश्वत है, अतः जिनोपदिष्ट धर्म भी शाश्वत है, यह कहना ठीक है। निश्चयात्मक दृष्टिकोण (Realistic Viewpoint) जैनधर्म को अनादिनिधन प्रमाणित करता है।

किन्तु सत्तात्मकरूप Reality की अभिव्यक्ति दृश्य लोक में नाना प्रकार से समय-समय पर होती है। अतएव उस शाश्वतरूप का आदि और अन्त भी समय-समय पर देखा जाता है। सूर्यबिम्ब प्रतिदिन उगता और अस्त होता है, फिर भी वह अपना रूप नहीं खोता। यही बात धर्मतत्वरूपी सूर्य के लिये घटित होती है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इस कल्पकाल में जैनधर्म की अभिव्यक्ति कब और कैसे हुई?

श्रद्धालु पुरुष यदि पूंछे तो उसका समाधान तो आगम-प्रमाण से सहज ही किया जा सकता है; परंतु यह बुद्धिवादी युग है। लोग बात-बात में तर्क करते हैं। अतः यह उत्तर देना पर्याप्त नहीं कि जैनशास्त्र इस कल्पकाल में कर्मभूमि की आदि में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा धर्म की प्रतिष्ठा हुई बताते हैं। वही धर्म आज जैनधर्म के नाम से प्रसिद्ध है।

---

1. Barth, Religion of India, (1892); Elphinstone, History of India.

यदि ऐसा है तो शायद पाठक कहें कि आजकल भारतीय पाठ्य क्रममें जो इतिहास पढ़ाया जाता है, उसे मानिये। किन्तु वह भी माननीय नहीं। उस इतिहास को उन विदेशी विद्वानों के मतानुसार रचा गया है जो भारतीय धर्मों की परम्परा से अपरिचित थे। उन्होंने एक समय में जैनधर्म की उत्पत्ति मध्यकाल में घोषित करने की भारी गलती की थी। उपरान्त उसे बौद्ध धर्म की शाखा भी उन्होंने कहा और अब पढ़ाया जाता है कि वैदिकीय, याज्ञिक-हिंसा के विरोध में भगवान महावीरने जैनधर्म को चलाया। यह ऐतिहासिक मान्यतायें नितान्त भ्रममूलक हैं; अतः इन पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

इस अवस्था में हम स्वाधीनरूप में स्पष्ट साक्षी के आधार से विचार करेंगे कि जिससे जैनधर्म के प्राङ् ऐतिहासिक कालीन अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सके, क्योंकि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव प्राङ् ऐतिहासिक काल में ही हुये हैं। इस प्रकरण को सिद्ध करने के लिये जैनेतर शास्त्रों की साक्षी के अतिरिक्त भारतीय पुरातत्व के प्रमाण भी हम उपस्थित करेंगे। हजारों वर्षा पहले पाषाण पर उत्कीर्ण लेख और मूर्तियां जैनधर्म को प्राङ्-ऐतिहासिक काल में प्रचलित सिद्ध करते हैं।

पहले ही वैदिक साहित्य को लीजिये। वेदों के निम्नलिखित उल्लेख ऋषभ अथवा वृषभदेव नामक महापुरुष का अस्तित्व सिद्ध करते हैं:—

१. 'ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्॥'

ऋग्वेद, ८। ८। २४

२. 'अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विनी हुंवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥'

—अथर्ववेद, १९। ४२। ४

'यजुर्वेद' (अ. २०, मंत्र ४६) में वृषभदेव का उल्लेख हुआ है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण पापों से मुक्त अहिंसक वृत्तियों में प्रथम राजा आदित्यस्वरूप श्री वृषभ

---

१ हमारे राष्ट्रपति महोदय डॉ० राजेन्द्रप्रसादजीने भी कुछ ऐसा ही भाव दर्शाया है; यद्यपि उन्होंने भगवान् महावीर को आधुनिक जैनधर्म (Modern Jainism) का संस्थापक (Founder) लिखा है। (At the feet of Mahatma Gandhi, p 174) मा पं जवाहरलालजी नेहरूने यद्यपि जैन धर्म को हिन्दू धर्म से निराला लिखा है, परतु उसे भगवान् महावीर से चला बताने की भ्रान्ति से वह भी बचे नहीं। (हिन्दुस्तान की कहानी देखो) पृ १३६-१३८. इसी अनुरूप आधुनिक ऐतिहासिक पाठ्य-पुस्तकों मे कथन है।

या ऋषभ प्राचीन भारत में अवश्य हुये थे; वह कौन थे? यह बात उक्त वेद मन्त्रों में स्पष्ट नहीं कही गई है। किन्तु वैदिक मान्यता यह है कि वैदिक अनुश्रुति की व्याख्या पुराण और काव्य के आधार से करना उचित है। अतएव हिन्दू पुराणों के आधार से ऋषभदेव के व्यक्तित्व का परिचय पाना समुचित है।

हिन्दू पुराणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में केवल एक ऋषभ अथवा वृषभदेव नामक महापुरुष हुये, जो नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र थे। 'भागवतपुराण' (अ० ५), विष्णुपुराण (२-१, पृ० ७७), मार्कण्डेयपुराण (अ० ५० पृ० १५०) ब्रह्माण्डपुराण (अ० १४ श्लो० ५९-६१) और 'अग्निपुराण' (अ० १०) आदि पुराणों में ऋषभदेव का ऐसा ही वर्णन मिलता है। उन्होंने परमहंसवृत्ति को धारण करके आत्मयोग की साधना और प्रचार किया था। इसी लिये वह आठवें अवतार माने गये हैं। 'महाभारत' के शांतिपर्व में भी उनको महायोगी और आर्हत (जैन) मत को दिखानेवाला लिखा है।[२]

हिन्दू पुराणकारों का यह वर्णन ठीक वैसा ही है जैसा कि जैन शास्त्रों में मिलता है। अतः कोई कारण नहीं कि हम उन पर विश्वास न करें और दोनों ऋषभों को अभिन्न और एक न मानें। वैदिकधर्मीय विद्वान् प्रो० विरुपाक्ष वॉडियार[३], टीकाकार श्री ज्वालाप्रसाद इत्यादिने स्पष्ट लिखा है कि वेदादि में जिन ऋषभ का उल्लेख है वह जैन धर्म के संस्थापक तीर्थंकर ऋषभ हैं। डॉ० राधाकृष्णन्[५], डॉ० लॉहा[६], प्रो. स्टीवेन्सन[७] प्रभृति आधुनिक विद्वानों

---

१. सार्वतुक्रमणिका (लंदन) पृ. १६४ व असुर इन्डिया, भूमिका देखो।

२. 'ऋषभादिनाम महायोगी नामाचारे। दृष्टाय अर्हतारयो मोहिता॥'

३ जैनपथ-प्रदर्शक, भा. ३ अङ्क ३ पृ. १०६।

४. भागवद् पुराण टीका (मुरादाबाद) भूमिका देखो।

५. 'The Bhāgawata Purana endorses the view that Rsabha was the founder of Jainism There is evidence to show that so far back as the first century B. C. there were people who were worshipping Rsabhadeva the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamāna or Pārśwanātha. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rsabha, Ajitanātha and Aristanemi."

—Indian Philosophy, Vol I, p. 287.

६. Historical Gleaning's p. 78.

७. "It is seldom that Jainas and Brahmanas agree that I do not see, how we can refuse them credit in this instance, where they do so."

—Kalpasūtra, intro. p. XVI.

का भी यही मत है। उनका समय प्राङ्-ऐतिहासिक काल है-अतः जैनधर्म स्वतः प्राङ्-ऐतिहासिक काल का सिद्ध होता है।

बौद्ध ग्रंथो में भी ऋषभदेव को ही जैनधर्म का संस्थापक लिखा है[1]। 'मञ्जुश्री मूल-कल्प' में भारतीय इतिहास का विवरण मिलता है। उसमें भारत के आदिकालीन राजाओं में दुन्वमार, कन्दर्प और प्रजापति के पश्चात् नाभि, ऋषभ और भरत का होना लिखा है[2]। ऋषभ हैमवतगिरि से सिद्ध हुए जैनधर्म के आप्त पुरुष थे, यह भी लिखा है[3]। इस प्रकार बौद्ध साक्षी भी ऋषभदेवजी और जैनधर्म को प्राङ्-ऐतिहासिक काल का सिद्ध करते हैं।

पुरातत्त्व भी इसी मत का समर्थन करता है। खंडगिरि-उदयगिरि (उड़ीसा) में भ० महावीर के समय तक के मंदिर और गुफायें हैं; जिनमें तीर्थङ्कर ऋषभ की मूर्तियां मिलती हैं[4]। मथुरा के कंकालीटीला से भी कुशनकालीन ऋषभमूर्तियां मिलीं हैं[5]। इनसे सिद्ध है कि उस समय के लोगों में ऋषभदेव की पूजा प्रचलित थी और वह उनसे बहुत पहले हो चुके थे। सर्वोपरि मोहनजोदड़ो की मुद्राओं से भी ऋषभ पूजा का प्रचलन आज से ५००० वर्षों पहले प्रमाणित होता है। उन पर ऋषभ तीर्थंकर का चिह्न बैल भी मिलता है[6]। एक मुद्रा में नेमिनाथकालीन छ मुनियों का दृश्य अङ्कित है[7]। डॉ० रॉय ने मल्लितीर्थङ्कर के जीवन का एक दृश्य एक अन्य मुद्रा पर अङ्कित अनुमानित किया है। उन्होंने जैनों के त्रिशूलचिह्न को

---

१. आर्यदेव, 'सत्शास्त्र'—न्यायविन्दु, अ० ३ इत्यादि।

२. 'जयोष्णीपस्तथा सिद्धो दुन्वमारे नृपोत्तमे ॥ ३८८ ॥
कन्दर्पस्य तथा राज्ञो विजयोष्णीष कथ्यते।
प्रजापतिस्तस्य पुत्रो वैतस्यापि लोचना भुवि ॥ ३८९ ॥
प्रजापते. सुरो नाभिः तस्यापि ऊर्ण मुच्यति।
लाभितो ऋषभ पुत्रो वैं सिद्धकर्म-दृढव्रत. ॥ ३९० ॥
तस्यापि माणिचरो यक्ष. सिद्धो हैमवते गिरौ।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोऽपि मन्त्रान् तदा जपेत् ॥ ३९१ ॥
—आर्यमञ्जु श्रीमूलकल्पे

३. 'कपिलमुर्निनाम ऋपिवरो, निर्ग्रन्थतीर्थंकर ऋषभ निर्ग्रन्थरूपिः।'
—आर्यमञ्जु श्रीमूलकल्पे।

४. डॉ. फ्लिर, केव्स एण्ड टेम्पिल्स ऑव जैन्स, पृ० ४ एवं लोट्स ऑन दी रिमेन्स ओन धौजी एण्ड केव्स ऑफ उदयगिरि, पृ० २

५. जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वटीज़ ऑव मथुरा तथा प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २७९-२८०

६. मोडर्नरिव्यू अगस्त १९३२, पृ० १५६-१५९, व इंडियन हिस्टॉरीकल क्वारटर्ली, भा० ८, पृ० २७-२९ व १३२

७, जैन ऐण्टीक्वेरी, भा० १४ कि० १ (जुलाई १९४८) पृ० ६

भी पहिचाना है[1]। अतः पुरातत्त्व से भी जैनधर्म का अस्तित्व भ० महावीर से बहुत पहले प्राङ् ऐतिहासिक काल में प्रमाणित होता है।

हालमें ही डॉ० हेनरिक जिम्मरने इस तथ्यको पहिचान कर अपनी मूल्यमई रचना 'फिलॉसफीज ऑव इंडिया' में जैनधर्म को वैदिक धर्म से निराला और प्राङ्-आर्य (Pre-Aryan) काल का स्पष्ट लिखा है[2]। उन्हीं के अनुरूप भारतीय विद्वान् भी इस बात को तथ्यपूर्ण मानते है[3]।

निस्सन्देह जैनधर्म का अस्तित्व प्राङ्-ऐतिहासिक काल का है। अतः भारत की पाठ्य-पुस्तकों में जो इसके विपरीत उल्लेख है, वे नितान्त भ्रामक हैं और उनका जल्दी सुधार हो जाना चाहिये।

---

1. The Historicity of the-Tirthankaras, pp. 12-24

2 "Jainism does not derive from Brahmana-Āryan sources, but reflects the cosmology and anthropology of a much older, pre-Āryan upper class of north-eastern India...... Pārśva, the 23rd Tirthankara is the first of the long series whom we can fairly visualize in a historical setting."

— Dr. Heinrich Zimmer, "The Philosophies of India," pp.

3 "Jainism has, however, a history much older than Mahāvīra at least two and half centuries older. Its beginning may perhaps be traced...... to PRE-Āryan Indian Thonght."

— Dr. A. C. Sen, 'The Indo-Asian Culture, I, 1, 78'

"The deep strain of pessimism that characterising Upanisadic thought in common with Buddhism, Jainism and the Sāmkhya, can hardly be said to be a direct product of Vedic Brahmanism...... It would perhaps be historically more correct, therefore, to regard Upanisadic as much as Jaina and Buddhist thoughts as having their roots in non-vedic than in vedic ideas"

— Dr. B B Bhattacharya, 'The Indo-Asian Culture, I, 1.

"The Jain ideas and practices must have been current at the time of Māhāvira and independently of him. This combined with other arguments leads us to the opinion that the Nirgranthas (Jainas) were really in existence long before Mahavira, who was the reformer of the already existing sect."

— Prof. James, Indian Antiquary, Vol. Ix, p. 162.

जैनधर्म की ऐतिहासिक खोज

मुनि श्री सुशीलकुमारजी

भारत की संस्कृति सामाजिक संस्कृति है। आज जो भारतीय विचारों की एकता दृष्टि-गोचर हो रही है—आत्मा-परमात्मा, प्रकृति-माया, अवतार-तीर्थङ्कर, बुद्ध-पुनर्जन्म, भक्ति-योग, निर्वाण और मोक्ष वैषयिक, भारतीय धर्मों में पारस्परिक समानता दिखाई पड़ रही है। इसके पीछे बहुत लम्बी विचारपरम्परा काम कर रही है। इसका मूल आधार आर्य-सभ्यता का मूलस्रोत नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें ऐतिहासिक विरोध है। अपितु हमारे देश की मौलिक एकता का कारण लाखों वर्षों (अथवा अगणित समयों) से चले आ रहे वे संघर्ष हैं जो भारत में रहनेवाली विभिन्न जातियों द्वारा लड़े गये।

बार-बार के युद्ध, सम्पर्क, समझौते, वैचारिक-शास्त्रार्थ एवं प्राकृतिक संकटोंने आर्यों और आर्येतरों को समन्वित किया है।

भारत की सामाजिक, भौगोलिक, व्यावसायिक और दैशिक एकता का निर्माण विविध विचारोंवाली जातियों के सगम से उद्भूत हुवा है। यदि आप इसके अन्ततम रहस्य को जानने की आकाङ्क्षा रखते हैं तो निश्चित है कि आपको भारतीय इतिहास जानने की अपेक्षा विभिन्न विचार एवं विविध देवोपासना की पद्धतियों का अध्ययन करना पड़ेगा।

प्रारम्भ से हमारे देश में श्रमण और ब्राह्मण धारायें चली आ रही हैं। ब्राह्मण कर्म-काण्ड पर, यज्ञ पर एवं संस्कार पर विश्वास करता आया है। श्रमण व्रत पर, अहिंसा पर तथा त्याग पर विश्वास करता रहा है। दोनों का (श्रमण एवं ब्राह्मग) मूल एक हो अथवा विभिन्न; किन्तु यह निश्चित है कि यज्ञ और व्रत भारत के धर्मों के दो मध्य-बिन्दु अवश्य रहे हैं। इन दोनों तत्वों का प्रभाव भारत के जैन, वैदिक और बौद्ध धर्मों पर तो पड़ा ही है; किन्तु एशिया के भूखण्डों से प्रसूत होनेवाले तमाम धर्मों के आचार और विचारवाद पर भी छाया हुवा है। अगर ब्राह्मण-श्रमण धारा का साधु एवं गृहस्थ के नाते इस प्रकार विभाजन हो कि संसार के वे कतिपय कौन धर्म जिनमें साधुओं का स्थान सर्वोपरि है और दूसरे वे कौन धर्म जिनमें गृहस्थों की सत्ता सर्वोपरि है तो यह कहना पड़ेगा कि ब्राह्मण, पारसी एवं इस्लाम धर्मों में साधुसस्था सर्वोच्च सत्ता नहीं है। वैदिक क्रियाकाण्डों में ब्राह्मण, पारसी धर्मकृत्यों में पुरोहित और मुसल्मानी धर्म के उपक्रमों में जो स्थान मुल्ला-मुफ्ती तथा

आवर्त (घेरा) डाल रहे थे। यद्यपि भारत को पहले पुराणों में ब्रह्मर्षि प्रदेश, फिर आर्यावर्त और फिर सिन्धु की घाटी पर बसे होने के कारण हिन्दु और हिन्दुस्तान कहना प्रारम्भ हुवा है, परन्तु इस देश का प्राचीनतम नाम भारतवर्ष है। जैनागम इसे जम्बूद्वीप के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण भारतक्षेत्र के नाम से उल्लेख करते हैं।

हिन्दु शब्द प्रादेशिक महत्व रखता है, आर्यावर्त जातिगत अधिकार सत्ता का अवबोधक है और भारत शब्द भारती प्रजा का ही बोध देता है।

आर्य-सभ्यता उत्तर से दक्षिण की ओर बढी है और उसे अन्यान्य देश की प्राचीन परम्पराओं तथा पुरातन जातियों से संघर्ष करना पड़ा है। जिन में व्रात्य सम्प्रदाय मुख्य है। क्यों कि वेद में व्रत को माननेवाले व्रात्यों का तथा यज्ञ के माननेवाले याज्ञिकों का ही अधिकतर वर्णन किया गया है। यज्ञ से विमुख रहने वाले असुरों और यज्ञप्रिय देवों के संग्राम की यही पृष्ठभूमि है। याज्ञिक यज्ञ में पशुओं तक का बलिदान करते और अहिंसादि व्रतों को माननेवाले व्रात्य ऐसे हिंसक यज्ञ को होने से रोकते। दोनों में संघर्ष छिड़ता, युद्ध होता। यज्ञविरोधी असुरों के लिये, व्रात्यों के नाश करने के लिये मन्त्र पढे जाते, प्रार्थनायें की जातीं। इन्हीं विरोधी विचारों ने भारतीय सन्तति को दो भागों में विभाजित किया है।

आर्यों का आगमन—

यद्यपि इस विषय में इतिहास अंधेरे में है। कोई कहता है कि भारत चतुःसंस्थान-स्थित था और किसी समय भारत का विस्तार अफ्रिका से आस्ट्रेलिया तक फैला हुवा था। समुद्र के परिवर्तन और भूमिविस्फोट ने भारत का रंगरूप बदल दिया है। मध्य एशिया की जातियों में परस्पर चंक्रमण प्रारम्भ हुवा जिसके परिणामस्वरूप आर्य जाति का भारत आगमन अथवा सिन्धु घाटी से दक्षिण की ओर प्लवन प्रारम्भ हुवा। जिससे यह तो निश्चित होता है कि परस्पर विरुद्ध विचार रखनेवाली दो जातियों में सम्पर्क एवं संघर्ष हुवा हो। यह लाखों वर्ष पुरानी कहानी है, हमारे देश में अनेक प्रकार के लोग रहे हैं। आर्य, द्रविड़, सैन्धव, शबर, पुलिन्द, पुल्कश, किरात और मंगोल अष्ट महाजातियों एवं पचीस उपजातियों का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। भारत के लोग अनेक भूभागों में निवास करते रहे हैं। हिमालय की शृङ्खलाओं में, ब्रह्मसिन्धु के मैदानों में, दक्षिण भारत के पठारों में और गोदावरी तथा कावेरी की भूमियों में निवास करते आये हैं।

समूचे भारत के विशाल भूप्रदेशों पर अनेक पन्थों, सम्प्रदायों, मान्यताओं और कबीलों का राज्य रहा है। उनके अनेक प्रकार के विचार रहे हैं तो भी सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारत में दो ही विचारधारा मुख्यरूप से विद्यमान रही हैं, एक व्रतमूलक और दूसरी यज्ञमूलक।

व्रात्यों की प्राचीनता—

यद्यपि आज भी ऐतिहासिक विद्वान् खोज कर रहे हैं, तथापि उनकी प्राचीनता के बारे में किसी को सन्देह नहीं है। क्यों कि व्रात्य भारत का प्राचीनतम सम्प्रदाय है। उसका प्रादुर्भाव वेदों के निर्माण से पूर्व और सम्भव है कि आर्यों के आगमन से पहले ही हो चुका था। वेद में व्रात्य, द्रविड़, दास, दस्यु, पणि, किरात और निषादादि शब्दों का उल्लेख किया गया है। उन्हें समसमानार्थक तो नहीं कहा जा सकता। हां, व्रात्यों के प्रभाव में आई हुई प्राचीन जातियें अवश्य कहा जा सकता है। क्यों कि डा. श्रीसम्पूर्णानन्दजीने व्रात्यों के विषय में अपना मत प्रगट करते हुए लिखा है:—

"व्रात्य दस्युओं को ये लोग सभ्य आर्यों के अधिक सन्निकट मानते थे।" नगेन्द्रनाथ घोषने लिखा है:—

"जिन दिनों आर्योंने भारत पर आक्रमण किया उन दिनों पूर्वीय भारत में कई प्रबल अनार्य राज्य थे, आर्यों की छोटी २ बस्तियां चारों ओर शत्रुओं से घिरी थीं। उनको इनसे तो लड़ना ही पड़ता था, आपस में भी तकरार मची रहती थी। ऐसी दशा में रक्षा का एक मात्र उपाय यही था कि अनार्यों को अपने में मिलाकर अपनी जनसंख्या बढाई जाय। जो अनार्य थे इस प्रकार मिलाये जाते थे। वे व्रात्य कहलाते थे और जिन प्रक्रियाओं से उनकी शुद्धि होती थी उनको 'व्रात्यष्टोम' कहते थे"। इसके विरुद्ध एक तीसरा मत भी है:—

"व्रात्य शब्द उन आर्यों के लिये आता था जिनके लिये व्यवस्थित समाज में कोई स्थान नहीं था। ये लोग इधर-उधर घूमा करते थे और लूट-पाट भी किया करते थे, आग लगाते और लोगों को विष भी दे देते थे। व्यापार न करके व्याधा (शिकार) से अपनी आजीविका चलाते थे। इस से सम्भव है कि व्रात्यों की गणना भी दस्युओं में होती होगी।

डाक्टर अम्बेडकर शब्दों की खोज में लिखते हैं:—

"व्रात्यों का उपनयन संस्कार होता था। यह कहना कठिन है कि व्रात्य आर्य थे अथवा अनार्य। इन्हीं को शुद्ध करने के लिये चार प्रकार के स्तोम बनाये गये है"।

व्रात्यों के विषय में मनुजीने विशेष विधान मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय के ३९ वें श्लोक में बताया है:—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथा कालमसंस्कृता।
सावित्री पतिता व्रात्या भवन्त्यार्य-विगर्हिताः॥

मनु. स्मृ. अध्या. २ श्लो. ३९॥

ब्राह्मण का उपनयन-संस्कार १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक और वैश्य का २४ वर्ष तक हो जाना चाहिये। यदि यह समय बीत जाय तो ये तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) व्रात्य हो जाते हैं और आर्यगर्हित हो जाते हैं।

रामाश्रयी टीकाकारने "शरीरायासजीवि, व्याधादिव्रती, व्याधा आदि शरीरश्रम से जीविका चलानेवाले को व्रात कहा है अथवा जो व्रात—अर्थात् जो नियमन के योग्य हैं, दबा कर रखने के योग्य हैं उन्हें व्रात्य कहा जाता है।"

ये सभी मत अपने आप में ही अपूर्ण हैं। इसी विषय में एक पाश्चात्य विद्वान् जर्मनी के ट्यूबिंगेन विद्यापीठ के डाक्टर हावरने खोजपूर्ण निबन्ध लिखते हुये अपना मत स्थिर किया है, जिसे हिन्दी साहित्यसम्मेलन द्वारा "भारतीय अनुशीलन" ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया है।

"व्रात्य का अर्थ व्रत में दीक्षित है। व्रात्यलोग आर्य थे, परन्तु प्रचलित यज्ञयाग-प्रधान वैदिक धर्म को वे नहीं मानते थे। वे एक प्रकार के साधु होते थे। एक विशेष प्रकार की वेशभूषा धारण किये घूमा करते थे। उनके उपास्य रुद्र (ऋषभ) थे। उपासना की विधि योगाभ्यासमूलक थी।"

हावर के मतानुसार अथर्ववेद में उस महाव्रात्य महादेव (ऋषभदेव) की महिमा की गई है। उनका कहना है कि जो दार्शनिक विचार पीछे से सांख्ययोग के रूप में विस्तृत हुये उनका मूलस्रोत व्रात्यों की उपासना तथा उनका ज्ञानकाण्ड था एवं व्रात्य सम्प्रदाय ही परवर्ती काल के साधु संन्यासियों का पूर्वरूप था।

अन्त में मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि व्रात्य के सम्बन्ध में यदि निश्चित मत अनुसन्धान करना ही है तो वेदों के भाष्यकर्ता सायण से बढ़ कर पते की बात कौन कहेगा। अतः वेदों के व्रात्य के सम्बन्ध में सायणने टिप्पण करते हुये लिखा है:—

"न पुनरेतत् सर्वव्रात्यपरं प्रतिपादनम्, अपितु कश्चिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्।"

—सा० भा०

यद्यपि सभी व्रात्य आदर्श पर इतने ऊंचे चढे हुये न हों, किन्तु व्रात्य स्पष्टतः परमविद्वान् महाधिकारी पुण्यशील विश्ववंद्य कर्मकाण्ड को धर्म माननेवाले ब्राह्मणों से विशिष्ट महापुरुष थे।

इससे प्रामाणिक मत सम्भव है अन्यत्र न मिल सके, क्योंकि अथर्ववेद के १५ वें काण्ड में व्रात्यमहिमा का जो महागान गाया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक

युग में व्रात्यों की किस प्रकार पूजा थी। अन्तर इतना है कि स्मृतिकारोंने व्रात्यों को अपराधी के रूप में उपस्थित किया है और वेदोंने व्रात्यों को विश्ववन्द्यों और महाव्रतियों के रूप में। यद्यपि किसी न किसी स्थान पर वेदों में व्रात्यों के विषय में विपरीत भावना का भी अंश पाया जाता है, किन्तु अधिकांश में व्रात्यों के गुणगान ही गाये गये हैं।

व्रात्यों के प्रति-वेद की श्रद्धाञ्जलिः—

अथर्ववेद सुबोध भाष्य १५ काण्ड, (ऋषि अथर्वा देवता अध्यात्म व्रात्य) में व्रात्य का अर्थ इस प्रकार किया गया है:—

व्रातः—समूहः, समाज, संघ, मनुष्य, सर्वभूतवर्ग के हितकर हैं जो, व्रात्य कहलाते हैं। पं० जयदेवकृत भाष्य आर्य साहित्य मंडल, अजमेर द्वारा प्रकाशित के अनुसार व्रात्य का जो विवरण उपस्थित किया गया है वह इस प्रकार है:—व्रात्यः व्रियन्ते देहेनेति व्रताः, तेषां समूहाः व्राताः, जीवसमूहाः इत्यर्थः। तेषां पतिर्व्रात्यः परमेश्वरः, वृण्वन्ते इति व्रताः, तेभ्यो हितः व्रात्यः। व्रतेषु भवो वा व्रात्यः।

अर्थात् जो देहधारी आत्मायें हैं, जिन्होंने अपनी आत्मा को देह से ढंका हैं, इस प्रकार के जीवसमूह समस्त प्राणाधारी चैतन्यसृष्टि उसके जो स्वामी हैं वे व्रात्य कहलाते हैं।

अथवा जीवों के लिये जो हितकर उपदेश देते हैं, अथवा व्रत में दीक्षित हैं और व्रत का ही विश्व को विधान देते हैं वे व्रात्य कहलाते हैं। अथर्ववेद १५ वां काण्ड।

जैन धर्म में व्रती को त्रस-स्थावर जीवों का स्वामी कहा गया है। ये व्याख्यायें ठीक जैनशास्त्र में उल्लिखित श्रमण की व्याख्याओं के अनुरूप हैं। व्रती के अर्थ में ही जैन, वैदिक के दृष्टिकोण का साम्य नहीं अपितु वेदों का व्रात्य जैनों का महाव्रात्य साधु है। जैन साधु और अरिहन्त तीर्थङ्करदेव श्रीऋषभदेव आदि अरिहन्तों का जिस प्रकार वर्णन जैनशास्त्रों में उपस्थित किया गया है उसी प्रकार अथर्ववेद के १५ वें काण्ड में २२० मन्त्रों में व्रात्य तीर्थंकर के जीवन का वर्णन प्राप्त होता है। संक्षेप में उसे उपस्थित करने का यहां भी प्रयत्न किया जा रहा है। यथा:—

(१) वह व्रात्य प्रजापति चराचर जीवों का प्रतिरूप में प्राप्त हुवा।

(२) उस प्रजापतिने आत्मा का साक्षात्कार किया, आत्मा का स्वरूप दिव्य स्वर्णमय था।

" व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत् ॥१॥ स प्रजापति सुवर्णमात्मानमपश्यत्। तत् प्राजनयत् ॥ श उदतिष्ठत् ॥ २ ॥ स प्राचीं दिशमनुव्यचलत् ॥ तं बृहच्च रथतरंचादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ ३ ॥ य एवं विद्वासं उपवदति एवमत्राद्य गच्छति य एवं वेद ॥ ४ ॥

(३) वह पूर्वदिशा की ओर गया। उसके पीछे देवता चले। सूर्य–चन्द्र सभीने–पूर्वी संसारने उसका अनुगमन किया।

(४) जो ऐसे व्रात्य की निन्दा करता है वह संसार के देवताओं का अपराधी होता है।

व्रात्य का स्वरूपः—

व्रात्य "प्रजापति" "परमेष्ठी" "पिता" और "पितामह" है। विश्व व्रात्य का अनुसरण करता है। श्रद्धा से जनता का हृदय अभिभूत हो जाता है। व्रात्य के अनुसार श्रद्धा, यज्ञ, लोक और गौरव अनुगमन करते हैं।

व्रात्य राजा हुवा। उससे राज्यधर्म का श्रीगणेश हुवा। प्रजा, बन्धुभाव, अभ्युदय और प्रजातन्त्र सभी का उसीसे उदय हुवा। व्रात्यने सभा, समिति, सेना आदि का निर्माण किया।

"तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानु-व्यवर्तयन्तः। एनं श्रद्धा गच्छति एनं यज्ञो गच्छति एनं लोको गच्छति। सोऽअरज्यत् ततो राजन्योऽजायत, स विशः स बन्धूनमयथमभ्युदतिष्ठत्॥"

—अथर्ववेद, १५ काण्ड

इन शब्दों द्वारा भगवान् ऋषभदेव का प्रारम्भिक परिचय दिया है। कृषि, मसि, असि कर्मयोग का व्याख्यान व्रात्यने प्रथम २ उसीमें दिया।

अयोध्या पूर्व की राजधानी है और ऋषभदेव की जन्मभूमि।

फिर ऋषभदेव के संन्यास, तप, विज्ञान और उपदेश सभी का यथाक्रम वर्णन किया है।

व्रात्यने फिर तप से आत्मसाक्षात्कार किया, सुवर्णमय तेजस्वी आत्म लाभकर व्रात्य महादेव बन गये। (स महादेवोऽभूत्)।

व्रात्य पूर्व की ओर गये, पश्चिम की ओर गये, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं की ओर उन्मुख हुए। चारों ओर उनके ज्ञान, विज्ञान का आलोक फैल गया। विश्व श्रद्धा के साथ उनके सामने नत मस्तक हो गया।

व्रात्य की नारी श्रद्धा थी, मागध उनका मित्र था, विज्ञान उसके वस्त्र थे।

व्रात्य एक वर्षतक निरन्तर खड़ा ही रहा। वह तपस्या में लीन था। देवताओंने कहाः—

"व्रात्य! किं तु तिष्ठसि।" "व्रात्य! तुम क्यों खड़े हो?"

"वेद आस्तरणम्, ब्रह्मोपबर्हणम्" व्रात्य का ज्ञान ही बिछौना था। अथर्ववेद १५ वां काण्ड॥ और ब्रह्मचर्य उसका सिरहाना था। देवजन उसके सिपाही, विद्वान्‌गण संकल्प से ही दूत तथा समस्त प्राणी उसके सभासद थे।

जो व्यक्ति इस प्रकार के व्रात्य स्वरूप से परिचय प्राप्त कर लेता है उसके पास समस्त प्राणी निर्भय हो जाते हैं।

" व्रात्य का संघतंत्र "—

व्रात्य सभी दिशाओं का राजा है। पूर्व दिशा उसके राज्य में मुख्य कर्मचारी है (जैन तीर्थंकर देव का पूर्व में धर्म प्रधान रहा है)। (वैदिक धर्मावलम्बी तो अंग-वंग, कलिंगादि पूर्व देशों में जाना प्रायश्चित्त का कारण मानते हैं)। रुद्र उस व्रात्य का भृत्य है। " रुद्रमेनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनु० इत्यादि। व्रात्य के राज्य में "नास्य पशून् समानान् हिनस्ति " पशुओं को समान समझा जाता है। उन्हें मारा नहीं जा सकता है। हिंसा निषिद्ध है।

व्रात्य सभी दिशाओं का स्वामी है। जैन धर्म के अनुसार तीर्थंकर देव १८ भाव-दिशाओं के नाथ होते हैं। १८ भाव-दिशाओं का विश्लेषण जैनधर्म में आचारांग अध्याय १ के प्रारम्भ में ही मौलिक रूप से किया गया है।

व्रात्य ऊर्ध्व दिशा की ओर गये। वहां वह सिद्धावस्था में अवस्थित है। वह व्रात्य ही समस्त व्रतों का विधाता और करुणा का समुद्र है। "व्रात्यने ही मनुष्य को अन्न और अन्न खाने की शक्ति दी है " (जैनशास्त्र कल्पसूत्र ऋषभदेव वर्णन में)

" व्रात्य प्रेम का राजा था। उसीने सभी समिति की नींव डाली। " व्रात्य के आदररूप में अथर्ववेद में बहुत विस्तृत व्याख्या दी गई है। जैसे—

जो व्रात्य परमव्रात्य के स्वरूप को जान कर राजा के घरों में अतिथि हो कर आता है तो राजा और प्रजा व्रात्य को अपने आत्मा के कल्याण का मार्ग मान कर उसका आदर करे। वैसा करने से क्षात्र बल का और राष्ट्र का अपराध नहीं करता है। "श्रेयांसमेनं आत्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय न वृश्चते राष्ट्राय न वृश्चते " अथ० वे० १५ काण्ड। क्यों कि उसी व्रात्य से क्षात्र और ब्रह्मबल उत्पन्न हुए हैं।

वह व्रात्य जिस निर्दोष गृहस्थ की गृही बस्ती में एक रात्रि अतिथि रूप में ठहर जाता है। (एका रात्रिमतिथि गृहे वसति)। वह गृहस्थ पृथ्वी के पुन्य का उपार्जन कर लेता है। दो-चार रात्रि बिता लेता है तो असीम लाभ प्राप्त होता है।

यज्ञ के समय व्रात्य आ जाय तो याज्ञिक को चाहिए कि व्रात्य की इच्छानुसार यज्ञ को करे अथवा बन्द कर दे। जैसा व्रात्य यज्ञविधान करे वैसा करे।

विद्वान् ब्राह्मण व्रात्य से इतना ही कहे कि जैसा आप को प्रिय है वही किया जायगा।

वह व्रात्य आत्मा है। आत्मा का स्वरूप है। आत्मसाक्षात् द्रष्टा महाव्रत के पालक व्रात्य के लिये नमस्कार हो (" नमो व्रात्याय ")।

यह सब उल्लेख अथर्ववेद के १५ वें काण्ड में से ही उद्धृत किया गया है ।

वेद और स्मृति में व्रात्य—

यद्यपि वेद में और स्मृति में व्रात्यविषयक अन्तर है। क्योंकि वेद में व्रात्य को परमेश्वर, आत्मद्रष्टा, मुनि के रूप में चित्रित किया गया है। जो अक्षरशः जैन तीर्थंकर का वर्णन है। किन्तु स्मृति के युग में आर्य जाति में धर्म के नाम से संकीर्णता घुस जाने के कारण व्रात्य को निन्दित तक बताया गया है और यह सम्भव भी है। क्यों कि जैनशास्त्रों में अरिहन्तों का श्रावकों के प्रति (मनुष्य के लिये) गौरवमय उच्चारण "देवानुप्रिय" रहा। जिसका सामान्य अर्थ देवताओं से भी अधिक प्यारे लगनेवाले मानव होता है। किन्तु पाणिनीय व्याकरण में साम्प्रदायिक संकीर्णता के कारण " देवानां प्रियः " का अर्थ मूर्ख जड़ किया गया है।

अतः भारत में यज्ञ और व्रत की खोज वेदों के आधार पर अधिक प्रामाणिक रूप से की जा सकती है।

ब्राह्मण और श्रमण का संघर्ष तो वेदों के युग में ही चल रहा था, किन्तु वेदों में दोनों (यज्ञ, व्रत) सम्बन्धी सूक्तों का संग्रह हुवा है और साथ में उनके विवादों का भी उल्लेख हैं। जैसेः—हे इन्द्र! इन व्रतधारी यज्ञविरोधी दस्युओं को शीघ्र मार, नाश कर, इसी तरह अन्य भी मंत्र हैं। जिन से यह प्रमाणित होता है कि व्रात्यों के विषय में सुन्दर असुन्दर उभय प्रकार का साहित्य वेदों में संग्रहीत[1] है। इस का कारण है व्रात्यों का यज्ञ-विरोध। माना कि यज्ञ और व्रत भारतीय संस्कृति के मुख्य प्रेरणास्त्रोत रहे हैं। और दोनों में ही उत्सर्ग की प्रधानता रही है। किन्तु यज्ञ में बाह्य वस्तुओं का समर्पण और ऐन्द्रिय सुखैषणा काम करती है। व्रतों में बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा आत्मोत्सर्ग को प्रधानता दी गई है। अतः जैन धर्म में संयम, नियमन, परिग्रह, कष्ट सहिष्णुता और इच्छानिरोध को ही मुख्यता दी गई है।

व्रती का लक्ष्य एक मात्र आत्मसाक्षात्कार, अन्तर्नाद और परमात्मपद प्राप्ति है और याज्ञिक का ध्येय स्वर्ग तथा लोकैषणाप्राप्ति के लिये अनुष्ठान और सोमपान की ओर प्रवृत्त होना है।

'यह अन्तर और बाह्य का विरोध है। व्रात्य पशुओं का वध यज्ञ में होता देख नहीं

---

१ अकर्मा दस्युरभितो अयन्तु।

सकता था और अहिंसा की स्थापना करना चाहता था। इसी लिये पशुवध रोकने के कारण याज्ञिक उन्हें विघ्नकर्ता, अनार्य, असुर, म्लेच्छ कहा करते थे। व्रात्य भौतिक देवताओं को न मानने से " अदेवयुः " यज्ञविरोधी होने से अयज्वन, अन्यव्रत, अकर्मन् आदि नामों से पुकारे जाते थे।

व्रात्य और यज्ञसमर्थक विचारों का प्रभाव आर्य जाति की एक टुकड़ी पर ही नहीं पड़ा था, अपितु देश के देश बंटे थे। आर्यावर्त अथवा भारत की समूची जनता इन दोनों आन्दोलनों में बट गई थी और यहां तक कि सैद्धान्तिक और वैचारिक विभिन्नता प्रादेशिक विभिन्नता का भी कारण बनी। शतपथ ब्राह्मण, वाजसनेयी संहिता में आर्य और व्रात्यों का सीमा निर्द्धारण भी बतलाया हुवा है।

व्रात्यों और आर्यों (आर्य-इतिहास-युग में आये हुये याज्ञिक आर्य लोग) का प्रादेशिक प्रभाव काबुल, चिनाब, सतलज, गोमती, झेलम, व्यास, गंगा और यमुना तक व्याप्त था अर्थात् अफगानिस्तान से लेकर गंगा की घाटी तक आर्यों का निवासस्थान था।

अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के मन्त्रों के अनुसार व्रात्य पूर्व और दक्षिण में निवास करते थे[1]।

वाजसनेयी संहिता और स्मृति के अनुसार ६ पूर्वी और एक दक्षिण निकट स्थित देशों में तीर्थयात्रा करने का निषेध किया है।

अंगवंगकलिंगेषु सौराष्ट्रमागधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गच्छेत् पुनः संस्कारमर्हति॥

कुरु पाञ्चाल में एक छत्र ब्राह्मणों का (यज्ञसमर्थक) शासन था और अंग, बंग आदि में व्रात्यधर्मियों का। अतः व्रात्यों की ओर जाकर कभी धर्मविमुख न हो जाय इसी लिये तीर्थयात्रा के सिवाय जाने पर पुनः संस्कार का विधान किया गया।

व्रात्यों और याज्ञिकों की अहिंसाविषयक मान्यता को लेकर दोनों विचारधाराओं के अनुयायियों में कितनी बार संघर्ष, युद्ध और विवाद उठे हैं। ऋग्वेद में कीकट देश (वात्यों का प्रान्त) की कड़ी भर्त्सना की है। अन्यत्र व्रात्यों के विषय में स्तुतिपरक मन्त्र भी उपलब्ध होते हैं। जिससे हमें व्रात्यों और याज्ञिकों को अत्यन्त प्राचीन मानने में कहीं भी संदेह का स्थान नहीं दीखता है।

पुरातत्व के आधार पर आर्य और व्रात्यः—

व्रात्यों और ब्राह्मणों का विकासक्रम जानने के लिये हमें अतीत के उस पाषाणयुग

---

१ कीकटेषु० ऋग्वेद ३, ५३, १४ प्रियंधाय भवति प्राच्यां दिशि, अथर्व १५।

और धातुयुग में जाना पड़ेगा जहां 'मोहनजोदड़ो' और 'हरप्पा' की सैन्धव और व्रात्य सभ्यता की जन्म कहानी शिलाङ्कित की गई है।

व्रात्य सभ्यता का प्रभाव उत्तर पश्चिम के सैंधवों और दक्षिण के द्रविड़ों, पूर्व के आर्यों, क्षत्रियों तथा मगध के जनपदों पर व्यापक रूप से पड़ा था। क्यों कि उनकी धार्मिक विशेषता सर्वजातिसमानत्व का विधान करती थी। किन्तु आर्यों का अग्नि-पूजन, यज्ञ-क्रिया विभिन्न जातियों से बंधी हुई थी। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय ही मुख्य रूप से भाग ले सकते थे। अतः पुरातत्व के आधार पर भी यदि दोनों संप्रदायों का विश्लेषण किया जाय तो हमें कहना पड़ेगा कि प्रारम्भ से ही जो यज्ञ के शिलालेख, यज्ञ की प्रस्तरीय प्रतिकृति जहाँ-जहाँ उपलब्ध हैं, वहाँ-वहाँ ब्राह्मणों के सिवाय अथवा ब्रह्मर्षियों के सिवाय दूसरी जाति का दर्शन आप को नहीं मिलेगा। तक्षशिला, मोहनजोदड़ो, हरप्पा, मथुरा के टीले से मिले शिलालेख, उड़ीसा की हाथीगुफा से प्राप्त खारवेल के शिलालेख, उज्जैन की प्राचीनतम प्रस्तर कृतियें इन मुनियों को, ऋषभदेव को, धार्मिक-सभा को, उपदेशों को अधिक व्यापक और सर्वजाति और सर्वजीवसमानत्व के लिये विश्वप्रेम प्रकट करती हैं। आर्यों से पूर्व भारतवर्ष में द्रविड़ों और आग्नेयों का पर्याप्त विकास हो चुका था।

आर्य-पारसी—

भारत में अहिंसा का दर्शन प्राचीन कालसे विकसित होता आया है और उसका मूल स्रोत व्रात्यों से है। आर्य जातियों का पारसियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है अपेक्षाकृत व्रात्यों के—

जैंद अवेस्ता और ऋग्वेद के मंत्रों और देवताओं में पारस्परिक विरोध और अविरोध मौलिक एकता को प्रकट करता है। ईरानी और आर्यन् शब्द का एक ही अर्थ है। अहूर मज्द और असुर दोनों एक ही शब्द है। (विस्तार से अन्यत्र अथवा पारसी धर्म पर लेखक का स्वतंत्र भाषण पढ़िये) जेंद अवेस्ता और ऋग्वेद की याज्ञिक सभ्यता अग्निपूजक पारसियों के साथ अधिक समानता रखती है। किन्तु वैदिक अहिंसा का विवरण व्रात्यों से प्रभावित हो कर ही प्राचीन आर्यों में विकसित हुआ है।

यद्यपि हमें वेद के उन तमाम मंत्रों में से कतिपय याज्ञिक मंत्रों और अहिंसा प्रतिपादक मंत्रों का अवगाहन करना पड़ेगा। जिन से दोनों विचारधाराओं की प्राचीनता, समवय-एकता और मौलिक विभिन्नता का भी पूर्णतया बोध हो सके। ऋग्वेद के सहस्रों मंत्रों में सर्वविचारसमन्वय के सूक्त अपना अलग महत्व रखते है। तो भी निष्पक्ष रूप से व्रात्य और यज्ञ को केन्द्र में रख कर मंत्रों का वर्गीकरण करें जिस से याज्ञिकों और व्रात्यों की मूल मान्यताओं को ढूंढा जा सके।

भौगेषणा से युक्त था। आर्यों के अदम्य साहस की अभिव्यक्ति तथा सिद्धान्तों की अनुक्रमणिका इस प्रकार बताई जा सकती है:—

(१) " स्वर्गकामो यजेत पशुमालम्मेत " (ऋग्वेद)–स्वर्ग का इच्छुक यज्ञ करे और पशुवध करे।

(२) " उपसर्व मातरम् भूमिम् " (ऋग्वेद १०–१९–१)–मातृभूमि की सेवा करो।

(३) " माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या " (अथर्वेद १२–१–१२)–यह भूमि मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।

(४) " यत्ते महि स्वराज्ये " (ऋग्वेद ५–६६–६.)–स्वराज्य के लिए प्रयत्नशील रहें।

(५) " कृतं में दक्षिणे हस्ते जयो में सत्य अहितं " (अथर्व) पुरुषार्थ मेरे दक्षिण हस्त में और जय बायें हाथ में।

(६) " शत हस्त समादर सहस्र हस्त संकिर " (अ. ३–२४–५)–" सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजारों हाथों से बांट दो। "

इन मंत्रों से बाहर से आये हुए आर्यों की ज़िन्दादिली प्रकट हो रही है। और मालूम हो रहा है कि आर्य कहीं बाहर से इधर आये हैं। और उनके मन में महत्वाकांक्षाएं लहरें ले रही हैं।

इनके मुख्य विश्वास व्रात्यों से एकदम भिन्न थे जैसे–ना पुत्रस्य लोकोऽस्ति।

(एतरेय ब्राह्मण ७–१३)

आर्यों में ऋषि और व्रात्यों में मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक और प्राग्वैदिक दोनों विचारधाराओं को स्पष्ट कर देता है। ऋषि कोई आश्रम नहीं है और न ही कोई उनमें व्यवस्थात्मक धर्म-ग्रन्थ है। और न ही कोई ऋषियों के संघ पर नियम–उपनियम शासन कर रहे हैं। किन्तु मुनि श्रमण शब्द का पर्याय है।

मुनि का जो आदर्श व्रात्यपरम्परा में उपलब्ध होता है उसका वेद में किसी भी जगह उल्लेख तक प्राप्त नहीं होता। हाँ, उपनिषद, पुराण आदि स्मृतियों के युग में मुनि शब्द व्रात्यों से पकड़ लिया गया और उसका विधान साक्षात व्रात्यों की ही परम्परा से लिया गया है।

बृहदारण्योपनिषद् में पुत्र के बिना कल्याण असंभव है। स्वर्ग के सम्बन्ध में आर्यों की मान्यता थी कि " एक तेज घोड़ा हजार दिनों में जितना चलता है उतनी ही दूर यहां से स्वर्ग है। "

" सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः " (ऐतरेय ब्राह्मण २–१७)

वह स्वर्ग यज्ञ से प्राप्त किया जा सकता है।

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमंकर्म" (शतपथ ब्राह्मण)

"यज्ञ सभी कर्मों में श्रेष्ठ है," अग्निहोत्र ही यज्ञ है। विना पत्नी के यज्ञ कभी नहीं हो सकता।

"अयज्ञो वा एवः। योऽपत्नीकः" (तै. ब्रा. २-२-२-६)

आर्यों में अहिंसा के स्थान पर सत्य की खूब प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मण ही मनुष्यों के देवता है। "अथ है ते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणाः" (षड्विंश १-१) यज्ञोपवीतधारक ही यज्ञ कर सकता है। (तैतरीयान्यक)

इत्यादि बातों से तथा सामान्य मुनि की परिभाषा बताते हुए लिखा है—

"आत्मा को जाननेवाला ही मुनि हो सकता है। मुक्ति-लोक की इच्छा रखनेवाले ही मुनिधर्म का अनुसरण करते हैं। अतः मुनि पुत्र, धन और कीर्ति को त्याग कर भिक्षा पर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। (बृहदारण्योपनिषद् ४-४-२२)

इस से आगे सामवेदीय गौतम-संहिता में से अवशिष्ट गौतम धर्मसूत्र में संन्यासी धर्म का विवेचन करते हुए लिखा है-भिक्षु को सर्वथा अपरिग्रही होना चाहिए (अनिचयो भिक्षु)। पूर्ण ब्रह्मचारी वर्षाकाल में उसे एक स्थान पर ही स्थिर वास करना चाहिए। वर्षाकाल के अतिरिक्त संन्यासी दो रात एक ग्राम में न रहे। (गौतम धर्म ११ सूत्र)

इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि व्रात्य परम्परा के श्रुतज्ञान से अर्थात् जैनागमों के वाक्यों से भी यह आर्यब्राह्मण और व्रात्यों का भेद भली-भांति जाना जा सकती है।

ऐतरेय ब्राह्मण में जहाँ "चरन्वै विंदति मधुं चरन्स्वादु मृदुम्बरम्" कह कर मधु और उदुम्बर फल की प्राप्ति का आश्वासन दिया है वहाँ व्रात्यधर्म में मधु और उदुम्बर फल दोनों का पूर्णतः विरोध पाया जाता है।

यही क्या, व्रात्य और ब्राह्मणों में जीवन दर्शन के मौलिक-दृष्टिविंदु में भी महान अन्तर पाया जाता है। व्रात्य का साध्य मुक्ति है और याज्ञिक का प्राप्य स्वर्ग है। संक्षेप में आर्य जीवन को रसमय, भोगमय और वैभवमय बनाने में अपनी इतिमत्ता मानते थे और व्रात्य वैभव, सम्पत्ति, परिग्रह को त्यागने में ही मोक्ष मानते थे। व्रात्य और इनके अनुयायी भारतीय थे। वे भोगवाद से उकता गये थे। किन्तु आर्य अभी सीधा संस्कृत में अनुदित कर दिया है। नहीं तो मुनि और तपस्वियों का विधान तथा साधुव्यवस्था वेदों में कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

प्राचीन वेदों को ही केवल यदि वैदिक धर्म का आधार मान लिया जाय तो हमें

निश्चित उन भारत के ब्रह्मर्षियों के खेल का स्पष्ट भान हो जायगा कि हिन्दुधर्म को श्रुतिधर्म न कह कर श्रुतिस्मृतिधर्म, निगमागमधर्म और श्रोतस्मृतिधर्म क्यों कहा जाता है ?

व्रात्यों के ज्ञान, व्रत, विचार और आचार तथा व्यवस्थाओं को पुराणों की स्मृतियों में इस प्रकार समन्वित कर दिया है कि कोई आर्यकालीन वेदों से प्राक् अहिंसक संस्कृति की कल्पना भी नहीं कर पाये। रुद्र और शिव की पूजा, भगवान भौतिक ऐपणाओं के पराधीन थे। मानसिक-तृप्ति और आत्म-तुष्टि यही दोनों में मुख्य अन्तर था। व्रात्यों का अटूट विश्वास था कि मुक्ति आत्म-समाधि में है और वह केवल त्याग और निवृत्ति से ही प्राप्त की जा सकती है। किन्तु आर्यों का विश्वास भोग और उसके साधन यज्ञ पर टिका हुआ था। यह कारण है कि उस प्राचीनकाल का भी निवृत्ति और प्रवृत्ति, यज्ञ और व्रत का संघर्ष जोरों का रहा है। और वेदों में भी यज्ञ के समर्थन और विरोध में दोनों प्रकार की वाणियों का समावेश हो गया है।

व्रात्यों का संस्थापकः—

इन तमाम चिन्तनों से इस निर्णय पर तो हम पहुंच जाते हैं कि व्रात्य धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म है। ऋषभदेव को २४ अवतारों में अष्टम अवतार मानना और बुद्ध भगवान को दस अवतारों में अष्टम अवतार मानना ही इस विलयन नीति का रहस्य उद्घाटन करता है।

शतपथ ब्राह्मण में जहाँ एक ओर मांस को श्रेष्ठ अन्नाद्य बताया है और देवताओं को मांसप्रिय भी कहने में स्मृतियों ने संकोच नहीं किया हैं, वहाँ उपनिषदें अहिंसा को परमधर्म, मांस को निन्द्य कहने लग पड़ी हैं। यह सब आर्य-संस्कृति का व्रात्यों के प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी विलयन नीति का अनुकरण है। कहने का आशय यह नहीं कि अच्छी बात का अनुकरण नहीं करना चाहिए-अपितु करना ही चाहिये। किन्तु उसका व्यवस्थापक और निर्माता कौन ? यह प्रश्न तो हमारे सामने ही खड़ा रहता है।

विश्व के गण्यमान्य ऐतिहासिकों ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि व्रात्य संप्रदाय के आधुनिक संस्करण को श्रमणधारा अथवा जैनधर्म कहा जाता है। आज भी जैनधर्म का शास्त्रीय नाम व्रात्य, व्रती, महाव्रती, अणुव्रती, सुव्रती, व्रताव्रती, आदि विभागों पर ही अवलम्बित है। यद्यपि व्रात्यों की त्याग-वृत्ति से अभिभूत कितने ही सम्प्रदाय वैदिक और अवैदिक रूप से भारत में विकसित हो चुके हैं; किन्तु व्रात्य संस्था का अविकल रूप ही रखने का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह जैन सम्प्रदाय को ही।

जैन सम्प्रदाय व्रत को अपना मुख्य धर्म मानती है और उन व्रतों के मूल व्याख्याकार

भगवान ऋषभदेव हैं। व्रात्य सम्प्रदाय के वे ही मूल प्रवर्तक और संस्थापक थे। सायण ने व्रात्य की परिभाषा बताते हुए जिन विशेषणों को उद्धृत किया हैं—वे भारत सम्राट् के पिता ईक्ष्वाकु वंश के प्रणेता भगवान ऋषभदेव को ही दिये जा सकते हैं। ऋषभदेव का चिह्न बैल "वृषभ" था। आर्य और व्रात्यानुयायी सैंधवों और द्रविड़ों का भी–चिह्न 'वृषभ' था। आर्य गायको पूजते थे और सैन्धव आदिवासी आर्य वृषभ को। वास्तव में यदि पूरी खोज की जाय तो हमें इस रहस्य का उद्घाटन करने में पूर्णतः सफलता मिल सकती है कि शिव, रुद्र, आदिनाथ ये सब उस ऋषभदेव के नाम हैं। शिव, सिद्धशिला, पार्वती, रत्नमय त्रिशूल, अहिंसा का प्रतीक वृषभ उसी ऋषभीय संस्कृति के उपकरण हैं। अब भी भारत में शिव और रुद्र ये दो ही रूप पूजे जाते हैं। जंगली जातियां रुद्र के नाम से और सभ्य शिव के नाम से उसी ऋषभदेव को पूजती हैं। लिंगोपासना ऋषभ–संस्कृति में कैसे प्रविष्ट हुई और असभ्य लोगों ने उसका शिव के साथ सम्बन्ध बैठाया अथवा किसी कल्याणकारक तत्व का प्रतीक विशेष वामियों शैवों और इन्द्रियपोषकों का कैसे लक्ष्य बन गया यह इतिहास अभी अंधेर में हैं। आर्यों ने जंगली लोगों को शिश्न देवा भी कहा है। हो सकता है कि अर्द्ध सभ्य जातियें लिंगोपासना करती आई हों। फिर भी शिव और ऋषभदेव का सम्बन्ध परस्पर में मिलता अवश्य है। वेदों में व्रात्य मुनियों को इन्द्रिय–निग्रही, निर्मोही, त्यागी तथा त्रिगुप्ति का धारक बतलाया है। यह तपस्या का स्वरूप भगवान ऋषभदेव से परिपूर्ण सम्बद्ध है। ऋषभदेव की परम्परा क्षत्रियों के हाथों में आज तक सुरक्षित रही है। वेदकाल में यज्ञ को केवळ ब्राह्मण ही मानते थे, क्षत्रियों को यज्ञ का अधिकारी नहीं माना जाता था। फिर अहिंसा के सामने यज्ञों की रक्षा करना ब्राह्मणों के बूते की बात नहीं रही। किन्तु क्षत्रियों और ब्राह्मणों में जहाँ दूसरे वैचारिक और रक्त के अन्तर थे, वहां पर सैद्धांतिक और धार्मिक अन्तर भी था। इसी धर्म–भिन्नता (हिंसा अहिंसा) के नाम पर ब्राह्मणों और क्षत्रियों में ठन जाती है। क्षत्रिय सुव्यवस्थित थे और ब्राह्मणों को दबना पड़ता था। इसी लिये वेद में युद्ध में जीतने के लिए बहुत सी प्रार्थनाओं का सद्भाव पाया जाता है। परशुराम का २१ बार पृथ्वी को निक्षत्रिय बनाना इसी संघर्ष का द्योतक है। ब्राह्मणों की धाक एक बार भारत पर पूर्णतः बैठ गई थी, किन्तु ब्राह्मण उस राज्य को संभाल न सके। और कश्यप को पाताल में धसती हुई और अराजकता परिपूर्ण पृथ्वी को अपनी जांघ से रोकना पड़ा और बचे हुए ईक्ष्वाकु वंशीय राजपुत्रों को पृथ्वी सौंपनी पड़ी (महाभारत शान्तिपर्व अ. ५०)। यह कहानी ब्राह्मण और क्षत्रिय संघर्ष और संधि दोनों को स्पष्ट कर रही है। इसी समझौते के फलस्वरूप ब्राह्मण और क्षत्रियों के देवताओं, धर्मों, मान्यताओं में आदान–प्रदान हो गया और परस्पर एक

दूसरे को समझने का अवसर प्राप्त हुआ। यह काल भारत में आदान-प्रदान का था। इसी लिये ऋग्वेद और दूसरे ब्राह्मण ग्रंथों में व्रात्य संप्रदाय की मान्यताओं की चर्चा की उदारता दिखाई गई है।

स्वयं ऋग्वेद में भगवान ऋषभदेव से प्रार्थना की गई है " आदित्य त्वमसि आदित्य सद् आसीत् अस्तभ्रादधां वृषभो अंतरिक्षं जमि×ते वरिमागम पृथिव्या आसीत विश्व भुवनानि सम्राट् विश्वेतानि वरुणस्य वचनानि " (ऋग्वेद ३०, अ० ३) अर्थात् " हे ऋषभदेव! सम्राट्! संसार में जगतरक्षक व्रतों का प्रचार करो। तुम ही इस अखण्ड पृथ्वीके आदित्य सूर्य हो, तुम्हीं त्वचा और साररूप हो, तुम्हीं विश्वभूषण हो और तुम्हीं ने अपने दिव्य ज्ञान से आकाश को नापा है। "

इस मंत्र में वरुण वचन से व्रतों का संकेत किया गया है। वास्तव में व्रतों के उद्गाता भगवान ऋषभदेव ही थे। इस तथ्य को वेद ने ही नहीं, मनुजीने भी स्वीकार किया हैं। और मनुस्मृति में उन्हें वैवस्वत सत्यप्रिय-व्रत-अग्निध्रम नाभि और ईक्ष्वाकु (ऋषभदेव) को छठ्ठा मनु स्वीकार किया है। और वेदकालीन दूसरी सूची अनुसार वैवस्वत-वेन-घृष्णु इस प्रकार बताया गया है। जैन आगमों में १४ मनुओं के स्थान पर सात कुलकरों का वर्णन प्राप्त होता है और उसमें सातवें कुलकर का नाम नगमे और ऋषभदेव बताया गया है।

वेद के आधार पर यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि व्रात्य सम्प्रदाय के मूल संस्थापक और भारतीय संस्कृतिप्रतिष्ठापक भगवान ऋषभदेव थे। कहने का सारांश इतना ही है कि ऋषभदेव ने व्रात्य धर्म, त्याग धर्म और परमहंस धर्म का प्रतिपादन किया जिसका अविकल और अक्षुण्ण रूप जैन धर्म है। जैन धर्म और व्रात्य धर्म दोनों पर्याय हैं।

व्रात्यधर्म का आदि इतिहास वेद प्राक्कालीन से प्रवाहित है। जब आर्यों के आगमन और वेदों के निर्माण जैसे ऐतिहासिक तथ्यों पर भी संसार का कोई इतिहासज्ञ अन्तिम और प्रमाणिक मत नहीं बना पाया है तो वेदों से भी प्राचीन व्रात्यों का आदि इतिहास कौन निर्धारित कर सकता है? इतिहास तो केवल इतना कह कर मौन हो जाता है कि व्रात्यों का जब वेदों में वर्णन प्राप्त होता है तो व्रात्य शाखा का प्रवचन वेद प्राक्कालीन ही मानना पड़ेगा। व्रात्य संप्रदाय उन सार्वभौम उदार विश्वहितकारक नियमों का संग्रह है जिन्हें संसार के विराट महापुरुष ऋषभदेवने संसार के सामने अनुभवपूर्वक निर्देशित किया था। यदि जीव-शोधन की वृत्ति और विकारनिरोध चिकीर्षा को जैनधर्म माना जाय तो वह सदा शाश्वत धर्म है। वास्तव में जैनधर्म विचारप्रधान है। आचारों की मुख्यता होने पर भी विचारों के

विना आचार को जैनधर्म में एक मिथ्याचार वताया गया है। संसार में जिस दिन बुराइयों के विरोध में भोग को त्याग से प्रताड़ित करवाया गया था व भूत, देव और स्वर्ग तथा इन्द्र की दासता से मानवता को मुक्ति दिलाई गई थी उसी दिन जैनधर्म का स्वरूप विकसित हुआ था। जैनधर्म अहिंसा का झण्डा उठाये संसार के सामने खड़ा है। वह मनुष्य की पाशविक वृत्तियों से झूझता आया है—उसका विचारों के रूप में जन्म तो संसार की सभी आत्माओं में होता है; क्योंकि आत्मा के स्वभाव का नाम ही जैनधर्म है। किन्तु एक विशिष्ट पद्धति, अहिंसक की व्याख्या तथा आत्मविकास का मार्ग, तत्वज्ञान और पद्धति, आचार तथा विचार—मीमांसा के नाते हम जैनधर्म के उदयकाल को खोजना प्रारम्भ करें तो हमें व्रात्यधर्म को जानना होगा। और व्रात्यधर्म के संस्थापक भगवान ऋषभदेवजी इस धर्म के संस्थापक थे। वे जितने प्राचीन हैं—उतना ही उनके धर्म का उदयकाल प्राचीन है।

व्रात्य धर्म का अन्य धर्मों पर प्रभावः—

व्रात्यों से व्रत और ब्राह्मणों से कर्मने समन्वित होकर आर्य धर्म को स्वरूप दिया है। किन्तु हमारे इस विशाल विश्व पर व्रात्यों की अहिंसा व्रतकी छाप जितनी गहरी और गम्भीर पड़ी है, उतनी सायद अन्य किसी धर्म की नहीं पड़ी है। भारत में वेद के माननेवालों में ही यज्ञविरोधी भावना तथा अहिसादि व्रतों का प्रभाव व्रात्यों की देन है। बौद्धधर्म इसी व्रात्य-धर्म की एक शाखा है। स्वयं महात्मा बुद्धने मज्जिमनिकाय में यह स्वीकार किया है कि मैंने व्रात्यधर्म के (जैनधर्म) साधु के पास रह कर ही श्रमण धर्म की दीक्षा ली और ज्ञान सीखा था। उस जैन साधु का नाम पिथा गुरु था। बुद्धने कहा है कि मै वस्त्र—रहित रहा, हाथ पर भोजन करता था। लाया हुआ उच्छिष्ट और निमंत्रण का भोजन नहीं खाता था। मछली-मांस, मदिरा और घास का पानी नहीं पीता था। केशों का लुंचन करता, पानी के जीवों पर भी दया करता था। परिषह सहन करता और ध्यान—मग्न रहता था।

बौद्ध भिक्षुओं तकने स्वीकार किया है कि महात्मा बुद्ध पर भगवान पार्श्वनाथ के साधु पिहितास्रव की गहरी छाप पडी थी। भगवान बुद्ध के अंतरंग में व्रात्यों का ज्ञान ही भरा पड़ा था। उसीके आधार पर कुछ मतभेदों के साथ उन्होंने बुद्धधर्म की व्यवस्था की है।

ईस्वी सन् ५९० वर्ष पहले ये जन्मे थे। यूनान इन का देश था। भारत में यात्रार्थ आये हुए इन्हें व्रात्य मुनियों से वैराग्य लगा। इटली के नूमापोम्पिलयस—राजा को अपना शिष्य बनाया था। सन् १८ में उत्पन्न हुए लैटिन के कवि ओविद ने पिथागुरु का चरित्र और उनकी शिक्षाएं लिख कर प्रसिद्ध की थी। पिथागुरुने जैन तत्व ज्ञान को बहुत ही सुन्दर रूप

से उपस्थित किया है। महीका (?) सेमेटिक धर्मों पर व्रात्य धर्म का गहरा प्रभाव है। ईसाई और मुसलमान धर्म में व्रात्यधर्म के अहिंसादि व्रतों की उपासना का उल्लेख ही व्रात्य प्रभाव को स्पष्ट भी कर रहा है।

संक्षेप में व्रात्य धर्म के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत ही सभी धर्म समाविष्ट हो गये हैं। जैन धर्म की अहिंसा से पुराण, बौद्धों का भागवत और वैष्णवों का प्रादुर्भाव हुआ है। जैन धर्म की समता और प्रेम से ईसाई और मुसलमान धर्म का अवतार हुआ है। जैन धर्म के सदाचार से कनफ्यूसियस और दान को लेकर पारसी धर्म का अवतार हुआ है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि व्रात्य धर्म का संसार के सब धर्मों पर प्रभाव पड़ा है और अहिंसा की प्रेरणा इसी धर्म से सबको प्राप्त हुई है।
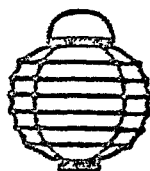
" जैनधर्म की प्राचीनता और उसकी विशेषताएँ "

ले० उदयलाल नागोरी, बीकानेर

भारतवर्ष के सब धर्मों में सबसे प्राचीन धर्म है तो जैनधर्म ही। अगर किसी धर्म में गहन से गहन श्रेष्ठ और सत्य दर्शन (Philosophy) है तो जैनधर्म में ही। वर्तमान काल के वैज्ञानिक पुरावे मिलते हैं तो जैनधर्म में ही।

जैनधर्म में विविध विषयों पर नाना प्रकार के ग्रन्थ रचित मिलते हैं जो किन्हीं जैन भंडारों में संग्रहीत विद्यमान हों—जैसे अध्यात्म योग, नवतत्व, कर्मयोग, जीवादि के रहस्य आदि से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ प्रस्तुत हैं। कितने ही ग्रन्थ व्यवहार और चरित्र निर्माण में योग देते हैं।

इस प्रकार हम धर्मरूपी सागर पर दृष्टिपात करें तो सर्वाधिक महत्वशाली जीव-प्रधान धर्म जैनधर्म ही दृष्टिगोचर होगा। जैनधर्म में ग्रन्थावलि की कमी नहीं, पर वे ग्रन्थ अभी तक पूरे प्रकाश में नहीं आये हैं और अनुपलब्ध भी हैं। इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों के मन में जैनधर्म के प्रति कुत्सित और घृणित विचार पैदा हुए कि जैनधर्म विशेष प्राचीन धर्म नहीं है[1]। कुछ विद्वानोंने जैनधर्म पर नास्तिक होनेका दोषारोपण किया, कुछ ने इसको बौद्धधर्म की शाखा माना, कुछ ने इसकी उत्पत्ति शंकराचार्य के पश्चात् मानी और कुछने तो इतना दुस्साहस किया है कि उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि जैनधर्म के पार्श्वनाथ और भगवान महावीर कल्पित थे और सच्चे निर्माता गौतमबुद्ध ही थे। इस प्रकार पहले तो यहाँ इन भ्रमात्मक मतों का समाधान कर जैनधर्म की प्राचीनता प्रकट की जायगी और तत्पश्चात् इसकी मुख्य २ विशेषताओं पर क्रमसे विचार होगा।

जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है। पाश्चात्य विद्वान लेथब्रिज, एलफिस्टन, वेबर आदि ने जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा माना, पर जर्मनी के प्रोफेसर सर जेकोबी (JAKOBEE) नामक विद्वान (सर जेकोबी को जैनधर्म की खोज करने का शौक था, इसलिए उसने जैनधर्म के ग्रन्थोंका अध्ययन किया) ने जैनधर्म और बौद्धधर्म का पूर्ण अध्ययन करने पर यह सिद्ध किया कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है और

---

१. अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इसको प्राग्ऐतिहासिक, प्रागार्य और स्वतंत्र धर्म होना लिखा है। अतः ऐसा समस्तस्पर्शी आक्षेप अनुचित है। सपा० दौलतसिंह लोढ़ा।

इसकी उत्पत्ति न तो महावीर के समय (महावीर को निर्वाणकाल में मतभेद है । कुछ ईसासे ५२७ वर्ष पूर्व और कुछ ४६७ वर्ष पूर्व मानते हैं) में हुई और न पार्श्वनाथ के समय में (८७७–७७७ वर्ष ईसासे पूर्व) हुई; बल्कि कितने ही समय पूर्व जैनधर्म की उत्पत्ति हो गई थी अर्थात् जैनधर्म अपनी प्राचीनता की धाक रखना आया है ।

प्रोफेसर जेकोबी के मतानुसार निम्न दलीलें पेश हैं । जिनसे यह स्पष्ट झलकता है कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं, बल्कि इससे भी प्राचीन है । उसके प्रमाणों का सारांश इस प्रकार है:—

(१) अनुगुतरनिकाय के तृतीय अध्यायके ७४ वें श्लोक में वैशालीके एक विद्वान् राजकुमार अभयने निर्ग्रन्थों अर्थात् जैनों के कर्म सिद्धान्तों का वर्णन किया है ।

(२) महावग्ग के छठे अध्याय में लिखा है कि सीह नामक महावीरके शिष्यने भगवान बुद्ध के साथ भेंट की ।

(३) बौद्धोंने कई स्थानों पर जैनियों को अपना प्रतिस्पर्धी माना है, पर कहीं भी जैनधर्म को बौद्धधर्मकी शाखा नहीं बताया ।

(४) बौद्धों ने महावीर के शिष्य सुधर्माचार्य और महावीर के निर्वाणकालका भी उल्लेख किया है ।

(५) अनुगुतरनिकाय में जैनियों के धार्मिक आचार के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है ।

(६) सम्मनफलसूत में बौद्धोंने लिखा है कि महावीरने चार महाव्रत सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह का प्रतिपादन किया था । पर यह उनकी भूल थी; क्योंकि ये चारों व्रत तो महावीर से २५० वर्ष पूर्व भी पार्श्वनाथ के समय से चले आ रहे हैं जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्याय में यह वर्णन मिलता है कि पार्श्वनाथ के अनुयायी महावीर के समय में भी मौजूद थे और वे इन चार व्रत के पालक थे ।

इन अकाट्य प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं, बल्कि उससे भी प्राचीन है ।

जैन धर्मकी उत्पत्ति शंकराचार्य के बाद हुई यह कहना हास्यास्पद है ।

बहुत से विद्वान् यह मानते हैं कि शंकराचार्य (जगद्गुरु) के पश्चात् जैन धर्म की उत्पति हुई । पर यह उनका भ्रम है । क्यों कि इन–इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म की उत्पत्ति जगद्गुरु शंकराचार्य के पश्चात् नहीं हुई ।

(१) सदानंद ने अपने शंकरविजयसार नामक सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ में लिखा है कि शंकराचार्यने कई स्थानों पर जैन मुनियों से शास्त्रार्थ किया था ।

(२) शंकराचार्य ने स्वयं लिखा है कि जैनधर्म बहुत ही प्राचीनधर्म है।

अगर जैनधर्म की उत्पत्ति शंकराचार्य के पश्चात् होती तो ये बातें असम्भव थीं।

जैनधर्म हिन्दूधर्म से भी प्राचीन है।

बहुत से विद्वान् जैनधर्म को हिन्दूधर्म की शाखा मानते हैं, पर यह बात भी निर्मूल है। निम्नलिखित प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म हिन्दूधर्म से भी प्राचीन हैं।

(१) महाभारत के आदि पर्व के तृतीय अध्याय में २३ और २६ वें श्लोक में एक जैन मुनि का उदाहरण दिया गया है।

(२) डॉ राजेन्द्रलाल मित्र ने योगसूत्रों की भूमिका में लिखा है कि सामवेद के समय एक यति था जो हिंसा को बहुत निन्दनीय समझता था। यह जैन यति भी हो सकता है।

(३) सामवेद में जैनियों के प्रथम और २२ वें तीर्थंकर ऋषभदेव और अरिष्टनेमि का नाम आया है।

(क) " ॐ नमो अर्हन्तो ऋषभो ॐ ऋषभ पवित्र पूरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परम साहसं स्तुतं वारं शत्रुंजयं तं पयुरिंद्रमाहुरिति स्वाहा " ॥ अध्याय २५ मंत्र १९।

(ख) ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा। वामोदय शान्त्यर्थमुपविधीयते सो अस्माकं अरिष्टनेमि स्वाहा ॥ "

(४) ऋग्वेद में १, अध्याय ६, वर्ग १६ में २२ वें सूत्रमें जैनियों के तीर्थंकर अरिष्टनेमि का वर्णन आया है।

" ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषाविश्ववेदाः स्वस्ति नस्तार्क्ष्यौ अरिष्ट-नेमिः स्वस्तिनो व्रहस्पतिंदधातु "

उपर के प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म न तो बौद्धधर्म की शाखा, न हिन्दूधर्म की शाखा है और न इसकी उत्पत्ति शंकराचार्य के पश्चात् हुई; बल्कि यह बहुत प्राचीन धर्म है। और बहुत वर्षों से अनवरत धारा के रूप में प्रवाहित होता चला आरहा है। अब इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा रहा है।

अगर कोई व्यक्ति समाज में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाकृत उत्कृष्ट आदर पाना चाहें तो उसमें अनेक सद्गुणों का विद्यमान होना अत्यावश्यक है। जैनधर्म को उत्कृष्ट धर्म तो हमने मान ही लिया है। अब इस में गुण क्या २ हैं उन पर अब विचार किया जायगा अर्थात् जैनधर्म की विशेषताओं का वर्णन किया जायगा।

जैनधर्म की प्रथम सर्वश्रेष्ठ विशेषता इसका दर्शन (Philosophy) है। भारत में अनेक मतमतान्तर जैसे बौद्ध, वेदान्त, सांख्य आदि हैं। इनमें किसी की भी फिलोसॉफी जैनधर्म के समान उत्कृष्ट नहीं है। अगर फिलोसॉफी के तुलनारूपी तराजू पर सब धर्मों की फिलोसॉफी को तोला जाय तो जैनधर्म की फिलोसॉफी का पलड़ा ही भारी रहेगा। पाश्चात्य विद्वान् मानते हैं कि जितनी सुगमता से जैनधर्म फिलोसॉफी समझाता है उतनी सुगमता से अन्य धर्म नहीं। जैनधर्म की फिलोसॉफी के समान गहन, गम्भीर और सरल फिलोसॉफी अन्य धर्मों में मिलना सर्वथा दुर्लभ है।

अन्य धर्मों की तरह जैनधर्म एकान्तवादी नहीं है-यह अनेकान्तवादी है। जैनधर्म में जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नवतत्व बताये गये हैं। आत्मज्ञान तो इसके समान अन्य धर्म में दिखाया ही नहीं। आत्मा का अमरत्व, उसका कर्म के साथ सम्बन्ध, बन्ध, मोक्ष आदि विषयों पर अत्यंत सचोट उल्लेख किया है। एक विद्वान कहता है कि "जैन साहित्य का पूर्ण अध्ययन जितनी सतर्कता से किया जायगा उतने ही उसमें नये २ तत्वरूपी रस उद्भूत होते जायँगे।"

जैन शास्त्र आत्मा के तीन भेद करता है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। श्रीमद् आनन्दघनजी ने तीनों स्वरूपका वर्णन इस स्तवन में सुन्दरता से दिखाया है।

"आतमबुद्धे कायादिके ग्रह्यो। बहीरात्मा अघरूप सुज्ञानी।
कायादिकनो हो साखी धर। रह्यो अन्तर आतमरूप सुज्ञानी॥
ज्ञानानन्दे हो पूरण पावनो। वरजित सकल उपाधि॥
अतीन्द्रिय गुण गुण मणी आगरुं, इम परमातम साध सुज्ञानी॥"

यह तो हुआ जैन फिलोसॉफी का भव्यरूप। अब उसकी अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायगा।

संयम और जैन दर्शन का सम्बन्ध मनुष्य और हवा (oxygen) की तरह है। संयम क्या? यह प्रश्न उठता है। इन्द्रियों का निग्रह करना ही संयम कहलाता है। प्रत्येक जैनी को "पंचिंदीयसंवरणो" सूत्र तो कंठस्थ ही होगा। स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षिन्द्रिय और श्रोतेन्द्रिय इन पांचों इन्द्रियों का ज्ञान और विषय हमारे जैन शास्त्र में दिखाया गया है। इन पांचों इन्द्रियों पर काबू करना, निग्रह करना या जीतना ही संयम कहलाता है। एक कवि उपमा देता है कि जीवरूपी साथी इन्द्रियरूपी अश्व को कब्जे में नहीं रख सकता तो उसका परिणाम दुःखदायक होता है, किसी भी प्रकार के अर्थ की

प्राप्ति नहीं हो सकती और इसी कारण जीवन में सफलता नहीं मिल सकती। यह जैनधर्म की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता है।

जैनधर्म की तीसरी विशेषता अहिंसा है। ज्योंहि हम जैनधर्म का अध्ययन करते हैं तो अहिंसा हमारा ध्यान शीघ्रातिशीघ्र आकर्षित कर लेती है। जैनधर्म में स्थान २ पर अहिंसा का उल्लेख है। अहिंसा अर्थात् प्रत्येक जीव की रक्षा करना, किसी को मृत्यु के घाट न उतारना। चाहे वह जीव एकेन्द्री हो चाहे पंचेन्द्रिय। प्रत्येक जीव पर समभाव रखना। चाहे वह मित्र हो या शत्रु। इसी लिए "जैनधर्म का प्राण समन्वय और समभाव ही है। Live and Let live अर्थात् जीओ और जीने दो यह शिक्षा जैनधर्म देता है। अहिंसा जैनधर्म की सर्वोत्तम विशेषता है—आदर्श है।

चौथी विशेषता सत्य है। एक विद्वानने जैन की परिभाषा करते हुए कहा है कि "सत्य, अहिंसा और संयम का अभिलाषी मात्र ही जैनी है।"

जैनधर्म में अठारह पापों में प्रथम पाप असत्य ही बताया है। इससे जैनधर्म में सत्य की महिमा स्पष्टतया झलकती है। बहुत से उदाहरणों के अध्ययन से यह पता लगता है कि अपराधी के दण्ड भी सत्य बोलने से रुक जाते हैं। सत्यकथन अधिकतर कड़े होते हैं, क्योंकि सत्य से स्वार्थियों के स्वार्थ पर आघात पहुँचता है। इसलिए सत्यभाषी अक्सर पीछे रहता है। चाहे कितनी ही बड़ी कठिनाई आजाय, पर हमें सत्य से डिगना नहीं चाहिये। जैसे 'जैन जगत के उज्जवल तारे' नामक पुस्तकों में सत्य भाषण के बहुत उदाहरण मिलते हैं कि उस समय श्रावकों में सत्य की अटलता कैसी प्रबल थी और उनके सत्य बोलने से ही उनका उद्धार हुआ।

जैनधर्म दया, क्षमा, शूरता का पाठ भी हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। दया और क्षमा के लिए महावीर और गौशाला का उदाहरण पर्याप्त है। दीक्षा धारण के अनन्तर की बात है। महावीर जंगल में कुमार नामक ग्राम में कायोत्सर्ग कर रहे थे। उस समय एक ग्वाला अपने ढ़ोर भगवान महावीर के समीप छोड़कर कार्यवश आगे चला गया और पुनः लौटने पर ढ़ोरों को न पाकर भगवान महावीर को उल्टासीधा सुनाने लगा और उनको मनमानी पीड़ायें दीं। फिर भी महावीरने बुरे के साथ भलाई का व्यवहार ही किया। ईंट का जवाब ईंट से नहीं, बल्कि फूल से दिया अर्थात् उसे क्षमा करदिया। क्योंकि—

"जो तोकूं कांटा बुवे, ताहिं बोय तू फूल।
तोहिं फूल को फूल है, वाकों है तरशूल॥"

दया धर्म सब धर्मों का मूल है। जहाँ दया नहीं वहां धर्म नहीं। जो मनुष्य दूसरों पर क्रोध प्रकट न करे, अन्यकी निन्दा न करे और अन्य को सताये नहीं तो वह शीघ्रातिशीघ्र उन्नति के शिखर पर पहुंच सकता है। भक्तनायक गोस्वामी तुलसीदासने भी कहा है कि:—

"दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्रान॥"

शूरता के लिए तीर्थंकर महावीर प्रख्यात हैं कि बाल्यावस्था में उन्होंने एक भयंकर मणिधारी विषधर सर्प को अपने हाथों से पकड़ कर धीरेसे दूर फेंक दिया था।

उपसंहार:—इसप्रकार जैनधर्म की प्राचीनता और उसकी विशेषताओं पर विचार करने से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म है और सर्व गुणों की खान है। जैनधर्म जीव और शरीर को भिन्न मानता है और उसका सच्चा स्वरूप हमें समझाता भी है। अगर कोई व्यक्ति अपना व्यवहार उच्च आदर्शमय बनाना चाहें तो वह जैनधर्म के अवलम्ब से अपना चरित्र या व्यवहार आदर्शमय बना सकता है। क्योंकि चरित्र ही सब कुछ है। किसी विद्वानने कहा भी है।

Wealth is gone-nothing is gone,
Health is gone-something is gone;
But when character is gone-all is gone.

अर्थात् जब धन गया तो कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो कुछ गया; परन्तु अगर चरित्र चला गया तो सब कुछ चला गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म हमें चरित्र निर्माण की शिक्षा देता है। किस धर्म में पंचमहाव्रतसहित संयम पालने का उपदेश दिया है? किस धर्म में वेश्या के घर रहकर वेश्या को समझाने का प्रयत्न किया है? किस धर्म में अनेक राजारानियों को संसार को असारतापूर्वक मालूम होने पर दीक्षा लेते दिखाया हैं। इन सबका केवल एक उत्तर है, वह है जैनधर्म ने ही।

आज भी जैनधर्म पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र की भाँति ताराओं को प्रकाशमान कर अपनी दिव्यता, सत्ता और विशेषता के प्रकाश से दुनियाँ को आकर्षित कर रहा है।

ऐसा उत्कृष्ट है जैनधर्म! ऐसा प्राचीन है जैनधर्म!!
ये विशेषताएं हैं जैनधर्म की!!!

प्राचीन जैन साहित्य में मुद्रा संबंधी तथ्य (विवरण)

उमाकान्त पी. शाह, वडोदा

डा. जे. सी. जैन ने जैन साहित्य से कुछ मुद्रासंबंधी तथ्यों का संग्रह किया है।[1] यहाँ प्रयत्न किया गया है कि उन्हीं पर पुनर्विचार एवं जैन साहित्य के आधार पर कुछ और वृद्धि की जाय। जिस माध्यमसे हमें ये तथ्य प्राप्त होते हैं उन्हीं के संभावित काल के अनुसार हम इन तथ्यों का क्रम स्थापित कर सकते है, अथवा उन सूत्रों में वर्णित सिक्कों की प्राचीनता के आधार–अनुसार भी यह किया जा सकता है। यहाँ हम अपने प्रमाणों का विवेचन सभावित प्राप्त सामग्री के काल के अनुसार ही करेंगे।

जैनों के सूत्रग्रंथ अथवा 'आगम' जिनको परंपरा से स्वयं महावीर के निज शिष्यों द्वारा कृत माना जाता है, जो विभिन्न परिषदों में रूप ग्रहण करनेके बाद ही हम तक पहुँचते हैं। अन्तिम परिषद 'वलभी' में V. S 510-453 A. D. में हुई थी। यह अन्तिम बार का संस्करण उससे पूर्व C. 300–313 A. D. में मथुरा में हुई परिषद पर ही अधिकतर आधारित है और उसका विवेचनात्मक अध्ययन करने पर मालूम होता है कि उसमें अति प्राचीन अंशों के साथ ही कुशाण एवं प्रारम्भिक गुप्तकाल के सांस्कृतिक तत्वों का भी अधिकता से सम्मिश्रण हुआ है। उदाहरणार्थ 'नायाधम्मकहाओ' (Nāya-dhammakahāo) और 'रायपसेणीय–सुत्त' (Rāyapaseniya-sutta) मे प्राप्त एक महल का वर्णन:–जिसको सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय डा० मोतीचन्द को है। परन्तु इस अंतिम परिषदके संस्करणों के रूपोंपर भी न उनके विवेचनात्मक सस्करण ही कहीं उपलब्ध हो रहे हैं; अत: एव उपयुक्त होगा कि आगमों के मूलपाठों का उपयोग सावधानी एवं विवेक के साथ करना ही समुचित होगा।

कुशाण और गुप्त काल में पश्चिमी राष्ट्रों के साथ भारत के निर्यात व्यापार में बहुत प्रगति हुई जिसके फलस्वरूप रोम साम्राज्य से भारत को भारी मात्रा में सोना जाने के संबंध में प्लिनी को तो विलाप (हार्दिक खेद) करना पड़ा। रोम का 'देनारियस' (denarius) भारत के बाजारों में अधिकाधिक प्राप्त होने लगा था और संभवतः सरकारी खजाने

---

१. डा. जे. सी. जैन, Life in Ancient India as depicted in the Jaina canons (Bombay, 1947) p 120.

भी उसे स्वीकार करने लगे थे। सन् ४४७ A. D. के बाइग्राम (Baigram) के ताम्रपात्रों[2] में, जो कि कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल में प्रेषित किए गए थे, कुछ वंजर भूमियों का छः 'दीनारों' (dinaras) और बगीचे लगी हुई भूमियों का आठ 'रूपकों' (rupakas) में खरीदका उल्लेख है। ये 'दीनार' (dinaras) या तो रोम के 'देनारियस' (denarius) अथवा उसी माप के भारतीय सोने के सिक्के रहे होंगे। हमारी स्वदेशीय स्वर्णमुद्राएं जिनको 'सुवर्ण' (Suvarna)[3] कहा जाता था, तोल में १६ मासा अथवा ८० रत्ति (लगभग १४४ ग्रेन) की हुआ करती थीं। परन्तु इस परिमाण की कोई पुरानी मुद्रा हमें प्राप्त नहीं हुई है। "कुशाण एवं प्रारम्भिक गुप्त महाराजाओं के सोने के सिक्के 'अउरेयुओं' (aureus) के माप से समानता प्रकट करते हैं। उनका वजन लगभग १२० ग्रेन का था। प्राचीन अभिलेखों से भी यह विदित होता है कि ये स्वर्णमुद्राएं हमारे स्वदेशीय नाम 'सुवर्ण' के द्वारा संबोधित न की जाकर रोम से प्राप्त 'दीनार' नाम से संबोधित की जाती थी। बाद में गुप्त-सम्राटों ने इन मुद्राओं का वजन शनैः शनैः बढ़ा कर 'सुवर्ण' के बराबर करने का प्रयत्न किया।"[4]

दूसरे आगमों के अलावा 'उत्तराध्ययन' २०. ४२, में एक कृत्रिम (Kuda=कूड) 'कहावण' (Kahāvana) अथवा 'कार्षापण' (Kārshāpana) मुद्रा का उल्लेख किया गया है। साथ ही 'सूत्रकृतांग-सूत्र' (Sutrakrtanga-sūtra) २. २, और 'उत्तराध्ययन' ८. १७, में 'मास' (Māsa) 'अद्धमास' (Addhamasa) और 'रुवग' (Ruvaga) का सकेत मिलता है। उत्तराध्ययन में 'सुवण्णमासय' (Suvannamasaya) का भी उल्लेख है।[5] अतः जिस प्रकार से सोने, चांदी एवं तांबे के 'कार्षापणों' का प्रचलन था उसी

---

२. Ep. Ind., Vol. XXI, pp. 81-2. बहुत संभव है कि व्यापारिक लेनदेन रोम के 'देनारियस' के माध्यम से ही किए जाते रहे हों एवं उसी तोल व मान (Standard) की गुप्तकालीन मुद्राओं को 'दीनार' न कहा जा कर किसी अन्य नाम से पुकारा जाता रहा हो, यद्यपि डा. अलतेकर के विचार भी जिनका उद्धरण यहाँ दिया गया है-काफी संभाव्य प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार भी 'सुवर्णों' के विषय में निर्देश करनेवाले नासिक के शिलालेख १० (inscr. 10) में 'नहापना' के सुवर्णों का उल्लेख मिलता है जो १४४ ग्रेन के न होकर १२० ग्रेन के हैं। गुप्त काल की मुद्राओं का नाम संभवतः 'सुवर्ण' ही रहा हो, यद्यपि १२० ग्रेन के ही, और जिनको कि बाद में बढा कर १४४ ग्रेन का कर दिया गया हो। CF. Dr. Altekar in JNSI, II, pp. 4 ff.

३-Manu. VIII, 34-36.

४-Dr. Altekar, A. S., 'Relative Prices of Metals and coins in Ancient India' JNSI., Vol. II. P. 2,

५. 'उदयजातक' में भी निर्देश मिलता है। JNSI. Vol. XII., pt., 2, p. 194.

प्रकार से छोटी मुद्राऐं भी जिनको 'माष' (Masha) कहा जाता था, सोने, चांदी एवं तांबे की प्रचलित थीं। हां, 'रुवग' (Rauphyaka ,=रौप्यक) संभवतः एक छेद की हुई (Punch-marked) चांदी की मुद्रा को ही कहा जाता था; परन्तु इस संबंध में हरिभद्र की उक्ति से, जिस पर हम आगे चल कर विचार करेंगे, सूचित होता है कि 'रुप्यक' रजत मुद्रा को कहा जाता था जो तोल में ३२ रत्ति अथवा लगभग ५७ ग्रेन की (जैसा कि 'पुराण' 'धरण' अथवा 'कार्षापण' नामक रजतमुद्राएँ हुआ करती थीं) नहीं होती थी और जो संभवतः प्रत्येक रजतमुद्रा के लिए अथवा अर्ध-द्राम* मुद्राओं के लिए एक सामान्य नाम के रूप में व्यवहृत होती थीं। इन अर्धद्राम मुद्राओं का प्रचलन पार्थियन और स्किथियनों द्वारा किया गया था एवं उनके अनन्तर 'वलभी'[६] एवं गुप्त शासकों द्वारा भी उसका अनुसरण किया गया। ये मुद्राएँ साधारणतया अल्प वजनी हुआ करती थीं जिसका संभवित कारण इस सफेद धातु की कमी ही प्रतीत होती है।[७]

'उपासक-दशांग-सूत्र' (Upāsakadaśānga-Sūtra) में हमें हिरण्य-सुवर्ण (hiranya suvarna) का उल्लेख मिलता है जिसका वर्णन उमास्वामी अथवा उमास्वाति (Umasvami or Umasvati) के तत्त्वार्थ-सूत्र (Tattvārtha-Sutra) में भी किया गया है।[८] यह अन्तिम ग्रंथ उस समय लिखा गया था जब श्वेतांबरों और दिगम्बरों के आपसी यह भेद विच्छेदावस्था की चरम सीमा तक नहीं पहुँचे थे और इसलिए इसका काल C. 200-300 A. D. का निर्दिष्ट किया जा सकता है। इन वर्णनों मे 'हिरण्य' शब्द सोने, चांदी अथवा कीमती धातु (Bullion) के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है,[९] जबकि 'सुवर्ण' शब्द से स्वर्ण मुद्राओं का अभिप्राय ही रहा जैसा कि महाभारत, अष्टाध्यायी और अर्थशास्त्र से स्पष्ट है। जातकों में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है।

---

* द्राम (drachm)-६० ग्रेन । अनु.

६. इस टाइप के सिक्कों का एक बहुत ही साधारण नाम 'द्रम' (Dramma) पड़ गया था।

७. Dr. Altekar, A. S Relative Prices of Metals and coins in Ancient India, JNSI., Vol. 11, pp. 1 ff.

८. तत्त्वार्थसूत्र (सं.-फूलचन्द्रजी शास्त्री) VII. 29, Text, p. 28। बुद्ध 'जातक' में भी (VI. 79)। cf. डा० वी० एस० अग्रवाल का अध्यक्षीय भाषण, JNSI, Vol. XII, p. 194.।

९. जैन कल्पसूत्र में महावीर के जीवनकाल में 'हिरण्य' और 'सुवर्ण' का एकाधिक वार उल्लेख मिलता है जहाँ 'हिरण्य' का प्रयोग बहुमूल्य धातुओं के लिए किया गया प्रतीत होता है।

संघदास वाचक की 'वसुदेवहिन्डि' (Vasudevahiṇḍi) ईसा के पश्चात् तीसरी-चौथी शताब्दी के भारत के सांस्कृतिक तत्वों के ज्ञान की एक अमूल्य खान है। यह ग्रंथ गुणाढ्य की 'बृहत्-कथा' (Bṛhat-Katha) पर आधारित है और सामान्यरूप से इसका काल C. 400 A. D. से कुछ पूर्व स्थापित किया जा सकता है। इस में वर्णित एक कथा के अनुसार एक लकड़हारा संपूर्ण दिन के कठिन परिश्रम के पश्चात् एक एक 'काहावण' (Kahavaṇa) प्राप्त कर सका जिसका तात्पर्य संभवतः एक तांबे के 'कार्षापण' से ही है। एक दूसरी जगह एक तित्तिरि पक्षी का एक 'कहावण' में बिकने का उल्लेख है जिससे भी इस तांबे के सिक्के का ही निर्देश मिलता है।[११]

इस ग्रंथ में 'कूड-दीणार' (Kūda-dīnāra) अर्थात् कृत्रिम दीनारों का भी उल्लेख है।[१२] एक दूसरे प्रसंग में एक व्यक्ति से रतिसेना नामक वैश्या को १०८ 'दीनार' देने के लिए कहा गया है।[१३]

कहा जाता है कि मरुभूमि में से गुज़र रहे एक काफिले में लेनदेन (Vyavahāra= व्यवहार) की सुगमता के लिए अपनी एक गाड़ी पर 'पणों' (Panas) से भरा एक बस्ता लाद रखा था। संयोग से बस्ता लुढ़क गया और सारे 'पण' भूमि पर बिखर गए। व्यापारी जब उन्हें बटोरने के प्रयत्न में लगा तो उसके पथप्रदर्शकोंने एक कहावत के माध्यम से उसे चेतावनी दी। जिसका तात्पर्य था कि सामान्य 'कागणी' (Kāganē, Sk. Kākinī=काकिणी) के लिए लाखों की जोखम मत उठाइये।[१४] उपरोक्त कथन से सकेत मिलता है कि 'पण' एवं 'काकिणी' दोनों ही अल्प मूल्य की मुद्राएँ थीं।

विमलसूरि के 'पउमचरियम्' (Paumcariyam) में भी कहा गया है कि जो व्यक्ति त्याग, तप एवं आत्मशासन को तिलांजली देकर सुख एवं इन्द्रियों के वशीभूत हो जाते हैं वे उन व्यक्तियों के सदृश हैं जो एक तुच्छ कागणी के लिए बहुमूल्य हीरे से हाथ धो बैठते हैं।[१५] इस ग्रंथ में 'दीनारों' का भी उल्लेख है और झूठे तोल व मापों के प्रचलन एवं विनिमय मुद्राओं के संबंध में भी वर्णन मिलता है।[१६] इस ग्रंथ का निर्माण-काल इसी के एक अन्तिम पद के अनुसार, महावीर के निर्वाण के ५३० वर्ष पश्चात् कहा गया है परन्तु इसके आलोचनात्मक अध्ययन ने विद्वानों को उक्त कथन पर शंकायें

१०. मुनि पुन्यविजयजीद्वारा दो वोल्यूमों में संपादित, भावनगर।
११. Op Cit., Vol. 11, p. 268 और Vol 1, p. 57.।
१२ Vol. 1, p. 42. १३ Vol. 11, p. 289. १४. Vol. 1, p. 15.
१५. पौमचरियम' ११८, १०७, पृ० ३३५। १६. Ibid, 2. 19। (Ibid=उसी ग्रंथ में)

प्रकट करने के लिए प्रेरित किया है। सावारण रूप से इसे विक्रम संवत् ५३० का मान लेना श्रेयस्कर होगा।

'बृहत्-कल्प-भाष्य' (Brhat-Kalpa-Bhashya) प्राचीन भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डालनेवाला एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। जिसका निर्माण संभवतः छठी शताब्दि (ईस्वी) में किया गया। उसके १९५९ वें पद्य में लिखा है:-"कवड्डुगमादी तंबे, रूप्पे पीते तहेव केवडिए॥" इस पर टीका करते हुए क्षेमकीर्ति (c 1332 V.S.) लिखते हैं:— "कदर्पैकादयो मार्गयित्वा तस्य दीयन्ते। ताम्रमयं वा नाणकं यद् व्यवह्रियते यथा दक्षिणापथे काकिणी। रूपमयं वा नाणकं भवति यथा भिल्लमाले द्रम्मः। पीतं नाम सुवर्णं तन्मयं वा नाणकं भवति, यथा पूर्वदेशे दीनारः। 'केवडिको' नाम यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतराभिधानो नाणकविशेषः।" बृहत्-कल्प-भाष्य, Vol. 11, पृ. ५७३.।

उपरोक्त 'भाष्य गाथा' पर टीका करते समय टीकाकार के सम्मुख इसी पर की एक प्राचीन चूर्णि (curni) अवश्य रही होगी और इसीलिए उनके प्रमाण सातवीं शताब्दि A. D. की परंपराओं से वाद की किसी परंपरा पर आधारित नहीं हो सकते। उपरोक्त उद्धरण से प्रकट है कि 'काकिणी' दक्षिणा पथ के एक तंबे के सिक्के को कहा जाता था।[१७] 'द्रम्म' एक चांदी की मुद्रा का नाम था जो भिल्लमाल में प्रचलित थी[१८] (माउन्ट आबू के उत्तर पश्चिम, अर्थात् मारवाड में) और 'स्वर्ण दीनार' का व्यवहार भारत के पूर्वी भागों में हुआ करता था। 'केवडिक' जो कि 'केतर' के नाम से भी प्रसिद्ध है पूर्व देश की एक प्रचलित मुद्रा थी।

'बृहत्-कल्प-भाष्य' के निम्नोक्त पदों से कई विशिष्ट मुद्राओं के विनिमय दरों का संकेत मिलता है:—

"दो साभरगा दीविच्चगा तु सो उत्तरापथे एक्को।
दो उत्तरापहा पुण, पाडलिपुत्तो हवति एक्को॥ ३८९१॥

१७. 'काकिणी' के लिए डा० अग्रवाल, op cit, P. 202. को भी देखीये, जहाँ कि उन्होंने 'काकिनी' और बोदी (Bodi) के वारे में चर्चा की है। और भी देखिये-JNSI Vol VIII pt. 2, pp. 138 ff डडीने भी अपने 'दशकुमार चरित' में इस मुद्रा का उल्लेख किया है।

१८ डा० जैनने जैन 'निशीथचूर्णि' का उल्लेख किया है (Mss. में) जिसमें कहा गया है,-"रूपमय वा नाणक भवति यथा भिल्लमाले द्रम्म।" और भी देखिये-डा० अग्रवाल, op. cit P. 201.

१९ इस वात पर डा० अग्रवाल (op. cit, P. 199) से सहमत हो सकना कठिन प्रतीत होता है कि 'केतर' केतर कुशाणों की मुद्रा थी क्यों कि उनका अधिकार (शासन) पंजाब पर था, न कि पूर्वी भारत पर।

दो दक्खिणावहा तू, कंचीए णेलओ स दुगुणो य।
एगो कुसुमनगरगो, तेण परमाणं इमं होति ॥ ३२९२ ॥ ”

अर्थात्—‘ द्वीप ’ के २ ‘ साभरकों ’=‘ उत्तरापथ ’ की १ रजत मुद्रा,
‘ उत्तरापथ ’ की २ मुद्राएँ=‘ पाटलिपुत्र ’ की १ रजत मुद्रा।
‘दक्षिणापथ’की २ रजत मुद्रायें=‘द्राविड देश’की ‘कांचीपुरी’ की एक नेळक’(Nelaka)
‘ कांचीपुरी ’ के २ ‘ नेळक ’=‘ कुसुमपुर ’ अर्थात् ‘पाटलिपुत्र’ की १ रजत मुद्रा।

यह उपरोक्त कथन नीचे की इस टिप्पणी से स्पष्ट हो जाता है:—“ द्वीपं नाम सुराष्ट्राया दक्षिणस्यां दिशि समुद्रमवगाह्य यद् वर्तते तदीयौ द्वौ साभरकौ रूपकौ स उत्तरापथे एको रूपको भवति। द्वौ च उत्तरापथ रूपकौ पाटलिपुत्रक: एको रूपको भवति। अथवा दक्षिणापथौ द्वौ रूपकौ काञ्चीपुर्यां द्रविडविपयप्रतिबद्धया: एक नेलक: रूपको भवति। स: काञ्चीपुरीरूपको द्विगुणित: सन् कुसुमनगरसत्क एको रूपको भवति। कुसुमपुरं पाटलिपुत्रमभिधीयते। ” Op. Cit, Vol., IV, P. 1069 ।

‘ द्वीप ’ अथवा ‘ दीव ’ का ‘ सुराष्ट्र ’ के दक्षिण में समुद्र पर स्थित होना ध्यान देने योग्य बात है। यह वर्तमान पुर्तगाल अधिनस्थ प्रदेश ‘ दीव ’ ही होना चाहिए जैसा कि ११ वीं शताब्दी A D. में निर्मित ‘ प्रवचनसारोद्धार ’[२०] के इन पदों पर की गई ‘ प्रवचनसारोद्धार-टीका ’ में निर्दिष्ट इसकी सौराष्ट्र से दूरी के विवरण से स्पष्ट है। परन्तु क्षेमकीर्ति इस प्रकार का निर्देश नहीं करते कि यह सौराष्ट्र के तट से एक योजन दूर समुद्र पर अवस्थित था। डा० मोतीचन्द्र ‘ दीव ’ में प्रचलित ‘साभरको’ का इस्लाम-पूर्व की मुद्रा ‘ सवेअन ’ (Sabean) से संबंध स्थापित करते हैं। ‘ आवश्यक चूर्णी ’ (Āvaśyaka cūrni) (c 676 A. D) में ‘ द्वीप ’ और ‘ जोण ’ को प्रेतभूमि (मतग-लेण) कहा गया है।

‘ नेळक ’ के विपय में अभीतक कुछ मालूम नहीं हुआ है। क्या यह पल्लवों की कोई मुद्रा थी ?

और भी अधिक महत्वपूर्ण प्रमाण तो छठी शताब्दी A. D. के अप्रकाशित ग्रंथ

---

२०. सिद्धसेन की टीका सहित नेमिचन्द्र की ‘ प्रवचनसारोद्धार ’, पद ७९७-९९ और टिप्पणी,- Vol. 11, pp. 233 ff. यह टिप्पणी (comm.) इस प्रकार है.—
द्वीपश्चय. सुराष्ट्रामण्डले दक्षिणस्या दिशि योजनमात्रमवगाह्य तिष्ठति सोऽत्र गृह्यते.
२१. डा० जे० सी० जैन, op. cit, P. 201 और P. 120 देखिये।

अंगविज्जा (Angavijja) से प्राप्त होते हैं। इसके निर्देश के लिए मैं मुनिश्री पुण्यविजयजी का आभारी हूँ। ग्रंथ बिलकुल शुद्ध है। इसमें द्रव्यों और शब्दों को पुंलिग (पुण्णाम), स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग के हिसाब के क्रमबद्ध किया गया है जैसा कि व्याकरण के नियमानुसार आवश्यक नहीं था। इसके प्रथम वर्ग में हमें ये पद्य मिलते हैं:-

" सुवण्ण मासको व त्ति तहा रययमासओ।
दीणारमासको व त्ति तधो णाणं च मासको ॥ १८५ ॥
कहापणो खत्तपको पुराणो त्ति व जो वदे।
सतेरको त्ति तं सव्वं पुण्णामसममादिसे ॥ १८६ ॥ "

' अंगविज्जा ' ९ वॉ अध्याय पुण्णाम-पटल।

इस प्रकार स्वर्ण मुद्राओं के तारतम्य में सबसे छोटी मुद्रा 'माषक' (Māshakas) थी[22] जिसे ' सुवर्णमाषक ' कहा जाता था और सबसे बडी मुद्रा थी ' सुवर्ण '। गुप्त सम्राटों की स्वर्णमुद्राओं का निर्देश करनेके हेतु इस ' सुवर्ण ' का प्रयोग करना मैं उपयुक्त समझता हूँ। रजत मुद्राओं की श्रेणी में सबसे छोटी मुद्रा ' रजतमाषक ' थी ' और दीनारमाषक ' रोम के स्वर्ण ' देनारियस ' (अथवा कुशाण और गुप्तश्रेणी की १२० ग्रेनवाली मुद्राओं) की पंक्ति की सबसे छोटी मुद्रा रही होगी। इसके उपरांत " तधो नाणं च मासको ' (sk तथा नाणं च माषको) कथन से साधारणतया लघुतम ताम्र मुद्रा का भान होना है और इसी लिए इसे सिर्फ ' माषक ' ही कहा गया[23] है। और तब ' कहापण ' अथवा ' कार्षापण ' का उल्लेख आता है।

यहाँ हमें ' खत्तपक ' अर्थात् ' क्षत्रपक[24] ' का प्रथम बार उल्लेख मिलता है जो कि स्पष्ट रूप से (पश्चिमी) क्षत्रपों के बारे में हैं। अगला शब्द है ' पोराण[25] ' (Sk.

---

२२. ' रौप्य-माषक-श्रेणी की मुद्राओं ' के लिए डा० वी० एस० अग्रवाल का पत्र JNSI. Vol. XIII, pp. 164 ff. में देखिए। हमारे उपरोक्त ग्रंथ में ' दीनार-माषक ' का उल्लेख महत्वपूर्ण है।

२३ ' नाणं ' का प्रयोग यहाँ अन्य जैन ग्रंथों की तरह साधारण अर्थ में हुआ है, न कि कुशाण काल की ताम्रमुद्राओं के अर्थ में, जैसा कि डा अग्रवाल ' मृच्छकटिक ' (Mrchchhakatika) के एक उद्धरण से प्रकट करते हैं। देखिये-JNSI, Vol XII. pt 2, p. 199।

२४. यहाँ हमें प्रथम बार क्षत्रपों की मुद्राओं के लिए ' क्षत्रपक ' शब्दप्रयोग मिलता है। ' रुद्रदमक ' (Rudradamaka) का उल्लेख बुद्धघोष के ' समन्तपसदिक ' में किया गया है, जिसकी श्री सी० डी० चटर्जीने JUPHS. Vol. VI, pp. 156-173, और डा० डी० सी० सरकारने JNSI. Vol. XIII, pt. 2, pp. 187 ff. में विवेचना की-है।

२५. इसका वजन १६ माषा-३२ रत्ती अथवा लगभग ५७ ग्रेन है। JNSI. Vol. 11 p. 2.

'पुराण') जिसका संबंध प्राचीन छेद की हुई रजत मुद्रा से है। 'सतेरक' भी एक उल्लेखनीय शब्द है जिसके बारे में डा. मोतीचन्द्रने मुझे कृपा करके बतलाया है कि इसका संबंध युनानी स्ततेर (Stater) से है।

सातवीं शताब्दी A. D. में रचित 'निशीथचूर्णि' (Nisithcūrni) में कहा गया है[२६] "कवड्डगा से दिज्जंति, तासमयं वा जं णाणगं ववहरंति, तं दिज्जंति। जहा दक्खिणावहे कागणी रुप्पमयं जहा भिल्लमाले चम्मलातो।"

इस प्रकार इस में 'कपर्दकों' (Kaparddakas) अथवा 'कोवरियों' (Cowries) का उल्लेख है और कहा गया है कि व्यापार ताम्रमुद्राओं (Nānakam=नाणकम्) की सहायता से भी किया जाता था, यथा:-दक्षिण पथ में 'कागणि' से और भिल्लमाल में रजतमुद्रा अर्थात 'चम्मलात' (Chammalata) से। डा० सन्देसरने एक अत्यन्त प्रवीण प्रस्ताव किया है कि ब्राह्मी के 'व' और 'च' में सादृष्य होने के कारण बहुत संभव है कि—'वम्मलात' को, चम्मलान' समझ लिया गया हो; इस हालत में इनका संबंध 'वर्मलाट' की मुद्रा से स्थापित किया जा सकता है जिसको कि हम सातवीं शताब्दी A. D. के वसन्तगन्वा शिलालेख से भिल्लमाल के 'चापोत्कट' (Capotkata) शासक के रूप में जानते हैं।

'निशीथचूर्णि' में 'मयूराक' (Mayūranka) मुद्राओं का भी उल्लेख है जो अवश्य ही कुमारगुप्त प्रथम की मुद्राएं रही होंगी। 'आवश्यकचूर्णि' में ('निशीथचूर्णि' के रचयिता जिनदास द्वारा ही ७ वीं शताब्दी में रचित) कृत्रिम 'रूवगों' अथवा 'रुप्यकों' का निर्देश मिलता है। इस में एक जगह 'दीनारों' से भरी हुई एक सोने की रकाबी और एक दूसरी जगह एक हजार 'दीनारों' का भी वर्णन मिलता है। फिर 'रूमकों' से परिपूर्ण एक 'नौलओ' (naulao, Sk. Nakulaka='नकुलक') अर्थात् रुपयों की [२७]नळी

---

२६. 'जैन आगमोमन गुजरात' (गुजराती में) by डा० बी. जे० संदेसरा (अहमदावाद. १९५२) p 180 f. 1 'लेखपद्धति' के आधारपर डा० सन्देसरा ने बताया है कि 'श्रीमल' (भिल्लमाल) द्रम्म को 'परौपथ द्रम्म कहा जाता था, संदेसर op cit. p. 181 और JNSI, Vol VIII, pt. 2, pp. 932 ff. 1 शान्तिसूरि की 'उत्तराध्यनसूत्र' पर लिखी हुई वृत्ति (Vrtti on the Uttaradnyayana-Sūtra) (पृ. २७२) के अनुसार जिसका कि निर्माण ११ वीं शताब्दी A. D में हुवा था। एक 'काकिणी' २० कपर्दकों (Kaparddakas) के बराबर है।

२७. 'नौळओ' (नकुलक) शब्द पुरानी गुजराती में (Noli) बन जाता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वयं धनाधिपति कुबेर भी प्रायः अपने हाथ में एक 'नकुल' रखते हैं। इसी

(money-bag) का भी उल्लेख है। यह 'द्रम्म' (damma) अथवा 'द्रमक' (dramaka) अन्यान्य लेखकों के 'द्रम्म' (dramma) का ही परिवर्तित रूप है। इस पुस्तक में हमें एक और नाम मिलता है और यह है 'पायंक' (Payanka) अथवा 'पादांक' (Padanka)। डा० अग्रवाल इसे इन्डो-सस्सनियन (Indo-Sassanian) मुद्रा मानते हैं और 'पद' अथवा 'पाद' का अर्थ 'पदचिह्न' से करते [२८] हैं। यहाँ पर यह निर्देश कर देना उचित होगा कि हरिभद्रसूरिकी 'आवश्यकवृत्ति' के छपे हुए संस्करण में इसी प्रसंग में 'पायंक' शब्द मिलता है न कि 'पयंक' अर्थात् 'पादांक' न कि 'पदांक'।

'व्यवहार भाष्य' के कालका कुछ पता नहीं मिलता, पर इसको सातवीं शताब्दी अथवा उसके कुछ पूर्व की कृति माना जा सकता है। इसमें जैसा कि डा० जैन कहते हैं, 'पण्णिक' (Pannika) नामक एक दूसरी ही मुद्रा का उल्लेख मिलता है जिसको डा० अग्रवाल ने पहिचान कर 'पर्णिक' (Parnik) नामक मुद्रा से ऐक्य स्थापित किया है जो कि सस्सनियों की एक जाति 'पर्णि' (Parnis) की मुद्रा थी जिनकी भाषा 'पहल्वि' (Pahlvi) थी और जिनके साम्राज्य के प्रतिष्ठाता अरसेक्स[२९] (Arasecs) थे।

हरिभद्रसूरि अपने ग्रंथों में 'दीनारों' 'सुवर्णों' 'रूवगों' और 'पायंकों' का उल्लेख करते हैं। उन ग्रंथों में वर्णित मुद्रा संबंधी प्रमाणों से प्रकट होता है कि इनका काल और जिनदास का काल एक ही रहा होगा। इस तथ्य से मेरे अन्यत्र व्यक्त किए गए विचारों को सहारा मिलता है जिनमें मैंने अन्यान्य प्रमाणों के आधार पर यह बतलाया है कि यह महान जैन अध्यात्मवादी, कवि, दार्शनिक और नैयायिक, जिनदास का अल्पवयस्क (Junior) समकालीन था। हरिभद्र की आखिरी सीमा C. 700 A. D होनी चाहिए।

हेमचन्द्र 'पणों' के बारे में कुछ उपयोगी सूचना देते है। (उनका काल 1150 A. D.) वे कहते हैं कि एक 'कार्षापण' सोलह पणों के बराबर है। यथाः—"कर्षापणः कर्षापणम्-मानविशेषः पणषोडशकम्, शाकटायनस्य। प्रज्ञाद्यणि कार्षापणः कार्षापणमित्यपि

कारण उनका 'मनि-बेग' (Moneybag) 'नकुलक' बन जाता है। 'आवश्यकचूर्णि' पृ. ५५०. ५५३, ५५७ में 'रुवग' के लिए, 'दीनार' के लिए पृ० ५६५, 'पयंक' के लिए पृ० ५६२ और 'नौलओ दमेन ग्रवितो' के लिए पृ० ५५० देखिए।

२८. JNSI Vol. XII, pt. 2. 200।

२९. डा. जे. सी जैन, op. cit. p. 120। और डा० वी० एस० अग्रवाल, अध्यक्षीय भाषण, JNSI. Vol. XII pt. 2. P 200.

३०. 'समरैच्चकह' (Samaraicckaha) पृ १७१, ७४६, २४४, ५६१। 'आवश्यकवृत्ति' पृ. ४२३, ४३२।

यद् गौडः--"कार्षापणोऽस्त्री कार्षिके पणेषु षोडसस्त्वपि।"--हेमचन्द्रकी 'लिंगानुशासन' (linganusāsana) पर 'स्वोपज्ञ वृत्ति' (Svopajñavrtti) (आचार्य लावण्यविजय द्वारा संपादित) का अध्याय ५ (v). पद १५, पृ. ६६।

डा० अग्रवालने 'कार्षापण' के 'विंशटिक' (Vımsatika) और त्रिंशटिके (Trinmśtika) भेदों पर विचार किया है जो क्रमशः २० माषा (४० रत्ति-७५ ग्रेन) और ३० माषा (६० रत्ति-११० ग्रेन) के हैं और बतलाया हैं वे बहुत ही प्राचीन समय में पूर्वी भारत में मिले हैं।[३१] हेमचन्द्र के अनुसार एक 'कार्षापण' १६ 'पणों के समान है। अब यदि हम स्मरण करें कि 'वासुदेवहिंडि' में इसे एक बहुत छोटी मुद्रा कहा गया है तो हमें ऐसा भान होने लगता है कि 'पण' अवश्य ही एक ताम्र 'कार्षापण' के बराबर रही होगी। यहाँ यह बतलाना उचित होगा कि 'नारद' में भी 'पण' के विषय में उल्लेख मिलता है जो कि (रजत) 'कार्षापण' का सोलहवाँ हिस्सा था।[३२] हेमचन्द्र के प्रकरण से प्रकट होता है कि 'कार्षापण' जोकि सोलह 'पणों' के बराबर होता था, प्राचीन समय में पश्चिमी भारत में प्रचलित था। पर हमे यह नहीं समझना चाहिए कि स्वयं हेमचन्द्र के समय में भी इसका प्रचलन था। वे तो संभवतः पश्चिमी भारत की प्राचीन परंपराओं का उल्लेख भर कर रहे थे।

३१. JUPHS Vol. XI, pp. 74 ff; vol. XII, pt. 1, pp. 7 ff.
३२. डा० ए, एस० अल्तेकर, op. cit, p. 3 और p. 17 ff.

राजपूताना में जैनधर्म

डॉ. वासुदेव उपाध्याय, पटना विश्वविद्यालय

प्राचीन भारत में जैनमत के प्रसार के सम्बन्ध में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। समस्त भारत में इस धर्म का प्रचार हो गया था और इसे लोकप्रिय बनाने में राजा तथा प्रजा दोनों संलग्न रहे। मध्ययुग तक इस धर्म का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता रहा, परन्तु पूर्वमध्य युग (७०० ई० से १२९० ई. तक) में उत्तरी भारत में इसके ह्रास के चिन्ह प्रकट होने लगे थे। विशेषतया पूर्वी भाग में जैनधर्म की अवनति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। उडीसा के कलात्मक नमूने—उदयगिरि तथा खण्डगिरि की गुहा तथा लेख ईसवी पूर्व में इस मत की स्थिति के द्योतक हैं और पूर्वी भारत में जैनमत के प्रचार की घोषणा करते हैं। किन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि पूर्वमध्ययुग में उस भूभाग के शासकगण की प्रशस्तियों में जैनधर्म सम्बन्धी उल्लेख का अभाव दिखलाई पड़ता है। यों तो पहाड़पुर से प्राप्त एक ताम्रपत्र में एक ब्राह्मण द्वारा कुछ भूमि खरीदने का वर्णन मिलता है जिसकी आय से अर्हत के पूजा निमित्त चंदन, पुष्प, धूप तथा दीप का प्रबंध किया गया था। 'विहारे भगवतां अर्हतां गन्ध धूप सुमन दीपाद्यर्थम्'—ए. इ. भा. २. पृ. ६ यह जैन विहार उत्तरी बंगाल में तैयार किया गया था और निर्ग्रंथ उपदेशक उसकी देखरेख करता था। इसके अतिरिक्त चीनी यात्री ह्वेनसांग के कथनानुसार निर्ग्रंथ लोगों के देवालय बंगाल में वर्तमान थे। इतना ही नहीं, पूर्वी भारत के अनेक केन्द्रों से तीर्थंकरों की प्रतिमायें भी उपलब्ध हुई हैं। दीनाजपुर से ऋषभनाथ, वर्दवान से शांतिनाथ तथा बांकुडा से पार्श्वनाथ की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु उत्तरी भारत के समस्त पुरातत्व सामग्रियों पर विचार करने से पूर्वी भारत के जैन नमूने नगण्य हो जाते हैं। इसी आधार पर यह कहा जा चुका है कि पूर्व मध्ययुग में जैनमत की अवनति आरम्भ हो गई थी। जो कलात्मक उदाहरण मिले हैं वह कुछ व्यक्तियों के जैनमत से प्रेम तथा शासक के धार्मिक—सहिष्णुता के द्योतक हैं। सम्भवतः पाल शासन के प्रारम्भ होते ही बंगाल से जैनमत का पैर उखड़ गया और राजपूताना में शरण मिली।

राजपूताना से प्राप्त लेखों तक एवं अन्य पुरातत्त्व सामग्रियों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ८ वीं सदी से राजपूताना तथा पश्चिमी भारत में जैनमत केन्द्रित हो गया था। दसवीं

सदी से बारहवीं शताब्दी तक राजपूताना में जैनधर्मावलम्बी राजा तथा प्रजा कार्यशील थे जिससे यह मत लोकप्रिय हो गया। राजपूताने में शासन करनेवाले चाहमान राजाओं के लेखों से इस बात की पुष्टि होती है। राजा थलक की प्रशस्ति में उल्लेख मिलता है कि वह जैनधर्मपरायण था। उसीके वंशज ककुकराजने भगवान् शांतिनाथ की पूजा निमित्त शिव-रात्रि पर्व पर आठ मुद्रा दान में दी थीं। उसी प्रसंग में यह भी वर्णित है कि शांतिनाथ की सुन्दर प्रतिमा का निर्माण उसके पितामहने किया था—

पितामहेन तस्येदं शमीयाट्यां जिनालये। कारितं शांतिनाथस्य बिम्बं जनमनोहरम् ॥
(ए० इ० भा० ११, पृ० ३२)

दूसरे लेख में पार्श्वनाथ के मंदिर निर्माण का वर्णन पाया जाता है जो सन् ११६९ ई० में तैयार किया गया। उस लेख का मंगलाचरण ॐ नमो वीतरागाय से प्रारम्भ होता है तथा प्रथम पद में तीर्थंकर महावीर की प्रार्थना की गई है (ए० इ० भा० २६ पृ० ८९)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रशस्ति किसी जैन द्वारा ही उत्कीर्ण कराई गई थी। चाहमान राजा के जैनधर्म प्रेमी होने के अतिरिक्त इस मत के प्रचुर प्रचार का आभास मिलता है। जालोर की प्रशस्ति में भी समरसिंहदेव द्वारा पार्श्वनाथ के मंदिर निर्माण का विवरण मिलता है जिसके विशाल ध्वजस्तम्भ को शासकने ही खड़ा किया था—

श्रीपार्श्वनाथदेवे तोरणादिनां प्रतिष्ठाकार्ये कृते मूलशिखरे च कनकमयध्वजा-दण्डस्य ध्वजारोपणप्रतिष्ठायां कृतायां ॥ (ए० इ० भा० ११ पृ० ५५)

चाहमान राजा राजदेव की मारवार प्रशस्ति में श्री भगवान महावीर के मंदिर तथा स्थानीय जैनसाधुओं के भोजन निमित्त विभिन्न दान का उल्लेख पाया जाता है:—

श्री महावीरचैत्ये—साधुतपोधननिष्ठार्थे। (ए० इ० भा० ११ पृ० ४३)

इस प्रकार राजपूताना के चाहमान राजाओं के लेखों से जैनधर्म सम्बन्धी अनेक विषयों का ज्ञान हमें होता है। महावीर, पार्श्वनाथ तथा शांतिनाथ के उपासकों तथा उन तीर्थंकरों के पूजा प्रकार का वृत्तांत ही उपलब्ध नहीं होता अपितु जैनधर्म के प्रचार का ज्ञान होता है। उत्तरी भारत में उस समय राजपूताना में ही इस धर्म को विशेष आश्रय मिला था। यह कहना कठिन है कि चाहमान नरेश जैनधर्मावलम्बी थे; परन्तु यह तो निर्विवाद है कि जैनमत से उनका गहरा प्रेम था। मंदिर तथा प्रतिमानिर्माण के लिये दान भी देते रहे।

मालवा के परमार राजा भी इस धर्म की ओर विशेष रूप से झुके थे। सन् ११०९ में ऋषभनाथ के मंदिर तथा प्रतिमा निर्माण का विस्तृत वर्णन परमार प्रशस्ति में पाया जाता है। जैनमत का मंगलाचरण—ॐ नमो वीतरागाय यह घोषित करता है कि प्रशस्ति जैनधर्म से सम्बन्धित है, यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि प्रसिद्ध वैष्णवमंत्र—ॐ नमो वासुदेवाय या

ॐ नमो नारायणाय के सदृश ही इस जैनमंत्र की भी विशेषता थी। सम्भवतः यह वैष्णव मत का प्रभाव ही था कि जैन लेखों में इस प्रकार के मंगलाचरण का प्रयोग होने लगा था। इस मंत्र के पश्चात् पहला पद भी तीर्थंकर के प्रार्थना निमित्त लिखा जाता था। परमार लेख में निम्न पंक्तियों में प्रार्थना मिलती है—

स जयतु जिनभानुः भव्यराजीव राजी, जनितवरविकाशो दत्तलोकप्रकाशः।
परसमयतमोभिर्न स्थितं यत्पुरस्तात् क्षणमपि चयसासद्वादि खद्योतकैश्च॥

इस पश्चात् ऋषभनाथ के विशाल मंदिर के निर्माण का वर्णन है (तेनाकारितं मनोहरं जिनगृहं भूमेरिदं भूषणम्)। प्रशस्ति के अंत में राजपूताना के जैनियों द्वारा ऋषभनाथ की मूर्तिकी प्रतिष्ठा का उल्लेख सुन्दर शब्दों में किया गया है-[श्रीवृषभनाथनाम्नः प्रतिष्ठितं भूषणेन विम्बमिदं ए. इ० भा० २१, पृ० ५४]

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसवीं से १२ वीं सदी तक राजपूताना में जैनधर्म का विशेष रूप से प्रसार हो गया था। साधारण जनता तथा शासकों द्वारा उपासना तथा प्रोत्साहन का उल्लेख प्रशस्तियों में स्पष्ट रूप से पाया जाता है। इतना ही नहीं; हिन्दू-मत के माननेवाले भी जैनमंदिर को दान दिया करते थे। जैनविहार तथा मंदिरनिर्माण के अनेक उदाहरण पाये जाते है (ए० इ. भा० ४०, पृ० १४५ तथा ए. इ० भा० २०, पृ० ६१)। चाहमान, परमार तथा चन्देल शासकगण जैनधर्म से प्रेम रखते थे तथा सहिष्णु थे। खजुराहों के जैनमंदिर तथा अनगिनत तीर्थंकरों की प्रतिमायें इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं तथा आज भी सभी को आकर्षित करती ही है।

आबू के देलवाड़ा समूह के जैन मंदिर जैनमत के प्रसार के जीवित उदाहरण हैं। कलात्मक दृष्टि से उनका विश्लेषण करना हमारा ध्येय नहीं है; परन्तु जैनमत के प्रचार की ओर संकेत करना है। राजपूताना, मध्यभारत तथा मध्यदेश आदि भूभाग ब्राह्मण धर्म तथा संस्कृति के प्रसिद्ध क्षेत्र माने गये हैं जहां वैष्णव और शैव मत की प्रधानता थी। तो भी उस परिस्थिति में हम जैनमत को फूलते तथा फलते पाते हैं। हां, उस पर ब्राह्मण मत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। पूजा-पाठ में पौराणिक देवताओं की तरह चंदन, धूप, दीप, नैवेद्य का प्रयोग होने लगा। उस भाग से जितनी जैन प्रतिमायें मिली हैं उनकी बनावट हिन्दू देवताओं के सदृश है तथा शास्त्रीय नियम से सम्बद्ध है। इसके विवेचन में न जाकर यह कहना आवश्यक है कि राजपूताना जैनमत का ऐसा गढ़ बन गया कि विधर्मियों के आक्रमण से भी गिराया न जा सका। आज भी वह भाग जैनमत का प्रसिद्ध भूभाग है।

१-२ जब तक इस तथ्य की शोध-खोज न की जाय, एक पर दूसरे का प्रभाव, अपने ऊपर रहे हुए मात्र प्रभाव के कारण लिख देना पुरातत्त्वदृष्टि से ठीक नहीं। —सपा० दौलतसिंह लोढ़ा,

राजस्थान में जैनधर्म का ऐतिहासिक महत्त्व

कैलाशचन्द जैन, जयपुर

राजस्थान में पांचवीं शताब्दी पूर्व जैनधर्म के प्रचलित होने का ठोस प्रमाण बड़ली का शिलालेख है।[1] इसके पश्चात् छट्ठी शताब्दी तक इस धर्म का न तो साहित्यिक और न शिलालेखादि का ठोस प्रमाण मिलता है, किन्तु इस समय यह सीमांत प्रदेशों में जैसे पंजाब, सिंध, गुजरात, उत्तर प्रदेश तथा मालवा में बहुत प्रचलित था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रमाण नहीं मिलने पर भी राजस्थान इसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता है। सातवीं शताब्दी से वर्तमान समय तक यहां पर यह धर्म साधुओं के उच्च व्यक्तित्व, राजाओं तथा शासकों के सहयोग तथा धनिकों की दानशीलता से बहुत फलाफूला। भव्य मन्दिरों का निर्माण किया गया तथा उनमें अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई। असंख्य शास्त्रों को लिपिबद्ध करवाया गया तथा उनके लिए शास्त्रभंडार स्थान-स्थान पर स्थापित किए गए। इस धर्म का प्रभाव राजस्थान के जनसाधारण पर पड़ा तथा उन्होंने मांस, मदिरा को त्याग दिया।

महावीर के समय जैनधर्मः—भारतीय इतिहास का ऐतिहासिक युग करीब महावीर के समय से प्रारंभ होता है। इस समय सिंधुसौवीर पर उदाइन नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। वह जैनधर्म का अनुयायी हो गया और उसने एक विशाल मंदिर पूजा के लिए अपनी राजधानी में बनवाया। एक बार महावीरस्वामी स्वयं उसकी राजधानी में आये तथा उनसे उसने साधु दीक्षा लेली। विद्वानों के मतानुसार जैसलमेर और कच्छ के हिस्से उस समय सौवीर में शामिल थे।[2]

भीनमाल के १२७६ के शिलालेख से पता चलता है कि महावीरस्वामी स्वयं श्रीमाल-नगर पधारे थे। श्रीमालमाहात्म्य में श्रीमाल में जैनधर्म के विकास का उल्लेख आया है। इसके अनुसार गौतम श्रीमाल के ब्राह्मणों के व्यवहार से असंतुष्ट हो कर काश्मीर गया, जहां पर महावीरने उसको जैनधर्मावलम्बी बना लिया। श्रीमाल लौटने पर उसने वैश्यों को जैनी बनाया तथा कल्पसूत्र, भगवतीसूत्र, महावीरज्ञानसूत्र आदि ग्रंथों की रचना की।

---

१. भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ २. डा. सरकार के अनुसार यह जैन शिलालेख नहीं है, किंतु उसके विचार ठीक प्रतीत नहीं होते हैं। देखो, JBORS. March. 1954, P. 8.

२. Ancient India by Tribhuvanlal shah, vol. 1. P. 215.

मुंगस्थल के १३६९ के शिलालेख से पता चलता है कि महावीरस्वामी स्वयं अर्बुदभूमि पधारे थे तथा महावीरस्वामी के जीवन के ३७ वें वर्ष में केशीश्रमणने यहां पर एक मूर्ति की प्रतिष्ठा की।[3] ये प्रमाण बहुत पीछे के हैं। इस कारण इनको प्रमाण में नहीं लिया जा सकता।

राजस्थान में जैनधर्म के प्रचलित होने का सब से ठोस प्रमाण बड़ली का शिलालेख है। यह शिलालेख वीर निर्वाण संवत ८४ का है तथा इसमें माझमिका का उल्लेख है। यह स्थान चित्तौड़ का माध्यमिका है जिसका उल्लेख पातंजलीने अपने महाभाष्य में किया है। वर्तमान समय में यह स्थान नगरी कहलाता है। जैन श्रमण संघ की माध्यमिका शाखा इसी स्थान से प्रसिद्ध हुई। सुहस्थि के शिष्य प्रिय ग्रंथने इस की स्थापना तीसरी शताब्दी पूर्व की थी। तीसरी शताब्दी पूर्व का यहां पर एक शिलालेख भी मिला है जिसका अर्थ है कि 'सर्वमूर्तों के निमित्त।[4]' संभव है कि यह जैनियों का शिलालेख हो तथा इस बात को सिद्ध करता है कि जैनधर्म इस समय राजस्थान में प्रचलित था।

मौर्यों के समय जैनधर्मः—मौर्य राजाओं की छत्रछाया में भी जैनधर्म उन्नति करता रहा। साहित्य तथा शिलालेखादि के प्रमाणों से अब यह स्पष्ट हो गया है कि चन्द्रगुप्त जैन सम्राट् था। उसके साम्राज्य में राजस्थान का हिस्सा भी सामिल था; क्योंकि उनके पौत्र का शिलालेख बैराठ में मिला है। यह सब राज्य चन्द्रगुप्त द्वारा ही बढया गया था; क्योंकि अशोकने तो केवल एक कलिंग की ही विजय की थी। उसने अनेक मंदिरों की प्रतिष्ठा करवाई। सत्रहवीं शताब्दी के कवि सुन्दर गणी के अनुसार उसने घंघाणी के मंदिर की पार्श्वनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई।[5] यह प्रमाण बहुत पीछे का होने के कारण इसको प्रमाण में नहीं लिया जा सकता।

चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक बौद्धधर्म का अनुयायी होने पर भी जैनधर्म को चाहता था। उसने आजीविक साधुओं के रहने के लिये बारबरा की पहाड़ियों में गुफायें बनवाई। उसके शिलालेखों में निर्ग्रंथों तथा आजीविकों के लिए दान का उल्लेख आता है। इसके पश्चात् इसका पौत्र सम्प्रति राजा बना। जिस प्रकार से अशोक ने बौद्धधर्म के प्रचार के लिए प्रयत्न किया, उसी प्रकार से सम्प्रति ने जैनधर्म के फैलाने में कोई प्रयत्न शेष नहीं छोड़ा। जैन इतिहास में संप्रति जैन अशोक के नामसे प्रसिद्ध है। जैन परम्परा के अनुसार उसने राजस्थान, गुजरात तथा मालवा में अनेक मंदिरों तथा मूर्तियों का निर्माण कराया और

---

३. अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख सदोह, लेखाक ४८।
४. उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ. ३५८।
५. भगवान पार्श्वनाम की परंपरा का इतिहास, पृ. २७३।

उनकी प्रतिष्ठा करवाई। टोड के अनुसार कुंभलमेर का मंदिर राजा सम्प्रति के द्वारा बनाया हुआ है[६]। वास्तव में यह विचार गलत है। वह मंदिर करीब १३ वीं शताब्दी का है और बनावट की दृष्टि से आबू के मंदिरों से मिलता-जुलता है। यह अपूर्ण दशा में ही छोड़ दिया गया है। नन्दलाई* के शिलालेख के अनुसार वि. सं. १६८६ में उस स्थान के संघने राजा सम्प्रति द्वारा बनाये हुए मंदिर का पुनः निर्माण किया[७]। इसके अतिरिक्त सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार के लिए अन्य उपायों का भी प्रयोग किया। उसने यात्रा के लिए संघ निकाले। आर्यसुहस्थि की संरक्षता में जैनधर्म के प्रचार के लिए एक सभा बुलाई गई। उसने धर्मप्रचार करने के लिए स्थान-स्थान पर धार्मिक आचार्यों को भेजा।

पश्चिमी भारत के संबन्ध में यूनानियों के विचार:—यूनानी लेखकों के द्वारा भी पश्चिमी भारत के सम्बन्ध में अनेक बातों का पता चलता है। उनके अनुसार यहां पर अनेक नग्न साधु भ्रमण करते थे जिनको वे Gymnosophists (जिम्नोसोफिस्ट) के नाम से पुकारते थे। ये साधु अनेक यातनाओं को सहन करते थे। समाधिमरण के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होते थे। समाज में इनका स्थान बहुत ऊंचा था। इनके साथ स्त्रियां संयम ले रह कर के दर्शन तथा धर्म का अध्ययन करती थीं। प्रायः ब्राह्मण स्त्रियों को धार्मिक संघ में नहीं रखते। इस कारण बहुत संभव है कि ये स्त्रियां जैन संघ की भिक्षुणियां हों। इनमें जातिपाति का कोई प्रश्न न था। चरित्र को उच्च स्थान दिया जाता था। ये स्तूपों की पूजा करते थे। इन सब बातों से यह ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानियों के आगमन के समय पश्चिमी भारत में जैनधर्म प्रचलित था[८]।

शकों के समय जैनधर्म:—शकों के शासनकाल में भी जैनधर्म का उत्थान हुआ। इस समय कालकाचार्य नाम के जैन साधुने सौराष्ट्र, अवन्ति और राजस्थान के पश्चिमी भाग में भ्रमण किया और जैनधर्म के बारे में लोगों को बतलाया। कालकाचार्य की बहन का नाम सरस्वती था। वह भी साध्वी के रूप में धर्मप्रचार का कार्य करती थी। उसकी सौन्दर्यता पर लालायित हो कर गर्धभिल नाम के उज्जैन के राजाने बलात्कार करना चाहा। कालकाचार्य क्रोधित हो कर पश्चिम में गया तथा वहां के शक राजा को अपनी ज्योतिष विद्या से

६ Annals and Antiquities of Rajasthan II vol; p. 721–23.

* नड्डलाई या फिर नारदपुरी चाहिये. सपा. दौलतसिंह लोढ़ा.

७. नाहर, जैन शिलालेख संग्रह, ८५६। यह शिलालेख बाद का होने के कारण प्रमाण में नहीं लिया जा सकता।

८. अ. Ancient India by Mccrindle.

आ. Ancient India as described by Megasthanese and Arrian.

प्रभावित किया । उसको गर्धभिल पर आक्रमण करने को उकसाया । बहुत संभव है कि यह शक राजा Maues (मेउस) हो । इसका यह समय तक्षिला ताम्रपत्र (Taxila Copper Plate) तथा सिक्कों के अध्ययन से भी ज्ञात होता है । उसने गर्धभिल को हराया तथा उज्जैन पर अपना अधिकार किया । उसने अनेक प्रकार के सिक्के चलाये । एक सिक्के पर एक तरफ बैठी हुई प्रतिमा है तथा दूसरी ओर नृत्य करता हाथी आता हुआ प्रतीत होता है[९] । टार्न (Tarn) के अनुसार यह प्रतिमा महात्मा बुद्ध की है, किन्तु यह विचार ठीक प्रतीत नहीं होता है । यह बैठी हुई प्रतिमा तीर्थंकर की हो सकती है । और यह नाचता हुआ हाथी तीर्थंकर पर जल छिड़कने के लिए आता हुआ ज्ञात होता है । यह संभव हो सकता है, क्यों कि कालकाचार्य के प्रभाव से मेउस (Maues) ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया हो और उस प्रकार का नया सिक्का निकाला हो ।

उज्जैन में शकों का राज्य केवल १७ वर्ष तक ही रहा । इसके पश्चात् गर्धभिल के पुत्र विक्रमादित्य ने अपने पिता के खोये हुए राज्य को फिर से प्राप्त किया । सिक्कों तथा शिलालेखों से पता चलता है कि मालव जनतंत्र इस समय दक्षिण–पूर्वी राजस्थान में था । [१०]इस जनतंत्र का नायक विक्रमादित्य था । विक्रमादित्य के समय पश्चिमी भारत में जैनधर्म जीवित धर्म था । जैन परंपरा के अनुसार विक्रमादित्य स्वयं भी जैनी हो गया था ।

पहली शताब्दी में हर्षपुर एक समृद्धिशाली शहर समझा जाता था । यह अजमेर तथा पुष्कर के मध्य में स्थित था । भूमक सिक्के भी यहां पर मिले हैं । जैन साहित्य के अनुसार यहां पर ३०० जैन मंदिर थे । इस समय सुभरपाल नाम का राजा राज्य करता था[११] किंतु इतिहास से इस राजा का पता नहीं चलता है । यह वर्णन कुछ बढ़ा–चढ़ा कर किया गया है, किंतु जैनधर्म का इस स्थान से संबन्ध होने में कोई संदेह नहीं है । हर्षपुर गच्छ भी इसी स्थान से प्रसिद्ध हुआ है । इस गच्छ के दसवीं और ग्यारहवी शताब्दी के शिलालेख भी मिलते हैं ।

समन्तभद्र के प्रयत्न से भी जैनधर्म का दूसरी शताब्दी में अधिक प्रचार हुआ । श्रवण बेलगोला के शिलालेख के अनुसार वह धर्मप्रचार करने के लिए अनेक स्थानों पर

---

९ Catalogue of Indian coins by Gardner, PI XVII, No 5.

१० अ ASIR. Vol VI P. 160-183

आ. Manelsa sacrificial Piller inscription of the 3 rd century A. D (Udaipur State)

११ Ancient India by Tribhuvanlal Shah Vol. III, PP. 381-382.

गया तथा वहां पर अपनी विजय का डंका बजाया। वह मालवदेश में भी आया था। इस समय राजस्थान का दक्षिणी-पूर्वी भाग मालव प्रांत में शामिल था।

ह्युवान चांग द्वारा उल्लेखः—ह्युवान चांग से स्पष्ट पता चलता है कि उसके समय जैनधर्म तक्षशिला से लेकर सुदूर दक्षिण तक फैला हुआ था। राजस्थान में उसने केवल भीनमाल तथा बैराठ के ही बारे में लिखा है। इन दोनों स्थानों पर बुद्धधर्म पतन अवस्था में था। भीनमाल में केवल एक मठ था जिसमें केवल १०० भिक्षु रहते थे। इस स्थान की जनसंख्या अधिकतर अन्य धर्मावलम्बियों की थी। बैराठ में आठ मठ थे जो जीर्ण अवस्था में थे। इस प्रकार के उल्लेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बुद्धधर्म के साथ वैदिक धर्म तथा जैनधर्म भी इन दोनों स्थानों पर विद्यमान थे।

बसंतगढ़ के मंदिर में एक प्रतिमा सातवीं शताब्दी की है[१२]। इससे जैनधर्म का राजस्थान में सातवीं शताब्दी में प्रचलित होने का पता चलता है। आठवीं व नवमी शताब्दी में यह धर्म राजस्थान में हरिभद्रसूरि नाम के महान् विद्वान के प्रयत्नों से अधिक फैला। पहले चित्रकूट (चितौड़) के जितारी राजा के पुरोहित थे, किंतु अन्त में वे जैन साधु हो गये।

मुसलमान यात्रियों द्वारा पश्चिमी भारत में जैनधर्म के होने का उल्लेख—

आठवीं व नवमी शताब्दी में जैनधर्म की स्थिति का पता मुसलमान यात्रियों से भी चलता है। दुर्भाग्यवश वे पूर्ण पर्यवेक्षक नहीं थे। इस कारण उन्होंने अनेक त्रुटियां कीं। उन्होंने प्रत्येक मूर्ति, मंदिर तथा साधु को बुद्ध धर्म का बतलाया जो वास्तव में ठीक नहीं है। बिलादुरी ने तो सूर्यमंदिर को भी बुद्ध मंदिर बतला दिया। यूरोपियन विद्वानोंने इन ग्रन्थों का अनुवाद किया। जैनधर्म तथा बुद्धधर्म के अंतर को नहीं समझने के कारण उन्होंने भी अनेक त्रुटियां कर डालीं।

अबुजैदुल लिखता हैं-भारत वर्ष में अधिक नर साधु जंगलों में निवास करते हैं। तथा संसार से बहुत कम संबन्ध रखते हैं। कुछ साधु केवल जंगल के फलफूल खाते हैं तथा कुछ नंगे भ्रमण करते हैं और नंगे खड़े रहते हैं। मैंने मेरी यात्रा में एक ऐसे व्यक्ति को देखा जो १६ वर्ष तक लगातार नग्न अवस्था में एक ही आसन पर खड़ा रहा। आश्चर्य की बात तो यह है कि वह सूर्य की किरणों से भी नहीं पिघला। नग्न अवस्था विशेषकर जैनियों में पाई जाती है। बहुत संभव है कि यह जैन साधु था।

अशारत बिलाद स्वयं यात्री नहीं था, किन्तु वह लेखक था। वह लिखता है कि सिंध के

---

१२. अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेखसंदोह. ३६५.
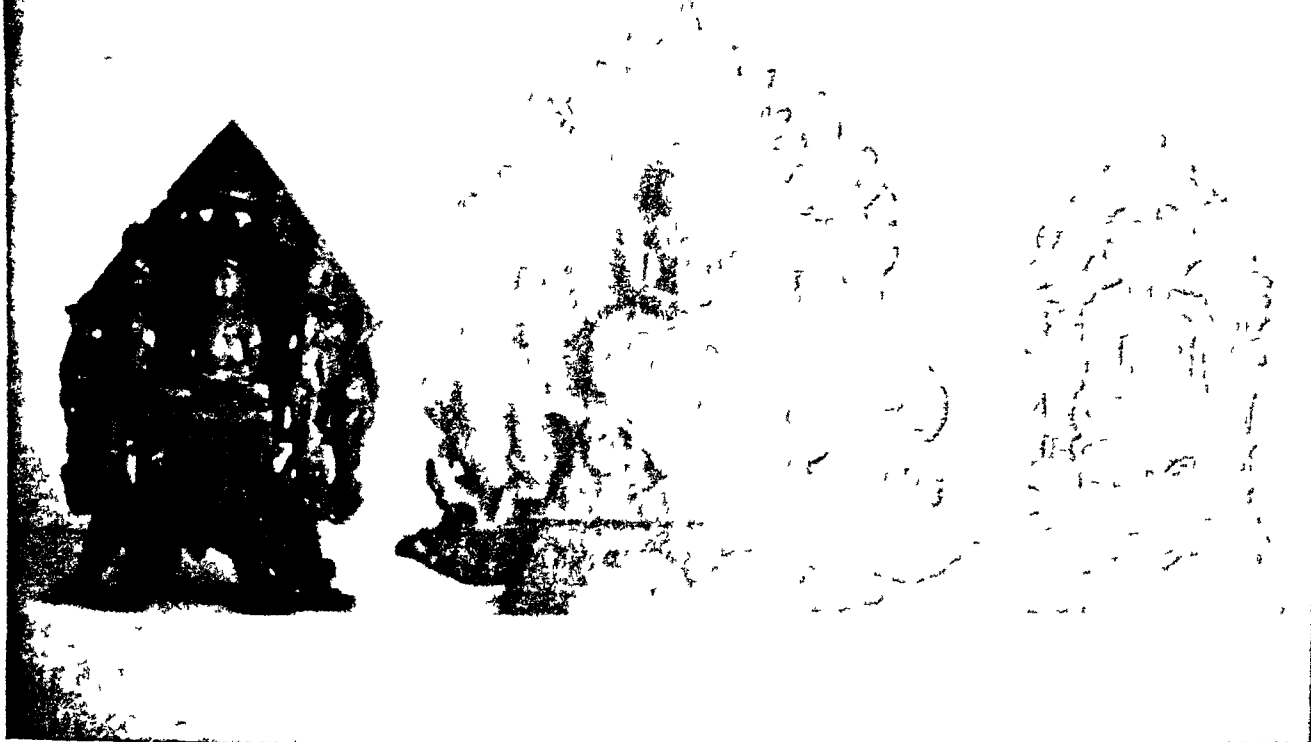
मनोरम धातु प्रतिमायें, अमरसर (बीकानेर) वि. ११-१३ वीं शती श्री नाहटा-सग्रहालय, बीकानेर

भूगर्भ से प्राप्त पाषाणमय प्रतिमायें, नरहड़ (पिलानी के पास)
श्री नाहटा-सग्रहालय, बीकानेर.

पास सिमूर नाम के नगर में कुछ काफिर रहते थे। वे न तो जानवरों का वध करते थे और न मांस, मछली और अंडों का प्रयोग करते थे। कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो स्वयं तो वध नहीं करते थे, किन्तु दूसरों के द्वारा मारी हुई को खा लेते थे। इस प्रकार की सूचना से पता चलता है कि यहां पर जैन और बौद्ध वसते थे[13]।

राजपूतों के समय में जैनधर्म

राजपूतों की छत्रछाया में जैनधर्मने अधिक उन्नति की। वैष्णवधर्म के अनुयायी होते हुए भी उन्होंने जैनधर्म को उदारता की दृष्टि से देखा तथा उन्नति में हर प्रकार का सहयोग दिया।

प्रतिहारों के समयः—राजस्थान में जैनधर्म का प्रचार प्रतिहारों के समय भी हुआ। वत्सराज के समय का बना हुआ ओसिया में एक महावीर का मंदिर है। इस वत्सराज का उल्लेख जिनसेनने अपने हरिवंशपुराण में भी किया है जो ७८३ ई. में लिखा गया था। इसके पश्चात् ७९२ ई. में उसका पुत्र नागभट्ट गद्दी पर बैठा। वह आम नाम के राजा से प्रसिद्ध है। वह जैन साधु बप्पभट्टसूरि का बहुत ही सम्मान रखता था तथा उसके आदेशानुसार अनेक स्थानों पर जैन मंदिर बनवाये। ८४० ई. में मिहिरभोज नाम का राजा हुआ जो नन्नसूरि तथा गोविन्दसूरि से प्रभावित था। कक्कुड़ मंडोर का प्रतिहार राजा था। वह संस्कृत का विद्वान तथा जैनधर्म का संरक्षक था। घटियाला के शिलालेख से पता चलता है कि उसने ८६१ ई. में एक जैन मंदिर बनवाया।

चौहानों के समय जैनधर्मः—चौहानों के समय जैनधर्म बहुत फैला। जिनदत्तसूरि अर्णराज के समकालीन थे। अजमेर में सूरिजी के दर्शन के लिए अर्णराज नित्य जाया करता था। उसने सूरिजी के अनुयायियों को मंदिर बनवाने के लिए भूमि दान दी। बिजोलिया के (वि.)११६९ के शिलालेख से स्पष्ट पता चलता है कि पृथ्वीराज प्रथमने वहां के पार्श्वनाथ के मंदिर को खर्चे के लिए मोरकुरी नाम का गॉव दान में दिया। पृथ्वीराज के पश्चात् सोमेश्वर गद्दी पर बैठा जो प्रतापलंकेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा से उसने रेवाना नाम का गॉव उपर्युक्त मंदिर को दान में दिया। इसके बाद पृथ्वीराज द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसको वाद-विवाद का शोक था। उसके दरबार में (वि.)११९२ में जिनपतिसूरि और पण्डित पद्मप्रभ के बीच में वाद-विवाद हुआ जिसमें जिनपतिसूरि विजयी हुए।

नाडोल के चौहानोंने ९६० से लेकर १२५२ ई. तक राज्य किया। अश्वराज चौहान

१३. The History of India as told by its own people.

कुमारपाल का सामंत था। उसने जैनधर्म स्वीकार कर लिया तथा अपने राज्य में जीववध बन्द करवा दिया। उसके शिलालेखों से पता चलता है कि उसने जैन मंदिरों को अनेक दान दिये। इसके पश्चात् उसका पुत्र रायपाल गद्दी पर बैठा। उसके समय में भी भूमि, अनाज, धन आदि का दान मंदिरों को दिया गया। आल्हणदेव तथा केल्हणदेव के राज्य में भी अनेक मंदिरों तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। उन्होंने मन्दिरों को अनेक प्रकार के दान भी दिये।

जालोर के चौहान राजाओं के राज्य में भी जैनधर्म बढ़ा चढ़ा। समरसिंह के राज्य में यशोवीर नाम के धनीने एक मंडप तैयार करवाया। इसी राजा के आदेश से यशोवीरने कुमारपाल द्वारा निर्मित पार्श्वनाथ के मंदिर का पुनरुद्धार करवाया। चाचिगदेव के राज्य में तेलीया ओसवालने महावीर के मंदिर को ५० द्राम दान में दिए।

इस प्रकार चौहानों के राज्य में जैनधर्म और हिन्दूधर्म साथ-साथ पनपे तथा फूले। दोनों धर्मों में आपस में किसी प्रकार की वैमनस्यता नहीं थी। राजा लोग एक साथ हिन्दू देवताओं तथा जैन तीर्थंकरों की पूजा करते थे और दोनों के उत्सवों में भाग लेते थे।

चावडों तथा सोलंकियों के राज्य में जैनधर्म

चावड़ों तथा सोलंकियों के राज्य में जैनधर्म का अधिक प्रचार हुआ। चावड़ वंश का संस्थापक वनराज था। उसने शीलगुणसूरि को अपनी राजधानी आने को आमंत्रित किया तथा अपने समस्त राज्य को सूरिजी के चरणों में अर्पित करने को तैयार हो गया। इसका कारण यह था कि जब वनराज जंगल में पलने पर सोया हुआ था, उस समय सूरिजीने उसके शारीरिक चिन्हों को देख कर यह भविष्यवाणी की थी कि वह आगे चल कर राजा होगा। निस्वार्थ भाव रखनेवाले सूरिजीने इसको स्वीकार नहीं किया, किंतु उनके आदेशानुसार उसने अणहिलपुर पाटन में पंचासर नाम के मंदिर का निर्माण करवाया तथा उसमें पार्श्वनाथ की प्रतिमा की स्थापना की। उसने श्रीमाल तथा मरुधरदेश के जैन व्यापारियों को अणहिलपुर पाटन में बसने को आमंत्रित किया।

मूलराज सोलंकीने अंतिम चावड़ा राजा से ई. ९४२ के करीब गद्दी प्राप्त की। इसका राज्य राजस्थान के बहुत से हिस्सों में फैला हुआ था। वह जैनधर्म का प्रेमी था तथा उसने मूलराजवसहिका बनाई।

जैनधर्म का सब से अधिक प्रचार सोलंकियों के समय में हुआ। यह समय प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र का था। उसकी गहन विद्वत्ता तथा पवित्र जीवन के कारण राजस्थान तथा

गुजरात में जैनधर्म बहुत फैला । उस समय वह जैन समाज का सब से बड़ा नेता व प्रचारक था । विद्वत्ता तथा जीवन की पवित्रता की दृष्टि से उसकी तुलना शंकराचार्य से की जा सकती है । जयसिंह शैवधर्म का अनुयायी होने पर भी जैनधर्म को आदर की दृष्टि से देखता था । इसी कारण से उसके दरबार में दिगम्बर साधु कुमुदचन्द्र और श्वेताम्बर साधु देवसूरि के मध्य में ११२५ ई. में वादविवाद हुआ जिसको देखने के लिए अवश्य ही पास पड़ोस के व्यक्ति आये होंगे । हेमचन्द्र जैसे जैन विद्वान् उसके दरबार की शोभा बढ़ाते थे ।

जयसिंह के पश्चात् कुमारपाल गद्दी पर बैठा । वह धीरे-धीरे हेमचन्द्रसूरि के प्रभाव में आया और अंत में जैनधर्म को स्वीकार कर लिया । उसने जैनधर्म के प्रचार के लिए अनेक साधनों का प्रयोग किया और अपने राज्य को एक आदर्श जैन राज्य बना दिया । उसने अशोक के समान केवल स्वयंने ही विलास-प्रिय वस्तुओं को नहीं त्यागा, किंतु जनता को भी अपने अनुसार ही चलने का अनुरोध किया। उसने अपने राज्य में जीववध को रोक दिया । द्वाश्रय के अनुसार पालीदेश में ब्राह्मण लोगों को यज्ञ में पशुओं की बलि के स्थान पर अनाज का प्रयोग करना पड़ता था । मेरुतुंग के अनुसार एक साधारण व्यापारी को एक चूहे को मारने के अपराध में अपनी समस्त सम्पत्ति मूकाविहार बनाने में खर्च करनी पड़ी। यह सब कुछ बढ़ा चढ़ा कर लिखा गया हो, किंतु इसमें कुछ सत्य अवश्य है । उसने अपने राज्य में भिन्न-भिन्न स्थानों पर शास्त्रभंडारों की स्थापना की। वह एक बड़ा भारी निर्माता भी था । उसने अनेक जैनमंदिर बनाये । जालोर में भी उसने एक जैन मंदिर बनाया ।

कुमारपाल की मृत्यु के पश्चात् जैनधर्म की उन्नति में कुछ बाधा अवश्य आई, किन्तु फिर से इसने विमल, वस्तुपाल और तेजपाल जैसे महापुरुषों की संरक्षता में उन्नति की । ये पक्के भक्त थे। इन्होंने जैनधर्म की उन्नति के लिए अनेक प्रयत्न किये। चालुक्य राजा भीम प्रथमने विमल को अपना गवर्नर बनाया । उसने भीम और धन्धू के मध्य में मित्रता करवाई । धन्धू के आदेश से(!) उसने १०८२* ई. में आबू में एक सौन्दर्यपूर्ण मंदिर का निर्माण करवाया जो कि संसार के अद्भुत कलापूर्ण मंदिरों में गिना जाता है । वस्तुपाल और तेजपाल पहले भीम द्वि० के मंत्री थे और बाद में वीरधवल के मंत्री रहे। तेजपाल ने १२३० ई. में आबू में एक कलापूर्ण मंदिर बनाया । इस मंदिर की पूजा के खर्च के लिए समरसिंह ने डबाणी नाम का ग्राम दान में दिया ।

परमारों के राज्य में जैनधर्मः—परमार राजाओं की संरक्षता में भी जैनधर्म ने

*वि. स. १०८८ में, न कि ई० सन् १०८२में । -सपा० दौलतसिंह लोढ़ा।

अच्छी उन्नति की। सिरोही राज्य के दियाणा ग्राम के शिलालेख से पता चलता है कि वर्द्धमान ने कृष्णराज के समय वीरनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की[१४]। यह शिलालेख ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, क्यों कि यह कृष्णराज के समय को निश्चित करता है। झाड़ोली के शिलालेख से ज्ञात होता है कि परमार राजा धारावर्ष की स्त्री श्रृंगारदेवी ने ११९७ ई. में यहां के मंदिर को भूमि दान में दी[१५]। १२८८ ई. में महाराजा वीसलदेव और सारंगदेव के समय दत्ताणी के ठाकुर श्री प्रताप और श्री हेमदेव नाम के परमार ठाकुरों ने पार्श्वनाथ के मंदिर को दो खेत दान में दिये[१६]। सूवड़सिंहने इसी मंदिर को धार्मिक उत्सव मनाने के लिए ४०० द्रम दान में दिए[१७]। दियाणा ग्राम के अन्य शिलालेख से ज्ञात होता है कि तेजपाल और उसके मंत्री कूपा ने एक होज बनवा कर महावीर के मंदिर को दान दिया[१८]।

मालवा के परमार राजाओं ने जैनधर्म के प्रति सहानुभूति दिखलाई। जैसे इनके राज्य में मेवाड़, शिरोही, कोटा और झालावाड़ भी सामिल थे। इस समय इन स्थानों पर जैनधर्म वहुत प्रचलित था, क्यों कि जैन खण्डहर अब भी यहां पर बहुतायत से मिलते हैं। मालवा का राजा नरवर्मन शैव भक्त था, किन्तु जैनधर्म के प्रति भी श्रद्धा रखता था। जब जिनवल्लभसूरि चित्तौड़ में थे तो दक्षिण के दो ब्राह्मण एक समस्या ले कर उसके दरबार में आये। (कंठे कुठार कमठे ठकार)। उसके दरबार के विद्वान उस समस्या का संतोषप्रद उत्तर न दे सके। अंत में उसने उसको जिनवल्लभसूरि के पास भेजा। उन्होंने उसको तुरंत हल कर दिया। जब जिनवल्लभसूरि धारानगरी आये तो राजा ने उनको अपने निवासस्थान पर आमंत्रित किया और उनके उपदेश सुने। राजा सूरिजी की विद्वत्ता पर प्रभावित होकर उनको तीन गांव या ३०००० हजार द्रम देने को तैयार हुआ। सूरिजी दोनों को लेने के लिए तैयार नहीं हुए। अंत में यह निश्चित हुआ कि चितौड़ के चूंगीघर से वहां के खरतरगच्छ के मंदिरों को दो द्रम प्रतिदिन दिये जाने चाहिए। यह घटना ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्यों कि इससे परमार राज्य का विस्तार तथा मेवाड़ की राजनैतिक स्थिति का पता चलता है।

हठुंडी के राठोड़ों के राज्य में जैनधर्मः—हठुंडी में राठोड़ दसवीं शताब्दी में शासन करते थे। ये राजा जैनधर्म के अनुयायी थे। वासुदेवाचार्य के उपदेश से हठुंडी में विदग्धराजने ऋषभदेव का मंदिर बनवाया और भूमि दान में दी। उसके लड़के ममत्त ने

---

१४. अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेखसंदोह, नं. ३११

१५. राजपूताना म्यूजियम अजमेर की रिपोर्ट १९०९-१० नं. २२

१६-१७. अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेखसंदोह नं. ५५, ४५०

भी इसी मंदिर को कुछ दान दिया। इसके पश्चात इसके पुत्र धवल ने इस मंदिर को ठीक करवाया और जैनधर्म की कीर्ति को फैलाने के लिए हर प्रकार का प्रयत्न किया।

राजस्थान के भिन्न-भिन्न राज्यों में जैनधर्म

इस प्रकार राजस्थान में जैनधर्मने प्राचीन समय में अच्छी उन्नति की। भिन्न-भिन्न रजवाड़ों में विभाजित होने के पश्चात् भी जैनधर्म फैलता ही चला गया। अनेक मंदिर बनाये गये। उनमें मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। अनेक शास्त्र लिखे गये। राजा लोग साधुओं को आदर की दृष्टि से देखते थे।

भरतपुर राज्य में जैनधर्मः—दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में इस क्षेत्र में जैन-धर्म बहुत प्रचलित था। अनेक मूर्तियाँ इस समय की यहां प्राप्त हुई हैं। दुर्गदेवने ऋष्ट समुच्चय की रचना लक्ष्मीनिवास राजा के समय कामा में की थी। बयाना में ११ वीं शताब्दी का जैन शिलालेख राजा विजयपाल के समय का है।

मेवाड़ राज्य में जैनधर्मः—मेवाड़ के महाराणाओं की प्रेरणा से भी जैनधर्म को बहुत बल मिला। कुछ राजाओंने तो मंदिरों का निर्माण करवाया तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। जैनाचार्यों को आमंत्रित करके उन्होंने उनका उच्च सम्मान किया तथा उनके उपदेश से प्रभावित होकर पशुहिंसा बन्द करवा दी।

राजा अल्लट के मन्त्रीने आधार में जैन मंदिर बनवाकर उसमें पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। कोजरा के शिलालेख से पता चलता है कि राणा रायसीं की स्त्री शृङ्गारदेवीने ११६७ ई. में पार्श्वनाथ के मंदिर का स्तम्भ बनाया। जिनप्रभसूरि क्षेत्रसिंह के समकालीन थे। उनके चित्तौड़ आने पर राजाने उनका भव्य स्वागत किया। महाराणा समरसिंह और उनकी माता जयतलदेवी देवेन्द्रसूरि के उपदेश से प्रभावित हुए तथा उनके भक्त हो गये। जयतलदेवीने पार्श्वनाथ का मंदिर बनाया। समरसिंहने इस मंदिर को दान में भूमि दी और राज्य में हिंसा को रोक दिया। महाराणा मोकल के खजांचीने १४२८ में महावीर का मंदिर बनाया। मोकल फे पुत्र महाराणा कुम्भकरण के समय में तो जैनधर्म का अधिक प्रचार हुआ। इसके राज्य में अनेक मंदिर बने तथा मूर्चियों की प्रतिष्ठा हुई। उसने स्वयंने सादड़ी[1] का विशाल जैन मंदिर बनाया। उसके पुत्र रायमल के समय भी जैनधर्म फैलता ही रहा। अनेक मंदिरों तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई। महाराणा प्रतापने श्रीहीरविजयसूरि को चित्तौड़ आने

---

१. उसके समय में प्रसिद्ध राणकपुर का मदिर बना यह लिखना उचित था। सादड़ी तो बाद में बसा है। लेखकने सन् अथवा सवत् सूचक शब्द भी कहीं २ नहीं दिये हैं।   सपा० दौलतसिंह.

को आमंत्रित किया। हीरविजयसूरि को उस समय अकबरने जगद्गुरु का पद दिया। उसके पुत्र अमरसिंहने भी जैन मंदिर को दान दिया।

जैनधर्म की प्रतिभा जगतसिंह के राज्य में भी काफी बढ़ी। अनेक मूर्तियों की उसके समय में प्रतिष्ठा की गई। महाराज देवसूरि के गुणों को सुनकर उसने उनको आमंत्रित किया और भव्य स्वागत किया। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर वह उनका भक्त हो गया। उसने अपने राज्य में जीवहिंसा पर रोक लगादी। जैनधर्म इनके पश्चात् भी फैलता रहा। महाराणा राजसिंह के मुख्य मन्त्री दयालशाहने राजनगर में एक सुन्दर मंदिर बनवाया।

डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ में जैनधर्मः—ये तीनों राज्य पहले वागड़देश के नाम से प्रसिद्ध थे। दसवीं शताब्दी में भी इस क्षेत्र में जैनधर्म प्रचलित था, क्योंकि एक दसवीं शताब्दी के शिलालेख में 'जयति श्री वागड़ संघ' का उल्लेख आया है। यहां के राजाओं की संरक्षता में जैनधर्म का अधिक प्रचार हुआ। राजाओं के मंत्रियोंने मंदिर बनाये तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई।

डूंगरपुर का प्राचीन नाम गिरिवर था। जयानंद की प्रवासगीतिकात्रय से पता चलता है कि १३७० ई. में यहां पर पाँच जैन मंदिर तथा ५०० जैन घर थे। १४०४ ई. में रावल प्रतापसिंह के मन्त्री प्रह्लादने जैन मंदिर बनाया। इसके पश्चात् गजपाल के राज्य में भी जैन धर्म बढ़ता चढ़ता रहा। उसके मन्त्री आभाने ऑतरी में एक शांतिनाथ का जैन मंदिर बनाया। गजपाल के पश्चात् उसका मन्त्री सोमदास गद्दी पर बैठा। उसके मन्त्री सालाने पीतल की भारी वजन की मूर्तियां डूंगरपुर में तैयार करवा कर के उनकी प्रतिष्ठा आबू के जैन मंदिरो में करवाई। उसने गिरिवर के पार्श्वनाथ के मंदिर का भी पुनरुद्धार करवाया।

प्रतापगढ़ राज्य में भी जैनधर्म का अच्छा प्रभाव रहा। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी की अनेक मूर्तियां प्रतिष्ठित की हुई यहां पर मिलती हैं। देवली के १७१५ के शिलालेख से पता चलता है कि इस गांव के तेलियों ने भी महाराजा पृथ्वीसिंह के राज्य में सारैया और जीवराज नाम के महाजनों की प्रार्थना से साल में ४४ दिन के लिए अपने कार्य को बन्द रखने का निश्चय किया। इसी राजा के समय में मल्लिनाथ के मंदिर का निर्माण हुआ।

कोटा राज्य में जैनधर्म—कोटा राज्य में बहुत ही प्राचीन समय से जैनधर्म प्रचलित था। पद्मनंदि ने जम्बूद्वीपपण्णत्ति की रचना बारा में करीब आठवीं शताब्दी में की थी। इस ग्रंथ के अनुसार बारा में अनेक श्रावक तथा जैन मंदिर थे। यहां के राजा का नाम
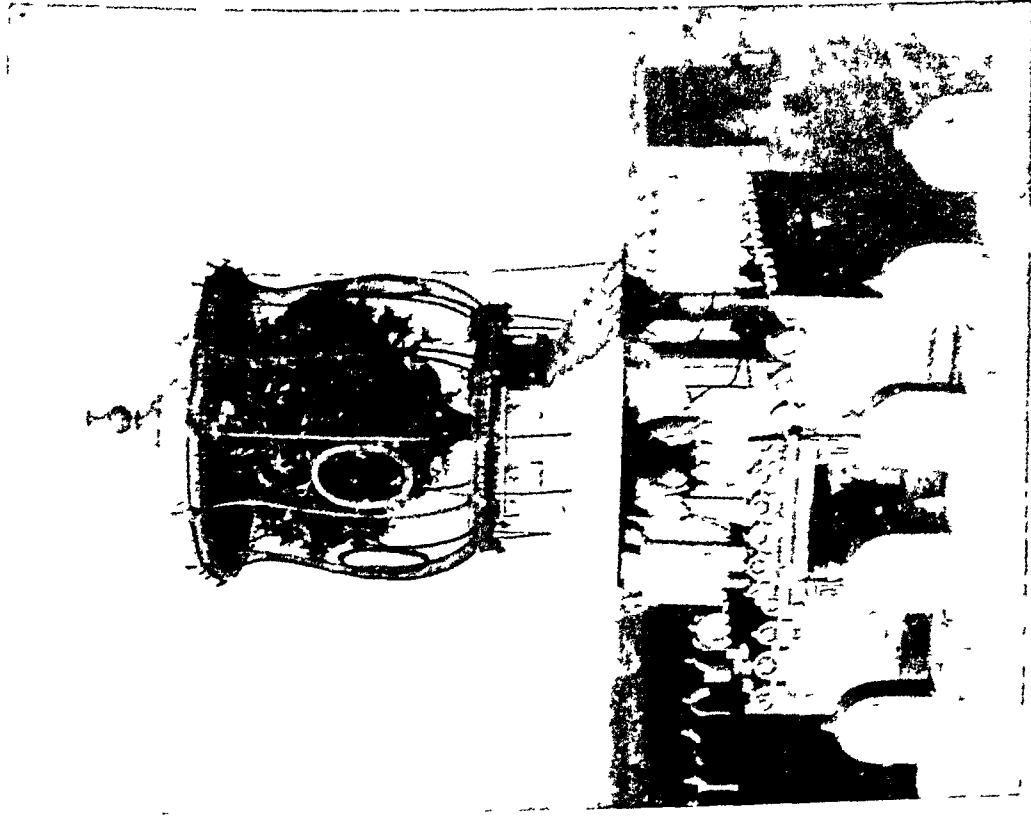
लोद्रवा (जैसलमेर) पार्श्वनाथ जिनालय का धातुमय कल्पवृक्ष
वि १७ वी शती
श्री नाहटा-सग्रहालय, बीकानेर.
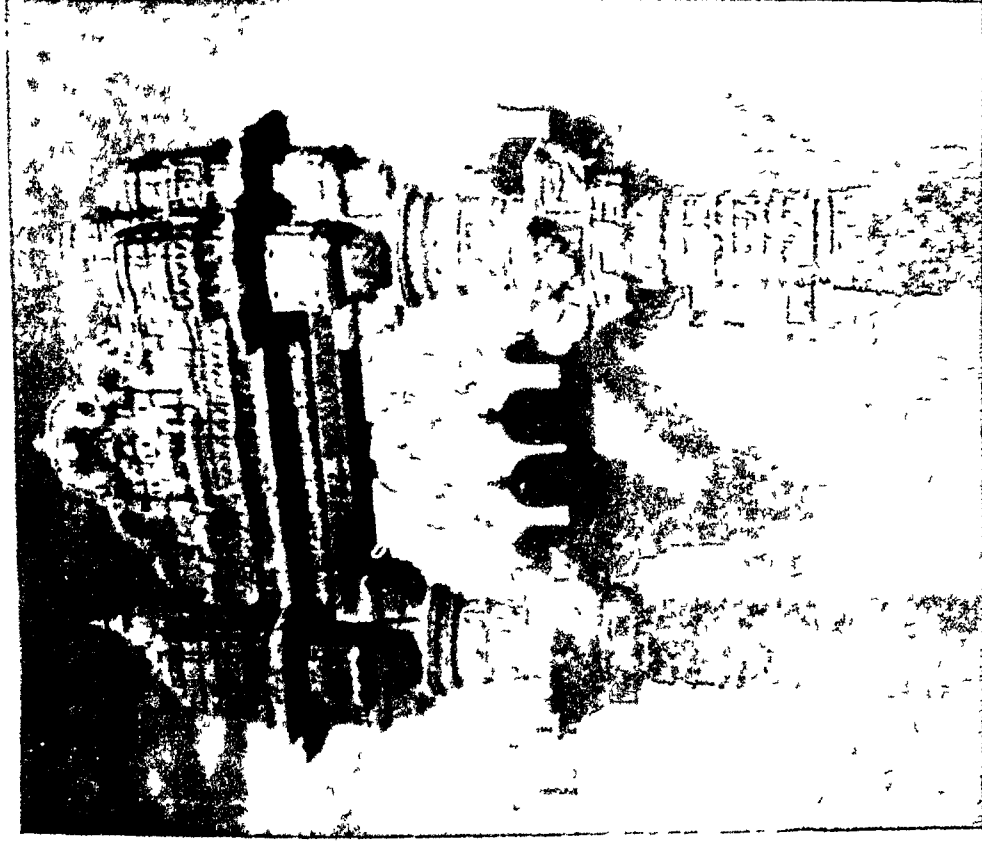
लोद्रवा (जैसलमेर) पार्श्वनाथ जिनालय का भव्य तोरणद्वार.
श्री नाहटा-सग्रहालय, बीकानेर.
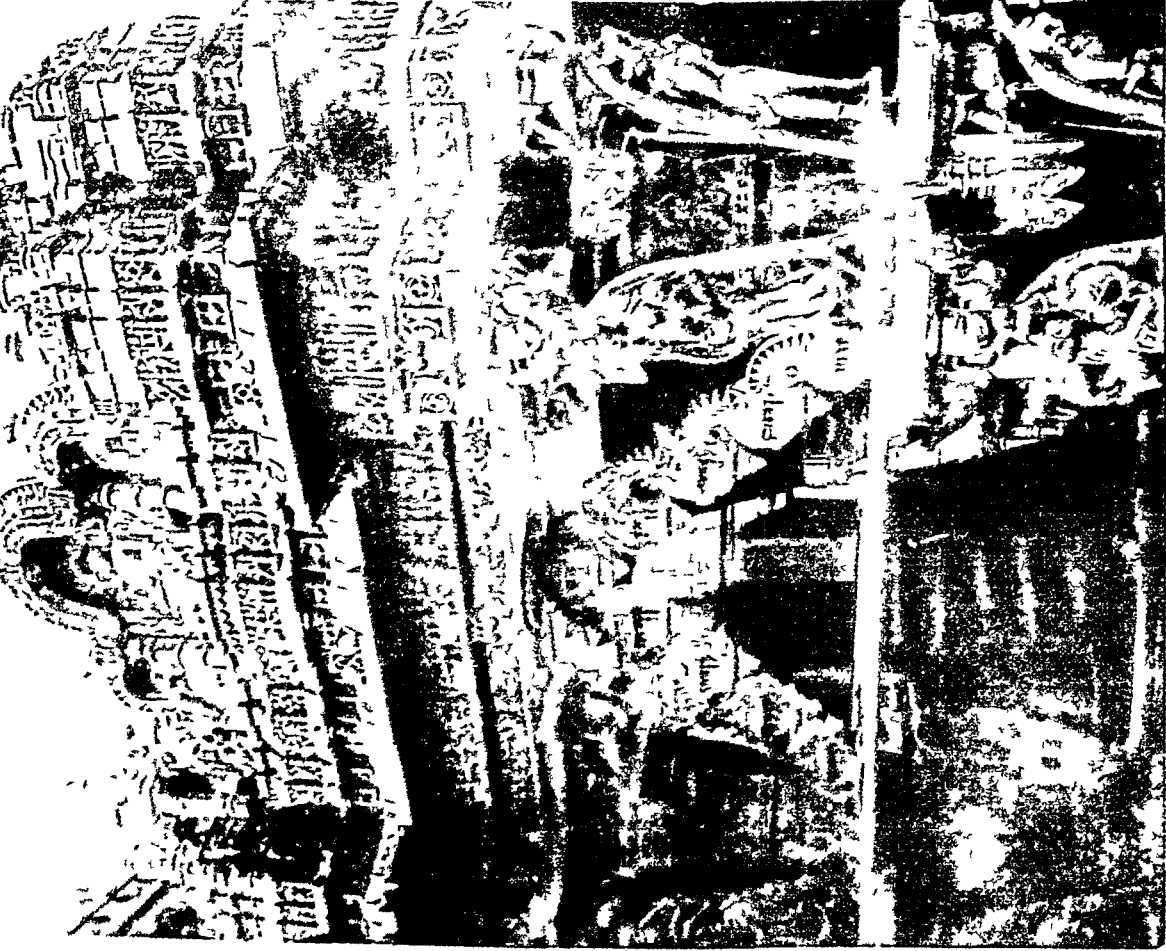
श्री पार्श्वनाथ मंदिर, जैसलमेर का वहिर कलादृश्य. वि. १५ वी शती.
श्री नाहटा-संग्रहालय, बीकानेर.

वैभव की प्रतिमा.
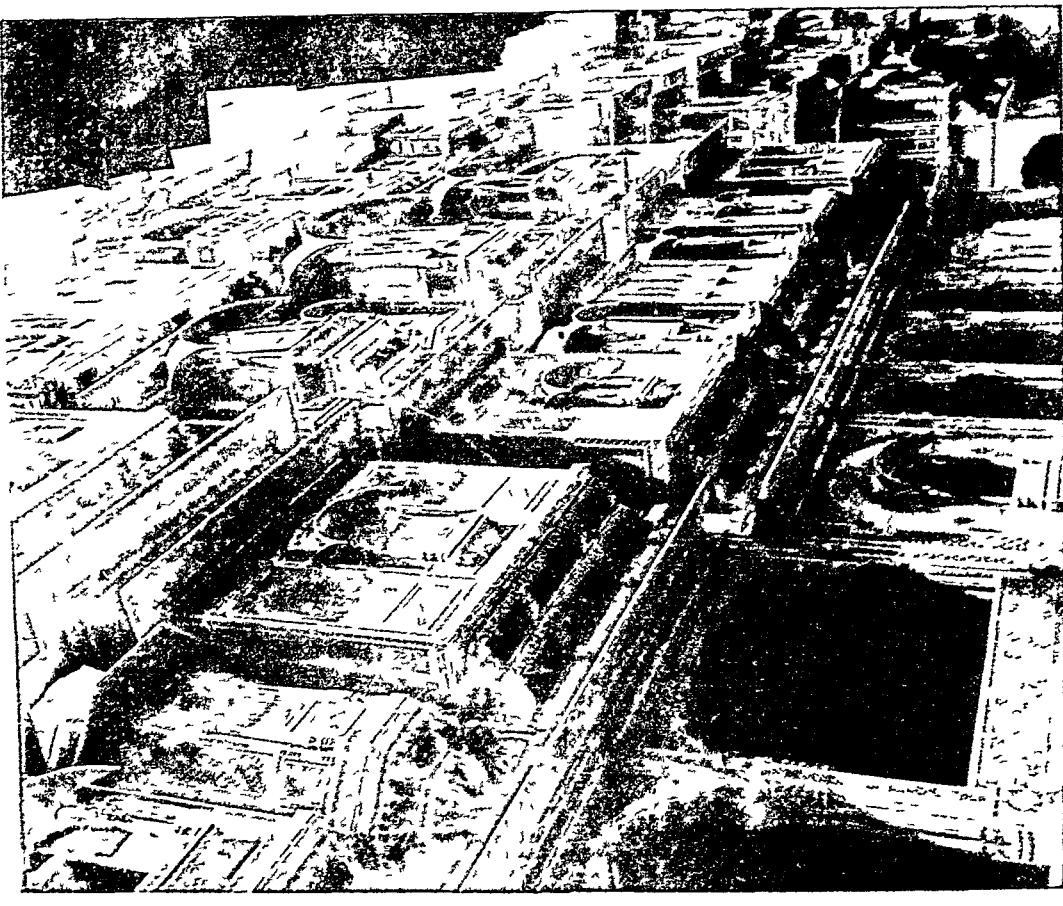
जाली-झरोखो के लिये प्रसिद्ध पटवा हवेली, जैसलमेर (राजस्थान) वि. १९ वी शती.
श्री नाहटा-संग्रहालय, बीकानेर.

शक्ति व शांति था। यह बारा कोटा राज्य का ही बारा है, क्योंकि यहाँ आठवीं और नवमी शताब्दी में भट्टारकों की गद्दी भी रह चुकी है। शेरगढ़ में ग्यारहवीं शताब्दी की तीन विशाल प्रतिमायें राजपूत सरदार द्वारा प्रतिष्ठित की हुई हैं। इन मूर्तियों के शिलालेख से ज्ञात होता है कि शेरगढ़ पहले कोषवर्द्धन के नाम से प्रसिद्ध था। रामगढ़ की पहाड़ियों में आठवीं और नवमी शताब्दी की जैन गुफाये हैं। यह स्थान पहले श्रीनगर के नाम से प्रसिद्ध था। इन गुफाओं में एलोरा की गुफाओं के समान जैन साधु निवास करते थे। अरस में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के दो कलापूर्ण मंदिर हैं। अरस के पास कृष्णविलास नाम का स्थान है। वहां पर आठवीं से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक के बने हुए जैन मंदिर हैं।

१६८९ ई. में चांदखेड़ी में औरंगजेब(?) के समय कृष्णादास नाम के एक धनी बनिये ने महावीर का जैन मंदिर बनवाया और हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। ये मूर्तियां स्थान स्थान पर भेजी गईं। इस समय कोटे में किशोरसिंह नाम का राजा राज्य करता था।

सिरोही राज्य में जैनधर्म—सिरोही राज्य में भी जैन धर्म का अच्छा प्रचार हुआ। कालन्द्री के सं. १३३२ के शिलालेख से पता चलता है कि यहां के श्रमण संघ के कुछ सदस्यों ने समाधिमरण के द्वारा मृत्यु प्राप्त की। यहां के राजाओं के राज्य में भी जैनधर्म बहुत फैला। सहज, दुर्जनशाल, उदयसिंह आदि राजाओं के समय में मंदिरों तथा मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। जब हीरविजयसूरि अकबर के निमंत्रण पर फतहपुर सिकरी जा रहे थे तो रास्ते में सिरोही में ठहरे। यहां के राजा सुतनिर्सिहने(?) इनका स्वागत किया। उसने शराब, मांस और शिकार को त्याग दिया तथा साथ में एकपत्नीव्रत की प्रतिज्ञा ली। उसने जनता पर लगे हुए करों को भी हटा लिया।

जैसलमेर में जैनधर्मः—भाटी राजपूतों के राज्य में जैन धर्म का प्रचार अधिक हुआ। पहिले जैसलमेर की राजधानी लोद्रवा थी। दसवीं शताब्दी में यहां के राजा सगर के जिनेश्वरसूरि की कृपा से श्रीधर और राजधर नामक दो पुत्र हुए जिन्होंने पार्श्वनाथ के मंदिर को बनवाया। इस मंदिर का पुनः निर्माण १६१८ ई. में सेठ थाहसशाह ने किया। लोद्रवा के नष्ट हो जाने पर जैसलमेर राजधानी हुई। लक्ष्मणसिंह के राज्य में १४१६ ई. में चिंतामणी पार्श्वनाथ का मंदिर बना। मंदिर बनने के पश्चात् इसका नाम राजा के नाम पर लक्ष्मणविलास रखा गया। यह बात जनता की राजा के प्रति प्रीति को प्रदर्शित करती है। इसके राज्य में जैनधर्म अवश्य उन्नत हुआ होगा। लक्ष्मणसिंह के पश्चात् उसका पुत्र वैरीसिंह राजा बना। इसके समय में संभवनाथ का मंदिर बना। इस मंदिर की प्रतिष्ठा तथा अन्य उत्सवों में राजाने स्वयंने भाग लिया। उसके पश्चात् चाचिगदेव, देवकरण तथा

अन्य राजाओं के समय में भी मंदिरों का निर्माण हुआ तथा उनमें अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। पादुकायें भी पूजने के लिए बनाई गई। बड़े बड़े शास्त्रभंडार संस्कृति की रक्षा करने के लिए स्थापित किये गए।

जोधपुर और बीकानेर राज्य में जैनधर्म—प्राचीन समय में साँचोर और बाड़मेर में जैनधर्म प्रचलित था। तेरहवीं शताब्दी में सामंतसिंह के समय में बाड़मेर के जैन मंदिर के स्तंभ का निर्माण हुआ। १३३४ ई. में जिनप्रभसूरि यहां पर आये जिनका राजा तथा प्रजाने स्वागत किया। सांचोर का प्राचीन नाम सत्यपुर था। छोगा नाम के ओसवाल भंडारीने ११६८ ई. में भीमदेव के राज्य में यहां के महावीर के मंदिर की चतुष्किका का पुनः निर्माण किया। १३३४ ई. में जिनपद्मसूरि सत्यपुर आये। यहां के राजा हरिपालदेवने इनका स्वागत किया।

तेरहवीं शताब्दी में रत्नपुर में भी जैनधर्म विद्यमान था। १२७६ ई. में चाचिगदेव के राज्य में धीना और उदलने अजितदेवसूरि के उपदेशों से प्रभावित हो कर पार्श्वनाथ के मंदिर को भूमि दान में दी। १२९१ ई. में सामवंतसिंह के राज्य में यहां के श्रावकोंने इसी मंदिर को पुनः ठीक करवाया तथा आर्थिक सहायता दी।

नगर में भी जैनधर्म का अच्छा प्रभाव था। यह स्थान प्राचीन समय में वीरमपुर के नाम से प्रसिद्ध था। १४५९ ई. में राऊड के राज्य में मोदराज गणी के उपदेश से गोविन्द-राजने महावीर के मंदिर को दान दिया। राउल कुषकरण के समय १५११ ई. में यहां के संघने विमलनाथ के मंदिर का रंगमंडप बनवाया। राउल मेघविजय के राज्य में शांतिनाथ के मंदिर का नलिमंडप बनकर १५५७ ई. में तैयार हुआ। १६०९ ई. में राउल तेजसिंह के समय इसी मंदिर को ठीक कराया। इस स्थान के संघने राउल जगमल के समय १६२१ ई. में महावीर के मंदिर में चतुष्किका का निर्माण किया। १६२४ ई. में इसी राजा के राज्य में यहां के जैन संघने पार्श्वनाथ के मंदिर में निर्गम चतुष्किका तथा तीन खिडकियों का निर्माण किया।

जोधपुर के राठोड़ राजाओं की धार्मिक उदार नीति के कारण भी जैनधर्म की अच्छी उन्नति हुई। १६१२ ई. में सूर्यसिंह के राज्य में वस्तुपाल ने पार्श्वनाथ के मंदिर की प्रतिष्ठा की। भामाने अपने परिवार के साथ कापड़ा* में १६२१ ई. में गजसिंह के राज्य में पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। यह शिलालेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उससे पता चलता है कि सिरोही राज्य का कापड़ा ग्राम अब जोधपुर राज्य के अधिकार में आ गया था।

* 'कापड़ा' अगर 'कापर्डा' है तो वह सिरोही राज्य में कभी नहीं रहा। संपा० दौलतसिंह लोढ़ा।

बहुत संभव है कि सूर्यसिंह ने सुतनिसिंह के हार जाने पर उसको प्राप्त किया हो । १६२६ ई. में जयमल्ल ने गजसिंह के समय जालोर के आदिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर के मंदिरों में मूर्तियों की स्थापना की । इसी राजा के राज्य में १६२९ में पाली तथा मेड़ता में भी प्रतिष्ठा हुई ।

१७३७ ई. में मारोठ में महाराजा अभयसिंह के राज्य में प्रतिष्ठा महोत्सव मनाया गया । इस समय मारोठ में बखतसिंह तथा वैरीशाल अभयसिंह के सामंत के रूप में शासन करते थे । इस समय मारोठ स्वतंत्र राज्य नहीं था । यहां के दिवान रामसिंहने साहों का मंदिर बनाया तथा उसमें अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा की । १७६७ ई. में यहां के मेड़तिया राजपूत हुकमसिंह के राज्य में रथयात्रा का उत्सव ठाठवाट से मनाया गया ।

बीकानेर राज्य में जैनधर्म—बीकाजी और उसके उत्तराधिकारी जैनधर्म और जैन साधुओं के प्रति श्रद्धा रखते थे । महाराजा रायसिंह तो जिनचन्द्रसूरि का पक्का भक्त हो गया था । कर्मचन्द्र की प्रार्थना पर उसने तुरासान से लूटी हुई सिरोही (?) की १०५० जैन मूर्तियां अकबर से प्राप्त करके नष्ट होने से बचाईं । लाहोर में जिनचन्द्रसूरि का युगप्रधान-पदोत्सव मनाया जिसमें कर्मचन्द्र महाराजा रायसिंह, कुंवर दलपतसिंह के साथ सामिल हुए और सूरिजी को धार्मिक ग्रंथ भेंट में दिये । महाराजा रायसिंह और जिनचन्द्रसूरि के पट्टधर जिनसिंहसूरि के भी अच्छे संम्बध थे । उसके राज्य में हम्मीर ने अपने परिवार के साथ १६०५ ई. में नेमिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा की ।

कर्णसिंह १६३१ ई. में राजा हुआ । इसने जैन उपासरा बनवाने के लिए भूमि दी । महाराजा अनूपसिंह के जिनचन्द्र और तथा जैन कवि धर्मवर्धन के साथ अच्छे संबन्ध थे । धर्मवर्धन ने तो महाराजा अनूपसिंह के राज्याभिषेक के अवसर पर कविता भी लिखी थी । जिनचन्द्रसूरि और महाराजा अनूपसिंह, जोरावरसिंह और सुजानसिंह के बीच काफी पत्र-व्यवहार होता रहता था । महाराजा सूरतसिंह १७६५ में राजा हुआ । वह ज्ञानसागर को नारायण का अवतार मानता था । उसने जैन उपासरों के निर्माण के लिए भूमि दी । वह दादा साहिब के प्रति आदर रखता था तथा उनकी पूजा के खर्चे के लिए १५० बीघा भूमि दी ।

जयपुर राज्य में जैनधर्म:—जयपुर राज्य के कच्छावा राजों की संरक्षता में भी जैनधर्म ने अधिक उन्नति की । यहां करीब ५० जैन दीवान हुए हैं । अनेक शास्त्रों की प्रतियां लिखी गईं, मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई तथा नवीन मंदिर बनाये गये । इस राज्य के छोटे ठिकानों में भी जागीरदारों की प्रेरणा से जैनधर्म का प्रभाव बढ़ा ।

भारमल के राज्य में १५५९ ई. में पाण्डवपुराण और हरिवंशपुराण लिखे गये। भारमल के पश्चात् भगवानदास राजा हुआ। उसके समय वर्धमान चरित्र लिखा गया। मान-सिंह के राज्य में भी जैनधर्म का उत्थान हुआ। उसके समय में हरिवंश पुराण की तीन प्रतियां लिखी गई। १५९१ ई. में थानसिंह ने संघ निकाला और पावापुरी में सोड़सकारण यंत्र की प्रतिष्ठा की। १६०५ ई. में चंपावती (चाकसू) के मंदिर के स्तंभ का निर्माण किया गया। मोजमाबाद में जेताने इसी राजा के राज्य में १६०७ ई. सैकड़ों मूर्तियों की प्रतिष्ठा की।

मिर्जा राजा जयसिंह के समय में भी जैनधर्म का प्रभाव अच्छा रहा। इसके मंत्री मोहनदासने आमेर में विमलनाथ का मंदिर बनवाया और स्वर्ण कलश से इसको सुशोभित किया। १६५९ में इसने इस मंदिर में अन्य भवन भी बनाये।

सवाई जयसिंह के समय जैनधर्मने बहुत उन्नति की। उसके समय में रामचन्द्र छावड़ा, रावकृपाराम तथा विजयराम छावड़ा नाम के तीन दिवान हुए जिन्होंने जैनधर्म के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया। रामचन्द्र ने शाहबाद में जैनमंदिर बनाया। उसने तथा उसके पुत्र कृष्णसिंह ने भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पट्टाभिषेक में भाग लिया। राव कृपाराम ने चाकसू तथा जयपुर में जैन मंदिर बनाये। उसने भट्टारक महेन्द्रकीर्ति के पट्टाभिषेक के उत्सव में भाग लिया तथा उनके सिर पर जल छिड़का। विजयराम छावड़ाने सम्यक्त्वकौमुदी लिखवा कर पंडित गोविंदराम को १७४७ में भेंट की।

सवाई माधोसिंह के समय भी जैनधर्म का उत्थान होता रहा। उसके समय में भी जैन दीवान रहे। बालचन्द्र छावड़ा १७६१ में दीवान हुआ। उसने प्राचीन जैन मंदिरों को ठीक करवाया तथा नये मंदिर भी बनवाये। जयपुर में इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव इसके प्रयत्नों से ही हुआ। उसका राज्य में अच्छा प्रभाव था। इसी करण इसके लिए राज्य से इस प्रकार का आदेश दिया गया कि 'थाकैं पूजाजी कै आर्थिं जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबार सूं लेजाओ'। केशरीसिंह काशलीवाल ने जयपुर में सिरमोरियों का मंदिर बनवाया। कन्हैयाराम ने वैदों का चैत्यालय का निर्माण करवाया।

नंदलाल ने जयपुर और सवाई माधोपुर में जैन मंदिर बनवाये। १७६९ ई. में पृथ्वीसिंह के राज्य में सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से उसने अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई। बालचन्द छावड़ा का पुत्र रायचन्द छावड़ा जगतसिंह का मुख्य मंत्री बना। उसने यात्रा के लिए संघ निकाले। इस कारण उसको संघपति का पद दिया गया। उसने १८०१ में जूनागढ़ में भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से यह प्रतिष्ठा की। इसी भट्टारक के उपदेश से

उसने जयपुर में १८०४ ई. में सैकड़ों मूर्तियों की प्रतिष्ठा करवाई। बखतराम भी जगतसिंह का दिवान रहा। उसने जयपुर में चोड़े रास्ते में यशोदानंदजी का जैनमंदिर बनवाया।

इसके अतिरिक्त जयपुर राज्य के छोटे ठिकानें जैसे जोबनेर, मालपुरा, रेवासा, चाकसू, टोडा रायसिंह, बैराठ आदि में जागीरदारों की प्रेरणा से जैनधर्म बहुत फैला। इन स्थानों पर शास्त्रों को लिपिबद्ध करवाया गया। अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई तथा मंदिर बनाये गये।

अलवर राज्य में जैनधर्मः—अलवर राज्य में ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी की जैन मूर्तियाँ मिलती हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अलवर राज्य का जैनधर्म से संबंध बहुत प्राचीन समय से है, किन्तु ये मूर्तियाँ तो बाहर से भी लायी हुई हो सकती हैं। पन्द्रहवीं व सोलहवीं शताब्दी से कुछ साधनों के आधार पर इस धर्म का इस राज्य से सम्बन्ध स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ये साधन तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं (१) तीर्थमालाओं में अलवर रावण पार्श्वनाथ के रूप में (२) अलवर में लिखा हुआ जैन साहित्य (३) शिलालेखों में इसका उल्लेख।

तीर्थमालाओं में अलवर का वर्णन रावण पार्श्वनाथ तीर्थ के रूप में हुआ है। इसका अर्थ है कि रावणने इस स्थान पर पार्श्वनाथ की मूर्ति की पूजा की थी। यह सब पौराणिक है, क्योंकि रावण तो पार्श्वनाथ के बहुत पहले हुआ था। इस प्रकार की सूचना अलवर को एक धार्मिक केन्द्र के रूप में अवश्य बतलाती है।

कुछ रचनायें जैसे मौन एकादशी. साधुकीर्तिद्वारा १५६७ ई. में, शिवचन्द्रद्वारा मुख-मण्डलवृत्ति १६४२ में, बालचन्द्रद्वारा देवकुमार चौपाई १६२५ में और महिपाल चौपाई विनयचन्द्रद्वारा १८२१ में अलवर में लिखी हुई प्राप्त होती हैं। हंसदूत लघुसंघत्रयी और लघुक्षेत्रसमास शास्त्रों की प्रतियें क्रमशः १५४३ ई. और १५४६ ई. में लिखी गईं।

इस स्थान का उल्लेख सोलहवीं शताब्दी के शिलालेखों में भी होता है। १५३१ ई. में एक अलवर के श्रावकने सुमतिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई। १६२८ का एक शिलालेख अलवर में रावण पार्श्वनाथ के मंदिर का उल्लेख करता है।

जैनागमों में महत्त्वपूर्ण काल-गणना

श्री अगरचन्द नाहटा

उपलब्ध जैन साहित्य में सब से प्राचीन ग्रन्थ एकादशांगादि आगम साहित्य है। भगवान् महावीरने समय २ पर जो प्रवचन दिए, उनका संकलन उनके प्रधान शिष्य गणधरोंने इन आगमों के रूप में किया है। गणधरों के बाद के आचार्योंने भी गुरुपरम्परा से जो ज्ञान प्राप्त किया उसको उपांग, छेदसूत्र प्रकीर्णक आदि ग्रन्थों के रूप में ग्रथित किया। उन आगमों के लम्बे समय तक मौखिक रूप में ही पठनपाठन होने के कारण ज्यों-ज्यों स्मरणशक्ति क्षीण होती गई, उनका बहुत सा अंश विस्मृत होता चला गया। समय-समय पर उनको सुव्यवस्थित करने के लिए मुनियों के सम्मेलन भी हुए जो आगम-वाचना के नाम से प्रसिद्ध हैं। वर्तमान में उपलब्ध आगमों का पाठ वीर निर्वाण सं. ९८० में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा सौराष्ट्र के वल्लभीनगर में लिपिबद्ध किया गया जो वल्लभी-वाचना कहलाती है। इससे पहले मथुरा में जो आगमों का पाठ निर्णय हुआ था वह माथुरी-वाचना के नाम से प्रसिद्ध है, उसका उल्लेख कहीं कहीं पाठ-भेद के रूप में वल्लभी-वाचना के आगम आदि की टीकाओं में पाया जाता है। इन आगमों में से कुछ की सर्वप्रथम टीका प्राकृत भाषा में निर्युक्ति के नाम से आचार्य भद्रबाहुने की। उनके रचित दस आगमों की निर्युक्ति का उल्लेख मिलता है जिन में एक-दो को छोड़ बाकी प्राप्त हुए हैं। फिर भाष्य और चूर्णिसंज्ञक टीकाएँ भी रची गईं। आठवीं शताब्दी से संस्कृत टीकाओं का रचा जाना भी प्रारम्भ था। बारहवीं के करीब प्रायः समस्त आगमों की टीकाएँ तैयार हो चुकीं। इस आगमिक साहित्य का परिमाण करीब ५ लाख श्लोकों से भी अधिक माना जाता है। यद्यपि मूल आगमों के जितने बड़े परिमाण के होने का उल्लेख मिलता है उससे उपलब्ध आगम बहुत कम परिमाणवाले ही अब उपलब्ध हैं। बारहवां दृष्टिवाद नामक अंग बहुत ही महत्वपूर्ण और विशाल था। वह तो अब सर्वथा लुप्त हो चुका है। उसका एक अंश चौदह पूर्व के नाम से प्रसिद्ध था। वह भी भगवान् महावीर के करीब २०० वर्ष बाद ही आचार्य भद्रबाहु और स्थूलिभद्र के बाद लुप्त हो गया। इसके बाद दस पूर्वों का ज्ञान वीर निर्वाण के करीब ६०० वर्ष तक चलता रहा। तत्पश्चात् पूर्वों का ज्ञान भी लुप्त हो गया। यद्यपि उनके आधार से रचित थोड़े से ग्रन्थ अब भी प्राप्त हैं। इस प्रकार उपलब्ध आगमों में केवल-ज्ञानी और श्रुत-ज्ञानी के महान् ज्ञानका असंख्यातवां व अनन्तवां अंश ही अब प्राप्त है।

जैन तीर्थङ्करों और अतिशय ज्ञानियों के ज्ञान का जो थोड़ा सा अंश आज प्राप्त है और उसमें कई विषयों का जिस सूक्ष्मता के साथ वर्णन है उसको देखने पर हमारे प्राचीन महापुरुषों का ज्ञान कितना गम्भीर और विशाल था, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उपलब्ध जैनागमों में प्राचीन भारतीय संस्कृति, इतिहास, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, संगीत, अलौकिक विद्याएं, शक्रिया, तत्कालीन सामाजिक जीवन, राजनैतिक परिस्थितियाँ व परमाणुज्ञाने, कर्मसिद्धांत आदि का बहुत ही ज्ञातव्य विवरण मिलता है। भारतीय प्रान्तीय भाषाओं के विकास, शब्दों के मूलरूप, स्वरूपपरिवर्तन, अर्थपरिवर्तन आदि की दृष्टि से भी प्राकृत भाषा में निवद्ध इन आगमों का बड़ा महत्व है। खेद है कि उनका यद्यपि विविध दृष्टि से महत्व है, पर उनका मूल्यांकन अभी प्रायः नहीं हो पाया। श्वेताम्बर जैन समाज में तो इनका महत्व धार्मिक दृष्टि से ही रूढ़ है। मुनिगण उसी धार्मिक भावना व श्रद्धा से इनका अध्ययन-अध्यापन व वाचन-व्याख्यान आदि करते हैं और श्रावक विद्वान् भी इसी भावना से उन्हें सुनकर धर्म व आनन्द प्राप्त करते हैं। सर्वप्रथम इनका जो अन्य व्यापक दृष्टिकोण से जो महत्व है, इसकी ओर पाश्चात्य विद्वानोंने ध्यान दिया और अब कुछ भारतीय विद्वानोंने भी प्रयत्न किया है, पर वह बहुत ही सीमित है। जब कई विद्वान् विविध दृष्टियों से इनके महत्व पर प्रकाश डालेंगे तभी उनके महत्व का परिचय सर्वसुलभ हो सकेगा। प्रस्तुत लेख में तो जैनआगमों में जो समय या काल-गणना का सूक्ष्म और विशद विवरण है उसीका थोड़ा परिचय कराया जा रहा है जिससे उनके महत्वकी झांकी पाठकों के सन्मुख आये।

गणित के क्षेत्र में भारतीय मनिषियों की देन बहुत ही उल्लेखनीय है। जैनागमों में प्राचीन गणित और ज्योतिष पद्धति का जो महत्त्वपूर्ण विवरण मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। गणित का आधार संख्या है। जैनेतर ग्रन्थों में संख्या का परिमाण जहां तक मिलता है, जैनागमों में उससे बहुत आगे की संख्याओं का विवरण प्राप्त है। समय की सूक्ष्मता और कालगणना की दीर्घता का इतना अधिक विवरण विश्व-साहित्य में कहीं भी नहीं मिलता और संख्याओं के नाम और गुणन की पद्धति भी जो जैनागमों में मिलती है वह अन्य ग्रन्थों से भिन्न प्रकार की है। पाठकों को इसका कुछ परिचय अभी करवाया जा रहा है।

जैन दर्शन में इस जगत के समस्त पदार्थों को जड़ और चेतन दो मुख्य भागों में विभक्त किया गया है। चेतन तो जीव या आत्मा के नाम से प्रसिद्ध है ही, जड़ को ४ या ५ भागों में विभक्त किया है। (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय,

१ देखो जैन भारतीय, ९४ अ. ५२-५३।

(४) पुद्गल और (५) औपचारिक द्रव्य "काल"। इनमें से पुद्गल ही रूपी यानी दृष्टिमान है, बाकी सभी द्रव्य अदृष्टिमान हैं। पुद्गल का सब से छोटा अंश परमाणु कहलाता है। जीव और अजीव के ५ प्रकारों के सम्मिलित रूप को ६ द्रव्यमय जगत बतलाया गया है। द्रव्य मूलतः नित्य हैं, पर पर्याय की दृष्टि से उनमें परिवर्तन होता रहता है। नयापन या पुरानापन का मूल कारण काल है जो भूत, भविष्य, वर्तमान के रूप में प्रसिद्ध है। काल को औपचारिक 'द्रव्य' माना गया है। यद्यपि इसकी गति और प्रभाव बहुत ही व्यापक है। जगत का समस्त व्यवहार उस काल के द्वारा ही होता है। दिन और रात; बाल्य, युवा, वृद्धावस्था और समस्त कार्यों का क्रम काल पर ही आधारित है। ५ द्रव्य समूहात्मक व उपदेशात्मक होने से अस्तिकाय कहलाते हैं। काल एक समयविशेष होने से अस्तिकाय नहीं है। काल के सब से सूक्ष्म अंश एक समय से लगाकर अनन्तकाल तक का विवरण और उनके मध्यवर्तीय संख्याओं के नाम आदि का जो विवरण जैन आगमों में मिलता है वह पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दिया जा रहा है।

जैन दर्शन में कालद्रव्य "समय की सूक्ष्मता" सब से सूक्ष्म अंश 'समय' बतलाया गया है। समय की जैसी सूक्ष्मता जैनागमों में बतलाई गई है वैसी किसी भी दर्शन में नहीं पाई जाती। इस सूक्ष्मता का कुछ आभास उदाहरण द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है:—

प्रश्न—'शक्ति, सम्पन्न, स्वस्थ और युवावस्थावाला कोई जुलाहे का लड़का एक बारीक पट्ट (साटिका—वस्त्र) का एक हाथ प्रमाण टुकड़ा बहुत शीघ्रता से एक ही झटके से फाड़ डाले तो इस क्रिया में जितना काल लगता है क्या वही समय का प्रमाण है?'

उत्तर—'नहीं, उतने काल को समय नहीं कह सकते; क्योंकि संख्यात तन्तुओं के इकट्ठे होने पर वह वस्त्र बना है। अतः जब तक उसका पहला तन्तु छिन्न नहीं होगा तबतक दूसरा तन्तु छिन्न नहीं होता। पहला तन्तु एक काल में टूटता है, दूसरा तन्तु दूसरे काल में; इस लिए उस संख्येय तन्तुओं को तोड़ने की क्रियावाला काल समय-संज्ञक नहीं कहा जा सकता।'

प्रश्न—'जितने समय में वह युवा पट्टसाटिका के पहले तन्तु को तोड़ता है क्या उतना काल समय-संज्ञक होता है?'

उत्तर—'नहीं, क्यों कि पट्टसाटिकाका एक तन्तु संख्यात सूक्ष्म रुंओं के एकत्रित होने पर बनता है, अतः तन्तु का पहला—ऊपर का रुंआँ जबतक नहीं टूटता तबतक नीचेवाला दूसरा रुंआँ नहीं टूट सकता।'

प्रश्न—'तब क्या जितने काल में वह युवा पट्टसाटिका के प्रथम तन्तु के प्रथम रुंयें को तोड़ता है उतना काल समय-संज्ञक हो सकता है?'

उत्तर—'वह भी नहीं, क्यों कि अनन्त परमाणु संघातों के एकत्रित होने पर वहां रुंआं बनता है। अतः रोयें का प्रथम परमाणु-संघात जबतक नहीं टूटता तबतक नीचे का संघात नहीं टूट सकता। ऊपर का संघात एक काल में टूटता है, नीचे का संघात उससे भिन्न दूसरे काल में। इस लिए एक रोयें के टूटने की क्रियावाला काल भी समय-संज्ञक नहीं हो सकता।'

अर्थात् एक रोयें के टूटने में जितना समय लगता है उससे भी अत्यन्त सूक्ष्मतर काल को 'समय' कहते हैं। जैन दर्शन में मनुष्य आँख बन्ध कर खोलता है या पलकें मारता है, इस क्रिया में लगनेवाले काल में असंख्यात समय का वीत जाना बतलाया गया है। आज तो इसकी सूक्ष्मता का कुछ आभास हम वैज्ञानिक आविष्कारों से और भी अच्छे रूपमें पा लेते हैं—जैसे रेडियो में हजार मील की अवाज कुछ सैंकण्डों में ही हमें सुनाई देती हैं। अब सूक्ष्म स्थान से दूसरे सूक्ष्म स्थान में कितना समय लगे, इसका उपर्युक्त उदाहरण से पाठकों को जैन-दर्शन के समय की सूक्ष्मता के कुछ आभास से अवश्य मिल सकता है। ये दृष्टान्त केवल विषय को बोधगम्य करने के लिए ही दिये गये हैं, समय का वास्तविक स्वरूप तो कल्पनातीत है।

भारतीय गणित में भारतीय गणित की संख्यामें दस गुने की संख्या की परिपाटी है जिस में एक, दश, सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़, अरब (अब्ज), दस अरब, खरब (खर्व), दस खरब, पद्म, दस पद्म, नील, दस नील, शंख, दस शंख तक की (१८ अंकों की) गणना प्रसिद्ध है। पर अमलसिद्धि और लीलावती[1] ग्रन्थ में इसके आगे की कुछ संख्याओं के भी नाम मिलते हैं। लीलावती के अनुसार दस शंख के बाद की संख्याओं को क्षिति, महाक्षिति, निधि, महानिधि, कल्प, महाकल्प, घन, महाघन, रूप, महारूप, विस्तार, महाविस्तार, उँकार, महा उँकार और औंकार शक्ति तक की संख्याओं के नाम होते हैं।

अमलसिद्धि में दस शंख के पश्चात् क्षिति, दसक्षिति, क्षोभ, दस क्षोभ, रिद्धि दसरिद्धि, सिद्धि, दस सिद्धि, निधि, दस निधि, क्षोणि, दस क्षोणि, कल्प, दस कल्प, ग्राहि, दस ग्राहि, ब्रह्मांड, दस ब्रह्मांड, रूद्र, दस रूद्र, ताल, दस ताल, भार, दस भार, बुर्ज, दस बुर्ज, घन्टा, दस घन्टा, मील, दस मील, पचूर, दस पचूर, लय, दस लय, कार, दस कार, अपार, दस अपार, नट, दस नट, गिरि, दस गिरि, मन, दस मन, वन, दस बन, शंकू, दस शंकू, बाप, दस बाप,

---

१. लीलावती में दस हजार को अयुत, दस लाख को प्रयुत, अरब को अरबुज, नील को क्षोणि संज्ञा दी है। खर्व की आगे की सख्याओं के नाम निखर्व, महापद्म, शंकु, जलधि, अंत्य, मध्य और परार्द्ध भी मिलते हैं।

वल, दस वल, झाड़, दस झाड़, भीर, दस भीर, वज्र, दस वज्र, लोट, दस लोट, नजे, दस नजे, पट, दस पट, तम, दस तम, द्रम्म, दस द्रम्म, कैक, दस कैक, अमित, दस अमित, गोल, दस गोल, परामित, दस परामित, अनन्त, दस अनन्त यहां-तक की संख्याओं की नामावली दी है। अन्तिम 'अनन्त' शब्द से संख्या की यहां समाप्ति हुई समझिए।

एक अन्य ग्रन्थ में दशांक संख्या वतलाते हुए संख्याओं के नाम निम्नोक्त दिए हैं—

सौ सौ हजार = एक करोड़
करोड़ सौ हजार = एक शंकू
शंकू सौ हजार = एक महाशंकू
महाशंकू सौ हजार = एक वृन्द
वृन्द सौ हजार = एक महावृन्द
महावृन्द सौ हजार = १ पद्म
पद्म सौ हजार = १ महापद्म
महापद्म सौ हजार = १ खर्व
खर्व सौ हजार = १ समुद्र
समुद्र सौ हजार = महोघ

बौद्ध ग्रन्थों में गणना-प्रणाली के निम्नोक्त संख्याओं तक के नाम मिलते हैं:—

(१) एक १,
(२) दस १०
(३) सौ १००, १
(४) सहस्स=१०००
(५) दस सहस्स=१००००
(६) सतसहस्स=१०००००
(७) दस सत सहस्स=१००००००
(८) कोटि=१००००००
(९) पकोटि=(१००००००) २
(१०) कोटिप्पकोटि=(१००००००) ३
(११) नहुत=(१००००००) ४
(१२) निन्नहुत=(१००००००) ५
(१३) अखोमिनी=(१००००००) ६
(१४) बिन्दु=(१००००००) ७
(१५) अब्बुद=(१००००००) ८
(१६) निरब्बुद=(१००००००) ९
(१७) अहह=(१००००००) १०
(१८) अबब=(१००००००) ११
(१९) अटट=(१००००००) १२
(२०) सोगन्धिक=(१००००००) १३
(२१) उप्पल=(१००००००) १४
(२२) कुमुद=(१००००००) १५
(२३) पुंडरीक=(१००००००) १६
(२४) पदुम=(१००००००) १७
(२५) कथान=(१००००००) १८
(२६) महाकथान=(१००००००) १९
(२७) असंख्येय=(१००००००) २०

विज्ञान ने आज अनेक विषयों में असाधारण उन्नति की है। गणना-बुद्धि का भी बहुत अधिक विस्तार हुआ है, फिर भी जितनी लम्बी संख्याओं के नाम क्रमिक रूप में जैन ग्रन्थों में मिले हैं वहाँ तक पाश्चात्य देशों की गणना-पद्धति भी नहीं पहुँच पाई है।

३३ शून्यों तक की संख्या अंग्रेजी में प्रचलित है। उसके आगे बीच की अनेक संख्याओं को छोड़ कर प्रकाश-वर्ष (Light-year) संख्या आती है। और फिर उपनामों के साथ वह बढ़ती जाती है। ३३ शून्यों तक की संख्याओं के नाम इस प्रकार है:—

(१) Unit इकाई = १
(२) Ten दहाई = १०
(३) Hundred सैंकड़े = १००
(४) Thousand हजार = १०००
(५) Tens of thousands = १००००
(६) Hundreds of thousands = १ और ५ शून्य
(७) Millions = १ और ६ शून्य
(८) Tens of millions = १ और ७ शून्य
(९) Hundreds of millions = १ और ८ शून्य
(१०) Billions = १ और ९ शून्य
(११) Tens of billions = १ और १० शून्य
(१२) Hundreds of billions = १ और ११ शून्य
(१३) Trillions = १ और १२ शून्य
(१४) Quadrillions = १ और १५ शून्य
(१५) Quintillions = १ और १८ शून्य
(१६) Sextillions = १ और २१ शून्य
(१७) Septillions = १ और २४ शून्य
(१८) Octillions = १ और २७ शून्य
(१९) Nonillions = १ और ३० शून्य
(२०) Decillions = १ और ३३ शून्य

प्रकाशवर्ष—१ सेकण्ड में प्रकाश की गति १ लाख ८६ हजार मील के हिसाब से—

३६००×२४×३६५×१८६०००=Light-year (प्रकाश वर्ष)।

जैनागमों में समय या कालगणना लाख से आगे चौरासी (८४) लाख से गुणित मिलती है और उनमें आगे की संख्या के उपरोक्त नामों से प्रायः सर्वथा भिन्न हैं। पद्म, नलिन, अयुत, प्रयुत, आदि थोड़े नाम उपर्युक्त ग्रन्थों में भी आये हैं। पर उनकी संख्या की गणना करने से वह उनसे बहुत ही अधिक जा पहुँचती है, अतः उन नामों का साम्य वास्तव में संख्या का साम्य नहीं है। माल्हम होता है कि वर्तमान में जो संख्या की दस गुणित प्रणाली प्रसिद्ध है उससे पहले भारत में एक ऐसी भी परम्परा रही है जो चौरासी (८४) लाख की संख्या से गुणित होती थी। इस प्रणाली के संख्यानामों का उल्लेख सौभाग्य से जैनागमों में बच पाया है। अन्यत्र पीछेवाली परम्परा प्रसिद्ध होने पर प्राचीन परम्परा भुलाई जा चुकी प्रतीत होती है। आगे दी जानेवाली जैन कालगणना में से त्रुटितांग संख्या का तो प्रयोग कहीं कहीं जैन ग्रन्थों में मिलता है। पूर्वतक की संख्या तो प्रसिद्ध ही है। भगवान् ऋषभदेव आदि की आयु का परिमाण चौरासी लाख पूर्व का बतलाया गया है, जिसकी संख्या का नाम त्रुटितांग होता है। इसके आगे की संख्याओं के नामों का प्रयोग मेरे देखने में नहीं आया। उसके बाद संख्यात्, असंख्यात्, अनन्त, पल्योपम और साग-

रोपम इन नामों का ही प्रयोग जैनागमों में मिलता है। लीलावती और अमलसिद्धि में उल्लेखित संख्या नामों से भी पिछले नामों का प्रयोग व्यवहार में नहीं आया ही प्रतीत होता है। अतः ऐसी संख्याओं के नाम केवल गणना की दीर्घता बतलाने के लिए ही लिखे गए मालूम देते हैं।

जैन आगमों में भी एकादश अंग भगवान् महावीर कथित–सब से प्राचीन माने जाते हैं, इनमें तीसरे व पांचवें अंगसूत्र स्थानांग, भगवती में नीचे दी जानेवाली कालगणनात्मक संख्याओं का उल्लेख मिलता है। उसके बाद के जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, अनुयोगद्वार, ज्योतिषकरंडक आदि सूत्रों में भी इन संख्याओं का विवरण प्राप्त होता है। इसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीन साहित्य में तिलोयपन्नति आदि ग्रन्थों में इन संख्या नामों का उल्लेख है। यद्यपि इन भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में कहीं-कहीं भिन्नता या वैषम्य भी है, जिसका कारण यही हो सकता है कि आगमादि मूल लम्बे काल तक मौखिक रूप में रहे; अतः कुछ संख्याओं के नाम भूल गए व परवर्तित हो गए होंगे। प्रयोग याने व्यवहार में तो उनका प्रचलन था ही नहीं, अतः ऐसा होना स्वाभाविक भी है।

भगवती सूत्र के शतक ६ उद्देश ७ व शतक ११ में सुदर्शन शेठ ने भ० महावीरसे वाणिज्य ग्राम के बाहर जब वे पलासक चैत्य में पधारे थे तो पूछा था कि हे भगवन्! काल कितने प्रकार के होते हैं तो भगवान् महावीर ने उत्तर दिया कि ४ प्रकार के (१) प्रमाणकाल, (२) यथायुर्निवृत्ति काल, (३) मरण काल और (४) अद्धा काल। प्रमाण काल दो प्रकार का–दिवसप्रमाण काल, रात्रिप्रमाण काल। इसमें चार पौरषी यानी प्रहर का दिवस और चार प्रहर की रात्रि होती है। अलग–अलग ऋतुओं आदि में प्रहर छोटा–बड़ा होता है अर्थात् बड़े से बड़े दिन में पौरषी ४½ मुहूर्त की और कम से कम तीन मुहूर्त की होती है, इत्यादि का निरूपण है। यथायुर्निवृत्ति काल–मनुष्य, देव आदि ने जैसे आयुष्य का बन्ध किया उसी प्रकार का पालन करने को कहा गया है। शरीर से जीव के वियोग को मरणकाल कहते हैं। इन तीनों कालों की तो साधारण व्याख्या बतलाई है। हमें यहां चौथे काल याने अद्धाकाल का ही विशेष निरूपण करना है। उसके सम्बन्ध में बताया गया है कि अद्धाकाल अनेक प्रकार का होता है। काल का सब से छोटा अविभाज्य अंश 'समय' कहलाता है। असंख्यात् समयों की १ आवलिका, संख्यात् आवलिकाओं का एक उश्वास और (अ)संख्यात् आवलिकाओं का ही एक निश्वास होता है। व्याधिरहित जीव का एक श्वास और उश्वास एक 'प्राण' कहलाता है। सात प्राणों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, ७७ लवों का एक मुहूर्त, ३७७३ उश्वासों का एक मुहूर्त (दो घडी=४८ मिंट) होता है, ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र, १५ अहोरात्रों का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो मासों का एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक

अयन, २ अयनों का एक वर्ष, पांच वर्षों का एक युग, २० युगों की एक शताब्दी, दस शताब्दी का एक हजार वर्ष, सौ हजार वर्षों का एक लाख वर्ष-यहां तक की गणना तो प्रसिद्ध प्रणाली के अनुसार ही है; पर इससे आगे की गणना चौरासी लाख से गुणित है। और उनके गणन-फल या परिणाम की संख्याओं के नाम भी सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं।

जैसे ८४ लाख वर्षों का एक पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांगों का एक पूर्व (७०५६०००-०००००००० वर्ष) इस तरह से क्रमशः ८४ लाख से गुणना करने पर जो संख्यायें आती हैं उनके नाम हैः-त्रुटितांग, त्रुटित, अड़ड़ाग, अड़ड़, अववांग, अवव, हुहुआंग, हुहुअ, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनुपूरांग, अर्थनुपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाग शीर्षप्रहेलिका,' यहाँ तक की गणित-संख्या है। इसके बाद का काल उपमाद्वारा जाना जाता है। औपमेय काल के दो प्रकार हैं। (१) पल्योपम (२) सागरोपम। इनका विवरण आगे दिया जायगा। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (सूत्र. १८) और अनुयोगद्वारसूत्र में भी इनकी गणना से शीर्षप्रहेलिका तक के ५४ अंक और १४० शून्य मिला कर १९४ तक के अंकों की संख्या पहुँचती है।

इससे एक और अधिक संख्या प्राचीन जैन ज्योतिषग्रन्थ ज्योतिषकरण्डक में मिलती है जिस के अनुसार शीर्षप्रहेलिका तक की संख्या ७० अंक और उस पर १८० शून्य अर्थात् २५० अंकों तक जा पहुँचती है। उसमें पूर्व से शीर्षप्रहेलिका तक के संख्या नाम इस प्रकार दिए हैं।

पूर्व, लतांग, लता, महालतांग, महालता, नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानलिन, पद्मांग, पद्म, महापद्मांग, महापद्म, कमलांग, कमल, महाकमलांग, महाकमल, कुमुदाग, कुमुद, महाकुमुदांग, महाकुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, महात्रुटितांग, महात्रुटित, अड़डाग, अड़ड, महा अड़डांग, महा अड़ड, उहांग, उह, महा उवहांग, महा उवह, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्ष-प्रहेलिका। पाठक देखेंगे कि पूर्व से त्रुटितांग के बीच के नाम तो सर्वथा भिन्न है और उसके बाद भी महाशब्द से संख्या को दुगुनी कर दी गई है। उवहाग हुहआंग का और महा उवहांग उत्पलांग का संक्षिप्तीकरण है। और उसके बाद की भी कुछ संख्याएं छोड़ दी गई हैं। अन्तिम शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका दोनों में समान है। इनकी काल-गणना के अनुसार यह संख्या १८७५५१७९५५०११२५९५४१९००९६९९८१३४३९-७७०७९७४६५४९४२६१९७७७७४७६५७२५७३४५७१८६८१६ इस ७० अंक की संख्या के बाद १८० शून्य और लगाकर यह संख्या २५० शून्यांकों की पूरी होती है।

दिगम्बर ग्रन्थों में धवला, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, राजवार्तिक, हरिवंशपुराण आदि

में इस गणनापद्धति का उल्लेख है। षट् खंडागम खण्ड १ भाग २ पुस्तक नं. ३ की प्रस्तावना में दिये गये पूर्व तक की गणना के नाम तो वही हैं, पर आगे के नामों में कुछ अन्तर है, उन्हें यहां दे रहा हूं। चौरासी पूर्व का नयुतांग, ८४ लाख नयुतांग का नयुत तथा इसी प्रकार ८४ और ८४ लाख गुणित क्रम से कुमुदांग और कुमुद, पद्मांग और पद्म, नलिनांग और नलिन, कमलांग और कमल, त्रुटितांग और त्रुटित, अटटांग, अटट, अममांग और अमम, हाहांग और हाहा, हुहांग और हुहु, लतांग और लता, तथा महालतांग और महालता क्रमशः होते हैं। फिर ८४ लाखं गुणित क्रम से श्रीकल्प (या शिरःकम्प) हस्तप्रहेलित, (हस्त-प्रहेलिका) और अचलप्र (चर्चिका) होते हैं। ८४ को ३१ बार परस्पर गुणा करने से अचलप्र की वर्षों का प्रमाण आता है। जो ९० शून्यांकों का होता है[1]। यद्यपि इन नयुतांग आदि कालगणनाओं का उल्लेख प्रस्तुत (षट्खंडागम) में नहीं आया तथापि संख्यात् गणना की मान्यता का कुछ बोध कराने के लिए प्रस्तावना में दिया गया है। यह सब संख्यात् (मध्यम) का ही प्रमाण है। इससे कई गुना ऊपर जाकर उत्कृष्ट संख्या का परिमाण होता है। संख्यात् के तीन भेद हैं–जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गणना का आदि (प्रारंभ) एक से माना जाता है। किन्तु एक केवल वस्तु की सत्ता तो स्थापित करता, भेद को सूचित नहीं करता। भेद की सूचना दो से प्रारम्भ होती है। और इसी लिए दो को संख्यात् का आदि माना है। इस प्रकार जघन्य संख्यात् दो हैं। उत्कृष्ट संख्यात् आगे बतलाये जाने-वाले जघन्य परीतासंख्यात् से एक कम होता है। तथा इन दोनों छोरों के बीच जितनी भी संख्याएं पाई जाती हैं वे सब मध्यम संख्यात् के भेद हैं।

असंख्यात् के तीन भेद हैं–परीत, युक्त और असंख्यात् और इन तीनों में से प्रत्येक पुनः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है। जघन्य परीतासंख्यात् का प्रमाण अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका ऐसे चार कुंडों को द्वीप समुद्रों की गणनानुसार सरसों से भरकर निकालने का प्रकार बतलाया गया है, जिसके लिए त्रिलोकसार गाथा १८-३५ देखिये। आगे बतलाये जानेवाले जघन्य युक्तासंख्यात् से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात् का प्रमाण मिलता है, तथा जघन्य और उत्कृष्ट परीत के बीच की सब गणना मध्यम परीतासंख्यात् के भेदरूप हैं।

जघन्य परीतासंख्यात् के वर्गित-संवर्गित करने से अर्थात् उस राशि को उतने ही बार गुणितप्रगुणित करने से जघन्य युक्तासंख्यात् का प्रमाण प्राप्त होता है। आगे बतलाये

---

१ त्रिलोकप्रज्ञप्ति में यह लिखा है। पर ८४ को ३१ बार गुणित करने पर ९० अंक प्रमाण की संख्या आती है। हाहांग और हाहा संख्याओं के नाम राजवार्तिक व हरिवंशपुराण में नहीं मिले।

जानेवाले जघन्य असंख्यातासंख्यात् से एक कम उत्कृष्ट युक्तासंख्यात् का प्रमाण है और इन दोनों के बीच की सब गणना मध्यम युक्तासंख्यात् के भेद हैं।

जघन्य युक्तासंख्यात् का वर्ग (य × य) जघन्य असंख्यातासंख्यात् कहलाता है, तथा आगे बतलाये जानेवाले जघन्य परीतानन्त से एक कम उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात् होता है, और इन दोनों के बीच सब गणना मध्यम असंख्यातासंख्यात् के भेदरूप हैं।

जघन्य असंख्यातासंख्यात् को तीन बार वर्गित संवर्गित करने से जो राशि उत्पन्न होती है उसमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, एक जीव और लोकाकाश, इनके प्रदेश तथा अप्रतिष्ठित और प्रतिष्ठित वनस्पति के प्रमाण को मिलाकर उत्पन्न हुई राशि में कल्पकाल के समय, स्थिति और अनुभागबंधाध्यवसाय स्थलों का प्रमाण तथा योग के उत्कृष्ट अविभाग प्रतिच्छेद मिलाकर उसे पुनः तीन बार वर्गित संवर्गित करने से जो राशि उत्पन्न होगी वह जघन्य परीतानन्त कही जाती है। आगे बतलाये जानेवाले जघन्ययुक्तानन्त एक कम उत्कृष्ट परीतानन्त का प्रमाण है तथा बीच के सब भेद मध्यम परीतानन्त हैं।

जघन्य परीतानन्त को वर्गित संवर्गित करने से जघन्य युक्तानन्त होता है। आगे बताये जानेवाले जघन्य अनन्तानन्त से एक कम उत्कृष्ट युक्तानन्त का प्रमाण है तथा बीच के सब भेद मध्यम युक्तानन्त होते हैं।

जघन्य युक्तानन्त का वर्ग जघन्य अन्तानन्त होता है। इस जघन्य अनन्तानन्त को तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें सिद्ध जीव, निगोदराशि, प्रत्येक वनस्पति, पुद्गलराशि, काल के समय और अलोकाकाश, ये छह राशियाँ मिलाकर उत्पन्न हुई राशि को पुनः तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य सम्बन्धी अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेद मिला देना चाहिए। इस प्रकार उत्पन्न हुई राशि को पुनः तीन बार वर्गित संवर्गित करके उसे केवल ज्ञान में से घटावे और फिर शेष केवलज्ञान में उसे मिला देवे। इस प्रकार प्राप्त हुई राशि अर्थात् केवलज्ञान प्रमाण उत्कृष्ट अनन्तानन्त होता है। जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तानन्त की मध्यवर्ती सब गणना मध्यम अनन्तानन्त कहलाती है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी संख्यात् के तीन, असंख्यात् के ९ और अनन्त के ९ भेद लोकप्रकाश आदि ग्रन्थों में वर्णित हैं। अनन्त के ११ अन्य प्रकारों का उल्लेख धवल में पाया जाता है। धवल के गणित के महत्त्व के सम्बन्ध में डा० अवधेशनारायणसिंह का लेख पठनीय है जो अंग्रेजी में षट्खंडागम के चौथे भाग में और उसका हिन्दी अनुवाद ५ वें भाग में प्रकाशित हुआ है। डा० अवधेशनारायणसिंह का भारतीय गणित के इतिहास के

'जैन स्रोत' नामक निबन्ध 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' में पढ़ना चाहिए। संग्रहणीसूत्र आदि श्वे० जैन ग्रन्थों में जो आठ प्रकार के गणित का प्रयोग व विवरण मिलता है उसके सम्बन्ध में 'जैन गणितविचार' पुस्तक पठनीय है। संख्या गणित की भाँति माप के परिमाण का भी सुन्दर गणित 'अनुयोगद्वार' आदि जैन ग्रन्थों में मिलता हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में ४ प्रकार के प्रमाण बतलाये हैं:—(१) द्रव्यप्रमाण (२) क्षेत्र-प्रमाण (३) कालप्रमाण (४) भावप्रमाण। द्रव्यप्रमाण दो प्रकार का है-एक प्रदेश-निष्पन्न, द्वितीय विभागनिष्पन्न। एक प्रदेशी परमाणु पुद्गल से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कंध पर्यन्त सर्वप्रदेशनिष्पन्न होता है। विभागनिष्पन्न पाँच प्रकार का है। जैसे कि—(१) मानप्रमाण (२) उन्मानप्रमाण (३) अवमानप्रमाण (४) गणितप्रमाण (५) प्रतिमान-प्रमाण। मान प्रमाण दो प्रकार का है जैसे कि—धान्यमानप्रमाण और रसमानप्रमाण। और उससे आगे अलग-अलग प्रकार के माप-तौल आदि संख्याओं का गणित का विस्तृत वर्णन है। लेखविस्तारभय से उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है। अनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और भांगे आदि का गणित भी जैन ग्रन्थों में मौलिक सा है, जिस से जैन विद्वान् गणित जैसे रूखे क्षेत्र में कितने आगे बढ़े हुए थे प्रतीत होता है। और भारतीय प्राचीन गणित की जो प्राणलियाँ व संज्ञायें आदि थीं जिनका अन्यत्र वर्णन नहीं मिलता और हम भूल से चुके हैं—जैनागमों में वह सुरक्षित है—यह बहुत ही महत्त्व की बात है।

औपमिक कालप्रमाण दो प्रकार का होता है—पल्योपम एवं सागरोपम। पल्योपम तीन प्रकार का होता है, उद्धार पल्योपम, २ अद्धापल्योपम, ३ क्षेत्रपल्योपम। उद्धारपल्योपम दो प्रकार होता है-१ सूक्ष्म उद्धार, २ व्यवहारिक पल्योपम।

१ व्यवहारिक उद्धारपल्योपम-एक योजन† की लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाईवाली धान्य भरने की पाली के समान गोलाकार ऐसे एक कुँए की कल्पना की जाय, जिसकी गोल

---

† जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में योजन का प्रमाग इस प्रकार बतलाया गया है-पुद्गल द्रव्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंग परमाणु कहलाता है। अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं का एक व्यवहार परमाणु। अनन्त व्यवहारिक परमाणुओं का एक उग श्रेणिया। क्रमशः इस प्रकार आठ आठ गुग वर्द्धित —शीत श्रेणिया, उर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु, देवगुरु, उत्तरकुरु के युगलियों का बालाग्र, हरिवर्षरम्यकवर्ष के युगलियों का बालाग्र, हेमवय ऐरगवय के मनुष्यों का बालअग्र, महाविदेहक्षेत्र के मनुष्यों का बालाग्र, भरत ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का बालाग्र, उनके आठ बालाग्रों की एक लीख, फिर क्रम से आठ गुणित यूका, यवमध्य (उत्सेध) अगुल-६ (उत्सेध) अगुलो का एक पाउ, बारह अगुलो का एक वैत, चौवीस अगुलों का एक हाथ, अड़तालीस अगुलो की एक कुक्षी, ९६ अगुलो का एक अक्ष या दंड, धनुष्य, युग्ग, मूसल, नालिका अर्थात् चार हाथो का १ धनुष्य, दो हजार धनुष्यों का एक गाउ (वर्तमान कोस २ माइल) चार गाउ का एक योजन होता है।

परिधि का नाप तीन योजन से कुछ अधिक होता है। उसमें सिर मुड़ाने के बाद एक दिन के, दो दिन के यावत् सात अहोरात्रि बढे हुए केशों के टुकड़ों को ऊपर तक दबा-दबा कर इस प्रकार भरा जाय कि उनको न अग्नि जला सके, न वायु उड़ा सके और न वे सड़ें या गलें। उनका किसी प्रकार विनाश न हो सके। कुँए को ऐसा भर देने के बाद प्रतिसमय एक-एक केश खंड को निकाला जाय। जितने समय में वह गोलाकार कुआँ खाली हो जाय, उसमें एक भी केश का अंश न बचे-उतने समय को व्यवहारिक उद्धारपल्योपम कहते हैं।

ऐसे कोड़ाकोड़ी व्यवहारिक उद्धार पल्योपम का एक व्यवहारिक उद्धारसागरोपम होता है। इस कल्पना से केवल कालप्रमाण की प्ररूपणा की जाती है।

२ सूक्ष्म उद्धारपल्योपम—उस उपर्युक्त कूएँ को एक से सात दिन तक बढ़े हुए केशों के असंख्य टुकड़े करके उनसे उसे उपर्युक्त विधि से भरकर प्रति समय एक-एक केश-खंड यदि निकाला जाय तो इस प्रकार निकाले जाने के बाद जब कुँआ सर्वथा खाली हो जाय, उतने काल का एक सूक्ष्म उद्धारपल्योपम होता है।

३ व्यवहार अद्धापल्योपम—उपरोक्त कुँए को व्यवहारिक उद्धार की उर्पयुक्त विधि से भरकर दबे हुए केश खण्डों में से एक-एक केश को सौ-सौ वर्षों बाद निकाले जाने पर जब कुँआ खाली हो जाय तो उतने समय को व्यवहारिक अद्धापल्योपम कहते हैं।

४ सूक्ष्म अद्धापल्योपम—पूर्वोक्त कुँए को १ दिन से ७ दिन के बढे हुए केशों के असंख्य टुकड़े करके पूर्ववत् विधि से दबा कर भर दिया जाय और फिर सौ-सौ वर्षों के अनन्तर एक-एक केशखण्ड निकाला जाय। जितने समय में वह कुँआ खाली हो जाय, उतने काल को सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहते हैं।

५ व्यवहारक्षेत्र पल्योपम—व्यवहार उद्धारपल्योपम के केशोंने जितने आकाशप्रदेश को स्पर्श किया है, उतने आकाशप्रदेश में से एक-एक को प्रतिसमय में अपहरण करने में जितना काल लगे उसे व्यवहारिक क्षेत्र पल्योपम कहते हैं। (आकाश के प्रदेश केश-खण्डों से भी अधिक सूक्ष्म है।)

६ सूक्ष्मक्षेत्र पल्योपम—सूक्ष्म उद्धारपल्योपम के केशखण्डों से जितने आकाश-प्रदेशों का स्पर्श हुआ हो और जिनका स्पर्श न भी हुआ हो उनमें से प्रत्येक प्रदेश से प्रति-समय अपहरण करते हुए जितना समय लगे उसे सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम कहते हैं।

दश क्रोड़ाक्रोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है। पल्योपम के ६ भेदों के अनु-सार सागरोपम के भी ६ भेद होते हैं। ऐसे दश क्रोड़ाक्रोड़ी सूक्ष्म अद्धा सागरोपमों की

१ उत्सर्पिणी या १ अवसर्पिणी होती है। इन दोनों के मिलाने से अर्थात् २० कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। इससे अधिक समय को अनन्तकाल कहते हैं।

स्थानांग सूत्रों में औपमिक काल आठ प्रकार का बताया है (१) पल्योपम (२) सागरोपम (३) उत्सर्पिणी (४) अवसर्पिणी (५) पुद्गलपरावर्त (६) अतिद्धाता (७) अनागताद्धा (८) सर्वाद्धा। इन में से अवसर्पिणी उत्सर्पिणी तक का विवरण उपर आया है। अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी का पुद्गलपरावर्त होता है। भगवती सूत्र के १२ वें शतक के चौथे विवेचन में पुद्गलपरावर्त ७ प्रकार के बताये हैं। औदारिक पुद्गल-परावर्त, वैक्रिय पुद्गल-परावर्त, तैजसपुद्गलपरावर्त, कार्मणपुद्गलपरावर्त, मनपुद्गल-परावर्त, वचन पुद्गलपरावर्त और आनप्राणपुद्गलपरावर्त।

नैरयिकों को नैरयिक-रूप में या असुरकुमारादि भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के रूप में एक भी औदारिक पुद्गलपरावर्त व्यतीत नहीं हुआ और न होगा ही। पृथ्वीकाय से मनुष्य पर्यन्त भवों में अनन्त पुद्गलपरावर्त व्यतीत हुए और अनन्त व्यतीत होंगे। वैमानिक पर्यन्त सर्व जीवों के लिए इसी प्रकार जानना चाहिये। यहां औदारिक की तरह ही सातों पुद्गलपरावर्त कहने चाहिये। जहां परावर्त होते हैं वहां व्यतीत तथा भावी दोनों ही अनन्त जानने चाहिये।

औदारिक शरीर में रहे हुए जीव-द्वारा औदारिक शरीर योग्य जो द्रव्य औदारिक शरीर रूप में ग्रहण-बद्ध, स्पष्ट, स्थिर, स्थापित, अभिनिविष्ठ, संप्राप्त-अवयवरूप में गठित, परिणत निर्जीर्ण किये गये तथा जो जीव प्रदेश से निकल गये व सर्वथा भिन्न हो गये, वे द्रव्य औदारिक पुद्गलपरावर्त कहे जाते हैं।

औदारिक की तरह ही अन्य वैक्रिय शरीर पुद्गलपरावर्त आदि जानने चाहिये।

अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में एक औदारिक पुद्गलपरावर्त बन सकता है। इसी प्रकार अन्य पुद्गलपरावर्त जानने चाहिये।

इन सबों के निष्पत्तिकालों में सबसे अल्प कर्मण पुद्गलपरावर्त का निष्पत्तिकाल है, इससे अनन्तगुणित तैजस का, इससे अनन्तगुणित औदारिक का, इससे अनन्तगुणित आनप्राण का, इससे अनन्तगुणित मन का, इससे अनन्त गुणित वचन का और इससे अनन्तगुणित वैक्रिय का है।

अल्पत्वबहुत्व की अपेक्षा से सब से अल्प वैक्रिय पुद्गलपरावर्त हैं। इनसे अनन्त-गुणित मनके, इनसे अनन्तगुणित आनप्राण के, इनसे अनन्तगुणित औदारिक के, इनसे अनन्तगुणित तैजस के और इनसे अनन्तगुणित कार्मण पुद्गलपरावर्त हैं।

काल-गणना की भाँति क्षेत्र-गणना की भी जैनागमों में बड़ी सूक्ष्म चर्चा है। असंख्यात् समुद्र और ऊर्ध्व और अधोलोक का परिमाण समस्त लोक १४ राजलोक के नाम से कहा जाता है। उसमें रज्जू का परिमाण आदि बहुत ही विशाल है। और भी अनेक बातों में जिस सूक्ष्मता के साथ विवरण मिलता है अतिशय ज्ञानी द्वारा ही सम्भव है। जो लोग आज का ज्ञान-विज्ञान पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ा-चढ़ा मानते हैं उन्हें हमारे प्राचीन साहित्य का विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिये। ठीक है युग की आवश्यकता के अनुसार यान्त्रिक और भौतिक विकास जो विज्ञान द्वारा कई क्षेत्रों में पूर्वापेक्षा उन्नत हुआ है; फिर भी भारत के प्राचीन साधक ऋषि और तीर्थंकरों ने जो आत्मिक व अनुभव ज्ञान में उन्नति की— उसके सामने आज का ज्ञान-विज्ञान बहुत ही साधारण लगता है। उनके ज्ञान का विकास पुस्तकों पर ही आधारित न होकर आत्मा की निर्मलता पर आधारित था और साधना के द्वारा उन्होंने अपनी शक्ति का विकास बहुत ही असाधारण रूप में किया था जिन्हें आज की दुनियां पहुंच ही नहीं सकती। आज तो उन बातों में लोग विश्वास तक नहीं करते। पातञ्जली योगसूत्रों में संयम की साधना से जो अद्भुत शक्तियां या विभूतिया साधक में प्रगटित या प्राप्त होती हैं उनका कुछ विवरण है। इसी प्रकार जैनागमों में २ प्रकार की लब्धियां मानी गई हैं जिनमें आश्चर्यजनक शक्ति मिलती है। आकाशगामिनीविद्यासम्पन्न मुनियों का विवरण मिलता है जो विना किसी यन्त्र के जब चाहे, जहां चाहे जा सकते थे। आहारक शरीर का विवरण भी चमत्कारिक है। वैक्रिय लब्धिसम्पन्न व्यक्ति रूपपरावर्तन जैसे चाहें कर सकते थे। देव-विमानों और इनकी वैक्रिय विकुर्वणा का वर्णन भी अद्भुत है। अवधिज्ञान के द्वारा बहुत विशाल प्रदेश और अनेक जन्मों की बातें ज्ञात हो जाती थीं। मनःपर्यव ज्ञान-द्वारा प्रत्येक मनवाले व्यक्ति के मन के परिणाम जान लिये जाते थे और कैवल्य ज्ञान में तो कोई भी बात अज्ञात नहीं रहती थी। भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभी बातें प्रत्यक्ष हो जाती थीं। उन महापुरुष के ज्ञान की तुलना आज हो ही कैसे सकती है? हमें अपने प्राचीन साहित्य का गम्भीर एक विशाल अध्ययन करते रहना चाहिये।

परिशिष्ट

संख्या व अंक

१. सर्वेभ्यः सूक्ष्मतरः समयः ॥
२. असंख्यातैः समयैरावलिका ॥
३. संख्यातावलिकाभिरुच्छ्वासः ॥
४. त एव संख्येयानिःश्वासः ॥
५. द्वयोरपि कालः प्राणः ॥
६. सप्तभिः प्राणभिः स्तोकः ॥
७. सप्तभिः स्तोकैर्लवः ॥

८. सप्तसप्तत्यालवानां मुहूर्त्तः ॥
९. त्रिंशता मुहूर्त्तैरहोरात्रः ॥
१०. तैः पञ्चदशभिः पक्षः ॥
११. द्वाभ्यां पक्षाभ्यां मासः ॥
१२. मासद्वयेन ऋतुः ॥
१३. ऋतुत्रयेण अयनं ॥
१४. अयनद्वयेन संवत्सरः ॥
१५. तैः पञ्चभिर्युगं ॥
१६. विंशत्या युगैर्वर्षशतं ॥
१७. तैर्दशभिर्वर्ष सहस्रं ॥
१८. तेषां शतेन वर्षलक्षं ॥
१९. तेषां चतुरशीतिवर्षलक्षैः पूर्वांगं ॥
८४००००० ॥

अत्रांकद्वयं विंदवः पंच ॥ अग्रे च स्वस्वा अनंतपूर्वांक चतुरशीतिलक्षै गणनीयस्तथा च उत्तरोत्तरोक्तौ भवति ।

२०. पूर्वं ॥ ७०५६०००००००००० ॥ ऽंकाः ४ विंदवः १० ॥
२१. तुडितांगं ॥ ५९२७०४ विंदवः पंचदश अंकाः ६ ॥
२२. तुड़ितं ॥ ४९७८७१३६ विंदवो विंशति अंकाः ८ ॥
२३. अडडांग ॥ ४१८२११९४२४ विंदूनां पंचविंशतिः अंकाः १० ॥
२४. अडडं ॥ ३५१२९८०३१६ त्रिंशद्विंदवः अंकाः १२ ॥
२५. अववांगं ॥ २९५०९०३४६५५७४४ पंचत्रिंशद्विंदवः अंकाः १४ ॥
२६. अववं ॥ २४७८७५८९११०८२४९६ चत्वारिंद्विंदवः अंकाः १६ ॥
२७. हूहूकांगं ॥ २०८२१५७४८५३०९३९६६४ ॥ पंचचत्वारिंशद्विंदवः अंकाः १८ ॥ छः ॥
२८. हूहूकं ॥ १७४९०१२२८७६५९८०९१७७६ पंचाशद्विंदवः अंकाः २० ॥
२९. उत्पलांगं ॥ १४६९१७०३२१६३४२३९०९१८४ पंचपंचाशद्विंदवः अंकाः २१ ॥
३०. उत्पलं ॥ १२३४१०३०७०१७२७६१३५५७१४५६ षष्टिविंदूनां ऽंकाः २४ ॥
३१. पद्मांगं ॥ १०३६६४६५७८९४५११९५३८८००२३४ पंचषष्टिविंदूनां अंकाः २६ ॥
३२. पद्मं । ८७०७८३१२६३१३९००४१२५९२१९३५३६ सप्ततिविंदवः ऽंकाः २७ ॥
३३. नलितांगं ७३१४५७८२६१०३६७६३४६५७७५४२५७०२४ पंचसप्तति-विंदवः ऽंकाः २९ ॥
३४. नलितं ६१४४२४५७३९२७०८८१३११२५०५१७५९००१६ अशीति विंदवः ऽकाः ३१ ॥

३५. अर्थतिपुरांगं ॥ ५१६११६६४२०९८७५४०३०१४५०४३४७७५६१३४४ पंचाशीति विंदूनां ३२ अंकाः ॥

३६. अर्थतिपूरं ॥ ४३३५३७९७३६२९५३३८५३२१८३६५२११५१५२८९६ नवति विंदूनां ९०, अंकाः ३५ ॥

३७. अयुतांगं ॥ ३६४१७१९०२६६४८८०८५३६७०३४२६७७६७८४३२६४ पंचनवति विंदवः ९५ अंकाः ३७ ॥

३८. अयुतं ॥ २०५९०४३९८३२८४९९०८६८३०८७८४९३२४५१८८३४-१७६ शतं विंदूनां १०० ॥ ३९ अंकाः ॥

३९. नयुतांगं ॥ २५६९५९६९४५२०३३९९२३९३७९४३२५९५८२०२०७८४ पंचोत्तरं शतं १०५ विंदूनां ॥ ४१ अंकाः ॥

४०. नयुतं ॥ २१५८४६१४३३९७०८५५३५५६६७८६७८६४८३३८०४८९-३९४५८५६ । दशोत्तरं शतं ११० ॥ ४३ अंकाः ॥

४१. प्रयुतांगं ॥ १८१३१०७६०४५३५५१८४९८७६१००९००६४६०३९६१-१०९१४५१९०४ । पंचदशोत्तरं शतविंदूनां ११५ ॥ ४५ अंकाः ॥

४२. प्रयुतं ॥ १५२६०१०३८७८०९८३५५३८९५९२४७५६५४२६७३२७३-३१६८१९५९९३६ विंशत्युत्तरं शतं १२० ॥ ४७ अंकाः ॥

४३. चूलिकांगं ॥ १२७९३२८७२५७६०२६१८५२७२५७६७९५४९५८४५५-४९५८६१२८४६३४६२४ पंचविंशत्युत्तरं शतं । १२५ ॥ ४९ अंकाः ॥

४४. चूलिका ॥ १०७४६३६१२९६३८६१९९५६२८९६४५०८२१६५१०२६-१६५२३४७९०९३०८४१६ त्रिंशदुत्तरं शतं । १३० ॥ ५१ अंकाः ॥

४५. शीर्षप्रहेलिकांगं ॥ ९०२६९४३४८८९६४४०७६३२८३३०१८६९०१८६-८६११९७८७९७२२४३८१९०६९४४ । पंचत्रिंशदुत्तरं शतं-१३५ ॥ ५२ अंकाः ॥

४६. शीर्षप्रहेलिकां ॥ ७५८२६३५३०७३०१०२४११५७९०३५६९९७५६९६-४९०६२१८९६६८४८०८०१२३२९६ । चत्वारिंशतं १४० विंदवः ५४ अंकः ॥

" भगवती ५ शतक उद्देश १-सूत्र ४२ पत्रे गणितसंख्यातं ततः परं उपमासंख्यातं भ० श० सू. उ. ७ अं. १९४ संख्या ततः उपमा "

" महावीरस्वामी का मुक्ति-काल-निर्णय "

प्रो. सी. डी. चटर्जी, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

बौद्ध एवं जैन धार्मिक ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करने से यह निश्चय-पूर्वक ज्ञात होता है कि मस्करिन गोशाल, महावीर तथा बुद्ध समकालीन थे। किन्तु इन धर्मग्रन्थों में इसकी निश्चित सूचना नहीं मिलती कि उनकी निर्वाण-तिथियों में कितने वर्षों का अन्तर था। इस जानकारी के अभाव में उनकी निधन–तिथियों की गणना करना भी अत्यन्त कठिन है। इतना अवश्य निश्चित है कि अजातशत्रु जब मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ तब वे सभी जीवित थे। क्योंकि 'दीघनिकाय' के सामञ्ञफल सुत्त में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि, अपने पिता की मृत्यु के तुरन्त उपरान्त, संन्यास ग्रहण करने से क्या लाभ हो सकता है, इस सम्बन्ध में अपनी शंकाओं के समाधान के हेतु वह उन सबसे मिला था [Digha Nikāya, ii, pp 47–9]। जैनधर्म साहित्य के 'भगवतीसूत्र' से ज्ञात होता है कि महावीर के जीवनकाल में ही मस्करिन गोशाल की मृत्यु श्रावस्ती में हो चुकी थी। आगे दिए गए उद्धरण से ज्ञात होगा कि बुद्ध को पावा में महावीर की मृत्यु का समाचार उनके एक अनुयायी ने दिया था जो उनके देहा-वसान के समय उस नगर में उपस्थित था। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं कि सर्वप्रथम प्रसिद्ध आजीविक शास्ता मस्करिन गोशाल, उनके उपरान्त महावीर और अन्त में बुद्ध का शरीरान्त हुआ।

'दीपवंस' और 'महावंस' में प्राप्त बौद्धों के प्राचीन विधिविधान सम्बन्धी अनुश्रुतियों से यह ज्ञात होता है कि बुद्ध का देहावसान कुशीनगर, मल्लों की राजधानी में अजातशत्रु के शासन काल के आठवें वर्ष में हुआ था। उस समय अजातशत्रु वज्जियों के प्रदेश को अपने में मिलाने के लिए सैनिक अभियान में व्यस्त था, जैसा कि हमें दीर्घ-निकाय के महापरिनिब्बान सुत्त से विदित होता है। अतः हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि तीनों समकालीन शास्ताओं की मृत्यु अजातशत्रु के शासनकाल के प्रथम आठ वर्षों में ही हो गई थी।

मस्करिन गोशाल, महावीर तथा बुद्ध के निर्वाण का क्रम तो हम निर्धारित कर चुके हैं, किन्तु उनकी तिथियों का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि उपरोक्त सामग्री

के आधार पर मस्करिन गोशाल के मृत्यु-काल का निर्धारण असम्भव-प्राय है[1] तथापि अन्य दोनों शास्ताओं के मृत्यु-समय की गणना कुछ अधिक निश्चय के साथ की जा सकती है। प्रस्तुत लेख में एक ऐसे नए दृष्टिकोण से महावीरस्वामी का निर्वाणकाल निर्धारित करने की चेष्टा की गई जिसकी ओर इतिहासकारों का ध्यान अभी तक नहीं गया है।

हेमचन्द्रसूरि का कथन है:—

एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते। पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥

[Parisishta Parvan, VIII, 339]

डा० जेकोबीने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि हेमचन्द्रसूरिने चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का जो समय दिया है, अर्थात् महावीर के देहावसान के १५५ वर्ष उपरान्त, उसकी पुष्टि करते हुए भद्रेश्वरने कहावली में लिखा है "एवं च महावीरमुत्तिसमयाओ पञ्चावण्ण वरिस सए पुछण्णे (उच्छिण्णे) नन्दवंसे चन्द्रगुत्तो राया जाउ त्ति"

अतः स्पष्ट है कि भद्रेश्वर के मतानुसार भी नन्दवंश का उच्छेदन तथा चन्द्रगुप्त का शासनारोहण महावीर के संसार से मुक्ति पाने के १५५ वर्ष उपरान्त हुआ, किन्तु बहुतेरे जैन ग्रन्थ, जैसे विचारश्रेणी, हरिवंशपुराण, विविधतीर्थकल्प, तीर्थोद्धार प्रकीर्णक तथा त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति इस आनुश्रुतिक तिथि को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार महावीर की मृत्यु चन्द्रगुप्त मौर्य के सत्तारूढ़ होने के २१५ वर्ष पूर्व हो गई थी (पालक के ६० वर्ष + नन्दों के १५५ वर्ष = २१५ वर्ष) परिशिष्टपर्वन् और कहावली तथा इन ग्रन्थों का रचना-काल आठवीं से चौदहवीं (१३ वीं) शताब्दी के बीच है।

चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि ई० पू० ३२४ से पूर्व निर्धारित नहीं की जा सकती। कारण यह है कि ई० पू० ३२६ में या ई० पू० ३२५ के पूर्वार्द्ध में चन्द्रगुप्त सिकन्दर से साधारण व्यक्ति के रूप में मिला था, न कि प्राच्य (Prasioi) और गांग्य (Gangaridai) के राजा के रूप में। अतः हेमचन्द्र और भद्रेश्वर की गणना के अनुसार महावीर का निधन ई० पू० ४७९[2] (ई० पू० ३२४+१५५ वर्ष) से पूर्व सम्भव नहीं।

---

१ असंभव नहीं। भगवतीसूत्र से वह सुस्पष्ट है। सपा० श्री नाहटाजी।

२ स्वीकृत महावीर निर्वाण संवत् ई० पू० ५२७ में तर्कसंगत शंका है, अगर अजातशत्रुका शासन काल निश्चित और प्रमाणत. मान्य है और बुद्धनिर्वाण अजातशत्रु के शासन के आठवें वर्ष में माना गया है। बुद्धनिर्वाण मेरे मतानुसार ई० पू० ४७७ और प्रस्तुत लेखके लेखक के मतानुसार ई० पू० ४८३ है तो शंका यह होती है कि महावीरनिर्वाण और बुद्ध का गृहत्याग एक ही वर्ष में अथवा ५-६ वर्ष के अन्तर मे हुये हैं। और यह सिद्ध नहीं हो सकेगा। लेखकने जो नई दृष्टि दी है वह अवश्यमेव गंभीर शोध और चिंतन के साथ विचारणीय एवं मननीय है। देखिये प्राग्वाट-इतिहास पृ. ६, चरणलेख १।

—संपा० दौलतसिंह लोढा।

बुद्ध की मृत्यु ई० पू० ४८३ में हुई। यदि महावीर का निर्वाणकाल ई० पू० ४७९ स्वीकार कर लिया जाय तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि बुद्ध की मृत्यु महावीर से कम से कम चार वर्ष पूर्व हो गई थी। किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। हम यह जानते हैं कि बुद्ध और उनके निजी सहायक सारिपुत्र को, जिनकी मृत्यु तथागत से पूर्व हुई, न केवल पावा में महावीर के निर्वाण और तदुपरान्त जैन संघ में होनेवाले भेद की ही सूचना मिली थी, वरन् वे इस बात से चिन्तित भी थे कि कहीं यह संक्रामक रोग बौद्ध संघ में भी न फैल जाय और उसके अनुयायी भी वैसी स्थिति में उसी प्रकार व्यवहार न करने लगें [Digha Nikaya, iii, pp. 209 ff. P. T. S.]। इसके लिए एक और भी प्रमाण है। चुण्ड नामक एक बौद्ध श्रमणोदेश (समणुद्देस), जिसने महावीर की तरह ही पावा में वर्षावास किया था, (पावायां वस्सवुत्थो), जब शाक्य राज्य में स्थित सामगाम में बुद्ध के दर्शनार्थ आता है, तो वह आनन्द को सूचित करता है कि निगण्ठ नातपुत्त (महावीर) का अभी हाल ही में पावा में देहावसान हो गया है (पावायां अधुना कालकतो होती) और उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अनुयायी दो दलों में विभक्त होकर (द्वेधिकजाता भंडनजाता) विरोधी विचारों का प्रतिपादन कर रहे हैं। यही नहीं, उनका कलह इस सीमा तक पहुँच गया है कि वे एक दूसरे को अपशब्द भी कहने पर उतारू हो गए हैं। इस घटना से वे दोनों बौद्ध संघ की एकता तथा मर्यादा की समस्या की चिन्ता लेकर विचार करने के हेतु बुद्ध के पास पहुँचे। बुद्ध ने इस सम्बन्ध में दो उपदेश दिए जिनमें से एक विशेष रूप से चुण्ड, और दूसरा उनके शिष्य आनन्द के लिए था। चुण्ड को दिए गए लघु उपदेश को दीघभाणकों ने और आनन्द को दिए गए लघु उपदेश को मज्झिमभाणकों ने लिपिबद्ध किया है [Digha Nikaya, iii, pp. 117-41, P. T. S. तथा Majjhima Nikaya. ii, pp. 243-51, P. T S]। अतः हम यदि कल्पसूत्र की इस परम्परा को मान लें कि महावीर का देहान्त चातुर्मास के चौथे मास में, सातवें पक्ष में कार्तिक कृष्ण पक्ष की अमावस्या को (दीपावली के दिन) राजा हस्तिपाल के पापा (पावा) स्थित सचिवालय में हुआ तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका देहान्त बुद्ध से पूर्व हो गया था, क्योंकि यह हम निश्चित रूप से जानते हैं कि बुद्ध ने एक ऐसे व्यक्ति से बौद्ध संघ के भविष्य के सम्बन्ध में विमर्श किया, जो महावीर के साथ पावा में चातुर्मास व्यतीत कर चुका था। इस प्रकार वे जैन संघ में होनेवाले उथल-पुथल तथा उसके उपासकों पर होनेवाली प्रतिक्रियाओं से भी भलीभाँति अवगत थे।

उपरोक्त कारणों से न तो चन्द्रगुप्त के शासनारोहण की हेमचन्द्र तथा भद्रेश्वर द्वारा दी गई परम्परा (बुद्ध* के देहावसान के १५५ वर्ष बाद) और न दूसरे जैन ग्रन्थों में पालक के साठ वर्ष जोड़कर दिया गया समय (बुद्ध* के २१५ वर्ष बाद) ही मान्य हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त महावीर के निर्वाण से १६५ वर्ष उपरान्त सिंहासनारूढ़ हुए और अनवधानता वश किसी बाद के इतिहास लेखक ने यह समय १५५ वर्ष लिख दिया। सम्भव है यह गणना उस काल से की गई हो जब गद्दी पर बैठने से पूर्व (ई० पू० ३२१) चाणक्य के निर्देशन में चन्द्रगुप्त ने नन्द राज्य की सीमा पर विद्रोह किया और उसे जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य देखना पड़ा। जो भी हो, यदि बौद्ध तिथिक्रम के अनुसार प्रथम मौर्य सम्राट् बुद्ध के निर्वाण के १६२ वर्ष बाद गद्दी पर आए तो महावीर एवं उनके समकालीन बुद्ध की मृत्यु में तीन वर्षों का अन्तर ऐतिहासिक दृष्टि से अस्वीकार करने योग्य बात नहीं है।

विल्हेल्म गाइगर, जे० एफ० फ्लीट तथा डी. एम. दे जेड. विक्रमसिंह ने मगध और लंका में बौद्ध धर्म के छठीं शताब्दी तक के इतिहास से सम्बन्धित समस्त तिथिक्रम सम्बन्धी सामग्री के आधार पर ई० पू० ४८३ को बुद्ध का निर्वाण वर्ष स्थिर किया है Mahavamsa, Geiger, Intr., pp. xxii ff, P. T. S Trans Series; Fleet, J. R. A. S., 1906, pp. 984-6, 1909, pp 1 ff, pp. 323 ff; Wikremsinghe, Epig. Zeyl, iii, pp. 4 ff)। इस सम्बन्ध में किए गए नए अनुसन्धान यह प्रकाशित करते हैं कि लंका में पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक बुद्ध वर्ष का आरम्भ ई० पू० ४८३ से ही माना जाता था, किन्तु जब पंचांग में सुधार हुआ तो बुद्ध का निर्वाण वर्ष ई० पू० ५४४ माना जाने लगा (John M Senavaratne, J. R. A. S., Ceylon Br., xxiii, No 67, pp. 147 ff)। फ्लीट के मतानुसार बुद्ध का शरीरान्त १३ अक्टूबर ४८३ ई० पू० को हुआ था (J. R A S, 1909, p 22)। परन्तु इस लेख के लेखक के विचार से यह घटना रविवार, २६ अप्रैल, ई० पू० ४८३ की है (D. R. Bhandarkar Vol. pp. 329-30)। ताकाकुसू यह सूचित करते है कि कैन्टन में ४८९ ई० तक रक्खे हुए 'विन्दु अभिलेखों' में ९७५ विन्दु है। अतः बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८६ (४८६+४८९=९७५) में हुआ था (J. R. A S,. 1905, p 51)। परन्तु यदि अभिलेखों को रखने में भोंडे ढंग और उनके लम्बे समय को ध्यान में रक्खा जाय तो तीन विन्दुओं का अधिक होना अप्रत्याशित या आशातीत नहीं है।

---

* 'बुद्ध' के स्थान पर 'महावीर' चाहिये। सपा० दौलतसिंह लोढ़ा.

भगवान् महावीर की वास्तविक जन्मभूमि वैशाली

प्रो. योगेंद्र मिश्र एम. ए. साहित्यरत्न

इतिहास-विभाग, पटना विश्वविद्यालय

श्रमण भगवान् महावीर जो जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर हो चुके हैं, क्षत्रियकुंडपुर के क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। यह क्षत्रियकुंडपुर वैशाली के समीप स्थित था। प्राचीन वैशाली आजकल मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ नामक गाँव है। सबसे पहले इसकी पहचान मेजर जनरल कनिंगहम ने की थी। डाक्टर विंसेंट ए० स्मिथ ने भी इस पहचान को माना है और इसके पक्ष में एंसाइक्लोपीडिया ऑव् रेलिजन ऐंड एथिक्स' (भाग १२, पृष्ठ ५६७-५६८) में उन्होंने निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं—

(१) केवल साधारण परिवर्तन के साथ प्राचीन नाम अभी भी चालू है।

(२) पटना तथा अन्य स्थानों से भौगोलिक संबंधों पर विचार करने से भी बसाढ़ ही वैशाली ठहरता है।

(३) सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री हुएनसांग द्वारा दिये हुए वर्णन का मिलान करने से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं।

(४) वैशाली की खुदाई में सीलें (मुहरें) मिली हैं जिन पर 'वैशाली' का नाम दिया हुआ है।

जबसे बसाढ़ में वैशाली-नामांकित सीलें (मुहरें) मिल गयी हैं तबसे इसमें रति भर भी संदेह नहीं रहा कि आधुनिक बसाढ़ ही प्राचीन वैशाली है जो लिच्छवियों की गौरवमयी राजधानी रह चुकी है। भगवान् महावीर इन्हीं लिच्छवियों के संबंधी—ज्ञातृ—थे।

विद्वन्मंडली ने तो बहुत पहले से बसाढ और इसके समीपस्थ ग्रामों को प्राचीन वैशाली का प्रतिनिधि मान रखा है; पर अभी भी कुछ थोड़े से लोग हैं, जो इसे मानने को तैयार नहीं। उदाहरणार्थ श्री नरेशचंद्र मिश्र 'भंजन' ने ११ अप्रैल, १९४९ के 'आर्यावर्त' (पटने से प्रकाशित हिंदी दैनिक) में 'श्री महावीर की वास्तविक जन्मभूमि' शीर्षक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि मुंगेर जिले के जमुई सबडिवीजन में अवस्थित लिच्छवाड़ नामक गाँव ही प्राचीन लिच्छवि 'राजाओं'

की राजधानी था तथा इसके समीप 'क्षत्रियकुंड' नाम से प्रसिद्ध स्थान ही श्री महावीर की वास्तविक जन्मभूमि है। मैंने 'भंजन'जी के लेख का उत्तर उसी वर्ष ५ जून के 'हुंकार' (पटने से प्रकाशित हिंदी साप्ताहिक), १७ जून के 'योगी' (पटना, हिंदी साप्ताहिक) और २४ जुलाई के 'आर्यावर्त' में छपवाया। एक दूसरे सज्जन ने १२ जून के 'आर्यावर्त' में लिच्छवाड़ के पक्ष में एक लेख (चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की जन्म-भूमि') लिखा था जिसका उत्तर मेरे 'योगी' एवं 'आर्यावत' वाले लेखों में संमिलित कर लिया गया था। 'भंजन'जी को मेरे उत्तर से तसल्ली न हुई और उन्होंने २७ दिसंबर १९४९ के 'आर्यावर्त' में मेरे लेख का प्रतिवाद किया। प्रतिवाद में कोई नया 'प्वाइंट' न था, इसलिए मैंने उसका उत्तर नहीं दिया। वे लिच्छवाड़ के समीप के निवासी हैं और उन्हें डर होने लगा कि कहीं सचाई खुल गयी, तो उस स्थान का महत्त्व कम हो जाएगा। अतएव उन्होंने अहमदाबाद की अखिल भारतीय ओरिएंटल कान्फ्रेंस (१९५३) में भी एक लेख भेज डाला। श्री जगदीशचंद्र माथुर, आई० सी० एस० और मेरे द्वारा संपादित 'वैशाली-अभिनंदन-ग्रंथ' (वैशाली, १९४८) के निकलने पर जिस में कई लेखकों द्वारा वैशाली को भगवान् महावीर का जन्मस्थान सिद्ध किया गया था, गुजरात में इस संबंध में बड़ी दिलचस्पी फैली और एक जैन मुनिजी ने गुजराती भाषा में 'क्षत्रिय-कुंड' नामक पुस्तक लिखी, जिस में उन्होंने लिच्छवाड के समीप 'क्षत्रियकुंड' नाम से आजकल प्रचलित स्थान को भगवान् महावीर की जन्मभूमि बतलाया। गुजराती भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण मैं उत्तर न दे सका, किंतु प्रसिद्ध जैन मुनि श्री विजयेंद्रसूरिजी उसका उत्तर तैयार कर रहे हैं।

सच पूछा जाए तो भगवान् महावीर की जन्मभूमि के विषय में यह भ्रांत धारणा उत्पन्न ही नहीं होती, क्योंकि लिच्छवियों की राजधानी वैशाली प्राचीन इतिहास में बहुत प्रसिद्ध थी। किंतु एक विशेष परिस्थिति से यह भ्रांत धारणा उत्पन्न हो गयी, जो अभी तक कुछ लोगों के हृदयों में घर किये हुए है। यह परिस्थिति यों हुई—

गुप्त-काल में वैशाली अत्यंत समृद्ध थी। यह वहाँ पायी गयी मुहरों, सम्राट् समुद्र-गुप्त के 'लिच्छविदौहित्र' विरुद तथा चीनी यात्री फाहियान के भ्रमण-वृत्तांत से सिद्ध होता है। कालांतर में इसका पतन हो गया। संभवतः हूणों ने इसकी यह दशा की होगी, क्योंकि उनका नेता मिहिरकुल अपनेको पशुपति (शिव) का उपासक कहता था और उसने बौद्धों पर घोर अत्याचार किये थे। सातवीं शताब्दी में हुएनसांग ने जब इसे देखा,

तब इसे उजाड़ पाया। उस समय यहाँ बौद्ध संघाराम खंडहर हो चले थे; जो थे, उनमें भी बहुत कम भिक्षु रहते थे। दस-बीस देव-मंदिर भी थे। हुएनसांग को वहाँ निर्ग्रंथ-मतानुयायी (जैन) अधिक संख्या में मिले।

पाल-युग में पूर्वी भारत में बौद्ध-मतावलंबियों की जड़ काफी जम गयी तथा नालंदा, विक्रमशिला, उडयंतपुरी और वज्रासन के बौद्ध महाविहारों से इस काम में पर्याप्त सहायता पहुँची। वैशाली में बुद्ध की मूर्तियां भी बनने लगीं, जिनमें एक अभी भी कोल्हुआ में मौजूद है। इस समय यहाँ जैनों का प्रभाव कुछ कम हो गया मालूम पड़ता है, यद्यपि जैन तीर्थंकर की इस युग की बनी एक मूर्ति उपलब्ध है। वैशाली के लोगों के नेपाल और बर्मा चले जाने का शायद असर पड़ा हो। जब हम इस युग (७५०-१२०० ई०) के जैनधर्म के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तब हमें पता चलता है कि इस समय इस धर्म को राजस्थान, गुजरात और दक्षिण में विशेष प्रश्रय मिला। जैनों के मंदिर भी उसी तरफ स्थापित हुए। इसमें वैशाली पीछे पड़ गयी। जैन पुरानी बातें भूलते गये। वैशाली से उनका संबंध टूट-सा गया।

जिस समय वैशाली से जैनधर्म का संबंध टूट रहा था, उस समय वहाँ इस्लाम तेजी से अपने पैर बढ़ा रहा था। ११८० ई० में इमाम मुहम्मद् फकीह ने मनेर (पटना जिला) को वहाँ के हिंदू सरदार से छीन लिया। उनके तीन लड़के थे, जिनमें मँझले (इसमाईल) ने तिरहुत में इस्लाम का झंडा ऊंचा किया। इन्हींके वंश में पंद्रहवीं शताब्दी में शेख काजिन शुत्तारी (१४३४-१४९५ ई०) हुए, जिनकी कब्र आज भी बसाढ़ में एक बौद्ध स्तूप के ऊपर बनी हुई है।

मुगल-काल में जैनमत में एक नवीन जाग्रति आयी दीखती है। सन् १६४१ ई० में शाहजहाँ के राजत्वकाल में आचार्य जिनराजसूरि के नेतृत्व में बिहार के श्वेतांबर संघ ने पावापुरी तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया। पावापुरी (मध्यमा पावा) में भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुआ था। जब जैन समाज को भगवान् महावीर की निर्वाण-भूमि का पता लग गया और वहां विशाल मंदिर एवं धर्मशालाएँ बन गयीं, तब उसे महावीर की जन्मभूमि के अन्वेषण की भी चिंता हुई। उसने यह सोचा कि जब भगवान् का निर्वाण पावापुरी में हुआ है, तब उनका पवित्र जन्म भी इसीके आसपास ही कहीं हुआ होगा। जैन जनता अच्छी तरह जानती थी कि श्वे० जैन ग्रंथों में भगवान् महावीर का जन्म क्षत्रियकुण्ड एवं दिगम्बर जैन ग्रन्थों में कुंडपुर या कुंडलपुर में लिखा है और वे लिच्छवियों के नाती थे। जन्मभूमि के अन्वेषणार्थ दो दल निकले। श्वेतांबर संघ को

लिच्छवाड़ (क्षत्रियकुण्ड) का पता चला, जिसे उसने चट लिच्छवियों के नाती महावीर का जन्मस्थान मान लिया। दिगंबर संघ को नालंदा से सटा हुआ लगभग दो मीलों की दूरी पर एक कुंडलपुर नामक गाँव का पता लगा। फिर पूछना ही क्या है, यही कुंडलपुर महावीर की जन्मभूमि मान लिया गया और यहां भी (लिच्छवाड़ के समान ही) मंदिर, धर्मशाला आदि का निर्माण हो गया। दोनों जन्म-स्थान चल निकले। वहां तीर्थ-यात्री आने लगे और कुछ लोगों का निहित स्वार्थ सचाई के ऊपर पर्दा डालने लगा। उस समय तक वैशाली को जैन बिलकुल भूल चुके थे। बाहरी आक्रमणों के अतिरिक्त गंडक नदी का अधिक पश्चिम की ओर खिसकना भी एक जबर्दस्त कारण हुआ जिससे वैशाली पहुँचने में कठिनाई हुई होगी। फिर यह जमाना स्थल-व्यापार की अपेक्षा सामुद्रिक व्यापार को अधिक तरजीह देता था। अतएव लाचार हो जैनों ने लिच्छवाड़ और उसके समीपस्थ ग्रामों से ही भगवान् महावीर के जीवन से संबंध रखनेवाली सारी घटनाएँ जोड़ दीं। फलतः क्षत्रियकुंड वहीं स्थापित हो गया। यह स्थान जैन संसार में अब भी इसी नाम से विख्यात है। जब दूर-दूर के जैनों ने इसे अपने तीर्थंकर का जन्म-स्थान मान लिया, तब इसकी समीपस्थ जनता इसे स्वभावतः 'जन्मस्थान' के नाम से जानने लगी। जैनों ने यहां मंदिर बनवा दिये हैं और अपने शास्त्रों के अनुसार अन्य स्थानों की कल्पना भी कर ली है। फलतः गर्भकल्याणक और दीक्षाकल्याणक के नामों से प्रसिद्ध दो मंदिर भी बन गये हैं। श्वेतांबर जैनों ने जो कार्य लिच्छवाड़ के लिए किया, वही कार्य दिगंबर जैनों ने कुंडलपुर के लिए किया।

दो स्थानों का जैनों द्वारा जन्म-स्थान माना जाना स्पष्ट बतलाता है कि मुसलिम-काल में जैन अपनी परंपरा को बिलकुल भूल गये और अज्ञान के गह्वर में पड़ गये। नहीं तो भला कोई बताए कि भगवान् क्या दो स्थानों पर पैदा हुए थे ?

यद्यपि जैन समाज का एक अंश लिच्छवाड़ को भगवान् महावीर की जन्मभूमि मानकर वहाँ तीर्थ करने के लिए पहुँचता है, तथापि इसमें ऐसे लोग भी हैं, जो सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद असत्य का परित्याग करने में अपनी हीनता या निंदा नहीं मानते। प्रसिद्ध जैन विद्वान् कल्याणविजयजीने 'श्रमण भगवान् महावीर' नामक ग्रंथ लिखा है जिसमें उन्होंने वैशाली को भगवान् महावीर की जन्मभूमि स्वीकार किया है। एक दूसरे जैन विद्वान् श्री विजयेंद्रसूरिने वैशाली नामक अपनी पुस्तक में यही विचार दृढ़ता के साथ रखा है और लिच्छवाड़ के विरुद्ध निम्न लिखित दलीलें पेश की हैं।

(१) आधुनिक स्थान जिसे क्षत्रियकुंड कहा जाता है और जिसे लिच्छुवाड़ के

पास बताया जाता है, मुंगेर जिले के अंतर्गत है। 'महाभारत' में इस प्रदेश को एक स्वतंत्र राज्य 'मोदगिरि' के नाम से उल्लिखित किया है, जो बाद में अंग देश से मिला दिया गया था। अर्थात् प्राचीन ऐतिहासिक युग में यह स्थान विदेह में न हो कर अंग देश अथवा मोदगिरि के अंतर्गत था। इसलिए यह स्थान भगवान् की जन्मभूमि नहीं हो सकता।

(२) आधुनिक क्षत्रियकुंड पर्वत पर है, जब कि प्राचीन क्षत्रियकुंड के साथ शास्त्रों में पर्वत का कोई वर्णन नहीं मिलता। चूँकि वैशाली के आसपास पहाड़ नही हैं, इस लिये भी वही स्थान भगवान् का जन्मस्थान अधिक संभव प्रतीत होता है।

(३) आधुनिक क्षत्रियकुंड की तलहटी में एक नाला बहता है, जो कि गंडकी नहीं है। गंडकी नदी आज भी वैशाली के पास बहती है।

(४) शास्त्रों में क्षत्रियकुंड को वैशाली के निकट बताया है जब कि आधुनिक स्थान के निकट वैशाली नहीं है।

(५) विदेह देश तो गंगा के उत्तर में है जब कि आधुनिक क्षत्रियकुंड गंगा के दक्षिण में है।

अंत में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो स्थान आजकल बसाढ़ नाम से प्रसिद्ध है वही प्राचीन वैशाली है; इसी के निकट क्षत्रियकुंडग्राम था जहां भगवान् के तीन कल्याणक हुए थे। उनका कहना है कि (१) इसी स्थान के निकट आज भी वाणियागांव कूमनछपरागाछी और कोल्हुआ मौजूद हैं। आजकल यह क्षत्रियकुंड स्थान बासुकुंड नाम से प्रसिद्ध है। (२) आर्क्योलौजिकल विभाग भी बासुकुंड को ही प्राचीन क्षत्रियकुंड मानता है। (३) यहां के स्थानीय लोग भी यही समझते हैं कि भगवान् महावीर का जन्म यहीं हुआ था।

अन्य प्रसिद्ध जैन विद्वानों का भी यही विचार है। श्री सुखलालजी संघवी और डाक्टर हीरालाल जैन ऐसा ही मत वैशाली-महोत्सवों के अपने अध्यक्षीय भाषणों में (क्रमशः १९५३ और १९५५ में) व्यक्त कर चुके हैं। पहले-पहल १९४७ ई० में बिहार सरकार ने महावीर-जन्म-दिवस (चैत सुदी तेरह) को सार्वजनिक छुट्टी घोषित की। उस समय तक वैशाली-महोत्सव (जो १९४५ से वैशाली और महावीर की पवित्र स्मृति में प्रारंभ हुआ था) मार्च-एप्रिल में सुविधाजनक तिथियों पर मनाया जाता था। सरकार द्वारा सार्वजनिक छुट्टी की घोषणा होते ही वैशाली-महोत्सव १९४८ से चैत सुदी

तेरह को मनाया जाने लगा और उसी साल से इस महोत्सव में जैन भी संमिलित होने लगे। उन्होंने १९४८ से ही वैशाली में जैनशास्त्रानुमोदित ढंग से महोत्सव-तिथि (चैत सुदी तेरह) पर श्री महावीर-जन्मोत्सव भी मनाना शुरू किया। इस उत्सव में सौराष्ट्र और अहमदाबाद तक के जैन संमिलित होने लगे हैं।

प्राचीन इतिहास में दक्षिण में मुंगेर (मुंगेर जिले का वह भाग जो गंगा के दक्षिण है) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। डाक्टर सुविमलचंद्र सरकार (१८८९-१९५४) ई० के मतानुसार वहां का अभयपुर नामक नगर चंद्र राजाओं (पिछले मौर्यों की एक शाखा जो अपने को चंद्रगुप्त मौर्य के वंशज बतलाते थे) की राजधानी था। अतएव अभी भी उड़ेन-मनकट्ठा इलाके में बहुत-से प्राचीन अवशेष मिलते हैं। वहां मिले अभिलेखों को मेरे मित्र डाक्टर प्रियतोष बनर्जी ने पढ़ा है और 'पटना युनिवर्सिटी जर्नल' में छपवाया है। डाक्टर सरकार का विचार है कि उडेन (प्राचीन उड्डीयान) में पहले बौद्ध विहार भी था। इसी प्रकार लखीसराय-किउल इलाके में भी प्राचीन मूर्तियों का पाया जाना संभव है। जो मूर्तियां अथवा ईंटें मिलती हैं उनकी जांच प्रामाणिक तौर से नहीं करायी जाती। फलतः उन्हें लोग केवल अति प्राचीन ही नहीं मानते, वरन् भगवान् महावीर के समय तक खींच ले जाते हैं। ११ अप्रेल १२ जून, १९४९ के 'आर्यावर्त' में लिच्छ-वाड़ के पक्ष में जो लेख लिखे गये थे वे इसी प्रकार के पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा लिखे गये मालूम पडते हैं, जो लिच्छवाड़ इलाके में पाई गई बड़ी बड़ी ईंटों को छट्ठी शताब्दी ईसा-पूर्व की कह बैठते हैं। ऐसे लोगों को जहां कहीं कोई भग्नावशेष मिला कि उसे चट ईसा के पूर्व छट्ठी सदी का मान बैठे और वह स्थान भगवान् महावीर की जन्मभूमि बन गया! वस्तुतः मुसलिम-काल में इन्हीं-जैसे विद्वानों ने उस समय के भोले-भाले और प्राचीन इतिहास एवं परंपरा के ज्ञान से रहित जैनों को ध्वनि-साम्य के कारण यह सुझाया होगा कि लछुआर (लिच्छवाड़) ही लिच्छवियों का प्राचीन स्थान है और तब वहां कल्पना-तीर्थ की स्थापना हुई होगी। यह विश्वास उस समय पक्का हो जाता है जब हम पहले लेख में पढ़ते हैं-"उच्चारण-दोष से 'बहुशाल' का 'बहुवारि' हो जाना भी विशेष असंभव प्रतीत नही होता।" कहां शाल का वृक्ष और कहां वारि अर्थात् जल? कुछ और दिमागी कसरत की जरूरत है 'भंजन' जी। दूसरे लेख के अंत में लिखा है-"मोरार का अपभ्रंश होते-होते इन दिनों मंजोस हो गया है। श्वेतिका का अपभ्रंश होते-होते सिकंदरा हो गया है।" सिकंदरा का संबंध किसी सिकंदर से हो सकता है, न कि श्वेतिका से-यह इतनी स्वयंसिद्ध बात है कि इसपर किसी टिप्पणी की आवश्यकता ही नहीं।

जो लोग वैशाली को भगवान् महावीर की जन्मभूमि मानते हैं, वे यह नहीं कहते कि खास वैशाली नगर में ही भगवान् उत्पन्न हुए थे। क्षत्रियकुंडग्राम वैशाली के समीप था; अतः क्षत्रियकुंडग्राम में उत्पन्न होने पर भगवान् वैशालिक कहला सकते थे। इसमें किसी प्रकार की असंगति नहीं है। वस्तुतः 'सूत्रकृतांग' में महावीर को 'वेसालिए' कहा गया है। 'कल्पसूत्र' में वे 'विदेहे, विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे, विदेहसुकुमाले' अर्थात् विदेह, विदेहदत्त, विदेहजात्य और विदेहसुकुमार कहे गये हैं। तीस वर्ष विदेह में व्यतीत करने पर उन्होंने प्रव्रज्या ली थी। प्रव्रज्या के बाद उन्होंने बारह वर्षावास वैशाली वाणिज्यग्राम में किये (लिच्छवाड़ में एक भी वर्षावास क्यों न किया, यह रहस्य ही है) वैशाली में जैन अवशेषों के पाये जाने से हमारा पक्ष मजबूत हो जाता है। यही नहीं, गुप्त-काल में वैशाली और कुंड समानार्थक बन गये थे, क्योंकि एक सील पर 'वेशालीनामकुंडे कुमारामात्याधिकरण (स्य)' लिखा है। देश के और कुंडों से इस (क्षत्रियकुंड) को अलग दिखलाने के लिए ही ऐसा लिखा गया था, इसमें कोई संदेह नहीं।

अब वैशाली जग पड़ी है। सचाई भी तेजी से फैल रही है। वैशाली-संघ ने इस संबंधी साहित्य का प्रकाशन कर अनुसंधान का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। श्वेतांबर और दिगंबर सघों के अनेक सदस्य वैशाली को भगवान् महावीर की जन्मभूमि मानने लगे हैं। जन्मभूमि के गांव (बसुकुंड) में वैशाली विद्यापीठ की स्थापना हो रही है, जहां प्राकृत, जैन साहित्य और अहिंसा की शिक्षा दी जाएगी। इस संस्था के लिए सेठ शांतिप्रसाद जैन ने सवा छः लाख रूपयों का दान दिया है—पांच लाख प्रारंभ में और पचीस हजार प्रति वर्ष पांच वर्षों तक। शीघ्र ही यहां मंदिर और धर्मशाला का भी निर्माण होगा। और तब वैशाली प्राकृत इंस्टीस्यूट से ज्ञान की जो किरणें फूटेंगी, उनमें अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाएगा। अंधविश्वास को उसमें कोई जगह नहीं मिलेगी और लोग स्पष्ट देख सकेंगे कि विदेह में उत्पन्न वैशालिक भगवान् महावीर की वास्तविक जन्मभूमि कहां है।

ललितकला और तीर्थ—मंदिर

कोरटाजी तीर्थ का प्राचीन इतिहास

प्रदेश मारवाड़ में जिस प्रकार ओसियां, आवू, कुंभारिया, राणकपुर और जैसलमेर आदि पवित्र और प्राचीन तीर्थ माने जाते हैं, उसी प्रकार कोरंटक (कोरटाजी) तीर्थ भी प्राचीनता की दृष्टि से कम प्रसिद्ध नहीं है। यह पवित्र और पूजनीय स्थान जोधपुर रियासत के वाली परगने में एरनपुरा स्टेशन से १२ माइल पश्चिम में है। यह किसी समय बड़ा आवाद नगर था। वर्त्तमान मे यहाँ सभी जातियों की घर—संख्या ४०८ और जन—संख्या लगभग १७५० है। इन में वीसा औसवाल जैनों के ६७ घर हैं जिन में इस समय पुरुष १२२ और स्त्रियां ११३ हैं। इस समय यह एक छोटे ग्राम के रूप में देख पड़ता है। इससे लगती हुई एक छोटी, परन्तु बडी विकट पहाड़ी है। पहाड़ी के ऊपर अनन्तराम सांकलाने अपने शासनकाल में एक सुदृढ दुर्ग बनवाया था जो धोलागढ के नाम से प्रसिद्ध था और अब भी इसी नाम से पहिचाना जाता है। इस समय यह दुर्ग नष्टप्राय है। दुर्ग के मध्य भाग में पहाड़ी की चोटी पर 'वरवेरजी' नामक माता का स्थान और उसीके पास एक छोटी गुफा है। गुफा के भीतरी कक्ष में किसी तपस्वी की धूनी मालूम पड़ती है। इस समय गुफा में न कोई रहता है और न कोई आता—जाता है। कोरटाजी के चारों तरफ के खंडेहर, पुराने जैन मन्दिर, आदि के देखने से प्राचीन काल में यह कोई बड़ा भारी नगर होगा ऐसा सहज ही अनुमान हो सकता है। इसका पश्चिम—दक्षिण भाग झारोली गांव के पहाड़ से लगा हुआ है।

प्राचीन श्री महावीर मन्दिर—

इसकी प्राचीनता सिद्ध करनेवाला श्रीमहावीर प्रभु का मन्दिर है। यह घोलागढ पहाडी से, अथवा कोरटाजी से पौन माइल दक्षिण में 'नहरवा' नामक स्थान में स्थित है। श्री वीरनिर्वाण के बाद ७० वर्ष पीछे इस भव्य मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई है ऐसा उपकेशगच्छ पट्टावली से विदित होता है। इसके चारों तरफ सुदृढ परिकोष्ट और भीतरी आंगण में प्राचीन समय का प्रच्छन्न भूमिगृह (तलघर) बना हुआ है। श्री कल्पसूत्र की कल्पद्रुमकलिका नामक टीका और रत्नप्रभाचार्य पूजा में लिखा है कि उपकेशगच्छीय श्री रत्नप्रभसूरिजीने ओसियां और कोरंटक नगर में एक ही लग्न में दो रूप कर के महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठांजनशलाका की। प्रसिद्ध जैनाचार्य आत्मारामजीने भी स्वरचित जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर के पृष्ठ ८१ में लिखा है कि—"एरनपुरा की छावनी से ३ कोश के लगभग कोरंट नामा नगर ऊजड़ पड़ा है जिस जगो कोरटा नामका आज के काल में गाम वसता है, तहां भी श्री महावीरजी की प्रतिमा श्री रत्नप्रभसूरिजी की प्रतिष्ठा करी हुई है। विद्यमान काल में सो मन्दिर खड़ा है।"

पंडित धनपालने वि. सं. १०८१ के लगभग "सत्यपुरीय श्री महावीर उत्साह" बनाया है। उसकी १३ वीं गाथा के 'कोरिंट सिरिमाल धार आहडु नराणउ,' इस प्रथम चरण में कोरंट तीर्थ का भी नमस्करणीय उल्लेख किया गया है। तपागच्छीय सोमसुन्दरजी के समय में मेघ (मेह) कविने स्वरचित तीर्थमाला में 'कोरंटउ', पंन्यास शिवविजयजी के शिष्य शीलविजयजी ने अपनी तीर्थमाला में 'वीर कोरटि मयाल,' और ज्ञानविमलसूरिजीने निज तीर्थमाला में 'कोरटइं जीवितस्वामीवीर' इन वाक्यों से इतर तीर्थों के साथ-साथ इस तीर्थ को भी वंदन किया है। इन कथनों से भी जान पड़ता है कि विक्रम की ११ वीं शती से लेकर १८ वीं तक यहाँ अनेक साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका यात्रा करने को आते थे। अतएव यह पवित्र पूजनीय तीर्थ है और अति प्राचीन प्रतीत होता है।

प्रतिमा परावर्त्तनः—

आचार्य रत्नप्रभसूरि-प्रतिष्ठित श्री महावीर प्रतिमा कब और किस कारण से खंडित या उत्थापित हुई ज्ञात नहीं। संवत् १७२८ में विजयप्रभसूरि के शासनकाल में जयविजयगणि के उपदेश से जो महावीर प्रतिमा स्थापित की गई थी उसका इस मन्दिर के मंडपगत एक स्तंभ के लेख से पता लगता है। लेख इस प्रकार है।

" संवत् १७२८ वर्षे श्रावण शुदि १ दिने, भट्टारक श्री विजयप्रभसूरीश्वरराज्ये,

प्राचीन श्री महावीर मंदिर, श्री कोर्टातीर्थ (मारवाड-राजस्थान)

कोरटानगरे पंडित श्री ५ श्रीश्रीजयविजयगणिना उपदेशथी मु. जेता पुरसिंगभार्या, मु. महारायसिंग भा० सं० वीका, सांवरदास, को. उघरणा, मु० जेसंग, सा० गांगदास, सा० लाधा, सा० खीमा, सा. छांजर, सा० नारायण, सा० कचरा प्रमुख समस्त संघ भेला हुईने श्री महावीर पत्रासण वइसार्या छे, लिखितं गणि मणिविजयकेशरविजयेन, वोहरा महवद सुत लाधा पदम लखतं समस्त सर्वनइ मांगलिकं भवति शुभं भवतु ”

इस प्रतिमा के भी शिखा, कान, नासिका, लंछन, परिकर, हस्तांगुली और चरणांगुलियां खंडित हो गई थीं। अतः पूजने और सुधराने के योग्य न होने से उसके स्थान पर नवीन महावीर प्रतिमा वि० सं. १९५९ वैशाख शुदि १५ गुरुवार के दिन महाराज श्री विजयराजेन्द्रसूरिजीने स्थापित की जो विद्यमान है। और जयविजयगणि स्थापित खंडित प्रतिमा भी स्मृति के लिये गूढ़मंडप में विराजमान रक्खी गई है।

नवीन महावीर प्रतिमा कोरटा के ठाकुर विजयसिंह के समय में सियाणा (मारवाड़)-निवासी प्राग्वाट पोमाजी लुंबाजीने बनवाई है। जो वह लगभग ७ फुट ऊंची है और बहुत सुन्दर है। प्रतिष्ठा के समय जो एक छोटा प्रशस्ति-लेख लगाया गया था, उससे जान पड़ता है कि महावीर प्रतिमा को कोरटाजी के रहनेवाले ओसवाल कस्तूरचंद यशराजने विराजमान की थी। हरनाथ टेकचंदने वीर मंदिर पर कलशारोपण किया था, पोमावानिवासी सेठ हरनाथ खूमाजीने ध्वजा और कलापुरानिवासी ओसवाल रतनाजी के पुत्रोंने दंडारोपण किया था।

कोरंटकनगर की प्राचीन जाहोजलाली—

इस ग्राम के कोरंटपुर, कोरंटक, कोरंटी, कणयापुर, कोलापुल क्रमशः परिवर्त्तित नाम मिलते हैं। वि. सं. १२४१ के लेखों में इसका 'कोरंट' नाम सर्व प्रथम लिखा हुआ ज्ञात होता है। इससे पूर्व के लेखों में यह नाम नहीं पाया जाता। उपदेशतरंगिणी ग्रन्थ से पता चलता है कि 'सवत् १२५२ में यहां श्री वृद्धदेवसूरिजीने[1] चौमासा कर के मंत्री नाहड़ और सालिग के पांचसौ कुटुंबों को प्रतिबोध देकर जैन बनाया था। इन के पहले भी कोरंटनगर में वृद्धदेवसूरिजीने तीस हजार जैनेतर कुटुम्बों को जैन बनाया था, ऐसा वृद्धप्रवाद है। इस कथन से इस की समृद्धता एवं सम्पन्नावस्था का तो सहज अनुमान हो सकता है।

---

१ "एकदा कोरण्टस्थाने वृद्धश्रीदेवसूरयो विक्रमात् स. १२५२ वर्षे चतुर्मासी स्थिताः; तत्र मंत्रि नाहड़ो लघुभ्राता सालिगस्तयोः ५०० कुटुम्बाना च प्रतिबोधस्तत मुद्रित उपदेशतरंगिणी पृ १०२।

कोरंटगच्छ:—

जिस समय यह नगर अतीव सम्पन्न एवं प्रसिद्ध था, उस समय इसके नाम से 'कोरंटगच्छ' नामक गच्छ भी निकला था। वह विक्रमीय १६ वीं शताब्दी तक विद्यमान था। इस गच्छ के मूल उत्पादक आचार्यश्री कनकप्रभसूरिजी माने जाते हैं। उपसवंश स्थापक श्रुतकेवली श्रीरत्नप्रभसूरिजी के वे छोटे गुरुभ्राता थे। इस गच्छ के आचार्यों की प्रतिष्ठित जिनप्रतिमाएँ अनेक गावों में पाई जाती हैं। वि. सं. १५१५ के लगभग इस स्थान में ही 'कोरंट तपा' नाम की एक शाखा भी निकली थी। मालूम होता है कि यह गच्छ अपनी शाखा के सहित विक्रम की १८ वीं शताब्दी में विलीन हो गया। इस समय इसका नामशेष ही रहा जान पड़ता हैं।

एक ताम्रपत्र का पता—

विक्रम संवत १६०१ में जब माटुंगानिवासी ईंगलिया नामक मरेठा मारवाड को लूटने के लिये आया था, तब वह कोरटा से एक ताम्र-पत्र और कालिकादेवी की मूर्ति ले गया था। कहा जाता है कि वह ताम्रपत्र अब भी माटुंगा में एक महाजन के पास हैं। कोरटा के महाजन प्रतापजी की वही में उक्त ताम्रपत्र से चौदह ककार उतारे गये हैं। व इस प्रकार हैं:-कणयापुरपाटण १, कनकधर राजा २, कनकावती राणी, ३, कनैयाँ-कुवर ४, कनकेसर मुना ५, कालिकादेवी, ६, कांबीवाव ७, केदारनाथ ८, ककुआतालाब ९, कलरवाव १०, केदारिया वांभण ११, कनकावली वेश्या १२, किशनमंदिर १३, केशरियानाथ १४।

इन चौदह ककारों में से किसन (चारभुजा) का मन्दिर गांव के बीच में, कालिका-देवी और ककुआतलाव गांव से दक्षिण, कांबीवाव और केदारनाथ गांव से पौण माइल पूर्व-दक्षिण कोण में, कलरवाव धोलागढ और वांभणेरा गांव के मध्य में और केसरिया-नाथबिंब कोरटाजी के नये मन्दिर में विराजमान हैं।

किंवदन्ति है कि 'आनन्दचोकला के राज्यकाल में नाहड मंत्रिने कालिका मन्दिर, केदारनाथ, खेतळादेवल, महादेवदेवल और कांबीवाव ये पांच स्थान संबंधित इनकी भूमि-स्थलों के श्री महावीर प्रभु की सेवा में अर्पण किये थे; परंतु आज कांबीवाव के अतिरिक्त अन्य कोई स्थान महावीर प्रभु के मन्दिर के अधिकार में नहीं है।

दूसरे दो प्राचीन जिनमंदिर—

गांव से पश्चिम धोलागढ़ की ढालू भूमि पर पहला मंदिर श्री आदिनाथ का और दूसरा गांव में उत्तर की ओर है। इन दोनों मन्दिरों की स्तंभमालाओं के एक स्तंभ पर

'ॐ नाढ़ा' अक्षर उत्कीर्णित हुए देख पड़ते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये मन्दिर नाहड के पुत्र ढाकलजीने अपने श्रेय के लिये बनवाये हों। नाहड और सालिग के कुटुंबियों द्वारा कोरंटादि नगरों में नाहडवसहि प्रमुख ७२ जिनालय बनवाने का उल्लेख उपदेशतरंगिणी ग्रन्थकारने किया भी है। इन में प्रथम जिनालय की मंडप-स्तंभमालाएं यशश्चन्द्रोपाध्याय के शिष्य पद्मचंद्र उपाध्यायने अपनी माता सूरी और ककुभाचार्य के शिष्य भट्टारक स्थूलिभद्रने निज माता चेहणी के श्रेयोऽर्थ बनवाई है, ऐसा दो स्तंभों के लेखों से ज्ञात होता है। इन दोनों की प्राचीन मूलनायक प्रतिमाएं खंडित हो जाने से, उनको मन्दिरों की भ्रमती में भंडार दी गई और उनके स्थान पर एक ऋषभदेव प्रतिमा संवत् १९०३ माघ शु० ५ मंगलवार के दिन और दूसरी पार्श्वनाथ प्रतिमा स. १९५५ फाल्गुण कृ० ५ को प्रतिष्ठित एवं विराजमान की गई हैं। प्रथम के प्रतिष्ठाकार सागरगच्छीय श्री शान्तिसागरसूरिजी और द्वितीय के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी हैं।

प्राचीन मूर्तियों की प्राप्तिः—

सब से प्राचीन जिस महावीर मन्दिर का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसके परिकोष्ट का संभारकार्य कराते समय बाये ओर की जमीन खोदने पर दो हाथ नीचे सं० १९११ ज्येष्ठ शु० ८ के दिन पांच फुट बडी सफेद पाषाण की अखंडित श्रीऋषभदेव भगवान् की एक प्रतिमा और उतने ही बडे कायोत्सर्गस्थ दो बिंब एवं तीन जिनप्रतिमाएं निकली थीं। कायोत्सर्गस्थ प्रतिमाओं में एक संभवनाथ और एक दूसरी शान्तिनाथ भगवान् की हैं। इनकी प्रतिष्ठा स. ११४३ वैशाख शु० २ गुरुवार के दिन बृहद्गच्छीय श्री विजयसिंहसूरिजीने की है। इसी प्रकार संवत् १९७४ में 'नहरवा' नामक स्थान की जमीन से १३ तोरण और चार धातुमय जिनप्रतिमाएं निकली थीं। अब तक समय-समय पर कोरटाजी की आसपास की जमीन से छोटी-बडी ५० प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जो सभी प्राचीन और सर्वांगसुन्दर है। इन के प्रतिष्ठाकार देवसूरिजी, शान्तिसूरिजी और + + + सूरिजी आदि आचार्य हैं। कोरटावासियों का कहना है कि यदि दस-बीस हजार का खर्च उठा कर यहां की जमीन का खोदकाम कराया जाय तो सैंकडों प्राचीन जिनप्रतिमाएँ निकलने की संभावना है।

नया जैन मन्दिरः—

यह मन्दिर कोरटाजी के पूर्व पक्ष पर अति विशाल, रमणीय एवं शिखरबद्ध है।

---

१ मंत्रिणा दृढधर्मरङ्गेण। ७२ जैनविहारा नाहडवसहि प्रमुखाः कारिताः कोरंटादिषु प्रतिष्ठिताः उपदेशतरंगिणी ५, १०३.

भूमि से निर्गत उपरोक्त विशाल, प्राचीन और सर्वाङ्गसुन्दर श्रीऋषभदेवस्वामी की प्रतिमा दो काउसगियों के सहित विराजमान हैं। इस विशालकाय मन्दिर की प्रतिष्ठा और इसी उत्सव में नवीन तीनसौ जिनबिम्बों की अंजनशलाका सं. १९५९ वैशाख शु० १५ गुरुवार के दिन श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने की है।

राज्यपरिवर्त्तन—

कोरटाजी जागीर पर प्राचीन समय में किस-किस राजा एवं सामंत, ठक्कुर का अधिकार रहा ? वह बतलाना अति कठिन है। परन्तु प्राप्त सामग्रियों से जान पड़ता है कि इस पर भीनमाल के राजा रणहस्ती वत्सराज, जयन्तसिंह-उदयसिंह और चाचिगदेव का, चन्द्रावती और आबू के परमार राजाओं का, अणहिलवाड (पाटण) के चावडा और सोलंकियों का, नाडौल और जालोर के सोनगरा चौहानों का, सिरोही के लाखावत देवडा चौहानों का, आंबेर और मेवाड़ के महाराणाओं का क्रमशः अधिकार रहा। सं. १८१३ और १८१९ के मध्य में उदयपुर महाराणा की कृपा से पांच गांवों के साथ कोरटा जागीर वांकली के ठाकुर रामसिंह को मिली। गोडवाड़ परगना जब जोधपुर के महाराजा को मिला तब महाराजा विजयसिंहजीने सं. १८३१ जेठ कृ० ११ को ठाकुर रामसिंह को कोरटा, बांभणेरा, ३ पोईणा, ४ नाखी, ५ पोमावा, ६ जाकोडा और ७ वागीण इन सात गांवों की जागीर की सनद करदी और अब तक उसीके वंशजों के अधिकार में रही है।

कोरटाजी तीर्थ का मेला—

इस प्राचीनतम तीर्थ की समुन्नति के लिये कूणीपट्टी के २७ गांवों के जैनोंने विद्वान् मुनिवरों की सम्मति मान कर कार्त्तिक शु० १५ और चैत्र शु० १५ के दो मेले सं. १९७० से प्रारंभ किये जो आज तक प्रतिवर्ष भरते चले आ रहे हैं। यात्रियों के आराम के लिये एक विशाल धर्मशाला और एक प्राचीन उपासरा भी है।

जैनियों के लिये संक्षिप्त सूचना—

यहां तीन प्राचीन और एक नवीन एवं चार सौधशिखरी जिनमंदिर हैं। सब से प्राचीनतम श्रीमहावीर प्रभु का मन्दिर है। यह तीर्थ एरनपुरारोड स्टेशन से १२ माइल पश्चिम में है। एरणपुरारोड से कोरटाजी तक मोटर, बेलगाड़ी, टांगा, ऊंट आदि सवारियाँ मिलती हैं। आबूराज और गोडवाड़ की पंचतीर्थी की यात्रा करनेवाले यात्रियों को इस प्राचीनतम तीर्थ की यात्रा का भी लाभ अवश्य लेना चाहिये।

पाचीन श्री लक्ष्मणीतीर्थ, आलिराजपुर (मध्य–भारत)
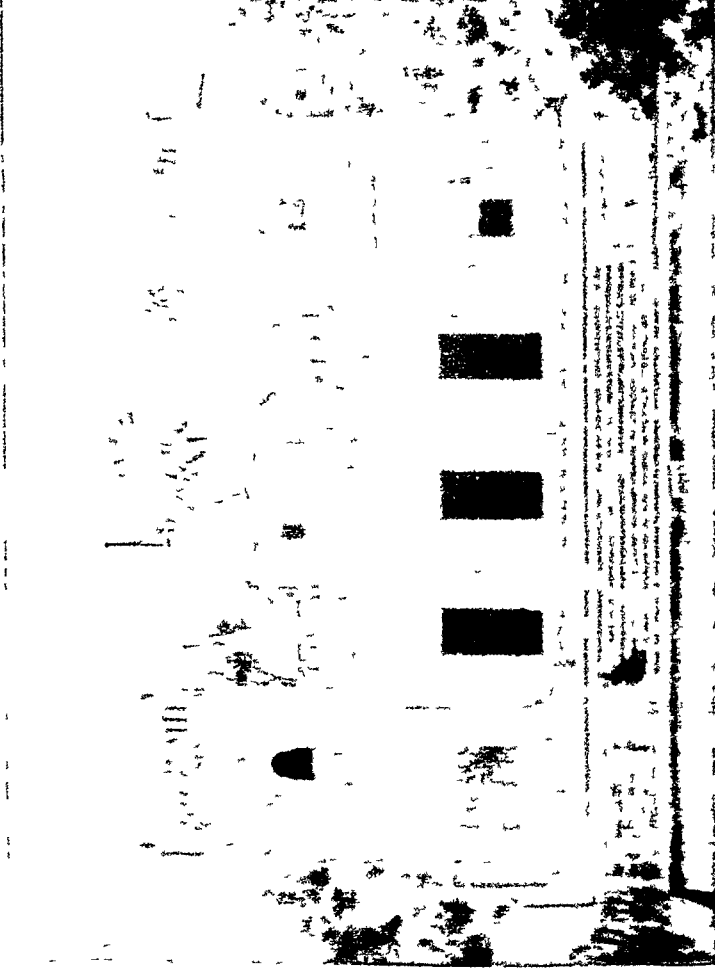
वर्तमानाचार्य श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज द्वारा प्रसिद्धकृत एवं प्रतिष्ठित नवनिर्मित मंदिर वि. स. १९९४

तीर्थक्षेत्र श्रीलक्ष्मणीजी

लक्ष्मणीतीर्थोद्धारक व्या० वा० श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश-विनेय मुनि जयंतविजय

प्राचीन लक्ष्मणी—

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के जिस तीर्थ का हम यहाँ वर्णन करने चले हैं वह लक्ष्मणी तीर्थ है। इस तीर्थ की प्राचीनता कम से कम २००० वर्षों से भी अधिक पूर्वकाल की सिद्ध होती हैं, जिसे हम आगे दिये गये प्रमाण-लेखों से जान सकेंगे।

जब मांडवगढ यवनों का समराङ्गण बना था उस वक्त इस वृहत्तीर्थ पर भी यवनोंने हमला किया और मन्दिरादि तोड़े, तब से ही इसके ध्वंस होने का कार्य प्रारंभ हो गया और क्रमशः विक्रमीय १९ वीं शताब्दि में उसका केवल नाममात्र ही अस्तित्व रह गया, और वह भी अपभ्रंश 'लखमणी' हो कर जहाँ पर भील-भिलालों के २०-२५ टापरे ही दृष्टिपथ में आने लगे।

एक समय एक भिलाला कृषिकार के खेत में से सर्वाङ्गसुन्दर ११ जिनप्रतिमाएँ प्राप्त हुईं। कुछ दिनों के व्यतीत होने के पश्चात् ११ प्रतिमाजी जहाँ से प्राप्त हुई थीं वहाँ से दो-तीन हाथ की दूरी पर से दो प्रतिमाएँ और निकलीं। एक प्रतिमाजी तो पहले से ही निकले हुए थे, जिन्हें भिलाले लोग अपने इष्टदेव मानकर तेल सिन्दूर से पूजते थे। भूगर्भ से इन निर्गत १४ प्रतिमाओं के नाम व लेख इस प्रकार हैं—

नं.	नाम	ऊंचाई इंच	नं	नाम	ऊंचाई इंच
१	श्रीपद्मप्रभस्वामी	३७	८	श्रीऋषभदेवजी	१३
२	श्रीआदिनाथजी	२७	९	श्रीसंभवनाथजी	१०॥
३	श्रीमहावीरस्वामीजी	३२	१०	श्रीचन्द्रप्रभस्वामीजी	१३॥
४	श्रीमल्लीनाथजी	२६	११	श्रीअनन्तनाथजी	१३॥
५	श्रीनमिनाथजी	२६	१२	श्रीचौमुखजी	१५
६	श्रीऋषभदेवजी	१३	१३	श्रीअभिनंदनस्वामी (खं.)	९॥
७	श्रीअजितनाथजी	२७	१४	श्रीमहावीरस्वामीजी (खं.)	१०

चरमतीर्थाधिपति श्रीमहावीरस्वामीजी की ३२ इंच बड़ी प्रतिमा सर्वाङ्गसुन्दर श्वेतवर्ण-

वाली है। उसके उपर लेख नहीं है, परन्तु उस पर रहे चिन्हों से ज्ञात होता है कि ये प्रतिमाजी महाराजा सम्राट् संप्रति के समय में प्रतिष्ठित हुई होंगी।

श्रीअजितनाथ प्रभु की १५ इंच बड़ी प्रतिमा वेलू-रेती की बनी हुई दर्शनीय एवं प्राचीन प्रतीत होती है।

श्रीपद्मप्रभुजी की प्रतिमा जो ३७ इंच बड़ी है वह भी श्वेतवर्णी परिपूर्णांग है, उस पर का लेख मन्द पड़ जाने से 'सं० १०१३ वर्षे वैशाख सुदि सप्तम्यां' केवल इतना ही पढ़ा जाता है। श्रीमल्लीनाथजी एवं श्याम श्रीनमिनाथजी की २६-२६ इंच बड़ी प्रतिमाएँ भी उसी समय की प्रतिष्ठित हों ऐसा आभास होता है। इस लेख से ये तीनों प्रतिमाएं १ हजार वर्ष की प्राचीन हैं।

श्रीआदिनाथजी २७ इंच और ऋषभदेवस्वामी की १३-१३ इंची बदामी वर्ण की प्रतिमाएं कम से कम ७०० वर्ष की प्राचीन हैं एवं तीनों एक ही समय की प्रतीत होती हैं।

श्री आदिनाथस्वामी की प्रतिमा पर लेख इस प्रकार है—

" संवत् १३१० वर्षे माघसुदि ५ सोमदिने प्राग्वाटज्ञातीय मंत्री गोसल तस्य चि. मंत्री आ(ला)लिगदेव, तस्य पुत्र गंगदेव तस्य पत्नी गांगदेवी, तस्याः पुत्र मंत्री पदम तस्य भार्या मांगल्या प्र०। "

शेष पाषाण प्रतिमाओं के लेख बहुत ही अस्पष्ट हो गये हैं; परन्तु उनकी बनावट से जान पड़ता है कि ये भी पर्याप्त प्राचीन हैं। उपरोक्त प्रतिमाएं भूगर्भ से प्राप्त होने के बाद श्रीपार्श्वनाथस्वामीजी की एक छोटी सी धातुप्रतिमा चार अंगुल प्रमाण की निर्गत हुई, जिसके पृष्ठभाग पर लिखा है कि "संवत् १३०३ आ० शु० ४ ललित सा०" यह बिम्ब भी ७०० वर्ष का प्राचीन है।

विक्रम संवत्सर १४२७ के मार्गशीर्ष मास में 'जयानंद' नामा जैन मुनिराज अपने गुरुवर्य के साथ निमाड़ प्रदेश स्थित तीर्थक्षेत्रों की यात्रार्थ पधारें, उस की स्मृति में उन्होंने दो छंदों में विभक्त प्राकृतमय 'नेमाड़ प्रवास गीतिका' बनाई, उन छंदों से भी जाना जा सकता है कि उस समय नेमाड़ प्रदेश कितना समृद्ध था और लक्ष्मणी भी कितना वैभवशील था!

मांडव नगोवरी सगसया, पंच ताराउर वरा,
विंस-इग सिंगारी-तारण, नंदुरी द्वादश परा।
हत्थिणी सग लखमणी उर, इक्क सय सुह जिणहरा,
भेटिया अणुवजणवए, मुणि जयाणंद पवरा ॥ १ ॥

लक्खातिय सहस त्रिपणसय, पण सहस्स सग सया,
सय इगविसं दुमहसि सयल, दुन्नि सहस कणय मया ।
गाम गामि भक्ति परायण, धम्माधम्म सुजाणगा,
मुणि जयाणंद निरक्खिया, सबल समणोवासगा ॥ २ ॥

मंडपाचल में ७०० जिनमन्दिर एवं तीन लाख जैनों के घर, तारापुर में ५ मन्दिर ५००० श्रावकों के घर, तारणपुर में २१ मंदिर ७०० जैनधर्मावलम्बीयों के घर, नान्दूरी में १२ मन्दिर २१०० श्रावकों के घर, हस्तिनीपत्तन में ७ मंदिर २००० श्रावकों के घर और लक्ष्मणी में १०१ जिनालय एवं २००० जैनधर्मानुयायिओं के घर धन, धान्य से संपन्न, धर्म का मर्म समझनेवाले एवं भक्तिपरायण देखें, आत्मा में प्रसन्नता हुई । लक्ष्मणी, लक्ष्मणपुर, लक्ष्मणीपुर आदि इस तीर्थ के नाम हैं जो यहां पर अस्तव्यस्त पड़े पत्थरों से जाना जाता है ।

लक्ष्मणी का पुनरुद्धार एवं प्रसिद्धि—

पूर्वलिखित पत्रों से विदित है कि यहां पर भिलाले के खेत में से १४ प्रतिमाएं भूनिर्गत हुईं तथा आलिराजपुरनरेशने उन प्रतिमाओं को तत्रस्थ श्री जैन श्वेताम्बर संघ को अर्पित कीं । श्रीसंघ का विचार था कि ये प्रतिमाजी आलिराजपुर लाई जावें, परन्तु नरेश के अभिप्राय से वहीं मंदिर बंधवा कर मूर्तियों को स्थापित करने का विचार किया, जिससे उस स्थान का ऐतिहासिक महत्त्व प्रसिद्धि में आवे ।

उस समय श्रीमदुपाध्यायजी श्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज (वर्तमान आचार्यश्री) वहां विराज रहे थे । आप के सदुपदेश से नरेशने लक्ष्मणी के लिये (मन्दिर, कुआं, बगीचा, खेत आदि के निमित्त) पूर्व-पश्चिम ५११ फीट, उत्तर-दक्षिण ६११ फीट भूमि श्रीसंघ को अमूल्य भेंट दी और आजीवन पर्यंत मन्दिर खर्च के लिये ७१) रु० प्रतिवर्ष देते रहना और स्वीकृत किया ।

महाराजश्री का सदुपदेश, नरेश की प्रभुभक्ति एवं श्रीसंघ का उत्साह—इस प्रकार के भावना-त्रिवेणीसंगम से कुछ ही दिनों में भव्य त्रिशिखरी प्रासाद बन कर तैयार हो गया । आलिराजपुर, कुक्षी, बाग, टाड़ा आदि आसपास गांवों के सद्गृहस्थों ने भी लक्ष्मी का सद्-व्यय कर के विशाल धर्मशाला, उपाश्रय, ऑफिस, कुआं, बावड़ी आदि बनवाये एवं वहां की सुंदरता विशेष विकसित करने के लिये एक बगीचा भी बनाया गया जिस में गुलाब, मोगरा, चमेली, आम आदि के पेड़ लगाये गये ।

जो एक समय अज्ञात तीर्थस्थल था वह पुनः उद्धरित हो जानता में प्रसिद्ध हुआ ।

मिट्टी के टीलों को खुदवाने पर बहुत ऐतिहासिक चीजें प्राप्त हुई हैं। प्राचीन समय के वर्तन आदि भी। बगीचे के निकटवर्ती खेत में से ४-५ प्राचीन मन्दिरों के पव्यासन प्राप्त हुए।

प्रतिष्ठाकार्य—

वर्तमान आचार्य श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी ने जो उस समय उपाध्यायजी थे वि० सं० १९९४ मार्गशीर्ष शुक्ला १० को अष्टदिनावधि अष्टान्हिका महोत्सव के साथ बड़े ही हर्षोत्सह से शुभलग्नांश में नवनिर्मित मंदिर की प्रतिष्ठा की। तीर्थाधिपति श्री पद्मप्रभस्वामीजी गादीनशीन किये गये और अन्य मूर्तियों को भी यथास्थान विराजमान करदी गईं। प्रतिष्ठा के दिन नरेशने रू. २००१) भेंट किया और मंदिर की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। सचमुच सर् प्रतापसिंह नरेश की प्रभुभक्ति एवं तीर्थप्रेम सराहनीय है।

प्रतिष्ठा के समय मंदिर के मुख्य द्वार-गंभारा के दाहिनी ओर एक शिलालेख संगमरमर के प्रस्तर पर उत्कीर्ण करवा कर लगाया गया जो निम्न प्रकार है।

श्रीलक्ष्मणीतीर्थप्रतिष्ठा-प्रशस्तिः—

तीर्थाधिपश्रीपद्मप्रभस्वामिजिनेश्वरेभ्यो नमः।

श्रीविक्रमीयनिधिवसुनन्देन्दुतमे वत्सरे कार्तिकाऽसिताऽमावास्यायां शनिवासरेऽतिप्राचीने श्रीलक्ष्मणीजैनमहातीर्थे बालुकिरातस्य क्षेत्रतः श्रीपद्मप्रभजिनादितीर्थेश्वराणामनुपमप्रभावशालिन्योऽतिसुन्दरतमाश्चतुर्दशप्रतिमाः प्रादुरभवन्। तत्पूजार्थं प्रतिवर्षमेकसप्ततिरूप्यकसंप्रदानयुतं श्रीजिनालयधर्मशालाऽऽरामादिनिर्माणार्थं श्वेताम्बरजैनश्रीसंघस्याऽऽलिराजपुराधिपतिना राष्ट्रकूटवंशीयेन के. सी. आई. ई. इत्युपाधिधारिणा सर् प्रतापसिंह बहादुर भूपतिना पूर्वपश्चिमे ५११ दक्षिणोत्तरे ६११ फूट्परिमितं भूमिसमर्पणं व्याधायि, तीर्थरक्षार्थमेकं सुभटं (पुलिसं) नियोजितञ्च।

तत्राऽलीराजपुरनिवासिना श्वेताम्बरजैनसंघेन धर्मशालाऽऽरामकूपद्वयसमन्वितं पुरातमजिनालयस्यजीर्णोद्धारमकारयत्। प्रतिष्ठा चास्य वेदनिधिनन्देन्दुतमे विक्रमादित्यवत्सरेमार्गशीर्षशुक्लदशम्यां चन्द्रवासरेऽतिबलवत्तरे शुभलग्ननवांशेऽष्टान्हिकमहोत्सवैः, सहाऽऽलीराजपुरजैनश्रीसंघेनैव सूरिशक्रचक्रतिलकायमानानां श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छावतंसकानां विश्वपूज्यानामाबालब्रह्मचारिणां प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वराणामन्तेवासीनां व्याख्यानवाचस्पति महोपाध्यायविरुदधारिणां श्रीमद् यतीन्द्रविजयमुनिपुङ्गवानां करकमलेनाऽकारयत्॥

चढ़ती-पड़ती के क्रमानुसार लक्ष्मणी पुनः उद्धरित हुआ। इस तीर्थ के उद्धार का संपूर्ण श्रेय यदि किसीको है तो वह श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज को है।

वर्तमान लक्ष्मणी—

यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि जहां जैसी हवा एवं जैसा खानपान व वातावरण होता है वहां रहनेवाले का स्वास्थ्य भी वैसा ही रहता है। आज के वैद्य एवं डाक्टरों का भी अभिप्राय है कि जहां का हवा पानी एवं वातावरण शुद्ध होगा वहां पर रहनेवाले व्यक्ति प्रफुल्लित रहेंगे।

लक्ष्मणी, यद्यपि पहाड़ी पर नहीं है तथापि वहां की हवा इतनी मधुर एवं सुहावनी लगती है कि वहां से हटने का दिल ही नहीं होता। वहां का पानी इतना पाचनशक्तिवाला है कि वहां पर रहनेवालों का स्वास्थ्य अत्यंत सुंदर रहता है।

इस समय तीर्थ की स्थिति बहुत अच्छी है। दर्शनार्थ आने के लिये दाहोद स्टेशन से मोटर द्वारा आलीराजपुर आना पड़ता है; वहां पर हरएक प्रकार की यात्रियों को सुविधा प्राप्त है। बैलगाड़ी अथवा मोटर द्वारा आलीराजपुर से लक्ष्मणी जाना पड़ता है। वहां पर मुनिमजी रहते हैं। यात्रियों को रहने के लिये कमरे, रसोई बनाने के लिये बर्तन और सोने बैठने के लिये बिछौने आदि की सुविधायें पीढी की ओर से दी जाती है।

लक्ष्मणीतीर्थ का उद्धार आचार्य श्रीमद्विजयतीन्द्रसूरीश्वरजी के संपूर्ण प्रयत्नों से ही संपन्न हुआ और यह एक ऐतिहासिक चीज बन गई है।
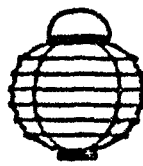
राजस्थान के जैन मन्दिर

(जयपुर रेडियो से प्रचारित)

श्री पूर्णचन्द्र जैन

विश्व के इतिहास में भारत का बहुत ऊंचा व बड़ा स्थान है। वह उसकी प्राचीनता से अधिक विश्व-मानव को उसने जो बड़ी देन दी उस कारण है। अभी तक जिसे हम दो-अढाई हजार वर्ष का इतिहाससम्मत काल मानते थे, मोहनजोदडो व हरप्पा की खुदाईने उसे पांच-सात हजार वर्ष प्राचीन तो सिद्धकर दिया है। एक लेखक के शब्दों में अब हम भी सुमेर, अबकाद और बेबिलोनियनों के मुकाबले में अपने खण्डहरों की बुजुर्गी से भी अपना बडप्पन प्रमाणित कर सकते हैं। कहना नहीं होगा कि भारतीय संस्कृति के इतिहास में उसकी तीन जैन, वैदिक और बौद्ध धाराओं का ही बड़ा भाग है तथा इस दृष्टि से जैन-संस्कृति विश्व के इतिहास में अपनी विशेषता रखती है। मोहनजोदडो में जो मूर्तियां मिलीं उनमें प्लेट १२ से १५ तथा १८, १६ और २२ को देखने से जाहिर होता है कि वे जैन मूर्तियां हैं, क्यों कि खड़ी अवस्था में ध्यान-मग्न मूर्तियां जिन के बाहु आजानु नीचे लटकते हुये हों, पलकें इस प्रकार झुकी हुई हों कि दृष्टि का केन्द्र नासिकाग्र भाग पर हो, यह जैन मूर्तियों की तक्षणशैली की विशेषता है। यह सामग्री समग्र भारतीय के साथ जैन संस्कृति के इतिहास की प्राचीनता को भी सिद्ध करती है। भारतीय धर्म और संस्कृति की परंपरा में श्रमण-संस्कृति का अपनी प्राचीनता, अपने विशिष्ट तत्वज्ञान तथा दर्शन और अपनी कलाप्रियता तथा साहित्यिक अस्मिता, राष्ट्रीय भावना और राष्ट्र के लिए की गई सेवाओं आदि के कारण अपना महत्व का और गौरवमय स्थान है। हिंसा, काम आदि मानवीय मानसिक व चित्त की दुर्बलताओं पर तप, साधना और संयम द्वारा विजय पाने के सिद्धांत पर आधारित जैन संस्कृति की भारतीय संस्कृति पर बड़ी छाप है। इसका पुनर्जीवन और पुनरोदय पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी द्वारा पूर्वी भारत में मगध व बिहार में हुआ। लेकिन बाद में इसका विकास क्षेत्र मुख्यतः पश्चिमी और दक्षिण भारत रहा। मुसलमान काल में और उससे पूर्व भी पुष्प(ष्य)मित्र जैसे राजाओं की धर्मान्धता तथा शंकराचार्य जैसे विद्वानों की एकांग दृष्टि और कट्टरता के कारण जैनों को स्थानान्तर करना पड़ा। जैन जहां-जहां और जब-जब पहुंचे वहां-वहां और उस-उस समय में उन्होंने अपनी शिल्प, स्थापत्य, चित्र, साहित्यसृजन

आदि संबंधी कला-भावना, धर्माचरण और धर्म-श्रद्धा भावना तथा सेवा और तन, मन, धन की उत्सर्ग भावना का विशेष उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया है। गहराई से देखेंगे तो भारतीय शिल्प, स्थापत्य, भारतीय चित्रकला, भारतीय वाङ्मय और साहित्य में जैन-वीरों और कर्म-वीरों की बहुत बड़ी देन रही है। और जैन संस्कृति की शिल्प, स्थापत्य, साहित्य आदि की सामग्री के इतिहास से ही भारतीय संस्कृति का एक शृंखलाबद्ध इतिहास बन सकता है। इस ओर कम दृष्टि गई है इस कारण भी भारत का इतिहास क्रमबद्ध नहीं-सा मिल रहा है।

पश्चिम भारत में वर्तमान मालवा प्रदेश, गुजरात और राजस्थान जैनधर्म और संस्कृति के विस्तार-विकास के क्षेत्र रहे हैं। सिंधु सौवीर, जिस में आज के जैसलमेर और कच्छ के भाग सामिल थे उसमें प्रतापी राजा उदाइन के जैन धर्म स्वीकार कर लेने से अपनी राजधानी में उसके द्वारा जैन मूर्ति की स्थापना और एक बार महावीरस्वामी के उधर के विहार की बात जो अभी इतिहासकारों में विवादास्पद हैं, किन्तु विराटनगर के अशोकचक्र के शासन-लेखों से भी प्राचीन अजमेर जिले में बडली के शिलालेख से यह अब निर्विवाद स्पष्ट है कि ईसा से पांचवीं शताब्दी के पूर्व भी पश्चिम भारत में जैन धर्म का प्रचार हो चुका था। लिपि शास्त्रज्ञ बडली के उस लेख की लिपि को अशोक के लेखों की लिपि से भी पूर्व की ब्राह्मी लिपि मानते हैं और वह लेख महावीर संवत् से ८४ वर्ष अर्थात् इ० पू० ५२७-८४=४४३ का संकेत देता है। श्रावस्ती (वर्तमान इलाहाबाद) के पास तक महावीरस्वामी के विहार करते हुये आने की बात तो इतिहास-सम्मत है। पर वहां से आगे पश्चिम भारत में आने की बात अभी विवादग्रस्त है। फिर भी मथुरा, हस्तिनापुर, आदि में जैन धर्म का खूब प्रचार हो गया था और बड़ा प्रभाव था। यह वहां मिलनेवाली मूर्तियों, शिलालेख आदि से स्पष्ट है। और यह संभव नहीं कि जो क्षेत्र आज राजस्थान कहलाता है वह मथुरा के इतने सन्निकट होते हुये उस प्रभाव और उस प्रसार से अछूता रहा हो। फिर भी महावीरस्वामी के समय से लगभग बारहसौ तेरहसौ वर्ष बाद तक जैनियों के इस प्रदेश में रहने-फैलने के प्रमाण छुटपुट ही मिलते हैं। उसके बाद के अर्थात् नवीं, ग्यारवीं शताब्दी के पीछे के तो शिलालेख, प्रतिमाओं के लेख आदि प्रचुर परिमाण में मिलते हैं।

राजस्थान में मुख्यतः मारवाड़, मेवाड़, मेवात, हाडौती आदि क्षेत्र हैं। मारवाड़ में जोधपुर व बीकानेर के उत्तरी भाग जांगल प्रदेश आदि शामिल हैं जिनकी राजधानी कभी अहिछत्रपुर (वर्तमान नागोर) थी। इसीके पास सपादलक्ष क्षेत्र था। आज का जैसलमेर, माड, वल्ल व भवाणी नाम से प्रसिद्ध था। मेवाड़ को मेदपाट तथा उसके कुछ हिस्से व श्रीमाल-भिन्नमाल आदि को प्राग्वाट कहते थे। चितौड़ या चित्रकूट के आसपास का क्षेत्र

शिवी कहलाता था, जिसकी राजधानी माध्यमिका थी। अलवर आदि क्षेत्र मेवात में थे जिसको उत्तरीय कुरु भी कहा जाता था। प्राग्वाट के कुछ क्षेत्र गुजरात में भी थे और एक तरह गुजरात व राजस्थान बहुत कुछ मिलेजुले थे। उपर्युक्त राणस्थान के निर्माण में भी जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण हाथ था। शासन और राजनैतिक क्षेत्रों को देखें, साहित्य के क्षेत्र को देखें अथवा शिल्प-स्थापत्य आदि क्षेत्र को तो राजस्थान के सर्वांगीण विकास और निर्माण में जैन क्षत्रिय शासकों, वैश्य महामात्यों, अमात्यों, मंत्रियों, दण्ड-नायकों और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि में से जैनधर्म स्वीकार कर दीक्षा-संस्कार ग्रहण करनेवाले श्रमण, साधु, यति, साध्वीवर्ग का उस बारे में बहुत उज्ज्वल, गौरवमय हाथ रहा है। आततायियों से संघर्ष करने में, कला और साहित्य के सृजन, संरक्षण और प्रोत्साहन में, अकाल आदि से उत्पन्न संकटकाल के समय तन-मन-धन से राहत व सेवा कार्य में, कूटनीतिक और राजनैतिक संबंधों के बनाने-बिगाड़ने में, इस प्रकार समग्र मानवीय, सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में जैनियों का हाथ रहा था। हरिभद्रसूरि, रत्नप्रभसूरि, जिनदत्तसूरि, हेमचन्द्राचार्य, बप्पभट्टसूरि, सम्प्रति, कुमारपाल, वस्तुपाल तेजपाल, धरणाशाह, ठक्कर फेरू, भामाशाह आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। जैन आचार्य और साधुओंने राजाओं सहित समग्र जनता को धर्मोपदेश दिया था। कई गच्छपति अनेक क्षत्रिय वंशों के कुल-गुरु थे और शासन को जनहितकारी व धर्मपरायण बनाने में इनका बड़ा हाथ रहा था। तीर्थों और मन्दिरों की प्रतिष्ठापना के लिये भी यह लोग प्रेरक शक्ति थे।

अन्य धर्मों और संस्कृतियों की भांति जैन धर्म व संस्कृति के भी अनेक तीर्थ और मन्दिर ही उसके आधारभूत और प्रेरक प्रतीक हैं। राजस्थान के जैन मन्दिर भी जैन संस्कृति के उत्कर्ष, प्रकर्ष और जैन धर्मानुयायियों की धर्म-श्रद्धा, उदात्त पवित्र भावना, दानशीलता, वैभवशालीता आदि के प्रतीक हैं। इन मन्दिरों के निर्माण में धर्म-गुरुओं व धर्माचार्यों की प्रेरणा तो मुख्य रही ही है, साथ ही गृहस्थ या श्रावक की सच्ची धर्म-श्रद्धा-भक्ति-भावना, कलाप्रियता का भी उसमें बहुत बड़ा स्थान है। अकाल या ऐसे अवसरों पर पीड़ित जनता को सहायता पहुंचाने की भावना भी कभी २ रही होगी। अपने वैभव व सत्ता के प्रदर्शन की भावना का कितना हाथ रहा यह कहना कठिन है, किन्तु पिछले पांच-सात शताब्दियों में मूर्तियों व मन्दिरों के लेखों में जिस प्रकार व्यक्ति के नाम, वंश आदि की प्रशस्ति के आलेखन का क्रम चला है उससे यह ईन्कार सर्वथा नहीं किया जा सकता है कि वैभव व सत्ता के प्रदर्शन का लोभ इन कला-कृतियों के निर्माण में कार्य नहीं कर रहा था। कलाकार, जिसकी आत्म-विस्मृति या तल्लीनता, आंख-हाथ-अंगुलियां आदि की एकाग्रता, तन्मयता और
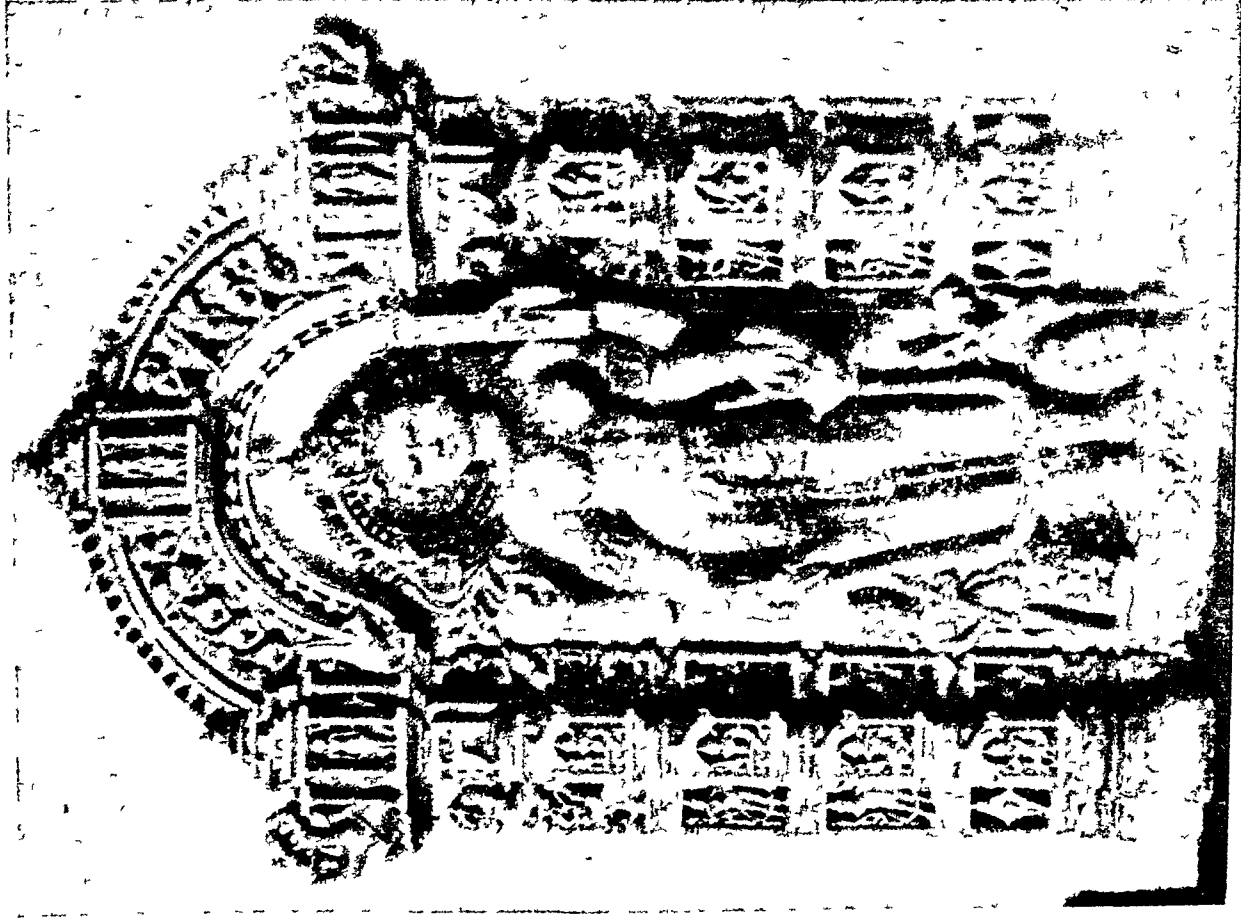
श्री सरस्वती की भावभूत प्रतिमा, बीकानेर.

श्री नाहटा सग्रहालय, बीकानेर

श्री राणकपुर लघुकरण त्रैलोक्यदीपक प्रासाद, भाण्डासर–बीकानेर.

श्री नाहटा संग्रहालय, बीकानेर.

श्री उपकेशज्ञातीय सती-स्मारक, बीकानेर
श्री नाहटा संग्रहालय, बीकानेर.
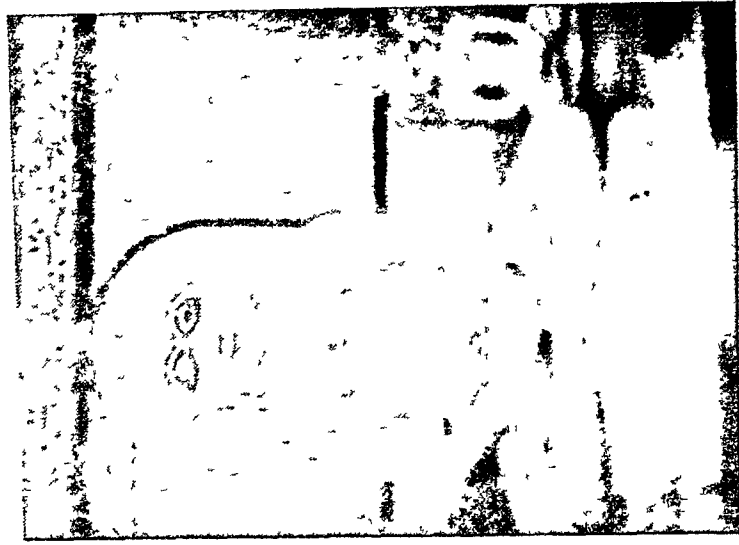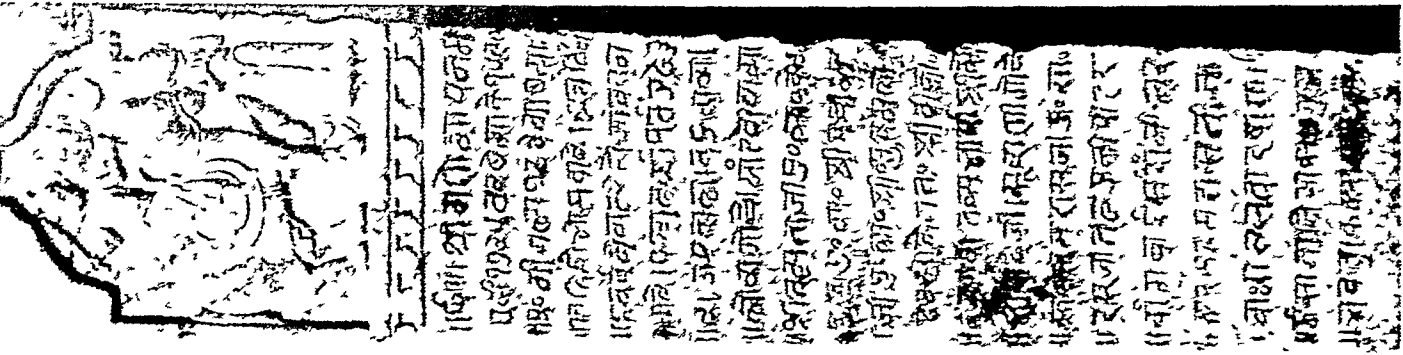
श्री शत्रुंजयावतार श्री ऋषभदेव मंदिर, बीकानेर.
भव्य मू० ना० ऋषभदेव प्रतिमा.
श्री नाहटा संग्रहालय, बीकानेर.

साधनाने धर्म व संस्कृति की प्रतीक इस सौन्दर्य-सृष्टि का निर्माण किया उसकी नामावली या वंशावली की प्रशस्ति का अभाव या उसका कहीं कहीं पर प्रसंगोपात उल्लेख मात्र भी उपर्युक्त बात की संपुष्टि करता है। लेकिन यह बात जैन मूर्तियों, लेखों, कलास्थानों पर ही नहीं, अन्य कला-कृतियों, स्थापत्य व शिल्प के गौरवशाली गिने जानेवाले स्थानों आदि के संबंध में भी लागू है। जैन धर्म या श्रमण-संस्कृति का अंतिम लक्ष्य मोक्ष है और उसकी प्राप्ति के लिये सादे जीवन, कठोर तपश्चर्या, धर्माचरण, संयम-साधना, मूर्ति-पूजा, भक्ति-उपासना और मन्दिर आदि की श्रद्धा के द्वारा कर्म-क्षय का ही मार्ग बताया गया है। यह जहां एक ओर देश में चारों तरफ फैले वैष्णव, शैव, तान्त्रिक आदि की भक्ति व उपासना पद्धति के प्रभाव का परिणाम है वहां दूसरी ओर यह भी बतलाता है कि जैन धर्म और संस्कृति समाज के प्रति उदासीन नहीं रही है। एक लेखक के शब्दों में इसी लिये "मन्दिर आध्यात्मिक स्थान होते हुये भी कलाकारोंने अपने मानसिक भावों द्वारा उसे ऐसा अलंकृत किया कि साधक आंतरिक सौन्दर्य की उपासना के साथ बाहरी पृथ्वीगत सौन्दर्य नैतिक और पारस्परिक अन्तश्चेतना जगानेवाले उपकरणों के द्वारा वीतरागत्व की ओर बढ़ सके।" फिर भी यह विचारणीय है कि जैन मन्दिरों में भी जो आडम्बर, शृंगार, चमत्कार प्रदर्शित करने व फल-परचे देने की प्रवृत्ति बढ रही है वह जैन दर्शन और धर्म भावना के कितनी अनुकूल व कितनी प्रतिकूल है। अस्तु।

जो भी हो राजस्थान के जैन मन्दिर अपनी उत्कृष्टतम स्थापत्य, शिल्पकला, वैभव व समृद्धिपूर्ण भूमिका, शान्त व पवित्र भावनाओं को जगानेवाले अपने अन्तर्बाह्य वातावरण, ग्रंथसाहित्य आदि के संरक्षण और साधना के केन्द्रस्थान होने के कारण भारत की संस्कृति के इतिहास में अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन मन्दिरों की गणना कराना तो यहां कठिन है, पर उनके कुछ संक्षिप्त उल्लेख की जरूर आवश्यकता है। इन मन्दिरों में अधिकांश क्या, लगभग सभी ही जगह उत्तर भारत में प्रचलित रही आर्य या नागर शैली की स्थापत्य व शिल्पकला है। कहीं-कहीं दक्षिण की द्राविड शैली का भी मिश्रण है। कला-पूर्ण, बढिया खुदाई, कुराई और जडाई से अलंकृत तोरणद्वार, शिखर, गुम्बज, ध्वज, आदि की विशेषता बाहर से ही बतला सकती है कि यह जैन मन्दिर है। मूलनायक की मूर्तियां अधिकांश बढिया सफेद पत्थर की हैं। कई जगह काले, लाल व पीले पत्थर की और बालुका की भी मूर्तियां हैं और सोने, चान्दी, ताम्बे आदि धातुओं तथा हीरा, पन्ना, स्फटिक आदि मूल्यवान पत्थर या जवाहिरातों की भी छोटी मूर्तियां हैं। मूर्तियों के लिये पीतल, कांसा, शीशा आदि व मिश्र धातुएं ठीक नहीं मानी जातीं, पर कई मन्दिरों में पीतल की बड़ी-छोटी मूर्तियां भारी

संख्या में हैं। मूर्तियां अधिकांश पद्मासनस्थित हैं, लेकिन कई जगह अर्द्ध पद्मासन और खड़ी कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित मूर्तियां भी हैं। मन्दिरों के अन्दर के विभिन्न भाग, द्वार-मंडप, शृंगार-चौकी, गूढ-मंडप, गर्भगृह आदि अत्यधिक कलापूर्ण और भाव-चित्रादि से अलंकृत बने हुये हैं। मूलवेदी के बाहर के सभामंडप की छत में कहीं-कहीं तो एक जीवित सात्विक सौन्दर्यसृष्टि, पुष्पावली-वल्लरी आदि के समूह और वाद्य-यंत्र धारण की हुई तथा नृत्य मुद्रा में स्थित पुत्तलिकाओं द्वारा करदी गई है जिसे देख कर इस देश के ही नहीं, विदेश व दूर-दूर के कलाविद् भी मंत्रमुग्ध रह जाते हैं। मूल मन्दिरों में तीर्थंकरों की ही मूर्तियां रहती हैं, लेकिन बाहर और प्रकोष्ठ में अम्बिका, चक्रेश्वरी, सरस्वती, क्षेत्रपाल, भैरव व भोमियों की मूर्तियां मन्दिर के बाहर, भीतर स्थापित की जाने लगीं और पूजी जाने लगीं। राणकपुर आदि कुछ एक मन्दिरों के द्वार-स्तम्भों, शिखर-मंडप आदि में नग्न स्त्री-पुरुषों की मूर्तियां या तक्षण-कृतियां भी हैं वह भी इस प्रभाव का परिणाम ही दीखता है। इस प्रकार की कारीगरी का कुछ लोग जीवन के समग्र दर्शन व चित्रण की दृष्टि से औचित्य मानते हैं पर यह तर्क समाजहित की दृष्टि से उपयोगी व उचित नहीं माना जा सकता।

जैन तीर्थों, मन्दिरों और विशेषतः स्थापत्य व शिल्पकला की उत्कृष्टता की दृष्टि से तथा ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए चित्रकूट (चितौड), जावालिपुर (जालोर), जैसलमेर, नागौर, राणकपुर, अर्बुदाचल (कुंभारिया, जीरावला सहित), हस्तिकुंड (हटूंडी), धुलेवा (केसरिया-नाथ), चंवलेश्वर, वरकाणा, घाणेराव, पिंडवाडा, महावीरजी, सांगानेर, आमेर, अजमेर आदि स्थान प्रसिद्ध हैं। आबू पर्वत पर विक्रम १०८८ संवत्सर में बनवाया हुआ विमलशाह का 'विमलवसही' प्रासाद और १२८७ में वस्तुपाल तेजपाल मंत्रीश्वर की ओर से शोभनदेव शिल्पी द्वारा निर्मित "लुणिगवसही" प्रासाद तो जगत् प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार जेम्स टाड ने इन मन्दिरों को देखकर सन्त साइराव्यूज की भांति कहा था कि एराका (Eraka) "मै ढूंढता था वह मिलगया।" राणकपुर में धरणाशाह द्वारा बनवाया गया सहस्र से ऊपर कलापूर्ण स्तम्भों की छटावाला मन्दिर भी भारत की उत्कृष्ट कला का एक नमूना है। उसी प्रकार कुंभारिया के मन्दिर में भी शिल्प के उत्कृष्टतम नमूने हैं। इतिहासज्ञ फार्वस के कथन के अनुसार यहां किसी समय बडा नगर रहा था जिसमें ३६० जैन मन्दिर थे, किन्तु नगर भूकम्प से नष्ट हो गया। अभी वहां ५ जैन मन्दिर हैं, जो आलीशान और ऐतिहासिक हैं तथा आबू के देलवाडा मन्दिर जैसी दिङ्मूढ करनेवाली वहां की स्थापत्य कला है। जोधपुर के पास मंडोर पर भी एक हजार वर्ष पुराना जैन मन्दिर बताया जाता है। जैन मन्दिरों में अनेक स्थानों पर उनके साथ ही ग्रन्थ-भंडार भी हैं जिनमें अलभ्य, अति

स० धरणा द्वारा विनिर्मित श्री नलिनीगुल्मविमान-त्रैलोक्यदीपक धरणविहार श्री राणकपुरतीर्थ नामक
शिल्पकलावतार श्री चतुर्मुख आदिनाथ जिनप्रासाद वि. सं. १४९८.

प्राग्वाट इतिहास प्रकाशक समिति, स्टे. राणी के सौजन्य से।
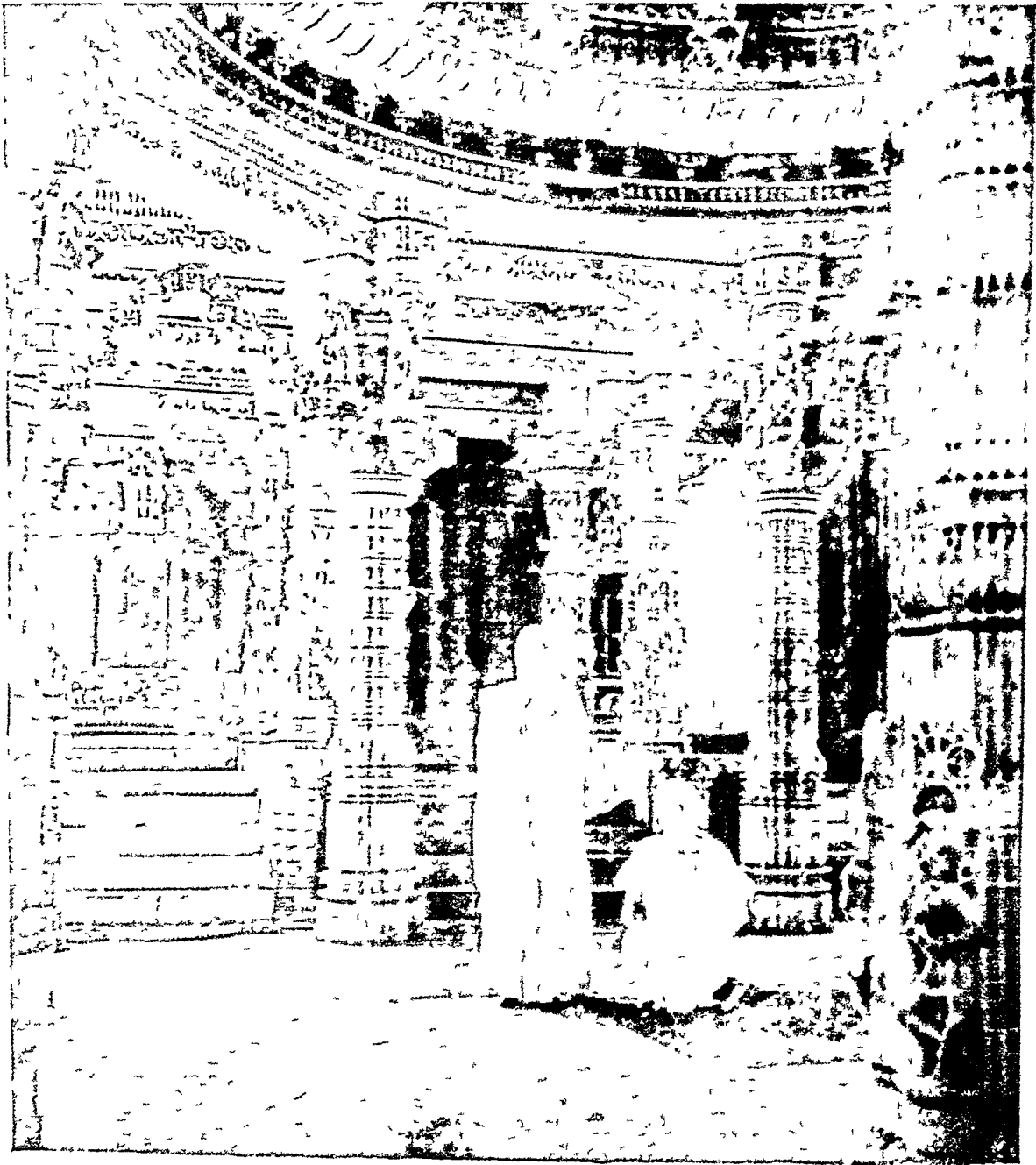
अनन्य शिल्पकलावतार श्री वस्तुपाल-तेजपाल नामक श्री लूणसिंहवसति, देउलवाडा अर्बुदाचल का सभामण्डप, नव चौकिया का मनोहर दृश्य

श्री प्राग्वाट-इतिहास प्र० समिति, स्टे राणी के सौजन्यसे

प्राचीन ताड़-पत्रादि के व अन्य हस्तलिखित ग्रन्थरत्न संग्रहित है। जैसलमेर का जैन ग्रन्थ-भंडार तो प्रसिद्ध ही है, जो यवन आक्रमणों के समय सुरक्षा की द्रष्टि से पाटन आदि स्थानों से लाया गया था। ऐसे ग्रन्थभण्डार नागौर, अजमेर आदि जगहों पर अनेक मन्दिरों में हैं, जहां ग्रन्थ, चित्र, ताम्रपत्र, लेख आदि काफी सामग्री किसी समय रक्षा, उपयोग, ज्ञान-वृद्धि आदि की दृष्टि से एकत्रित की गई होगी, किन्तु आज उपेक्षा व प्रमाद के कारण अरक्षित पडी हैं, और कीडे-मकोडे, चूहे दीमक द्वारा जिसके नष्ट होने की आशंका है।

मुसलमानों से रक्षा के लिये कई जगह जैन मन्दिरों के पास मस्जिदों की मीनारें भी खडी की गई हैं। इन्हें धर्मसमन्वय की प्रतीक मानना तो गलत होगा, किन्तु इन से रक्षा करने के एक तरीके की दूरदर्शिता तो प्रकट ही है। फिर भी कई मन्दिरों, जैसे चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ आदि पर जैन मूर्तियों का जगह-जगह अंग-भंग व खण्डन किया गया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि कुछ बडे प्रसिद्ध जैन मन्दिरों के लिये जैन-सम्प्रदायों में आपस में ही झगडे व तनातनी है और कहीं-कहीं पर जैनेतर लोगोंने भी जैन मन्दिरों पर अपना कब्जा कर लिया है और अपने या सम्प्रदाय के आराध्य देव की मूर्ति की स्थापना कर उसे अपना मन्दिर बना लिया है। भारतीय संस्कृति, कला और धर्म भावना की रक्षा की दृष्टि से राजस्थान के जैन मन्दिरों का बडा ऐतिहासिक तथा गौरवमय स्थान है। जैनियों पर तो इनके संरक्षण और इन संबंधी प्रामाणिक विस्तृत विवरण के संग्रह की दुहरी जिम्मेवारी है, लेकिन जैनेतर लोगों पर भी इस अलभ्य निधिकी ओर पूरा ध्यान देने का उत्तरदायित्व है।
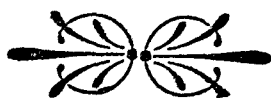
मथुरा की जैन कला

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम. ए., विद्यालङ्कार, अध्यक्ष, पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा

मथुरा में ललित कलाओं के विकास का एक लम्बा इतिहास है। भारत का प्राचीन धार्मिक केन्द्र होने के कारण मथुरा में ईस्वी सन् से कई सौ वर्ष पहले स्थापत्य और मूर्ति-कला का प्रारंभ हो चुका था। इस नगर की गणना भारत के प्रधान कला–केन्द्रों में की जाने लगी थी और मथुरा की एक विशेष कला–शैली बन गयी थी। ईरान और यूनान की संस्कृतियों का भारतीय संस्कृतियों के साथ जो समन्वय हुआ उसका मूर्त रूप हमें मथुरा की प्राचीन कला में दिखलाई पड़ता है। शक और कुषाणवंशी राजाओं के शासन–काल में मथुरा की मूर्तिकला को अधिक विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। इस समय से जैन, बौद्ध तथा वैदिक–भारत के इन तीनों प्रधान धर्मों को यहां के सहिष्णुतापूर्ण वातावरण में साथ–साथ बढ़ने का अच्छा अवसर मिला। यह मथुरा के इतिहास में एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। ईस्वी पूर्व पहली शती से लेकर गुप्तकाल के अंत तक उक्त तीनों धर्मों से संबंधित कलावशेष मथुरा में बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। गुप्तकाल के बाद भी मथुरा में मूर्तिकला और वस्तुकला की उन्नति कई शताब्दियों तक जारी रही, यद्यपि उसमें पहले–जैसा सौष्ठव और निजस्व न रहा। दिल्लीसल्तनत के लगभग सवा तीनसौ वर्षों के आधिपत्यकाल में इस कलात्मक विकास में गतिरोध उत्पन्न हुआ। मुगलकाल में अकबर के समय मथुरा में जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ उसके फलस्वरूप साहित्य, संगीत तथा चित्रकला का फिर से उद्धार हो सका।

मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त एक मूर्ति की चौकी पर खुदे हुए द्वितीय शती के एक लेख से पता चलता है कि उस समय से बहुत पूर्व मथुरा में एक बहुत बड़े जैन स्तूप का निर्माण हो चुका था। लेख में उस स्तूप का नाम 'देवनिर्मित स्तूप' दिया है। वर्तमान कंकाली टीला की भूमि पर उस समय से लेकर लगभग ११०० ईस्वी तक जैन इमारतों और मूर्तियों का निर्माण होता रहा। इस टीले की खुदाई से सैंकडों महत्वपूर्ण जैन कला-कृतियां प्राप्त हो चुकी हैं।

मथुरा–कला में जैन–मूर्तियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है १–तीर्थङ्कर प्रतिमाएं, २–देवियों की मूर्तियां तथा ३–आयागपट्ट आदि कृतियां।

स्मितभाव मे तीर्थंकर–मूर्त्ति, समय–३०० ई०.

ध्यानमुद्रा में स्थित तीर्थंकर की विशाल प्रतिमा, जो मथुरा के श्वेताम्बर सम्प्रदायवालो के द्वारा वि स १०३८ (९८१ ई०) मे प्रतिष्ठापित की गई थी
Provincial Museum, Lucknow
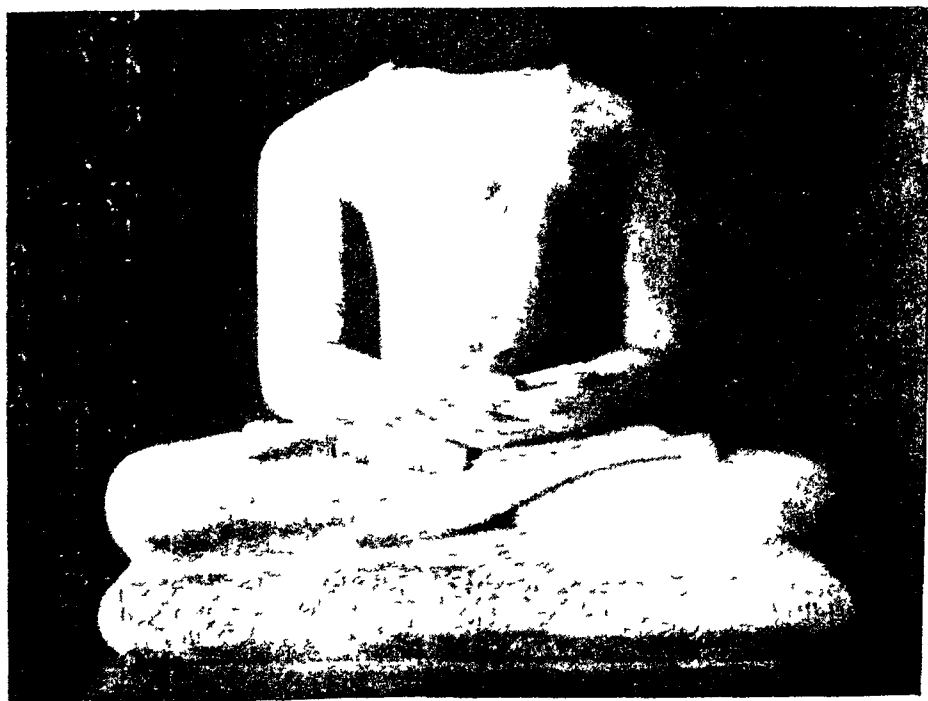
वि. सं. १८२६ में स्थापित तीर्थंकर की अभिलिखित मूर्त्ति.
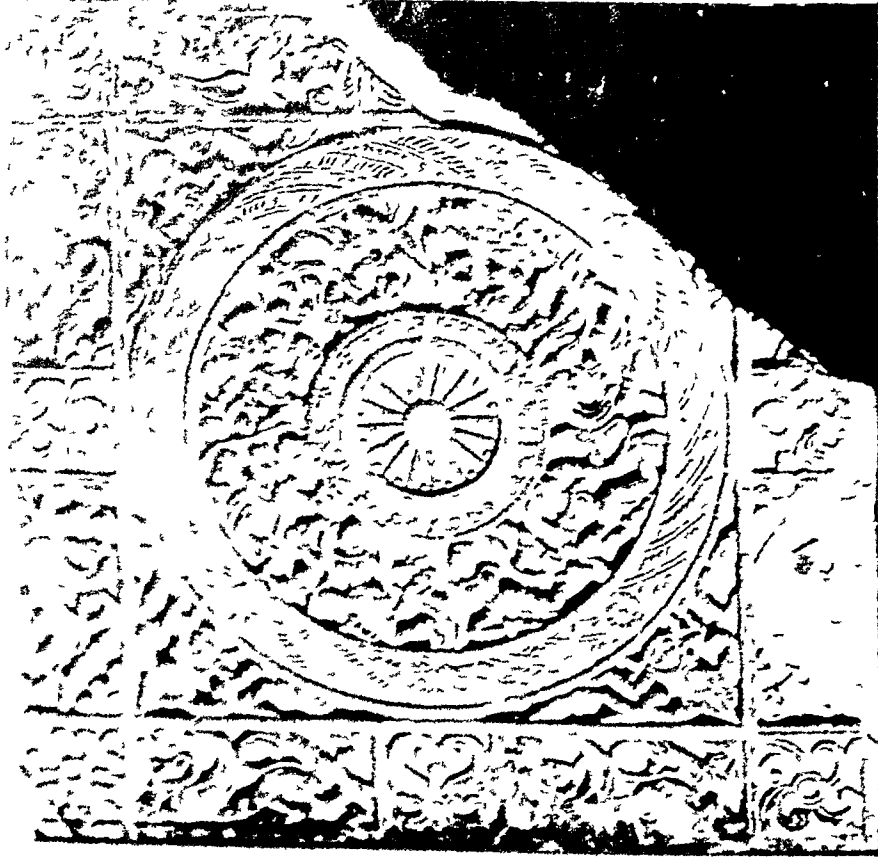
जैनआयागपट्ट, जिस पर बीचमें चक्र तथा उसके चारो ओर दिक्पालिकायें प्रदर्शित हैं। किनारो पर अष्टमागलिक चिह्न उत्कीर्ण है.

समय–ई० पू० प्र० शती

Provincial Museum, Lucknow
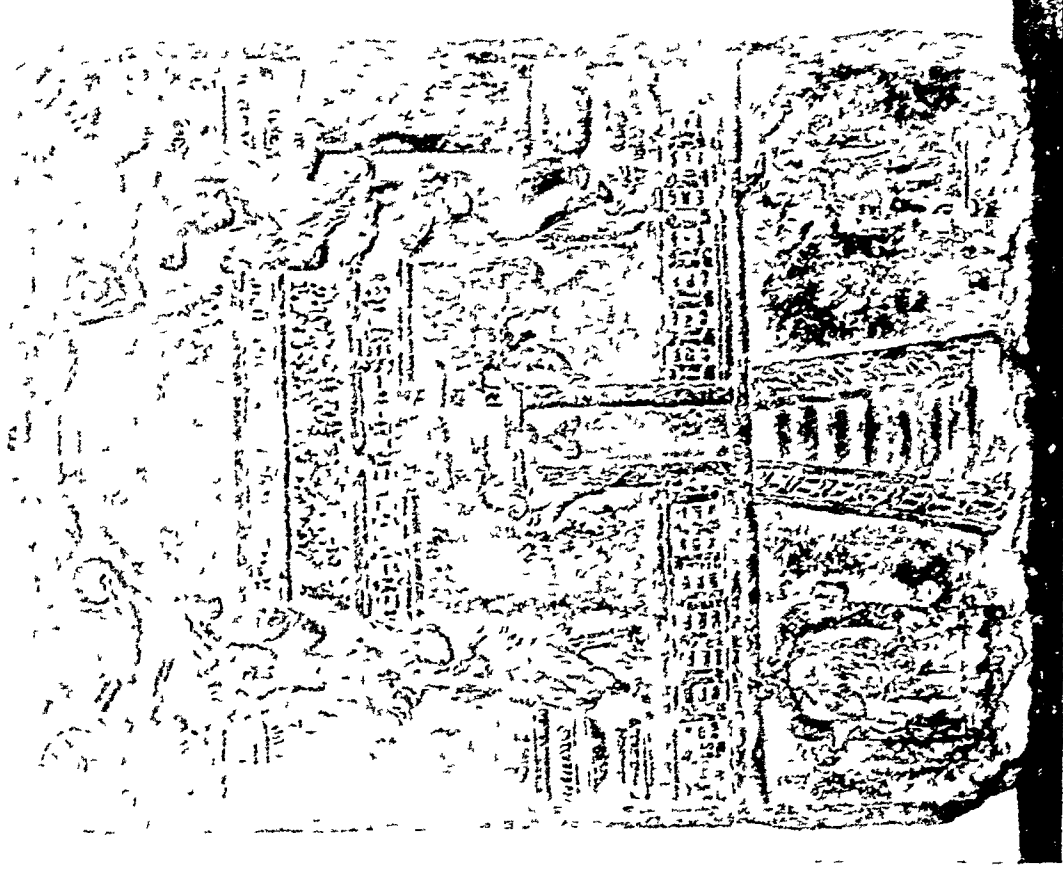
लवणशोभिका नामक गणिका की पुत्री वसु द्वारा प्रतिष्ठापित जैन आयागपट्ट, जिस पर प्राचीन स्तूपका चित्र बना है. कंकाली टीला, मथुरासे.

समय–ई० पू० प्र० शती

Museum, Mathura

१ तीर्थङ्कर मूर्तियां—जैन देवता 'तीर्थङ्कर' या 'जिन' कहलाते हैं। तीर्थङ्कर संख्या में चौवीश हैं। मथुरा कला में आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थङ्करों की अनेक मूर्तियां मिली हैं, जो प्रायः पद्मासन में बैठी हैं। कुछ खड़ी हुई (खड्गासन में) भी मिली हैं। ऐसी भी कई प्रतिमाएं मिली हैं जिनमें चारों दिशाओं में प्रत्येक ओर एक-एक तीथङ्कर मूर्ति बनी है। ऐसी प्रतिमाओं को 'सर्वतोभद्रिका या चौमुखा-चतुर्मुखा' कहते हैं। मथुरा संग्रहालय में बी० १, ६७, बी० ६८ तथा बी० ४ संख्यक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

२ देवियों की मूर्तियां—जैन देवियों की अनेक मूर्तियां मिली हैं, जो अधिकतर गुप्तकाल तथा मध्यकाल की है। इनमें नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका (डी० ७) तथा ऋषभ-देव की यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्ति (डी० ६) दर्शनीय हैं।

३ अन्य कलाकृतियां—मथुरा में कई कलापूर्ण आयागपट्ट मिले हैं। आयागपट्ट प्रायः वर्गाकार शिलापट्ट होते थे, जो पूजा में प्रयुक्त होते थे। उनके ऊपर तीर्थंकर, स्तूप, स्वस्तिक, नंद्यावर्त आदि पूजनीय चिह्न उत्कीर्ण किये जाते थे। मथुरा संग्रहालय में एक सुन्दर आयागपट्ट (सं० क्यू० २) है, जिसे, उस पर लिखे हुए लेख के अनुसार, लवण-शोभिका नामक वेश्या की लड़की वसु ने दान में दिया था। इस आयागपट्ट पर एक विशाल स्तूप का चित्र तथा वेदिकाओं सहित तोरण द्वार बना हुआ है। लखनऊ संग्रहालय में मथुरा आयागपट्टों के कई सुन्दर उदाहरण (सं० जे० २४८, २४९ आदि) प्रदर्शित है। आयाग-पट्टों के अतिरिक्त अन्य विविध शिलापट्ट तथा वेदिकास्तंभ भी मिले हैं, जिन पर जैन धर्म संबंधी मूर्तियां तथा चिन्ह अंकित हैं। इन कलाकृतियों पर देवता, यक्ष-यक्षी, पुष्पित लता-वृक्ष, मीन, मकर, गज, सिंह, वृषभ, मंगलघट, कीर्तिमुख आदि बड़े कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण मिलते हैं।

वेदिकास्तंभ—जैन स्तूपों के चारों ओर कलापूर्ण वेदिका बनाई जाती थी। वेदिका-स्तंभों पर अनेक प्रकार के मनोरंजक दृश्य उकेरे हुए मिलते है। इन पर मुक्ताग्रथित केश-पाश, कर्णकुण्डल, एकावली, गुच्छक हार, केयूर, कटक, मेखला, नूपुर आदि धारण किये हुए स्त्रियों को विविध आकर्षक मुद्राओं में दिखाया गया है। कहीं कोई युवती उद्यान में फूल चुन रही है, कोई कंदुक-क्रीड़ा में लग्न है (जे० ६१), कोई अशोक वृक्ष को पैर से ताड़ित कर उसे पुष्पित कर रही है (सं० २३२५), या निर्झर में स्नान कर रही है अथवा स्नानोपरान्त तन ढक रही है (जे० ४)। किसी के हाथ में वीणा (जे० ६२) और किसी

के वंशी है तो कोई प्रमदा नृत्य में तल्लीन है। कोई सुन्दरी स्नानागार से निकलती हुई अपने बाल निचोड़ रही है और नीचे हंस उन पानी की बूंदों को मोती समझ कर अपनी चोंच खोले खड़ा है (१५०९)। किसी स्तम्भ (जे० ५) पर वेणी-प्रसाधन का दृश्य है और किसी पर संगीतोत्सव का (१५१)। इस प्रकार लोकजीवन के कितने ही दृश्य इन स्तम्भों पर चित्रित हैं। कुछ पर भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों से संबंधित विभिन्न जातककहानियों के (सं० जे० ४ का पृष्ठभाग) और कुछ पर महाभारत आदि के (नं० १५१) दृश्य भी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के पशुपक्षी, लता-फूल आदि भी इन स्तंभों पर उत्कीर्ण किये गये हैं। इन वेदिकास्तम्भों को शृंगार और सौन्दर्य के जीते-जागते रूप कहने चाहिए जिन पर कलाकारोंने प्रकृति तथा मानव जगत् की सौन्दर्य राशि उपस्थित कर दी है।

यक्षादिका चित्रण—मथुरा की जैन कला में यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुपर्ण तथा अप्सराओंकी अनेक मूर्तियां मिलती हैं। ये सुखसमृद्धि तथा विलास के प्रतिनिधि हैं। संगीत और नृत्य इनके प्रिय विषय हैं। यक्षों की प्रतिमाएं मथुरा-कला में सबसे अधिक मिली हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण परखम नामक गांव से प्राप्त तृतीय श० ई० पूर्व की विशालकाय यक्षमूर्ति (सी० १) है। ऐसी एक दूसरी बड़ी मूर्ति मथुरा के बड़ौदा गांव से प्राप्त हुई है। ये मूर्तियां चारों ओर कोरकर बनाई गई हैं, जिससे उनका दर्शन चारों ओर से हो सके। कुषाणकाल में ऐसी ही मूर्तियों के समान विशालकाय बोधिसत्व प्रतिमाएं निर्मित की गईं।

यक्षोंमें कुवेर तथा उनकी स्त्री हारीती का स्थान बड़े महत्व का है। इनकी अनेक मूर्तियां मथुरा में प्राप्त हुई है। कुवेर यक्षों के अधिपति तथा धन के देवता माने गये हैं। बौद्ध तथा हिंदू-इन दोनों धर्मों में इनका पूजन मिलता है। कुवेर जीवन के आनंदमय रूप के द्योतक हैं और इसीरूप में इनकी अधिकांश मूर्तियां मिली हैं।

शालभञ्जिका—प्राचीन भारत में प्रकृति के साथ मानव-जीवन का घनिष्ठ संबंध था। साहित्य में ही नहीं, कला में भी लता-वृक्षों, पशु-पक्षियों, नदी-सरोवरों आदि के साथ लोक-जीवन का गहरा संबंध मिलता है। इस प्रकृति-संबंधने अनेक उत्सवों को जन्म दिया, जिनमें एक 'शालभञ्जिका' का उत्सव था। इस उत्सव के लिए मुख्यतः लाल फूलवाले अशोक (रक्ताशोक) को चुना गया। उत्सव के दिन नवोढ़ा या अन्य युवती, जिसके पैर आलता से रंगे हुए तथा आभूषणों से सज्जित होते, अशोक वृक्ष के पास जाती थी। वह एक हाथ से वृक्ष की डाल थामती और फिर पैर का मृदु आघात वृक्ष पर करती थी। इस उत्सव को 'अशोकदोहद' या 'अशोकोत्तंसिका' कहते थे। यह उस 'कवि-समय' का व्यञ्जक है जिसके अनुसार युवती के चरणाभिघात से अशोक का पेड़ पुष्पित हो जाता है।

जैन वेदिकास्तभ, जिस पर वृक्ष के फूल इकट्ठे करती हुई स्त्री चित्रित है
समय–ई० प्र० शती,

जैन वेदिकास्तभ का टुकडा, जिस पर अशोक वृक्ष की डाल पकडे हुये एक स्त्री अत्यन्त आकर्षक मुद्रा मे अकित है
समय–ई० द्वि० शती

अलकृत शिरोभूषा सहित स्त्री–सिर
समय–ई० द्वि० शती

मथुरा की जैन कलामें पुरुषों की शिरोभूषा
कुषाण काल

मथुरा की जैन कलामें स्त्रियों के केशविन्यास.
कुषाण काल

प्राचीन कवियोंने मनोरंजक ढंगों से इस उत्सव का वर्णन किया है। उत्सव के अलावा उसमें भाग लेनेवाली स्त्री को भी 'शालभञ्जिका' कहते थे। उद्यानों के अतिरिक्त मंदिरों और स्तूपों में तथा राजा-रईसों के घरों में शृङ्गार और अलंकरण के रूप में शालभञ्जिका-प्रतिमाओं का निर्माण होने लगा।

मथुरा की शालभञ्जिका मूर्तियां कला की अमर कृतियां हैं। इनमें अशोक, चंपक, नागकेसर, कदंब आदि वृक्षों के सहारे खड़ी हुई सन्नतांगी रमणियों के अंग-विन्यासों का मनोहर चित्रण मिलता है। ग्रन्थों में भी शालभञ्जिका मूर्त्तिकला संबंधी उल्लेख मिलते है।

जैन ग्रंथ 'रायपसेणिय सूत्र' में विमान के अलंकारिक वर्णन के प्रसंग में अनेक स्थलों पर शालभञ्जिका मूर्तियों का उल्लेख आया है, जो बड़े कलात्मक ढंग की निर्मित थीं।

संगीत तथा अन्य दृश्य—कुषाणकाल में गीत, वाद्य और नृत्य की व्यापकता का पता हमें साहित्यिक ग्रन्थों के अलावा मथुरा के कुछ वेदिका-स्तंभों से भी चलता है। स्त्री-पुरुष सभी संगीत में भाग लेते थे। कई खम्भों पर विविध आभूषणों से अलंकृत नर्तकियां दिखायी गयी है। कुछ पर वंशी-वीणा आदि बजाने के तथा संगीत-यात्रोत्सवों के चित्रण हैं।

मथुरा की जैन कलाकृतियों पर लोक-जीवन संबंधी अन्य अनेक विषय भी प्राप्त होते हैं। इन्हें देखने से कुषाणकालीन धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के संबंध में अनेक बातों की जानकारी होती है। एक खम्भे पर ब्रज की एक युवती अपने विशेष पहनावे के साथ दिखायी गयी है। वह सिर पर एक भांड लिये हुई है। संभवतः यह दहीं बेचनेवाली गोप-वधू की मूर्ति है। कुछ खम्भों पर हाथ में तलवार लिये हुए नटियों के चित्रण मिलते हैं। एक खम्भे पर ईरानी वेष-भूषा में एक स्त्री दिखायी गयी है, जो हाथ में एक दीपक लिए हुए है। प्राचीन रनिवासों में विदेशी परिचारिकाओं के रहने के प्रमाण मिलते हैं। इनमें अंग-रक्षिका यवनियां (यूनान की स्त्रियां) भी होती थीं। मथुरा के एक खम्भे पर शस्त्र-धारिणी की एक ऐसी मूर्ति मिली है, जिसकी पहिचान सशस्त्रा यवनी से की गयी है।

जैनस्थापत्य और शिल्प अथवा ललितकला

दौलतसिंह लोढ़ा 'अरविंद' बी. ए. सरस्वतीविहार, भीलवाड़ा

संसार के प्रत्येक देश, प्रान्त और कहीं २ उपप्रान्त में भी एकविध स्थापत्य-कला थोड़े २ अन्तर से पायी जाती है, जो अति दूर जा कर दो सुदूर देशों में एकदम भिन्न प्रतीत होती है। परस्पर प्रभाव का तादात्म्य रहने पर भी स्थापत्य-कला के अंगों की रचना तद्देशीय अथवा तद्भूभाग के भूगोल और जलवायु के आश्रित ढ़लती है। ज्वालामुखीप्रधान, सिकताप्रधान, पर्वतप्रधान और समतलप्रधान तथा समुद्रतटों के किनारे उसके दर्शन भिन्न २ आकृतियों में ही होते हैं। यह बात तो मोटे रूप से स्थापत्य की रही। स्थापत्य में जो सूक्ष्मर करकला का मिश्रण अथवा योग या संग हुआ है वह धर्म-भावनाओं के आश्रित ही समझना चाहिए।

भारत एक विशाल देश है और यह कई मत अथवा धर्मानुयायी ज्ञातियों का निवास है। बड़े रूप में इस इतिहास काल में यह जैन, बौद्ध और वैदिक धर्मानुयायियों का वास रहा है। विक्रम की ११ वीं-१२ वीं शताब्दी में इसके निवासियों में यवन ज्ञातियां भी संमिलित हो गई हैं। भारत का स्थापत्य अरब, चीन, रूस आदि प्रदेशों से तो भिन्न है ही। वह भारत की भूगोळ और भारत के जलवायु के आश्रित हो कर समस्त भारत भर में तो एकसा ही मूर्तित होना चाहिए था; परन्तु वह धर्माश्रित हो रूप और आकार में कई प्रकार का मिलता है। वैसे समस्त भारत धर्म-प्रधान देश रहा है और मोटे रूप से अहिंसा-प्रधान। जैनेतर ज्ञातियों में कई वर्ग मांसाहारी भी है; परन्तु इनके धर्म और मत तो मांस-भक्षण और मदिरा-पान का जैनधर्म के समान ही खण्डन करनेवाले रहे हैं; अतः जैसा भारतवासियों का रहन-सहन परस्पर प्रभावित रहा है वैसा ही स्थापत्य भी परस्पर प्रभावित रहा है। एक देश के स्थापत्य में जो भूमि और जलवायु के आश्रित रह कर थोड़ा-अन्तर घटता चलता है; वह तो इतना सूक्ष्म और अल्प होता हैं कि कोई बड़े से बड़ा ही स्थापत्य-विद्वान् उसको समझ सकता है; परन्तु जहां करकला अर्थात् शिल्प का प्राधान्य होता है वहां तुरंत हीं कहा जा सकता है कि अमुक मंदिर, धर्मस्थान जैन, बौद्ध, हिन्दू अथवा मुसलमान है। भारत में स्थापत्य की दृष्टि से भारतवासियों के प्राचीन घर और भवनों का अध्ययन भी एक विशेष आनंददायी विषय है, जिससे यहाँ का रहन-सहन, खान-पान, गरीबी-अमीरी, वर्ण-भेदों के इतिहासों को जानने में
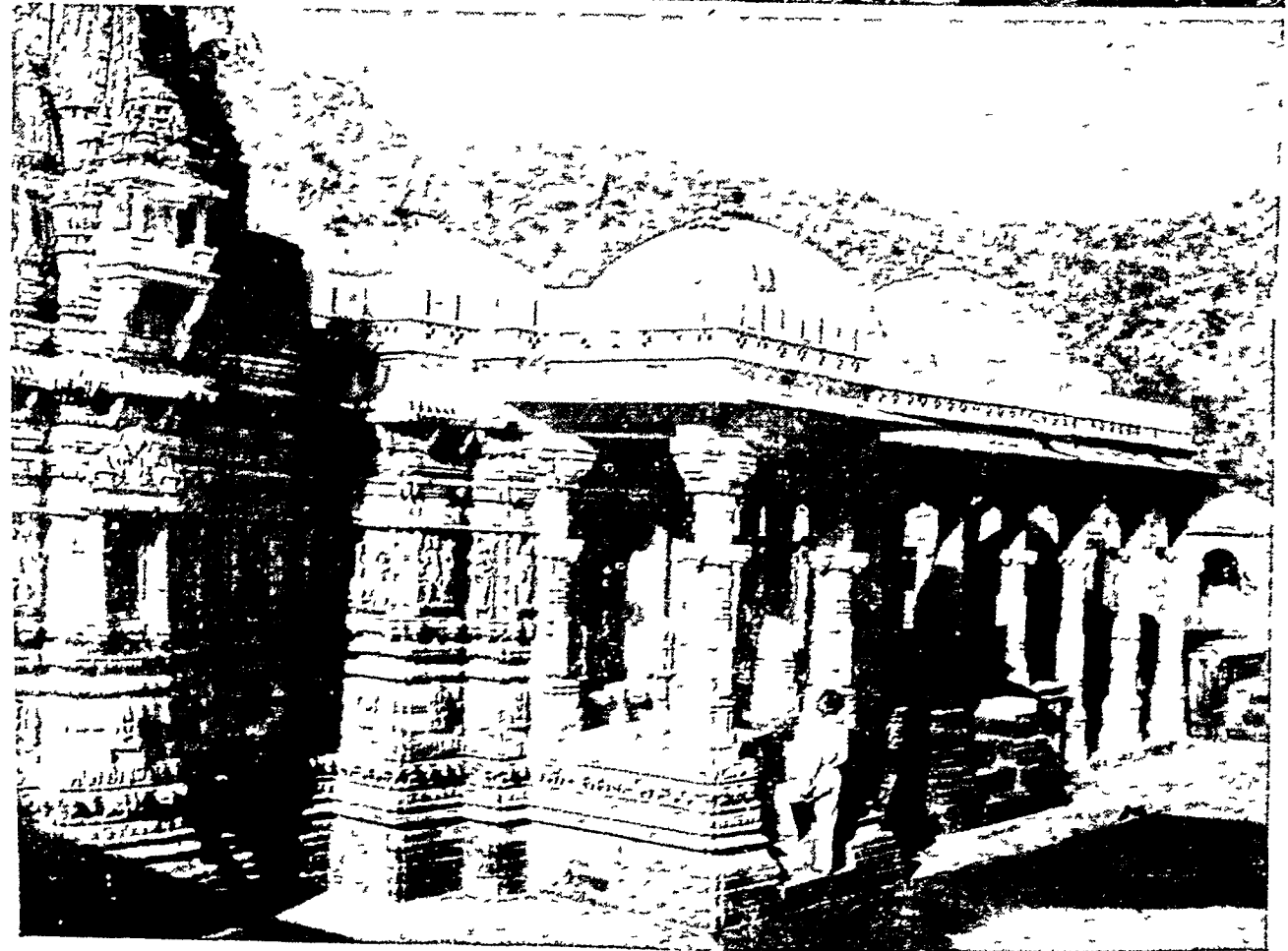
हम्मीरपुर : महामंत्री सामंत द्वारा जीर्णोद्धारकृत जिनप्रासाद का उत्तम शिल्पकलामण्डित बहिर-आंतर दृश्य । वि. सं. ८२१.

प्राग्वाट इतिहास प्रकाशक समिति, स्टे० राणी के सौजन्य से ।

बड़ी मदद मिल सकती है। मोहन-जोडोरा की खुदाई से भारत के इतिहास पर कितना गहरा प्रकाश पड़ा है, वह किसी से अज्ञात नहीं है। ज्ञात वस्तुओं के आधार पर अज्ञात वस्तुओं की कल्पना होती है और अनुमान बांधे जाते हैं जो बहुत कुछ सचाई के निकट ही होते हैं। एलोरा और एलीफेन्टा, खजुराहो और सांची, भुवनेश्वर और अजन्ता के इतिहास हमारे भारत के शिल्पवैभव और चित्रकला के ही तो इतिहास हैं। परन्तु इनने जो भारत के प्राचीन इतिहास के विविध अंगों को भी समझने में जो सहाय दी है वह भी कम महत्त्व की नहीं है। इन शिल्प के नमूनों में पीछे से कुतुबमीनार और ताजमहल भी सम्मिलित कर लिये गये हैं। भारत के इतिहास में इन सब पर अच्छा लिखा गया है। जैनधर्म और जैन समाज भारत के धर्मों में और भारत की अन्य समाजों में विस्मरण की वस्तु ही रही प्रायः मालूम होती है अथवा इसके प्रति विद्वानों का समदर्शी और असाम्प्रदायिक भाव रहा हुआ नहीं प्रतीत होता है। जैन धर्म जैन साहित्य में प्रतिष्ठित है जो प्राकृत और अर्धमागधी में अपनी विपुलता, विशालता एवं विविध मुखता के लिये दुनियां भर में प्रसिद्ध है और वह प्राचीन हिन्दी तथा मध्यकालीन हिन्दी में भी इतना ही सृजित मिलता है। इस ही प्रकार जैन समाज की धर्म-भावनाओं के दर्शन, उनके वैभव का परिचय, उसका चित्रकला-प्रेम एवं ललितकला-प्रियता उसके प्राचीन मंदिरों में दृष्टिगोचर होते हैं। भारतीय शिल्प के विकास के इतिहास पर विद्वानोंने बड़े २ पोथे रचे हैं और यवन-शैली, योन-शैली और हिन्दू-शैलियों से विचार करके उसके कई भेद और उपभेदों की कल्पना की है। परन्तु जब हम प्राचीन जैन मूर्त्तियां और मंदिरों की बनावट और उनमें अवतरित भाव और टांकी के शिल्प को देखते है तो यह विचार उत्पन्न होता है कि ललितकला के विकास के इतिहास पर लिखनेवाले विद्वानों की दृष्टि में कला के अद्भुत नमूने ये जैन मूर्त्ति और मंदिर क्यों नहीं आये। उदयगिरि और खण्डगिरि की जैन गुफायें, खजुराओ, तीर्थाधिराज शत्रुञ्जय, गिरनारतीर्थ के मंदिर. शिल्पकला के अनन्य अवतार अर्बुदस्थ देउलवाडा के जिनालय, हमीरपुरतीर्थ, कुम्भारिया, श्रीराणकपुरतीर्थ का १४४४ स्तंभोंवाला विशाल-काय अद्भुत जिनालय, लोद्रवा मंदिर इनको जिनने देखा वे दंग रह गये, परन्तु वे कुतुबमीनार और ताजमहल के आगे अथवा साथ भी वर्ण्य नहीं समझे गये।

भारत की स्थापत्य-कला और शिल्प-कला का ग्रंथ तब तक पूर्ण और सर्वसम्मान्य नहीं हो सकेगा, जब तक कि उक्त जैन मंदिर इसमें प्रकरण नहीं प्राप्त कर सकेंगे।

शत्रुञ्जयपर्वत पर शत्रुञ्जयतीर्थ अवस्थित है। शत्रुञ्जय तीर्थ में ९ (नव) टूंक अर्थात् नव विशाल और सुविस्तृत दुर्ग हैं। इन टूंकों में छोटे-बड़े लगभग तीन सहस्र से ऊपर

जिनालय और लगभग पच्चीस सहस्र से उपर जिनप्रतिमायें हैं। एक ही पर्वत पर इतने मंदिर और इतने बिंब और वे भी अति दर्शनीय, वैभवपूर्ण, शिल्प की दृष्टि से महत्वशाली और स्थापत्य की दृष्टि से उत्तम कोटि के—संभवतः दुनिया के किसी भी भूभाग के धर्म-क्षेत्र में तो उपलब्ध नहीं हैं।

गिरनार पर्वतस्थ जैन तीर्थ में भी छोटे-बड़े सैंकड़ों मंदिर और सहस्रों प्रतिमायें हैं। सम्राट् कुमारपाल, महामंत्री वस्तुपाल-तेजपाल और संग्रामसोनी की ट्रूंक शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त ही दर्शनीय और वर्णनीय हैं।

अर्बुदाचलगिरिस्थ देउलवाड़ा ग्राम में विनिर्मित दण्डनायक विमल का आदिनाथ-जिनालय, महामात्य वस्तुपाल-तेजपाल का लूणवसहि नाम का नेमिनाथ-जिनालय, भीमाशाह की पित्तलहरवसहि आदि अद्भुत एवं बेजोड शिल्प-नमूने हैं; जिन पर लिखते ही चले जाओ, जिन को देखते ही रहो। हम थक जावेंगे; परन्तु सौन्दर्य और विषयरूप से वे कभी समाप्त नहीं होंगे।

इसी अर्बुदगिरि पर अचलगढ़ में जो सहसाद्वारा विनिर्मित आदिनाथ-जिनालय है उसमें पंचधातु की १४ जिनप्रतिमाओं का वजन लगभग १४४४ मण होना कहा जाता है। वे प्रतिमायें मूर्तिकला की दृष्टि से अमूल्य नमूने हैं और भारत मूर्तिकला के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

हम्मीरपुर तीर्थ और कुम्भारिया तीर्थस्थ पांच जिनालयों के शिल्प अर्बुदस्थ जिनालयों के शिल्पकाम के समान ही बहुमूल्य और उत्तम कोटि का है।

श्री राणकपुरतीर्थ-श्रीधरणविहार चतुर्मुखा-आदिनाथ जिनालय अपने १४४४ स्तंभों के लिये और स्थापत्य की दृष्टि से दुनियाभर में वह अपने रूपसे अपने में ही एक है।

लोद्रवा-जैसलमेर—लोद्रवा का श्री पार्श्वनाथ मंदिर एवं जैसलमेर का श्री पार्श्वनाथ मंदिर शिल्प और स्थापत्य में कितना आकर्षक स्थान रखते हैं, यह किस शिल्पवेत्ता से अज्ञात है? जैसलमेर की पटवा-हवेली का शिल्प काम देख कर कौन मुग्ध नहीं होता है? ग्वालियर की प्रतिमायें और दक्षिण भारत में गोलवेलकरस्थ बाहुवली-प्रतिमा अपनी ऊंचाई और विशालकायपन के लिये समस्त भारतभर में ही नहीं, संसार में अद्भुत और आश्चर्य की वस्तुएं हैं। भारत के शिल्प के ज्वलन्त नमूनों में ये जैन मंदिर क्यों नहीं स्वीकार किये गये एक अजब मूर्खता की बात है।*

---

* अर्बुद, राणकपुर, कुंभारिया, अचलगढ़, हमीरगढ़ और गिरनार तीर्थ के कलात्मक मदिरों का विस्तृत परिचय मेरे लिखे हुये प्राग्वाट-इतिहास में देखिये जो वि. सं. २००७ में प्राग्वाट-इतिहास प्रकाशक समिति, स्टे॰ राणी द्वारा कलासंबंधी चित्रों के साथ प्रकाशित हुआ है।
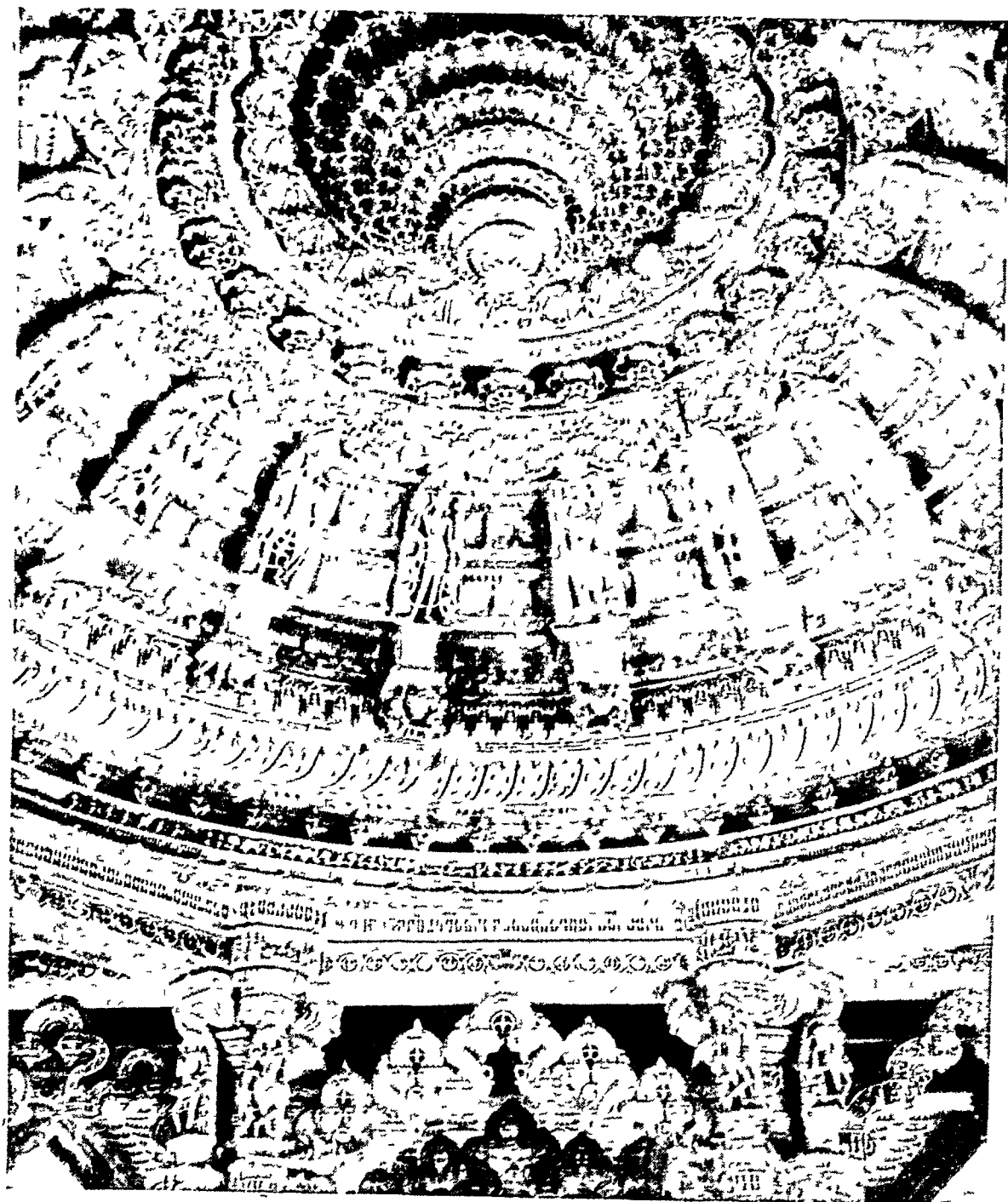
अर्बुदाचलस्थ शिल्पकलावतार लूणसिंहवसति का अद्भुत रङ्गमण्डप. वि सं. १२८७

प्राग्वाट इतिहास प्रकाशक समिति, स्टे० राणी के सौजन्य से।

सर्व अङ्ग सम्पूर्ण जिनप्रासाद. वि. सं. १०८८.

प्राग्वाट इतिहास प्रकाशक समिति, स्टे० राणी के सौजन्य से।

जैन मंदिरों में जैनेतर धर्म भी सुरक्षित हैं। जैसे हिन्दू-पौराणिक कथाओं के कई चित्र प्रायः जैन मंदिरों की छतों में, मण्डपों में, स्तम्भों पर, भित्तियों पर उत्कीर्णित पाये जाते हैं और वे भी पूर्ण वैभव और पूर्णता के साथ, जितना कुशल शिल्पी की टांकी उनको चित्रित और उत्कीर्णित कर सकी, उतने।

जैन मंदिरों का निर्माण अधिकत्तर दुर्भिक्ष और विषम स्थितियों में ही इनके दयालु निर्माताओंने अन्नहीन जनता की सेवा करने की भावनाओं से ही प्रेरित हो कर करवाया है और उस अन्नहीन जनता का समूचा भाग जैनेतर ही रहा है।

धर्मदृष्टि से तीर्थों का कितना बड़ा महत्त्व है, उस पर यहां कहना मेरा विषय नहीं है; अतः उस दृष्टि से यहा कुछ भी नहीं कह रहा हूं।

जैन मंदिरों की रचना जैनेतर मंदिरों से मिलती हुई हो कर भी भिन्न है। एक पूर्ण जैन मंदिर में इतने अंग होते हैं:-सीढ़ियां, शृङ्गार-चौकी, परिकोष्ठ, सिंहद्वार, प्रतोली, भ्रमती सभामण्डप, नव चौकिया, खेला-मण्डप, निजमंदिर-प्रतोली, निजमंदिर द्वार, मूल गंभारा और मूल गंभारा में वेदिका। अधिकतर जिनालय साधारण जमीन से कुछ ऊंचाई तक चतुष्क बनाकर उस पर बनाया जाता है। कहीं प्रतोली में आजू-बाजू कोटरियां बनी हुई होती हैं-जैसे श्री राणकपुरतीर्थ और शत्रुञ्जयतीर्थ के कई मंदिरों में विद्यमान हैं। इन कोटरियों में प्रायः खण्डित प्रतिमायें अथवा नवबिंब जिनकी स्थापना होना शेष होता है रक्खी जाती हैं। प्रतोली से फिर सीढ़ियां चढकर एक चबूतरा (चतुष्क) आता है। प्रतोली के उपर कहीं-कहीं महालय बना हुआ होता है जो शृङ्गार-चौकी के उपर बने हुये गुम्बज से मिला हुआ बड़ा ही दर्शनीय प्रतीत होता है। जहां जिनालय बावन अथवा चौवीस कुलिकाओंवाळा हुआ वहां प्रतोली से ही परिकोष्ठ का प्रारम्भ हो जाता है, जिस में मूळ मंदिर को घेर कर चतुष्क के चारों पक्षों पर कुलिकाओं की रचना होती है। कुलिकाओं के आगे स्तम्भवती वरशाला होती है, जहां चैत्यवंदन आदि क्रियायें की जाती हैं। वरशाला के नीचे भ्रमती और भ्रमती में चारों कोण पर कहीं २ कोण कुलिकाएं बनी हुई होती हैं। भ्रमती से फिर सभामण्डप और इससे दो-डेढ़ फिटकी ऊंचाई पर नव चौकिया बना हुआ होता है। सभामण्डप आठ, बारह या सोलह स्तम्भों पर बनाया जाता है। वृहद् आयोजनवाली मण्डलियां यहीं अभिनय एवं नृत्य-कौतुक करती हैं। स्तंभों पर, उपर मण्डप के भीतर कलाकाम बड़ा ही दर्शनीय और धर्म-कथाओंका भाव-अंकन रूप होता है। नव चौकिया वैसे ही नव मण्डपवाला ही होता है, परन्तु कहीं २ नव से कम मण्डप भी होते हैं और कहीं मण्डपों की जगह छत भी बनी हुई होती है। नव चौकिया कहीं चोकोर और कहीं षट्कोण या अष्टकोण भी होता है। नवचौकिया

और खेलामण्डप में दर्शक स्तवना और प्रभुगान करते हैं। मूलगंभारा में वेदिका पर प्रभु-प्रतिमा प्रतिष्ठित होती हैं। जैनमंदिरों में प्रायः तलगृह जिन्हें देशी भाषा में भोयरा कहा जाता है एक, दो और कहीं अधिक भी बने हुये होते हैं। स्थापत्य की दृष्टि से जैन मंदिर सर्वांग-पूर्ण होते हैं इस में अल्पतम भी मतवैभिन्य नहीं। शिल्प की दृष्टि से भी जैन मंदिर कम महत्त्व के नहीं है, यह भी दर्शकगण जानते ही हैं।

सीमित निबंध में अतिरिक्त जैन-शिल्प के प्रति संकेत मात्र करने के और विस्तृत दिया भी क्या जा सकता है। एक समय था जब कि जैन-ज्ञान भण्डारों के समान ही अद्भुत शिल्प के नमूने स्वरूप जैन मंदिर भी जैनेतर दर्शकों को आकर्षित नहीं कर रहे थे; परन्तु अब तो जैनेतर विद्वान्, कलाविशेषज्ञ जैन मंदिर और उन में रहे हुये शिल्प-वैभव को अच्छी प्रकार देख और समझ चुके हैं। पाश्चात्य यूरोपियन यात्री एवं विद्वानोंने भी जैन मंदिरों की शिल्प-कला पर अत्यन्त ही मुग्ध हो कर लिखा है। आशा है भारतीय शिल्प के नमूने कहे जानेवाले दर्शनीय स्थानों में और उनके इतिहास में ये भी दर्शनयोग्य एवं वर्ण्य समझे जावेंगे।

विज्ञप्तिपत्र वि १९ वीं शती
श्री नाहटा-संग्रहालय, बीकानेर
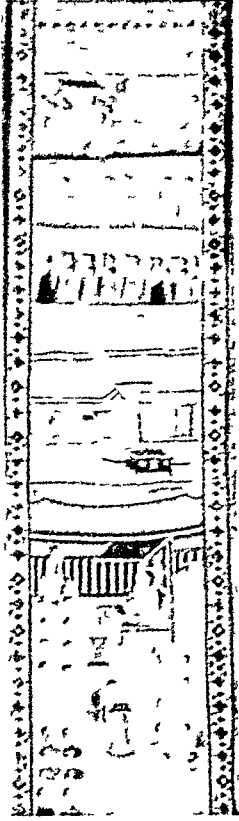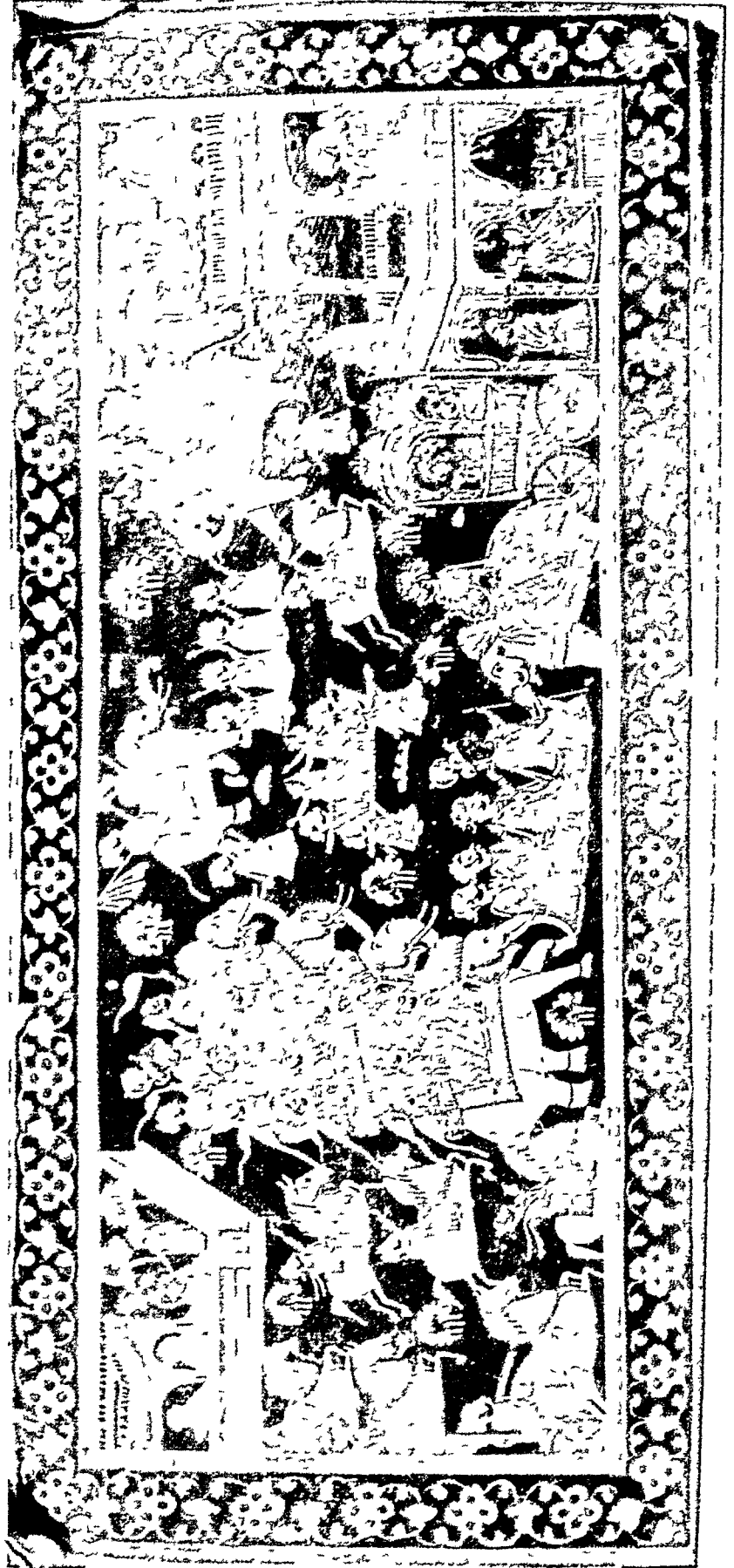
सचित्र पुट्ठा वि १८ वीं शती श्री नाहटा-संग्रहालय, बीकानेर

हिन्दी जैन साहित्य

हिन्दी और हिन्दी जैन साहित्य

श्री अगरचंद्र नाहटा और दौलतसिंह लोढ़ा अरविंद बी. ए.

हिन्दी भाषा के क्रमिक विकास पर हिन्दी-साहित्य के बड़े २ विद्वान् अपने कई वर्षों के निरंतर अध्ययन से बड़े २ इतिहास लिख चुके हैं; परन्तु फिर भी वे अपूर्ण हैं, अपङ्ग हैं ऐसा हम-सब को भास होता है। अपूर्ण पूर्ण किया जा सकता है, अपङ्ग सांग बनाया जा सकता है; परन्तु यहां अब-अब दूसरी विकलता यह खलने लगी है कि हिन्दी भाषा के क्रमिक विकास की शोध ही मूलतः सही स्थान से प्रारंभ ही नहीं हुई। सही दिशा में आगे उसका निर्वाह भी नहीं रहा है। स्पष्ट यह है कि हिन्दी का अभी तक सर्वमान्य कहा जाय, अधिकांशतः प्रामाणिक तथ्यों पर जिस की रचना की गई हो, सही दिशाओं में से जिसको घूमा कर बढ़ाया हो ऐसा इतिहास लिखा ही नहीं जा सका है। अब तक जो कुछ इस दिशा में प्रयत्न हुए हैं वे फिर भी साधन-सामग्री का अच्छा काम दे सकते हैं और यह भी 'हिन्दी का क्रमिक विकास' 'हिन्दी के विकास का इतिहास' आदि महत्त्व के प्रश्नों को सुलझानेवालों के लिये एक बहुत ही बड़ी समस्या का हल बहुत-कुछ अंशों में हो गया है।

प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य-विशारदों ने जहां 'आदि हिन्दी काल', 'मध्य हिन्दी काल' और 'आधुनिक हिन्दी काल' जैसे काल-खण्ड कर के हिन्दी-साहित्य के क्रमिक विकास पर विचार करना प्रारंभ किया-वे 'आदि हिन्दी-काल में' केवल 'वीर गाथाओं' का समावेश करके भारी भूल कर गये और जिसका समावेश अनिवार्यतः अपेक्षित था, उसको गौण समझ

कर छोड़ गये अथवा वह उनकी दृष्टि में ही ठीक-ठीक नहीं आ सका और यह हुआ कि वे जैसे-तैसे आगे तो बढ़े परन्तु अंत में उन्हें भी स्पष्ट भासित हो गया कि वे घोर श्रम उठा कर भी असफल-प्रयास ही रहे और सच्चा एवं प्रामाणिक कहा जानेवाला हिन्दी का आदि स्रोत उन्हें नहीं मिल सका यह भी उन्हें ज्ञात हो गया।

वेदकालीन भाषा को जब परिष्कृत कर के 'संस्कृत' बना दिया गया वह विक्रमीय पांचवीं-छट्ठी शताब्दी पूर्व जन-साधारण उपयोग के सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध रही और प्राकृत ने जन-साधारण भाषा का पद ग्रहण किया। भगवान् महावीर और गौतमबुद्ध लोकनायकों ने प्राकृत को ही मान दिया; क्यों कि उन्हें तो जन-साधारण के निकट पहुंचना था और लोक-जीवन को ऊपर उठाना था। वे अपने विचार, उपदेश, संदेश, शिक्षादि को जन-साधारण तक जन-साधारण की भाषा के माध्यम द्वारा ही पहुँचा सकते थे और उनको अभिप्रेत ही यही था; वरन् उनका मिशन-उद्देश्य था। इसीके लिये तो उन्होंने राजप्रासादों का परित्याग किया था, अनेक विघ्न और बाधाओं से सदापूर्ण रहनेवाले सन्यास-व्रत को अंगीकृत किया था। सम्राट् अशोकने भी इसी लिए लोकभाषा में ही शिला-स्तंभों पर अपने उपदेश उत्कीर्णित करवाये थे। जैन और बौद्ध धर्मों का साहित्य 'प्राकृत-पाली' में ही रचा गया। परवर्ती जैनाचार्योंने तो 'प्राकृत' में ही ग्रन्थ रचना करना चालू रक्खा; परन्तु परवर्ती बौद्ध भिक्षुकोंने बौद्ध साहित्य की रचना सस्कृत में करनी प्रारंभ कर दी थी। फलतः बौद्ध-पाली साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य 'प्राकृत' में बहुत अधिक एवं विविध है।

विक्रमीय पांचवीं-छट्ठी शताब्दी पूर्व से विक्रमीय तृतीय शताब्दी का मध्यवर्त्तीकाल 'प्राकृत' भाषा का स्वर्णयुग कहा गया है। इस काल में 'प्राकृत' अपने पूर्ण साहित्यिक रूप को पहुंच चुकी थी। प्रत्येक उन्नत भाषा के रूप के दो स्तर तो होते ही हैं-साधारण और असाधारण। प्राकृत का असाधारणरूप साहित्य के लिये रहा और साधारणरूप जन-साधारण की भाषा के रूप में।

विक्रमीय तृतीय शताब्दी में भारत में बाहर से कई ज्ञातियों का निरंतर आना पाया जाता है। वे ज्ञातियां भी अपने साथ अपने मूल रीति-रश्म और अपनी भाषा को लेकर आई थीं। प्राकृत के जन-साधारण भाषा के रूप में उनकी भाषा का सम्मिश्रण हुआ। 'आभिरोक्ति' एक भाषा का नाम प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेखित मिलता है, जो विक्रम की तृतीय शताब्दी में प्रयुक्त होती हुई वर्णित की गई है। 'अपभ्रंश-भाषा काल' यहीं से माना जाता है।

अपभ्रंश-युग

'अपभ्रंश' शब्द का भी एक अद्भुत इतिहास है। पातञ्जलने एक शब्द के कई अपशब्द अथवा अपभ्रंश होना माने हैं अर्थात् वे 'अपभ्रंश' और 'अपशब्द' का प्रयोग पर्यायवत् करते हैं। उन्होंने किसी भाषाविशेष के लिये 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग नहीं किया। प्रसिद्ध वैयाकरणी दण्डीने संस्कृतेतर शब्द को 'अपभ्रंश' कहा है; क्यों कि 'अपभ्रंश' शब्द तब तक संस्कृतेतर शब्दों के लिये रूढ़ बन चुका था। भरतने इसके विपरीत 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनीने शब्द और अपशब्द का प्रश्न ही नहीं उठाया। भरत ने विभाषाओं को 'अपभ्रंश' कहा है; जैसे आभीर जाति द्वारा व्यवहृत होनेवाली भाषा 'आभीरोक्ति'। वैयाकरणी दण्डीने 'आभिरादिगिरः' कहकर 'आभीर' शब्द के साथ में 'आदि' शब्द और लगाया है। इन सब विवादास्पद एवं परस्परविरोधी बातों से स्थानाभाव से इस निबंध में तथ्य पर पहुंचना कठिन है कि एक भाषा प्रकृत और दूसरी विकृत कैसे मानी गई; जब कि दूसरी भाषा भी कोई बाहर देश से यहां आ कर उत्पन्न अथवा विकशित नहीं हुई थी। फिर भी इतना स्पष्ट है कि संस्कृतेतर शब्द के लिये तो 'अपभ्रंश' शब्द रूढ ही बन चुका था।

'अपभ्रंश' प्राचीन हिन्दी अथवा आदि हिन्दी है; अतः हमारे लिये 'अपभ्रंश' शब्द पर, अपभ्रंश-भाषा की उत्पत्ति पर, उसकी जननी 'प्राकृत' पर भी कुछ कहना आवश्यक कारण हो जाता है। विक्रम की छट्ठी शताब्दी से विक्रम की बारहवीं शताब्दी का मध्यवर्त्ती काल अपभ्रंश-भाषा का स्वर्णयुग कहा जाता है जो वि० तेरहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध हेमचन्द्र-युग के आस-पास जा कर शिथिल पड़ना प्रारंभ होता है। इन शताब्दियों में 'अपभ्रंश' भाषा समस्त उत्तर भारत के प्रदेशों में व्याप्त हो चुकी थी और वह उच्च साहित्यिक रूप को प्राप्त कर चुकी थी। परन्तु जैसा उपर वर्णित किया गया है कि भाषा का उच्च स्तर परिष्कृत मस्तिष्कधारी पुरुषों के द्वारा साहित्य में स्वीकृत होता आया है और उसका साधारण स्तर जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा का रूप बन कर चलता है। 'अपभ्रंश' का साधारण स्तर प्रान्त-विभिन्नता के कारण चार मोटे नामों से मिलता है—बरार-खानदेश में प्रयुक्त होनेवाला स्तर 'अपभ्रंश महाराष्ट्री', मथुरा और व्रजमण्डल में प्रयुक्त होनेवाला 'शौरसेनी', मगध का 'मागधी' और मगध और शौरसेन-मण्डल के मध्य में प्रयुक्त स्तर 'अर्धमागधी'। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में जब 'अपभ्रंश' को भी साहित्य-मरण स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा था; उस समय ही आधुनिक लोक-भाषाओं का जन्म हुआ था। नागर अथवा शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, गूर्जर, राजस्थानी, पंजाबी भाषायें प्रसूत हुईं; महाराष्ट्री

लोकभाषाओं का जन्म

अपभ्रंश से मराठी; मागधी अपभ्रंश से बङ्गला, विहारी, आसामी, उड़िया और अर्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का जन्म हुआ। इस मान्यता में थोड़ी-बहुत मतविभिन्नता भी हो सकती है; परन्तु हमको इस पर अधिक विवेचन यहां नहीं करना है। हमारा प्रकृत विषय 'हिन्दी जैन साहित्य' है; अतः हम हिन्दी से ही सीधा संबंध रखनेवाले मत एवं विचारों में ही और वह भी स्थानाभाव से मर्यादित कर के ही कहेंगे।

हिन्दी जैन साहित्य को हम अपने अध्ययन एवं अनुशीलन के आधार पर तीन भागों में निम्न समयक्रम से विभाजित करते हैं:—

अपभ्रंश-हिन्दी—वि. १० वीं शताब्दी से वि. १६ वीं के पूर्वार्धपर्यंत।

हिन्दी—वि. १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से वि. १९ वीं शताब्दीपर्यंत।

आधुनिक हिन्दी—वि. २० वीं शताब्दी।

अपभ्रंश-हिन्दी काल

वि. छट्ठी शताब्दी से १२ वीं पर्यंत तो अपभ्रंश का स्वर्णयुग ही रहा और १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्धपर्यंत जैन साहित्य में अपभ्रंश प्रभावित रचनायें होती रहीं। डा. हजारी-

प्रकथन

प्रसाद द्विवेदीने अपने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' इतिहास में हिन्दी का आदिकाल ७ वीं शताब्दी ई० से १४ वीं ई० पर्यंत माना है जो उपयुक्त ही है। क्यों कि वहां तो १५ वीं शताब्दी से ही भक्तिकाल प्रारंभ हो जाता है जिसमें भक्त और प्रेममार्गी कवियों की हिन्दी में ठोस रचनायें होने लग गई थीं। हिन्दी जैन कवियोंने अपनी रचनायें जब कि प्रारंभ की ही थी। हिन्दी जैन साहित्य में भी उसको 'हिन्दी का आदिकाल' अथवा 'प्राचीन हिन्दी-काल' ही कहा है और समय भी उतना ही माना है, जो अपभ्रंश प्रभावित रचनाओं के प्राचुर्य पर हिन्दी जैन साहित्य की दृष्टि से उतना स्पष्ट और अर्थपूर्ण नहीं है। जितना 'अपभ्रंश-हिन्दी-काल' कहना।

भले हिन्दी साहित्यविशारदोंने अपभ्रंश को 'आदि हिन्दी' अथवा 'प्राचीन हिन्दी' कहा है; परन्तु अपभ्रंशप्रभावित इस काल को ये नाम देना न स्पष्ट हैं और न अर्थपूर्ण। अपभ्रंश-हिन्दी काल से सीधा अर्थ निकलता है कि अपभ्रंश प्रभावित हिन्दी रचनाओं का काल।

'अपभ्रंश' का साहित्य महान् समृद्ध, विपुल, विविध विषयक और विविधमुखी है। अपभ्रंश की प्राञ्जलता इसके महाकाव्यों में देखने को मिलती है। इसके काव्यों में इसकी समृद्धता के दर्शन होते हैं। इसके खण्ड-काव्यों में जीवन के अनेक रूपों की विविध भांति से जो अभिव्यञ्जना हुई है वह बहुत ही रोचक और प्रभावक है। पिछले २०-२५

वर्षों में जैन विद्वान् मुनि जिनविजयजी, आदिनाथ उपाध्याये, डा० हीरालाल, डा० परशुराम वैद्य, पं० लालचंद्र भगवान गांधी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन प्रभृति विद्वानोंने अपभ्रंश साहित्य का गंभीर अध्ययन किया । कुछने अनेक अपभ्रंश ग्रंथों का प्रकाशन किया है और इसका हिन्दी साहित्य में विकास के इतिहास पर गहरा प्रभाव ही नहीं पड़ा; वरन् वहां इसके अभाव में जो गड़बड़ हो गई थी वह वहां अब स्पष्ट प्रतिलक्षित होने लगी है । डा. हजारीप्रसाद द्विवेदीने अपने ' हिन्दी साहित्य का आदिकाल ' नामक ग्रंथ में स्पष्ट कहा है, "जब तक इस विशाल उपलब्ध साहित्य को सामने रख कर इस काल के काव्य की परीक्षा नहीं की जाती, तब तक हम इस साहित्यका ठीक-ठीक मर्म उपलब्ध नहीं कर सकते । इधर-उधर के प्रमाणों से कुछ कह देना, कुछ पर कुछ का प्रभाव बतला देना न तो बहुत उचित है और न बहुत हितकर । " यह कहना होगा कि आज अपभ्रंश का साहित्य जो कुछ भी उपलब्ध है वैसा ५०-५५ वर्ष पूर्व प्राप्य नहीं था । तभी तो प्रसिद्ध भाषाशास्त्री जर्मन विद्वान् पेशल को यह अनुभव कर के बहुत ही दुःख हुआ था कि अपभ्रंश का समृद्ध और विपुल साहित्य खो गया है ।

जैन साहित्य-सेवियों की प्रत्येक युग और प्रत्येक काल में विशेष अथवा साधारण कुछ ऐसी परंपरायें रहती हैं, जो समय की कड़ी से कड़ी मिला कर आगे-आगे बढती चली जाती हैं । जैन साहित्य को समृद्ध बनाने की दृष्टि से, उसको विविधमुखी एवं विविधविषयक करने की दृष्टि से विद्वान्-ग्रंथकार की परंपरा रही है । इस परंपरा का कर्तव्य यही रहता है कि वह आगमों का स्वाध्याय करे, लोक-जीवन का अध्ययन करे, जैनेतर साहित्य का अनुशीलन करे और मौलिक ग्रंथ लिखे, टीकायें बनावे, भाष्य रचे आदि । दूसरी परंपरा है ज्ञान-भण्डार-संस्थापन-परंपरा । इस परंपरा का उद्देश्य समृद्ध जैन साहित्य की रक्षा करने का है । साहित्य की सुरक्षा की दृष्टि से यह ज्ञान-भण्डार की स्थापना करती है और वहां जैन-जैनेतर साहित्य प्रतिष्ठित हो कर सुरक्षित रहा है । जैन ज्ञान-भण्डारों का महत्त्व आज सर्वविदित हो चुका है । तीसरी परम्परा है लोक-भाषा अंगीकरण की । जैन विद्वान् अथवा ग्रंथकर्त्ता जिस युग में जो जन-साधारण की सर्वप्रिय भाषा होती है, उसीमें वह अपना साहित्य रचता है, अपना विचार, उपदेश, संदेश भी उसीके माध्यम के द्वारा लोकसमाज तक पहुंचाता है । इन तीन विशिष्ट परम्पराओं से ही जैन साहित्य प्राकृत और संस्कृत तथा अपभ्रंश में एक-सा समृद्ध, विविध और विपुल मिलता है । जैन अपभ्रंश साहित्य की विपुलता, उसकी समृद्धता एवं उसकी विविध विषयकता को प्रायः सर्व विद्वान् स्वीकार करते हैं । इस पर अधिक विवेचन करना यहां समीचीन भी नहीं प्रतीत होता है ।

लोक-भाषा बननेवाली बोली अथवा भाषा को जैन साहित्य सदा वरदान अथवा अद्भुत देन के रूप में प्राप्त होता आया है। हिन्दी को अपभ्रंश की भारी देन है—इसमें तनिक भी मतविभिन्नता नहीं। अपभ्रंश से जैसे अन्य आधुनिक लोक–भाषायें उद्भूत हुईं, उसी प्रकार हिन्दी भी उसीसे बनी और निकली है। वल्कि सच कहें तो हिन्दी अपभ्रंश की प्यारी पुत्री है। इसको, राजस्थानी–गुजराती छोड़ कर, अन्य भाषाओं की अपेक्षा अपभ्रंश से अधिक प्राप्त हुआ है। इस कथन की ठीक-ठीक और सच्ची प्रतीति तो जैन–ज्ञानभण्डारों में अप्रकाशित पड़े हुये अपभ्रंश–साहित्य के प्रकाश में आने पर धीरे–धीरे विदित होगी। फिर भी अभीतक जितना और जो कुछ अपभ्रंश–साहित्य प्रकाश में आ चुका है उसके आधार से भी यह सर्वविदित हो चुका है कि हिन्दी के निर्माण में अपभ्रंश का महत्त्वपूर्ण योग है।

स्वर्णकाल को प्राप्त हुई प्रत्येक भाषा ही अपने मध्यकालीन भाग में अपने उदर में कोई अन्य ऐसी भाषा का गर्भधारण कर वढ़ती चलती है कि ज्योंहि वह अपने प्राचीन रूप से उत्तरकाल में वार्धक्यग्रस्त होकर निश्चेष्ट बनने लगती है, मध्यकाल से उसके उदर में पलती हुई वह भाषा जन–साधारण के मुख–मार्ग से निस्सरित होने लगती है और अपनी प्रमुखता स्थापित करती हुई अंत में प्रमुख भाषा का रूप धारण कर लेती है।

अपभ्रंश भाषा के स्वर्णयुग के मध्यभाग अर्थात् वि. आठवीं शताब्दी में वि. सं. ७३४ के पीछले वर्षों में महाकवि स्वयंभूने 'हरिवंशपुराण' और पद्मपुराण' (रामायण) की रचना की थी। हिन्दी के बीज–प्रक्षेप करनेवालों में ये ही प्रथम अप० कवि माने गये है। इनकी रचना में हिन्दी का बीज देखियें।

अपभ्रंश–हिन्दी

सीता—[अग्नि–परीक्षा के समय]

इच्छउँ यदि मम मुख न निहारै।
यदि पुनि नयनानन्दहिं, न समर्पं उ रघुनन्दनहिं ॥

हिन्दी काव्यधारा, पृ. ६९ (स्वयम्भूकृत रामायण ४९–१५)

महाकवि स्वयंभू के पश्चात् विक्रमीय १० वीं, ११ वीं एवं १२ वीं शताब्दियों में देवसेन, पुष्पदंत, धनपाल, रामसिंह, श्रीचन्द्र, कनकामर प्रभृति कवि अति प्रसिद्ध हैं, जिन की रचनाओं में हिन्दी का अंकुर सा फूटता हुआ दृष्टिगोचर होता है; पर इनकी भाषा की संज्ञा तो अपभ्रंश ही है:—

देवसेनने 'दर्शनसार', 'तत्त्वसार' और 'सावयधम्मदोहा' नामक ग्रंथ लिखे हैं। पुष्पदंतने 'महापुराण', 'जसहरचरिउ' एवं 'णायकुमारचरिउ'; धनपालने 'भविसयदत्त-

कहा'; कवि रामसिंहने 'पाहुड़ दोहा'; श्रीचन्द्रने 'पुराणसार' और कनकामर पंडितने 'करकण्डुचरिय' नामक ग्रंथों की रचनायें की हैं। निम्न उदाहरणों में अंकुरित हिन्दी के दर्शन करियेः—

कुपात्रदान का फल (१० वीं शताब्दी के अंतिम भाग में)

हय गय सुणदहं दारियहं मिच्छादिट्ठिहिं भोय।
ते कुपत्तदाणं पिवहं फल जाणहु बहु चेय॥ ८२॥

डा० रामकुमार वर्म्मा लिखित हि. सा. आ. इति० (देवसेनकृत 'सावयधम्मदोहा')
रानियों का जीवन—(राष्ट्रकूटवंशीय तृ० कृष्णराज का समय)

कोइ मलय-तिलक देवहिं करई कोइ आरसिहीं आगे धरेई।
कोइ अपै वर-रतना-भरना। कोइ लेपै कुंकुमहीं चरणा॥

हिन्दी-काव्य-धारा पृ २०१ (पुष्पदन्तकृत 'आदिपुराण' पृ. ३९) डा० रामकुमार वर्म्मा रचित हि० सा० के आ० इतिहास से उद्धृतः—

मुहु मारुइण मलय वणराइव। सिंहलदीवि रयण विख्याइव।
सोहइ दरपणि कील करंती। चिहुर तरंग भंग विवरंती॥
(धनपालकृत 'भविसयदत्तकहा')

जोइय हियडई जासु पर एक्कु जिणिवसइ देउ।
जम्मण मरण विवज्जियउ तो पावई परलोउ॥ ७६॥
(मुनिरायसिंहकृत 'पाहुड़दोहा')

संसार भमंतह कवणु सोक्खु। अलुहा वड पावह विविह दुक्खु॥
(कनकामरकृत 'करकण्डुचरिउ')

मुनि रामसिंह का समय वि. सं. १०५७ के लगभग और कनकामर का समय वि. सं. ११९७ माना गया है।

वि. १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से राजस्थानी-हिन्दी का उत्तरोत्तर विकाश की ओर गतिशील रहने के प्रमाण मिलते हैं और अपभ्रंश श्री हेमचंद्र युग में आकर गौण अर्थात् अप्रधान बनने लग जाती है अर्थात् राजस्थानी-हिन्दी रचनायें बनने लगीं। अपभ्रंश-हिन्दी रचनाओं का काल हमने वि. १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध पर्यंत ही समीचीनतः माना है।

हिन्दी-अपभ्रंश

इस समय तक की प्राप्त श्वेताम्बर रचनाएं जिन्हें हिन्दी कहा जाता है वे राजस्थानी

की हैं और अपभ्रंश प्रभावित प्राप्त हिन्दी जैन दि० साहित्य में हिन्दी का निखरा हुआ रूप १६ वीं शती के उत्तरार्द्ध की रचनाओं में देखने को मिलता है।

विक्रमीय १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'हिन्दी' 'अपभ्रंश' के प्रभाव से मुक्त बनने लगती है जो १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अपभ्रंशमुक्त हो कर स्वतंत्र भाषा के रूप में परिणित हो जाती है। इस उपकाल में उल्लेखनीय हिन्दी जैन कवि धर्मसूरि, घेल्ह, विनयप्रभसूरि, अम्बदेव, दयासागरसूरि और संवेगसुन्दर हैं। धर्मसूरिने 'जम्बूस्वामीरास,' घेल्हने वि. सं. १३७१ में 'चउवीसी गीत', विनयप्रभने वि. सं. १४१२ में 'गौतमरासा', अम्बदेवने 'संघपतिसमरारास,' दयासागरने वि. सं. १४८६ में 'धर्मदत्तचरित्र' और संवेगसुन्दरने सं. १५४८ में 'सारसिखामणरास' की हिन्दी-रचनायें की हैं। उदाहरण देखिये:—

अपभ्रंशरहित हिन्दी

जंबूदीवि सिरिभरहखित्ति तिहिं नयर पहाणउ।
राजगृहनामेण नयर पहुवी वक्खाणउ।
राज करइ सेणिय नरिंद नर वरहं जु सारो।
तासु तणइ (अति) बुद्धिवंत मति अभयकुमारो॥

बनारसीविलास (धर्मसूरिकृत 'जम्बूस्वामीरास')

णाभि नरिंदु नरेसरू मरूदेवी सुकलत्ता।
तसु उरि रिसहु उवण्णो अवध वंदाहि कंता॥

बनारसीविलास (घेल्हकृत 'चउवीसी गीत')

नयण वयण कर चरणि जिण वि पङ्कज जलि पाडिय।
तेजिहि तारा चंद सूर आकासि भयाडिय॥

दि० जै० सा० का सं० इति (विनयप्रभकृत 'गौतमरासा')

ऊपर अबतक जो हमने लिखा है उसका सार इतना ही है कि 'प्राकृत' से अपभ्रंश भाषा का उद्भव हुआ और 'अपभ्रंश' से आधुनिक बोलियों का निर्माण हुआ। हिन्दी भी आधुनिक बोलियों में एक बोली है। हिन्दी का उद्भव 'अपभ्रंश' से है और हिन्दी का विकास 'अपभ्रंश' में ही हुआ है। इस पर हमने स्थान और समय का ध्यान रखते हुये भी अधिक कह दिया है। 'हिन्दी' में हम अनेक भाषाओं के शब्द देखते हैं; परन्तु इस पर वह अन्य भाषा से संभूत हुई-नहीं मानी जा सकती। देशी भाषाओं की समस्त क्रियायें एवं धातु-रूप प्राकृतसंभूत अपभ्रंश में ढले है। इतना ही नहीं, हिन्दी को तो अपभ्रंश से कई वरदान व अमूल्य देन प्राप्त हुई हैं।

अपभ्रंश की देन

हिन्दी-भाषा के विकाश के अध्ययन के लिये ' अपभ्रंश ' का साहित्य बहूपयोगी है; क्यों कि ' अपभ्रंश ' में ' प्राचीन अथवा आदि हिन्दी ' कहा जानेवाला स्वरूप यथावत् विद्यमान है और 'अपभ्रंश' में प्राचीन-हिन्दी-गद्य सुरक्षित है। हिन्दी के लिये ' अपभ्रंश ' की यह सेवा सुरक्षा की दृष्टि से कम महत्व की नहीं है। उपलब्ध हिन्दी जैन-साहित्य जैनेतर हिन्दी साहित्य से मिलाने बैठेंगे तो वहां थोडा अन्तर काल के निर्धारण में पड़ा हुआ मिलेगा। कारण स्पष्ट है-जैन विद्वान् अपभ्रंश के पंडित थे और अपभ्रंश में उनके उपयोगी धर्मग्रंथ रचे जा चुके थे और जैनेतर हिन्दी विद्वान् अपभ्रंश के न तो पंडित ही थे और नहीं उनके धार्मिक ग्रंथ ही इस में रचित थे; अतः जैनेतर हिन्दी विद्वान् वि० १४ वीं शताब्दी से ही हिन्दी में ठोस रचनायें कर सके। हिन्दी जैन विद्वानों को अपभ्रंश के गाढ़ प्रभाव से मुक्त होने में अधिक समय लगना स्वाभाविक है; अतः हिन्दी जैन-विद्वानों की हिन्दी कही जाने-वाली रचनायें वि० १४ वीं शताब्दी से प्रारंभ नहीं हो कर वि. १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रारंभ हुई मिलती हैं अर्थात् हिन्दी जैन विद्वान् विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूर्णतः अपभ्रंशमुक्त हिन्दी रचना करने लगे।

अन्य प्रान्तीय लोक-भाषाओं में भी जैन विद्वानोंने रचनायें की हैं। श्वेताम्बर साधु और आचार्यों की राजस्थान, मालवा, गूर्जर अधिकतर विहार-भूमि रही है। उन्होंने राज-स्थानी और गूर्जर भाषाओं में भी इन शताब्दियों में बड़े महत्व के कई ग्रंथ लिखे हैं। राजस्थानी और गूर्जर भाषा अन्य लोक-भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट मानी जाती है; अतः मरु-गूर्जरी जैन साहित्य भी हिन्दी के लिये एक बहुत बड़ी देन और महत्व की वस्तु है।

विक्रमीय ११, १२, १३, १४, १५ और १६ वीं शताब्दियां भारत में उथल-पुथल का समय रही हैं। जिनमें तेरहवीं-चौदहवी शताब्दियों का काल तो बड़ा ही कठिन, विषम और संहारक रहा है। इन शताब्दियों में बाहर से महम्मूद गजनवी, गौरी आदि आततायियों के धन और वैभव के लिये आक्रमण ही नहीं हुये; वरन् उनके परवर्त्ती उत्तराधिकारियोंने भारत में राज्य-स्थापनायें कीं। इन शताब्दियों में सच कहा जाय तो उत्तर भारत काश्मीर से विंध्याचल तक और सिन्ध से विहार-आसाम तक रण-भूमि ही रहा।

अवलोकन और जैनसाहित्य की विशेषता

राजपूत राजाओं में परस्पर फूट थी; अतः वे आक्रमणकारियों के सामने विजयी तो न ठहर सके; परंतु आक्रमणकारियों को सीधे हाथ राज्यों की स्थापना भी नहीं करने दी। दोनों में बड़े २

संग्राम हुये। कई बड़े-बड़े पैमानों पर नर-संहार हुआ। कई नवीन राजवंशों की स्थापना हुई। प्राचीन राजवंश जड़ से ही खो गये। इन शताब्दियों में वीररस का प्राधान्य रहा और वीर रस में 'पृथ्वीराज-रासो' जैसे जैनेतर खड्गचरित्र-काव्यों की रचनायें हुईं। भारत के प्रत्येक कोण में इन शताब्दियों में तलवार चमक उठी थी; परन्तु आश्चर्य है कि वहां अद्भुत जैन विद्वान्-परंपरा अपने उच्चादर्श से तनिक भी विचलित नहीं हुई। वह अपने पहिले के ढंग से ही धर्म-प्रधान शान्तरस में अपनी रचनायें करती रहीं। यह आवश्यक है कि अशांति का उनकी रचनाओं की संख्या और प्रगति पर प्रभाव तो अवश्य हुआ; फिर भी जैनेतर साहित्य की अपेक्षा तो जैन साहित्य में इन शताब्दियों में रची गई रचनाओं की संख्या कई गुणी है-इसमें कोई शंका नहीं है। यह जैनधर्म की ही एक मात्र विशेषता है, जो उसके साहित्य में संनिहित है और वह उसके अनुशीलन से ही समझी जा सकती है। जैनधर्म विशुद्धतः धर्म-प्रधानमत है। यह अनुभवगत सत्य पर ही एक मात्र आधारित है। शृङ्गार-अनुमान और कल्पनाओं का इसमें प्रवेश भी अशक्य है। यह अपराधी को अपराध करके नहीं झुकाता। यह ही इसका मौलिक स्वभाव है। यह शान्ति में विश्वास करता है और अशान्त एवं हिंसक उपायों से उसका संस्थापन अथवा पुनर्स्थापन होना नहीं मानता है। विश्व में शान्ति और सुव्यवस्था, देश-देश में सहानुभूति, ज्ञाति-ज्ञाति में प्रेम और मानव-मानव में सौहार्द अगर संस्थापित किया जा सकता है तो केवल विवेक, शान्ति, स्नेह और प्रेम के द्वारा-ये इसकी अद्भुत अथवा अजब मान्यतायें नहीं, लेकिन ये सत्य के उपर आधारित हैं। यही कारण है कि उपरोक्त वीररस-प्रधान शताब्दियों में भी जैन विद्वानोंने वीररस में रचनायें नहीं कीं। संसार के समस्त जैनेतर साहित्य देश, काल, स्थिति के अनुसार रस वदलते रहे हैं; परन्तु जैन साहित्य की यह बड़ी अद्भुत एवं शाश्वत विशेषता है कि वह सदा धार्मिक, शान्तरसप्रधान और आध्यात्मिक ही रहा।

हिन्दी अपभ्रंश से निकली, वह अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित है, उसको अपभ्रंश की भारी देन है-इन तथ्यों की प्रतीति करने के लिये भले आज से ५०-५५ वर्ष पूर्व तो सामग्री का अभाव ही था; परन्तु अब तो सामग्री इतनी तो बाहर आ चुकी है कि जिसका अध्ययन करके हम कुछ निश्चय पर पहुंच सकते हैं। हिन्दी वर्ण-माला, हिन्दी-लिपि, हिन्दी-व्याकरण, हिन्दी में प्रयुक्त किये जानेवाले छंद, अलङ्कार, रचनाओं की संज्ञायें व शैली आदि में अपभ्रंशका कितना प्रभाव है, वह हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, आदि ग्रन्थों से स्पष्ट है। इतना सब कहने का हमारा तात्पर्य यह नहीं था कि हिन्दी का निर्माण सम्पूर्णतः और सर्व प्रकार से एक मात्र अपभ्रंशने ही किया है। ऐसा कहना अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक रहेगा। खड़ी बोली के हामी मुसलमान शासक, उनके आश्रित कवि और शायरोंने भी हिन्दी

के निर्माण में पूरापूरा योग दिया है। संस्कृत भाषाने भी इसके कलेवर को सुन्दर और सुष्ठु बनाने के लिये अपने अधिक प्रिय कई शब्दों को भेंट किया है।

हिन्दी-काल

हिन्दी जैन साहित्य की दृष्टि से यह काल विक्रमीय १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से वि. सं. १९ वीं पर्यंत माना गया है। हिन्दी का उत्कर्ष रूप इस काल के प्रारंभ में बनने लगता है जो इसके अन्त में आधुनिक रूप में परिवर्तित हुआ है। इस काल के हिन्दी जैन विद्वानों में वि. सं. १५८१ में 'यशोधरचरित्र' के कर्त्ता गौरवदास और प्रसिद्ध 'कृपणचरित्र' के कर्त्ता कवि ठकरसी, धर्मदास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन तीनों में कवि ठकरसी अग्रगण्य है। कवि ठकरसी के पश्चात् १७वीं शती में तो हिन्दी जैन कवि, लेखक, ग्रंथकार, टीकाकारों की बाढ़सी आ गई और हिन्दी जैन धार्मिक साहित्य के साथ ही अन्य अनेक विषयों में रचनायें और अनुवाद-ग्रंथ लिखे गये। जैन विद्वान्-परम्परा ने इस हिन्दी काल में विविधमुखी और विविध विषयक रचनायें करके हिन्दी जैन साहित्य को विपुल और विविधविषयक बनाया। सर्व श्री चौधरी रायमल, नैनसुख, समयसुन्दर, कृष्णदास, रूपचन्द पाण्डे, बनारसीदास, रूपचंद्र(श्वे०), हीरानंद, कविवर भगवतीदास, भद्रसेन, जिनराजसूरि, जटमल नाहर, यति बालचंद्र, हंसराज, उदयराज, आनंदघन, जिनरंगसूरि, उपा० यशोविजय, विनयसागर, हेमसागर, जिनहर्ष, धर्मसिंह, कवि रायचंद, लक्ष्मीवल्लभ, उदयचंद्र (खरतर), जिनसमुद्रसूरि (खरतर), कवि मान, भैया भगवतीदास, केशव, कवि लालचंद्र, मानकवि (खरतर), खेतल, विनयचंद्र, कवि रत्नशेखर, समर्थ कवि, दुर्गादास, लक्ष्मीचंद, दीपचंद, गुणविलास, भूधरदास, कनककुशल-कुंवरकुशल, दौलतराम कासलीवाल, महोपाध्याय रूपचंद, कवि दास, पं० टोडरमल, देवीदास, महाकवि ज्ञानसार, कविवर बुधजन प्रभृति, अनेक नहीं, सैकड़ों है।

प्रकथन

हिन्दी जैन साहित्य विकास की दृष्टि से तो विक्रमीय १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध पर्यंत हमने अपभ्रंश-हिन्दी-काल माना है; परन्तु विषय की दृष्टि से जैसा हिन्दी जैनेतर साहित्य में विक्रमीय चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से भक्ति-काल का जो प्रारंभ होना माना गया है वैसा हमको कोई काल निर्धारित करने के लिये बाधित नहीं होना पड़ा है, कारण कि जैन साहित्य समयानुसारी नहीं, वरन् शाश्वत धर्मानुसारी ही अधिकतर प्रधान रहता है। हां, रचनाओं में वेग और शैथिल्य देश, काल और स्थिति के ही कारण बढ़ते-घटते अवश्य रहते हैं।

चौदहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में उत्तर भारत में सर्वत्र मुस्लिम-राज्य स्थापित हो चुके थे। राजपुत्र राजा या तो उनके आधीन हो चुके थे या अशक्त हो कर शिथिल से

बन चुके थे। कभी २ तलवार भी चमक उठती थी; परन्तु वह किसी-किसी और अमुक स्थल में ही। मुस्लिम शासकों ने यवन-राज्यों की स्थापना करके ही विश्राम लेना नहीं सोचा था। अब वे बल-प्रयोग से यहां के निवासियों को मुसलमान बनाने पर तुल उठे थे। राजा-जन तो अबल हो चुके थे और प्रजा भी सर्व प्रकार असहाय थी। ऐसी धर्म-संकट स्थिति में ईश्वर के भक्त ईश्वर की उपासना के सिवाय और क्या कर सकते थे और हमारे स्याद्वाद के विद्वान् आत्मधर्म और मानवोचित व्यवहार का उपदेश देने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते थे। जैनेतर संत और भक्तों का एक समुदाय निकला जिसमें नामदेव, रामानंद, रैदास, कबीर, धर्मदास, नानक, शेखफरीद, मलूकदास, दादुदयाल और सुन्दरदास के नाम उल्लेखनीय हैं। मुसलमानों के भीतर से भी एक दल निकला जिसने प्रेम-पंथ का प्रचार किया। प्रेम-पंथ 'सूफी मत' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। जैन विद्वान् साधु और आचार्यों ने अपने तत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये। सर्वत्र भारत में उन्हों ने विहार कर के मानव-धर्म को समझाया; यवन-राजाओं की राज्य-परिषदों में, बादशाहों के हजूरगाह में जाकर उन्होंने धर्म-सहिष्णुता और अभयदान के महत्त्व समझाये। जो संत-साहित्य, भक्त-काव्य, धर्म-संगीत इनकी वाणी से, कलम से, सितार से निकला उसने धर्म-संकट को टालने में पूरी २ सफलता प्राप्त की। हिन्दी-साहित्य के विकास के इतिहास को लिखनेवालों ने अनेक जैनेतर भक्त, संत, और सूफी मत के प्रेमपंथियों का नामोल्लेख किया और उनका पूर्ण परिचय देने की उदारता बतलाई है। परन्तु इनके ही साथी जैन धर्मात्मा-पुरुषों में से, जिनके नाम दो या दस नहीं, सैकडों उपलब्ध हैं उनमें से, एक बनारसीदास का नाम केवल उल्लिखित किया। तिस पर हिन्दी जैन साहित्य में तो अतिरिक्त संत अथवा भक्त या धार्मिक साहित्य के अन्य प्रायः सभी विषयो में भी रचनायें हुई हैं। इन शताब्दियों में जैनेतर साहित्य जहां केवल संत-साहित्य के रूप में ही मिलता है, वहां जैन हिन्दी साहित्य में वह विविध विषयक और विविधमुखी है। जैनेतर विद्वानों का यह असमभावप्रधान दृष्टिकोण एवं संकुचित वृत्त अवश्य आलोच्य है। ऐसा करके वे सज्जन हिन्दी-भाषा के विकास को हमारे समक्ष पूरा २ उपस्थित करने में असफल भी रहे और भ्रमित भी हो गये।

कुछ प्रचूर्ण कवि और लेखक

उपर हिन्दी जैन-विद्वानों के हमने कुछ नाम दिये हैं। उनमें दि० कवियों की रचनाएं तो प्रसिद्ध हैं। श्वे० कवि अप्रसिद्ध होने से उनकी यहां रचनाओं की नामावलि दे रहे हैं। विविध विषयक रचनाओं के साथ यथासंभव उनके रचना काल-संवतों के उल्लेख निम्नवत् कर देना ठीक समझते हैं।

श्रावक कवि नैनसुखने वि. सं. १६४९ में 'वैद्यमनोत्सव' लिखा।

महो. समयसुंदर–हिन्दी में फुटकर पदादि के रचयिता, चौवीशीपद–छतीसी गीत आदि।

कृष्णदासने वि. सं. १६५१ में 'दुर्जनसालबावनी' रची।

हीरानंद श्रावकने वि. सं. १६६८ में 'अध्यात्मबावनी' लिखी।

खरतरगच्छीय भद्रसेनने वि. सं. १६७५ के लगभग 'चंदनमलयागिरि चौपाई' लिखी।

खरतर शिवनिधानशिष्य कवि मानने 'भाषाकविरसमंजरी' रची। इनका रचना–काल वि. सं. १६७०–१६९३ पर्यंत रहा है।

जिनराजसूरि–वि. सं. १६५५ से १७०० तक, रामचरितसम्बंधीपद व अन्यपदादि रचनायें रचीं।

लोकागच्छीय कवि बालचंद्रने वि. सं. १६८५ में 'बालचंदबत्तीसी' रची।

हंसराजने पद्य में 'ज्ञानबावनी' और गद्य में 'द्रव्य–संग्रहटब्बा' रचे। रचनाकाल १७ वीं शताब्दी का अंत।

उदयराज (खरतर)ने 'वैद्यविरहिणीप्रबंध' और करीब ५०० दोहे रचे। रचना–काल १७ वीं शताब्दी का अन्त।

जिनरंगसूरिने 'अध्यात्म बावनी' और 'रंगबहोत्तरी' रची। रचनाकाल सं० १७०० से १७३० पर्यंत।

विनयसागरने वि. सं. १७०२ में 'अनेकार्थनाममाला' कोष लिखा।

हेमसागरने वि. सं. १७०६ में 'छंदमालिका' रची।

आनंदवर्द्धनने कल्याणमंदिरपद व भक्तामरपद।

जिनहर्षने वि. सं. १७१४ में 'नंदबहोत्तरी' और सं. १७३८ में 'जसराजबावनी' रची।

धर्मसिंहने वि. सं. १७२५ में 'धर्मबावनी' लिखी और कई सवैया, पद चौवीसियां रची। रचनाकाल सं० १७१९ से।

यशोविजय–दिग्पटखंडन, समाधिशतक, समताशतक पदादि।

विनयविजयने विनयविलास पदसंग्रह रचे।

कवि रामचंद्रने हकीनगर (सिंध) में सं० १७२० में 'रामविनोद,' मरोठ (सिंध) में सं० १७२६ में 'वैद्यविनोद' और मेरा (सिंध) में सं० १७२२ में 'सामुद्रिक–भाषा' नामक ग्रंथ लिखे।

लक्ष्मीवल्लभने वि. सं. १७११ में 'उपदेशबत्रीसी' और 'कालज्ञान', सं. १७२७ में 'भावनाविलास', सं० १७३८ में 'सवैया–बावनी,' सं० १७६१ में 'चौवीसी' और सं० १७४७ में 'नवतत्त्व–चौपाई' रची।

उदयचंद (खरतर) ने वि. सं. १७२८ में ' अनूपरसाल ', ' वीकानेर गजल ' लिखे। ये वीकानेर के यति थे।

जिनसमुद्रसूरिने जैसलमेर में सं० १७३० में ' तत्त्वप्रवोध ' नाटक लिखा तथा ' वैद्य-चिन्तामणि, नारीगजल, वैराग्यशतक, सर्वार्थसिद्धि टीका ' रची हैं।

मान कवि (विजयगच्छीय) ने ' राजविलास ' और सं० १७३० में ' विहारीसत-सई टीका ' रची।

केशवदासने वि. सं. १७३६ में ' केशवबावनी ' रची।

कवि लालचंदने वि. सं. १७३६ में वीकानेर में ' लीलावती ' तथा सं० १७५२ में ' स्वरोदय ' लिखा।

मान कवि (खरतर) ने ' संयोगद्वात्रिंशिका ' सं० १७३१ में, लाहोर में सं० १७४५ में ' कविविनोद ' और सं० १७४६वीकानेर में ' कविप्रमोद ' लिखे।

खेतल कविने सं० १७४८ में ' चितौड़गढ़ गजल ' और सं० १७५७ में ' उदयपुर गजल ' रची।

विनयचंद्रने सं० १७५५ के लगभग ' राजुलरहनेमिगीत ' तथा ' वारहमासा ' रचा। कवि रत्नशेखरने सूरत में सं० १७६१ में ' रत्नपरीक्षा ' लिखी।

दुर्गादासने सं० १७६५ में ' मरोठ गजल ' रची।

समर्थ कविने सं० १७६५ में देरा (सिंध) में ' रसमंजरी ' रची।

कवि लक्ष्मीचंद (अपरविजय शिष्य खरतर) ने सं० १७८० में 'आगरा गजल' रची।

गुणविलासने वि. सं. १७९० में ' चौवीसी ' रची।

महो० रूपचंद (श्वे०) ने सं. १७९२ में वनारसीदासकृत 'समयसार' की टीका रची।

उपरोक्त रचनाओं में वैद्यक, छंद, कथा, कोष, ज्योतिष, इतिहास, चरित, आख्यायिका, वार्त्ता, गणित आदि विषयक एवं धार्मिक, आध्यात्मिक स्तवन, गीत, पद, चौवीसी, बत्तीसी, छत्रीसी, वहोत्तरी लघु-बड़ी विविध विषयों की कृतियां हैं। लगभग एक सहस्र विविध विषयक हिन्दी रचनाओं के कर्त्ता दि. श्वे. हिन्दी-जैन-कवि और लेखकों में से हम स्थानाभाव से मात्र कुछ नाम ऊपर दे सके हैं और कुछ आध्यात्मिक विशिष्ट कवि और लेखकों का परिचय थोड़े से विस्तार से हम आगे दे रहे हैं।

कुछ आध्यात्मिक कवि और लेखक

हम नीचे जिन ग्रंथकारों के परिचय दे रहे हैं, वे जैन हिन्दी विद्वानों में अधिक प्रसिद्ध लेखक और कवि हैं। इनकी रचनाओं में आत्म-दर्शन, आत्मतत्त्व विषयक- अधिक

सामग्री अन्तर्हित है। सुभाषितों की किसी २ कवि की रचना में तो बहुत ही भरमार है, वैसे सुक्तियां प्रायः सभी की रचना में हैं। कविवर बनारसीदास, महाकवि आनंदघन, कविश्रेष्ठ द्यानतराय, योगीराज ज्ञानसार आदि की रचनाओं में कहीं २ रहस्यवाद भी ऊंचे स्तर का पाया जाता है। जिनेश्वर-भक्ति, तीर्थ-प्रेम संबंधी चौवीसियां, तीर्थ-गीत आदि धार्मिक और वर्णनात्मक होने से कई रचनायें काव्य का रसानंद तो नहीं दे सकती हैं; परन्तु मूर्त्ति-उपासक भक्तों के लिये एवं सगुण मार्ग के अनुयायियों के लिये तो बड़ी ही आह्लादक और प्रेरणादायक हैं।

एक नवीन बात जो यतिश्री कनककुशल के परिचय में पाठकों को पढ़ने को मिलेगी, यहां उस पर कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। जैन विद्वान् सदा से उदार रहे और जिस युग में जो भाषा प्रधान बनी, उन्होंने उसी भाषा में जैन साहित्य की रचना की है। जब व्रज अपने ऊंचे स्तर पर थी और सूर आदि जैनेतर महाकवियों ने उसमें रचनायें कीं, जैन विद्वान् भी उसकी सेवा करने में पीछे नहीं रहे। कच्छ के नृपति लखपत (राज्यकाल १७९८ से १८१७) ने अपने गुरु कनककुशल की तत्त्वावधानता में एक व्रज-भाषा शिक्षणालय की स्थापना की थी। इस शिक्षणालय में छंद और काव्यों का अच्छा अध्यापन करवाया जाता था। यति कनककुशल की परंपरा में यह विद्यालय बराबर लगभग २०० वर्ष चलता रहा। गुजरात, राजस्थान आदि दूर-दूर से विद्यार्थी यहां आते थे। आज से कुछ वर्षों पूर्व तक यह विद्यालय जीवित अवश्य था, चाहे वैसा प्रगतिशील नहीं भी होगा। जैनेतर विद्वानों ने व्रज में साहित्य-रचना तो अनूठी की है; परन्तु उनके द्वारा व्रज की ऐसी सेवा अहिन्दी प्रदेश में कहीं हुई, हमारे जानने में अभी तक तो नहीं आई। गूजराती व राजस्थानी व व्रज भाषा का शिक्षण देना बड़ा महत्त्व का कार्य है। इस दृष्टि से हिन्दी के लिये हिन्दी जैन विद्वानों का यह व्रज-भाषा-प्रचार का कार्य कम महत्त्व एवं कम हितकर नहीं है।

आधुनिक हिन्दी कवि अथवा लेखक संबंधी योग्य सामग्री के अभाव में हम जैन आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर कुछ भी नहीं लिख सकते। कविवर ज्ञानानंद, पं० टोडरमल और चिदानंद योगीराज का ही हम इस काल के अद्भुत कवियो में परिचय दे सके हैं।

चौधरी रायमल्ल

अग्रोतान्वय-गोयलगोत्रीय नानू पत्नी ओढरही के आप ज्येष्ठ पुत्र थे। श्वेताम्बर विद्वान् कवि पद्मसुन्दर और आप में अनूठा प्रेम था। पद्मसुन्दर सम्राट् अकबर के समय में प्रथम श्रेणि के विद्वानों में पाये जाते हैं। इनका जन्म १६ वीं शताब्दी में हुआ है और इनका रचना-काल सं. १६१५ से ३३ है। इनकी सात रचनायें उपलब्ध हैं:-१ 'नेमीश्वर रास'

(सं. १६१५), २ ' हनुमत कथा ', ३ ' प्रद्युम्न चरित्र ', ४ ' सुदर्शन रासो ', ५ ' निर्दोष सप्तमी व्रत कथा ', ६ 'श्रीपाल रासो' और ७ ' भविष्यदत्त कथा ' (१६३३) । ये जयपुर राज्य के रहनेवाले थे । इनके जन्म-ग्राम का पता लगना अभी शेष है ।

कविवर की रचनाओं में कई ऐतिहासिक तथ्य भी प्राप्त होते हैं । आपने अकबर सम्राट् के शासन-काल का भी वर्णन किया है ।

विशेष परिचय के लिये देखिये वीर-वाणी वर्ष २ । १७-१८ दिसम्बर सन् १९४८ ।

कविवर समयसुन्दर

मरुधर प्रान्त के प्राचीन एवं ऐतिहासिक नगर साचौर में आपका जन्म वि. सं. १६२० के लगभग प्राग्वाटज्ञातीय श्रेष्ठी रूपसी की धर्मपत्नी लीलादे अपर नाम धर्मश्री नाम की सुशीला गृहिणी से हुआ था । युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि के करकमलों से आपने जैन दीक्षा ग्रहण की थी और गणि सकलचन्द्रजी के आप शिष्यरूप से प्रसिद्ध हुये थे । सूरिजी के प्रधान शिष्य महिमराज और समयराज की तत्त्वावधानता में आपका विद्याध्ययन हुआ था । संस्कृत, प्राकृत, गूर्जर, राजस्थानी, हिन्दी, सिंधी तथा पारसी भाषा पर आपका अच्छा अधिकार था और छन्द, अलंकार, व्याकरण, ज्योतिष, जैन साहित्य, अनेकार्थ आदि आपका विविध विषयक पाण्डित्य आप की उपलब्ध-कृतियों से भलीविध सिद्ध होता है । आपका 'अष्टलक्षी' ग्रन्थ जैन साहित्य में अति ही प्रसिद्ध है । इस ग्रन्थ में 'राजानो ददते सौख्यं' इस आठ अक्षर के पद के आपने १०,२२,४०७ अर्थ किये हैं । काश्मीर विजय के लिये जाते समय सम्राट् अकबरने श्रीरामदास की वाटिका में श्रावण शु. १३ को संध्यासमय कविवर के मुख से इस अद्भुत ग्रन्थ को सामंत, मण्डलिक एवं विद्वानों की उपस्थिति में श्रवण किया था और वह बड़ा ही आश्चर्यचकित हुआ था ।

संस्कृत में छोटे-बड़े आपके रचित ग्रन्थों की संख्या २५ है । अन्य ग्रन्थ आपके इस प्रकार हैं:-टीकायें १९, संग्रह ग्रंथ १, बालावबोध १, रास-चौपाई आदि २३, छत्तीसियां ७, देसाई ६, रास ८ हैं । कविवरने जिस प्रकार मौलिक ग्रन्थों की रचना की है, अन्य कवियों द्वारा रचित ग्रन्थों की उसी उत्साह से स्वहस्त से प्रतिलिपियां भी की है । नाहटा-संग्रह में ऐसी विविध भांति की १४ प्रतियां तथा अन्यत्र प्राप्त ३० प्रतियां विद्यमान हैं। आप द्वारा संशोधित ५ ग्रन्थों की भी प्रतियां उपलब्ध हैं। उक्त तालिका से ही सहज ही में कविवर का साहित्यानुराग, गम्भीर पाण्डित्य एवं विविध भाषाविषयक और विषयविषयक ज्ञान समझा जा सकता है । यह साहित्य महारथी जैन विद्वान् जगत में परवर्त्ती महाविद्वान् उपा० यशो-

विजयजी के समान ही कीर्त्तिशाली और महापण्डित हुआ है। कविवर की अपरिमित रचनाओं को लक्षित करके यह किसीने ठीक ही कहा है–'समयसुन्दररा गीतड़ा, राणा कुंभारा भीतड़ा'। कविवरने लगभग ६० वर्ष निरंतर साहित्य की साधना-उपासना करके वाङ्गमय को जो समृद्ध बनाया है वह जैनक्षेत्र की ही नहीं, भारतीय वाङ्गमय की एक अद्भुत निधि है।

रचना उदाहरण—

जउ तूं जळधर तउ हूं मोरा; जउ तू चंद तउ हूं चकोरा। न०। १।
सरणइ राखि, करइ करम जोरा, समयसुन्दर कहइ इतना निहोरा। न०३। पृ०२३.

अद्भुत भक्ति—

क्यों न भये हम मोर विमलगिरि, क्यों न भये हम मोर।
क्यों न भये हम शीतल पानी, सींचत तरुवर छोर।
अहनिश जिनजी के अंग पखालन, तोड़त करम कठोर ॥ वि०१ ॥ पृ० ७७.
हरि सोदर रमणी सुरभी सिसु, दो मिली चिह्न धरीजइ।
समयसुंदर कहइ अहनिशि उनके, पद-पंकज प्रणमीजई ॥ ३ ॥ पृ० ९७.
सूत्र सिद्धान्त वखाण सुणवत, वलि वयराग की वतियां।
समयसुन्दर कहइ सुगुरु प्रसादइ, दिन-दिन बहु दउलतियां ॥ २ ॥ पृ० ३९०.

आप के रचित गीत-पदादि से कवि का रागज्ञान, अपभ्रंश-हिन्दी-ज्ञानगाम्भीर्य, अलंकार-कोविदता, छंद-नैपुण्य, पद-लालित्य, शब्द-सौष्ठव, शब्द-कौशल, भाषा-सारल्य, कल्पना-चातुर्य्य एवं उनके संगीत-प्रेम-प्रतिमा के दर्शन हो जाते है। वे जैसे जिनेश्वर भक्त हैं, उतने ही उत्कट तीर्थदर्शनाभिलाषी और उतने ही गुरु-भक्त हैं। ये कोमल कान्त पदावलियां कितनी रोचक एवं हृत्तलस्पर्शी है यह तो कोई भी सहज समझ सकता है। आत्मगत सत्यानुभव की वेदिका पर देव-गुरु-तीर्थ के त्रिबिंब को प्रतिष्ठित करके पूजिये तो अवश्य परमपद की प्राप्ति में ये बहुत दूर तक प्रकाश देती रहेंगी [समयसुन्दर कृति कुसुमाञ्जलि]

विशेष परिचय के लिये देखिये 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' वर्ष ५७ अंक १ सं० २००९।

पाण्डे रूपचन्द

आप काव्य, व्याकरण के अच्छे विद्वान् और जैन सिद्धान्तों के गंभीर पंडित थे। आप कविता भी अच्छी करते थे। वि. १७ वीं शताब्दी के विद्वानों में आप का नाम विश्रुत था। आप का जन्म अग्रवालवंशीय गर्गगोत्र में भगवानदास की द्वितीय पत्नी चाचो की

चार उच्च कोटि के साहित्यिक ग्रंथ हैं। विशेष परिचय के लिये, आप पर कई पत्रों में लेख निकल चुके हैं, उन्हें देखिये।

कविवर भगवतीदास

ये कवि भैया भगवतीदास से भिन्न हैं। ये बुड़िया जिला अम्बाला के निवासी अग्रवालवंशीय बंसलगोत्रीय किसनदास के पुत्र थे। इनके पिता किसनदासने चारित्र ग्रहण कर लिया था। पीछे से ये देहली में ही जा कर बस गये थे। अकबर पुत्र सम्राट् जहांगीर उस समय भारत का शासक था। पं. परमानंद जैनशास्त्री के लेखानुसार अभी आप की २३ रचनाओं का पता लग चुका है। आपकी अंतिम रचना 'मृगांकलेखा चरिउ' बतायी गई है। आपकी रचनाओं में रास और रसक ही अधिक हैं। आपने उक्त रचनाओं को अलग-अलग स्थानों पर रचा हैं, जो रचनाओं में दी गई प्रशस्तियों से ज्ञात होता है। रचनायें प्रायः छोटी-छोटी हैं; परन्तु भाषालालित्य और भावों की दृष्टि से उनका महत्व कम नहीं कहा जा सकता। आपकी रचनाओं के नाम देखने से जीवनगत सत्य की ओर हमारा सीधा ध्यान जाता है कि दिन-रात प्रयोग में आनेवाली वस्तुयें भी हमारे शिक्षा की वस्तु हैं-चूनड़ीरास, खिचड़ीरास तथा समाधिरास, चतुर बनजारा आदि। रचना-सौष्ठव भी देखिये।

सोरठा—सुख विलसहि परवीन, दुःख देखहिं ते बावरे।
मिउ जल छंडे मीन, तड़फि मरहि थलि रेत कइ॥

विशेष परिचय के लिये अनेकान्त वर्ष १०, ४-५ पृ० २०७ देखिये।

कविवर जटमल नाहर

विक्रम की सतरहवीं शताब्दी में कविवर जटमल खड़ी बोली के एक प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। आप के पिता धर्मसी लाहोर के निवासी थे और वे ओसवालवंशीय नाहरगोत्रीय थे। आप की 'गोरा बादल की बात' साहित्य-क्षेत्र में बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। इसके अतिरिक्त आप द्वारा रचित 'प्रेमलता चौपाई,' 'लाहोर गजल', 'बावनी' और 'स्त्री गजल' कृतियां हैं। पहिले २ आप के कुल एवं जन्म-स्थान के विषय में हिन्दी-विद्वानों को पूरा परिचय नहीं मिल सका था; परन्तु 'प्रियलता चौपाई' और 'लाहोरगजल' के परिचय में आने पर उसकी पूर्त्ति होगई। 'गोरा बादल की बात' वीररस-प्रधान काव्य है। यह राजस्थानी मिश्रित है। भाषा में ओज और शब्द-गांभीर्य है। 'गोरा बादल की बात' की कई प्रतियां भिन्न २ संवतों की लिखी हुई मिली हैं और उनमें पाठान्तर अथवा पाठभेद भी कई स्थलों पर मिलता है। परन्तु फिर भी एक का उदाहरण देकर उनकी भाषा का ओज पाठकों के समक्ष रखते हैं:—

नारी इस बाणी सुणी पिय की पगड़ी साथ ।
सती भई आणंद सौं, शिवपुर दौनौ हाथ ॥ २३ ॥

× × ×

गोरा बादल की कथा, सूरां अधिक सुहाय ।
सुणतां जागइ सूरमा, आणंद अंग न माय ॥

विशेष परिचय के लिये देखिये हिन्दुस्तानी अप्रैल १९३८ पृ० १५९ ।

महाकवि आनंदघन

आप का काल विद्वान् वि. सं. १६८० से वि. सं. १७३० के मध्य में स्थिर करते हैं । आप श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों जैन परम्परा के कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं । आप की रचनाओं को जैनेतर विद्वान् भी हिन्दी-साहित्य की अमूल्य रत्नराशि मानते हैं । आप की दो कृतियां 'आनंदघन चौवीसी' राजस्थानी और 'आनंदघन बहत्तरी' हिन्दी प्रसिद्ध हैं । अध्यात्मज्ञान आप का बहुत ही गंभीर और ऊंचा था और फलतः आप की रचनाओं में तत्त्वगाम्भीर्य चरमता को पहुंच गया है और साधारण पुरुष के लिये उसका ठीक २ अर्थ समझ लेना बड़ा ही कठिन हो गया है । कई विद्वान् आप की कृतियों को सानुवाद प्रकाशित करने का प्रयास कर चुके हैं; परन्तु अभी तक वे इस दिशा में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सके हैं । आप के पद्यों का सत्यार्थ पा जाना बहुत बड़े अनुभवी अध्यात्मज्ञानी और भाषा-तत्त्वदर्शी का ही कार्य है । वैसे आप की रचनायें पानी-सी बड़ी सरल प्रतीत होती हैं; परन्तु डुबकी लगाने पर उनकी अगाधता ज्ञात होती है और पैंदे तक नहीं जा कर थोड़े दूर से ही ऊपर लौट आना होता है ।

आनंदघन का सही २ परिचय भी अभीतक प्राप्त नहीं हो सका है । जैनेतर विद्वान् आनंदघन को भक्तकवि के रूप में स्वीकार करते हैं और जैन विद्वान् उनको जिनभक्त कहते हैं । इसमें तो कोई शंका नहीं कि वे जैन मतानुयायी थे । जिनेश्वर के प्रति वे श्रमण-भक्त थे । कुछ उनकी रचनाओं के उदाहरण देखिये—

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे ओर न चाहूं रे कंत ।
रीझ्यो साहिब संग न परिहरे रे भांगे सादि अनंत ॥
प्रीत-सगाइ रे जग मांहे सहु करे रे प्रीत-सगाई न कोय ।
प्रीत सगाई रे निरुपाधिक कही रे सोपाधिक धन खोय ॥ ऋषभ-स्त०

अब हम अमर भये न मरेंगे ।
या कारण मिथ्यात दियो तज, क्यूं कर देह धरेंगे ।
राग-दोस जगबंध करत हैं, इनको नास करेंगे ॥
मर्‍यो अनंत कालतें प्राणी सो हम काल हरेंगे ।
देह विनासी हूं अविनासी अपनी गति पकरेंगे ॥
मर्‍यो अनंत बार बिन समज्यो, अब सुख-दुःख विसरेंगे ।
आनंदघन निपट निकट अच्छर हो, नहिं समरे सो मरेंगे ॥ बहोत्तरी ॥

आनंदघन चौवीसी और बहोत्तरी की एक-एक रचना अनूठी है । उनमें सूर-सा मजा और तुलसी-सा पाण्डित्य है। हिन्दी जैन साहित्याकाश में आनंदघन सूर्य के समान भासित है। स्थानाभाव से यहां अधिक कहने को तो हम स्वतंत्र नहीं और थोड़ा कहने से कलम को संतोष नहीं । इस द्विधा में हम पड़ कर इतना ही हम कहना चाहते हैं कि आनंदघन की भाषा सरल, पर भाव गंभीर हैं; उनका हृदय सरल, पर ज्ञानगंभीर है और उनका मस्तिष्क सरल, पर तत्त्व गंभीर है । आनंदघन को समझने के लिये चरम चक्षु अपेक्षित नहीं, वरन् अन्तरदृष्टि चाहिए ।

विशेष परिचय के लिये 'घन आनंद' और 'आनंदघन' नामक पुस्तक पढ़िये ।

उपाध्याय यशोविजयजी

आप विक्रमीय १७-१८ शताब्दी के विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ कवि और ग्रन्थकार हैं । संस्कृत, प्राकृत और गूर्जर तथा हिन्दी चारों भाषाओं के आप प्रकाण्ड पण्डित थे । आपके विषय में किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि आपने लगभग ५०० ग्रन्थों की रचना की है । लगभग १०० ग्रन्थों की रचना करने की बात तो प्राय सभी जैन विद्वानोंने मान-सी ली है। आपका जन्म वि. सं. १६८० के लगभग हुआ बताया जाता है । वि. सं. १७४३ में स्वर्गवास हुआ।

आपने 'अध्यात्ममतपरीक्षा' स्वोपज्ञटीकासहित श्लोक ४००० प्रमाण, 'अष्टसहस्री-विवरण' श्लोक ७५५० प्रमाण, 'कर्मप्रकृति टीका' श्लोक १३००० प्रमाण, 'द्वात्रिंशत द्वात्रिंशिका' श्लो० ५५५० प्रमाण, 'वीरस्तव' स्वोपज्ञटीकासहित श्लो० १२००० प्रमाण, 'प्रतिमाशतक' स्वोपज्ञटीकासहित श्लो० ६००० प्रमाण, 'वैराग्यकल्पलता' श्लो० ६७५० प्रमाण, 'स्याद्वादकल्पलता' श्लो० १३००० प्रमाण प्रभृति अनेक बड़े २ ग्रंथ संस्कृत, प्राकृत, गूर्जर में रचे हैं । हिन्दी पर भी आपका असाधारण अधिकार था जो निम्न उदाहरणों से स्पष्ट है । (गूर्जर साहित्य संग्रह से)

सयन की नयन की वयन की छबी नीकी,
मयन की गोरी तकी लगी मोहि अंखियां (?)
मन की लगनी भर अगनीसी लागे अली !
कल न परत कछु कहां कहुँ वतिया । स० १ । पृ० १३९

होरी-गीत

अयसो दाव मील्योरी, लाल क्युं न खेलत होरी ।
मानव जनम असोल जगत में, सो बहु पुण्ये लह्योरी ॥
अब तो धार (खेल) अध्यात्म शैली (होली), आयु घटत थोरी थोरी ॥
वृथा नित विषय ठगोरी । अयसो० १

समता सुरंग सुरुचि पिचकारी, ज्ञान गुलाल सजोरी ।
जटपट कुमति कुलटा ग्रही, हलोमली शिथिल करोरी ॥
सदा घट फाग रचोरी । अयसो० २

शम दम साज बजाय सुघट नर, प्रभु गुन गाय नचोरी ।
सुजस गुलाल सुगंध पसारो, निर्गुण ध्यान धरोरी ॥
कहा अलमस्त परोरी । अयसो० ३ । पृ. १७७.

उपाध्यायजी का अध्यात्मज्ञान बहुत ही ऊंचा था । उसको उन्होंने संभोग-शृंगार में से ले जा कर कैसा ऊपर उठाया है । उपाध्यायजी का अनुभव व्यापक और गंभीर था । उनकी रचनायें साधारण जीवन को अधिक स्पर्श करनेवाली हैं । सीधेसाधे शब्दों में परिचित वस्तु को साधन रूप बना कर गूढ तत्त्व की वात कहना उनके लिये अति सरल था । होरी-गीत से उन्होंने किस सीधे ढंग से एक महान् आध्यात्मिक भाव को जन-साधारण के समझने योग्य सुगम बना दिया है ।

विशेष परिचय के लिये ' गूर्जर साहित्य संग्रह प्रथम विभाग ' को देखिये ।

भैया भगवतीदासजी

आप अठारहवीं शताब्दी के नामांकित कवि हो गये है । आगरानिवासी प्रसिद्ध व्यापारी ओसवालज्ञातीय कटारियागोत्रीय श्रेष्ठी लालजी के आप पुत्र थे । आपने सहस्राधिक पद्य लिखे हैं । ' ब्रह्मविलास ' नामक आपकी कविताओं का संग्रह है । ' पुण्यपच्चीसिका ', ' शतअष्टोत्तरी, ' ' पञ्चेन्द्रियसंवाद, ' ' कुपथ-सुपथ-पचीसिका ', ' ईश्वरनिर्णय-पच्चीसी, ' ' परमार्थ-पद-पंक्ति, ' ' मन बत्रीसी ', ' चेतनकर्म-चरित्र ', ' अनित्य-पंचविंशतिका ' आदि

अनेक शीर्षकों से आप के पद्य रचित हैं। आप की कविताओं में हितोपदेश और ऊंची शिक्षायें हैं। आप द्वारा रचित अध्यात्मपद अति ही रोचक और प्रभावक हैं। आप की रचनाओं में संतवाणी है, सरल और सहज भाषा है तथा मोक्षमार्ग की पगदण्डी की स्पष्ट सीधी रेखा है। उदाहरण देखिये—

शुद्धि तें मीन, पिये पय बालक, रासभ अंग विभूति लगाये।
राम कहे शुक ध्यान गहे बक, भेड़ तिरे पुनि मुण्ड मुंडाये॥
वस्त्र विना पशु, व्योम चले खग, व्याल तिरे नित पौन के खाये।
ये तो सबै जड रीति विचक्षन, मोक्ष नहीं विन तत्त्व के पाये॥

विशेष परिचय के लिये देखिये वीर-वाणी वर्ष ५, ४-५ अगस्त १९५१।

दीपचंद शाह

आप की ज्ञाति खण्डेलवाल और गोत्र कासलीवाल था। पहिले सांगानेर में रहते थे। पीछे आमेर में जा बसे। आप दिगम्बर तेरहपन्थ के अनुयायी थे। आध्यात्म आप का प्रिय विषय था। आप की गद्य रचनायें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'अनुभवप्रकाश', 'चिद्‌विलास,' 'आत्मावलोकन,' 'परमात्मपुराण,' गद्य में हैं और 'ज्ञानदर्पण,' 'स्वरूपानंद' और 'उपदेशरत्नमाला' पद्य में हैं। 'चिद्‌विलास' का रचनाकाल सं० १७७९ है। भाषा ढूंढ़ाड़ी और हिन्दी मिश्रित है। आप की रचनाओं का विशेष परिचय अनेकान्त वर्ष १३, पृ० ११३ में देखना चाहिए। गद्य का एक उदाहण नीचे दिया जाता है।

'जैसें वानर एक कांकरा के पड़े रोवे, तैसें याके देह का एक अंग भी छीजे तो वहुतेरा रोवै। ये मेरे और मैं इनका झूठ ही ऐसें जड़न के सेवनतैं सुख मानैं। अपनी शिवनगरी का राज्य भूल्या, जो श्री गुरु के कहे शिवपुरी कौं संभालै, तौ वहां का आप चेतन राजा अविनाशी राज्य करै।'

कविवर द्यानतराय

आप का जन्म आगरा में सं० १७३३ में अग्रवालवंश के गोयल गोत्र में हुआ था। आप के पिता का नाम श्यामदास था। आप के पिता का देहान्त सं. १७४२ में ही हो गया और आप उस समय बालक ही थे। देव के आगे किस का बल? जैनधर्म के प्रेमी विहारलाल और शाह मानसिंह से आप का १३ वर्ष की वय में परिचय हुआ। उन दिनों में आगरा में धर्म की बड़ी चर्चायें होती रहती थीं। आप उक्त दोनों धर्मानुरागी सज्जनों की सत्संग से विद्यानुराग की ओर बढ़े और संस्कृत-प्राकृत का आपने अच्छा अभ्यास किया।

धीरे २ आप आगरा के नामाङ्कित विद्वानों में गिने जाने लगे। वि. सं. १७५२ में आपने 'सुबोधपंचासिका' नाम की कविता लिख कर पूर्ण की। आप को आध्यात्म रस से बड़ा प्रेम था। आपकी रचनाओं में आध्यात्म-ज्ञान बहुत ही ऊंचे स्तर पर है। 'आगमविलास' नाम के संग्रह-ग्रंथ में १५२ सवैया हैं, जिन में सैद्धान्तिक विषयों का वर्णन है। अन्य छोटी छोटी ५२ रचनायें और हैं। प्रतिमाबहत्तरी, विद्युत्चोरकथा, सनत्कुमार कथा आदि। इनके अतिरिक्त ऊंकारादिक ५२ और ६४ वर्ण, द्वादशाङ्ग, ज्ञान-पच्चीसी, जिनपूजनाष्टक, गणधर आरती, कालाष्टक, ४६ गुण जैमाला आदि ४५ विषयक रचनायें इस संग्रह में आपकी रचनाओं में संकलित हैं। भावगाम्भीर्य और सारल्य देखियेः—

साधो! छांगे विषय विकारी, जातैंतोहि महादुखभारी।
जो जैनधर्म को ध्यावै, सो आत्मीक सुख पावै॥ १॥
जो तजै विषय की आसा, द्यानत पावै शिववासा।
यह सतगुरु सीख बताई, काहू विरले जिय आई॥ ८॥

विशेष परिचय के लिये देखिये अनेकान्त वर्ष ११। ४-५ जून-जुलाई १९५२।

कविवर भूधरदास

आप आगरा के निवासी थे और ज्ञाति से खण्डेलवाल थे। आप अच्छे कवि थे और आपकी सरस कविताओं से लोग बड़े मुग्ध होते थे। मित्रों के अत्याग्रह से आपने वि. सं. १७८१ पौष कृष्ण १३ को आपने 'जैनशतक' नाम ग्रंथ लिखकर समाप्त किया। आप की अभीतक साहित्य-संसार के परिचय में तीन कृतियां आई हैं—

'जिनशतक,' 'पदसंग्रह' और 'पार्श्वपुराण'। कविवर भूधरदास उच्च कोटि के सूक्तियों के लिये भी अधिक प्रसिद्ध है। आप के 'पदसंग्रह' नामक संग्रह में विविध पद हैं जो सरस, रोचक और अति शिक्षाप्रद हैं। आप की रचनाओं के उदाहरण देखिये—

नया चरखला रंगा चंगा सब का चित्त चुरावै।
पलटा बरन गये गुन अगले, अब देखे नहिं आवै॥
मोटा महीं कात कर भाई, कर अपना सुरझेरा।
अंत आगमें ईंधन होगा, भूधर समझ सवेरा॥

× × ×

तेज तुरंग, सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही।
दास, खवास, अवास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही॥

ऐसे बड़े तौ कहा भयो नर, छोरि चले उठि अन्त छरे ही।
धाम खरे रहे, काम परे रहे, दाम डरे रहे, ठाम धरे ही॥

अनुप्रास-लालित्य अद्भुत है और भाव नैसर्गिक। विशेष परिचय के लिये अनेकान्त वर्ष १२।१० मार्च १९५४ देखिये।

कनककुशल और कुंअरकुशल

तपागच्छीय कनककुशल विहार करते हुए कच्छ में पधारे। कच्छ-नरेश देशल के पुत्र लखपतने इनको गुरुरूप में स्वीकार किया। राउल लखपतने आपकी तत्त्वावधानता में व्रजभाषा की शिक्षा एवं छन्द और काव्यों के अध्ययन के अर्थ एक विद्यालय संस्थापित किया। आपकी परम्परा में हुये जीवनकुशल की अध्यक्षता में वि. सं. १९३२ में यह विद्यालय चल रहा था जिसका उल्लेख केशवजी द्विवेदीरचित कच्छ के इतिहास से मिलता है। कुंअरकुशल कनककुशल के योग्य शिष्य थे। कनककुशलने राउल लखपत के लिए 'लखपत-मञ्जरी नाममाला' नामक २०२ पद्यों का ग्रंथ लिखा है। इसमें भुजनगर और महाराजा का वर्णन १०२ पद्यों में तथा शेष पद्यों में नाममाला है। कुंअरकुशलने 'लखपत-मञ्जरी नाममाला' नाम का ही फिर दूसरा ग्रन्थ लिखा है। प्रतीत होता है पहली नाममाला संक्षिप्त रही है, अतः दूसरी उसको पूर्ण करने की दृष्टि से और लिखी गई। कुंअरकुशल के रचे हुए अलंकार विषयक ग्रंथ 'लखपत जससिंधु', 'पारसातनाममाला' नामक पारसी-व्रज-कोष तथा 'लखपतपिंगल' और 'गौड़पिंगल' नामक ग्रन्थ हैं।

जैन विद्वानों की यह व्रज-सेवा व्रजमण्डल से सुदूर कच्छ-भुज प्रदेश में कम महत्त्व की नहीं है। इनका रचना-काल सं. १७७४ से १८२१ है अर्थात् वि. १८-१९ वीं शताब्दी।

विशेष परिचय के लिये 'जीवनसाहित्य' अंक फरवरी, मार्च, जून १९५३ में देखिये।

पं० दौलतराम कासलीवाल

आप वि. शताब्दी १८-१९ वीं में हुये हैं। आप जयपुर-राज्यान्तर्गत बसवा ग्राम-निवासी आनन्दरामजी के पुत्र थे। आप को जैन पुराणों का गंभीर अभ्यास था और आप उच्च श्रेणी के टीकाकार कहे जाते हैं। आप पर पं० भूधरदासजी की आध्यात्मिक सरलता एवं विद्वत्ता का गहरा प्रभाव पड़ा था। यह आपने स्वयं अपनी कृतियों में स्वीकार किया है। आप उदयपुर महाराणा जगत्‌सिंहजी द्वितीय के समय में जयपुर नरेश की ओर से उदयपुर में वकील के पद पर आरूढ़ थे। आपने 'पुण्यास्रव कथाकोष' की टीका वि० सं०

१७७७ में लिख कर समाप्त की। सं० १७९८ में आपने 'अध्यात्मबारहखड़ी' लिखी। आपने वसुनन्दीकृत 'उपासकाध्ययन' की एक टब्बा टीका भी लिखी है। आपने अपनी कृतियों में उदयपुरका अच्छा वर्णन दिया है। नीचे के उदाहरण में आपका भाषा-सारल्य देखिये—

उदयपुर में कियौ वखान, दौलतराम आनन्दसुत जान।
वांच्यो श्रावक वृत्त विचार, वसुनन्दी गाथा अविकार॥
बोले सेठ वेलजी नाम, सुन नृपमंत्री दौलतराम।
टबा होय जो गाथा तनो, पुण्य उपजै जियको घनो॥
सुनि के दौलत वैन सुवैन, मनभरि गायो मारग जैन।

टवा टीका प्रशस्ति।

विशेष परिचय के लिये देखिये अनेकान्त वर्ष १०/१ जुलाई १९५१।

पं० टोडरमलजी

आप जयपुर के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम जोगीदास खण्डेलवाल था और माता का नाम रमादेवी था। आपके हरिचंद और गुमानीराम नाम के दो पुत्र थे। हिन्दी-साहित्य के दिगम्बर जैन विद्वानों में आप का हिन्दी-गद्य-लेखक के रूप में बहुत ऊंचा स्थान है। आप का आध्यात्मज्ञान बहुत ही ऊंचा था। अतिरिक्त इसके आप व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं दर्शन-शास्त्रों के भी पूर्ण पंडित थे। आप की कृतियों की भाषा ढूंढाड़ी-व्रज-मिश्रित है; परन्तु उसमें आप के गंभीर पाण्डित्य एवं लेखन-कौशल के स्पष्ट दर्शन होते हैं। आप का स्वभाव बड़ा ही सरल था और हृदय बड़ा ही कोमल था और वैसा ही सादा आप का रहन-सहन था। आप के घर पर सदा विद्या-व्यसनियों का जमघट लगा ही रहता था और आप भी उनको बड़े प्रेम से विद्यादान देते थे। आपने जयपुर गुमान-पंथ की स्थापना की थी। अभी भी गुमान-पंथ का जैन मंदिर जयपुर में बना हुआ है। इसी मंदिर में आप का साहित्य भण्डार भी है, जिस में आप के सभी ग्रंथों की स्वहस्तलिखित प्रतिया सुरक्षित हैं। आप की नौ रचनायें इस प्रकार हैं:—१ 'गोम्मटसारजीवकांड टीका,' २ 'गोम्मटसारकर्मकाण्ड टीका,' ३ 'लब्धिसार-क्षपणकसार टीका,' ४ 'त्रिलोकसार टीका,' ५ 'आत्मानुशासन टीका,' ६ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय टीका,' ७ 'अर्थसंदृष्टि अधिकार,' ८ 'रहस्यपूर्णचिट्ठी,' और 'मोक्षमार्गप्रकाशक'। आप का रचना-काल वि. सं. १८११ से १८२४ पर्यंत माना जाता है।

विशेष परिचय के लिये वीर-वाणी-टोडरमलाङ्क वर्ष १। १९-२०-२१ फरवरी १९४८ देखिये।

बुन्देलखण्डी कविवर देवीदास

आप ओरछा स्टेट के दुगौड़ा के निवासी थे। आपकी ज्ञाति गोलालारे और आपका गोत्र कासिल्ल था। आपके पूर्वज भदावर प्रान्त के 'केलगवां' ग्राम से आकर वहां बसे थे। आप जैसे प्राकृत-संस्कृत के विद्वान् थे, वैसे हिन्दी के भी थे। आपकी रचनायें भक्तिरसपूर्ण और आध्यात्मिक हैं। आपको जीवन में बड़े कटु अनुभव और दुःख सहन करने पड़े थे। आपके लघु भ्राता नवला का विवाह निश्चित हो चुका था। दोनों भ्राता विवाह के निमित्त सामग्री का क्रय करने के लिये ललितपुर जा रहे थे। मार्ग में शेर से भेंट हो गई और विवाहार्थी नवल शेर का आहार बन गया। आपका यह पद्य कितना हृदय-द्रावक है:—

बांकरी करमगति जाय न कही, मां बाकरी करमगति जाय न कही।
चिन्तत और बनत कुछ औरहि, होनहार सो होय सही॥

'चतुर्विन्शति जिनपूजा' और 'देवीदासविलास' नामक आप द्वारा रचित दो ग्रन्थ अभी परिचय में आये हैं। जिनपूजा ग्रन्थ का काल कविने स्वयं सं० १८२१ श्रा. शु. १ रविवार दिया है। इनकी कवितायें तत्त्वदर्शी एवं भावपूर्ण हैं।

विशेष परिचय के लिये अनेकान्त वर्ष ११, ७-८ सितम्बर-अक्टूबर १९५२ देखिये।

महाकवि ज्ञानसार

बीकानेर-राज्य के जेगलेवास नामक ग्राम में ओसवालज्ञातीय श्रेष्ठि उदयचंद की धर्म-पत्नी जीवणदेवी की कुक्षी से वि. सं. १८०१ में आप का जन्म हुआ था। वि. सं. १८२१ में श्रीमद् जिनलाभसूरिजी के कर-कमलों से आपने जैन भागवती दीक्षा ग्रहण की थी। आप बड़े ही आध्यात्मिक पुरुष थे। आप का आयुर्वेद का ज्ञान भी बड़ा गंभीर था। आपने अनेक पद, गीत, स्तवन, चौवीसी, वीसी, छत्तीसी, बहोत्तरी, बालावबोध रचे हैं। आपका रचनाकाल वि. सं. १८४९ से १८८५ पर्यंत प्रतीत होता है। आप की रचनाओं में मधुरता, सरलता और अनुभवगत सत्य का प्रवाह है। आपकी रचनाओं पर आनंदघन का प्रभाव है। आप श्वे. हिन्दी कविओं में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप की रचना का उदाहरण देखियेः—

प्रीतम! पतियां कौन पठावे।
वीर विवेक मीत अनुभौ घर, तुम बिन कबहुं न आवै।
घरनो छइयो वरटी चाटै, पेड़ा पड़ोसण खावै।
कबहुं न मुझरो घर घरणीनो, पर घर रैन विहावे।

ए सब संदेशे लिख कागद, अनुभौ हाथ पचावै ।
ज्ञानसार एते पर नावत, तौ कहा रोय बतावै ॥ पृ० ५० ।

× × ×

संतो घर में होत लड़ाई, कौन छुड़ावै आई । सं० ।
घरकी कहै मेरो घर नाहीं, पर कीया कहै मेरौ ।
मेरो-मेरो कर कर मारयो, करयौ जगत को चेरो ॥ सं० । १ ।
सुरनर पंडित देखे सब ही, कौन छुड़ावै आई ।
झगड़ावाला आप ही समझै, बांध छोड़ उनमांहि ॥ सं० । २ ।
मिट गया फेरा, हुया सुरझेरा, आध्यातम पद चीना ।
केवल कमलारस सब संगे, ज्ञानसार पद लीना ॥ सं० । ३ । पृ० ६४,

सरल शब्दों में गूढ़ तत्त्व को रखदेना आप के लिये कितना सरल था । यह उपरोक्त पद्यांशों पर जाना जा सकता है । आप का आगमज्ञान गंभीर था । भाषा के आप बहुत बड़े मर्मदर्शी और तीव्र-आलोचक थे । आध्यात्मज्ञान का आप का स्तर जैन साहित्याकाश में निःसन्देह बहुत ऊपर उठा हुआ था । साहित्याकाश का यह ध्रुवतारा अनन्तकालपर्यंत निबिड़ घोरतमपूर्णा निशा में भवसागर की लहर-लहर पर प्रतिबिंबित रहेगा और मार्ग सुझाता रहेगा । छंद, चौपाई की समालोचना आप की अद्वितीय आलोचनात्मक रचना है । आप के दोहे आदि बड़े टकशाली हैं । आप की प्राप्य रचनायें संकलित की जा कर 'ज्ञानसार ग्रंथावली' नाम से मुद्रित हो चुकी है और शीघ्र ही प्रकाश में आनेवाली है । विशेष अथवा पूर्ण परिचय के लिये पाठक उक्त कृति को देखियेगा ।

कविवर बुधजन

आप जयपुरनिवासी खण्डेलवालवंशीय बजगोत्रीय श्रेष्ठी निहालचंदजी के तृतीय पुत्र थे । आप का रचना-काल वि. सं. १८५९ से १८८९ रहा है । वि. सं. १८५९ में आपने 'बुधजनविलास' की रचना की । रचना-संवत् आपने ग्रंथ में इस प्रकार अंकित किया है—

ठारहसौ पंचास अधिक नव संवत जानो ।
तीज शुक्ल वैशाख ढ़ाल पट्ट शुभ उपजानों ॥

वि. सं. १८७९ में आपने 'बुधजन सतसई' लिख कर समाप्त की तथा वि. सं. १८८९ में 'तत्त्वार्थबोध' नामक आपने तृतीय ग्रंथ लिखा । हिन्दी भाषा की दृष्टि से आपकी रचनायें प्रौढ़ हिन्दी में होती थीं । उदाहरण देखिये—

दुर्जन सज्जन होत नहिं राखो तीरथ वास।
मेलो क्यों न कपूर में हींग न होय सुवास॥
दुष्ट कही सुनि चुप रहो, बोलै ह्वै है हान।
भाटा मारै कीच में, छींटे लागैं आन॥ (बुधजन सतसई)
जरै, मरै, फटै, परै, नव जीरनता बानि।
जरै मरै नहिं जीव ये, दुःखी पराई हानि॥
जो नरभव समकित गहै, ता महिमा सुरलोय।
जो अजान विषयागमन, बूड़ै सागर सोय॥ (तत्त्वार्थबोध)

इनके पद्यों में रहीम और तुलसी की सी सहजता और स्वाभाविकता है।

विशेष परिचय के लिये अनेकान्त वर्ष ११-६ अगस्त १९५२ देखिये।

पं० सदासुखदास डेडका

आप जयपुरनिवासी कासलीवाल दुलीचन्द के पुत्र थे। बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकारों में आप भी विशेषतः विश्रुत थे। आप की अनेक गद्य-हिन्दी टीकायें प्रसिद्ध हैं। १ 'तत्त्वार्थसूत्रवचनिका', २ 'नाटक समयसार', ३ 'अकलंकाष्टकवचनिका', ४ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार', ५ 'मृत्युमहोत्सव', और ६ 'नित्यनियम पूजा' प्रसिद्ध कृतियां एवं टीकायें हैं। आपका रचना-काल वि. सं. १९०६-२१ है। आप दिगम्बर तेरहपंथ-आम्नाय के अनुयायी थे। आप किसी राजकीय संस्था में मासिक वेतन रू० ८ या रू० १० पर कार्य करते थे और इस अल्प आय पर भी आपको पूर्ण संतोष था। आप अपना अवकाश शास्त्र-स्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन एवं टीकादि करने में ही व्यतीत करते थे। आपके एक शिष्य पं० पारसदासजी निगोत्याने अपनी 'ज्ञानसूर्योदयनाटक' की टीका में आपका जो परिचय दिया है, उससे आप की महानता, विद्वत्ता, समान-हितेच्छुकता का पूरा परिचय मिलता है। आप आधुनिक हिन्दी-काल के जैन विद्वानों में अग्रगण्य विद्वान् हुये हैं।

विशेष परिचय के लिये श्री कामताप्रसादरचित 'हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास' और अनेकान्त वर्ष १०। ७-८ जनवरी-फरवरी १९५० देखिये।

योगीराज चिदानन्दजी

यद्यपि आपको स्वर्गवासी हुये लगभग १०० वर्ष ही हुये हैं; परन्तु दुःख है इस संत-वाणी के धनी योगीराज के व्यक्तिगत जीवन, कुल शिष्य-संतति के सबंध में अभी कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। आपकी रचनाओं में एक स्थल पर वि. सं. १९०५ उल्लिखित

मिलता है-इस पर ही आपका समय २० वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भी प्रारंभिक वर्षों का माना जा सकता है। बीकानेर के एक स्वर्गवासी श्रीपूज्य से इतना अवश्य ज्ञात हो सका है कि आप खरतरगच्छीय थे। चिदानन्द इनका आध्यात्मिक साधना के समय पर धारण किया हुआ उपनाम है। तपागच्छीय मुनि कर्पूरविजयने आपकी समस्त प्राप्त कृतियों का संग्रह 'चिदानन्द सर्वसंग्रह' नाम से प्रकाशित किया है। आपके पदों में माधुर्य्य, कान्त पदावली और प्रसादगुणसंयुक्त एक अविरल धारा बहती है। प्रकाशित 'चिदानंद सर्वसंग्रह' में 'स्वरोदय', 'पुद्गलगीता', 'बावनी', 'दयाछत्तीसी', 'प्रश्नोत्तररत्नमाला', 'पद बहत्तरी', और 'आध्यात्मबावनी' रचनायें हैं। आप आधुनिक हिन्दी-काल के जैन कवियों में आध्यात्मिक रचनाओं की दृष्टि से ऊंचा स्थान रखते हैं। आपकी रचनाओं का उदाहरण देखियेः—

(राग-मल्हार)

ध्यानघटाघन छाये,

सु देखो भाइ ! ध्यानघटाघन छाये, ए आंकणी.

दम दामिनी दमकति दहुदिस अति, अनहद गरज सुनाये। सु०। १।
मोटी मोटी बुंद गिरत वसुधा शुचि, प्रेम परस जर लाये०। सु०। २।
चिदानन्द चातक अति तलसत, शुद्ध सुधाजल पाये। सु०। ३।

श्री चिदानंदजीकृत 'सर्वसंग्रह' पृ० ७३

विशेष परिचय के लिये देखिये 'सर्वसंग्रह' और वीरवाणी वर्ष २-११ सन् १९४८.

कविवर ज्ञानानंद

लगभग ७० वर्ष पूर्व आप के 'संयमतरंग' और 'ज्ञानविलास' दो पद-संग्रह 'यशविलास और विनयविलास' के पद-संग्रहों के साथ २ निकले थे। उसकी द्वितीयावृत्ति में (सं० १९७८) भीमसी माणेकने "ज्ञानविलास पं० ज्ञानसारकृत है" शब्दों द्वारा ज्ञानानंदजी को ही ज्ञानसार मान लिया था। और प्रेमीजी आदिने उसीके आधार से इन पदों के रचयिता के रूप में ज्ञानसारजी का परिचय दिया था; पर वास्तव में ये ज्ञानसार ही भिन्न थे। आप के पदों के अंत तथा मध्य चारित्रनंदी व ज्ञानानंद नाम प्रयुक्त हैं। खोज करने पर खरतरगच्छ के जिनराजसूरि (द्वितीय) की शाखा के चरित्रनंदि के कई ग्रंथ प्राप्त हुये हैं। बनारस में इनका उपाश्रय था। ज्ञानानंद उन्हीं के शिष्य थे। चारित्रनंदि की रचना सं० १८८९ सं० १९०३ तक की प्राप्त है। अतः ज्ञानानंदजी का समय भी इसी के आसपास है। आप के रचित कुछ पदों के संग्रह की प्रति संवत् १९१४ में लिखित प्राप्त होने से यह समय ही आप का मान्य है। देखो, जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ४, अं. १२.

कविवर प्रमोदरुचिजी

आप का जन्म भिंडर (मेवाड़) में वि. सं. १८९६ के कार्तिक सु० ५ के दिन ब्राह्मणज्ञातीय शिवदत्तजी की धर्मपत्नी मेनाबाई से हुआ था। सं. १९१३ में भिंडर में ही अमररुचि नामके यतिजी के पास यतिदीक्षा ली। पश्चात् वि. सं. १९२५ के आ. व. १० के दिन जावरा में श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरिजी म. के पास क्रियोद्धार कर दीक्षोपसंपत् ग्रहण की।

वि. सं. १९३८ के आ. कृ. चतुर्दशी के दिन बांगरोद में आप का स्वर्गवास हुआ।

आप सुयोग्य कवि थे। आपने समय-समय पर विविध रचनाऐं की हैं, जो प्रायः सब 'प्रभु स्तवन सुधाकर' के द्वितीय भाग में मुद्रित हो चुकी हैं।

आप की रचना का उदाहरण देखियेः—

उपशम रस जल रंग बनाऊं, ज्ञान गुलाल अणाऊं।
पंचमहाव्रत मित्र बुलाऊं, नव कोटी वाड़ी जुड़ाऊं॥
दया पकवान मंगाऊं॥ पृ. ४६२

उपशमरस जल अंग पखाले, संयम वस्त्र धराया रे।
ध्यान शुक्ल मन ध्याया रे॥ पृ. ४७४

उपशम कुंकुम अक्षत सरधा, मुक्ति फल लही बाला रे।
रुचिप्रमोद वधावे गावे, पावे मंगलमाला रे॥ पृ. ४८९

सोहन सिंगार सजि अति सुन्दर, हाथ गही ममता की थारी॥
भाव विशाल सगुण मुक्ताफल, लेइ चली गुरुवंदन प्यारी॥
शील झांझर झंकार हुओ जब, भाग गई कुशोक धुतारी॥
'सूरिराजेन्द्र' के पांव पडी तब, दूर भई दुरगति की वारी॥ पृ. ४७८

एक बात को कई भांति से वर्णित करने की इनकी सरल सरस भाषा एवं पदों में रही भावभरी स्वाभाविकता इनके धर्मरस भीगे मानस का स्पष्ट परिचय कराती है।

उपसंहार

जैन हिन्दी-साहित्य की विविधता के साथ उसकी दी गई विशेषतायें भी कम प्रकाशनीय नही हैं। एक बात जो पहिले कहनी है वह यही है कि जो प्राकृत में कहा गया था, अथवा लिखा गया था, वह ही अपभ्रंश में, वह ही संस्कृत में अवतरित हुआ और वह ही आधुनिक उपर वर्णित लोक भाषाओं में। जैन विद्वान् आगम से बाहर पैर नहीं रखता, इस लिये नही कि उसका यह ही स्वभाव हो गया है अथवा अपने आगम का

वह पक्ष करता है, लेकिन उसके आगम में अनुभवगत सत्य है और उसका कर्तव्य है कि जिस-जिस युग में जो-जो भाषा जन-साधारण अथवा साहित्य की बनती जाय वह उस-उस भाषा में अपने पुनीत सिद्धान्तों को, संदेश और विचारों को उद्धरित करता रहे, पुस्तकारूढ़ करता रहे और उनका प्रचार करता रहे। हिन्दी जैन साहित्य का अनुशीलन ही हमारे उक्त कथन की प्रामाणिकता एक मात्र करा सकता है। ऊपर निबंध में हिन्दी जैन ग्रंथों की जो नामावली अथवा विशेष परिचय में उनके कर्ता के साथ जो उनका नामोल्लेख हुआ है, ग्रंथ-नाम से ही उनका आगम-अनुसारी होना प्रतीत होता है।

जैन साहित्य, हिन्दी अथवा किसी भी भाषा में हो, कभी आक्रमणकारी को उत्साह नहीं देता, शृंगारप्रिय लोगों की कामवासनाओं को उत्तेजित नहीं करता, एक जीव को दूसरे जीव से डराने का पाठ नहीं सिखाता, प्राणी को प्राणी के प्रति घृणा और जुगुप्सा की ओर आकृष्ट नहीं करता, धनसंचय और वैभव-रक्षा को अभिप्रेत नहीं बताता, हिंसक प्रवृत्तियों को नहीं उभारता। यह सिखाता है प्राणी-प्राणी में प्रेम करना, त्याग-भावना रखना, वैभव और ऐश से दूर रहना, अपरिग्रही बनना, अहिंसा का सर्व स्थितियों में प्राण-प्रण से पालन करना। संक्षेप में कह दें वह आत्म-प्रतीति सिखाता है, आत्मदर्शन का मार्ग बताता है, पुरुष को पुरुषार्थ सिखाता है, पुरुष स्वयं को अपने भाग्य का निर्माता बताता है। वह ईश्वर पर पुरुष को आश्रित नहीं होने देता। वह कहता है-जैसा करोगे वैसा भरोगे। आत्मा अनन्त वीर्यशाली है, अनंत ज्ञानी है, उसको समझो और अपने कर्मों की निर्झरा करो। आत्मा परमात्मा बन सकती है। सर्व जीवों में आत्मा समान है। प्राणी मात्र पर दया करो। वनस्पति तक में और पृथ्वी, वायु, अप्, तेज में भी जीवात्मा है। व्यर्थ किसी को नहीं सताओ। तुम सब से किसी-न-किसी अपेक्षा से संबंधित हो। यह है जैन स्याद्वाद, अनेकान्तमत, जिस पर जैन धर्म और उसके साहित्य की नींव गहरी लगी हुई है।

जैन धर्म की शिक्षायें शान्ति की पोषक हैं, शान्ति की ही स्थापना करनेवाली हैं, शान्ति का पाठ पढ़ानेवाली हैं। वह हिंसक-क्रान्ति और संहार का विरोध करनेवाला है; अतः हिन्दी जैन साहित्य जो इतना सरस है, उसकी सरसता का, उसकी उपादेयता का, उसकी लोकहितकारिणी स्थिति का एक मात्र कारण है कि वहाँ उसमें शान्त-रस की ही सदा बहने-वाली गंगा प्रवाहित रहती है। अस्थिर मनोवेगों, अनुमान और चंचल कल्पनाओं पर पल-पल में बदलनेवाले अस्थिर रसों का वहाँ प्रभाव ही नहीं जमता और वह नहीं-सा ही मिलेगा।

उपरोक्त कथन से यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिए कि जैन हिन्दी साहित्य में एक शान्त-रस का ही भाव है और अन्य रसों का अभाव। जैन हिन्दी-विद्वानों ने जो कथा,

रास, वार्त्ता, आख्यायिकाएं, नाटक, चंपू आदि लिखे हैं, वे जैनक्षेत्र अथवा जैनवृत्त से ही संबंधित हैं यह बात नहीं है। जैनेतर क्षेत्र और जैनेतर वृत्तों से भी बहुत कुछ लेने का स्वभाव अथवा पद्धति जैन विद्वानों में रही है और है। उन्होंने जैनेतर अथवा जैनपात्र का वृत्त, इतिहास एवं उसकी कथा-वार्त्ता लिखने में उन सभी रसों का उपयोग किया है, जिन-जिन रसों में हो कर वह नायक निकला अथवा बढ़ा है। यह बात अवश्य है कि जैन विद्वानों ने हर ऐसी कथा-वार्त्ताओं को बल देकर नैतिकता की दिशा में पहुंचाया हैं। उन्हें आदर्श-जीवन बनानेवाली, प्रेरणा देनेवाली एवं शिक्षाप्रद बनाया हैं। यही कारण है कि एक भी ऐसा ढूंढ कर उदाहरण नहीं दिया जा सकता कि जैन-क्षेत्र में उत्पन्न हुआ, पला हुआ कोई भी व्यक्ति ऐसा हो कि जिसने संहार को निमंत्रित किया हो, अपनी ओर से पर को दलित करने के लिये आप चला हो। पुराण-काल की बात जाने दीजिये। इतिहास-काल से तो हम सब भलीविध परिचित ही हैं। ये हैं जैन वाङ्मय की विशेषतायें। अगर इन विशेषताओं के धारक हिन्दी जैन वाङ्मय का भलीविध प्रचार किया जाय तो विश्वास है इस विषम स्थिति को बदलने में बहुत-कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है।

जैन और जैनेतर हिन्दी विद्वानों से हमारा सानुरोध आग्रह है कि वे सर्वप्रकार सम्पन्न, समृद्ध एवं एक मात्र लोकहितकारी जैन हिन्दी साहित्य का भी अनुशीलन करें, उसके ग्रंथों को प्रकाश में लावें, उन्हें हिन्दी-साहित्य के इतिहास में योग्य स्थान दें। इत्यलम्।

जैनधर्म की हिन्दी को देन

राहुल सांकृत्यायन

व्यक्तियों की तरह उनका धर्म भी देश-काल से प्रभावित होता है, पर कुछ धर्म ऐसे प्रभाव या उसके उपयोग को मानने से इन्कार करते हैं, और कुछ उसका स्वागत करते हैं। भारत में ब्राह्मण-धर्म इसे मानने से इन्कार करके अपने धर्मग्रन्थों और धार्मिक क्रिया-कलापों को संस्कृत के साथ बहुत पहले ही नत्थी कर चुका था। बुद्ध के समय उनके सूक्तों (सुत्तों) को लोग अपनी-अपनी भाषा में दोहराते थे। बौद्ध पिटक और जैन पिटक अपने संस्थापकों के शताब्दियों बाद तक कण्ठस्थ चले आये और ब्राह्मणों के वेदों की तरह लोग गुरुमुख से श्रुतपथ द्वारा सुनकर उन्हें याद करते थे। बुद्ध के जीवन ही में कुछ शिष्योंने राय दी थी कि भाषा की विषमता को हटाने के लिये बुद्ध-वचनों को छन्द (वेद) की भाषा में कर दिया जाये। बुद्धने इसका निषेध किया, और कहा कि अपनी-अपनी भाषा (सकाय निरुत्तियाँ) में लोग मेरे वचनों को पढ़ें। उनका जोर भाषा पर उतना नहीं था, जितना अर्थ पर। यह भी कह सकते हैं कि जिस भाषा द्वारा समझने में लोगों को सुगमता हो उसी भाषा का प्रयोग करना चाहिये। भाषा वही सुगम हो सकती है जिसे जनता बोलती है। लेकिन, जन-प्रवाह की तरह भाषा का प्रवाह भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। बुद्ध से कुछ शताब्दियां पहले छन्दमयी वैदिक संस्कृत भाषा बोली जाती थी, फिर बुद्ध के कुछ पहले से वे भाषायें आर्य भारत में प्रचलित हुईं, जिनको हम सामूहिक रूप से पालि कह सकते हैं; यद्यपि मूलतः पालि बुद्ध के मुख से निकली हुई पंक्तियों को ही कहा जाता था। बुद्ध-निर्वाण (४८३ ई० पू०) के पांच शताब्दियों बाद पालियों का स्थान अनेक भाषाओंने लिया, जिन्हें प्राकृत कहते हैं। ये भी पांच शताब्दियों के शनैः-शनैः परिवर्तन के बाद इतनी बदल गई कि उनका स्थान उनकी पुत्री अपभ्रंशोंने लिया, जो अपने व्याकरण में छन्द या संस्कृत, पालि और प्राकृत के नजदीक नहीं हैं, बल्कि आज की उत्तरी भाषाओं से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रखती हैं। यद्यपि जहां तक उच्चारण का सम्बन्ध है, उन्होंने पूर्णतः प्राकृत का अनुसरण किया। अपभ्रंश प्रायः सभी अ-द्राविड़ भारती भाषाओं की जननी हैं।

बुद्ध अपने वचनों को छन्द की भाषा में अनुवादित (न) करके केवल अपने समय की भिन्न-भिन्न जनपदों की पालियों का समर्थन ही नहीं करना चाहते थे, बल्कि उन्होंने स्वकीय

निरुक्ति (भाषा) से समय-समय पर उपस्थित होनेवाली जनता की सभी भाषाओं का पक्ष लिआ था। लेकिन उसका अक्षरशः पालन कठिन था, क्योंकि धर्म प्राचीनता से विमुख नहीं होते-इतिहास, भाषातत्व, मानवतत्व के लिये यह अधिक लाभदायक भी है। बौद्धोंने चार शताब्दियों से कुछ ऊपर बुद्ध-वचनों को मौखिक रखकर ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में सिंहल में लेखबद्ध किया। लेखबद्ध होने के बाद भाषा में परिवर्तन की उतनी ही संभावना रह जाती है, जितनी कि पुरानी पोथियों को देखकर नई पोथियों के उतारनेवाले लिपिकर या संशोधक कर सकते हैं। आज का पालि-त्रिपटक ऐसे ही थोड़े संशोधनों के साथ वही है, जिसे कि सिंहलराज वगमबाहु के समय तालपत्र पर उतारा गया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि पुस्तकों या सूक्तों की संख्या बीच में घटाई-बढ़ाई नही गई। गोस्वामी तुलसीदास को दिवंगत हुये अभी तीन शताब्दियां भी नहीं हुई हैं, लेकिन उनके रामायण में कितने क्षेपक हो गये, यह हम स्वयं देख रहे हैं। पिटकों में भी इस तरह के बहुत से क्षेपक हुए हैं। जिस पालि त्रिपिटक को सिंहल में लेखबद्ध किया गया, वह स्थविरवादियों का था। उनके अतिरिक्त १७ और पुराने निकाय (सम्प्रदाय) थे। जिन के भी अपने-अपने त्रिपिटक थे। उनमें सर्वास्तिवाद को छोड़ कर दूसरों के बहुत थोड़े से ही ग्रंथ चीनी अनुवाद के रूप में आज प्राप्य हैं। ये भिन्न-भिन्न प्राकृतों में थे, और सर्वास्तिवाद तथा उसके बाद आनेवाले महायान के ग्रंथ एक प्रकार की नई संस्कृति में थे, जिन्हें गाथा संस्कृत कहा जाता है, और जो अपने व्याकरण में संस्कृत, प्राकृत और उभय-विमुख कितने ही व्याकरण के नियमों से न्यून-विन्यून बंधे हुए हैं। इस प्रकार बौद्ध ग्रंथ अपने काल की निरुक्तियों में बंध कर आगे आनेवाली जनता के लिये दुरूह हो गये।

तो भी स्वकीय निरुक्ति के महत्व को बौद्धों ने कभी भुलाया नहीं। इसीलिये बौद्धधर्म जिन-जिन देशों में भी फैला, वहां वे देश की भाषा में अनुवादित किये गये, और इन अनुवादों के पाठ का भी उतना ही पुण्य माना गया जितना कि मूल का। यदि यह न माना गया होता तो तिब्बती, चीनी, मंगोल आदि भाषाओं में आज उपलब्ध हमारे ग्रंथों की विशाल अनुवाद-राशिका लाभ न होता। तो भी जहां तक भारतवर्ष का सम्बन्ध था, यह प्रयत्न उतना नही किया गया कि बुद्ध-वचन को समय-समय पर उपस्थित होनेवाली सभी जन-भाषाओं में कर दिया जाये। कुछ ग्रंथों का अनुवाद अवश्य किया गया होगा; किन्तु भाषा-परिवर्तन के साथ उनकी उपयोगिता न रहने के कारण वे अपनी देह में ही जरा को प्राप्त हो समाप्त हो गये। भारत में तो बौद्धधर्म के उच्छिन्न हो जाने से ऐसे बचे-खुचे ग्रंथों के मिलने की आशा ही नहीं, किन्तु सिंहल या दूसरे बराबर से बौद्ध रहते आये देशों में भी उन पुराने

ग्रंथों का एक भी नमूना नहीं मिलता। त्रिपिटक पर सिंहल भाषा में कितनी ही अट्ठ कथायें (भाष्य) लिखी गई थीं, जिनके नामों का उल्लेख मिलता है, पर उनका एक भी पृष्ठ नहीं मिला है। बौद्धोंने वस्तुतः प्राकृत से बहुत काम नहीं लिया, नहीं तो उनके कुछ प्राकृत काव्य तो अवश्य मिलते। हां, अपभ्रंश-युग (६००-१२०० ई०) में सिद्धोंने भारतीय बौद्ध-जगत् का ध्यान अपनी ओर बहुत जोर से आकृष्ट किया। बहुत सी बातों में क्रान्तिकारी ये लोग भाषा की रूढियों को मानने के लिये तैयार नहीं थे। इन्होंने अपनी वाणियों को अपभ्रंश के दोहों, चौपाइयों और दूसरे छन्दों में लिखा। आदि-सिद्ध सरहपा आठवीं सदी के मध्य में विद्यमान थे, जिन्हें द्वितीय बुद्ध की भाँति सम्मानित किया जाता था, और तिब्बत में आज भी माना जाता है। सिद्धों के प्रयत्न से अपभ्रंश में बहुत बड़ा साहित्य तैयार हो गया, जो प्रायः सभी पद्यमय था। अब भी छोटे-मोटे सौसे अधिक अपभ्रंश के ये ग्रंथ तिब्बती भाषा के अनुवाद के रूप में मिलते हैं, परन्तु मूल रूप में सरहपा के 'दोहाकोश-चर्यागीति', कण्हपा का 'दोहाकोश', तिल्लोपा का 'दोहाकोश' और कुछ थोड़े से गीतों के अतिरिक्त और नहीं मिलता। भारत बौद्धों से सात शताब्दी पहले ही पिण्ड छुड़ा चुका था; इस लिये यहां उनके ग्रंथों के मिलने की संभावना नहीं। इसके अपवाद जैन-भण्डार रहे हैं, जिन्हों ने अपभ्रंश के तो नहीं, किन्तु संस्कृत के कितने ही अनमोल बौद्ध-ग्रंथों की रक्षा की। तिब्बत में ले जा कर इन ग्रंथों के अनुवाद ११ वीं-१२ वीं-१३- वीं शताब्दियों में हुये थे। जिन तालपत्रों से अनुवाद किया गया, उनकी सैंकड़ों मूल प्रतियां वहां के विहारों में इन पंक्तियों के लेखक को देखने में आईं। अभी भी आशा है कि अनुसन्धान करने पर बहुत से तालपत्र प्राप्त होंगे। सम्भव है, उन में सिद्धों के अपभ्रंश के ग्रंथ भी मिल जाये।

बौद्ध-धर्म के उत्थानके समय ब्राह्मणों के स्थिरतावादी धर्म के विरुद्ध और भी कई विचारक पैदा हुये। ये सभी जनहित के समर्थक तथा जनता को उसकी भाषा द्वारा अपने मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करते थे, इस लिये सभी जन-निरुक्तिके पृष्ठपोषक थे। इन महान् पुरुषो में बुद्ध और महावीर दोही के अनुयायी आज बच रहे हैं, जिन में बौद्ध प्रायः सभी भारत से बाहर हैं, और जैन सभी भारत के भीतर। जैन धर्म के प्रवर्तक श्रमण महावीर श्रमण गौतम (बुद्ध) की तरह ही जन-कल्याण के लिये आज के हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र में विचरते, अपने उपदेशों द्वारा लोगों का पथ-प्रदर्शन करते थे। बुद्ध-वचनों की तरह महावीर के वचनो को भी लोग उस समय अपनी भाषा में कंठस्थ करते थे। पालि त्रिपिटक जहां बुद्ध-निर्वाण के प्रायः साढ़े चार शताब्दियों बाद लेखबद्ध कर लिया गया, वहां जैन

आगमों को लिपिबद्ध करने में और भी पांच शताब्दियों की देर लगी। पालि पिटक जिस समय लिपिबद्ध किया गया, उस समय पालियों का युग अभी भी था, यद्यपि वह बहुत जल्दी ही समाप्त होनेवाला था। लेकिन जैन आगम जिस समय लिपि-बद्ध किये गये, उस समय पालियों का युग ही समाप्त नहीं हो चुका था; बल्कि प्राकृतका युग भी समाप्त ही होनेवाला था। यदि पालियों के युग में जैन-आगम लिपिबद्ध हुये होते, तो उसकी भाषा वही होती। कंठस्थ होने का मतलब यह नहीं है कि हर पीढ़ी अपनी इच्छानुसार भाषा में हर तरह के परिवर्तन करने के लिये स्वतंत्र थी, यद्यपि अनजाने भी ऐसा होने की सम्भावना तो थी ही। इस लिये हम यह नहीं कहते कि जैन-आगम की भाषा वही प्राकृत थी, जो उसके वलभी में लिपिबद्ध होने के समय शिष्ट मानी जाती थी।

यह बात उस भाषा के बारे में हुई जो कि "जिनों के मुख" की पवित्र भाषा होने के विचार से कुछ स्थायित्व रखनी थी। इस के अतिरिक्त दोनों ही श्रमणमार्गी धर्म जन-निरुक्तियों का बराबर उपयोग लेते और उन में साहित्य-सृजन करते थे। इस बातमें जैन बौद्धों से भी दो कदम आगे थे। प्राकृत-काल में भारत में जिस महायान बौद्ध-धर्म की प्रधानता स्थापित हो गई, वह गाथा-संस्कृत और शुद्ध संस्कृत का पक्षपाती था; लेकिन, जैन प्राकृत के समर्थक थे। इस समय के उनके कितने ही सुन्दर प्राकृत-काव्य इसका साक्षी देते हैं। प्राकृत-काल से लेकर अब तक जैन-धर्म में यह परम्परा बड़ी दृढ़ता के साथ जारी है। वे देश और काल के अनुसार उपस्थित हुई तत्कालीन भाषा के माध्यम को खुले दिल से स्वीकार करते हैं। यदि जैन-धर्मने रक्षा न की होती तो प्राकृत के आधे दर्जन से अधिक ग्रंथ हमारे पास न रहते, और हमारा प्राकृत-साहित्य आज की तरह समृद्ध न होता। यदि बौद्धों की तरह जैन-धर्म भी भारत से विलुप्त हो गया होता तो हमारे विद्वान् यह भी मानने के लिये तैयार न होते कि प्राकृत के बाद से लेकर मुसलमानों के आने (६००-१२०० ई.) तक हमारे यहां अपभ्रंश जैसी एक समृद्ध भाषा रही। आज अपभ्रंशने अपने अस्तित्व का लोहा तो मनवा लिया है, लेकिन उसकी प्रकृति समझने में अभी कितने ही मुह्यंति सूरयः (विद्वान् भी ढिलमिल यकीन हैं) लगेंगे। अपभ्रंश के स्वयम्भू, पुष्पदन्त, कनकामर आदि दर्जनों कवियों, महाकवियों को दे कर जो काम जैन-धर्मने किया है, केवल वही इतना मूल्य रखता है कि जिस के लिये हम सदा उसके कृतज्ञ रहेंगे।

अपभ्रंशके विषय में अभी भी जैन-भण्डारों से बहुत सम्भावना है। विशेषकर उसके गद्य-साहित्य के खोज निकालने की बड़ी आवश्यकता है। यह निश्चित ही है कि ज्ञानपंचमी कथा जैसी कितनी ही पुस्तकें भक्तों के लिये तत्कालीन भाषा में अवश्य लिखी गई होंगी।

यद्यपि पीछे उपयोग न रहने से उनकी सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया जा सकता था, पर तो भी भूल-भटक कर भण्डारों में ऐसी पुस्तकों के बच रहने की सम्भावना है, और एकादि का पता भी लगा है।

आधुनिक भाषायें—अपनी-अपनी मातृभाषाओं में धर्म-ग्रंथों के पढ़ने की परिपाटी ब्राह्मणों के अत्यन्त रूढ़िवादी धर्म के विरोध के प्रस्तुत रहने पर भी चलती रही। तभी तो रामायण और महाभारत के नाना संस्करण भारत की आज की सभी भाषाओं में खूब प्रचलित हैं, और काव्य की दृष्टि से बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं। जन-भाषा-समर्थक भारतीय धर्मों में एक मात्र अवशिष्ट जैन-धर्म की इस ओर प्रवृत्ति बिलकुल स्वाभाविक ही है। पर यह काम वह उसी भाषा में कर सकता था जो कि किसी प्रदेश के जैनों की मातृभाषा हो। भारत में जैनों की मातृभाषा के रूप में दक्षिण की कन्नड़ और तमिळ भाषायें हैं, और बाकी भारत में मराठी, गुजराती, राजस्थानी, ग्वालियरी (बुंदेली या ब्रज), कौरवी (हिन्दी) और पंजाबी। जैन वैसे सारे भारत में मिलते है, किन्तु उनके मूल स्थान उक्त भाषाओंवाले ही प्रदेश हैं। इन प्रदेशों में उनके अपने मन्दिर और उपाश्रय हैं। सौभाग्य से जैन ऐसे वर्ग हैं, जिन में शिक्षा का होना आवश्यक है। इस के कारण मन्दिरों और उपाश्रयों में पुस्तकों का संग्रह होना भी आवश्यक था। हमारे नगरों और कस्बों को अनेक बार युद्धों और उपद्रवों में आग और तलवार को देखना पड़ा, जिस के कारण जैन धर्मस्थानों में संगृहीत बहुत सी पुस्तकों का नाश हुआ, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। तो भी उक्त भाषाभाषी क्षेत्रों में हजारों मन्दिर हैं। और एक-एक मन्दिर में सैकड़ों पुस्तकें सुरक्षित हैं, जिन में पर्याप्त हस्तलिखित हैं। जैसलमेर, पाटन के भण्डारोंने अपनी अनमोल निधियों को जब सामने रक्खा तो हमारी आंखें चौंधिया गईं। पर यह याद रखना चाहिये कि साधारण मन्दिरों में, तालपत्र नहीं कागज पर, कितनी ही महार्घ पुस्तकें मिल सकती हैं।

आधुनिक भाषाओं की बड़ी सेवा जैन-धर्म ने की है, उसके महत्त्व को सभी मानते हैं। कन्नड़ भाषा के आरम्भिक तीन शताब्दियों के महान् कवि और साहित्यकार एक मात्र जैन थे, यद्यपि आज कर्नाटक में उनकी संख्या दाल में नमक के बराबर है। तामिल साहित्य की भी उनकी सेवायें अविस्मरणीय हैं। गुजराती-साहित्य और भाषा के सब से प्राचीन रूप हमें नहीं मिल सकते थे, यदि जैनोंने अपनी कृतियों में उसे सुरक्षित न रक्खा होता। राजस्थानी के साहित्य को तुलसी और कबीर के काल से भी पीछे ले जाना और उसे अपभ्रंश के काल से मिला देना जैन मनीषियों का ही काम है। ग्वालेरी (ब्रज-बुंदेली) तथा कौरवी के सम्बन्ध में अभी जैन पुस्तक भण्डारों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। ग्वालेरी के कुछ

थोड़े से पद सूरदास से पहले मिलते हैं। कौरवी–जो कि हमारी साहित्यिक हिन्दी की जन-भाषा है–के क्षेत्र के प्रत्येक कस्बे और शहर में जैन भद्र–परिवार रहते, और सदा से रहते आये हैं। सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलन्दशहर, रोहतक, हिसार, कर्नाल, अम्बाला आदि जिलों में मूलवासी जैन परिवार विद्यमान हैं। मुस्लिम–काल के असहिष्णु वातावरण में भी इन्होंने धर्म के साथ–साथ अपने साहित्य की रक्षा की। यहां के मन्दिरों के पुस्तकालयों से हिन्दी को बड़ी आशा है।

कवि बनारसीदास और दूसरे कितने ही जैन कवियों की कृतियां मिल चुकी हैं, जिनसे हमें यह पता है कि जैनों की देन हिन्दी के लिये नगण्य नहीं है। पर, अभी उनकी देनों का पूरा पता लगाना बाकी है। हिन्दी (कौरवी) का सब से प्राचीन गद्य हैदराबाद दक्षिण वजहीका लिखा 'सबरस' है, जो कि उसी समय लिखा गया, जब कि तुलसीदासने "राम-चरित मानस" को लिखा। १७ वीं सदी से पहले का कोई हिन्दी गद्य नहीं मिलता। पद्य भी हिन्दी (कौरवी) में पहलेपहल दक्षिण में ही लिखा मिलता है। अपभ्रंश–काल के बाद १३ वीं सदी से १६ वीं सदी के अन्त तक के चार सौ बर्षों में कौरवी-क्षेत्र की जैन प्रतिभाओंने अवश्य गद्य–पद्य के रूप में अपनी भाषा में लिखा होगा। सभी लिखी चीजों के सुरक्षित हमारे पास तक पहुंचने की सम्भावना तो नहीं है, पर कुरुभूमि के जैन मन्दिरों में उनमें से अब भी कितने ही हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

श्री अगरचन्द नाहटाने राजस्थान के भण्डारों की जिस तरह लगन से छान–बीन की है, और जिसके फलस्वरूप सैकड़ों नहीं, हजारों की तादाद में राजस्थानी (और ग्वालेरी के भी) महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मिले हैं, उससे आशा होती है कि यदि कुरुभूमि के जैन–मन्दिरों की धूलि सिर पर लगाने के लिये कोई नाहटा तैयार हो जाये, तो वह हिन्दी की अनेक प्राचीन-तम कृतियों का आविष्कार कर सकता है। इस भूमि के अनेक कुलपुत्र और कुलपुत्रियां साधु–साध्वियों के रूप में बराबर एक दूसरी जगह चारिका करते रहते है। यदि वे इस काम को अपने हाथ में लें तो बहुत कुछ कर सकते हैं।
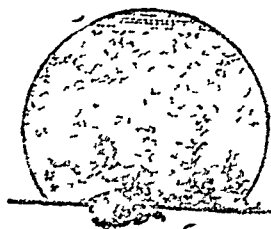
जैन विद्वानों की हिन्दीसेवा

श्री कस्तूरचंद कासलीवाल M. A शास्त्री, जयपुर.

हिन्दी साहित्य के इतिहास को पढने के पश्चात् 'जैन विद्वानों की हिन्दीसेवा' यह प्रश्न अनोखा सा मालूम पड़ता है; क्यों कि पूरे ७७५ पृष्ठ के इतिहास में केवल अपभ्रंश काल में आचार्य हेमचन्द्र, सोमप्रभसूरि तथा मेरुतुंग तथा शेष पुस्तक में बनारसीदास, दौलतराम तथा छीहल आदि ५-७ विद्वानों के नामोल्लेख के अतिरिक्त जैन विद्वानों की हिन्दी रचनाओं पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। इसके पढ़ने के पश्चात् हमें ऐसा मालूम होता है कि मानों जैन विद्वान् हिन्दी साहित्य से हमेशा विमुख रहे हों; क्यों कि हिन्दी के इतने विशाल साहित्य में जैन विद्वानों की रचनाओं का कहीं नामोल्लेख नहीं मिलता। किसी भी पाठ्यपुस्तक में जैन विद्वानों द्वारा रचे हुए साहित्य का कोई अंश संकलित नहीं किया जाता। ऐसी दशा में 'जैन विद्वानों की हिन्दी सेवा' यह वार्ता कुछ बेतुकी सी जान पडती है। किन्तु हमारे विचार से हिन्दी साहित्य की जितनी सेवा जैन विद्वानोंने की है यदि उसका मूल्यांकन किया जावे तो वह सेवा इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों में लिखने योग्य है। विक्रम की ७-८ वीं शताब्दी से ले कर २० वीं शताब्दी तक जैन विद्वानों ने हिन्दी भाषा की अपरिमित सेवा की है। इस साहित्यसेवा के लिये कितने ही विद्वानोंने अपने जीवन की बाजी लगादी। जैनों ने हिन्दी में उस काल में रचनायें करना प्रारम्भ कर दिया था जब कि हिन्दी में लिखना विद्वत्ता से दूर हटना था तथा संस्कृत के विद्वानों ने उसे देशी भाषा का नाम दे दिया था। किन्तु भाषा-व्यवहार के सम्बन्ध में जैन विद्वानों का दृष्टिकोण सदा ही असाम्प्रदायिक रहा है अर्थात् युगानुसार और जनता की मांग के अनुसार नवीन भाषा में रचना करना अथवा संस्कृत, प्राकृत आदि भाषा के ग्रंथों को हिन्दी भाषा में अनूदित करना उनकी अपनी विशेषता रही है। इस युगानुगामी साहित्य सेवा से हमें यह लाभ हुआ है कि आज भारत की सभी प्रमुख भाषाओं जैसे—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी, तामिल, तेलगू, कन्नड आदि में अपार जैन साहित्य मिलता है। स्वयं भगवान् महावीरने अपनी देशना अर्द्धमागधी भाषा में दी थी जो उस समय की जन-साधारण की भाषा थी। यही क्रम उनके निर्वाण होने के पश्चात् भी रहा और जब ७-८ वीं शताब्दी में जनता संस्कृत और प्राकृत रचनाओं से ऊब चुकी तो जैन विद्वानों ने संस्कृत और प्राकृत का पल्ला छोड़ कर अपभ्रंश भाषा

को अपनाया और उसमें रचनाएं लिखना प्रारम्भ कर दिया। महाकवि स्वयम्भू ने इसी भाषा में पउमचरिय (पद्मपुराण) की रचना की जिसे आज हिन्दी के प्रमुख विद्वानों— महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने हिन्दी भाषा का प्रथम महाकाव्य मान लिया हैं। इस प्रकार जैन विद्वानों द्वारा रखी हुई नींव इतनी मजबूत थी कि आज उसी भाषा को स्वतंत्र भारत में राष्ट्रभाषा होने का सौभाग्य मिला है। स्वयम्भू, घनपाल, पुष्परत्न, घवल, वीर, नयनन्दि आदि महाकवियों की रचनाएं प्राचीन हिन्दी की चमकती हुयी रचनाएं हैं जिनकी किसी भी साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं से तुलना की जा सकती है। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् डा. हजारीप्रसाद द्विवेदीने जैन साहित्य के सम्बन्ध में उद्गार प्रकट किये हैं वे वास्तविकता को लिये हुये हैं तथा उनका एक भाग पाठकों के समक्ष उद्धृत किया जाता है—

"इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय की मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और घनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटी से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का 'रामचरितमानस' भी साहित्य में विवेच्य हो जावेगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य की सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है। कभी कभी ये कहानियां पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ घुला दी जाती हैं। यह तो न जैनों की निजी विशेषता है न सूफियों की।" श्री राहुल सांकृत्यायनने भी लिखा है कि स्वयम्भू की रामायण हिन्दी का सब से पुराना और सब से उत्तम काव्य है। इस प्रकार हिन्दी जैन साहित्य के सम्बन्ध में विद्वानों की जो भ्रान्त धारणायें थीं वे अब धीरे २ दूर होने लगी हैं। आशा है भविष्य में हिन्दी साहित्य के इतिहास में जैन विद्वानोंद्वारा रचित साहित्य का सही मूल्यांकन किया जावेगा।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि जैन विद्वानोंने ७-८ वीं शताब्दी से ही हिन्दी में रचनाएं लिखना प्रारम्भ कर दिया था। इसका सब से अधिक श्रेय महाकवि स्वयम्भू को है जिन्होंने अपभ्रंश में पउमचरिय नामक महाकाव्य की रचना करके उसे समर्थ भाषा प्रमाणित कर दिया तथा आगे होनेवाले कवियों के लिए एक नया मार्ग दिया। स्वयम्भू के पश्चात् घनपाल, पुष्पदन्त, घवल, वीर, नयनन्दि आदि अनेक समर्थ विद्वान् हुएँ जिन्होंने अपनी रचनाओं से अपभ्रंश साहित्य के भण्डार को भर दिया।

हिन्दी में धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त जैन विद्वानों द्वारा लिखा हिन्दी साहित्य-पुरातन काव्य, चरित काव्य, प्रबन्ध काव्य, गीति काव्य, रासा साहित्य, पुराण एवं कथा साहित्य, अध्यात्म साहित्य एवं प्रकीर्णक साहित्य आदि श्रेणियों में बांटा जा सकता है। जिससे उनकी साहित्य-सेवा का कुछ अनुमान लगाया जा सके।

पुरातन काव्य—अपभ्रंश काव्यों को पुरातन काव्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है। अपभ्रंश भाषा में जैनों की अपार सम्पत्ति है जो अन्यत्र नहीं मिल सकती। स्वयम्भू का पउमचरिउ तथा रिट्ठणेमिचरिउ (८ वीं शताब्दी), पुष्पदन्तकृत महापुराण (११ वीं शताब्दी) धवलकृत हरिवंशपुराण, वीरकृत जम्बूसामीचरिउ (१०७०) नयणन्दिकृत सुदंसणचरिउ (सं. ११४०) आदि रचनाएँ अपभ्रंश के उच्च कोटि के महाकाव्य हैं। भाषाविज्ञान, रस, अलंकार, कथा एवं काव्यसौन्दर्य आदि सभी दृष्टियों से ये रचनाएँ महाकाव्यों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। स्वयं वीर कविने तो अपने काव्य को वीर और श्रृंगार रसात्मक लिखा है। स्वयंभूकृत पउमचरिय को जिसके दो भाग अभी प्रकाशित हुये हैं उन्हें पढ़कर महाकवि के अगाध ज्ञान एवं भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व का पता लगाया जा सकता है। पुष्पदन्त का महापुराण एवं धवल का हरिवंशपुराण अपभ्रंश की विशाल रचनायें हैं जिनके गूढ अध्ययन के पश्चात् अपभ्रंश भाषा की समृद्धि का पता चलता है। ये ऐसी अमर कृतियां हैं जो किसी भी काल में अपने महत्व के कारण चमकती रहेंगी। परवर्ती हिन्दी साहित्य के विकास में इन रचनाओंने महत्वपूर्ण योग दिया है जिनको किसी भी दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। सूरदास, तुलसीदास, जायसी, केशव आदि महाकवि इन रचनाओं से काफी उपकृत हैं, क्यों कि उन्होंने अपभ्रंश काव्यों की शैली को अपने काव्यों में काफी विकसित किया है।

चरित काव्य अथवा प्रबन्ध काव्य—जैन विद्वानोंने हिन्दी में सैकड़ों की संख्या में चरित-काव्यों की रचना की है। इन चरित काव्यों में किसी न किसी महापुरुष के जीवन का वर्णन किया हुआ होता है। चरित काव्यों का उद्देश्य श्रेष्ठ पुरुषों के जीवन पाठकों के सामने रखना है जिस से वे भी अपने जीवनको सुधार सकें। जैन विद्वानों की चाहे हम इसे विशेषता कह सकें, चाहे काव्यरचना की शैली; उन्होंने जो भी रचना की है, उसका उद्देश्य अपना काव्यचमत्कार प्रकट करना न हो कर पाठकों के कल्याण की ओर विशेष ध्यान रखना है। इस कारण कितनी ही रचनाएँ हिन्दी की उच्च रचनाएँ होने पर भी महाकाव्य की उस परिभाषा में नहीं आतीं जिस परिभाषा में विद्वानोंने महा काव्य को तोलना चाहा है। लेकिन इसी से इन चरित काव्यों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। महाकवि भूधर का पार्श्वपुराण (१७८९), परिमल्ल का श्रीपाल चरित्र, नथमल विलाला का नागकुमार चरित्र

(१८१०), लक्ष्मीदास का यशोधर चरित्र (१७८१), कवि बालककृत सीताचरित्र आदि हिन्दी के सुन्दर चरित काव्य हैं जिन्हें महाकाव्यों के समकक्ष में रखा जा सकता हैं। कवि हीरालालकृत चन्द्रप्रभचरित तथा नवलशाहकृत वर्द्धमानचरित भी इसी श्रेणी के काव्य हैं। प्रबन्ध काव्य की परिभाषा में अधिकांश चरितकाव्य उपयुक्त बैठते है। प्रद्युम्न चरित (१४११), जिनदास का जम्बूस्वामी चरित (१५४२), जोधराज का प्रीतिंकर चरित्र (१७२१) आदि प्रबन्ध काव्य की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। इन काव्यों में अपने नायकों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। कहीं २ नगर, वन, पर्वत, युद्ध, जलक्रीडा आदि का भी संक्षिप्त किन्तु सुन्दर वर्णन मिलता है।

रासा साहित्य—रासा साहित्य जैन विद्वानों को काफी प्रिय रहा है। १३ वीं शताब्दी से ले कर १८ वीं शताब्दी तक इन रासाओं की रचना होती रही। रासा का अर्थ हिन्दी जैन साहित्य में कथा के रूप में वर्णन करना है; किन्तु ये कथा काव्य-चमत्कार सहित कही हुई होती हैं। ये एक प्रकार के खण्ड-काव्य हैं जिन में अपने नायकों के जीवन के किसी भी अंश का उत्तम वर्णन किया गया है। यदि जैन रासाओं की एक सूची तैयार की जावे तो वही काफी विस्तृत होगी। १३ वीं शताब्दी में धर्मसूरिने जम्बूस्वामी रासा तथा विजयसेनसूरिने रेवंतगिरि रासा को लिख कर हिन्दी भाषा के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी जोड़ दी। इसी प्रकार अम्बदेव द्वारा रचित संघपति रासा (१४ वीं), विनयप्रभ का गौतम रासा (१५ वीं शताब्दी) हिन्दी साहित्य की उत्तम सम्पत्ति है। १७ वीं शताब्दी में जैन विद्वानोंने सब से अधिक रासा लिखे। ब्रह्मरायमल ने श्रीपालरासा (१६३०)-नेमीश्वररासा (१६१५)-प्रद्युम्नरासा (१६२९), कल्याणकीर्त्ति ने पार्श्वनाथ रासो (१६९७), पांडे जिनदासने जोगी रासो तथा श्रावकाचार रास (१६१५), ब्रह्मज्ञानसागर ने हुन(हनु)मतरासा (१६३०), भुवनकीर्त्ति ने जीवंधर रास (१६०६) तथा जम्बूस्वामी रास (१६३०), रूपचंदने नेमिनाथ रासो, विद्याभूषण ने भविष्यदत्त रास (१६००), विमलेन्द्र ने विक्रम-चरित रास (१६६९), जयकीर्त्ति ने अमरदत्त मित्रानन्द रासो, सोमविमलसूरिने श्रेणिक रासो (१६०३) आदि रचनाएँ लिख कर हिन्दी रासा साहित्य का भण्डार भर दिया। ऐसा मालूम पड़ता है कि उस काल में जन-साधारण रासासाहित्य को बड़े चाव से पढ़ते थे। उक्त सभी रासो अपने २ ढंग की उत्तम रचनाएँ हैं। इसी प्रकार १८ वीं शताब्दी में भी काफी रासा लिखे गये जो जैन ग्रन्थ भण्डारों में उपलब्ध होते हैं।

पुराण एवं कथा साहित्य—संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि सभी भाषाओं में जैनों ने विशाल पुराण एवं कथा साहित्य लिखा है। इस लिए इन सभी पुराण एवं कथाओं का

हिन्दी में रूपांतर विद्वानों द्वारा कर दिया गया है। जैन पुराण साहित्य केवल पौराणिक कथाओं का ही संकलन नहीं है; किन्तु काव्य की दृष्टि से भी उत्तम रचनायें हैं। कितने ही पुराण तो काव्य-चमत्कार की दृष्टि से काफी उत्तम होते हैं। जैन विद्वानों ने हिन्दी पद्य में ही पुराणों की रचनाएँ नहीं कीं, किन्तु हिन्दी गद्य भाषा में भी इन पुराणों को लिखा हैं और हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में पर्याप्त योग दिया है। ब्रह्म जिनदासकृत आदि पुराण, शालिवाहनकृत हरिवंशपुराण (१६९५) नवलराम द्वारा लिखित वर्द्धमान पुराण (१८२५) खुशालचन्दकृत पद्मपुराण (१७८३) हरिवंश पुराण (१७८०) व्रतकथाकोश (१७८३) किशनसिंहकृत पुण्याश्रव कथाकोश (१७७२) दौलतरामकृत पुण्याश्रव कथाकोश (१७७३) आदिपुराण (१८२४) पद्मपुराण (१८२३) हरिवंशपुराण (१८२९) बुलाखीदासकृत पांडवपुराण (१७५४) भट्टारक विजयकीर्ति का कर्णामृतपुराण (१८२६) सेवाराम साह का शान्तिनाथपुराण आदि उत्तम एवं उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इसी प्रकार जैन विद्वानों द्वारा लिखा हुआ कथा साहित्य भी कम नहीं है। पंचतन्त्र की कथाओं को तो हिन्दी में रूपान्तर किया ही है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से भी उन्होंने सैंकड़ों कथाओं का निर्माण किया है। ये कथायें पुण्याश्रवकथा कोश, व्रतकथा कोश आदि के रूप में जैन समाज में काफी प्रसिद्ध हैं।

अध्यात्म साहित्य—अध्यात्मवाद जैन साहित्य का प्रमुख अंग रहा है। आचार्य कुन्दकुन्दने सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में समयसार एवं षट्पाहुड की रचना करके इस साहित्य की नींव रक्खी थी। इसके पश्चात् तो जैनाचार्योंने इस पर खूब लिखा। हिन्दी भाषा में भी इस साहित्य की कमी नहीं है। योगीन्द्र का परमात्मप्रकाश तथा दोहापाहुड अध्यात्म विषय की उच्चतम रचनाऐं हैं। बनारसीदास का समयसार, अध्यात्मबत्तीसी, अध्यात्मफाग, शिवपच्चीसी, रूपचन्द का परमार्थ दोहाशतक तथा अध्यात्म सवैया, भैया भगवतीदास का चेतनकर्मचरित्र, छीहल की बावनी, ब्रह्मअजित की हंसाभावना, दौलतराम की अध्यात्म बारहखड़ी इस साहित्य की उत्कृष्ट कृतियां हैं। जैन विद्वानों द्वारा वर्णित अध्यात्मवाद हमारे समक्ष संसार की वास्तविक स्थिति को प्रकट करता है, जड़ और चेतन की भिन्नता दिखलाता है। काम, क्रोध, मान और लोभ आदि दशाओं में चेतन की स्थिति कैसी हो जाती है, इसको स्पष्ट रूप में उपस्थित करता है। आत्मा और परमात्मा का क्या संबंध है तथा आत्मा ही परमात्मा बन सकता है इस तथ्य का वर्णन करता है। यही नहीं, वह संसारिक जीवों को जग का रूप बतलाकर पुनीत मार्ग पर चलने का उपदेश देता है। जैन विद्वान् इसमें काफी सफल हुए हैं। उन्होंने मानव को हमेशां ऊंचा उठाने का ही प्रयत्न किया है। सांसारिक वासनाओं एवं सुखविलास में उन्मत्त स्त्री-पुरुषों के भावों और विकारों को अति-

शयोक्तिपूर्ण उपस्थित करने में वे हमेशा दूर रहे हैं। उनका मत है कि यह आत्मा का वास्तविक रूप नहीं है; अतः विकृत रूप का वर्णन करना अच्छे कवि अथवा लेखक का लक्षण नहीं है। बनारसीदासजी को आधुनिक हिन्दी साहित्य में इसी कारण सर्वोच्च स्थान दिया गया है। आत्मा और जड़ का सम्बन्ध कविने नदी की धारा के साथ किस प्रकार संगत किया है। वही देखिये—

जैसे महिमंडल में नदी का प्रवाह एक
ताही में अनेक भांति नीर की ढरनि है।
पाथर के जोर तहां धार की मरोर होत
कांकर की खानि तहा झाग की झरनि है।
पौन की झकोर तहां चंचल तरंग उठे
भूमि की निचानि तहां भौंर की परनि है।
तैसे एक आत्मा अनंत रस पुद्गल
दोह के संयोग में विभाव की भरनि है।

गीतिकाव्य—गीत काव्यों में भावना की अनुभूति अधिक गहरी होती है; इस लिए गीतकाव्य भी जैन साहित्य का प्रमुख भाग रहा है। जितने भी हिन्दी गद्य और पद्य साहित्य के विद्वान हुये उन्होंने गीत, पद, भजन आदि के रूप में थोडा-बहुत अवश्य लिखा है। कितने ही कवियों ने तो अपनी रचनाओं के आगे गीत शब्द भी जोड़ दिया है। इससे उन के गीति साहित्य के प्रति अनुराग का पता लगता है। इन में पूनो का मेघकुमार गीत, सकलकीर्ति का मुक्तावलि गीत, नेमीश्वर गीत, णमोकार फल गीत आदि उल्लेखनीय हैं। ब्रह्मगुलाल, पाण्डे जिनदास, बनारसीदास, हर्षकीर्त्ति, आनन्दघन, अजयराज, दौलतराम, रूपचन्द, द्यानतराय, जगतराम, बुधजन, हीरानन्दि आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानोंने सैंकड़ों की संख्या में पद एवं भजन लिखे हैं जो भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उत्तम हैं। यही नहीं, ये कवि विभिन्न राग-रागनियों के भी जानकार थे, क्यों कि उन्होंने अपने पद कितने ही राग-रागनियों में लिखे हैं। जैसे-प्रभातराग, रामकली, विलावल, आर्यावर्त, केदार, सोरठा, विहाग, मालकोश, भैरवी, मल्हार, सारंग, झंझोटी आदि कितने ही प्रकार की राग-रागनियों में इनके लिखे हुये पद मिलते हैं। जैन भण्डारों में संगृहीत गुटकों में इन पदों एवं भजनों का खूब संग्रह मिलता है। जिसका अधिकांश भाग अभीतक प्रकाश में भी नही आया है।

अन्य साहित्य—उक्त साहित्य के अतिरिक्त जैन कवियोंने साहित्य के अन्य अंगों की ओर भी अपनी लेखिनी चलाई है। बनारसीदासने नाममाला हिन्दी में लिख कर हिन्दी कोष की भी बहुत बड़ी आवश्यकता को पूरी किया। उन्होंने ही अर्द्धकथानक के नाम से अपना आत्मचरित लिख कर हिन्दी साहित्य में आत्मचरित्र न होने के एक दोष को दूर किया। जिससे सारा हिन्दी जगत उनसे उपकृत है। अर्द्ध कथानक अपने ढंग की अकेली ही रचना है जिसमें बनारसीदासने अपने जीवन को वास्तविक रूप में उपस्थित किया है। इसी प्रकार साहित्य के अन्य अंग जैसे पाकशास्त्र, शिल्पशास्त्र आदि पर जैन विद्वानोंने अपनी सफल लेखनी चलाई है।
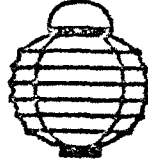
संत-साहित्य के निर्माण में जैन हिन्दी-कवियों का योगदान

श्री परशुराम चतुर्वेदी वकील, बलिया उत्तरप्रदेश

हिंदी-साहित्य के इतिहास में संत-साहित्य के उदय और विकास की कथा अपना एक पृथक् महत्त्व रखती है। इसका आरंभ उस समय होता है जब हिंदी भाषा का अभी तक अपना शुद्ध रूप तक निखरा नहीं रहता और वह अपभ्रंश के अति निकट रहती है। उस काल में इस साहित्य की रचना का आरंभ बौद्ध एवं जैन कवियों के द्वारा होता है, जो अपने निजी ढंग से इसका सूत्रपात करते हैं। वे अपने-अपने धर्मों के अनुसार आध्यात्मिक रहस्य की व्यापक और विश्वजनीन बातों की चर्चा करते हैं और सत्य की महत्ता को न समझते हुए भूलने भटकनेवालों को सजग और सचेत करने की चेष्टा भी करते हैं। उनकी उक्तियों में अनुभूतिजन्य गंभीरता है और उनकी शैली में सहज भाव की चोट और स्पष्ट-वादिता का तीखापन है जो पाठकों वा श्रोताओं को मर्माहत किये विना नहीं रहता। इस प्रकार संत-साहित्य का बीजारोपण वस्तुतः उनके निजी उद्गारों, उपदेशों और फटकारों में ही हो जाता है जो फिर समय पा कर नाथपंथी जोगियों की रचनाओं में अंकुरित एवं पल्लवित होने लगता है और तब तक हिंदी भाषा में भी अपने अक्खड़पन की शक्ति आ जाती है। नाथपंथियों के साहित्य का निर्माण होने लगने तक अपभ्रंश के विकसित रूप में प्रादेशिक विभिन्नताएं भी आने लग जाती हैं। इसके आधार पर क्रमशः प्रांतीय भाषाओं का उदय हो जाता है जो अपनी प्रारंभिक दशा में अपभ्रंश-साहित्य की भावधारा से भी प्रभावित रहा करती है, और इसी कारण उनमें से कई एक के आदिकालीन साहित्य में हमें उपर्युक्त क्रम विकास को प्रोत्साहन मिलता दीखता है। उदाहरण के लिए उड़िया और मराठी साहित्यों के विषय में यह बात अधिक स्पष्ट हैं; क्यों कि ये दोनों अपने प्रारंभिक दिनों में विशेष कर क्रमशः बौद्धों तथा जैनों और नाथपंथियों की रचनाओं द्वारा प्रभावित रहा करते हैं। फिर तो संत-साहित्य के निर्माण में शैवों, वैष्णवों एवं सूफियों तक का सहयोग उपलब्ध होने लग जाता है और संत कबीर के समय तक आते-आते इसका विशुद्ध रूप उभर आता है।

संत-साहित्य के निर्माण कार्य में, उसकी अपभ्रंश कालीन दशा से ही हाथ बंटाने-वाले जैन कवियों में मुनि रामसिंह एवं जोइंदु के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं और केवल इन दो की भी चर्चा कर देना, कदाचित्, अपर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इन दोनों में से

जोइंदु का समय ईस्वी सन् की छठी शताब्दी में माना गया है जो अधिकतर अनुमान पर ही आश्रित है।[१] इनके ग्रंथ 'परमात्मप्रकाश' में प्रधानतः आत्मोपलब्धि, ज्ञानतत्त्व एवं कर्मवाद की चर्चा की गई है और इस प्रकार यह एक आध्यात्मिक रचना है। तदनुसार जोइंदु ने इसमें प्रसंगवश बहुतसी ऐसी भी पंक्तियों का समावेश कर दिया है जो संत-साहित्य के लिये आदर्श का काम कर सकती हैं। उदाहरण के लिये वे कहते हैं कि "हे जोगी, अपना मन निर्मल कर लेने पर ही शांत शिवके दर्शन होते हैं और वह घनरहित आकाश में सूर्य की भांति प्रकाशमान हो जाता है"।[२] "रागद्वेष का परित्याग करके जो सभी प्राणियों को एक समान जानता है और इस प्रकार समभाव में प्रतिष्ठित है वह शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।[३]" "आत्मज्ञानी वही है जो, चाहे कोई किसी का मित्र हो अथवा शत्रु हो, सबके साथ, सभी जीवों को एक मानने की दृष्टि से व्यवहार करता है।[४]" मुनि रामसिंह जोइंदु के परवर्ती कवि हैं और उनके जीवन-काल के विषय में अनुमान किया गया है कि वह ईस्वी सन् दसवीं शताब्दी के लगभग ठहराया जा सकता है।[५] उनकी एक रचना 'पाहुड़ दोहा' के नाम से उपलब्ध है जो प्रायः 'परमात्मप्रकाश' की ही भांति आध्यात्मिक विषयों से संबंध रखती है और जिसका लगभग पांचवां अंश ठीक उसी ग्रंथ जैसा है। मुनि रामसिंह का कहना है, "जिसका मन जीतेजी पंचेंद्रियों के साथ मर गया उसे ही मुक्त मानना उचित है, उसीने निर्वाण पथ को पाया है,[६]" इसी प्रकार "मैं सगुण हूं, किंतु मेरा प्रियतम लक्षणों से रहित और निःसंग है जिससे, एक ही कोष्ठक में रहते हुए भी, मैं उनसे न मिल सका," तथा, "अरे शिर मुंडानेवालों का सिरदार! तूने अपना शिर तो मुंडा लिया, किंतु अपने चित्त

---

१. 'परमात्मप्रकाश' (बंबई, सं० १९९२) Introduction p. 67.

२. जोइय णियमणि णिम्मलए, पर दीसइ सिउ सतु।
अंबरि णिम्मलि घण रहिए, भाणुजि जेम फुरंतु ॥ ११९ ॥ वही० पृ० १२०।

३. रायदोस वे परिहरिवि, जे सम जीव णियंति।
ते समभावि परिट्ठिया, लहु णिव्वाणु लहंति ॥ १०० ॥ वही० पृ० २४२।

४. सत्तु वि मित्तु वि अप्पु परु, जीव असेसु वि एइ।
एक्कु करेविणु जो मुणइ, सो अप्पा जाणेइ ॥ १०४ ॥ वही० पृ० २४६।

५. 'पाहुडदोहा' (कारजा, सन् १९३३ ई०), भूमिका, १०३३।

६. जसु जीवंतहं मणु मुवउ, पंचेंदियहं समाणु।
सो जाणिज्जइ मोक्कलउ, लद्धउ पहु णिव्वाणु ॥ १२३ ॥ पा० दो० पृ० ३६ ॥

७. हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ, णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहि अंगि वसंतयंह, मिलिउण अंगहि अंगु ॥ १०० ॥ वही, पृ० ३० ॥

को नहीं मूंड सका; जिस किसीने अपने चित्त को मूंड लिया उसीने संसार को जीत लिया" इत्यादि। संत कबीर साहब आदि संत कवियों की भी रचनाओं का प्रधानतः यही विषय है और उनकी कथन-शैली भी इन पंक्तियों का ही अनुसरण करती जान पड़ती हैं।

अपभ्रंश में लिखनेवाले जैन कवियों के कुछ समय पीछे अथवा वस्तुतः विक्रम की १५ वीं से लेकर उसकी १९ वीं तक की शताब्दी का युग विभिन्न प्रकार के सुधारपरक आंदोलनों का युग रहा और इसीके अंतर्गत अन्य संस्कृतियों के साथ भारतीय संस्कृति का पूरा संघर्ष भी हुआ जिसके फलस्वरूप यहां के सभी धर्मावलंबी अपनी-अपनी ओर से सजग और सतर्क होने लग गए। हिंदुओं के शैव तथा वैष्णव धर्मों में तो सुधार होने ही लगे, इस्लाम के सूफी संप्रदाय का भी यहां पर इसी समय विशेष प्रचार हुआ तथा जैन धर्म के अनुयायियों में से भी कईने अपनी विचारधारा के अनुसार सुधारपरक संप्रदाय स्थापित किये।

वि. सं. १६५७ के लगभग मध्य भारत में तारणस्वामीने दिगंबर संप्रदाय के अनुयायियों में अपना 'तारण-पन्थ' चलाया और वि. सं. १५०९ में गुजरात में लौंकाशाहने श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जो आन्दोलन खड़ा किया था उसके फलस्वरूप सं. १७१० में श्वेताम्बर संप्रदाय-वालों का भी एक वैसा ही 'ढूंढिया' वा स्थानकवासी नामक साधुमार्ग प्रतिष्ठित हुआ। इसके सिवाय प्रसिद्ध विद्वान् जैन कवि बनारसीदास (सं० १६४३-१७००) ने उत्तर प्रदेश में इसके पहले से ही 'तेरापंथ' संज्ञक एक आंदोलन का प्रचार आरंभ कर दिया था और इन सारी बातों के परिणामस्वरूप उपर्युक्त जैन मुनियों की परम्परावालों को और भी प्रोत्साहन मिला।

जैन कवि बनारसीदास का जन्म जोनपुर नगर में हुआ था और वे एक धुरंधर पण्डित एवं निपुण कवि भी थे। वे श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु 'समयसार' जैसे ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन और आत्मचिंतन के कारण उनके विचारों में क्रांति आ गई। फलतः उन्होंने अपने निजी मत का प्रचार करना आरंभ किया तथा उनके ग्रन्थों में उप-लब्ध विचारधारा की कड़ी आलोचना भी होने लगी। किन्तु उन्होंने उसकी चिंता नहीं की और अपने विचार-स्वातंत्र्य के उन्होंने अपने कई अनुयायी भी बना लिए। ये न केवल कबीरसाहब जैसे संत कवियों कीसी शैली में लिख सकते थे, अपितु अपने समकालीन संत

---

1. मुंडिय मुंडिय मुंडिया। सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ। संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥ १३५॥ वही, पृ० ४०॥

सुन्दरदास की भांति, गूढ़-सगूढ़ दार्शनिक बातों के स्पष्टीकरण में भी सफल थे। इनकी कविताओं के निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों से भी पता चलेगा कि इनकी वर्णन-शैली शुद्ध संतसाहित्य की ही थी। जैसे—

चेतन तू तिहुँ काल अकेला,
नदी नाव संजोग मिलै ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला ॥ टेक ॥
यह संसार असार रूप सब, ज्यों यह पेखन(?)खेला।
सुख सम्पति शरीर जल बुदबुद, विनशत नाहीं बेला ॥

× × ×

कहत बनारसि मिथ्या मत तज, होय सुगुरु का चेला।
तास वचन परतीत आन जिय, होई सहज सुरझेला ॥ २ ॥[1]

इसी प्रकार वे फिर अन्यत्र भी कहते हैं—

भोंदू भाई समुझ शबद यह मेरा,
जो तूं देखै इन आंखिन सौं, तामें कछु न तेरा ॥ टेक ॥
ए आंखे भ्रम ही सौं उपजीं, भ्रम ही के रस पागी।
जहं जहं भ्रम तहं तहं इनको श्रम, तूं इनही को रागी ॥
तेरे दृग मुद्रित घट अंतर, अंधरूप तूं डोलै।
कै तो सहज खुलै वे आंखे, कै गुरु संगति खोलै ॥ ८ ॥[2]

तथा, वा दिन को कर सोच जिय, मनमें।
बनज किया व्यापारी तूने, टांडा लादा भारी रे।
ओछी पूंजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे ॥

× × ×

कहत बनारसि सुनि भवि प्राणि, यह पद है निरवाना रे।
जीवन मरन कियो सो नाहीं, सर पर काला निशाना रे ॥[3]

परन्तु कवि बनारसीदास की रचनाओं के अंतर्गत केवल इस प्रकार के विरक्ति सूचक भावों के ही वर्णन नहीं पाये जाते। उनमें प्रेम और विरह संबंधी वैसी पंक्तियों के भी बहुत से

---

१. बनारसीविलास जयपुर, स० २०११, पृ० २३२। २ वही, पृ० २३४-५।
३. 'प्रो० राजकुमार जैन': 'अध्यातमपदावली' काशी सन् १९५४ ई० पृ० २०३-५।

उदाहरण मिलते हैं जो संत कबीर साहब जैसे कवियों की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं । इन्होंने अपनी एक रचना 'अध्यात्मगीत' में दांपत्यभाव के अनुसार भी वर्णन किया है । जिसकी शैली विशेष रूप से उल्लेखनीय है । जैसे,

मेरा मन का प्यारा जो मिलै, मेरा सहज सनेही जो मिलै ॥ टेक० ॥

× × ×

मैं विरहिन पियके आधीन, यों तल फौं ज्यों जलबिन मीन ॥ ३ ॥
बाहिर देखूं तो पिय दूर, घट देखे घट में भरपूर ॥ ४ ॥
घट महीं गुप्त रहै निरधार, वचन अगोचर मन के पार ॥ ५ ॥
अलख अमूरति वर्णन कोय, कबधों पिय को दर्शन होय ॥ ६ ॥
सुगम सुपंथ निकट है ठौर, अंतर आड विरह की दौर ॥ ७ ॥
जउ देखौं पिय की उनहार, तनमन सर्वस डारौं वार ॥ ८ ॥
होहुं मगन मैं दरशन पाय, ज्यों दरिया में बूंद समाय ॥ ९ ॥
पिय कौं मिलौं अपनपो खोय, ओला गल पाणी ज्यौं होय ॥१०॥
मैं जग ढूंढ फिरी सब ठौर, पिय के पटतर रूपन ओर ॥११॥
पिय जगनायक पिय जगसार, पिय की महिमा अगम अपार ॥१२॥

× × ×

बसौं सदा मैं पिय के गांउ, पिय तज और कहां मैं जांउ ॥१७॥

× × ×

पिय मोरे घट मैं पिय मांहि, जलतरंग ज्यों द्विविधा नांहि ॥१८॥

× × ×

पिय सुमिरन पिय को गुणगान, यह परमारथ पंथ निदान ॥३०॥
कहइ व्यवहार 'बनारसी' नाव, चेतन सुमति सटी इक ठांव ॥३१॥'

यहां पर जान पड़ता है कि इन्हें भी 'साहब' और 'सुरति' का संबंध ही पसंद है । इसी प्रकार इन्होंने अपनी एक अन्य रचना 'पहेली' में भी जो 'सुमति' एवं 'कुमति' नामक दो सपत्नियों का रूपक बांधा है वह भी प्रायः इसी ढंग का है । ये उस रचना का आरंभ इन दोनों की तुलना के साथ करते हैं और इन दोनों में एक संक्षिप्त वार्त्तालाप कराकर अंत में कहते हैं—

६. 'बनारसीविलास' पृ० १५९-६२ ।

हिय आंगन में प्रेमतरु, सुरभि डार गुणपात ।
मगन रूप ह्वै लहल है, बिना द्वन्द दुखवात ॥ १० ॥

कवि बनारसीने अपनी उपर्युक्त 'अध्यात्मगीत' शीर्षक रचना की दूसरी पंक्ति में ही लिखा है—

अवधि अयोध्या आतम राम, सीता सुमति करैं परणाम ॥[2]

और इन्होंने अपने एक अन्य पूरे पदमें, 'रामायण' की कथा के युद्ध प्रसंग का रूपक बांधकर, विवेकशील पुरुषों के भीतर प्रायः जागृत हो जानेवाले अंतर्द्वंद्व का बड़ा सजीव चित्रण भी किया है। वे उस पद को—

विराजै रामायण घट मांहि ।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहिं ॥ टेक ॥[3]

से आरंभ करते हैं तथा-राम-रावण युद्धवाले प्रमुख पात्रों का वर्णन करते हुए उनके लिए भिन्न-भिन्न उपमानों की सृष्टि करते हैं। इस पदमें भी 'आतम' को 'राम' एवं 'सुमति' को 'सीता' कहा गया है, किंतु यहां पर विवेक के रणक्षेत्र में संग्राम छिड़ जाने, 'धारणा' की आग में 'मिथ्यामति' की लंका के भस्मीभूत होने, 'अज्ञान' विपयक राक्षसकुल के नष्ट होने, 'दुराशा' की मंदोदरी के मूर्च्छित हो पड़ने तथा इसी प्रकार 'राग' एवं 'द्वेष' नायक दोनों सेनापतियों के जूझने एवं संग्राम गढ के विध्वस्त हो जाने का भी सांग रूपक द्वारा वर्णन किया गया है। ये अंत में कहते हैं—

इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम ।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम ॥[4]

जिससे स्पष्ट है कि यहां पर कविका उद्देश्य केवल शुद्ध नैतिक समस्या के ही स्वरूप का चित्रण करना रहा होगा।

परंतु इस कविके प्रायः दोसौ वर्ष पीछे अपने घट 'रामायण' ग्रंथ की रचना करनेवाले हाथरस के संत तुलसीदास ने 'रामायण' की पूरी कथा का एक रूपक, कुछ अन्य प्रकार से ही बांधने की चेष्टा की है। उनके इस ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि वे अपने को प्रसिद्ध 'मानस' कार गो० तुलसीदाससे अभिन्न भी समझते थे और उनका कहना था कि उस रचना का मर्म वस्तुतः और ही प्रकार का है। मानस में जिस कथा का वर्णन

---

१. 'बनारसीविलास', पृ० १८०-१। २. वही, पृ० १५९। ३. वही, पृ० २३३। ४. वही, पृ० २३३।

किया गया है वह उनके अनुसार केवल एक रूपक मात्र है जिसका स्पष्टीकरण 'घट रामायन' द्वारा किया जाता है । वे कहते हैं—

घट में सुरति सैल जस कीन्हा । काग भुशुंड भाखि तस दीन्हा ॥
काग भुशुंड कितहुं नहिं भयेऊ । तुलसी सुरति सैल तन कहेऊ ॥
काग भुशुंड काया के मांही । राम रमा मुख पैठा जाई ॥
तुलसी ताकी गति मति जानी । रामायन में कीन्ह वखानी ॥

× × ×

सरजू सुरति अवध दसद्वारा । ये घट भीतर देखि निहारा ॥
रावन कुम्भ लंकपति राई । त्रिकुटी ब्रह्म बसै तेहि मांही ॥
रावन ब्रह्म कहा हम जोई । त्रिकुटी लंक ब्रह्म है सोई ॥
मन्दोदरी भभीपन भाई । इन्द्रजीत सुत त्रिकुटी मांही ॥

× × ×

रावन राम सकल परिवारा । ये घट भीतर चुनि चुनि मारा ॥[1]

जिससे जान पड़ता है कि वे किसी राजयोग की साधना की चर्चा कर रहे हैं । उनके यहां 'रामायण' के कई पात्र केवल 'मन' के विविध रूप दर्शाते भी समझ पड़ते हैं । अतएव 'घट रामायण' में जहां रामायण की कथा 'सुरति सैल' के आधार पर बतलाई गई है वहां बनारसीदास के उक्त पद में वह केवल 'विवहारदृष्टि' से ही देदी गई है ।

बनारसीदास के एक समकालीन जैनकवि रूपचन्द थे । जो आगरे में रहा करते थे, आदि । जिन्हें वे एक बहुत बड़ा विद्वान् भी समझते थे । रूपचंद कवि की एक रचना 'परमार्थी दोहाशतक' नाम से उपलब्ध है, जिसके कई दोहे पूर्वोल्लिखित अपभ्रंश दोहों के समान हैं और इनमें भी हमें अधिकतर वे ही विषय मिलते हैं जो संत-साहित्य के अंतर्गत भी पाये जाते हैं । रूपचंद कवि के दो दोहे इस प्रकार हैं—

चेतन चित परिचय विना, जप तप सबै निरत्थ ।
कन विन तुस जिमि फटकतैं आवै कछू न हत्थ ॥
भ्रम तैं भूल्यौ अपनपौ, खोजत किन घट मांहि ।
विसरी वस्तु न कर चढ़ै, जो देखे घट चाहि ॥[2]

---

१. 'घट रामायण' वे० प्रेस, प्रयाग (सन् १९३२ ई०) पृ. ४२-३ व २१४-५ ।
२. कामताप्रसाद जैन : हिंदी जैन साहित्य का इतिहास (काशी १९४७), पृ० १०७ ।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में एक जैन हिंदी कवि आनंदघन भी थे जो श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुयायी थे। इनका नाम 'लाभानंद' भी था और ये एक अच्छे विद्वान् एवं कवि थे जिनकी 'आनंदघन बहोत्तरी' और 'आनंदघन चौबीसी' ग्रन्थ प्रकाशित हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं के अंतर्गत संत-साहित्य की शब्दावली का बहुत प्रयोग किया है और इनका वर्ण्य विषय भी उसीके अनुरूप है। इनकी रचनाओं में यत्र तत्र पायी जानेवाली उक्तियां भी बहुत सजीव हैं और जान पड़ता है कि वे इन्हें अपने निजी अनुभव से कहते हैं।

जैसे, जेणे नयण करि मारग जोइये रे नयणते दिव्य विचार।[३]
शुद्ध श्रद्धान विण सर्व किरिया कही, छार परि लीपणो सरम जाणो॥[४]
एक पखी कि प्रीत बरे पड़े, उभय मिल्या होंवे संध।[५]
अनुभव गोचर वस्तु को रे, जाणवो यह ईलाज।
कहन सुनन को कछु नहि प्यारे, आनंदघन महराज॥[६]
मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि पर जाली।
तन भाठी अवटाइ पिये कस, जागै अनुभव लाली॥[७] इत्यादि

और इसी प्रकार, इनके अनेक पद भी बहुत सरस और सुंदर हैं। जैसे—

साधु भाइ आपन रूप जब देखा।
करता कौन कौन फुनि करनी, कौन मांगेगो लेखा।
साधु संगति अरू गुरू कृपातें, मिट गइ कुल की रेखा।
आनंदघन प्रभु परचौ पायो, उतर गयो दिल भेखा॥[८]

तथा, राम कहो, रहमान कहो, कोउ कान कहो महादेवरी।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृतिका रूप री।
तैसे खंड कल्पनारोपित, आप अखंड सरूपरी।
निजपद रमे राम सो कहिए, रहिम कहे रहिमान री।
कर्षे करम 'कान' सो कहिए, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिह्न ते ब्रह्म री।
इहि विधि साधो आप आनंदघन, चैतनमय निष्कर्म री॥[९]

३.-७. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'घन आनद और आनंदघन' काशी, स० २००२) पृ० ३३४, ३४३, ३४४, ३६६, और ३६९। ८. 'घनानंद और आनदघन' पृ० ३८८। ९., वही, पृ० ३८८।

कवि आनंदघनने बहुतसी ऐसी पंक्तियां भी लिखी हैं जो हिंदी के अन्य संत कवियों के अनुकरण में रची गई प्रतीत होती हैं । जैसे—

एक अनेक अनेक एक फुनि, कुंडल कनक सुभावे ।
जल तरंग घट मांही रवि कर, अगनित नाहिं समावै ॥[1]

तथा, देखो एक अपूरव खेला ।
आप ही वाजी आप वाजीगर, आप गुरु आप चेला ॥[2]

और, ऐसे जिन चरने चित ल्याऊं रे मना,
ऐसे अरिहंत के गुन गाऊं रे मना ॥
उदर भरन के कारणे रे गौआं वन में जाय ।
चार चरे, चिहुं दिस फिरे, वांकी सुरति वछरुवा मांहि रे ॥
सात पांच सहेलियां रे, हिलमिल पाणी जाय,
तालि दिये खड खड हंसे रे, वाँकी सुरति गगरुआ मांहि रे ॥[3]

इनमें से प्रथम दो पदांश तो संत कबीर साहब की पंक्तियों को देख कर लिखे गए जान पड़ते हैं और तीसरा संत नामदेव का एक पद देख कर । किंतु इसके कारण कवि आनंदघन को हम किसी का अंधानुसरण करनेवाला नहीं ठहरा सकते । इस प्रकार के प्रयोगों की कई भिन्न-भिन्न परम्पराएं चला करती थीं जिनसे अच्छे से अच्छे कवि भी, अपनी रचना करते समय, लाभ उठाया करते थे । बहुत से कवियोंने तो अनेक लोकप्रिय रचनाओं की शब्दावली तक को अपनाने में हिचक का अनुभव नहीं किया है ।

विक्रम की अठारवीं शताब्दी में भी बहुत से ऐसे जैन कवि हुए हैं जिनकी रचनाएं संतसाहित्य का अंग बन सकती हैं । भैया भगवतीदास का रचनाकाल सं० १७३१ से सं० १७५५ तक समझा जाता है और वे एक उच्च कोटि के प्रभावशाली कवि थे । उनकी रचनाओं में भी हमें ऐसी पंक्तियां मिलती हैं जो संत कवियों के पदों के लिए उपयुक्त कही जा सकती हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है । इनमें,

आतमरस चाख्यौ मैं अद्भुत, पायो परम दयाल ।[4]
तथा, चेतहु चेत सुनो रे भैया, आप ही आप संभारो ।[5]

जैसी कुछ पंक्तियों की ही गणना की जा सकती है और उनकी उपलब्ध रचनाओं में

१. वही पृ० ३५७ । २. पृ० ३८२ । ३ पृ० ४०१-२ । ४. 'हिं० जै० सा० का इतिहास' पृ० १४२-३ । ५ अ० पदावली पृ० ९९ (प्रस्तावना)

कोई ऐसा पूरा पद नहीं मिलता। किन्तु भैया भगवतीदास के ही समकालीन कवि भूधरदास के भी विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। इनकी कई रचनाएं संत कबीर के ढंग की हैं। जैसे—

भगवन्त भजन क्यों भूला रे ॥ टेक० ॥
यह संसार रैनका सुपना, तनधन वारि बबूला रे ॥ १ ॥
इस जीवन का कौन भरोसा, पावक में तृण पूला रे।
काल कुदार लिये शिर ठाढ़ा, क्या समझै मन फूला रे ॥ २ ॥ इ०[1]

और, अंतर उज्ज्वल करना रे भाई।
कपट कृपान तजै नहीं तबलौं, करनी काज न सरना रे ॥
बाहिर भेष क्रिया उर शुचिसौं, कीये पार उतरना रे।
नाहीं है सब लोकरंजना, ऐसे वेद न वरना रे ॥
कामादिक मल सौं मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे।
भूधर नील वसन पर कैसे, केसर रंग उछरना रे ॥[2]

तथा, सुन ठगिनी माया, तैं सब जग खाया।
टुक विश्वास किया जिन तेरा, सो मूरख पछताया ॥

× × ×

केते कंथ किये तै कुलटा, तो भी मन न अघाया।
किसही सौं नहिं प्रीति निबाही, वह तजि और लुभाया।
भूधर ठगत फिरत यह सब कौं, भौंदू करि जग पाया।
जो इस ठगनी कौं ठग बैठे, मैं तिसको सिर नाया ॥[3]

इसके सिवाय कवि भूधरदास के पदसंग्रह में एक पद ऐसा भी आता है जिस में चरखे का रूपक है और जिसकी कुछ पंक्तियां ये हैं—

चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना ॥ टेक० ॥
पग खूंटे दुअ हाल न लागे, उर मदरा खखराना।
छीदी हुई पांखड़ी पसली, फिरै नहीं मनमाना ॥
रसना तकलीने बल खाया, सो अब कैसे खूटै।
सबर सूत सूधा नहिं निकसै, घड़ी घड़ी पल टूटै ॥

× × ×

---

१. वही, पृ० ६४। २ वही, पृ० ६८–७०। ३. वही, पृ० ७२–३।

मोटा महीं कात कर भाई, कर अपना सुरझेरा।
अंत आगमें इंधन होगा, भूधर समझ सवेरा॥[1]

भूधरदास के ही समकालीन एक अन्य जैन कवि द्यानतराय (ज० सं० १७३३) की भी कुछ ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जो उक्त प्रकार की हैं। द्यानतराय कहते हैं—

अब हम अमर भए, न मरेंगे।
तन कारन मिथ्यात दियौ तज, क्यों करि देह धरेंगे।
उपजे मरे काल तै प्रानी, तातें काल हरेंगे।
रागद्वेष जग बंध करत हैं, इन को नाश करेंगे॥
देह विनाशी मैं अविनाशी, भेद ज्ञान पकरेंगे।
नाशी जासी हम थिर वासी, चोखे हौं निखरेंगे॥
मरे अनंत वार विन समझें, अब सब दुख विसरेंगे।
द्यानत निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरें सुमरेंगे॥[2]

जिसे पढ़ते ही हमें कबीर साहब का वह पद स्मरण हो जाता है जिसका आरंभ "हम न मरैं मरि है संसारा, हमकूं मिल्या जियावनहारा[3]" से होता है। इनका एक ऐसा ही दूसरा पद भी नीचे लिखे अनुसार है जिसके साथ संत रैदास के एक पद का आश्चर्यजनक साम्य दीख पड़ता है। जैसे—

ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै मन कितहुं न जाई॥
× × ×
सो तप तपो बहुरि नहिं तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो बहुरि नहिं मरना॥[4]

इसके साथ संत रैदास के निम्न लिखित पद की तुलना की जा सकती है जिसकी कुछ पंक्तियां जैसी की तैसी यहां रख दी गई हैं। रैदास कहते हैं—

ऐसा ध्यान धरौ वरो वनवारी, मन पवन है सुखमन नारी॥ टेक॥
सो जप जपौं जो बहुरि न जपना। सो तप तपौं जो बहुरि न तपना॥ १॥
सो गुरु करौं जो बहुरि न करना। ऐसो मरौं जो बहुरि न मरना॥ २॥[5]

---

१. हिं० जैं० सा० का स० इतिहास पृ० १७५। २. 'अध्यात्मपदावली' पृ० २६१।
३. कबीर ग्रंथावली पद ४३, पृ० १०२। ४. 'अध्यात्मपदावली' पृ० २६७।
५. रैदासजीकी वाणी (वे० प्रे० प्रयाग) पृ० २६-७।

यहां स्मरणीय केवल यह है कि द्यानतराय जहां अपने पद के द्वारा उपदेश दे रहे हैं वहां संत रैदास अपने विषय में ही वर्णन कर रहे हैं।

जैन कवियों की ऐसी रचनाएं हमें विक्रम की १९ वीं शताब्दी में भी मिलती हैं। इस काल के ऐसे कवियों में एक बुधजन हैं जिनकी प्रसिद्धि अधिकतर नीतिपरक रचनाओं पर आश्रित थी, किंतु जो समय-समय पर संतों जैसी कविताएं भी कर लिया करते थे। इनकी 'बुधजन सतसई' के अंतर्गत जो दोहे संगृहीत हैं उनमें बहुत से ऐसे हैं जिनकी तुलना तुलसी, रहीम, कबीर अथवा वृंद की रचनाओं के साथ की जा सकती है। इनकी संत साहित्य के आदर्श पर लिखी गई रचनाएं विशेषतः उपदेशपरक हैं और वे चेतावनी का भी काम देती हैं। ये कबीर की भांति कहते हैं:—

कर ले हो जीव, सुकृत का सौदा कर ले। परमारथ कारज करलै हो ॥

× × ×

ब्यापारी बन आइयौ, नर भव हाट मंझार। फलदायक ब्यापार कर, नातर विपति तयार ॥

× × ×

मोह नींद मां सोवता, डूबौ काल अटूट। बुधजन क्यों जागौ नहीं, कर्म करत है लूट ॥[1]

इसी प्रकार दौलतराम नामक एक अन्य ऐसे कवि, अपने विषय में संकेत करते हुए भी, उसी शैली में कहते जान पड़ते हैं। ये सासनी के निवासी थे और पालीवाल थे तथा इन्हें जैन अध्यात्म का अच्छा ज्ञान भी था। इनकी एक लोकप्रिय रचना में ये पंक्तियां आती हैं:—

हम तौ कबहूं न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये ॥

× × ×

यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये।
दौलतजे अज हूं विषयन में, सतगुरु वचन सुहाये ॥[2]

फिर एक अन्य ऐसे ही कवि 'ज्ञानानंद' भी चेतावनी के रूप में कहते हैं:—

भोर भयो उठ जागो, मनुवा साहब नाम संभारो ॥ टेक ॥
सूतां सूतां रैन विहानी, अब तुम नींद निवारो ॥

× × ×

खिन भर जो तूं याद करैगो, सुख निपजैगो सारो।
वेला वीत्या है, पछतावै, क्यूं कर काज सुधारो ॥[3] आदि

१. 'अध्यात्मपदावली', पृ० ५५८। २. वही, पृ० २३६। ३. वही, पृ० २७०।

जिसके 'मनुवा' एवं 'साहब' विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

अतएव हिन्दी साहित्य के आदि काल से लेकर कम से कम उन्नीसवीं शताब्दी तक के जैन कवियों की रचनाओं पर यदि एक सरसरी दृष्टि भी डाली जाती है तो इसमें संदेह नहीं रह जाता कि उनमें से कई एक की प्रवृत्ति संतों की जैसी पंक्तियां लिखने की ओर अवश्य हो जाती रही है। अपभ्रंश की रचनाओं में तो हम संत कवियों के लिए पथप्रदर्शन का कार्य होता हुआ ही देखते हैं। सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों के जैन कवियों की भी हमे कुछ ऐसी रचनाएं मिलती हैं जिन्हें हम संत-साहित्य के अंतर्गत समाविष्ट करने में कभी संकोच नहीं कर सकते। कम से कम प्रसिद्ध कवि बनारसीदास, आनंदघन, भूधरदास एवं द्यानतराय जैसे कुछ जैन कवियों की चुनी हुई रचनाओं को तो हम न केवल उसमें सम्मिलित कर सकते हैं, प्रत्युत उसमें उन्हें एक अच्छा स्थान भी दे सकते हैं। इनके विषय में हमारा यह कह देना कदापि उचित नहीं कि ये संत कबीर जैसे कवियों के आदर्श पर, उनके अनुकरण मात्र में रची गई होंगीं; क्योंकि इनकी अपनी एक परम्परा भी अपभ्रंश की रचनाओं के ही काल से चली आ रही थी और इनके रचयिताओं के लिए किसी अन्य का अनुसरण करना आवश्यक न था। और फिर यदि स्वयं संत कवि ही उपर्युक्त परम्परा द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित रहे हों तो वैसे कथन का कोई महत्त्व भी नहीं रह जाता। इसके सिवाय सत नामदेव, कबीरसाहब, रैदास तथा नानक और दादू आदि कवियों की रचनाएं इतनी लोकप्रिय भी रही हैं कि उनकी छाप से वंचित रह जाना कभी जायसी आदि सूफी कवि तथा सूर, तुलसी, मीरा प्रभृति सगुण वैष्णव कवियों के लिए भी असंभव था।

संतों एवं जैन कवियों की रचनाओं में केवल उपर्युक्त समानता को देखते हुए हम उन्हें किसी एक ही वर्ग में रख भी नहीं सकते। जैन कवि प्रायः अपनी मान्यता विशेष तथा अपनी पारिभाषिक शब्दावली की ओर भी स्वभावतः आकृष्ट होते रहते हैं और वे अधिक शिक्षित तथा विद्वान् तक भी प्रतीत होते हैं जहां संतों की भावधारा में विविध धर्मों एवं दर्शनों के विचार-स्रोतों का संगम दीख पड़ता है और इनमें से कई की अनगढ़ भाषा एवं अटपटी वर्णन-शैली में किसी निर्दिष्ट नियम का पता नहीं चलता। इसके सिवाय संतों की बानियों में जहां हमें किसी अनिर्वचनीय परमतत्त्व की ओर भी संकेत जान पड़ता है वहां जैन कवियों के लिए वह केवल एक अनुपम आदर्श मात्र ही प्रतीत होता है जिस कारण ये उसके प्रति किसी आराधना का भाव रखते हुए भी दार्शनिक द्वैताद्वैत विचारों के फेर में नहीं पड़ते।

जैनाचार्यों की छन्दशास्त्र के लिए देन

डा. गुलाबचन्द्र चौधरी एम. ए. पी-एच. डी. आचार्य

छन्द विज्ञान न केवल संस्कृत साहित्य का ही अपितु प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का भी एक अद्भुत एवं अति महत्त्व का अंग है। व्याकरण के समान ही पूर्वाचार्यों ने इसे छह वेदांगों में से एक माना है। पर इसके नियम न तो अपौरुषेय हैं और न किसी दैवी शक्ति द्वारा नियंत्रित हैं। कोई भी व्यक्ति जिसके कान संस्कृत, प्राकृत आदि के पाठोच्चारण से साधारणतः परिचित हैं, वह यह बात भली भांति पहिचान सकता है कि कौन पद्य है और कौन पद्य नहीं है तथा पद्य में कहां त्रुटि हैं और उसे किस रूप में पढ़ा जाना चाहिये। इस प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान हमें वह शक्तिप्रदान करता है जो गद्य पद्य का निर्णय कर अनेक अशुद्धियों का शोधन कर सके। प्रायः देखा जाता है कि प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में पाठकों की सुविधा का थोड़ा भी ध्यान रखे विना यति-विराम आदि के नियमों की उपेक्षा की गई है। गद्य पद्य को एक में मिलासा दिया गया है। उनके आधार पर छपे हुए बहुत से ग्रन्थ भी अशुद्ध छपे हैं, जिन्हें शीघ्र शुद्ध करना बड़ा कठिन हैं। यह छन्दशास्त्र का ज्ञान हमें इस कठिनता से पार लगा देता है। इतना ही नहीं इसके ठीक ज्ञान से हम काव्यग्रन्थों की तथा पद्यबन्ध अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थों की सर्वसाधारण भूलों को—लुप्तांश, क्षेपक और परिवर्तनों को भी ताड़ सकते हैं।

भारतीय छन्दशास्त्र अपने छन्दों की बहुरूपता और संख्या के कारण संसार की सभी ज्ञात साहित्यिक भाषाओं के छन्दशास्त्र की तुलना में अति पुष्ट एवं समृद्ध प्रमाणित हुआ है।

भारतीय छन्द विज्ञान के क्षेत्र में आचार्य पिङ्गल का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। यद्यपि उससे पहले इस विज्ञान के प्रतिष्ठापक अनेक आचार्य हो गये हैं। फिर भी यह नाम इतना प्रिय हो गया है कि पिङ्गल और छन्द एकात्मबोधक हो गये और छन्द का पर्यायवाची पिङ्गल समझा जाने लगा। यहां तक कि ईसाकी १३-१४ वीं शता० में प्राकृत छन्दों पर लिखे गये एक ग्रन्थ का नाम ही प्राकृत पिङ्गल हो गया। पिङ्गल के बाद इस विषय के अनेक आचार्य हुए हैं; पर केदारभट्ट के 'वृत्तरत्नाकर' को छोड़ न मालूम उन्हें वैसी ख्याति क्यों न प्राप्त हो सकी।

आधुनिक अनुसंधानों के फलस्वरूप छन्दशास्त्र पर लिखी गई कुछ जैन विद्वानों की

महत्त्वपूर्ण कृतियां उपलब्ध हुई हैं जो न केवल संस्कृत छन्दों पर ही, बल्कि प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों पर भी प्रचुर प्रकाश डालती हैं।

इन ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने से तथा जैन काव्यों के आलोड़न करने से यह भली भांति विदित होता है कि जैन विद्वानों ने छन्दशास्त्र के विकास में कितना बड़ा योग दिया है। उन्होंने ध्वनि एवं संगीत के अनुरूप विविध नये छन्दों को बनाने के उपाय बताये और इस तरह छन्दशास्त्र की परम्परा में अज्ञात अनेक छन्दों को जन्म दिया। उदाहरण के लिये हम भगवज्जिनसेन और उनके शिष्य गुणभद्र की रचनायें—आदिपुराण और उत्तरपुराण को ही देखें तो यह बात स्पष्ट ज्ञात हो जाती है कि उन विद्वानों ने अपनी अनूठी रचनाओं में संस्कृत साहित्य में प्रचलित प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध छन्दों के अतिरिक्त १८-२० ऐसे छन्दों का प्रयोग किया है जिन्हें हम आधुनिक छन्दशास्त्रों में बड़ी कठिनाई से पावेंगे। उसी प्रकार दूसरे कवि सोमदेव के यशस्तिल चम्पू को देखने से मालूम होता है कि उसमें इतने प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है कि जिनका विश्लेषण करना अति कठिन है। इस काव्य में सोमदेवने संस्कृत के विविध छन्दों के साथ प्राकृत और अपभ्रंश के अनेक छन्दों का संस्कृत की कविता में प्रयोग कर कवित्व का कौशल दिखाया है। इसमें दुवई (द्विपदी) मयणावयार (मदनावतार) चौपई (चतुष्पदी) पज्झटिका (पद्धतिका), घत्ता, क्रीड़ा आदि प्राकृत, अपभ्रंश छन्दों को संस्कृत छन्दों के रूप में पाते हैं।[1]

अनुसंधान करने पर मालूम होता है कि इस क्षेत्र में न केवल जिनसेन व सोमदेव ही थे, बल्कि उनसे पहले कुछ आचार्योंने इस दिशा में प्रयत्न किये हैं। पूज्यपाद की संस्कृत भक्तियां (दशभक्ति ग्रन्थ) दुवई छन्द के सुन्दरतम उदाहरण हैं।

ईसा की ८ वीं शताब्दी से लेकर १५ वीं तक जैन छन्दकारोंने भारतीय छन्दशास्त्र क क्षेत्र में एक क्रान्तिसी ला दी। इनमें सर्व प्रधान आचार्य हेमचन्द्र का नाम सदास्मरणीय है। इन्होंने पचासों नये छन्दों को आविष्कृत कर सोदाहरण प्रस्तुत किये और अपनी विविध साहित्यिक कृतियों में उनका उपयोग भी किया।

जैन विद्वानों द्वारा यह कार्य इस लिए भी सुकर हुआ कि वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होने के साथ प्राकृत और देशी भाषाओं के भी बड़े विद्वान् होते थे। जनसमुदाय में अपने धर्म का प्रसार करने के लिए उन्हें निरन्तर प्राकृत एवं देशी बोलियों का सहारा लेना पड़ता था। उन्होंने जनसामान्य के कर्णों से परिचित प्राकृत छन्दों को सरलता से संस्कृतरूप

---

1 यशस्तिलक एन्ड इन्डियन कल्चर (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) पृ. १७७।

में परिणत किया और संस्कृत के सरल छन्दों को प्राकृत भाषा में परिणत किया। सुतरां उनके ये प्रयोग दोनों भाषाओं के लिए एक बड़ी देन सिद्ध हुए। यों तो उन्हें किसी भाषा-विशेष के प्रति कोई आग्रह न था, पर जनमन की रुचि के अनुकूल यह प्रयत्न आवश्यक था इससे यह देन अनायास हो गई।

यहां भारतीय छन्दों के विकासक्रम पर कुछ कह देना उचित होगा। छन्दों का संगीत से बहुत अधिक सम्बन्ध है, क्योंकि वे गाने के लिए ही बनाये गये हैं। गाथा यह सामान्य नाम गानेयोग्य सभी छन्दों का द्योतक है। यदि हम वैदिक छन्दों से लेकर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के तथा पीछे देशी भाषाओं के छन्दों को विकास की दृष्टि से देखें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। हमारे छन्दज्ञ पूर्वाचार्योंने संगीत के प्रधान तीन तत्त्वों को अपना कर छन्दशास्त्र का बहुत बड़ा विकास किया है। वे तत्त्व हैं–स्वर, वर्ण एवं ताल। (१) स्वर संगीत–उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित आदि स्वरों के मेल से गाये जाते हैं। इस कोटि में वैदिक छन्द अनुष्टुभ्, त्रिष्टुभ् आदि आते हैं; जिनका कि पूर्ण विकास सामवेद दिखता है। (२) वर्ण संगीत–संस्कृत साहित्य के अक्षर छन्दों (वर्ण वृत्तों) का विकास इस संगीत के सहारे ही हुआ है। वैदिक काल का अन्त होते–होते छन्दों के पाठ में जो भेद दिखाई देते हैं, वे वर्णसंगीत के कारण ही हैं। इसमें अक्षर और उनकी मात्राओं की गणना उदात्तादि स्वरों से न होकर दूसरे ही प्रकार–मगण आदि और ह्रस्व दीर्घ आदि मात्राओं से होने लगी। इसीसे आलापों के वैविध्य पर ही छन्दों की गति चलने लगी और इसके फलस्वरूप उपजाति आदि छन्दों का आविर्भाव हुआ। समान अक्षरवाले गेय छन्द हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता आदि का नाम संगीत–ध्वनि के अनुकरण पर ही किया गया प्रतीत होता है। (३) तीसरे प्रकार का संगीत तालसंगीत कहलाता है जो कि बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह संगीत जनप्रिय भाट, चारणों द्वारा वाद्यों के सहारे गाया जाता था। संस्कृत के मात्रा छन्दों का एक विशेष प्रकार वैतालीय छन्द और उसके अनेक भेद–प्रभेद इस संगीत के सहारे ही विकसित हुए हैं। वैतालीय नाम ही इस बात का द्योतक है। वे छन्द वैतालिक–भाट, चारण आदि द्वारा अनेक प्रकार के तालों पर गाये जाते थे। मागधी प्राकृत के वैतालीय छन्दों का नाम मागधिक था जो कि मागध से सम्बंधित थे, और मागध का अर्थ होता है भाट–चारण।

जो हो, पर इस प्रकार के छन्द तालों की गति पर आश्रित थे और जनसाधारण में बहुत प्रिय थे। और तो और, प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों का विकास एवं नामकरण

ताल संगीत के सहारे ही हुआ है[1]। पीछे देशी भाषाओं के छन्द लावनी, दादरा, ठुमरी, झप आदि तालसंगीत पर ही बने हैं[2]। यद्यपि जैन और बौद्ध सन्तोंने इन भाषा के छन्दों में अनेक रचनाएं की हैं; पर हमें यह मानना पड़ेगा कि उन सन्तों का प्रयत्न रागात्मक वस्तुदृष्टि से ताल संगीत के स्नेह के वश से न होकर जनता में अपना उपदेश प्रसार करने के लिए, उस पर उपदेशों का स्थायी प्रभाव डालने के लिए ही हुआ है। इस आशय से ही उनने जनप्रिय छन्दों का प्रयोग किया है।

छन्दशास्त्र स्थूलरूप से दो भागों में विभक्त किया गया है-प्रथम वर्ण छन्द जिसे अक्षर छन्द या केवळ 'वृत्त' नाम से कहते हैं। द्वितीय मात्रा छन्द जिसे 'जाति' नाम से भी कहते हैं। पादों की व्यवस्था के अनुसार वर्ण छन्दों को समवृत्त, विषमवृत्त और अर्ध समवृत्त के रूप में विभक्त किया गया है। प्राकृत छन्दों की अपेक्षा संस्कृत में समवृत्त छन्दों की संख्या बहुत अधिक है। विद्युन्माला, दोधक, उपजाति आदि इसके ही भेद हैं। विषमवृत्त-उद्गता आदि की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। उद्गता बहुत प्राचीन छन्द है जिसे अनेक महाकविओंने अपने काव्यों में प्रयुक्त किया है। जैन कवि वीरनन्दि (१० वीं शता.) ने भी अपने काव्य चन्द्रप्रभचरित में इसका प्रयोग किया है। अर्धसमवृत्त छन्दों की संख्या विषमवृत्तों से कुछ अधिक है। इस वर्ग के वियोगिनी, पुष्पिताग्रा और मालभारिणी नामक छन्दों का प्रयोग संस्कृत के महाकवियोंने विशेषरूप से किया है। संस्कृत में अर्ध-समवृत्त छन्द की पुष्टि प्रायः प्राकृत के छन्दविद् कवियोंने की है। आ० हेमचन्द्रने अन्य कवियों की अपेक्षा ऐसे छन्दों की संख्या अधिक दी है।[3]

वर्ण वृत्तों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि प्रत्येक छन्द के प्रत्येक चरण में कुछ नियत स्थान पर यति-विराम की योजना होती है। यति का अर्थ छन्दज्ञ विद्वानोंने विच्छेद, विराम, या वाग्विराम किया है। हेमचन्द्रने इसकी एक सुन्दर व्याख्या 'श्रव्यो विरामो' दी है। इस यति की योजना के सम्बन्ध में प्राचीन छन्दज्ञ विद्वानों में मतभेद है। जैन छन्दज्ञ स्वयम्भू कवि ने कुछ ऐसे मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि पुराने छन्दज्ञों में केवल श्वेतपट जयदेव और आ० पिङ्गल यति की योजना को आवश्यक मानते थे और भरत, काश्यप, सैतव तथा अन्य विद्वान् इसे आवश्यक नहीं मानते थे। जैन छन्दज्ञों में से जयदेव, स्वयम्भू, हेमचन्द्र और कवि दर्पणकारने यति की योजना के सम्बन्ध में अपने-अपने मत

१. प्रो. वेलणकर: छन्द और संगीत, पूना ओरियण्टलिस्ट, भाग ८, सं. ३-४, पृष्ठ २०२ प्रभृ
२. प्रो. रामनारायण पाठक, मात्रा छन्दों में जगण की स्थिति, भारतीय विद्या, भाग १० पृ० ५८ प्र.
३. प्रो. वेलणकर: जयदामन् की प्रस्तावना. पृ. १८।

प्रकट किये हैं। यथार्थ में इन छन्दज्ञ विद्वानों ने यति की योजना का आविष्कार कर अनेक छन्दात्मक गीतों की उत्पत्ति में प्रेरणा प्रदान की है[1]।

मात्रा छन्दों को द्विपदी-आर्या गीति आदि; चतुष्पदी मात्रासमक आदि; अर्धसम-चतुष्पदी-वैतालीय आदि में विभक्त किया गया है। संस्कृत के मात्रा छन्दों की संख्या कुल मिला कर ४२ है और वे तालवृत्तों (ताल के अधीन छन्दों) और वर्णवृत्त के सांकर्य से बने हैं। अतः किसी प्रकार के संगीत के लिए उपयुक्त नहीं है। प्राकृत के मात्रा छन्द ताल संगीत के अनुकरण पर निर्मित होने के कारण संख्या में बहुत अधिक हैं।

ऊपर्युक्त संक्षिप्त विश्लेषण से यह भली भांति विदित होता है कि सामान्य रूप से छन्दों के संस्कार में, परिवर्तन एवं परिवर्धन में जैन विद्वानों ने सक्रिय योगदान किया था।

इन विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के छन्दों पर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। संस्कृत छन्दों पर श्वेतपट जयदेव का छन्दशास्त्र (लग० ई० ६००-९०० के बीच), दिगम्बराचार्य जयकीर्ति का छन्दोनुशासन (लग० १० वीं शता० का पूर्वार्ध) आचार्य हेम-चन्द्र का छन्दोनुशासन (१२ वीं शता०) अज्ञातकर्तृक 'रत्नमंजूषा' (लग. १३ वीं शता०) तथा अमरचन्द्रसूरिकृत 'छन्दोरत्नावली' (१३ वीं शता०) नामक ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों पर यद्यपि आ० हेमचन्द्र और अमरचन्द्रसूरि के ग्रन्थों से प्रकाश पड़ता है, पर दूसरे और भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिले हैं, जैसे नन्दिताढ्य का 'गाहालक्खण' (लग. ६ वीं शता०) स्वयम्भू कवि का 'स्वयम्भूच्छन्द' (८-९ वीं शता०) अज्ञातकर्तृक 'कविदर्पण' (लग. १३ वीं शता०) राज(रत्न)शेखरसूरि का 'छन्दोकोश' (१५ वीं शता०) और राजमल्ल पाण्डेय (१७ वीं शता०)। इनके अतिरिक्त वाग्भट कवि का 'छन्दोनुशासन' रामविजयगणि का 'छन्दः शास्त्र', धर्मनन्दनगणि का 'छन्दस्तत्त्व', अज्ञातकर्तृक 'छन्दः-कन्दली', एवं अज्ञातकर्तृक 'वृत्तस्वरूप' नामक ग्रन्थों का पता ग्रन्थसूचियों से लगता है। महाकवि वाग्भटने अपने नेमिनिर्वाण काव्य के सप्तम सर्ग में लगभग ४४ छन्दों के उदाहरण पुरष्कृत किये हैं जिनमें प्रमाणिका, चन्द्रिका, नन्दिनी, अशोकमालिनी, शरमाला, अच्युत, सोमराजी, चण्डवृष्टि आदि कतिपय नयें छन्दों का प्रयोग किया गया है।

यहां कतिपय छन्दकारों का परिचय और उनके ग्रन्थों की विशिष्टता के सम्बन्ध में कहा जाता है।

---

१. जयदामन् की भूमिका पृष्ठ १८

२. प्रो. वेलणकर : छन्द और संगीत, पूना ओरियण्टलिस्ट भा. ८, सं० ३०४ पृ. २०२ प्र.।

जयदेव—जैन छन्दशास्त्रकारों में जयदेव सब से प्राचीन हैं। इनका उल्लेख १० वीं शता० के आसपास के अनेक ग्रन्थों में मिलता है। भट्ट हलायुध (ई. १० वीं शता० उत्तरार्ध) ने पिङ्गलसूत्रों की टीका लिखते हुए जयदेव की दो मान्यताओं की दो स्थलों पर आलोचना की हैं[1], वहां इनका केवल श्वेतपट नाम से उल्लेख है। ये श्वेतपट आचार्य कौन थे यह बात वृत्तरत्नाकर के टीकाकार सुल्हण (ई. १२ वीं शता. उत्तरार्ध) से मालूम होती है। उसने हलायुद्ध द्वारा आलोचित मान्यताओं में से एक का उल्लेख करते हुए उनका नाम श्वेतपट जयदेव लिखा है। ये इतने प्रसिद्ध थे कि कन्नड छन्दकार नागवर्म (ई. ८९०) ने अपने ग्रन्थ छन्दोम्बुधि में इनका उल्लेख किया है। स्वयम्भू (ई. ७–८ वीं शता.) इन्हें यति के संस्थापक आचार्यों में से एक माना हैं। इनके ग्रन्थ की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति वि. सं. ११८१ जैसलमेर जैन भण्डार से मिली है। पीछे के अनेक जैन, अजैन छन्दग्रन्थों में इनका आदरपूर्वक उल्लेख मिलता है। ग्रन्थकार जैन थे इसका प्रमाण उनके ग्रन्थ का मंगलाचरण है जिसमें वर्धमान जिन को नमस्कार किया है। ये ७–८ वीं शताब्दी के पूर्व के थे ऐसा प्रतीत होता है।

जयदेवने विषयक्रम के विभाजन में यद्यपि पिङ्गल का अनुकरण किया है पर उनकी रचनाशैली भिन्न है। उन्होंने लौकिक (वेदेतर) छन्दों के लक्षण पद्यशैली में इस तरह प्रस्तुत किये हैं कि वे स्वयं उदाहरण का काम देते हैं। इनकी शैली का अनुकरण पीछे के अनेक ग्रन्थकारोंने किया है। जैन होते हुए भी जयदेवने अपने इस ग्रन्थ में सूत्रशैली में तीन अध्यायों से वैदिक छन्दों का निरूपण किया है। एक जैन द्वारा इस निरूपण की क्या आवश्यकता थी? इस सम्बन्ध में हम अनुमान करते हैं कि जयदेव, संभव है, उस युग में हुए हों जब कि 'संस्कृत' वैदिक धर्मानुयायियों की बपौती समझी जाती थी और उस गतानुगतिक युग में जो भी व्यक्ति छन्दशास्त्र पर लेखनी चलाना चाहता था उसे अपने ग्रन्थ की विद्वत् समाज से मान्यता प्राप्त करने के लिए वैदिक छन्दों का वर्णन करना आवश्यक था, तथा उनकी अवहेलना करना असंभव था।

इनका ठीक समय बतलाना कठिन है। यह छन्दकारों द्वारा पिङ्गल के बाद प्रायः इनका उल्लेख करते देखकर और इन ग्रन्थकार द्वारा विषयक्रम और अध्यायों के विभाजन में पिङ्गल का अनुकरण करते देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ये पिङ्गल से कुछ ही शताब्दियों बाद हुए हैं। प्रो० वेलणकर की धारणा है कि वे या तो ई. ६०० और ९०० के बीच हुए हैं या उससे पहले।[2] उनके गुरु एवं मातापिता के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। ग्रन्थ ८

१. पिङ्गल, छन्दःशास्त्रम् (निर्णयसागर प्रेस) पृष्ठ ४ और ५५ २. प्रो. वेलणकर: जयदामन्।

अध्यायों में विभक्त है। जिस पर १२ वीं शताब्दी के कश्मीरी विद्वान् हर्षटने एक टीका लिखी है और वर्धमानसूरिने वृत्ति तथा श्रीचन्द्रसूरिने वृत्तिटिप्पण लिखा है।

नन्दिताढ्यः—इनका नाम प्राकृत में नन्दियड्ढ है जिसका कि टीकाकार के अनुसार नन्दिताढ्य और अवचूरि के अनुसार नन्दितार्ध होता है। इनके ग्रन्थ का नाम गाहालक्षण (गाथालक्षण) है जिसमें गाथा के सभी भेदों के लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। इनके समय का ठीक रूप से निश्चय करना कठिन है, पर इनका अतिप्राचीन आचार्य जैसा नाम देखकर और जैनागमों में विस्तृत रूप से प्रयुक्त तथा प्राचीन छन्दों में से एक 'गाथा' छन्द मात्र के वर्णन में ही इनको सीमित देखकर और जिह तिह किह (३१ वीं गाथा) आदि अपभ्रंश शब्दों के प्रति इनके अवज्ञा के भाव देखकर ऐसा लगता है कि ये बहुत प्राचीन आचार्य थे। इन्होंने अन्य प्राकृत छन्दों का वर्णन, संभव है, इसलिए नहीं किया हो कि वे इनके युग में अधिकाररूप से स्वीकृत न हो सके थे। अपभ्रंश के प्रति इनके तिरस्कार के भाव से यह द्योतित होता है कि इनके युग में यह भाषा जनप्रिय न हो सकी थी और कम से कम जैन विद्वान् उसे आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे।

हेमचन्द्र और उनके पीछे प्राकृत भाषा के अनेक जैन छन्दकारों ने इनके ग्रन्थ से कुछ गाथाओं को उद्धृत किया है, पर वहां ग्रन्थकार का नाम नहीं दिया गया। हो सकता है कि ये १२ वीं शताब्दी के बहुत पहले हुए हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ में ९६ के लगभग गाथाएं हैं, पर केवल ७५ गाथायें मौलिक मालूम होती हैं। इनमें ही गाथा के लक्षण एवं उदाहरण समाप्त हो जाते हैं। पीछे (क्षेपक अंश में) अपभ्रंश भाषा के छन्दों का वर्णन मिलता है; परन्तु ग्रन्थ के नाम और ग्रन्थकार के अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में भावों को देखते हुए यह वर्णन बिल्कुल असंगत लगता है। हो सकता है कि किसी लेखकने उन्हें पीछे से जोड़ दिया हो[1]।

स्वयम्भू कवि—ये प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के बड़े भारी पण्डित थे। इनके पउमचरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ और स्वयम्भू छन्द ये तीन ग्रन्थ मिलते हैं, चौथे पञ्चमीचरिउ का नाम सुना जाता है। ये गृहस्थ थे। इनकी तीन विदुषी पत्नियां थीं। इनके छन्दचूडामणि, विजयशेषित या जयपरिशेष तथा कविराज धवल ये विरुद थे। इनका एक पुत्र त्रिभुवन इन्हीं के समान महाकवि था। ग्रन्थों से इनके व्यक्तित्व का भी पता लगता है कि ये शरीर से बहुत दुबलेपतले एवं ऊँचे थे। इनकी नाक चपटी और दन्त विरल थे, पर इनके गोत्रवंश

---

१. प्रो. वेलणकर, 'नन्दिताढ्य का गाथालक्षण'' भण्डारकर ओ रि. इन्स्टी. की खोजपत्रिका, १४ वी जिल्द, भाग १-२.

आदि का पता नहीं चलता। पुष्पदन्तने इन्हें आपुलीसंघीय लिखा है अर्थात् वे यापनीय सम्प्रदाय के अनुयायी जान पड़ते हैं।[1]

स्वयम्भू का छन्दग्रन्थ ८ अध्यायों में विभक्त है। पहले तीन अध्यायो में प्राकृत के वर्णवृत्तों का और शेष के पांच अध्यायों में अपभ्रंश के छन्दों का विवेचन है, साथ ही छन्दों के उदाहरण भी अनेक पूर्व कवियों के ग्रन्थों से चुन कर दिये गये हैं। इस ग्रन्थ का प्रो. वेलणकरने जिस प्रति के आधार से सम्पादन किया है उसमें प्रारम्भ के २२ पत्र नहीं हैं। जो अंश उपलब्ध है उसमें संस्कृत में जिन्हें वर्णवृत्त मानते हैं, उन्हीं का प्राकृत मात्रावृत्तों के रूप में वर्णन मिलता है। प्राकृत के असली मात्रा छन्द, आर्या, गलतिक, स्कन्धक और शीर्षक आदि का नहीं। खोज से ज्ञात होता है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्टने स्वयम्भू के गीति छन्द के लक्षण को उद्धृत किया है, जो यह प्रमाणित करता है कि कविने विशुद्ध मात्रा वृत्तों पर भी लिखा है और वह अंश प्रारम्भ के लुप्त २२ पत्रों में होना चाहिये।[2] उनका समय तो ठीक-ठीक ज्ञात नहीं, पर श्रद्धेय प्रेमीजी के मतानुसार वे वि. सं. ७३४ और ८४० के बीच होना चाहिये।[3]

जयकीर्तिः—ये कन्नड प्रान्तवासी दिगम्बराचार्य हैं। इनके ग्रन्थ का नाम छन्दोनुशासन है। इसमें वैदिक छन्दों को छोड़कर केवल लौकिक छन्दों का वर्णन ८ अध्यायों में किया गया है। ग्रन्थ की विशेषता यह है कि अन्त के दो अध्यायों में इन्होंने कन्नड छन्दों का विवेचन किया है। ग्रन्थ की रचना पद्यात्मक है जिसमें अनुष्टुभ, आर्या और स्कन्धक छन्दों का विशेष प्रयोग किया गया है। हां, विशिष्ट बात यह है कि छन्दों का लक्षण पूरी तरह या आंशिक रूप में उसी छन्द में लिखा गया है। इस ग्रन्थ को छन्दों के विकास की दृष्टि से तथा कुछ हद तक समय की दृष्टि से भी केदारभट्ट के वृत्तरत्नाकर और हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन के बीच की रचना कह सकते हैं। इनका समय १० वीं शता० या उससे कुछ पहले होना चाहिये, क्यों कि १० वीं शता० पूर्वार्ध के एक जैन कवि असग इनका उल्लेख करते हैं। ग्रन्थ में माण्डव्य, पिङ्गल, जनाश्रय, सेतव, पूज्यपाद और जयदेव को पूर्वाचार्यों के रूप स्मरण किया गया है। छन्दोनुशासन की एक हस्तलिखित प्रति वि. सं. ११९२ की जैसलमेर के ग्रन्थ भण्डार से मिली है।[5]

---

१ पं नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास (द्वि. सं.) पृ० १९६-२११

२. प्रो. भायाणी, स्वयम्भू और प्राकृत छन्द, भारतीयविद्या, भा० भा० ८-१० पृ. १२९.

३. पं. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ २११ (द्वि. सं.)

४. जयदामन् (?) ५ जैन साहित्य और इतिहास, (द्वि. सं.) पृष्ठ ४०५।

हेमचन्द्राचार्य—ये गुजरात के स्वर्णयुग के देदीप्यमान सूर्य थे। इन्हें इस अपने युग के सभी ज्ञान, विज्ञान का विश्वकोष (इनसाइक्लोपीडिया) या ज्ञानमहोदधि कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। सम्राट् कुमारपालने इनकी विद्वत्ता से मुग्ध होकर कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि दी थी। इन्होंने नये व्याकरण, नये छन्दशास्त्र, नये अलंकार, नये तर्कशास्त्र, नये काव्य (द्वयाश्रय) और नये जीवनचरित्रों की रचना की थी। ये संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के समानरूप से पारङ्गत विद्वान् थे। इन्होंने अपने छन्दोनुशासन के ८ अध्यायों में से द्वितीय और तृतीय में संस्कृत छन्दों का, चतुर्थ में प्राकृत मात्रावृत्तों का तथा पंचम से सप्तम तक अपभ्रंश छन्दों का विस्तार से वर्णन किया है तथा पहले में छन्दशास्त्र की प्रारंभिक संज्ञाएं और ८ वें में प्रसारादि का विवेचन दिया है।

हेमचन्द्र प्रत्येक विषय में शास्त्रीय विवेचनावाले पण्डित थे। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में प्राचीन नवीन सभी छन्दों का वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया है तथा अनेक नये छन्दों के लक्षण और इनके उदाहरण स्वयं निर्मित किये हैं। इनका उपयोगी ग्रन्थ सूत्रशैली में लिखा गया है तथा उस पर इनकी स्वोपज्ञवृत्ति भी मिलती है। आचार्य हेमचन्द्र का समय ११४५ से १२२९ माना जाता है।

रत्नमंजूषाकार—दुर्भाग्य से ग्रन्थकर्ता का नाम अज्ञात है और टीकाकार का भी। पर टीकाकार जैन थे यह प्रारम्भिक मङ्गलाचरण से मालूम होता है। जिस में उनने वीर (महावीर) को नमस्कार किया है तथा अनेकों छन्दों के जैनत्व से सम्बंधित उदाहरण दिये हैं। सम्भव है ग्रन्थकार भी जैन थे; क्यों कि उन्होंने पिङ्गल आदि द्वारा सम्मत ८ गणों की संज्ञाओं का नाम ज, भ, आदि रूप से न देकर भिन्न रूप से दिया है तथा १८–२० ऐसे नये छन्दों का वर्णन किया है जो कि जैन परम्परा के आचार्य हेमचन्द्र को ही मालूम थे। ग्रन्थ में ८ अध्याय है जिनमें केवल लौकिक संस्कृत छन्दों का वर्णन सूत्रशैली में किया गया है। ८ गणों के नामकरण में भी दो क्रम अपनाये गये हैं। एक तो व्यञ्जनक्रम क, च, त, प, श, ष, स, ह और दूसरा स्वरक्रम आ, ऐ, औ, ई, अ, उ, ऋ, इ। इसके अतिरिक्त चार द्विकों को आविष्कृत किया गया हैं जो य, र, ल, व नाम से हैं। गुरु की संज्ञा ' म ' और लघु को ' न ' कहा गया है।[1]

कविदर्पणकार—दुख है कि इस ग्रन्थ के कर्ता का नाम अब तक नहीं मालूम हुआ। इसके ग्रन्थकार और टीकाकार हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन से अच्छी तरह परिचित थे। इस

---

1. प्रो. वेलणकर द्वारा सम्पादित एवं भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड, बनारस से प्रकाशित ' रत्नमंजूषा '।

ग्रन्थ का उल्लेख जिनप्रभसूरि (सं. १३६५) करते हैं। ग्रन्थ में ६ अध्याय हैं। प्राकृत छन्दों का विवेचन प्राकृत भाषा में किया गया है। छन्दों में यति की योजना के विषय में ग्रन्थकारने पिङ्गल और स्वयम्भू का अनुसरण किया है। मात्रा छन्दों के वर्णन में ग्रन्थकार ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इन्हें ११ भागों में विभक्त किया गया है, जिन में द्विपदी, चतुष्पदी, पञ्चपदी, षट्पदी छन्द और अष्टपदी तो एक से चरणों के बने होते हैं तथा सप्तपदी, नवपदी, दसपदी, एकादशपदी, द्वादशपदी एवं षोडशपदी छन्द किसी अन्य छन्दों के २ या ३ चरणों के सहारे से बनाये जाते हैं। इस प्रकार के छन्दों को सार्धच्छन्द कहते हैं। यद्यपि वैदिक छन्दों में इस प्रकार के छन्द पाये जाते हैं, पर प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में इन का प्रयोग बड़ी स्वतन्त्रता से हुआ है।

कविदर्पणकारने अनेकों अपभ्रंश छन्द–उल्लासक, दोहक, घत्ता आदि को प्राकृत छन्दों के रूप में अपना लिया हैं। हेमचन्द्रने दोहा छन्दों की स्थिति गौण रखी है जब कि कविदर्पण में उन्हें मुख्य स्थान दिया गया है। कविदर्पणकार एक व्यावहारिक पुरुष थे। उन्होंने अपने युग में व्यवहृत छन्दों पर ही विशेषरूप से जोर दिया है और इस तरह अपने समय के भाट–चारणों के उपयोग के लिए पथप्रदर्शक का काम किया है। उनकी सबसे बड़ी देन है छन्दों के बीच सार्धच्छन्दों को स्थान देना।[1]

अमरचन्द्रसूरि—ये प्रसिद्ध जैन महामात्य वस्तुपाल के विद्यामण्डल के चमकते हुए तारों में से एक थे। इनके ग्रन्थ का नाम छन्दोरत्नावली है। ग्रन्थ ८ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम ६ अध्यायों में संस्कृत छन्दों का, ७ वें में प्राकृत छन्दों एवं ८–९ वें में अपभ्रंश छन्दों का वर्णन है। ग्रन्थ पर आ. हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन की पूर्ण छाप है। आकार में वह छन्दोनुशासन का एक चौथाई है, पर व्यावहारिक दृष्टि से छन्द सीखनेवालों के लिए बहुत उपयोगी है। ग्रन्थकारने छन्दों के उदाहरण ग्रन्थान्तरों से दिये हैं। अपभ्रंश छन्दों के जो उदाहरण दिये गये हैं वे उक्त भाषा के साहित्य पर इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।[2]

रत्नशेखरसूरिः—ये नागपुरीय तपागच्छ के आचार्य हेमतिलक के शिष्य थे। इनका समय वि. सं. १४२८–५० है। ग्रन्थ का नाम 'छन्दोकोश' है जो कि ७४ प्राकृत गाथाओं में प्राकृत छन्दों का विवेचन करता है। ग्रन्थ प्राकृत पिङ्गल से बहुत मिलता–जुलता है।

---

१. प्रो. वेलणकर, कविदर्पणम्, भण्डारकर. ओ. रि इ पूना की खोजपत्रिका, भाग १६, स. १–२; भाग १७ स. १–२। २. डा भोगीलाल साण्डेसराः महामात्य वस्तुपाल का विद्यामण्डल (अंग्रेजी, भारतीयविद्या भवन से प्रकाशित) पृ. १७५–१७६.

इसमें अल्लु और गल्लु (अर्जुन और गोशाल) नाम के दो प्राकृत छन्दकारों का उल्लेख मिलता है। इसकी उक्त गच्छाचार्य चन्द्रकीर्ति (सं. १६१३) ने संस्कृत में टीका लिखी है।[1]

राजमल्ल पाण्डेः—इनका रचित संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी का मिश्रणात्मक एक निराला छन्दोग्रन्थ है जिसका 'छन्दशास्त्र' नाम दिया गया है। ये नागौर देश के नृप भारमल्ल के आश्रित थे जो कि बादशाह अकबर के समकालीन थे। अत एव इनके ग्रन्थों में अकबर कालीन अनेकों ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख मिलता है। इनके रचित पञ्चाध्यायी, लाटीसंहिता, जम्बूस्वामिचरित, अध्यात्मकमलमार्तण्ड चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं।[2]

उपर्युक्त विवेचित आचार्यों के ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन विद्वानोंने अनेक जैनेतर छन्दशास्त्रों पर टीकाएं लिखी हैं। कालिदास के श्रुतबोध पर हर्षकीर्ति, हंसराज, और कान्तिविजय गणि की टीकाएं प्राप्त हैं तथा केदारभट्ट के वृत्तरत्नाकर पर सोमचन्द्रगणि, क्षेमहंसगणि, समयसुन्दर उपाध्याय, आमड और मेरुसुन्दर की टीकाएं उपलब्ध हुई हैं।[3]

इस तरह जैन विद्वानोंने भारतीय छन्दःशास्त्र की सर्वाङ्गीण उन्नति की है। इन विद्वानों के छन्द ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि छन्दों के क्षेत्र में संस्कृत ने प्राकृत भाषाओं को उतना प्रभावित नहीं किया जितना कि वह उनसे प्रभावित हुई है, तथा प्राकृत भाषायें संस्कृत के आधार पर समृद्ध न होकर वैदिक काल से ही बहुत कुछ स्वतन्त्र रूप से अपने विकास पथ पर बढती रही हैं, उनके छन्दशास्त्र का विकास इस बात का साक्षी है।

---

१ जिनरत्नकोश भा. १, पृ. १२७. २ जैन सिद्धान्तभास्कर भा २०, कि. २. पृष्ठ ३३. ३ जिनरत्नकोश भाग १. पृष्ठ ३६४, और ३९८.

प्राकृत भाषा का अजितशांति स्तोत्र छंदों के वैविध्य के लिए उल्लेखनीय है। हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में जैन विद्वानों के कई छंदग्रन्थ उपलब्ध हैं। संस्कृत–प्राकृत के छंदों पर कई ऊंचे ग्रंथ भी प्राप्त है।

(संपादक—अगरचंदजी नाहटा)

पुराण और काव्य

श्री पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

भारतीय धर्मग्रन्थों में पुराण शब्द का प्रयोग इतिहास के साथ आता है। कितने ही लोगोंने इतिहास और पुराण को पञ्चमवेद माना है। चाणक्यने अपने अर्थशास्त्र में इतिहास की गणना अथर्ववेद में की है और इतिहास में इतिवृत्त, पुराण, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का समावेश किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इतिहास और पुराण दोनो ही विभिन्न हैं। इतिवृत्त का उल्लेख समान होने पर भी दोनों अपनी विशेषता रखते हैं। कोषकारोंने पुराण का लक्षण निम्न प्रकार माना है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितश्चेत्र पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

जिस में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंश परम्पराओं का वर्णन हो वह पुराण है। सर्ग, प्रतिसर्ग आदि पुराण के पांच लक्षण हैं। इतिवृत्त केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है; परन्तु पुराण महापुरुषों की घटित घटनाओं का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्य फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है। तथा साथ ही व्यक्ति के चरित्र-निर्माण की अपेक्षा बीच-बीच में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिवृत्त में केवल वर्तमानकालिक घटनाओं का उल्लेख रहता है; परन्तु पुराण में नायक के अतीत, अनागत भवों का भी उल्लेख रहता है, और वह इसलिये कि जनसाधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है? अवनत से उन्नत बनने के लिये क्या-क्या त्याग और तपस्यायें करनी पड़ती हैं। मनुष्य के जीवननिर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है।

जैनेतर समाज का पुराण-साहित्य बहुत विस्तृत है। वहां १८ पुराण माने गये हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—१ मत्स्यपुराण, २ मार्कण्डेयपुराण, ३ भागवतपुराण, ४ भविष्यपुराण, ५ ब्रह्माण्डपुराण ६ ब्रह्मवैवर्तपुराण, ७ ब्राह्मपुराण, ८ वामनपुराण, ९ वराहपुराण, १० विष्णुपुराण, ११ वायु वा शिवपुराण, १२ अग्निपुराण, १३ नारदपुराण, १४ पद्मपुराण, १५ लिङ्गपुराण, १६ गरुडपुराण, १७ कूर्मपुराण और १८ स्कंदपुराण।

ये अठारह महापुराण कहलाते हैं। इनके सिवाय गरुडपुराण में १८ उपपुराणों का भी उल्लेख आया है जो कि निम्न प्रकार है—

१ सनत्कुमार, २ नारसिंह, ३ स्कान्द, ४ शिवधर्म, ५ आश्चर्य, ६ नारदीय, ७ कापिल, ८ वामन, ९ औशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ वारुण, १२ कालिका, १३ माहेश्वर, १४ साम्ब, १५ सौर, १६ परीशर, १७ मारीच और १८ भार्गव।

देवी भागवत में उपर्युक्त स्कान्द, वामन, ब्रह्माण्ड, मारीच और भार्गव के स्थान में क्रमशः शिव, मानव, आदित्य, भागवत और वाशिष्ठ इन नामों का उल्लेख आया है।

इन महापुराणों और उपपुराणों के सिवाय अन्य भी गणेश, मौद्गल, देवी, कल्की आदि अनेक पुराण उपलब्ध हैं। इन सब के वर्णनीय विषयों का बहुत विस्तार है। कितने ही इतिहासज्ञ लोगों का अभिमत है कि इन आधुनिक पुराणों की रचना प्रायः ईश्वीय सन् ३०० से ८०० के बीच में हुई है।

जैसा कि जैनेतर समाज में पुराणों और उपपुराणों का विभाग मिलता है वैसा जैन समाज में नहीं पाया जाता है। जैन समाज में जो भी पुराण-साहित्य विद्यमान है वह अपने ढंग का निराला है। जहां अन्य पुराणकार इतिवृत्त की यथार्थता सुरक्षित नहीं रख सके हैं वहां जैनपुराणकारोंने इतिवृत्त की यथार्थता को अधिक सुरक्षित रक्खा है। इसलिये आज के निष्पक्ष विद्वानों का यह स्पष्ट मत हो गया है कि हमें प्राक्कालीन भारतीय परिस्थिति को जानने के लिये जैनपुराणों से-उनके कथाग्रन्थों से जो साहाय्य प्राप्त होता है वह अन्य पुराणों से नहीं।

यहां मैं कुछ दिगम्बर जैन पुराणों की सूची दे रहा हूं जिससे जैन समाज समझ सके कि अभी हमने कितने चमकते हुए हीरे अंधेरे में छिपाकर रखे हुए हैं—

पुराण नाम	कर्त्ता	रचना संवत्
१ पद्मपुराण–पद्मचरित	रविषेण	७०५
२ महापुराण(आदिपुराण)	जिनसेन	नवीं शती.
३ उत्तरपुराण	गुणभद्र	१० वीं शती
४ अजितपुराण	अरुणमणि	१७१६
५ आदिपुराण(कन्नड)	कवि पंप	—
६ आदिपुराण	भ० चन्द्रकीर्ति	१७ वीं शती
७ ,,	भट्टारक सकलकीर्ति	१५ वीं शती
८ उत्तरपुराण	,, ,,	,,
९ कर्णामृतपुराण	केशवसेन	१६८८

१० जयकुमारपुराण	ब्र. कामराज	१५५५
११ चन्द्रप्रभपुराण	कवि अगास देव	—
१२ चामुण्डपुराण (क)	चामुण्डराय	शक सं. ९८०
१३ धर्मनाथपुराण (क)	कवि बाहुबली	—
१४ नेमिनाथपुराण	ब्र. नेमिदत्त	१५७५ के लगभग
१५ पद्मनाभपुराण	भट्टारक शुभचन्द्र	१७ वीं शती
१६ पहुमचरिय(अपभ्रंश)	चतुर्मुख देव	—
१७ ,, ,,	स्वयंभू देव	—
१८ पद्मपुराण	भ० सोमसेन	—
१९ ,,	भ० धर्मकीर्त्ति	१६५६
२० ,, (अपभ्रंश)	कवि रइधू	१५–१६ शती
२१ ,,	भ० चन्द्रकीर्ति	१७ वीं शती
२२ ,,	ब्रह्म जिनदास	१५–१६ शती
२३ पाण्डवपुराण	भ० शुभचन्द्र	१६०८
२४ ,, (अपभ्रंश)	भ० यशःकीर्ति	१४९७
२५ ,,	भ० श्रीभूषण	१६५७
२६ ,,	वादिचन्द्र	१६५८
२७ पार्श्वपुराण (अपभ्रंश)	पद्मकीर्त्ति	९८९
२८ ,, (,,)	कवि रइधू	१५–१६ शती
२९ ,,	चन्द्रकीर्ति	१६५४
३० ,,	वादिचन्द्र	१६५८
३१ महापुराण	आचार्य मल्लिषेण	११०४
३२ महापुराण (अपभ्रंश)	महाकवि पुष्पदन्त	—
३३ मल्लिनाथपुराण (क०)	कवि नागचन्द्र	—
३४ पुराणसार	श्रीचन्द्र	—
३५ महावीरपुराण	कवि असग	९१०
३६ महावीरपुराण	भ० सकलकीर्ति	१५ वीं शती
३७ मल्लिनाथपुराण	,,	,,

३८	मुनिसुव्रतपुराण	ब्रह्म कृष्णदास	—
३९	,,	भ० सुरेन्द्रकीर्ति	—
४०	वागर्थसंग्रहपुराण	कवि परमेष्ठी	आ. जिनसेन के महापुराण से प्रा० कर्ता
४१	शान्तिनाथपुराण	कवि असग	१० वीं शती
४२	,,	भ० श्रीभूषण	१६५९
४३	श्रीपुराण	भ० गुणभद्र	
४४	हरिवंशपुराण	पुन्नाटसंघीय जिनसेन	शक संवत ७०५
४५	हरिवंशपुराण (अपभ्रंश)	स्वयंभूदेव	
४६	,, (,,)	चतुर्मुखदेव	
४७	,,	ब्र. जिनदास	१५-१६ शती
४८	,, (अपभ्रंश)	भ. यशःकीर्ति	१५०७
४९	,,	भ० श्रुतकीर्ति	१५५२
५०	,,	कवि रइधू	१५-१६ शती
५१	,,	भ० धर्मकीर्ति	१६७१
५२	,,	कवि रामचन्द्र	१५६० के पूर्व

इनके अतिरिक्त चरित ग्रन्थ हैं जिनकी संख्या पुराणों की संख्या से अधिक है और जिन में 'वराङ्गचरित' 'जिनदत्तचरित' 'जसहरचरिऊ' 'णागकुमारचरिऊ' आदि कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सम्मिलित हैं। पुराणों की उक्त सूची में से रविषेण का पद्मपुराण, जिनसेन का महापुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण और पुन्नाटसंघीय जिनसेन का हरिवंश-पुराण सर्वश्रेष्ठ पुराण कहे जाते हैं। इनमें पुराण का पूर्ण लक्षण घटित होता है। इनकी रचना पुराण और काव्य दोनों की शैली से की गई है। इनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं जो अध्ययन के समय पाठक का चित्त अपनी ओर बलात् आकृष्ट कर लेती हैं।

जैन पुराणों का उद्गम—

यति वृषभाचार्यने 'तिलोयपण्णत्ति' के चतुर्थ अधिकार में तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम, जन्मनगरी, पंच कल्याणक तिथि, अन्तराल, आदि कितनी ही आवश्यक वस्तुओं का संकलन किया है। जान पड़ता है कि हमारे वर्तमान पुराणकारोंने उस आधार को दृष्टिगत रख कर पुराणों की रचनाएं की हैं। पुराणों में अधिकतर त्रैशठशलाका पुरुष का चरित्र-चित्रण है। प्रसङ्गवश अन्य पुरुषों का भी चरित्र-चित्रण हुआ है।

इन पुराणों की खास विशेपता यह है कि इनमें यद्यपि काव्यशैली का आश्रय लिया गया है तथापि इतिवृत्त की प्रामाणिकता की ओर पर्याप्त दृष्टि रखी गई है। उदाहरण के लिये रामचरित ही ले लीजिये। रामचरित पर प्रकाश डालनेवाला एक ग्रन्थ 'वाल्मिकि रामायण' है और दूसरा ग्रन्थ रविषेण का 'पद्मचरित' है। दोनों का तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन कीजिये तो आप को तत्काल इस बात का स्पष्ट अनुभव हो जायगा कि वाल्मिकिने कहां कृत्रिमता लाने का प्रयत्न किया है। श्री डाक्टर हरिसत्य भट्टाचार्य, एम. ए. पी.एच. डी. ने 'पौराणिक जैन इतिहास' शीर्षक से एक लेख 'वर्णी अभिनन्दन' ग्रन्थ में दिया है। उसमें उन्होंने जगह-जगह घोषित किया है कि अमुक विषय में जैन मान्यता सत्य है। जैनाचार्योंने स्त्री या पुरुष जिसका भी चरित्र-चित्रण किया है वह उस व्यक्ति के अन्तस्तल को सामने लाकर रख देनेवाला है।

जैन काव्य--

पुराणों के बाद काव्य का नम्बर आता है। पुराणों में जो बात सीधी-साधी भाषा में कही जाती थी वही काव्यों में अलंकृत भाषा के द्वारा कही जाने लगी। कवि-काल में इस बात की होडसी लग गई कि कौन कवि अपनी रचना में कितने अलंकार ला सकता है। फलस्वरूप कविता कामिनी नाना अलंकारों से सुसज्जित होकर संसार के सामने प्रकट हुई। कवियों की चातुर्यपूर्ण भाषा के सामने पुराणों की सीधी-साधी भाषा प्रभावहीन हो गई। आचार्य जिनसेन आदि कुछ ऐसे प्रणेता हुए कि जिन्होंने पुराण और काव्य दोनों की शैली अंगीकृत कर अपनी रचनाएं विद्वत्समाज के समक्ष रक्खीं और कुछ ऐसे ग्रन्थकार भी हुये कि जिन्होंने अपने ग्रन्थ काव्य की शैली से ही लिखे। उभय शैली से लिखा हुआ जिनसेनाचार्यका महापुराण है और विशुद्ध काव्य की शली से लिखे हुए वीरनन्दी का चन्द्रप्रभ, हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, वादिराज का गद्यचिन्तामणि, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू आदि ग्रन्थ हैं।

काव्य के दो भेद हैं १ दृश्य काव्य और २ श्राव्य काव्य। दृश्य काव्य में प्रधान नाटक हैं। इस साहित्य की रचना में भी जैन साहित्यकारोंने पर्याप्त योग दिया है। हस्तिमल्ल के विक्रान्तकौरव, सुभद्राहरण, मैथिलीकल्याण और अञ्जनापवनञ्जय प्रसिद्ध नाटक हैं। रामचन्द्रसूरि के भी नलविवाह, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द, राघवाभ्युदय आदि नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। यशपाल का मोहराजपराजय और वादिचन्द्रसूरि का ज्ञानसूर्योदय नाटक भी अद्भुत ग्रन्थ हैं।

श्राव्य काव्य साहित्य गद्य, पद्य और चम्पू के भेद से तीन प्रकार का है। चरितकाव्य, चित्रकाव्य और दूतकाव्य भी इन्हीं के अन्तर्गत हैं। गद्य काव्य में वादी(भ?)(द्र)सिंह की

गद्यचिन्तामणि, महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी से किसी प्रकार कम नहीं है। धनपाल की तिलकमञ्जरी भी उच्च कोटि की रचना है। हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, वीरनन्दी का चन्द्रप्रभचरित, अभयदेव का जयन्तविजय, वादिराज का पार्श्वनाथचरित, वाग्भट्ट का नेमि-निर्वाण काव्य और महासेन का प्रद्युम्नचरित आदि उच्च कोटि के काव्य ग्रन्थ हैं। चरित काव्य में जयसिंहनन्दी का वरांगचरित, असग कवि का महावीरचरित और रायमल्ल का जम्बूस्वामीचरित उत्तम माने जाते हैं।

चम्पू काव्य में सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू बहुत ही ख्यात रचना है। उपलब्ध संस्कृत साहित्य में इसकी जोड़ का एक भी ग्रन्थ नहीं है। हरिश्चन्द्र का जीवन्धरचम्पू तथा अर्हद्दास का पद्मदेवचम्पू भी उत्कृष्ट रचनाएं हैं। चित्रकाव्य में धनंजय कवि का द्विसन्धान काव्य अपनी श्लिष्ट रचनाओं के लिये आद्य ग्रन्थ माना जाता है। इसमें साथ ही साथ राघव और पाण्डव दो राजवंशों की कथाएं कही जाती हैं।

दूत काव्यो में मेघदूत की पद्धति से लिखा गया वादिचन्द्र का पवनदूत, चरित्र-सुन्दर का शीलदूत, विनयप्रभ का चन्द्रदूत और विक्रम का नेमिदूत आदि काव्य प्रसिद्ध रचनाएं हैं। मेघदूत की समस्यापूर्ति के रूप में लिखा हुआ जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' तो एक विचित्र ही ग्रन्थ है।

इस प्रकार जैन साहित्य संस्कृत-साहित्य की गरिमा बढा रहा है। पर खेद इस बात का है कि यह सब साहित्य जिस शैली से विद्वत्संसार के समक्ष उपस्थित किया जाना चाहिए था नहीं किया जा सका है। काश, वीतराग जिनेन्द्र के मन्दिरों में तरह-तरह की रागवर्धक सामग्री एकत्रित करनेवाले भक्तजन जिनवाणी का महत्व समझें और अपने दान की धारा का प्रवाह साहित्य-प्रकाशन की ओर मोड़ सकें तो विशाल जैन साहित्य एक बार फिर से अपनी अतीव महिमा प्राप्त कर ले। इत्यलम्।
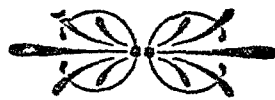
जैन कथा-साहित्य

प्रो॰ फूलचन्द्र जैन 'सारंग' एम. ए. साहित्यरत्न

जैन साहित्य का महत्व—

सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्रबंध, चम्पू, नाटक, कथा आदि ललित साहित्य और गणित, वैद्यक, ज्योतिष, भूगोल, नीति, दर्शन आदि उपयोगी साहित्य के सभी क्षेत्रों में जैन धर्म की देन बहुत ही पुष्ट और समृद्धिशाली है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पुरातन भारतीय भाषाओं तथा दक्षिण की तामिल, तैलगू, कन्नड़ और गुजराती, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं में यह साहित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। अभी बहुत सा जैन साहित्य अंधकारग्रस्त है, पर जो कुछ भी साहित्य प्रकाश में आया है उससे भली भांति स्पष्ट है कि भारत के सांस्कृतिक अनुशीलन में अन्य धर्म और जातियों की अपेक्षा जैन साहित्य के पृष्ठ कहीं अधिक प्राणवान् और स्फूर्तिदायक हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माण में भी जैन साहित्य का योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जैसे-जैसे अपभ्रंश भाषा में रचित जैन साहित्य पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ता जा रहा है वैसे-वैसे हिन्दी के उद्भव और विकास की कहानी अधिक सुसंगत और स्पष्ट होती जा रही है। इधर जो अपभ्रंश भाषा में जैन चरित्र काव्यों की विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है उसने तो हिन्दी की साहित्यिक परम्परायें और उसके काव्य के रूपों के अध्ययन के लिये एक नया दृष्टिकोण हिन्दी के विद्वानों को प्रदान किया है। अब केवल एक धर्म या सम्प्रदाय विशेष का साहित्य कह कर जैन काव्यग्रंथों की अवहेलना नहीं की जा सकती। हिन्दी साहित्य के विकास में उसके ऐतिहासिक महत्व को अब स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा रहा है। जिस पुष्प कवि को हिन्दी साहित्यकारों ने हिन्दी भाषा का प्रथम कवि बताया है वे और कोई नहीं, अपभ्रंश के सुप्रसिद्ध जैन कवि पुष्पदन्त ही हैं जिन्हों ने महापुराण, यशोधरचरित्र और नागकुमारचरित्र आदि ग्रंथों की रचना की है। महाकवि स्वयंभू को हिन्दी भाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हुये महापंडित राहुल सांकृत्यायन के ये शब्द कितने महत्वपूर्ण हैं "स्वयंभू-कविराज कहे गये हैं, किन्तु इतने से स्वयंभू की महत्ता को नहीं समझा जा सकता। मैं समझता हूं आठवीं

शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक की तेरह शताब्दियों में जितने कवियोंने अपनी अमर कृतियों से हिन्दी साहित्य को पुष्ट किया है उन में स्वयंभू सब से बड़े कवि हैं। मैं ऐसा लिखने की हिम्मत नहीं करता, यदि हिन्दी के चोटी के कवियों ने स्वयंभू 'रामायण' के उद्धरणों को सुनकर यह राय प्रकट न की होती।" स्वयंभू ने पउमचरिउ (रामायण), रिट्ठणेमि चरिउ, पंचमीचरिउ आदि रचनाओं द्वारा चरित्रकारों की जिस साहित्यिक परम्परा को अंकुरित किया उसका सीधा विकास हमें तुलसी के 'रामचरितमानस' और सूफियों के लौकिक प्रेम कथानकों में मिलता है। लोक भाषा में रचित इन चरित काव्यों के विषय में डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन समीचीन ही है " इन चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्तीकाल के हिन्दी साहित्य के कथानकों, कथानक रूढियों, काव्य रूपों, कविप्रसिद्धियों, छंदयोजना, वर्णनशैली, वस्तुविलास कविकौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है। इस लिये इन काव्यों से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है।

कथाप्रधान जैन साहित्य—

लोकजीवन में अपने विचारों के प्रतिपादन के लिये जैन साहित्य के मनीषी कलाकारोंने स्फुटगीतों और मुक्तक छंदों की अपेक्षा कथाकाव्यों का अधिक सहारा लिया है। सत्य तो यह है कि जैन साहित्य में उसका कथा साहित्य बहुत ही पुष्ट अंग है। यह साहित्य गद्य और पद्य दोनों रूपों में बहुत ही विशाल परिमाण में रचा गया है। उस में एक ओर जहां संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के विशाल चरितकाव्य हैं, जिनका सृजन अनेक लोकरंजक, ऐतिहासिक, पौराणिक और काल्पनिक कथाओं के आधार पर हुआ है, वहां दूसरी ओर प्राकृत के आगम ग्रंथोंकी टीका–टिप्पणियों, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, तथा जैनाचार्योंद्वारा रचित विविध कथाकोषों में नीति और उपदेशपूर्ण लघु कथाएँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक दृष्टियों से इस कथा साहित्य की भाव भूमि बड़ी उदात्त और गहन है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो जैन कथा ग्रंथ अपनी परिधि में भारतीय इतिहास की अमूल्य सम्पत्ति को संजोए हुये हैं। पुराण ग्रंथों को तो वैसे भी इतिहास की कोटि में रखा जाता है। तीर्थंकरों, चक्रवर्ती सम्राटों को लेकर अनेक पुराणों की रचना हुई है। महाभारत के समान हरिवंश पुराण और पाण्डव पुराण तथा रामायण के कथानक के समान पद्मपुराण जैसे बड़े पुराण ग्रंथ भारतीय पौराणिक साहित्य को जैन साहित्य

की महत्व पूर्ण देन है । अन्य जैनेतर पौराणिक साहित्य से जैन पौराणिक साहित्य की विशेषता यह है कि इन में ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश कहीं अधिक है । दूसरे शब्दों में जैन पुराण वस्तुतः ऐतिहासिक चरित काव्य हैं । उनके पात्र अमानवीय और सर्वथा पौराणिक न हो कर मानवीय और ऐतिहासिक हैं; इसी लिये हमारे जीवन के वे अधिक निकट हैं । इन जैन पुराणों में वर्णित घटनायें भी कपोलकल्पित नहीं जान पड़तीं । और इसमें भी सन्देह नहीं कि इन पुराणों के आधार पर भारतीय इतिहास की धूमिलता को बहुत बड़ी सीमातक दूर किया जा सका है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से ही नहीं सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि से भी इन कथा ग्रंथों का स्थान बहुत ऊंच है । इस सम्बंध में मुनि जिनविजयजी के शब्द उद्धृत करना समीचीन ही होगा—"भारतवर्ष के पिछले ढाई हजार वर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का सुरेख चित्रपट अंकित करने में जितनी विश्वस्त और विस्तृत उपादान सामग्री इन कथाओं में मिल सकती हैं उतनी अन्य किसी प्रकार के साहित्य में नहीं मिल सकती । इन कथाओं में भारत के भिन्न-भिन्न धर्म, संप्रदाय, राष्ट्र, समाज, वर्ण आदि के विविध कोटि के मनुष्यों के नाना प्रकार के आचार-व्यवहार, सिद्धान्त, आदर्श शिक्षण, संस्कार, रीतिनीति, जीवन-पद्धति, राजतंत्र, वाणिज्य-व्यवसाय, अर्थोपार्जन, समाजसंगठन, धर्मानुष्ठान एवं आत्मसाधन आदि के निर्देशक बहुविध वर्णन निबद्ध किये हुये हैं जिनके आधार से हम प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सर्वाङ्गी और सर्वतोमुखी मानचित्र तैयार कर सकते हैं ।"

जैन कथा साहित्य की बहुत बड़ी विशेषता उसके साहित्यिक और कलात्मक रूप में है । हम इस सम्बन्ध में इसी निबंध में आगे विचार करेंगे । यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि इन कथा, कहानियों के रूपों में जन-जीवन के सारभूत प्रसंग मणिमुक्ताओं की भांति पिरोये हुये हैं । यह सत्य है कि जैन कथा साहित्य की मूल संवेदना उसकी धार्मिक चेतना है, परन्तु दर्शन और नीतिकी शुष्कता को जैन कथाकारों द्वारा सरलता और रोचकता के सांचे में बड़ी कुशलता के साथ ढाला गया है । जन-जीवन के व्यापक धरातल पर टिके हुये रहने के कारण उसका रूप बड़ा प्राणवान् और चेतनाशील है । उसमें मानवजीवन की अनेक मानवताओं को मूर्तरूप प्रदान किया गया है । अनेक भंगीमाओं और अनेक चित्रों को सजाया गया है । इसी लिये तो जैन कथा साहित्य इतना मर्म-स्पर्शी और भावपूर्ण बन सका है ।

जैन कथा साहित्य की सार्वभौमिकता—

अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण जैन कथा साहित्य लोकजीवन में अनन्य लोक-

प्रियता को प्राप्त हुआ है। उसकी लोकप्रियता का सब से प्रबल प्रमाण यह है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व जैन कथाकारोंने जिन कहानियों का प्रणयन किया वे आज भी लोककथाओं के रूप में भारत के सभी प्रदेशों में प्रचलित हैं। जैन आगमों में राजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार के बुद्धिचातुर्य की जो कथा है वह अपने उसी रूप में हरियाण के लोकसाहित्य में अढाई द्वैत की कथा के नाम से प्रसिद्ध है और दक्षिण के जैमिनी स्टूडियो ने इस कथा के आधार पर मंगला चित्रपट का निर्माण किया है। इसी प्रकार शेर और खरगोश की कहानी जिस में खरगोश शेर को कुए में अन्य शेर की परछाईं दिखाकर ठगता है। भिखारी का सपना जिस में स्वप्न में हवाई किला बनाता हुआ भिखारी अपनी एक मात्र सम्पति दूध की हांडी को फोड़ डालता है। नील सियार की कहानी जिस में सियार अपने को नील रंग में रंगकर जंगलका राजा बन बैठता है। बन्दर और बया की कहानी जिस में बन्दर बया के उपदेशों को अनसुना कर के उसके घोंसले को नष्ट कर-डालता है आदि अनेक कहानियां आज भी सर्वसाधारण में प्रचलित हैं। ये ही कहानियां जैन साहित्य के अतिरिक्त हमें बौद्ध जातकों, पंचतंत्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर आदि जैनेतर कथासाहित्य में भी प्राप्त होती हैं। इसका अभिप्राय यही है कि जैन कथा साहित्य सार्वभौमिकता की व्यापक भावभूमि पर खड़ा हुआ है। हम उसे किसी समुदाय या धर्म-विशेष की सकुचित सीमाओं में नहीं बांध सकते और न उसका क्षेत्र किसी एक देश या युग तक ही सीमित है। उसका विश्वव्यापी महत्व है और युगविशेष से ऊपर उठ कर वह विश्वसाहित्य की चिरन्तन और शाश्वत धरोहर है। समग्र मानवजाति की वह अमूल्य सम्पत्ति है और यह प्रसन्नता की बात है कि इसी सार्वजनीन और सार्वभौमिक रूप में जैन कथा साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति का उपयोग भी हुआ है। जैन कथा साहित्य न केवल भारती कथा साहित्य का जनक रहा है, अपितु सम्पूर्ण विश्व कथा साहित्य को उसने प्रेरणा दी है। भारत की सीमाओंको लांघकर जैन कथाएं अरब, चीन, लंका, योरोप आदि देश-देशान्तरों में पहुंची हैं और अपने मूल स्थान की भांति वहां भी लोकप्रिय हुई हैं। योरोप में प्रचलित अनेक कथाएं जैन कथाओं से अद्भुत साम्य रखती हैं। उदाहरण के लिये 'नायाधम्मकहा' की चावल के पांच दाने की कथा कुछ बदले हुये रूप में ईसाइयों के धर्म ग्रंथ 'बाइबिल' में प्राप्त होती है। चारुदत्त की कथा का कुछ अंश जहाँ वह बकरे की खाल में बन्द होकर रत्नदीप पर जाता है सिन्दबाद जहाजी की कहानी से पूर्णतः मिलता-जुलता है। प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान ट्वानी ने कथाकोश की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि विश्व कथाओं का फलस्रोत जैनों का कथा साहित्य ही है; क्योंकि जैन कथा-

कोशों की कहानियों और योरोप की कहानियों में पर्याप्त साम्यता है तथा यह भी निश्चित है कि ये सब की सब कहानियां जैन कथा साहित्य से उधार ली गई हैं । टूबानी ने अनेक उदाहरणों द्वारा इस बात को सिद्ध किया है ।

प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान प्रोफेसर जैकोबीने अपनी 'परिशिष्ट पर्व' की भूमिका में एक स्त्री और उसके प्रेमी की एक जैन कथा को उद्धृत किया है । आश्चर्य की बात है कि यही कहानी ज्यों की त्यों चीन के लोकसाहित्य में प्रचलित है और फ्राँस में भी कुछ रूपान्तर के साथ लोकप्रिय है । 'अलिफलैला' (आरब्योपन्यास) की कहानियों का मूल आधार भी जैन कथासाहित्य है, यह बात कुछ आश्चर्यजनक सी प्रतीत होती हुई भी सत्य है । 'अलिफलैला' में एक वजीर की लड़की बादशाह की मलिका बन कर प्रति रात्रि एक कहानी सुना कर अपने प्राण बचाती है । इसी प्रकार आवश्यकचूर्णि की कहानी 'चतुराई का मूल्य' है जिसकी नायिका कनकमंजरी प्रति रात्रि एक कहानी सुनाने का लोभ दे कर अपने पति को जो कि राजा है ६ मास तक अपने पास रोके रहती है । 'नायाधम्मकहा' की 'प्रलोभनों को जीतो' कहानी का कथानक अलिफलैला की कहानियों से बहुत साम्य रखता है ।

जैन कथाओं की यह यात्रा योरोप आदि देशों में किस प्रकार हुई यह एक शोधनीय विषय है । प्राय विद्वानों का मत है कि जैनधर्म का प्रचार भारत से बाहर कम हुआ है; अतः विदेशों में जो जैन कथाएँ प्राप्य हैं वे बौद्ध साहित्य के माध्यम से पहुँची हैं । पर यह भ्रमात्मक धारणा है । आधुनिक अनुसंधानों से यह भली भांति स्पष्ट हो चुका है कि बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म का प्रचार भी विदेशों में प्रबलवेग से हुआ था । इस बात के प्रमाण आज मिलते हैं । डेढ़ हजार वर्ष पूर्व दक्षिण भारत में बहुत से जैनी अरब देश से आकर बसे थे । अरब देश में जैन धर्म किसी समय अत्यन्त व्यापक रूप से फैला हुआ था यह बात निश्चित है । मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने अरब और ईरान में जैन मुनियों का विहार करवाया था । दक्षिण के तिरुमलय पर्वत के शिलालेख में 'एलानीया यवनिका' 'राजराज पावगत' और विडुगहलगिय पेरुमल नाम के जैन धर्मावलम्बी राजाओं का उल्लेख है । इनका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से अरब देश से था । अन्तिम राजा पेरुमलने तो मक्का की यात्रा भी की थी । जिन देशों में भगवान् महावीर का विहार हुआ उनमें श्री जिनसेनाचार्यने यवनश्रुति, क्राथतोय, सुरुभीरु तार्णकार्ण आदि देशों का भी उल्लेख किया है । ये निश्चय ही भारत से बाहर के देश हैं । इनमें से यवनश्रुति आज

का यूनान है। काथतोय लालसागर के निकटवर्ती प्रदेश हैं। इस प्रकार इन प्रदेशों में जैन धर्म के प्रचार के रूप में जैन कथाएँ भी पहुंची होंगीं और वहाँ के साहित्य में उन्होंने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया होगा।

जैन कथाओं का साहित्यिक अनुशीलन—

जैन धर्म का दर्शनविशेष की अभिव्यक्ति का माध्यम होते हुये भी इसकी कथायें विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं यह बात निःसंकोच रूप से स्वीकार की जा सकती है। सत्य तो यह है कि कथासाहित्य का ध्येय लोकरुचि का मनोरंजन मात्र ही नहीं है, अपितु इसके साथ-साथ अपने पाठकों को विचारों की सामग्री भी प्रदान करना है। आधुनिक कथासाहित्य की यही मूल चेतना है। आज की सभी उत्कृष्ट कहानियां और उपन्यास निश्चय रूप से किसी न किसी विचारदर्शन से प्रभावित हैं—चाहे वह फ्रायड का मौनवाद हो अथवा मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अथवा गांधीजी का विचारदर्शन। आज वे कथाकार मूल रूप से इन विचारधाराओं से प्रभावित अपनी संवेदनाओं के अनुकूल कल्पना के सहारे कथानक चुनते हैं, पात्रों की योजना करते हैं और प्रभावोत्पादक शैली द्वारा कथा साहित्य की सृष्टि करते हैं। एक निश्चित संवेदना (जिसे अन्य शब्दों में कथाकार का उद्देश ही कहा जा सकता है) कथानक, पात्र और शैली— आज के कथासाहित्य के ये ही मूल तत्त्व हैं। आज से हजारों वर्ष पूर्व रचे गये जैन कथासाहित्य ने अपने भीतर इन मूल तत्वों का समावेश कर कहानी-कला के मर्म को भली भांति समझ लिया था।

आधुनिक कथा साहित्य की भांति जैन कथा साहित्य भी भावगत प्रवृति की दृष्टि से एक निश्चित विचारदर्शन को लेकर चला है और वह विचारदर्शन है उसका कर्मवाद। इस मानव-संसार में मनुष्य अपने बुरे कर्मों द्वारा नाना प्रकार की यातनाएँ भोगता है। एक जन्म में ही नहीं, अनेक जन्मों में उसे बूरे कर्मों का फल प्राप्त होता है। संसार में रहते हुये जिन प्राणियों के साथ उसने बूरा व्यवहार किया था किसी न किसी रूप में उसके दुष्कर्मों का बदला चुकाया जाता है। इसके विपरीत शुभ कर्म करने वाले सदैव सुख प्राप्त करते हैं। पापात्माओं द्वारा सताये जाने पर देव आदि उनकी रक्षा करते हैं। एक जन्म में कष्ट सहकर दूसरे जन्म में वे अनन्य सुख का भोग करते हैं। कर्मवाद की इसी भावभूमि को ले कर प्राय समस्त जैन कथासाहित्य रचा गया है। मनुज समाज को बुराई से बचने और भलाई में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देना ही इस कथासाहित्य की

मूल चेतना है। इसी मूल चेतना के आधार पर जैन कथाकारों ने अपने कथानकों में ऐसी घटनाओं को जन्म दिया है जिन के द्वारा साधारण मनुष्यों के हृदयों में पापकर्मों की ओर से अरुचि हो तथा शुभ कार्यों के प्रति लग्न हो। ऐसे सत् असत् पात्रों की योजना की है जिनके चरित्र एक ओर बुराई से घृणा करना सिखाते हैं और दूसरी ओर आदर्श जीवन की ओर प्रेरित करते हैं, क्योंकि जैन कथा साहित्य की प्रायः सभी कहानियों में बुरे पात्रों का अन्त दुखात्मक होता है और सन पात्र अनेक कष्ट सहन करते हुये अन्त में विजयी होते हैं और सुख के भागी बनते हैं। इस प्रकार मूल रूप से सम्पूर्ण जैन कथासाहित्य आदर्शोन्मुखी है। यह आदर्शवादिता जैन कथासाहित्य की ही विशेषता नहीं है, वरन् सम्पूर्ण भारतीय साहित्य ही आदर्शवादिता की सुरभि से सुवासित है। भारतीय साहित्य के सभी प्रबंध काव्य, चाहे वे संस्कृत के हों अथवा हिन्दी के, आदर्श मूलक हैं। संस्कृत नाटकों का पाश्चात्य नाटकों के विपरीत सुखान्त होना आदर्शवादी भावना का ही परिचायक है। आदर्शोन्मुखी जैन कथासाहित्यने भी इसी गौरवमयी भारतीय परम्परा को अधिक सजगता के साथ सुरक्षित बनाए रखा है।

आदर्शोन्मुखी होते हुये भी जैन कथा साहित्य जीवन के यथार्थ धरातल पर टिका हुआ है। यह धरातण ऐतिहासिक घटनाओं और सामाजिक जीवन की विविध भंगिमाओं से निर्मित हुआ है। ऐतिहासिक कथानक प्रायः राजकुलों से ही सम्बन्धित हैं और यह स्वाभाविक भी है; परन्तु सामाजिक जीवन से जो कथानक चुने गये हैं वे सभी वर्गों के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। इन सामाजिक कथानकों का भावक्षेत्र इतना विस्तृत है कि न केवल मानव समुदाय, अपितु पशु-पक्षियों को उसमें स्थान मिला है। फिर भी जैन कथा साहित्य में वणिक समुदाय को अधिक प्रमुखता मिली है। संभवतः इस कारण इस समाज में ही जैन धर्म का अधिक प्रचार होता है। कथानकों के रूप में जिन घटना व्यापारों की योजना की गई है वे इतनी अमानवीय और अतिरंजनापूर्ण नहीं हैं कि उन पर अविश्वास किया जा सके। वैसे अनेक कहानियों में विद्याधरों का आ टपकना, विद्याओं की सिद्धि और मंत्र के चमत्कार से अद्भुत घटनाओं की सृष्टि आदि अभौतिक और अमानवीय तत्व मिल सकते हैं, किन्तु जिन कहानियों में ऐसी अलौकिक बातें नहीं हैं वे कहानियां विशुद्ध यथार्थ की दीप्ति से दीपित हैं और पूर्णरूप से हमें अपने जीवन की ही चिरपरिचित घटनाएँ जान पड़ती हैं।

रचना-विधान की दृष्टि से ये कथानक सर्वथा इति वृत्तात्मक हैं। उनकी गति में अधिक जटिलता नही है। बड़ी कहानियों में अवश्य कथानक अनेक भाव-चेतनाओं को

स्पर्श करते हुये पंचतंत्र की कहानियों की भांति अनेक शाखा-प्रशाखाओं में फट गये हैं। एक ही कहानी में अनेक छोटे-बड़े स्वतन्त्र कथानक गुंथे हुये हैं। इन प्रासंगिक कथानकों को निश्चित रूप से स्वतन्त्र कहानियों का रूप दिया जा सकता है। लघु कथाओं का रूप बड़ा ही कलात्मक है और उनमें कम पात्रों तथा कम घटना-व्यापारों द्वारा मानव-जीवन के सारभूत प्रसंगों की बड़ी तीव्रतम व्याख्या हुई है।

वस्तुविलास की दृष्टि से इन कथानकों के सहज ही तीन भाग किये जा सकते हैं। आरम्भ, मध्य और अन्त। कथा के आरम्भ भाग में हमें मुख्य पात्रों का परिचय, कहानी की वास्तविक समस्या का संकेत और आगे आनेवाली घटनाओं का सूत्र मिलता है। मध्य भाग में घटनाओं का विस्तार, पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का उभार मिलता है। यहीं कहानी की आत्मा वास्तविक रूप से प्रस्फुटित होती है। कहानी का अंतभाग उस की परम सीमा है। यहां कथाकार अपने पाठकों को एक निश्चित लक्ष्य पर लाकर छोड़ देता है। कहानी की मूल चेतना कथाकार के सन्देश को पाठकों तक पहुंचाती हुई अपने प्रकृत रूप में व्यक्त होती है।

यह सत्य है कि जैन कथा साहित्य में घटनाबहुल कथानकों की ही प्रधानता है, फिर भी कथानक घटनाप्रधान नहीं कहे जा सकते। इसका स्पष्ट कारण है। घटनायें यहां निमित्त मात्र बनकर आती हैं और उन का मूल उद्देश्य पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को उभारते हुये पाठक को एक निश्चित लक्ष्य तक पहुंचाना होता है। कथाकार घटनाओं की योजना इस ढंग से करता है कि असत् पात्रों का क्रोध, मान, मद, मोह, लोभ, हिंसा आदि मलिन वासनाओं से आछन्न चरित्र अपने प्रकृत रूप से पाठकों के सामने रखा जा सके, तथा सद् पात्र असद् पात्रों द्वारा निरन्तर कष्टभोगी होने पर भी आदर्श चरित्र का उदाहरण प्रस्तुत कर सके। इन असद् पात्रों का कहीं तो बड़ा करुणाजनक अन्त होता है और कहीं चरित्र परिवर्तन के द्वारा वे भी आदर्श जीवन व्यतीत करने लगते हैं। असद् पात्रों के चरित्र परिवर्तन में आकस्मिक घटनाओं की अवतारणा बहुत कम की गई है। इस के विपरीत यह चरित्र परिवर्तन या तो मुनि उपदेश के प्रभाव से हुआ है अथवा दूसरों का खोटे कर्मों द्वारा बूरा अन्त देखकर अथवा सद् पात्रों के ही आदर्श जीवन से प्रभावित होकर अथवा अपने दुःखित जीवन के पश्चात्ताप द्वारा।

कथानक की भांति जैन कथा साहित्य की पात्रयोग्यता भी बड़ी व्यापक और गहन है। उस में राजा से लेकर रंक, ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल, साहूकार से लेकर चोर,

सती से लेकर वैश्या सभी वर्गों के पात्रों का समावेश है। नारी, पुरुष, बाल, वृद्ध, युवा, मुनि, किन्नर, यक्ष, विद्याधर, देव यहां तक कि पक्षी सभी पात्र रूप में जैन कथा कहानियों में विद्यमान हैं। कहानियों के नारी और पुरुष दोनों ही पात्र सत् असत् प्रवृतियों को लिये हुये हैं। दोनों का ही व्यक्तित्व कहानियों में बहुत महत्त्वपूर्ण है। घटनाएं उनके कर्मशील जीवन को ही केन्द्र बना कर गतिशील होती हैं। सत्य तो यह है कि कथा साहित्य के सभी पात्र सजीव और यथार्थ हैं। वे अपने चरित्र की दुर्बलताओं और शक्तिओं से हमारे हृदय को स्पर्श करते हैं। घटनाओं के घात-प्रतिघात में उनका कहीं उत्थान होता है, कहीं पतन। समग्र रूप से कथाकार ने अपने पात्रों को प्रकृत रूप में ही हमारे सामने रखा है।

आज की कहानियों की भांति मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, उनके चरित्र का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, उनके अन्तरतम के गूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन इन कथा कहानियों में प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि आज के कहानीकार का मुख्य ध्येय ही अपने पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण है। परन्तु इन पुरातन कथा कहानियों में कथानक की भांति पात्र भी निमित्त मात्र हैं। इसलिये इन कहानियों को हम स्पष्ट रूप से चरित्रप्रधान भी नहीं कह सकते। पात्रों की अवतारणा वस्तुतः बुराई का अन्त बुराई में और भलाई का अन्त भलाई में दिखाने के लिये की जाती है। कथाकार को इतना अवकाश ही नहीं होता कि वह परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के बीच डूबते-तरते हुये पात्रों के चरित्रों का मनो-वैज्ञानिक अध्ययन करे। फिर जिन साधारण पाठकों के लिये इन कथाओं की योजना की गई थी उनके लिये ऐसा अपेक्षित भी न था। कहानियों का मनोरंजक इतिवृत ही उनके लिये यथेष्ठ था। इसीलिये इन कथा-कहानियों की चरित्रचित्रण प्रणाली भी इतिवृतात्मक है। आज की भांति तब मुद्रणकला की सुविधाएं भी नहीं थीं। कहानियों का प्रचार मौखिक रूप से ही होता था, फलतः कहानियों का रूप सीधासाधा होता था जो साधारण स्तर के पाठकों को सहज ही हृदयंगम हो सके। उस समय के कथाकार के लिये कथानक या चरित्र विश्लेषण को लेकर किसी प्रकार के कलात्मक सृजन की न तो आवश्यक्ता ही थी और न ऐसा उचित ही था।

तब मुद्रण यंत्र के अभाव और कहानियों के मौखिक प्रसार के कारण आज की कहानियों तथा प्राचीन कहानियों के शैली-विधान में भी पर्याप्त अन्तर है। आज की कहानियां शैली की दृष्टि से अनेक रूप लिये हुये हैं। कहीं वे कथात्मक हैं, कहीं आत्मचरित्र शैली में लिखी गई हैं। कहीं उनका रूप ऐतिहासिक है जहाँ कहानीकार अपनी ओर से ही कथावाचक की भांति कहानी कहता चलता है। कहीं यह शैली

नाटकीय है। प्रारंभ भी कहानी का अब बड़े आकर्षक ढंग से किया जाता है। परन्तु प्राचीन कहानियों में ये सब बातें नहीं हैं। शैली की दृष्टि से सभी कहानियाँ इतिवृत्तात्मक हैं और उनका पात्र 'चम्पापुरी नगरि में जिनदत्त नामक सेठ रहता था' ऐसे वाक्यों से होता है। सम्पूर्ण कहानी का रूप इसी प्रकार का होता है जैसे कोई व्यक्ति किसी घटनाको अपने साथियों को सुना रहा हो। अंग्रेजी की प्राचीन कहानियां तथा अरब की पुरानी कहानियाँ भी इसी प्रकार की हैं, जैसे 'वोन्स अपोन ए टाइम (once upon a time) तथा 'एक दफाका जिक्र है कि।'

इस प्रकार भावगत और रचनागत दोनों ही रूपों में जैन कथा साहित्य बहुत ही पुष्ट और प्राणवान् है। उस में नीति, धर्म और साहित्य का मणिकांचन संयोग है। साहित्य का मूल प्रयोजन ही मानव भावनाओं को परिष्कृत करना, उसे पशु सतह से ऊपर उठाना, उस की कलात्मक अभिरुचि को स्वस्थ उपादान प्रदान करना है। इसी रूप में साहित्य मानवता का पथप्रदर्शक है। सम्पूर्ण जैन कथा साहित्य साहित्य के इसी मूल प्रयोजन के चेतना रस से अनुप्राणित है। विशुद्ध साहित्य की व्यापक भूमि पर खड़े होकर उसने मनुज समाज को मानवता का निखिल सौंदर्य प्रदान किया है। उस में साहित्य के कलात्मक माध्यम द्वारा अहिंसा, करुणा, क्षमा, त्याग, दया, संयम आदि उदात्त वृत्तियों का ज्वलन्त सन्देश है। अपनी इसी विशिष्टता के कारण सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में जैन कथा साहित्य शीर्ष स्थान पर विराजमान होने योग्य है।

राजस्थानी जैनसाहित्य

श्री अगरचंद नाहटा

राजस्थानी जैन साहित्य की विशालता, विज्ञानता एवं विशेषताएँ—

राजस्थानी भाषा अपभ्रंश की जेठी बेटी है। अपभ्रंश भाषा साहित्य की सब से अधिक विशेषताएं इसी भाषा व साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं। इसका प्राचीन नाम मरुभाषा है।

राजस्थानी जैन साहित्य बहुत विशाल एवं विविध है। विशाल इतना कि परिमाण में मेरी धारणा के अनुसार चारणों के साहित्य से भी बाजी मार लेगा। उसकी मौलिक विशेषताएं भी कम नहीं हैं। उसकी सब से प्रथम विशेषता यह है कि वह जन-भाषा में लिखा है। अतः वह सरल है। चारणों आदिने जिस प्रकार शब्दों को तोड़-मरोड़ कर अपनी ग्रंथों की भाषा को दुरूह बना लिया है वैसा जैन विद्वानोंने नहीं किया है। इसीलिये वह बहुत बड़े क्षेत्र में सुगमता से समझा जा सकता है। उसकी दूसरी विशेषता है जीवन को उच्च स्तर पर लेजाने वाले प्राणवान् साहित्य की प्रचुरता। जैनमुनि निवृत्ति-प्रधान थे। वे किसी राजाओं आदि के आश्रित नहीं थे जिससे उन्हें बढ़ाकर चाटुकारी वर्णन करने की आवश्यकता होती। युद्ध में प्रोत्साहित करना भी उनका धर्म नहीं था और शृंगार रसोत्पादक साहित्य द्वारा जनता को विलासिता की ओर अग्रसर करना भी उनके आचार विरुद्ध था। अतः उन्होंने जनता के उपयोगी और उनके जीवन को ऊंचे उठानेवाले साहित्य का ही निर्माण किया। चारणों का साहित्य वीररसप्रधान है और उसके बाद शृंगार रस का स्थान आता है। भक्तिरचनाएं भी उनकी कुछ प्राप्त हैं। पर जैन साहित्य में नैतिकता और धर्म प्रधान हैं और शान्त रस की मुख्यता तो सर्वत्र पाई जाती है। जैन विद्वानों का उद्देश्य जन-जीवन में आध्यात्मिक जागृति फूंकना था। नैतिक और भक्तिपूर्ण जीवन ही उनका चरम लक्ष था। उन्होंने अपने इस उद्देश्य के लिये कथानकों को विशेषरूप से अपनाया। तत्वज्ञान सूखा विषय है। साधारण जनता की वहां तक पहुंच नहीं और न उसमें उनकी रुचि व रस हो सकता है। उनको तो दृष्टान्तों के द्वारा धर्म का मर्म समझाया जाय तभी उनके हृदय को वह धर्म छू सकता है। कथा-कहानी सबसे अधिक लोक-प्रिय होने के कारण उसके द्वारा धार्मिक-तत्त्वों का प्रचार शीघ्रता से हो सकता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने दान, शील, तप और भावना एवं इसी प्रकार के अन्य धार्मिक व्रत-नियमों को

स्पष्ट करनेवाले कथानकों को उन्होंने धर्मप्रचार का माध्यम बनाया। इसके पश्चात् जैन-तीर्थंकरों एवं आचार्यों के गुणवर्णनात्मक एवं ऐतिहासिक काव्यों का नंबर आता है। इससे जनता के सामने महापुरुषों के जीवन-आदर्श सहज रूप से उपस्थित होते हैं। इन दोनों प्रकार के साहित्य से जनता को अपने जीवन को सुधारने में एवं नैतिक तथा धार्मिक आदर्शों से परिपूर्ण करने में बड़ी प्रेरणा मिली।

राजस्थानी-जैन-साहित्य के महत्त्व के संबंध में दो बातें उल्लेखनीय हैं—(१) भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उसका महत्त्व है (२) १३ वीं से १५ वीं शताब्दी तक का जैनेतर राजस्थानी स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। उसकी पूर्ति राजस्थानी-जैन-साहित्य करता है। अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा के विकास के सूत्र राजस्थानी-जैन-साहित्य द्वारा ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि जब से राजस्थानी भाषा में ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हुआ तबसे प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की जैन-रचनायें उपलब्ध हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि जैनेतर राजस्थानी रचनाओं की प्रतियां समकालीन लिखी हुई प्राप्त नहीं होतीं, जबकि राजस्थानी की जैन रचनाओं की तत्कालीन लिखित प्रतियां प्राप्त हैं। लोकभाषा में रचे हुए ग्रंथों की भाषा की प्रमाणिकता के संबंध में तत्कालीन प्रतियों की अनुपलब्धि में ठीक तरह कुछ कहा नहीं जा सकता। क्योंकि लेखकों द्वारा भाषा और बहुत बार तो पाठ एवं शब्दों में परिवर्तन कर दिया जाता है। लोकप्रिय प्रसिद्ध ग्रंथों में तो समय-समय पर परवर्ती लेखकों द्वारा पाठप्रक्षेप रूप परिवर्तन होता ही रहता है। मौखिक साहित्य के संबंध में यह बात और भी विशेष रूप से लागू होती है। जैन-भंडारों में जो हस्तलिखित प्रतियें उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश सुशिक्षित मुनियों के द्वारा लिखी होने से शुद्ध भी विशेष रूप से मिलती हैं।

जैन-विद्वानों ने स्वयं ग्रंथ निर्माण करने के साथ-साथ दूसरों के रचे ग्रंथों पर विशद टीकाएं भी बनाई हैं। 'किसन रुकमणी वेलि' को ही लीजिये—इस पर लाखा चारण की जैनेतर टीका एक ही उपलब्ध है, पर जैन-विद्वानों द्वारा रचित ६-७ टीकाएं प्राप्त हो चुकी हैं, जिनमें से दो टीकाएं तो संस्कृत भाषा में भी हैं। इसी प्रकार हिंदी और संस्कृत के जैनेतर सर्वोपयोगी ग्रंथों पर भी जैनविद्वानों ने राजस्थानी भाषा में टीकाएं लिखी हैं। उदाहरणार्थः—संस्कृत के भर्तृहरिशतक, अमरुशतक, लघुस्तोत्र, सारस्वत व्याकरण आदि पर जैन यतियों द्वारा रचित राजस्थानी टीकाएं प्राप्त हैं। भर्तृहरिशतक की तो रूपचंद और लक्ष्मीवल्लभ की दो टीकाएं हैं। हिंदी ग्रंथों में से 'रसिकप्रिया' पर कुशलधीर की और केशवदास के नख-शिख की राजस्थानी टीका उपलब्ध हैं। अनेक राजस्थानी ग्रंथों को बचा रखने का श्रेय भी जैनविद्वानों को ही है। जैसे—राजस्थानी भाषा के जैनेतर सब से प्राचीन

वीसलदेव रासो की उपलब्ध समस्त प्रतियाँ जैन यतियों की लिखित ही हैं। जैनेतर रचित एक भी प्रति कहीं प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार हमारे संग्रह में बीकानेर के राव जैतसी संबंधी ऐतिहासिक ग्रंथ 'जैतसी रासो' की दो प्रतियां उपलब्ध हैं, जबकि इस ग्रंथ की अन्य एक भी प्रति जैतसी के वंशज अनूपसिंहजी की विशिष्ट लाइब्रेरी में भी प्राप्त नहीं है।

चारण सांकुर कवि रचित 'बच्छावत–वंशावली', चारण रतनू कृष्णदास रचित 'रासा विलास' नाम के ऐतिहासिक काव्य एवं हमीर रचित राजस्थानी का छंद ग्रंथ 'लखपत गुण पिंगल'। इसी प्रकार ऐसी अनेक जैनेतर राजस्थानी ग्रंथों की प्रतियें जैन–भण्डारों में ही सुरक्षित मिलती हैं। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंहजी का मन्त्री लवरोज रचित कई ग्रंथों की प्रतियें हाल ही जैन भण्डारों से प्राप्त हुई हैं। जिनकी अन्य प्रतियें जोधपुर के राजकीय संग्रहालय आदि में कहीं नहीं हैं। भागवत के राजस्थानी–गद्यानुवाद की सचित्र प्रति भी जैन यति द्वारा लिखित हमारे संग्रह में प्राप्त है।

कवि हाल्ढ रचित 'वैतालपचीसी', विप्र वस्ता रचित 'विक्रम परकायप्रवेश' कथा, दुरह रचित 'विरहण चरित चौपाई', लाल रचित 'विक्रमादित्य चौपाई' आदि और भी अनेक जैनेतर राजस्थानी ग्रन्थ जैन भण्डारों में ही प्राप्त हैं। प्राचीन चारण आदि कवियों के पद्यों के संरक्षण का श्रेय भी जैन विद्वानों को ही है। प्रबन्धचिन्तामणि, कुमारपालप्रतिबोध, उपदेशतरंगिणी आदि ऐतिहासिक प्रबन्ध ग्रंथों में वे प्राचीन पद्य उद्धृत पाये जाते हैं।

जैन विद्वानों की साहित्य के सृजन एवं संरक्षण में सदा से बड़ी उदार नीति रही है। वे बड़े साहित्यप्रेमी होते थे। जैन–जैनेतर के भेदभाव के बिना कोई भी उपयोगी ग्रन्थ किसी भी भाषा में किसी भी विषय का रचा गया हो, उसे वे कहीं देख लेते तो प्रतिलिपि करके अपने भण्डारों में रख लेते थे। स्वयं विद्वान् होने के कारण वे उसकी जीजान से रक्षा करते थे। इसी कारण जब कि जैनेतर संग्रहालय बहुत थोड़े से ही सुरक्षित मिलते हैं, तब जैन ज्ञानभंडार सैंकड़ों की संख्या में यत्र-तत्र सुरक्षित अवस्था में प्राप्त हैं। राजस्थान को ही लीजिये—यहां अब भी लक्षाधिक हस्तलिखित प्रतियें जैन ज्ञानभंडारों में सुरक्षित हैं। जिनमें जैसलमेर का भंडार ताड़पत्रीय प्राचीन प्रतियों एवं अन्य ग्रंथों के संग्रह के रूप में विश्वविदित है। इस भंडार में १० वीं शताब्दी की ताड़पत्रीय एवं १३ वीं शताब्दी की कागज पर लिखित प्रतियें प्राप्त हैं। इतनी प्राचीन ताड़पत्रीय व कागज पर लिखी हुई प्रतियें

---

१. दे. मरुभारती

भारतभर के किसी जैनभंडार में उपलब्ध नहीं हैं। इनमें केवल जैन ग्रंथ ही नहीं,—भगवद्गीता, सांख्यसप्तति, न्यायवार्त्तिक, जयदेव छंद, लीलावती प्राकृत कथा एवं अन्य पचासेक जैनेतर ग्रंथों की प्राचीनतम ताड़पत्रीय प्रतियें सुरक्षित हैं। प्रतियों की संख्या की बहुलता की दृष्टि से बीकानेर के जैन ज्ञानभंडार भी उल्लेख योग्य हैं। इन भंडारों में ४०००० प्रतियें हैं।

एक भ्रान्त धारणा का उन्मूलः—

कई विद्वानों की यह भ्रान्त धारणा है कि जैन साहित्य जैन धर्म से ही संबंधित है, वह सर्वजनोपयोगी साहित्य नहीं है; पर यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। वास्तव में जैनसाहित्य की जानकारी के अभाव में ही उन्होंने यह धारणा बना रखी है। इसीलिये वे जैन साहित्य के अध्ययन से उदासीन रह कर मिलनेवाले महान् लाभ से वंचित रह जाते हैं। उदाहरणार्थः—जैन विद्वानों ने ऐतिहासिक साहित्य भी बहुत लिखा है। उसकी जानकारी के बिना भारतीय इतिहास सर्वांगपूर्ण लिखा जाना असंभव है। राजस्थान के इतिहास में ही लीजिये, यहां के इतिहास से संबधित जैन ग्रन्थ अनेक हैं। उनके सम्यक् अनुशीलन के अभाव में बहुतसी जानकारी अपूर्ण एवं भ्रान्त रहजाती है। इसी प्रकार गुजरात के इतिहास के सब से अधिक साधन तो जैन विद्वानों के रचित ऐतिहासिक प्रबन्ध आदि ग्रन्थ ही हैं। राजस्थान के प्राचीन ग्रामों की प्राचीन शोध जब भी की जायगी, जैन-विद्वानों के यात्रावर्णन, विहार, तीर्थयात्रा, धर्मप्रचार आदि के उल्लेखवाले ग्रन्थों का उपयोग बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। राजस्थानी जैनसाहित्य में भी ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो जैनधर्म के किसी भी विषय से संबंधित न होकर सर्वजनोपयोगी दृष्टि से लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ दो चार ग्रन्थों का निर्देश ही यहां काफी होगा। कवि दलपतविजयने 'खुमाणरासो' नामक ग्रंथ रचा। उसमें उदयपुर के महाराणाओं का यथाश्रुत इतिवृत्त संकलित है। इसमें जैनों का संबंध कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार हेमरत्न और लब्धोदय आदिने गोरा-बादल और पद्मावती आख्यान पर रास बनाये हैं जोकि सब के लिये समान उपयोगी है। जैन कवि कुशललाभने 'पिंगलशिरोमणि', राजसोमने 'दोहाचन्द्रिका' आदि राजस्थानी छंद ग्रंथ बनाए हैं। कुशललाभने तो जिसका जैनों के लिये कुछ भी उपयोग नहीं है वैसा 'देवी सातसी' ग्रन्थ बनाया है। इसी प्रकार सोमसुन्दर नामक यतिने जैनेतर पुराणों में उल्लिखित 'एकादशी कथा' पर काव्य बनाया है। विद्याकुशल एवं चारित्रधर्मने राजस्थानी भाषा में सुन्दर रामायण बनाई है जिसमें उन्होंने जैनाचार्यों द्वारा लिखित रामचरित का उपयोग न कर वाल्मिकि रामायण का आधार लिया है। अर्थात् जैन रामकथा की उपेक्षा करके सर्वजन

प्रसिद्ध रामकथा को प्रचारित की है। इस बात को विशेष स्पष्ट करने के लिये मैं छोटी-बड़ी पचासों रचनाओं की ऐसी सूची यहां नीचे दे रहा हूं जो सब के लिये समानरूप से उपयोगी है।

१ व्याकरणः—बाल शिक्षा, उक्ति रत्नाकर, उक्ति समुच्चय, कातंत्र बालावबोध, पंचसंधि बालावबोध, हेम व्याकरण भाषा टीका, सारस्वत बालावबोध।

२ छंदः—पिंगलशिरोमणि, दुहा चंद्रिका, राजस्थानी गीतों का छंद ग्रन्थ, वृत्तरत्नाकर बालावबोध।

३ अलंकारः—वाग्भट्टालंकार बालावबोध, विदग्धमुखमंडन बालावबोध, रसिकप्रिया बालावबोध।

४ काव्य टीकाएंः—भर्तृहरिशतक भाषाटीकाद्वय, अमरुशतक, लघुस्तव बालावबोध, किसनरुकमणी वेलिकी ६ टीकाएं, धूर्त्ताख्यान कथासार कादंबरी कथासार।

५ वैद्यकः—माधवनिदान टब्बा, सन्निपातकलिका टब्बाद्वय, पथ्यापथ्य टब्बा, वैद्यजीवन टब्बा, शतश्लोकी टब्बा, फुटकर प्रयोगों के संग्रह तो राजस्थानी भाषा में हजारों पत्र हैं।

६ गणितः—लीलावती भाषा चौपाई, गणितसार चौपाई।

७ ज्योतिषः—लघुजातकवचनिका, जातककर्मपद्धति बालावबोध, विवाहपडल बालावबोध, भुवनदीपक बालावबोध, चमत्कार चिंतामणि बालावबोध, मुहूर्तचिन्तामणि बालावबोध, विवाहपडल भाषा, गणित साठीसो, पंचांग नयन चौपाई, शुकनदीपिका चौपाई, अंगफुरकन चौपाई, वर्षफलाफल सज्झाय।

हीरकलश-राजस्थानी दोहों आदि में यह ज्योतिष संबंधी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचना सं० १६५७ में हीरकलश नामक खरतरगच्छीय जैन यतिने की है। पद्य संख्या १००० के लगभग है। साराभाई मणिलाल नवाबने गुजराती विवेचन के साथ अहमदाबाद से प्रकाशित भी कर दिया है।

८ नीतिः—चाणक्यनीतिटब्बा, पंचाख्यान चौपाई। मखलाक अलमोहुश्नै-इस फारशी ग्रन्थ का 'नीतिप्रकाश' के नाम से मुहणोत संग्रामसिंह रचित उपलब्ध हुआ है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पंचाख्यान का गद्य में अनुवाद भी मिला है, जिसकी भाषा भी बहुत सुन्दर है।

९ ऐतिहासिकः—मुंहणोत नैणसीकी ख्यात तो राजस्थान के इतिहासके लिये अनमोल ग्रंथ है। यह सर्वविदित है। मुहणोत नैणसी जैन श्रावक थे। इन्होंने मारवाड़ के ग्रामों के संबंध में एक और भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा था, जिसकी प्रति उनके वंशज वृद्धराजजी के भतीजे बुधराजजी मुहणोत के पास है। इस ग्रंथ को प्रकाश में लाना अत्यन्त आवश्यक है।

नैणसी की ख्यात का कुछ अंश मूल रूप से पं० रामकर्णजी आसोपाने दो भागों में प्रकाशित किया है। अभी उसका एक सुन्दर संस्करण राजस्थान पुरातत्व मंदिर से छपना प्रारंभ हुआ है जिसका संपादन श्री बदरीप्रसाद साकरिया कर रहे हैं। राठोड़ अमरसिंह की बात भी समकालीन जैन-यतिलिखित मेरे संग्रह में है। जिसे मैंने भारतीय विद्या में प्रकाशित कर दिया है। राठोड़ों की ख्यात और वंशावलियें जैनयतियों द्वारा लिखित प्राप्त हैं। जोधपुर के गांवों की उपज संबंधी हकीकत जयपुर के श्रीपूज्यजी के पास है, जिसकी प्रतिलिपि मेरे संग्रह में है। बाड़मेर के यति इन्द्रचन्द्रजी के संग्रह में वेगड़गच्छीय जिनसमुद्रसूरि रचित राठोड़-वंशावली मैंने देखी थी जो अब नष्ट हो गई होगी। खुमाणरासो, गोराबादल चौपाई, जैतचंद्र प्रबंध चौपाई आदि ग्रंथ विशुद्ध ऐतिहासिक तो नहीं, पर लोकापवाद के आधार से रचित अर्ध ऐतिहासिक हैं। कर्मचन्द्र वंश प्रबंध चौपाई से बीकानेर के इतिहास की कई बातें विदित होती हैं। जैनाचार्यों, श्रावकों, तीर्थों, देश नगर वर्णन संबंधी ग्रन्थों में सार्वजनिक अनेक ऐतिहासिक तथ्य सम्मिलित हैं। जैन गच्छों की पट्टावलियें भी राजस्थानी भाषा में लिखी गई हैं जो ऐतिहासिक और भाषा की दृष्टि से बड़े महत्व की हैं। जैनेतर ख्यात ऐतिहासिक बातें आदि की अनेक प्रतियें कई जैनभंडारों में प्राप्त हैं।

१० सुभाषित सूक्तियां:— राजस्थानी साहित्य में दोहों की संख्या भी बहुत है। दस-बीस हजार दोहे इकट्ठे करने में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। ये दोहे मुक्तक छंद हैं। इनमें से बहुत से तो अत्यन्त लोकप्रिय हैं। जो राजस्थान के जन-जन के मुख व हृदय में रमे हुए हैं। कहावतों के तौर पर उनका उपयोग पद-पद पर किया जाता है। ये दोहे सभी रसों के हैं और सब के लिये समान रूप से उपयोगी हैं। जैन विद्वानों ने भी प्रासंगिक, विविध विषयक राजस्थानी सैकड़ों दोहे बनाये हैं। केवल जसराज (जिनहर्ष) के ही २०० से अधिक दोहे हमने संग्रहीत किये हैं। ईसी प्रकार ज्ञानसारजी आदि और कई कवियों के दोहे उपलब्ध हैं।

११ बुद्धिवर्धक—हीयाली, गूढ़े, आदि सैकड़ों की संख्या में जैन विद्वानों के रचित प्राप्त है। जो बुद्धि की परीक्षा लेते हुए उसको बढ़ाते हैं। पचासेक-हीयालियों का मैंने सुन्दर संग्रह कर रखा है। जिनमें से कुछेक को बहुत वर्ष पूर्व 'जैन-ज्योति' में प्रकाशित की थीं।

१२ विनोदात्मक:—ऊंदररासो, मोकणरासो, माखियों रो कजियो, जती जंग, आदि बहुत सी विनोदात्मक रचनाएं प्राप्त हैं।

१३ कुव्यसननिवारक:—भांगरास, अमलरास, वृद्धविवाह निवारक बूढारास, सप्तव्यसन निषेधगीत, तमाखूनिषेध, तमाखूपरिहारगीत आदि बहुत से कुव्यसनों के निवारक साहित्य प्राप्त हैं।

१४ शिक्षाप्रदः—बुद्धि रासो, सवासौ सीख, मूर्ख बहोत्तरी, आदि शिक्षाप्रद रचनाएं हैं।

१५ औपदेशिकः—सर्वसामान्य धर्म एवं नैतिक नियमों को उपदेशित करनेवाले बावनी, बत्तीसी आदि संज्ञक बीसों जैन-राजस्थानी रचनाएं हमारे संग्रह में हैं। बावनी संज्ञक रचनाएं अधिकतर वर्णमाला के ५२ अक्षरों के क्रमशः प्रारंभिक पदवाले हैं। ये १३ वीं शताब्दी से रची जाने लगीं। उनमें से मातृका बावनी, दोहा मातृका आदि प्राचीन रचनाएं 'प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह' में प्रकाशित भी हो चुकी हैं।

१६ ऋतुकाव्यः—बारहमासे-चौमासेसंज्ञक अनेक राजस्थानी जैन रचनाएं उपलब्ध हैं जो अधिकांश नेमिनाथ और स्थूलभद्र से संबंधित होने पर भी ऋतुओं के वर्णन से परिपूरित हैं। कुछ स्वतन्त्र रचनाएं भी उपलब्ध हैं, जिनमें 'शृंगारसत' भारतीय विद्या में प्रकाशित है। 'वसंत विलास' तो बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। विद्वानों की राय में वह भी किसी जैन यति की रचित है। बारह मासों का प्रारम्भ १३ वीं शताब्दी से ही हो जाता है। सब से प्राचीन बारहमासा जिनधर्मसूरि बारह नौवउं है।

१७ वर्णनात्मकः—राजस्थानी गद्य में तुकान्त गद्य-काल के उत्कृष्ट उदाहरण स्वरूप कई वर्णनात्मक ग्रंथ मुझे प्राप्त हुए हैं। १५ वीं शताब्दी से उनका प्रारम्भ होता है। सं. १४७८ के माणिकसुन्दर रचित 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' अपरनाम 'वाग्विलास' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है जो वर्णानात्मक ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। ऐसा तुकान्त सुन्दर वर्णन अन्यत्र कम प्राप्त है। मुझे अन्य पांच स्वतंत्र वर्णनात्मक ग्रन्थों की प्रतियें मिली हैं। जिनमें तीन अपूर्ण हैं। उनमें भी विविध विषयों का वर्णन बहुत ही मनोहर है। इनका परिचय मैं शीघ्र ही स्वतन्त्र लेख द्वारा राजस्थान-भारती में प्रकाशित कर रहा हूं। अभी-अभी मुनि जिनविजयजी से १७ वीं शताब्दी के सुकवि सूरचंद्र रचित पदैकविंशति नामक ग्रंथ की एक अपूर्ण प्रति प्राप्त हुई है। ग्रन्थ संस्कृत में है, पर प्रासंगिक वर्णन राजस्थानी गद्य में ही दिया है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ की पूर्ण प्रति प्राप्त होने पर इसका महत्व भली भांति विदित हो सकेगा। पद्य में दुष्काल वर्णन, शीत-ताप वर्णन आदि रचनायें प्राप्त हैं।

१८ सम्वादः—सम्वादसंज्ञक जैन-रचनाओं में बहुतसों का संबंध जैनधर्म से नहीं है। इनमें कवियोंने अपनी सूझ एवं कवि-प्रतिभा का परिचय अच्छे रूप से दिया है। मोती-कपासिया सम्वाद, जीभ-दांत सम्वाद, आंख-कान सम्वाद, उद्यम-कर्मसम्वाद, यौवन-जरासम्वाद, लोचन-काजलसम्वाद आदि रचनाएं उल्लेख योग्य हैं।

१९ देवियों के छंदः—लोकमान्य कई यक्ष, शनिश्चर आदि ग्रह, त्रिपुर आदि देवों की स्तुतिरूप छंद, जैन जतियों द्वारा रचित बहुत से मिलते हैं। उन देवी देवताओं का जैनधर्म से कोई संबंध नहीं है। रामदेवजी, पाबूजी, सूरजजी और अमरसिंहजी आदि की स्तुतिरूप भी कई रचनाएं हैं।

२० लोकवार्तायें संबंधी ग्रन्थः—लोक-साहित्य के संरक्षण में जैन-विद्वानों की सेवा अनुपम है। सैंकड़ों लोकवार्त्ताओं को उन्होंने अपने ग्रन्थों में संगृहीत की हैं। एक-एक लोकवार्त्ता के संबंध में संस्कृत एवं लोकभाषा में उनके बहुत से ग्रंथ उपलब्ध हैं। बहुतसी वार्त्ताएं तो यदि वे न अपनाते तो विस्मृति के गर्भ में कभी की विलीन हो जातीं। यहां राजस्थानी भाषा में रचित फुटकर लोकवार्त्ताओं की सूची दी जा रही है:—

अंबड चरित्र	कर्त्ता:—विनयसमुद्र, रूपचन्द्र,
कर्पूरमञ्जरी	,, मतिसार,
गोराबादल	,, हेमरत्न, लब्धोदय,
चन्दनमलयागिरि	,, भद्रसेन, क्षेमहर्ष, जिनहर्ष, सुमतिहंस, यशोवर्धन,
ढ़ोलामारु	,, कुशललाभ,
नंदबत्तीसी चौपाई	,, सिंहगणि
पनरहवीं कलारास	,, वीरचन्द
पञ्चाख्यान	,, वच्छराज, हीरकलश,
प्रियमेलक	,, समयसुन्दर, मानसागर,
भोज-चरित्र	,, मालदेव, सारंग, हेमानन्द, कुशल धीर,

विक्रम चरित्र—महाराजा विक्रम की दानशीलता, पराक्रम एवं बुद्धिचातुर्य लोक-साहित्य में सब से अधिक प्रचारित हैं। भारतीय प्रत्येक भाषा में विक्रम संबंधी लोककथाओं का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। मरु-गूर्जरी भाषा में भी करीब ४५ रचनाएं प्राप्त हो चुकी हैं। यहां उनमें थोड़ीसी राजस्थानी रचनाओं का ही उल्लेख किया जा रहा है। विशेष जानने के लिये 'मेरे विक्रमादित्य संबंधी जैन साहित्य' (विक्रम स्मृति ग्रंथ में) देखना चाहिये।

विक्रम चौपाई	कर्त्ता—हेमाणंद मुनिमाल,
पञ्च दंड चौपाई	,, विनयसमुद्र, लक्ष्मीवल्लभ, लाभवर्धन,
सिंहासन बत्तीसी	,, मलयचन्द्र, ज्ञानचन्द्र, विनयसमुद्र, हीरकलश, विनयलाभ,
खापरा चोर चौपाई	,, राजशील, अभयसोम, लाभवर्धन,

लीलावती चौपाई	कर्त्ता—	कक्कसूरि शिष्य कुशललाभ,
विद्याविलास कथा	,,	हीरानंदसूरि, आज्ञासुंदर, आनंदउदय, राजसिंह जिनहर्ष, यशोवर्धन,
विल्हण पंचाशिका	,,	ज्ञानाचार्य, सारंग,
शशिकला चौपाई	,,	ज्ञानाचार्य,
शुकबहोत्तरी	,,	रत्नसुन्दर, रत्नचन्द,
शृंगारमंजरी चौपाई	,,	जयवंतसूरि,
स्त्रीचरित्ररास	,,	ज्ञानदास,
सगालसारास	,,	कनकसुन्दर,
सदयवत्स सावलिंगा चौपाई	,,	केशव,
कान्हड कठियारा चौपाई	,,	मानसागर,
रतना हमीर री बात	,,	उत्तमचंद भंडारी,
राजा रिसालू की बात	,,	आणंदविजय,
लघुवार्ता संग्रह	,,	कीर्तिसुंदर,

लोकवार्त्ताओं के अतिरिक्त लोकगीतों को भी जैन विद्वानोंने विशेषरूप से अपनाया है। लोकगीतों की रागिनियों (ढाल, देशी आदि) पर भी उन्होंने अपने रास, स्तवन आदि अधिकांश रचनाएं की हैं। उन रचनाओं के प्रारम्भ करने के पहले जिस लोकगीत की देशी में वह गाई जानी चाहिये उस लोकगीत की प्रारंभिक पंक्ति देदी है। हजारों लोकगीतों का पता इस निर्देशन से ही मिल जाता है। कौनसा लोकगीत कितना पुराना है, उसका प्रारंभिक स्वरूप क्या था, उसकी लोकप्रियता कितनी अधिक थी–इन सब बातोंका भी पता लग जाता है। कुछ लोकगीतों को तो उन्होंने पूरे रूप से ही लिख रक्खा हैं जो महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे लोकगीतों की देशियों की सूची श्रीयुत् मोहनलाल दलीचन्द देशाई ने बड़े परिश्रम से तैयार करके अकारादि क्रम से 'जैन–गुर्जर कवियों' भाग ३ के परिशिष्ठ नं० ७ मे पृ० १८३३ से २१०४ तक में दी हैं। इन देशियों की संख्या २५०० के लगभग है। जिन में से आधे के करीब तो राजस्थानी लोकगीतों की है।

२१ जैनेतरों के मान्य ग्रन्थों पर भी जैन विद्वानोंने कुछ ग्रंथ बनाये हैं जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। देवीसातसी, एकादशी कथा, रामायण इनमें मुख्य हैं। और भी जैनेतर मंत्र आदि लोकोपयोगी विषयों पर फुटकर साहित्य बहुत कुछ जैन यतियों द्वारा लिखा मिलता है।

राजस्थानी जैन रचनाओं की विविधता जानने के लिए उन रचनाओं की विचित्र संज्ञाओं पर दृष्टि डालना ही काफी होगा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका नं. ५८ अं. ४ में मैंने उन संज्ञाओं का कुछ परिचय अपने 'प्राचीन काव्यों की विविध संज्ञाएँ' लेख में बताया है। उसे पढ़ने का अनुरोध है।

यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि राजस्थानी जैन साहित्य जब इतना विविध, विशाल एवं महत्त्वपूर्ण है तो उसकी आज तक यथोचित जानकारी क्यों नहीं प्रसिद्ध हुई ? कारण स्पष्ट है कि जैन मुनि एवं श्रावकलोक अपने धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठे हैं। साहित्य-प्रेम और अपने साहित्य के महत्त्व के संबंध में प्रकाश डालने की प्रवृत्ति उनमें बहुत कम देखने में आती है और जैनेतर विद्वानों में बहुत से तो साम्प्रदायिक-मनोवृत्ति के कारण जैनसाहित्य के अन्वेषण एवं अध्ययन में रुचि नहीं रखते। कुछ निष्पक्ष विद्वान हैं,—उन्हें प्रथम तो सामग्री सुगमता से प्राप्त नहीं होती, दूसरा जैनसाहित्य साम्प्रदायिक विशेष है—इस धारणा के कारण वे उसकी प्राप्ति का अधिक प्रयत्न भी नहीं करते। यद्यपि जैनसाहित्य बहुत विशाल परिमाण में प्रकाशित भी हो चुका है। उसका परिचय पाने के साधनभूत ग्रंथ भी काफी प्रकाशित हो चुके हैं। उदाहरणार्थ-जैन विद्वानों के रचित प्राकृत भाषा संबंधी साहित्य के संबंध में प्रो० हीरालाल कापड़िया का 'पाइय भाषा अने साहित्य' नाम का ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। जैनागमों की आवश्यक जानकारी, उनके अन्य ग्रंथ 'अर्हत् आगमोनूं अवलोकन' और A History of Cannonical Literature of the Jains' दलसुख मालवणिया का 'जैन आगम' और डा० विमलचरण के अंग्रेजी में भी कई ग्रंथ प्रकाशित हैं। जैन आगमों की महत्त्वपूर्ण बातों के संबंध में डा० जगदीशचंद्र जैन का थीसिस भी अच्छा प्रकाश डालता है। संस्कृत जैनसाहित्य के संबंध में डा० विन्टरनीज का इतिहास भी ठीक प्रकाश डालता है। वैसे स्वतंत्र समग्र साहित्य का परिचायक श्रीयुत् मोहनलाल दलीचंद देशाई का "जैनसाहित्यनो सक्षिप्त इतिहास" तो अत्यन्त मूल्यवान् ग्रंथ है। २०/२५ वर्ष के कठिन परिश्रम से वह तैयार किया गया है और जैन इतिहास की झांकी भी उससे मिल जाती है। प्रो० वेलणकर का 'जिनरत्नकोश' ग्रंथ दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों संप्रदाय के प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा के ग्रंथों की बृहत्सूची है।

जहां तक राजस्थानी जैन साहित्य का संबंध है—इसके महत्त्व एवं विशालता की जानकारी का प्रधान कारण यह है कि राजस्थानी और गुजराती दोनों भाषाओं की रचनाओं का विवरण 'जैन गुर्जर कवियों' में एक साथ ही छपा है। वैसे १६ वीं शताब्दी तक तो दोनों भाषायें एक ही थी, अतः गुजरातवालों ने उन्हें प्राचीन गुजराती की संज्ञा दी है। पर

१७ वीं से तो दोनों भाषाओं में उल्लेखनीय अन्तर हो जाता है। अतः उनकी भाषा का पृथक् उल्लेख करना आवश्यक था। मैंने यह सुझाव देसाई को दिया था और उन्होंने अपने ग्रंथ के तीसरे भाग में उसका कुछ उपयोग भी किया है। देसाईने अपने इस ग्रंथ के तीन भागों में सैकड़ों कवियों की हजारों रचनाओं का विवरण प्रकाशित किया है, पर ग्रन्थ गुजराती लिपि में छपा है और 'जैन-गुर्जर कवियों' के नाम से है, अतः राजस्थान के विद्वानों का राजस्थानी जैन साहित्य के महत्त्व की ओर ध्यान अभी तक जैसा चाहिये वैसा नहीं जा सका।

राजस्थानी भाषा के जैन साहित्य से ही नहीं, जैनेतर प्राचीन साहित्य से भी हमारे विद्वान् उसके गुजराती में प्रकाशित होने के कारण अपरिचित रहे हैं। रणमल छंद, कान्हड़दे प्रबन्ध, सदयवत्स प्रबन्ध, हंसावली आदि १५ वीं एवं १६ वीं के प्रारम्भ की रचनाएं जो गुजराती के नाम से प्रसिद्ध हैं, वास्तव में प्राचीन राजस्थानी की ही हैं।

राजस्थानी जैन साहित्य की उपयोगिता, विविधता एवं विशेषता पर संक्षिप्त प्रकाश डालने के अनन्तर उसकी विशालता पर भी कुछ कह देना आवश्यक हो जाता है। संक्षेप में तो पहले यह कहा ही जा चुका है कि समग्र राजस्थानी साहित्य का सबसे बड़ा अंश जैनों द्वारा रचित है, और चारणों का साहित्य जो राजस्थानी भाषा का सबसे प्रधान साहित्य माना जाता है उससे भी अधिक विशाल है। इसका कुछ आभास निम्नोक्त बातों से मिल जायगा (१) चारण आदि जैनेतर कवियों की रचना १५ वीं शताब्दी से मिलती हैं और वे भी १७ वीं शताब्दी के पहले की तो इनी-गिनी ही हैं। जबकि इन मध्यवर्ती ४०० वर्षों में जैन विद्वानोंने निरन्तर राजस्थानी में रचना की है और वे छोटी-मोटी शताधिक संख्या में हैं। पद्य साहित्य के साथ-साथ इस समय की गद्य-रचनायें भी प्रचुर हैं। जबकि १७ वीं शताब्दी से पहले की जैनेतर गद्यराजस्थानी-रचना स्वतंत्र रूप से एक भी प्राप्त नहीं है। केवल अचलदास खीची की वचनिका में गद्य के थोड़े से उदाहरण मिलते हैं। जबकि इन ४०० वर्षों में करीब ५०-६० ग्रन्थों के बड़े-बड़े बालावबोध राजस्थानी गद्य में जैन विद्वानों के निर्मित प्राप्त हैं। खरतरगच्छीय विद्वान् मेरुसुन्दर अकेले ने ही २० ग्रन्थों पर गद्य में बालावबोध-भाषा टीका लिखी हैं। जिनका परिमाण ३०-४० हजार श्लोक के करीब का होगा। चारण आदि कवियों द्वारा ख्यातों का लेखन अकबर के समय से प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। गद्य-वार्तायें तो अधिकांश १८ वीं शताब्दी में ही लिखी गई हैं।

(२) रचनाओं की संख्या पर दृष्टि डालने से भी जैनेतर-राजस्थानी साहित्य के बड़े २ ग्रन्थ तो बहुत ही थोड़े हैं, फुटकर दोहे एवं डिंगल गीत ही अधिक हैं, जब कि राजस्थानी

जैन ग्रन्थों, रास आदि बड़े २ ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों हैं। दोहे और डिंगल-गीत हजारों की संख्या में मिलते हैं, उसका स्थान जैन विद्वान् के स्तवन, सज्झाय, गीत, भास, पद आदि लघु कृतियें ले लेती हैं, जिनकी संख्या हजारों पर हैं।

(३) कवियों की संख्या और उनके रचित साहित्य के परिमाण से तुलना करने पर भी जैन साहित्य का पलड़ा बहुत भारी नजर आता है। जैनेतर राजस्थानी साहित्य निर्माता में दोहों व गीतनिर्माता को छोड़ देने पर बड़े २ स्वतन्त्र ग्रंथनिर्माता कवि थोड़े से रह जाते हैं। और उनमें से भी किसी कविने उल्लेखनीय ५-४ बड़े २ और छोटे-बड़े और २०-३० रचनाओं से अधिक नहीं लिखा। राजस्थानी भाषा का सब से बड़ा ग्रंथ ' वंश भास्कर ' है। जबकि जैन कवियों में ऐसे बहुत से कवि हो गये हैं जिन्होंने बड़े-बड़े रास ही काफी संख्या में लिखे हैं। यहां कुछ प्रधान कवियों का ही निर्देश किया जा रहा है।

(१) कविवर समयसुन्दर—आप राजस्थान के महाकवि हैं। प्राकृत, संस्कृत भाषा में अनेकों रचनाएं लिखने के साथ २ राजस्थानी में भी प्रचुर रचनाएं निर्माण की हैं। फुटकर स्तवन, सज्झाय, गीत आदि की संख्या तो २०० के लगभग प्राप्त हैं। वैसे सीताराम चौपाई राजस्थानी का जैन-रामायण है। यह ग्रन्थ ३७०० श्लोकप्रमाण है। इसके अतिरिक्त साम्ब प्रद्युम्न चौपाई, चार प्रत्येक बुधरास, लीलावतीरास, नलदमयंतीरास, प्रियमेलकरास, पुण्यसार चौपाई, वल्कलचीरीरास, शत्रुंजयरास, वस्तुपालरास, थावच्चा चौपाई, क्षुल्लक कुमार-प्रबंध, चंपकश्रेष्ठि चौपाई, गौतमपृच्छा चौपाई, धनदत्त चौपाई, साधुवंदना, पुंजाऋषिरास, द्रौपदी चौपाई, केशीप्रबंध, दानादि चौढालिया एवम् क्षमाछतीसी, कर्मछतीसी, पुण्यछतीसी, दुष्कालवर्णनछतीसी, सवैयाछतीसी, आलोयणाछतीसी आदि २ राजस्थानी में बहुत से ग्रन्थ हैं।

(२) जिनहर्ष—इनका दीक्षापूर्व नाम जसराज था। यह राजस्थानी के बड़े भारी कवि हैं। इन्होंने पूर्ववर्ती जीवन में राजस्थानी भाषा में और पीछे से पाटन चले जाने पर गुजराती मिश्रित भाषा में ५० के करीब रास एवं सैकड़ों स्तवन आदि फुटकर रचनाएं की हैं। इनमें से कई रास तो बड़े २ काव्य हैं। आपकी समग्र रचनाओं का परिमाण एक लाख श्लोक के होगा।

(३) वेगड़ जिनसमुद्रसूरि—इन्होंने भी राजस्थानी में बहुत से रास, स्तवन आदि बनाए हैं। जिनका परिमाण ५०-६० हजार श्लोक के करीब होगा। कई ग्रन्थ अपूर्ण मिले हैं।

(४) तेरापंथी जीतमलजी—इनका भगवती सूत्र की ढालें यह एक ही ग्रंथ ६० हजार श्लोक परिमाण है जो राजस्थानी का सबसे बड़ा ग्रन्थ है। आपकी अन्य रचनाओं को मिलाने से परिमाण लाख श्लोक से अधिक का ही होगा।

इस प्रकार ४–५ विद्वानों के ही जब तीन–चार लाख श्लोक परिमित हो जाता है, तो समग्र राजस्थान जैन साहित्य का परिमाण १० लाख श्लोक परिमित होने में कोई भी संशय नहीं। इतने विशाल साहित्य की उपेक्षा अवश्य ही अनुचित है। इन ग्रंथों में से चुने हुए उपयोगी ग्रन्थों की ग्रन्थमाला प्रकाशित हो तो जनसाधारण का बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। उनका जीवनस्तर इस प्राणवान् साहित्य से प्रेरणा पाकर अवश्य ही उन्नतिशील हो सकता है। अभी जैनों को स्वयं को भी उनके साहित्य का ठीक महत्त्व ज्ञात नहीं है। अतः राजस्थानी जैन साहित्य का इतिहास प्रकाशित होना अत्यावश्यक है। १३ वीं से २० वीं तक के ७०० वर्षों के साहित्य के विकास का कुछ परिचय जैन गुर्जर कविओ भा. १–२–३ से मिल सकता है। स्थानाभाव से यद्यपि यहां रूपरेखा मात्र रखी गई है, कवि व ग्रंथादि नाम देना संभव नहीं; परन्तु इससे ही काम नहीं चलेगा। जिनके हृदय में टीस हो, आगे आकर प्रान्त के उद्धार का शंखनाद पूरना चाहिये। जन–जनमें, घर २ में जागृति का शंख फूंके विना भविष्य और भी अंधकारमय है।

राजस्थान में जैनधर्म के प्रचार का प्रारंभ—

वर्तमान उत्सर्पिणी अर्थात् अवनत काल में जैनधर्म के प्रचारक जो चौवीस तीर्थङ्कर हो गये हैं उनके जन्म, दीक्षा, निर्वाण आदि स्थलों के नामों पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि प्राचीनकाल में जैनधर्म का प्रचार भारत के पूर्वीय, उत्तरीय एवं मध्यभाग में ही विशेष रूप से रहा है। दक्षिण भारत में तो जैनधर्म का प्रचार विशेष सम्भव पूर्वीय भाग में महान् दुष्काल आदि पड़ने के समय में आचार्य भद्रबाहु के विहार के पश्चात् ही हुआ है। पश्चिमी भारत के मरु आदि प्रदेशों में तब तक आबादी बहुत साधारण ही होगी। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के बाबा समुद्रविजय के पुत्र भगवान् श्रीनेमिनाथ के धर्मशासन के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के मथुरा व सौरीपुर से चलकर द्वारिका में बस जाने पर दक्षिण–पश्चिम में जैनधर्म का प्रचार ठीक से हो गया। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का विहार भी मालवे तक ही हुआ प्रतीत होता है। मरु–जांगल आदि राजस्थान प्रदेश की ओर उनके विहार आदि का प्राचीन प्रमाण नहीं मिलता। अतः विशेष सम्भव है कि भगवान् महावीर के बाद मालवे से आगे बढ़ कर चितौड़ के निकटवर्तीय मज्झमिका नगर में जैन श्रमणों का विहार हुआ तभी से राजस्थान में जैनधर्म का प्रचार विशेष रूप से हुआ होगा। वीर संवत् ८४ (चौरासी) के लेखवाले शिलाखण्ड में मज्झमिका का नाम मिलता है। कल्पसूत्र की स्थिरावली से विदित होता है कि जैनाचार्य आर्यसुहस्ति के शिष्य प्रियग्रन्थसूरि से मज्झमिका नामक शाखा प्रसिद्ध हुई। जिसका समय वीर निर्वाण सं. तीन सौ और चार सौ के बीच में है। ये आचार्य यज्ञ की

हिंसा के निवारणार्थ हर्षपुर भी पधारे थे। हर्षपुर अजमेर से ६-७ कोष हॉसोटियो वा हसौटी नामक स्थान होना संभव है। इधर मथुरा में जैनधर्म का बहुत प्रभाव फैला तब जैन श्रमण वहॉ से मत्स्य देश के वैराटनगर आदि से होते हुए राजस्थान में आगे बढ़े हों सम्भव है। विशेष सम्भव चौथी शताब्दी से आठवीं के बीच में ही राजस्थान में जैनधर्म का प्रचार अधिकरूप में हुआ हो। आठवीं शताब्दी में भीनमाल और चितौड़ को जैनधर्म का प्रचार केन्द्र कहा जा सकता है। श्रीमाल की ओर आचार्य शिवचन्द्रगणि महत्तर चन्द्रभागा नदी के तटवर्ती पर्वैया-नगरी से आये थे। यह कुवलयमाला की प्रशस्ति से स्पष्ट है। जैन श्रावकों की वंशावलियों से विदित होता है कि ८ वीं शताब्दी में भिन्नमालनगरमें शान्तिसूरि आदि आचार्योंने अनेक क्षत्रियों को जैन धर्म का प्रतिबोध देकर श्रावक बनाये। जिनकी जाति, स्थान के नाम पर श्रीमाली ही प्रसिद्ध हुई। श्रीमाल नगर के पूर्वी भाग के रहनेवाले जैनों की जाति पोरवाड़ (सं० प्राग्वाट) प्रसिद्ध हुई. और श्रीमालनगर के राजा के पुत्र के साथ ओहड़ आदिने जाकर उवेश (सं. उपकेश) वर्त्तमान ओसियां (मारवाड़) नगर बसाया। वहां के रत्नप्रभसूरि द्वारा प्रतिबोधित नये जैन श्रावक ओसवाल कहलाये। ९ वीं शताब्दी में वनराज चावड़ाने अणहिलपुर-पाटन बसाकर वर्त्तमान गुजरात राज्य की नींव डाली। तब भीनमाल, चन्द्रावती आदि के जैन-कुटुम्ब पाटन के राजाके पास गये। इनमें कइयोंने मंत्री, सेनापति आदि पदों पर कार्य करके गुजरात की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। पोरवाड़ मंत्री विमळशाह, वस्तुपाल, तेजपाल, आदि उन्हीं में से मुख्य हैं। इससे पूर्व भीनमाल, डीडवाना आदि का प्रदेश गूर्जरों की प्रधानता के कारण 'गूर्जरत्रा' कहलाता था। इसके बाद क्रमशः वर्त्तमान् गुजरात की समृद्धि बढ़ती गई। इधर जैन श्रावकों के वंश की अतिशय वृद्धि हुई। ओसवाल जाति की ही सैकड़ों नहीं, हजारों गोत्र के रूपमें शाखायें हो गईं और उनमें से कइयोंने अपने व्यापार-विस्तार के लिये निकटवर्ती अन्य प्रान्तों में प्रस्थान कर दिया। सिंध प्रान्त जैसलमेर के सन्निकट था, अतः उधर के जैन श्रावक सिंध प्रान्त में काफी फैल गये। इधर १७ वीं शताब्दी में जगत्सेठ के बंगाल में जानेपर उधर भी हजारों कुटुम्बोंने जाकर व्यापार विस्तार किया। इधर यू. पी. और सी. पी. एवं दक्षिण आदि में भी बहुत से जैन कुटुम्ब गये और अपने व्यापार द्वारा उन्नति प्राप्त की। इसी प्रकार जयपुरराज्य के खंडेले स्थान से खंडेलवाल और पालीसे पल्लीवाल आदि जातियें प्रसिद्ध हुईं। खंडेलवाल प्रायः दिगंबर हैं। कहने का अर्थ यह है कि भारतभर में जो आज जैनधर्म के अनुयायी लाखों की संख्या में निवास करते हैं उनमें सब से बड़ी संख्या राजस्थान के निवासी जैनों की है। इससे राजस्थान में जैनधर्म का प्रचार कितने विस्तृतरूप में हुआ था-सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ वर्ष

पहले तक भी राजस्थान के प्रायः प्रत्येक ग्राम में जैन श्रावक, जैनमंदिर थे, और यतिओं का आना-जाना निरंतर होता रहता था । अब बहुत से व्यक्ति अन्य प्रान्तों में जाकर बस गये और बहुत से निकटवर्ती नगरों में रहने लगे हैं, अतः कई गांव खाली हो गये व वहां के मंदिर टूट-फूट गये । राजस्थान में जैनधर्म के प्रचार के संबंध में इतने विस्तार से कहने का आशय यह है कि जैन विद्वान् प्रारंभ से ही लोक भाषा में धर्म प्रचार व साहित्य निर्माण करते रहे हैं और जब कि राजस्थान के ग्राम-ग्राम में जैनधर्म का प्रचार था, तो राजस्थानी भाषा में जैनसाहित्य का विशाल परिमाण में रचा जाना स्वाभाविक ही है । जैन यति, मुनि आदि अपने आवश्यक खानपान एवं धार्मिक कृत्यों से निवृत्त होकर शेष सारा समय अध्ययन, अध्यापन, साहित्य निर्माण और लेखन इत्यादि में विताते थे । उनका जीवन बहुत संयमित होता है और उनकी सीमित आवश्यकताएं भिक्षा द्वारा सहज ही श्रावकों से पूर्ण हो जाती हैं । इसीलिये वे साहित्य के निर्माण एवं संरक्षण में भारत के किसी भी सम्प्रदाय के प्रचारकों से अधिक सफल हो सके हैं ।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि राजस्थान और गुजरात का (संलग्न प्रदेश होने से) बहुत घनिष्ठ संबंध रहा है और इन दोनों प्रदेशों में जैनधर्म का अधिक प्रचार रहा है, इसीलिये जैन विद्वान् धर्मप्रचारार्थ दोनों प्रान्तों में समान रूप से घूमते रहे हैं । अतः उनकी भाषा में गुजराती का सम्मिश्रण होना स्वाभाविक है । यद्यपि १६ वीं शताब्दी तक तो दोनों प्रान्तों की साहित्यिक भाषा में खास अन्तर नहीं था । राजस्थानी भाषा में साहित्य निर्माण करनेवाले जैन मुनि व विद्वान् राजस्थान के ही जन्मे हुए थे और राजस्थानी ही उनकी मातृभाषा थी । उनके अनुयायी श्रावक लोगों की भी यही भाषा थी, इसलिये उनके उपदेश राजस्थानी भाषा में ही हुआ करते थे । राजस्थान में ही नहीं, राजस्थान से बाहर गये हुए जैनश्रावकों में धर्म-प्रचार करने के लिये जैन मुनि जब सिंध-प्रान्त, सी. पी. और बंगाल आदि में जाते तो वहां पर भी उनके अनुयायियों की मातृभाषा राजस्थानी होने के कारण वहां पर भी जैनमुनि व विद्वानोंने जो साहित्य निर्माण किया है, वह राजस्थानी भाषा में ही है । सिंध प्रान्त में तो बहुत से ग्रन्थ राजस्थानी भाषा में रचे गये हैं जो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

राजस्थान प्रान्त और राजस्थानी भाषा का प्राचीन नामः—

आज हम जिसे राजस्थान प्रान्त के नाम से संबोधन करते हैं, प्राचीन काल में इसका कोई एक ही नाम नहीं था । यह प्रदेश कई खंडों में विभक्त था और उनके भिन्न-भिन्न नाम थे । समय-समय पर उन नामों एवं प्रदेशों में भी शासकों के परिवर्त्तन

आदि से नामों में भी परिवर्त्तन होता रहा है। प्राचीन उल्लेखों के अनुसार राजस्थान के उत्तरी भाग का नाम जांगल, पूर्वी का मत्स्य, दक्षिण-पूर्वी शिवि, दक्षिण-मेदपाट वागड़, प्राग्वाट, मालव और गुर्जरत्रा, पश्चिमी भाग का मरु, माडवल्ल, त्रवणी और मध्यभाग का अर्बुद और सपादलक्ष आदि नाम थे। डा. वासुदेवशरणजी अग्रवाल के मन्तव्यानुसार साल्वजनपद और पृथ्वीसिंह महता के कथनानुसार पारियात्रमंडल भी राजस्थान के ही अंग थे। विभिन्न खंडों में विभक्त होने पर भी राजस्थानी भाषा सर्वत्र प्रायः समानरूप से प्रचलित थी। पीछे से व्रजमण्डल के निकटवर्ती राजस्थान के प्रदेश पर व्रजभाषा का और गुजरात के निकट पर गुजराती भाषा का प्रभाव पड़ा। राजस्थानी जैन साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न खंडों मे साहित्य निर्माण होने पर भी उनकी भाषा मारवाड़ी ही प्रधान थी। अर्थात् राजस्थानीभाषा की साहित्यिक भाषा का रूप प्रायः एक ही सा था, बोली में थोड़ा बहुत अंतर होगा। प्रदेशों के भिन्न-भिन्न नामों के अनुसार साहित्य की भाषा के विविध नाम उपलब्ध नहीं होते। इससे भी राजस्थानी भाषा की एकरूपता सिद्ध हो जाती है।

राजस्थानी भाषा के प्राचीन नाम के संबंध में अन्वेषण करने पर इसका प्रधान नाम प्राचीन उल्लेखों के अनुसार 'मरुभाषा' था, क्यों कि मरुप्रदेश ही राजस्थान का सब से बड़ा एवं प्रधान खंड है जिसे अब मारवाड़ और उसकी भाषा को मारवाड़ी कहते हैं।

आज से २५०० वर्ष पूर्व-भगवान् महावीर के समय भारतीय भाषाओं के प्रान्तीय भेद प्रधानतः १८ थे। जैनागम ज्ञातासूत्र, विपाक, औपपातिक, राजप्रश्नीय आदि में राजकुमारों आदि के अध्ययन के प्रसंग में उन्हें १८ देशी भाषा-विशारद बतलाया गया हैं। उस समय की लिपियों की सख्या भी जैनागमों के अनुसार प्रधानतः १८ ही थीं। लिपियों के १८ नामों का विवरण तो प्राप्त है, पर भाषाओं के १८ नाम प्राप्त नहीं हैं। उद्योतनसूरि के कुवलयमाला ग्रन्थ में जिसकी रचना वि. सं. ८३५ में मारवाड़ के जालोर नामक नगर में हुई है, इस ग्रंथ में तत्कालीन १६ देशों के वणिकों के शरीर वर्ण, वेश, प्रकृति और भाषाओं की विशेषता का महत्त्वपूर्ण उल्लेख एक-एक पद्य में पाया जाता है। यद्यपि उसके अंत में १८ देशी भाषाओं एवं खस, पारस, बर्बर आदि देशों का उल्लेख किया है, पर उदाहरण १ गोल्ल, २ मध्यदेश, ३ मगधदेश, ४ अन्तर्वेदी, ५ कीर, ६ टक्क, ७ सिंध, ८ मरु, ९ गूर्जर, १० लाट, ११ मालव, १२ कर्णाटक, १३ तायिक, १४ कोसल, १५ महाराष्ट्र, १६ आन्ध्र-इन १६ देशों के ही दिये है। इनमें राजस्थानी से संबंधित तो मरु एवं गूर्जर हैं और उसके निकटवर्ती लाट एवं मालव हैं। अतः इन चारों प्रदेशों की भाषाओं की विशेषताओं के उद्धरण ही यहां दिये जाते हैं—

'अप्पा-तुप्पा' भणिरे अह पेच्छइ मारुए तत्तो ॥
'णउ रे भल्लउं' भणिरे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे ॥
'आहम्ह काइं तुम्हं मितु' भणीरे पेच्छए लाडे ॥
'भाउअ भइणी तुम्हे' भणिरे अह मालवे दिट्ठे ॥

संस्कृत छाया—

'अप्पा-तुप्पा' भणतोऽथ प्रेक्षते मारवांस्ततः ॥
'णउ रे भल्लउं' भणतोऽथ प्रेक्षते गौर्जरानपरान् ॥
'आहम्ह काइं तुम्हं मित्तु' भणतः प्रेक्षते लाटीयान् ॥
'भाउअ भइणी तुम्हे' भणतोऽथ मालवीयान् दृष्टवान् ॥

उपर्युक्त उद्धरणों से तत्कालीन प्रान्तीय भाषाओं की विशेषताओं का बोध होने के साथ-साथ उस समय यहां अपभ्रंश भाषा का प्रचार था-स्पष्ट है। काव्यमीमांसाकार राज· शेखरने भी मरुटक एवं भादानक प्रदेश की भाषा अपभ्रंश प्रयोगवाली थी लिखा है "साप· भ्रंश प्रयोगाः सकलमरुभुवस्टकभादानकश्च।" जैन कवियोंने भी अपने ग्रन्थों की भाषा को मरु भाषा बतलाई है। राजस्थान के श्रेष्ठ काव्य 'वेलिक्रिसन रुकमणीरी' के व्रज भाषा के पद्यानुवादकर्त्ता गोपाल लाहोरीने भी वेलि की भाषा को 'मरु' भाषा ही कहा है। राज-स्थानी नाम तो आधुनिक है। 'डिंगल' चारणों आदि की प्रधान काव्य-भाषा रही है। पर उसका डिंगल नाम अधिक पुराना नहीं है। जैनकवि कुशललाभ के पिङ्गलशिरोमणी नामक १७ वीं शताब्दी के छन्द ग्रन्थ में सर्वप्रथम 'उडिंगल' नाम मिलता है।

राजस्थानी-जैन साहित्य का निर्माण मरुभाषा में हुआ है। श्वेताम्बर संप्रदाय के खर-तरगच्छीय विद्वानों का भी साहित्य अधिक है और उनका प्रभाव एवं विहार मारवाड़ ही में अधिक था। वैसे मारवाड़ी भाषा राजस्थान की प्रसिद्ध साहित्यिक भाषा है ही। कुछ दिग-म्बर विद्वानोंने ढूंढाड़ी भाषा में भी साहित्य निर्माण किया है, क्योंकि इस संप्रदाय का प्राधान्य जैपुर, कोटा आदि की ओर ही रहा है। परंतु उनकी ढूंढाड़ी भाषा में हिंदी का प्रभाव अधिक नजर आता है। व्रज प्रदेश के निकट होने से यह स्वाभाविक ही है।

राजस्थानी-जैन-साहित्य की पूर्व परम्परा—

भगवान् महावीरने धर्म प्रचार के लिये जनता की भाषा को ही अपनाई। उनका विहार मगध एवं उसके निकटवर्ती प्रदेशों में अधिक हुआ। अतः उनके उपदेश की भाषा को जैनागमों में अर्द्ध-मागधी संज्ञा दी गई है। इसके पश्चात् बंगाल एवं विहार से जैन-श्रमणों

का विहार उड़ीसा एवं मथुरा की ओर अधिक हुआ, तब जैन-साहित्य की प्रधान भाषा महाराष्ट्री एवं शौरसेनी प्राकृत रही है। प्राचीन श्वेताम्बर प्राकृत-साहित्य महाराष्ट्री एवं दिगम्बर प्राकृत साहित्य-शौरसेनी में अधिक मिलता है। आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् दक्षिण में भी जैनधर्म का प्रचार बढ़ा और वहां की भाषा तेलगु, तामिल और कन्नड़ी में जैन-विद्वानों ने साहित्य निर्माण करना प्रारंभ किया। इधर प्राकृत भाषा में परिवर्तन होकर जैन भाषा अपभ्रंश हो गई, तो जैन विद्वानोंने उसमें भी जोरों से साहित्य निर्माण करना प्रारंभ किया। ब्राह्मण आदि विद्वानोंने इस भाषा को निम्न कोटि की मान कर उपेक्षा की और वे संस्कृतमें ही साहित्य निर्माण करते रहे। बौद्ध सिद्धोंने जिनको संस्कृत का विशेष ज्ञान नहीं था और जनसाधारण से जिनका विशेष संपर्क रहा, उन्होंने भी अपभ्रंग में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। पर मुख्यतः अपभ्रंश साहित्य का निर्माण जैन विद्वानों द्वारा ही हुआ। भिन्न-भिन्न स्थानों में रचे गये अपभ्रंश ग्रंथों की भाषा में विशेष अन्तर नहीं होने से यह भाषा सामान्य रूपान्तरों के साथ भारत के बहुत बड़े विभाग की भाषा रही है-सिद्ध होता है। उत्तर भारत की प्रायः समस्त भाषाओं का विकास इसी अपभ्रंश से हुआ है। राजशेखर के पूर्व निर्दिष्ट उल्लेखानुसार मरु एवं उसके निकटवर्ती टक्क और भादानक की भाषा अपभ्रंश प्रधान थी। अतः गुजरात एवं राजस्थान में रहनेवाले जैन विद्वानोंने इसे विशेषरूप से अपनाई-वह स्वाभाविक ही था।

जैनधर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर दो प्रधान सम्प्रदाय हैं। इन में से दिगम्बर सम्प्रदायने अपभ्रंश भाषा को पहले और विशेषरूप से अपनाई। उनके अपभ्रंश ग्रन्थ ८ वीं शताब्दी से सं० १७०० तक के उपलब्ध हैं। और बहुत से बड़ेबड़े काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाकवि स्वयंभू, पुष्पदंत आदि अपभ्रंग कवियों के सिर मौर हो गये हैं। श्वेताम्बर प्राचीन-ग्रंथों में अपभ्रंश के उद्धरण तो मिलते हैं पर स्वतंत्र ग्रंथ ११ वीं शती के पहले के प्राप्त नहीं हैं। १२ वीं से १४ वीं शताब्दी तक के श्वेतांबर विद्वानोंने अपभ्रंश भाषा को विशेष रूप से अपनाया प्रतीत होता है। श्वेताम्बर अपभ्रंश ग्रंथों में हरिभद्रसूरि के 'नेमिनाथ-चरियं' और 'विलासवईकहा' आदि बड़े काव्य थोड़े हैं। छोटे २ काव्य तो प्रचुर संख्या में पाये जाते हैं। १५ वीं शताब्दी से जबकि अपभ्रंश भाषा जनता के लिये दुर्बोधसी होने लगी, उन्होंने साहित्य निर्माण तत्कालीन जनभाषा प्राचीन राजस्थानी में विशेष रूप में करना प्रारंभ किया। यद्यपि १३ वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही उन्होंने प्राचीन राजस्थानी रास आदि ग्रंथ रचने प्रारंभ कर दिये थे। पर १५ वीं के पूर्वार्द्ध तक के ग्रन्थों में अपभ्रंश का विशेष प्रभाव रहा है। ज्यों २ जनता की भाषा बदलती गई त्यों २ राजस्थानी जैन साहित्य की भाषा भी परिवर्तित होती गई। श्वेताम्बर विद्वानों ने अपने आगमों की भाषा प्राकृत

को भी बराबर अपनाया । भगवान् महावीर से आज तक भी प्राकृत भाषा में श्वेतांबर विद्वानों द्वारा निरंतर साहित्य निर्माण होता रहा है । प्रथम शताब्दी के लगभग भारत में संस्कृत भाषा का प्रभाव बहुत बढ़ गया, तब से जैन विद्वानों ने भी संस्कृत में बहुत बड़ा साहित्य निर्माण किया है, पर श्वेताम्बर विद्वान् अपनी मूल प्राकृत भाषा को भूले नहीं । जबकि दिगंबर विद्वानोंने संस्कृत के प्रभाव के युग से प्राकृत भाषा में साहित्य निर्माण करना कम कर दिया और संस्कृत में विशेष रूप से रचना करने लगे ।

राजस्थान के किसी स्थान-निर्देश सूचक उल्लेखवाले ग्रंथ का निर्माण ८ वीं शताब्दी में सर्वप्रथम में जो हुआ मिलता है वह ग्रंथ आचार्य हरिभद्रसूरि कृत ' धूर्ताख्यान ' है जो प्राकृत भाषा में है और चित्तौड़ में रचा गया है । इसके पश्चात् ९ वीं शताब्दी में ' कुवलय-नाममाला ' ग्रंथ जालोर में रचा गया । यह प्राकृत भाषा का चम्पू है और प्रसंग-प्रसंग पर अपभ्रंश भाषा के अनेक उद्धरण भी इसमें पाये जाते हैं । अपभ्रंश भाषा के गद्य के उदाहरण इसी एक ग्रंथ में ही मिलते हैं । १० वीं शताब्दी में सिद्धर्षि ने भीनमाल में संस्कृत एवं प्राकृत में ' उपमितिभवप्रपंचा ' कथा और ' चन्दकेवली चरित्र ' बनाया । इसी समय जयसिंहसूरिने नागौर में अपने ' शीलोपदेशमाला ' नामक प्राकृत ग्रंथ पर विस्तृत संस्कृत टीका बनाई । ११ वीं शताब्दी से तो राजस्थान में जैनसाहित्य का निर्माण बढ़ता चला गया और अपभ्रंश भाषा में भी स्वतंत्र ग्रंथ रचे जाने लगे । हरिषेणकृत ' धम्मपरीखा ' अपभ्रंश ग्रन्थ सं० १०४४ में मेवाड़ स्थित अचलपुर में रचा गया है । इसी शती के अंत में महाकवि धनपालने ' सत्पुरीय महावीर उत्साह ' नामक अपभ्रंश स्तुति जोधपुर राज्य के साचोर नामक ग्राम में बनाई । १२ वीं शताब्दी में जिनदत्तसूरिजी का अजमेर, विक्रमपुर आदि मरुस्थलों में विशेष रूपसे विहार हुआ । आप के अपभ्रंश ग्रंथत्रय १ चर्चरी, २ उपदेशरसायन, ३ काल-स्वरूपकुलक प्रकाशित हो चुके हैं । इसी समय के जिनदत्तसूरिजी के गुणवर्णनात्मक अपभ्रंश पद्य प्राप्त हुए हैं, जिन्हें हमने ' युगप्रधान जिनदत्तसूरि ' के परिशिष्ट में प्रकाशित कर दिये हैं । इसी समय के आचार्य वर्द्धमानसूरिरचित ' वर्द्धमानपारणउ ' नामक अपभ्रंश रचना को मैंने हिंदी अनुशीलन में प्रकाशित की है । राजस्थानी भाषा अपभ्रंश की जेठी बेटी है, उसे अपभ्रंश साहित्य की परम्परा पूर्णरूप से मिली है ।

१३ वीं शताब्दी से तो अपभ्रंश के साथ २ तत्कालीन लोकभाषा में भी काफी रचनाएं बनीं जिन में से वज्रसेनसूरि के ' भरतेश्वरबाहुबलि घोर ' को शोध पत्रिका में प्रकाशित किया जा चुका है । तत्परवर्ती भरतेश्वर-बाहुबलिरास, बुद्धिरास, जीवदयारास तो मुनि जिन-

विजयजीने भारतीय विद्या में प्रकाशित किये हैं। आबूरास, जिनपतिसूरि धवलगीत आदि को मैंने 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह' और 'राजस्थानी' में प्रकाशित कर दिये हैं। इस शताब्दी की अन्य रचनाएं जम्बूस्वामी चरित, रेवंतगिरिरास 'प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह' में प्रकाशित हैं। 'चन्दनबालारास', 'नेमिरास', 'जिनधर्मसूरि बारह नावउ' आदि को भी राजस्थान भारती-हिन्दी अनुशीलन आदि पत्रों में प्रकाशित कर दिया हैं। १४ वीं शताब्दी के तो कई सुन्दर काव्य 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंग्रह' 'प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह,' 'ऐतिहासिकरासासंचय' आदि कई ग्रंथों में प्रकाशित हो ही चुके हैं। इसके पश्चात् क्रमशः रचनायें बढ़ती चली जाती हैं। यद्यपि १६ वीं शताब्दी में कुछ मंदता नजर आती है, उसका प्रधान कारण तत्कालीन राज्य-विप्लव आदि हैं। १७ वीं शताब्दी में दूने-चौगुने वेग के साथ राजस्थानी जैन साहित्य फला-फूला नजर आता है। यह समय राजस्थानी जैन साहित्य का सर्वोन्नत काल है। १८ वीं शताब्दी में भी क्रम जारी रहता है। १९ वीं में कुछ शिथिलता आती है और २० वीं में तो वह और अधिक बढ़ जाती है। अतः इसे अवनत काल कहना चाहिये। अब तो राजस्थान में हिंदी भाषा का प्रचार व प्रभाव दिनोदिन बढ़ रहा है और प्रान्त निवासियों की राजस्थानी भाषा के प्रति बड़ी उपेक्षा देख कर बहुत ही खेद होता है। सब प्रांतों की अपनी-अपनी भाषा है और वे दिनोदिन समृद्ध होने जा रही है। केवल राजस्थानी ही का यह दुर्भाग्य है कि वह अपनी समृद्धिशाली और गौरवपूर्ण अतीत से अपदस्थ होती जा रही है। प्रान्तीय कर्णधारों को उसकी सुधि लेनी चाहिये।

जीवन की अंतिम साधना

सत्यदेव विद्यालंकार, नई दिल्ली

जैन-धर्म जीवन के व्यवहार का धर्म है। शास्त्रों की महिमा सभी धर्मों में समान रूप से पाई जाती है। रहस्यपूर्ण–गूढ दर्शन–शास्त्र भी सभी धर्मों में विद्यमान हैं। वे शास्त्र साधारण अथवा सामान्य जनता के लिए नहीं हैं। वे उन पंडितों अथवा विद्वानों के लिए हैं जो उनको पढ़ व समझ सकते हैं। सामान्य जनता के लिए तो वह व्यवस्था ही काम आती है जो उसके जीवन-यापन के लिए बना दी जाती है। सभी धर्मों में कुछ न कुछ ऐसी व्यवस्था कायम की गई है। जैन–धर्म की यह व्यवस्था अत्यन्त व्यावहारिक है। उसका पालन हर व्यक्ति, चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी अथवा किसी भी देश का निवासी क्यों नहीं हो, पालन कर सकता है। उसके लिए आवश्यक नहीं कि जैन–धर्म स्वीकार किया जाय।

अणुव्रत और महाव्रत उस व्यवस्था के मूलभूत आधार हैं। एक श्रावक अथवा गृहस्थी संसारी व्यवहार करता हुआ भी अणुव्रतों का पालन कर सकता है। थोड़े से प्रारम्भ किया गया अणुव्रतों का अभ्यास उसको उस मार्ग पर ला कर खड़ा कर देता है जहां उसके उज्ज्वल भविष्य की प्रगति प्रशस्त बन जाती है और विना लड़खड़ाए वह उस पर अग्रसर हो सकता है। श्रावक, क्षुल्लक और ऐलक स्थितियों को पार करता हुआ जब मुनि या यति अवस्था में पहुंचता है तब उसके लिए महाव्रतों की व्यवस्था लागू हो जाती है और वह उन व्रतों का अधिक से अधिक मात्रा में पालन करने लग जाता है। हिन्दू समाज में जैसे अनेक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव होने से उसमें कायम की गई व्यवस्थाएं कुछ विकृत, संकीर्ण एवं परम्परा मात्र रह गई हैं, वैसी ही स्थिति विचित्र सम्प्रदायों के कारण जैनधर्म अथवा जैन समाज में भी पैदा हो चुकी है। परन्तु उसका दोष मूलभूत व्यवस्था पर नहीं है। उसके लिए दोषी वह मानव है जो विचारवैषम्य के कारण नाना सम्प्रदायों का निर्माण कर धर्म की मूलभूत व्यवस्था को विकृत कर देता है। इन विचित्र सम्प्रदायों की स्थिति उस बाड़ के समान है जो धर्मरूपी खेत की रक्षा के लिए लगाई जाती है; परन्तु कैसा मूर्ख है वह किसान जो बाड़ को ही खेत मानकर केवल उसकी देखरेख में लगा रहता है और उसका खेत सूख कर नष्ट हो जाता है। इस

प्रकार मानव की मूर्खता के कारण धर्म को जो हानि हुई है उसके लिए धर्म दोषित नहीं है। जैनधर्म को भी मानव की सम्प्रदायबुद्धि के कारण बहुत हानि उठानी पड़ी है। आज का जैन समाज और जैन धर्म सम्प्रदायगत और जातिगत कितने ही भेदों में बंट गया है और उन में विद्यमान पारस्परिक द्वेष भी चरम सीमा को पहुंच गया है। फिर भी जैन धर्म की जीवन की व्यावहारिक व्यवस्था अस्तव्यस्त नहीं हुई। वह अपनी उस अवस्था के ही बल पर भारत में विद्यमान रह सका है। नहीं तो बौद्ध धर्म की जो अवस्था हमारे देश में हुई वह ही जैनधर्म की भी हो सकती थी। किन्तु वैसा नहीं हुआ।

जैन धर्म को अपनी इस व्यवस्था के ही कारण अटूट विश्वास का धर्म कहा जा सकता है। लगभग १५-२० वर्ष पहले की घटना है, इन्दोर के सर सेठ हुकमचन्दजी साहब का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। बम्बई में उनका औषधोपचार चल रहा था। सारे ही जैन समाज में उनके लिए गहरी चिन्ता पैदा हो गई थी। स्थान-स्थान पर उनके स्वास्थ्य लाभ के लिए व्रत, पूजा-पाठ एवं अन्य धार्मिक विधिविधान किए गए थे। महावीर प्रभु से उनके दीर्घ जीवन के लिए प्रार्थनाएँ की गई थीं। तब उन्होंने बड़े विश्वास के साथ यह कहा था कि मैं बीमारी के बिस्तर पर कुत्ते की मौत नहीं मर सकता। मेरा तो इच्छापूर्वक समाधि मरण ही होगा अर्थात् जब मैं चाहूंगा तभी मेरी मृत्यु होगी। सर सेठ हुकमचंद जगतप्रसिद्ध सटोरिए थे और धनकुबेर रहे हैं। तब वे दुनियादारी में बुरी तरह फंसे हुए थे। मैं उनके इस आत्मविश्वास पर चकित रह गया और मेरे हृदय में एकाएक यह भावना पैदा हुई कि जैन धर्म की जो व्यवस्था सर सेठ साहब सरीखे संसारी व्यक्ति में ऐसा आत्म विश्वास पैदा कर सकती है, उसमें कुछ न कुछ खूबी अवश्य ही होनी चाहिए। उसी समय जैन धर्म के प्रति मेरा कुछ झुकाव हुआ और मैंने उनको जानने व समझने का जितना प्रयत्न किया उस में मेरी श्रद्धा उतनी ही बढती चली गई। मैंने अनुभव किया कि जैन धर्म विशुद्ध रूप में जीवन के व्यवहार, आशा और विश्वास का धर्म है। जिस व्यवस्था के अनुसार मनुष्य इसी जन्म में नर से नारायण बन सकता है, उस से बड़ी व्यवस्था और क्या हो सकती है? जैन साधु अथवा यति की कठोर साधना और अपरिग्रह देखकर स्वत. ही उसके सम्मुख श्रद्धा से मस्तिष्क झुक जाता है। व्यक्तिपूजा की भावना दोषयुक्त हो सकती है; परन्तु संसार के समस्त व्यवहार से निर्लिप्त अथवा मुक्त व्यक्ति को मानव के लिए आदर्श मानने में क्या दोष हो सकता है?

जीवन के व्यवहार में महाव्रतों का पालन करते हुए और अणुव्रतों का पालन करते हुए श्रावक, क्षुल्लक अथवा ऐलक यदि मृत्यु को भी साधना मान लेता है तो निश्चय ही उस

का लाभ उसको दूसरे जन्म में भी प्राप्त होगा। संलेखना अथवा संथारा साधना का यही व्यावहारिक रूप है। मृत्यु सबसे अधिक भयावनी अथवा डरावनी है। मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी उससे भय खाते हैं। उसको टालने के लिए कौनसे प्रयत्न नहीं किए जाते! अंतिम क्षण तक डाक्टरों अथवा वैद्यों का उपचार चलता रहता है। दो मिनट भी अधिक जीने के लिए मनुष्य लालायित रहता है। इस भय अथवा लालसा के साथ मरनेवाला व्यक्ति मानव-जीवन के समस्त पुरुषार्थ को और समस्त सद्गुणों को खो देता है। उन को खोनेवाला मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में फिर से मानव योनि प्राप्त करने का अधिकारी कैसे रह सकता है? श्री कृष्णने गीता में कहा है कि "थोड़े से भी धर्म का पालन मानव को बड़े से बड़े पाप से बचा सकता है।" परन्तु मानव मानवीय धर्म का मृत्यु के समय सर्वथा परित्याग कर के केवल पाप का अधिकारी रह कर दूसरे जन्म में पुण्यमय पुनीत मानवजीवन प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता। जिस स्वधर्म में रहते हुए मृत्यु को श्रेष्ठतम बताया गया है और स्वधर्म का परित्याग कर पर धर्म का अपनाना भय का कारण बताया गया है उसका परित्याग करनेवाला मानव फिर दुबारा मानव जीवन की प्राप्ति की आशा नहीं कर सकता। गीता में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि "मृत्यु के समय की भावना के अनुरूप ही मनुष्य को दूसरा जन्म प्राप्त होता है। इस अवसर पर स्वधर्म अर्थात् मानव धर्म का परित्याग करनेवाला मानव मृत्यु के बाद फिर से मानव रूप ग्रहण नहीं कर सकता।" मेरी दृष्टि में जैन धर्म की संलेखना अथवा संथारा की अन्तिम जीवनसाधना का यही व्यावहारिक प्रयोजन है।

जीवन से निराश होकर खाना-पीना छोड़ना और किसी भी प्रकार जीवन का अंत कर देना विशुद्ध आत्मघात है, उसको संथारा अथवा सलेखना नहीं कहा जा सकता। वैसे तो अनेक अवस्थाओं में आत्मघात को भी पाप नहीं माना गया है। पश्चिम के अनेक सभ्य देशों में भी स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की गई मृत्यु आत्मघात नहीं मानी जाती और उस पर वे कानून लागू नहीं होते जो आत्महत्या को अवैध ठहराने के लिए बनाए गए हैं। जापान में "हाराकारी" को आत्म-हत्या सरीखा हीन कृत्य नहीं माना जाता। अपमानभरे जीवन से मृत्यु को कई अधिक श्रेष्ठ बताया गया है। मरणसमाधि अथवा जीवनसमाधि की व्यवस्था हिन्दू धर्म में भी विद्यमान है। परन्तु जैन धर्म की सलेखना अथवा संथारा की साधना इन सबसे कई अधिक ऊँची है। उसमें संसार से ऊबने, तंग आने अथवा निराश होने के लिए कोई स्थान या अवसर नहीं हैं। जीवन के समस्त कषाय का परित्याग कर के शरीर के राग-द्वेष तथा मोह-माया से सर्वथा निर्लिप्त होकर जो

व्यक्ति अपनी दृष्टि को सम्पूर्णतया आत्मसाधना में लीन कर के अत्यन्त विशुद्ध एवं निर्लिप्त भावना से प्राप्त की गई मृत्यु के बाद पुनर्जन्म प्राप्त करनेवाला वह मानव कितना पवित्र होगा। इसकी थोड़ी कल्पना तो कीजिए। आत्मा के अजर, अमर और अविनाशी होने में जो विश्वास अथवा श्रद्धा होनी चाहिए वह उसी व्यक्ति में पैदा होनी सम्भव है जो मृत्यु से भयभीत नहीं होता और उससे भयभीत न होना ही उस पर विजय प्राप्त करना है। ऐसे मृत्युंजय व्यक्ति ही संलेखना अथवा संथारा की साधना के अधिकारी हैं। उनको ही उसका अमृत लाभ मिलना संभव है। वे अपने दूसरे जन्म में इस जन्म से भी कई अधिक लोककल्याण का काम कर सकते हैं। इसलिए वे अपना ही भला नहीं करते दूसरों को भी इस प्रकार अपनी मृत्यु से लाभान्वित करते हैं। संसारका सबसे बड़ा लाभ इसी में है कि उसमें पाप की कमी की जाय। राग-द्वेष और मोह-माया को कम किया जाय। इसी प्रकार धर्म की प्रतिष्ठा होनी सम्भव है।

पैदा होनेवाला हर प्राणी अंत में मरता ही है। मृत्यु की निश्चित दुर्घटना से कोई बच नहीं सकता। अवश्यम्भावी को टालने से बड़ी कोई दूसरी मूर्खता नहीं हो सकती। इसलिए संथारा अथवा संलेखना का लक्ष्य मृत्यु को टालना नहीं है। उसका वास्तविक लक्ष्य मृत्यु को उस रूप में स्वीकार करना है जिससे वह एक अभिशाप न रहकर वरदान बन जाय। मृत्यु को वरदान बना देना मानव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। संथारा अथवा संलेखना की साधना इसी पुरुषार्थ की सूचक है। इस साधना का अनुष्ठान करनेवाला मृत्यु का ग्रहण स्वेच्छा से करता है। उससे भय मानकर वह घबराता नहीं और डरता भी नहीं। युद्ध के मैदान में क्षत्री भी स्वेच्छा से मृत्यु का ग्रहण करता है। परन्तु; उसका मार्ग हिंसापरक होने से अहिंसा की कसोटी पर पूरा नहीं उतरता। जितना पुण्य उसमें है वह उसको अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु वह सामान्य नियम नहीं बन सकता। यदि हर कोई लड़ाई के ही मैदान में मरना चाहेगा तो विश्व में न तो कभी युद्धों की समाप्ति होगी और न शांति ही स्थापित हो सकेगी।

एक और दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए। गीता में यह कहा गया है कि निराहार से मनुष्य की समस्त विषय-वासनाओं का अंत हो जाता है। अंतसमय में मनुष्य इन विषयवासनाओं से जितना भी निर्लिप्त हो सके उतना ही श्रेयस्कर है। उसका लाभ उसको इस जन्म में इस रूप में मिलेगा कि वह अत्यन्त सुखपूर्वक अपने देह का परित्याग कर मृत्यु को सुखपूर्वक स्वीकार कर सकेगा और दूसरे जन्म में उसका लाभ उसको उस रूप में मिलेगा कि उसके लिए मानव-जीवन की पुनः प्राप्ति बहुत सुलभ हो

जायगी। अपने प्रत्येक जीवन में इस प्रकार आत्म-कल्याण में निरत व्यक्ति लोक-कल्याण भी अधिक से अधिक कर सकता है। आत्मकल्याण में संलग्न व्यक्ति के चारों ओर का वातावरण लोकसाधना के जितना अनुकूल होगा उतना दूसरों के चारों ओर का नहीं हो सकेगा। इसलिए जो व्यक्ति संथारा अथवा सल्लेखना की साधना में अपने को लगाकर, निराहार रहकर, सब विषय-वासनाओं का परित्याग कर मृत्यु का ग्रहण करता है वह निश्चय ही इच्छापूर्वक समाधि-मरण की स्थिति प्राप्त करता है। इस प्रकार जैन धर्म की मृत्यु सम्बन्धी व्यवस्था भी कितनी श्रेष्ठ, कितनी पवित्र और कितनी ऊंची है? उसके अनुसार अपनी मृत्यु को भी मनुष्य अपने लिए वरदान बना सकता है और अपने जीवन में आत्मकल्याण करता हुआ अपनी मृत्यु को भी आत्मकल्याण का साधन बना लेता है। यही जैन धर्म की व्यावहारिकता है। यही उसका सौन्दर्य और शोभा है।

जीवन की अंतिम साधना भी मनुष्य को उतना ही ऊंचा उठा सकती है जितना कि जीवनभर कीगई साधना। वस्तुतः साधना का कोई अंत नहीं वह जिस रूप में जितनी भी की जाय उतनी ही कम है। इसलिए मृत्यु के क्षणों का भी साधना में बीतना मानव-कल्याण के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

श्रीराजेन्द्रसूरिअभिनन्दनम्

पं. दुखमोचन झा.

कोविदेन्द्राणां मुनिश्रीराजेन्द्रसूरीणाम् निर्वाणाऽर्द्धशताब्दीमहे,
भवन्ति चात्राऽभिनन्दनश्लोकाः ।

लोक-सिद्धि-वसुभूमितेऽब्दके, वैक्रमे सितदले सुतैपके ।
सप्तमी शुभतिथौ गुरोर्दिने रत्नराज उदितः सुजन्मना ॥ १ ॥

कीर्तिर्या परितः ससर्प जगदाभोगेऽत्र वैयासकी,
तामालोक्य बुधोऽविबुद्धि निदधे तामेव तत्ताऽवधिम् ।
किन्त्वत्राऽऽर्हत कीर्णवर्णनिवद्धं श्रौतार्णवाच्चिन्वतो,
राजेन्द्रस्य मुनेर्दधाव विबुधप्रत्यध्वधन्यध्वनिः ॥ २ ॥

केचिन्नृलोके मुनितामयन्ते, तत्रापि कश्चिद् विरलो विपश्चिद् ।
शास्त्रे परिश्राम्यति तत्वदर्शी प्रीणाति तत्वेन जनानि हैकः ॥ ३ ॥

श्लथ प्रमोदादि गुणोऽधुना जनो-ऽकृतश्रमो ग्लान इवाऽवभाति ।
स किं सुरत्नोज्वलरत्नसानुं विचेतुमेतं कणशो विदध्यात् ॥ ४ ॥

देवाऽसुरैर्मिलितशक्ति च यैरकारि यत् क्षीरसागरविमन्थनकर्मनुत्यम् ।
तच्चार्हतागमविशालपयोविमन्थ-मेकोऽयमत्रविदधेऽन्यदुरापकृत्यम् ॥ ५ ॥

श्रामण्यं प्रथमं दुरापभवत् विज्ञेष्वनादीनवं,
वैदुष्यं सुलभं तवार्हतजने श्रीसंघवृन्देऽपि च ।
मन्दं मन्दमविन्दतार्हतमते श्रौतं जने मन्दताम्,
राजेन्द्रः कृत पाञ्चजन्यनिनदः स्वीयाभिधानं व्यधात् ॥ ६ ॥

महत्वगुणयोगतो यदभिधानमन्वर्थकं, क्रियाविधिविधानतो यतिरपि स्वयं संयतः ।
गुणैरयममून्मुनिर्यदवरस्तदग्रेसरो, मुदे पदमुदेतु किं तदपरं प्रशंसापरम् ॥ ७ ॥

अल्पायुश्चलचित्तताऽऽलसवयः सत्साधने न्यूनता,
दोषादोषविदां महोद्यमविधौ कालेऽद्यतः प्राक्तने ।
नाऽऽरब्धो बहुशो महाविधिरभूत् सर्वोपकारक्षमः,
प्रारब्धोऽपि समाप्तिरापदमितो नो सर्वं विज्ञेप्सितः ॥ ८ ॥

च वादि पदपूरकं तदपि नाप्यहासीन्मुधा, महार्थचतुरस्रधी निहितसत्यतत्वं व्यधात् ।
पदार्थ गुरुताऽऽग्रहाद्धत इहाग्रहे विग्रहः, समंजसधिया न वा व्यरचि कस्यचिन्निग्रहः ॥ ९ ॥
पदमेकं पदार्थज्ञः पृथक् कर्तुं श्रुतार्णवात्, आर्हतादर्हति प्राज्ञो राजेन्द्रस्य मुनेः श्रमात् ॥१०॥
प्रत्यक्षरादिपदवृन्दपदार्थ सङ्घा-देकैकसंहृति नियुक्तिरिवाऽऽप्तशापा ।
सा चाऽर्हताऽऽगमपयोधिपदोदविन्दु-वृन्दोपमस्य गणना गणकैर्दुरापा ॥ ११ ॥

" શ્રી યોગાનંદઘન. "

શ્રી. પાદરાકર

વિજ્ઞાનબળે આજે એવી ઘણી બાબતો બની રહી છે કે બાહ્યદૃષ્ટિથી જોતાં તેના નિર્માતાઓ વિશેષજ્ઞ લાગે છે. વાયરલેસ, એરોપ્લેન, અણુઓમ, ડીસ્ટ્રોયર્સ મશીનરી વિગેરે જોવાથી એવો ઉત્કટ આભાસ થાય છે કે ભારતવર્ષના પુરાણા મોટેરાઓ, મહર્ષિઓ, આચાર્યો આ પ્રકારના વિજ્ઞાનથી અજાણ હતા વા તેમનો તેમાં પ્રવેશ ન હતો! પણ ભારતના વિજ્ઞાનશાસ્ત્રના જ્ઞાતાઓ સારી પેઠે જાણે છે કે તેમ કહેવું હાસ્યાસ્પદ છે.

પુરાતન કાળના ભારતીય વિજ્ઞાનીઓ, વિદ્વાનો, મહર્ષિ, આચાર્યોનું ધ્યાન વિશ્વની વિચિત્રતા બતાવવા કરતા જ્ઞાનપ્રાપ્તિમાં વિશેષ હતું. તેઓ કુદરત ભૂત–ભાવિ–વર્તમાન અને વિશ્વોદ્ધારના સત્જ્ઞાનને જાણવા–અનુભવવા–પ્રસારવામાં વધુ દત્તચિત હતા ને રહેતા અને તેના સાફલ્ય માટે તેઓ નિત્ય નવાં સાધન, આયોજન અને વિધાનો કર્યા કરતા, જેથી જનતાને પણ તેને અનુસરવાથી નિજાત્માનંદ પ્રાપ્તિ–પ્રભુપ્રાપ્તિની સુગમતાની ખાત્રી થતી. કોઈ પણ પ્રકારના એક જ કળ, કારખાના, એન્જીનાદિ આવિષ્કાર કે જેનાથી હજારો લાખો શ્રમજીવી માનવોના ધંધારોજગાર ખોરવાઈ જાય, બેકારી ભૂખમરો આવે તેવા આવિષ્કાર કરવાના પ્રયત્નો તેઓ કદિ ન કરતા. વિજ્ઞાને આણેલી ભયંકરતા, સંહાર, ભૂખમરો અને આધિ–વ્યાધિ–ઉપાધિઓથી આજનું વિશ્વ અજાણ નથી જ.

અવશ્ય ભારતવર્ષના પુરાતન કાળના વિદ્વાનો, કલાજ્ઞાનિઓ મહર્ષિઓ આજના જેવી અદ્‌ભૂત, વિલક્ષણ અને આશ્ચર્યજનક શોધખોળોમાં પૂર્ણતયા પ્રવિણ હતા. જો તેમની તૈયાર કરેલી યૌગિક, વૈજ્ઞાનિક, આધ્યાત્મિક, શિલ્પ, મંત્ર, તંત્ર અને આયુર્વેદીય કરામાતો જોઈ જાણી સમજી અનુભવી શકાય તો સૌની પ્રતીતિ થઈ જાય કે ભારતવર્ષના પુરાણા માનવો વૈજ્ઞાનિકો, ત્રિકાલજ્ઞ મહર્ષિઓ, વર્તમાનકાલીન વિજ્ઞાનવેત્તાઓ કરતાં ઘણા આગળ વધેલા, સમયના જાણ અને જ્ઞાની હતા. એમણે સર્વ વિદ્યાઓ, કલાવ્યવસાય એટલા બધા પ્રગતિવાન બનાવ્યા હતા કે જેને કેટલાય વિદેશી વિદ્વાનો, ધનિકોએ ભારતના સરળ હૃદયી માનવો પાસેથી પુસ્તકો મેળવી તેનું અભ્યાસપૂર્વક રૂપાન્તર કરી સરળ સાધનોવડે અનેક પ્રકારના સંશોધનો અને આવિષ્કાર કર્યા છે, અને આજ પણ કરી રહ્યા છે, અને એ વિદ્યાઓ જાણવા જ આંગ્લ, અમેરિકન, જર્મન, ફ્રેંચ અને રૂસી લોકોને સંસ્કૃત, પાલી, માગધી ભાષાઓ ભણવી પડી છે અને આજ ભણે છે.

વાલ્મીકિ રામાયણ, ભારદ્વાજાદિની સંહિતાઓ, પતંજલીનું દર્શનશાસ્ત્ર, વાત્સ્યાયનાદિનાં કામસૂત્રો, મયનું શિલ્પશાસ્ત્ર, વ્યાસજીનું મહાભારત, જ્યોતીશનું યંત્રરાજશાસ્ત્ર, કૌટિલ્યનું અર્થશાસ્ત્ર, અવંતીકેશનું ભોજશાસ્ત્ર, શ્રી હરિભદ્રસૂરીશ્વરજીનું તથા શ્રી હેમચંદ્રાદિનું યોગશાસ્ત્ર, શ્રી યશોવિજયજીનું વિજ્ઞાનશાસ્ત્ર અને નાથસંપ્રદાયવાળા મત્સ્યેન્દ્રાદિનું અલખ ચમત્કારીક મંત્રતંત્ર શાસ્ત્ર આદિ અનેક વિજ્ઞાન વિદ્યાઓના પુરાણા અમોઘ ભંડારો આપણા ભારતવર્ષમાં ભર્યાં પડયા છે. પ્રાચીન ભારતના યોગ, ભોગ અને લોક-સેવાના સર્વ પ્રકારે આશ્ચર્યજનક છતાં લોકોપયોગી અલૌકિક આવિષ્કારો હજી લુપ્ત નથી થયા. ખોજનાર તે મેળવી શકે છે. જો સંયમ અને ગિરિકંદરાઓ સેવાય તો આજ પણ વિદેશી વિદ્વાનો જેના પઠનપાઠનથી વિમુગ્ધ બની રહ્યા છે છતાં તેને સંપૂર્ણ સમજવા તેઓ અસમર્થ છે; એવા જ અદ્ભૂત વિજ્ઞાનોમાંનું એક અદ્ભૂત અંગ તે યોગવિદ્યા છે.

યમ, નિયમ, આસન, પ્રાણાયામ, પ્રત્યાહાર, ધારણા, ધ્યાન અને સમાધી એ યોગ સાધનાના મુખ્ય અંગ છે.

(૧) યમ-બાહ્ય ઇન્દ્રિયોનો નિગ્રહ કરવો, આસન પર બેસવું, દૃષ્ટિ સ્થિર કરવી.
(૨) નિયમ-ઇન્દ્રિયનો નિગ્રહ કરવો અર્થાત્ મનને એકાગ્ર કરવું વિગેરે.
(૩) આસન-સ્થિરતાથી સુખપૂર્વક વિશિષ્ટ રીતે બેસવું તે.
(૪) પ્રાણાયામ-વિશિષ્ટ રીતે શ્વાસોછવાસની ક્રિયા કરવી, જપમાં તે ખાસ કરવી પડે છે.
(૫) પ્રત્યાહાર-શબ્દાદિ વિષયો પ્રત્યે દોડી જતાં મનને પાછું વાળી અંતર્મુખ કરવું તે.
(૬) ધારણા-એક જ સ્થાનમાં દૃષ્ટિને સ્થિર કરવી, જપમાં તે આવશ્યક ગણાય છે.
(૭) ધ્યાન-ધ્યેય પર ચિત્તની એકાગ્રતા-જપમાં તે હોવી જ જોઇએ.
(૮) સમાધી-ધ્યેયની સાથે તદ્દાકારપણું.

જેમાં સૌથી પહેલા ધોતી, બસ્તી, નેતિ, નૌલી, ત્રાટક અને કપાલભાતિ ક્રિયાઓથી શરીરશુદ્ધિ કરવામાં આવે છે. અને વિવિધ પ્રકારની મુદ્રાઓથી સાધકને યોગસાધનને યોગ્ય બનાવવામાં આવે છે. અને યમ, નિયમાદિના પાલનથી આસન, પ્રાણાયામ જેવી દુર્બોધ્ય યા ગુરુલક્ષ્ય ગુરુગમપૂર્વકની ક્રિયાઓ સહિત યોગ-વિદ્યાનો અભ્યાસ કરી શકાય છે. આ ટુંકા આલેખનમાં આ મહાવિદ્યાનું મહત્ત્વ યા તો તેની વિલક્ષણ ક્રિયાઓ કેમ બતાવી શકાય ? છતાં એટલું કહી શકાય કે આજકાલના મહાબુદ્ધિવાન-ઘણી અને મોટી ડીગ્રીવાળા ડૉક્ટરો કોઇ પણ માણસને બેહોશ બનાવીને તેને અસ્ત્રશસ્ત્રથી અહિં તહીંથી ફાડી અંદરનાં આંતરડાં, નસ, નાડી યા રોગાદિને જોઇ ફરી સરખાં બનાવી દે છે, તે જ કામ યા તેથી પણ વધુ ભયંકર જોખમી કામ જરાયે ચીર્યા કે તોડફાડ કર્યા યા ઔષધોપચાર વિના યોગીઓ તત્ક્ષણ ફતેહમંદીથી કરતા હતા કે જેને જોવાથી આશ્ચર્યચકિત એવં અવાક્ બની જવાય છે. અને શરીરના અનેક રોગ, દોષ જે ઘણા જ શ્રમ, સમય અને ધનવ્યયથી પણ

સુધરતા નથી તે યોગવિદ્યાથી જોત-જોતામાં સુધરી જાય છે. દાખલા તરીકેઃ—(૧) નાકથી દૂધ પાણી પાછા ખેંચી મુખથી કાઢી નાખવા. (૨) મલદ્વાર દ્વારા જળ ખેંચી પેટ ભરી કાઢી નાખવું. (૩) વજ્રોલીથી વીર્યને અખંડ અને ઊર્ધ્વગામી કરીને સુવર્ણ જેવો દેહ બનાવવો. (૪) પ્રાણાયામવડે શ્વાસોચ્છ્વાસ આદિથી રહીત બની પ્રભુદર્શનમાં લીન બની જવું. (૫) બહુવિધ આસનોથી અનેક પ્રકારના ગુણનો અનુભવ કરવો. (૬) અનેક પ્રકારના પ્રાણાયામોથી પ્રાણોનું શોષણ યા પોષણ કરીને પ્રાણવાયુની ગતિ વધારી કે ઘટાડી સ્વાધીન રાખવી. (૭) ભૂતશુદ્ધિદ્વારા શરીરગત પ્રાણોને માત્ર એક જ જગા-(મસ્તક) માં રાખીને નિર્જીવ અવસ્થામાં પરમાનંદની પ્રાપ્તિ કરવી. (૮) સમાધી લગાવીને આયુષ્યની વૃદ્ધિ કરવી. (૯) તેલ, કાચ, ખીલા યા સંખીયા સોમલ ખૂબ ખાઈ પી નિર્ભય, નિશ્ચિંત અને નિરામય રહેવું-આદિ મહામુશ્કેલ કાર્યો માત્ર યોગવિદ્યાથી જ સાધ્ય થઈ શકે છે.

યોગવિદ્યાના આરાધકો, સાધકો મુખ્યત્વે ૐ ના જાપથી જ પ્રારંભ કરે છે જે ૐ સદા સર્વસાધકો ઋષિ-મુનિઓને માન્ય રહ્યો છે.

ૐ શું છે?

મંત્ર-શાસ્ત્રોમાં તેને પ્રણવ કહેવામાં આવે છે. સર્વ મંત્ર પદોમાં તે આદ્ય પદ છે. સર્વે વર્ણોનો તે આદિજનક છે. એનું સ્વરૂપ અનાદ્યનંત ગુણયુક્ત છે. શબ્દસૃષ્ટિનું એ મૂળ બીજ છે. જ્ઞાનરૂપ જ્યોતિનું એ કેન્દ્ર છે અનાહતનાદનો એ પ્રતિઘોષ છે. પરબ્રહ્મનો એ દ્યોતક છે અને પરમેષ્ઠિનો એ વાચક છે. સર્વ દર્શનો અને સર્વ તંત્રોમાં એ સમાનભાવે વ્યાપક છે. યોગીજનોનો એ આરાધ્ય વિભુ છે. સકામ ઉપાસકોને એ કામિત ફળ આપે અને નિષ્કામ ઉપાસકોને આધ્યાત્મિક મોક્ષદાયક છે. હૃદયના ધબકારાઓની માફક એ નિરંતર યોગીઓના હૃદયમાં સ્ફૂર્યા કરે છે.

યોગના આરધકો માટે રત્નચતુષ્ટયમાં કહે છે કે—

संत्यक्तसर्वसंकल्पो निर्विकल्पसमाधिताम्।
संप्राप्य तात्विकानन्दमश्नुते संयतः स्वयम्॥

જેણે સર્વ સંકલ્પોનો ત્યાગ કર્યો છે એવા (મુનિવરો-સાધક) પોતે નિર્વિકલ્પ સમાધી સાધીને સહજાનંદને પામે છે.

मनश्चंचलता प्राप्य यत्र तत्र परिभ्रमत्।
स्थिरतां लभते नैव आत्मनो ध्यानमन्तरा॥

મન ચંચળતા પામીને જ્યાં ત્યાં પરિભ્રમણ કરતું છતાં આત્માના ધ્યાન વિના સ્થિરતાને પામતું નથી.

चित्ते वशीकृते सर्वं विजानीयत् वशीकृतम्।
वशीकरणाय चितस्य सर्वोपाया. प्रजल्पिता.॥

ચિત્ત વશ કર્યાથી સર્વ વશ કર્યું એમ જાણવું. શાસ્ત્રમાં તપ જપ આદિ સર્વ ઉપાયો કહ્યા છે–તે ખરેખર મન વશ કરવા માટે જ જાણવાં.

ज्ञानदर्शनचारित्र - वीर्यानन्दनिकेतनः ।
आत्मारामः सदा ध्येयः सर्वशक्तिमयः सदा ॥

જ્ઞાન, દર્શન, ચારિત્ર, વીર્ય અને આનંદનું સ્થાન અને સદા સર્વશક્તિમય એવો આત્મા સદાકાળ ધ્યાન કરવા યોગ્ય છે.

આત્માનું ધ્યાન કરનાર આત્મા–યોગાન્મુખ થતાં કેવાં ચિદાનંદમય પરમસુખને પામે છે–આસ્વાદે છે તે આ રત્નચતુષ્ટય દર્શાવે છે અને

ૐ ધનુષ્ય તીર આત્માનું લક્ષ્ય બ્રહ્મ બનાવવું,
ત્વરાથી વિંધવાને હાં, તીરવત્ તન્મય થાવું.

જગતને પોતાની જાજ્વલ્યમાન જ્યોતિથી જ્વલંત બનાવનાર, વિશ્વમાં અખંડ અલૌકિકતાનો અદ્‌ભુત આવિર્ભાવ સાધી આપનાર, માનવજાતને બાહ્યિરંતર ઋદ્ધિ–સિદ્ધિઓ અને પરમ કલ્યાણ સાધી આપનાર, વિશ્વવંદ્ય વિશ્વપૂજ્ય વિશ્વારાધ્ય મંગલમય યોગવિદ્યા અને પ્રણવમંત્ર ૐકારથી કયા શબ્દ, ધર્મ, માનવ, સંત, યુગ કે કાળ અજ્ઞાન રહ્યાં છે ભલા ! જેનાં પ્રસ્ફુરિત અમોઘ તેજોરાશિમંડિત દિવ્ય કિરણોવડે લોકાલોક ઝળહળી રહ્યાં છે, જેનાં જપગુંજનથી યોગી, માનવી, દેવોય આકર્ષાઈ ચાલ્યા આવે છે, અને જેના સાચા શુદ્ધ ભાવભર્યા સંપૂર્ણ આરાધનથી ગમે તેવો માનવબાળ નિજસાધ્ય લક્ષ્યબિંદુ સાધી લે છે. નાસિકાગ્રે અમૃત દૃષ્ટિ સ્થાપી અંતરનાં ઊંડાણમાં ડૂબકી મારી જેનાં ચિંતવનમાં મહાન યોગીઓ લીન વિલીન કૃત–કૃત્ય બની જાય છે એવા જગત્‌પૂજ્ય અનાહતનાદ પ્રેરક યોગ-વિદ્યાનો મુકુટમણિ સમાન ૐકાર જયવંત વર્તો.

ધ્યાન :—

હૃદય–કમળ–સ્થિત સંપૂર્ણ શબ્દબ્રહ્મબીજ ભૂતસ્વર વ્યંજન સહિત પંચપરમેષ્ઠિવાચક, તેમજ ચંદ્રકળામાંથી ઝરતા અમૃતના રસે કરી ભિંજાતા મહામંત્ર ૐકારનું કુંભક પ્રાણાયામપૂર્વક ધ્યાન કરવું ઇષ્ટ છે. તેમા અપૂર્વ શક્તિ છે. સર્વ મંત્રો તેમાં સમાવિષ્ટ થાય છે. અપૂર્વ ૐકાર મંત્રનું જે યોગી સાધકો ધ્યાન કરે છે તેઓ મન મર્કટને વશ કરી પરમ શાંતિને પામે છે. ૐકાર વાચ્ય સ્વરૂપાર્થને ધ્યેયરૂપે સ્વીકારી તેમાં ચિત્તની એકાગ્રતા કરતાં સંકલ્પવિકલ્પ લય પામે છે. રજોગુણ, તમોગુણ જાય છે અને સત્વગુણ ખીલે છે. તે વખતે મનમાં આનંદની ઝાંખીનો અપૂર્વ સમતારસ અનુભવાય છે. વાણી પર ૐકારનું દીર્ઘકાળ ધ્યાન ધરતાં વચનની સિદ્ધિ થાય છે. ૐ જેવી જગતમાં અન્ય અલૌકિક અમૂલ્ય અદ્‌ભુત શક્તિ કે વસ્તુ નથી. વિશેષ શું ? ૐકારનું પરિપૂર્ણ સ્વરૂપ સમજાય–અનુભવાય ત્યારે યોગીઓને તેની અપૂર્વ ખૂબીઓ હસ્તગત થાય છે.

એક વસ્તુનું આલંબન કરી તેમાં અંતર્મુહૂર્ત પર્યંત મનની સ્થિરતા કરવી તે છદ્મસ્થ ધ્યાન કહેવાય છે. ધ્યાનની પરંપરા તો ઘણા વખત સુધી રહી શકે છે. મુહૂર્ત બાદ મનની સ્થિતિ બદલાય કે પુનઃ મનને ત્યાં સ્થાપન કરવું. આ પ્રમાણે મનમાં ઇષ્ટ વસ્તુનું ધ્યાન કલાકો સુધી અભ્યાસ વડે થઈ શકે. ધ્યાનની પરંપરા વધવા સાથે આત્મશક્તિ પ્રકટતી જાય છે અને તેથી અનેક પ્રકારના અનુભવો ભાસે છે. અનેક પ્રકારની શક્તિઓ લબ્ધિઓ સિદ્ધિઓ પ્રકટે છે—અનેક ભવોનાં કર્મો પણ ધ્યાનબળે ક્ષય પામે છે.

આ ધ્યાન વા યોગસાધન આત્મજ્ઞાન વા અધ્યાત્મજ્ઞાનપૂર્વક કરવામાં આવે છે ત્યારે તેની અલૌકિકતા અદ્ભુત એવં ન્યારી જ થઈ રહે છે અને જે અધ્યાત્મજ્ઞાનપૂર્વક યોગ-જ્ઞાનની પ્રાપ્તિ કરે છે એને અષ્ટ સિદ્ધિઓ અને નવ નિધિઓનો મોહ રહેતો જ નથી. કારણ યોગવિદ્યાની પ્રાપ્તિથી જે સ્વાનુભવરસામૃતનો આસ્વાદ સાધક કરી શકે છે તેના આગળ ઈન્દ્રની ઋદ્ધિ પણ કૂચા જેવી ફીક્કી નીરસ—ત્યાજ્ય લાગે છે. અધ્યાત્મજ્ઞાનને **રાજ-યોગ—સહજયોગ** કહેવામાં આવે છે. તેના સમાન કોઈ મહાન્ યોગ નથી. રાજયોગ પાસે હઠયોગ હાથ જોડી ઊભો રહે છે. અધ્યાત્મજ્ઞાન વિનાના હઠયોગીઓ, ઋષિઓ, તપસ્વીઓ કામાદિ વિષયમાં લપસી પડ્યા—શ્રાપો આપ્યા—તપફળથી ભ્રષ્ટ થયાના દૃષ્ટાંતો શાસ્ત્રોમાં નોંધાયા છે. હઠયોગીઓ ઇચ્છાઓ વાસનાઓ દબાવી શકે, પણ તેનો સર્વથા નાશ નથી કરી શકતા. બાલજીવોને હઠયોગ ઉપયોગી—ઉપકારી થઈ શકે છે; કેટલીક સાધારણ સિદ્ધિઓ પણ મેળવે છે, પણ બધા દાખલાઓમાં નહિં જ.

યમ—નિયમ—આસન—પ્રાણાયામ એ ચાર અંગોનો હઠયોગમાં સમાવેશ થાય છે, અને પ્રત્યાહાર, ધારણા, ધ્યાન અને સમાધિનો રાજયોગમાં સમાવેશ થાય છે. યમની સિદ્ધિ થયા પશ્ચાત્ નિયમની સિદ્ધિ થાય છે. આસનનો જય થવાથી રાજયોગમાં ઘણી મદદ મળે છે. પૂરક, કુંભક, રેચક, પ્રાણાયામને બ્રહ્મા, વિષ્ણુ અને શિવ કહેવામાં આવે છે. ઈડાને ગંગા પિંગલાને યમુના અને સુષુમ્ણાને સરસ્વતી કહેવામાં આવે છે. ત્રિપુટીને કાશી કહેવામાં આવે છે. ડાબી નાસિકામાંથી ચન્દ્ર નાડી વહે છે. જમણીમાંથી સૂર્ય નાડી વહે છે. બ્રહ્મ-રંધ્રને બ્રહ્મલોક—વૈકુંઠ—સિદ્ધસ્થાન કહેવાય છે. ચિત્તવૃત્તિને પ્રકૃતિ કહેવાય છે. જીવને પુરુષ કહેવાય છે. આધાર સ્વાધિષ્ઠાન વિગેરે શરીરમાં ષટ્ચક્રો કહેવાય છે. તેમાં ધ્યાન ધરવાથી સુષુમ્ણા નાડીનું ઉત્થાન થાય છે. મેરુદંડમાં પ્રાણનું વહન થાય છે. ઇડા, પિંગલામાં વારા-ફરતી પૃથ્વી, અપ્, તેજ, વાયુ અને આકાશ એમ પાંચ તત્ત્વો વહે છે. આખા દિવસમાં ૨૧૬૦૦ શ્વાસોચ્છવાસ વહે છે. શરીરમાં વાયુ, પિત્ત અને કફ પ્રતિપાદન કરી તેના સામ્યમાં સાત્ત્વિક પ્રકૃતિનું પ્રકટીકરણ સૂચવ્યું છે. નાભિકમળમાં જે ધ્યાનવૃત્તિ રાખવામાં આવે છે, તેને સુરતા કહેવામાં આવે છે; નાભિ તથા ત્રિપુટીમાં થતા પ્રકાશને ઝળહળજ્યોતિ કહેવામાં આવે છે. શ્રી પતંજલિના સમયમાં ૮૪ જાતનાં આસનો હતાં. ગોરખ અને

મત્સ્યેન્દ્રનાં સમયમાં ઘણાં આસનો હતાં. યોગનો મહિમા વધ્યો, મુદ્રાઓ પણ વધવા લાગી. પ્રાણાયામના ભેદો પણ વધવા લાગ્યા. વેદો અને દશ ઉપનિષદોમાં અનેક આસનો અને પ્રાણાયામની વ્યાખ્યા કરવામા આવી નથી.

ભગવાન શ્રી મહાવીરસ્વામીના સમયમાં હઠયોગની વિશેષ પ્રક્રિયાઓનું વિશેષ વર્ણન જોવામાં આવતુ નથી. હઠયોગની પ્રવૃતિ તત્વસમયમાં હશે પરંતુ ગુપ્ત રાખવામાં આવી હશે. આ વિદ્યાને ગુપ્ત રાખવા યોગ્ય ગણાતી અને તે સત્ય છે. હમણાં અનેક ગ્રંથો આ મહાવિદ્યાના પ્રકાશનમાં છે છતાં તેનો લાભ કરતાં ગેરલાભ વધુ સંભવે છે, કારણ કે યોગ્ય સ્વાનુભવી યોગી ગુરુઓ સિવાય ગુરુગમપૂર્વક આ વિદ્યા યોગ્ય પાત્રપરીક્ષણ કર્યા વિના ગમે તે તેને આરાધે તો સફળતા–ઉપકારિતાને સ્થાને નિષ્ફળતા વધુ સંભવે છે. નિરોગી તન–મન–શુદ્ધાચાર પ્રતિપાલન, ચિત્તનિરોધ, સંયમ, બ્રહ્મચર્ય, વિનય અને દૃઢ શ્રદ્ધા સિવાય આ મહાવિદ્યા કુપાત્રમાં ઊલટી ભયપ્રદ બની રહે છે. વર્તમાનકાળ સંયોગોમાં શરીર, મન, વાણી અને આરાધન વિકૃત દેખાય છે ને તેથી જ આ પ્રભુનો, જીવનમુક્તિનો–વિશ્વઉપકારિતાનો માર્ગ વિષમ બનતો જાય છે. કારણ—

Purity of mind leads to perfection in Yoga. Regulate your conduct when you deal with others Have no fealing of jealousy towards others. Do not hate sinners. Be compassionate. Be kind to all. Develop complacency towards superiors. The success in Yoga will be rapid if you put your.maximum energy in your Yogic practice. You must have been longing for liberation and intense Vairag also. you must be sinsere and earnest. Intense and constant meditation is necessary for entering into Samadhi (K. Y.).

આ પરથી પૂર્ણયોગ–સમાધિ પ્રાપ્તિની કઠીણાઇ અને સાધનોની વિપુલતાનો ખ્યાલ આવશે. આ વિષમકાળે તેમાંનું કેટલું શક્ય અને સાધ્ય થઈ શકે? તેને માટે કયું સ્થળ યોગ્ય હોઇ શકે એ વિચારણીય છે. આબુ, ગિરનાર, હરદ્વાર કે હિમાલય જવું પડે કે શહેરોની કબુતરખાના જેવી ઓરડીઓ ચાલે તે સાધક સ્વયં વિચારી લે.

ॐकारनुं ध्यान :—

ધ્યાનમાં અનેક ભેદો છે. પિન્ડસ્થ, પદસ્થ, રૂપસ્થ. રૂપાતીત, આ ચાર પ્રકારનું ધ્યાન આત્માને ઉચ્ચ દશા આપે છે. દરેક સાથે ધારણાઓ હોય છે. પિન્ડસ્થમાં પાર્થિવી, આગ્નેયી, મારુતી, વરુણી, અને તત્વભૂ આ પાંચ ધારણાઓ છે. આ સૌ તે વિષયના પુસ્તકોમાં જોવા જાણવા પ્રયત્નશીલ રહેવું.

ધ્યાન કરનારની પાત્રતા :—

પ્રારંભમાં સાધકે પોતાનામાં યોગ્ય ગુણો પ્રકટાવવા પૂર્ણતયા પ્રયત્નશીલ થવું જ

જોઈએ. જો એ ગુણોનો અભાવ હોય તો ધ્યાનની ધારા વહેતી નથી અને સત્ય રસાસ્વાદ અનુભવાતો નથી.

जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशांतस्य स्थिरात्मनः।
स्थिरासनस्थनासाग्रन्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥१॥
रुद्धबाह्यमनोवृत्तेर्धारणा धारणा स्यात्।
प्रसन्नस्याप्रमत्तस्य चिदानन्दसुधालिहः ॥२॥
साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्वमन्तरेव वितन्वतः।
ध्यानिनो नोपमालोके सदेवमनुजेऽपि हिं ॥३॥ (उपदेशप्रासाद)

"જેણે ઇન્દ્રિયોનો જય કર્યો છે એવા, તથા જે ધીર છે, જે અત્યંત શાંત છે, જેણે પોતાના આત્માને સ્થિર કર્યો છે, જેનું સ્થિરાસન, નાસિકાના અગ્રભાગ પર દૃષ્ટિ સ્થાપન કરી છે, (ધ્યેયમાં ચિત્ત સ્થિર કરવું તે) ધારણા અને તેના ધારણથી જેણે વેગે બાહ્યમાં જતી મનોવૃત્તિ રોકી છે, જે પ્રસન્ન છે, જે અપ્રમત્ત છે, જેણે ચિદાનંદ અમૃતનો આસ્વાદ લીધો છે, જેણે બાહ્યાભ્યન્તર વિપક્ષ રહિત જ્ઞાનાદિના અપ્રતિહત સામ્રાજ્યને અંતરમાં વિસ્તાર્યું છે, એવા ધ્યાનીની દેવલોકમાં કે મનુષ્યલોકમાં ઉપમા નથી."

સર્વ દુઃખનો નાશ કરનાર ધ્યાન છે, એમ અનેક ગ્રંથોની સાક્ષીઓ સિદ્ધ થાય છે માટે શુદ્ધ ભાવે એકાગ્ર ચિત્તે ૐકારનું ધ્યાન કરો.

वहिरन्तश्च समन्तात्, चिन्ताचेष्टापरिच्युतो योगी।
तन्मयभावं प्राप्तः कलयति भृशमुन्मनीभावम् ॥

ધ્યાન ક્યાં કરવું ?—

એકાન્ત રમ્ય પવિત્ર પ્રદેશમાં, સુખાસને બેસી, પગના અંગૂઠાથી મસ્તકના અગ્રભાગ પર્યંત સમગ્ર અવયવોને શિથિલ કરી, કાન્તરૂપને જોતો, મનોહર વાણીને સંભાળતો, સુગંધીઓનો પરિમલ લેતો, રસાસ્વાદને ચાખતો, મૃદુભાવોને સ્પર્શતો, મનની વૃત્તિઓને નહિં વારતો છતો, ઔદાસીન્ય ભાવમાં ઉપયુક્ત, નિત્ય વિષયાસકિત વિનાનો બાહ્યાંતર ચેષ્ટાઓ-ચિન્તાઓથી રહિત, યોગી (સાધક) પોતાના શુદ્ધ સ્વરૂપના તન્મય ભાવને પ્રાપ્ત થઈ અત્યંત ઉન્મનીભાવને ધારણ કરે છે.

ધ્યાનના ચમત્કારોથી સાવધાન :—

આ ચમત્કારિક ૐકાર સાધનાધ્યાનદ્વારા થતી લયાવસ્થામાં આત્મારૂપ પરમાત્માની શુદ્ધ જ્યોતિ ભાસે છે. તેનું વર્ણન વૈખરી વાણીથી ન કરી શકાય; તેના અનુભવીઓને જ તેનાં શ્રદ્ધા દર્શન અનુભવ થાય. અનુભવી ગુરુ વિના કોઈથીએ આવી સમાધીમાં પ્રવેશ કરી શકાતો નથી. બ્રહ્મરંધ્રમાં સમાધિ થવાથી અનેક ચમત્કારોની ઉત્પત્તિ થાય છે. ગુપ્ત વાતના પડદા ખુલે છે, પૂર્વે ન જોયેલું-ન અનુભવેલું જોવાય, અનુભવાય, સાક્ષા-

ત્કાર થાય છે. ગુપ્ત તત્ત્વોનાં રહસ્યો તેનાં આગળ ખડાં થાય છે, તોપણ તેમાં તેને આશ્ચર્ય થતું નથી. એવા વખતે યોગી સાધકે સાવધાન રહેવાની ખાસ જરૂર છે. લોકોનું તેના પ્રતિ ખૂબ આકર્ષણ થાય છે, દેવતાઓ દર્શન આપે છે. જે જે તત્વ સંબંધી તેને શંકા થાય તેનો સમાધિમાં દેવતા મારફતે નિર્ણય થઇ જાય છે. પ્રાયઃ તે વખતે યોગીએ ભવિષ્ય કથનમાં ખેંચાવું નહિ. દુનિયાના લોકો સ્વાર્થી પ્રશ્નો કરવા સેવા કરે તોપણ તેઓ તરફ લક્ષ દેવું નહિ. અજાણ્યા અને ગાડા માફક વર્તન ચલાવી પોતાનો અભ્યાસ આગળ ચલાવવો. પોતાના કૃત્યને લોકો પાખંડ ઢોંગ, દંભ, કહે તોપણ દુનિયાને ચમત્કારવા પોતાની પરીક્ષા જણાવવાની ભાંજગડમાં કદી પડવું નહિં. માનવાધિકાર પ્રમાણે જરૂર પડયે ધર્મોપદેશ આપવો. યોગ્ય અધિકારીને કંઇ જણાવા યોગ્ય જણાવવું. નાસ્તિક લોકો સમાધિને ગપ માને તો મૌન સેવવું. ગમે તે ઉપાધિઓ આવે સહી લેવી. અધૂરા અભ્યાસે કોઇ પણ વિઘ્નકારક બાબતથી અલગ રહેવું. શિષ્યોને પણ સ્વાનુભવો કહેવા નહિ. સદાકાળ સમાધિમા આત્મચિંતનમાં મગ્ન રહેવું. જો કે સમાધિ એક સરખી રહેતી નથી. અમુક વખત સુધી જ રહે છે. પશ્ચાત્ સંસારી બાબતોમાં લક્ષ્ય લગાડવામાં આવે તે વખતે વ્યવહાર દશામા વર્તાય છે, પણ પુનઃ કેવળ કુંભક વગેરે પ્રાણાયામ કરી સમાધિ પ્રાપ્ત કરી શકાય છે. શુક્લધ્યાન પ્રાપ્ય નિશ્ચય સમાધિના કેટલાક અંશ વર્તમાન કાળમાં અપ્રમત્ત દશાથી જ્ઞાની યોગીઓ પ્રાપ્ત કરી શકે છે. બ્રહ્મરંધ્રમાં ચિત્તની સ્થિરતા થવાથી ત્યાં નિશ્ચય સમાધિનો અનુભવ આવે છે. સૂર્યોદય થતા અરૂણોદય માફક જ અત્ર સમાધિદ્યુતિનો પ્રકાશ પ્રાપ્ત થાય છે. સહજજ્ઞાનયોગ સમાધિ પ્રાપ્ત કરવા માટે સદ્દગુરુ ઉપાસનાની અત્યંત આવશ્યકતા છે. સદ્દગુરુ વિના કાંઇ મળી શકે એમ નથી એ નિશ્ચય માનજો.

કેટલાક પૂર્વભવ એતાદૃશ સંસ્કારવિહીન માનવોને સમાધિ નામ ઉપર દ્વેષ આવે છે, તેનું કારણ કે તે જીવોને ભવપરિણુતિનો પરિપાક થયો નથી; આત્માના શુદ્ધ ધર્મની પ્રાપ્તિ થવી મહામુશ્કેલ છે. ગમે તેવાં પુસ્તકો વાચો પણ સદ્દગુરુની સેવાપૂર્વક ગુરુગમ લીધા વિના સમાધિમાં પ્રવેશ થઇ શકતો નથી. ગુરુગમપૂર્વક બનેલા જ્ઞાનયોગીઓ જ આ પરમ જ્વલંત કલ્યાણકર ॐકાર મહામંત્ર પામી સમાધિ અનુભવીને સાધી શકે છે એ નિઃશંસય છે.

વર્તમાન કાળે પણ કેટલાંક એકાંત ક્રિયારુચિ જીવડા યોગસમાધિ ॐકાર ॐअर्हम् ના જાપના નામ માત્રથી ભડકી ઉઠે છે. પોતાના અંધશ્રદ્ધાળુ ભકતો દ્વારા તેઓ યોગીઓની નિંદા–ટીકા કરાવી પોતાને કૃતકૃત્ય માને છે અને કેટલાક ઘુવડદૃષ્ટિઓ તો ॐ अर्हम् ના પરમ જાજ્વલ્યમાન રૂપરાશિમંડિત પરમ તત્વને જોવા પણ અસમર્થ બને છે; કારણ કે સહસ્રકલાયુકત સૂર્ય વિશ્વમાં પ્રકાશિત થતાં ઘુવડ તે જોઇ શકતો નથી; પણ તેવાઓની દયા ખાતાં એમ કહી દેવાય છે કે તેઓ પોતાની ભૂલ જોઇ આ પરમ કલ્યાણકર દિવ્ય તેજોમય જન્મજરાનિવારક મહામંત્ર ॐ अर्हम् ની પીછાન પ્રાપ્ત કરે, કેવળ ક્રિયારુચિ હોઇ

પંડિતાઇ ધારણ કરી પંડિત કહેવરાવનારાઓનો બિચારાનો શો વાંક ? શ્રીમદ્ દેવચંદ્રજી ગાઇ ગયા છે કે,

દ્રવ્યક્રિયારુચિ જીવડા રે, ભાવ ક્રિયારુચિહીન,
ઉપદેશક પણ તેહવા રે, શું કરે જીવ નવીન રે ? ચંદ્રાનન પ્રભુ૦
તત્ત્વાગમ જાણગ ત્યજી રે, બહુજન સંમત તેહ;
મૂઢ હઠી જન આદર્યા રે, સુગુરુ કહાવે તેહ રે. ચંદ્રનાન

વળી વ્યવહાર નિશ્ચયની બાંગ પૂકારનાર વ્યવહાર નિશ્ચયના સ્વરૂપને જો ન સમજે તો સત્ય રહસ્ય કેમ પામી શકાય ? જ્ઞાન અધ્યાત્મ યોગાભ્યાસ વિના સત્ય નિશ્ચયતત્વ રસ્તામાં પડયું નથી. નિશ્ચયના પારગામી વિના યોગાભ્યાસની ઝાંખી અપ્રાપ્ય છે. પૂર્વાચાર્યો તો ત્યાં સુધી કહે છે કે—

જિમજિમ બહુશ્રુત બહુ જનસમ્મત, બહુશિષ્યે પરિવરિયોજી;
તિમતિમ જિનશાસનો વેરી, જો નવિ નિશ્ચય દરિયો૦ શ્રૂ૦

બાકી ૐકારારાધન, યોગારાધન, જ્ઞાનારાધન, માટે તો પૂર્વ પુરુષો જ્ઞાનીઓ લક્ષાવધિ શ્લોકોમાં લખી ગયા છે. શ્રી ચિદાનંદજી, શ્રી આનંદઘનજી, શ્રી યશોવિજયજી, શ્રી દેવચંદ્રજી, શ્રી વિનયવિજયજી, શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યજી, શ્રી હરિભદ્રસૂરિજી, શ્રી જિનદત્તસૂરિજી, શ્રી બુદ્ધિસાગરસૂરિજી આદિ યોગીઓએ તો યોગાધ્યાત્મજ્ઞાન માટે જીવન વિતાવ્યા છે, તેનાં યથેચ્છ ગાન ગાયાં છે, પ્રરૂપ્યાં છે. થોડાક નમૂના જોઇએ.

સં. ૧૭૩૭ માં વિદ્યમાન એવા મહાસમર્થ વિદ્વાન્ હેમલઘુપ્રક્રિયા, કલ્પસૂત્ર સુબોધિકા ટીકા, લોકપ્રકાશ વગેરે ગ્રંથોના કર્તા શ્રી વિનયવિજયજી ઉપાધ્યાય કહે છે કેઃ—

સાધુભાઇ સો હૈ જૈન કા રાગી, જાકી સુરત મૂલ ધૂન લગી૦ સાધુ૦
સો સાધુ અષ્ટકર્મસુ ભગડે, શૂન બાંધે ધર્મશાલા,
સોહમ્ શબ્દ કા ધાગા સાંધે, જપે અજપા માલા૦ સાધુ૦

× × ×

પાંચ ભૂત કા ભયા મિટાયા, છઠ્ઠા માંહી સમાયા,
વિનય પ્રભુ શું જ્યોતિ મીલી જબ, ફીર સંસાર ન આયા. સાધુ૦

ઉ૦ ભગવાન શ્રી યશોવિજયજી—

અબ હમ મગન ભયે, પ્રભુ ધ્યાન મેં,

× × ×

ચિદાનંદકી મોજ મચી હૈ, સમતારસ કે પાન મેં

× × ×

તાલી લાગી જબ અનુભવકી, તબ જાને કાઊ શાન મેં. હ૦

× × ×

વાચક જસ કહે મોહ મહાઅરિ, જીત લીએ મેદાનમેં ॥૭॥

શ્રી આનંદઘનજી યોગસ્વરૂપ પામ્યા પછી બોલે છે—

અબ હમ અમર ભયે ન મરેંગે.

શ્રી ચિદાનંદજી ગાય છે પદ ૧૧

જોગ જુગતી જાણ્યા વિના, કહા નામ ધરાવે,
રમાપતિ કહે રંકકુ, ધન હાથ ન આવે. જોગ.

× × ×

ચિદાનંદ સમજ્યા વિના, ગિનતી નહિ આવે

શ્રી મુનિસુંદરકૃત અધ્યાત્મકલ્પદ્રુમઃ—

જેનુ મન સમાધિવંત હોઇને પોતાના તાબામાં વર્તે છે તેને યમનિયમથી શું ? વળી અધ્યાત્મસંસારમાં–અંતર્ગત ભાવોને દેખતો અને પૂર્ણ ભાવને પામેલો અધ્યાત્મ વૈભવને ભોગવતો જ્ઞાની (યોગી) અન્યને (સ્વરૂપ સિવાય) ઓળખતો નથી.

શ્રી બુદ્ધિસાગરસૂરિજીઃ—

સોહમ્ સોહમ્ સોહમ્ સોહમ્ સોહમ્ સોહમ્ દિલમેં વરયોરી,
હું તું ભેદભાવ દૂર નાઠો ક્ષાયિક ભાવે કદી ન ખરયોરી.

× × ×

બુદ્ધિસાગર સોહમ્ ધ્યાને પરમાત્મ પદ આપ ભયોરી,

શ્રી શાંતિવિજયજી—ભાંગનો નશો જેમ છાશથી ઉતરે તેમ સંસારભાવનાનાં વિષ ૐકારના જાપથી ઉતરી જશે, યોગનો અભ્યાસ કરો ! તેથી જ હિન્દનો ઉદ્ધાર છે. જૈનોનું જીવન એવું હોય કે જેની દેવતાઓ પણ યાત્રા કરવા આવે એવું જીવન જીવજો. શ્રી નારદ ભક્તિસૂત્રઃ શ્લોક ૫૬—

તન્મયી વૃત્તિ તદ્રુપે સમાધિ અવિચ્છિન્ન છે,
પ્રભુમાં સર્વથા જીવો અંતર્બાહ્ય અભિન્ન છે.

શ્રી ગુરૂદત્તાત્રેય જીવનમુક્ત ગીતા શ્લોક ૧૬–૧૭—

ગર્ભધ્યાનવડે પેખે, જ્ઞાનીનું મન એજ છે;
વિલાયું મન સોહમ્‌માં જીવનમુક્ત જ એહ છે.
હૈયામાં ધ્યાનથી દેખો પ્રકાશે મન જ્યોતને;
સોહમ્ હંસજ જે પેખે જીવનમુક્ત જ એ છે.

વેદાન્તશાસ્ત્ર—શબ્દ, રૂપ, રસ, ગંધ, અને વિનાશ રહિત, નિત્ય, અનાદિ, અનંત, અહંકારથી ધ્રુવપદ એવા–આત્માનો અનુભવ કરનાર મનુષ્ય મૃત્યુના મુખથી મુકાય છે.

આ તો થોડાંક દષ્ટાંતો યોગના અભ્યાસીઓની પ્રતિતી અર્થે છે.

ચિત્તવૃત્તિનિરોધ કરવાની આઠ ક્રિયાઓ વડે કોઇ પણ પ્રકારનું કષ્ટ અનુભવ્યા સિવાય સ્થિર રહેવા માટે આસન કરવાનાં છે.

૧. અભ્યાસવૈરાગ્યાભ્યાંતન્નિરોધઃ—અભ્યાસ અને વૈરાગ્યથી ચિત્તનિરોધ કરવો.

૨. ઈશ્વરપ્રણિધાનાદ્વાઃ-સર્વદા પ્રભુમાં-ધ્યેયમાં મન રહેવું.

૩. પ્રચ્છર્દનવિચારણાભ્યાં પાણસ્ય—પ્રાણનું ધારણ અને પ્રાણાયામ કરવાં.

૪. વિષયવતી વા પ્રવૃત્તિસમ્પન્ના—ઇન્દ્રિય વિશેષમાં ધારણા દ્વારા ગંધાદિનો સાક્ષાત્કાર કરવો.

૫. વિશોકા વા જ્યોતિષ્મતી—હૃદયકમલમાં જ્યોતિ-પ્રકાશ ફેલાવવો.

૬. વીતરાગવિષયંવાચિત્તમ્—વીતરાગી યા નિષ્કામી દેવમાં ચિત્ત દેવું.

૭. સ્વપ્નનિદ્રાજ્ઞાનાલંબનં વા—સ્વપ્નમાં મૂર્તિવિશેષ વા સાત્વિક વૃત્તિનો આશ્રય લેવો.

૮. યથાભિપ્રેતધ્યાનાદ્વા—ઇચ્છા પ્રમાણે ધ્યાન ધરવું.

આ સાધનો ચિત્તવૃત્તિનિરોધ માટે અતિ ઉપયોગી છે. યોગનાં ગ્રંથોમાં અનેક પ્રકારનાં આસનો બતાવ્યાં છે.

'હઠયોગદિપીકામાં' ૧૪ પ્રકારનાં—યોગપ્રદીપ (૧૮૨૫ માં લખાયેલા) માં ૨૧ પ્રકારનાં, ઘેરંડ સંહિતામાં ૩૨ પ્રકારનાં, વિશ્વકોષમાં ૩૨ પ્રકારનાં, અનુભવપ્રકાશમાં (૧૮૨૫ માં લખાયેલ છે.) ૫૦ પ્રકારનાં, આસન નામક ગ્રંથમાં ૪૯ બતાવ્યાં છે. આ પ્રકારે તારવણી કરતાં કુલ્લે ૧૩૩ થાય છે; પરંતુ યોગી ગોરખનાથે અને ભોગી કોક મહાશયે યોગ-ભોગના પૂરાં ૮૪ આસનો બતાવ્યાં છે; એટલે અહિં સંક્ષેપમાં તેના નામ બતાવીશું.

સંપૂર્ણ આસનોમાં સિદ્ધાસન, પદ્માસન, ભદ્રાસન અને સિંહાસન અતિ મહત્વનાં છે. જેમાં એકમાં જ અનેક ગુણ સમાયા છે, અને એ એક એક પણ અનેક પ્રકારે કરી શકાય છે. પ્રાચીન કાળમાં યોગીઓ આ જ આસનો સાધી અનેક સિદ્ધિઓ પ્રાપ્ત કરી હતી. પરમતત્ત્વ પ્રભુનું ચિન્તવન કરવારૂપ ઉપરોક્ત ચારે આસનોમાંથી પદ્માસન અધિક માન્ય ગણાય છે. સર્વ પ્રકારની અભીષ્ટ સિદ્ધિમાં એ ઉપયોગમાં લેવાય છે. જ્યારે અન્ય આસનોનાં અભ્યાસમાં કોઈ ક્રિયા પ્રક્રિયામાં ભૂલ થાય તો પ્રાણાત કષ્ટ આવી જવા સંભાવના રહે છે. પદ્માસન પરમ નિર્દોષ છે. મુકિત અને ભુકિત બંને પદ્માસન આપે છે. તે યોગ વિદ્યાનું સર્વાધાર અંગ છે, આધુનિક સમયમાં શિર્ષાસનનો મહિમા પણ અપાર ગણાય છે. એનાથી અનેક દોષ દૂર થાય છે. સર્વ આસનોમાં તેના સંપૂર્ણ ગુણો સમાવિષ્ટ છે અને સર્વ આસનોથી બળ, વિભૂતિ, વિદ્યા અને દીર્ઘ જીવન સંપ્રાપ્ય છે. જો તેનો અભ્યાસ યથાક્રમ ધીમે ધીમે વધાર્યે જવાય તો ભૂતલનો માનવ દેવતા બની શકે છે. હવે આપણે આસનોનાં નામ જોઈએ.

(૧) સિદ્ધાસન (૨) પ્રસિદ્ધ સિદ્ધાસન (૩) પદ્માસન (૪) બદ્ધ પદ્માસન (૫) ઉત્થીત પદ્માસન (૬) ઊર્ધ્વ પદ્માસન (૬) સુપ્ત પદ્માસન (૮) ભદ્રાસન (૯) સ્વસ્તિકાસન

(૧૦) યોગાસન (૧૧) પ્રાણુસન વા પ્રાણાયામાસન (૧૨) મુક્તાસન (૧૩) પવરમુક્તાસન (૧૪) સૂર્યાસન (૧૫) સૂર્યભેદભેદનાસન. (૧૬) ભદ્રિકાસન (૧૭) સાવિત્રી સમાધિ (૧૮) અચિન્તનીયાસન (૧૯) બ્રહ્મજવરાંકુશ (૨૦) ઉદ્ધારકાસન (૨૧) મૃત્યુભંજકાસન (૨૨) આત્મારામાસન (૨૩) ભૈરવાસન (૨૪) ગુરૂડાસન (૨૫) ગોમુખાસન (૨૬) વાતયાનાસન (૨૭) સિદ્ધિમુક્તાવલી (૨૮) નેતી આસન (૨૯) પૂર્વાસન. (૩૦) પશ્ચિમોતાસન (૩૧) મહામુદ્રા (૩૨) વજ્રાસન (૩૩) ચક્રાસન (૩૪) ગર્ભાસન (૩૫) શીર્ષાસન (૩૬) હસ્તાધારશીર્ષાસન (૩૭) ઉર્ધ્વસર્વાંગાસન (૩૮) હસ્તપાદાંગુષ્ઠાસન (૩૯) પાદાંગુષ્ઠાસન (૪૦) ઉત્તાનપાદાસન (૪૧) જાનુલગ્નહસ્તાસન (૪૨) એકપાદશિરાસન (૪૩) દ્વિપાદશિરાસન (૪૪) એકહસ્તાસન (૪૫) પાદહસ્તાસન (૪૬) કર્ણપીઠમુલાસન (૪૭) કોણાસન (૪૮) ત્રિકોણાસન (૪૯) ચતુષ્કોણાસન (૫૦) કંઠપીડાસન (૫૧) તુલીતાસન (૫૨) લોલ-તાડવૃદ્ધાસન (૫૩) ધનુષાસન (૫૪) વિયોગાસન (૫૫) વિલોમાસન (૫૬) યોન્યાસન (૫૭) ગુપ્તાંગાસન (૫૮) ઉત્કટાસન (૫૯) શૈહાસન (૬૦) સંકટાસન (૬૧) અંધાસન (૬૨) ઇંદ્રાસન (૬૩) શબાસન (૬૪) ગોપુચ્છાસન (૬૫) વૃષભાસન (૬૬) ઉષ્ટ્રાસન (૬૭) મર્કટાસન (૬૮) મત્સ્યાસન (૬૯) મત્સ્યેન્દ્રાસન (૭૦) મકરાસન (૭૧) કચ્છપાસન (૭૨) મંડુકાસન (૭૩) ઉત્તાનમંડુકાસન (૭૪) હંસાસન (૭૫) બકાસન (૭૬) મયુરાસન (૭૭)કુક્કટાસન (૭૮) ક્રોધાસન (૭૯) શલભાસન (૮૦) વૃશ્ચિકાસન (૮૧) સર્વાસન (૮૨) હલાસન (૮૩) વીરાસન (૮૪) શાતિપ્રિયાસન. આમ દરેક આસનથી કોઇને કોઇ લાભ જરૂર અવશ્ય મળે છે. સાથે સાથે આરોગ્ય, આયુષ્ય અને પ્રભુ પ્રત્યેનો અનુરાગ વધે છે. આસનો સાથે મુદ્રાઓ અને પ્રાણાયામ કરવાનાં છે. જેથી તેનો લાભ પૂર્ણતયા મળી શકે અને પ્રભુપ્રાપ્તિ થઇ શકે છે. આ સર્વે કોઇ સારા અનુભવીની સાથે રહીને ધીરે-ધીરે કરવાથી ઉચિત લાભ જરૂર મળે છે અને સફળતા સહજ સાધ્ય બને છે. ઉપર્યુક્ત આસનોનાં પ્રથક્ પ્રથક્ મતમતાંતરોથી નામ, કામ અને પ્રભાવમાં ક્યાંક-ક્યાંક ભિન્નતા જણાય છે; જે તે પ્રકારના ગ્રંથો અવલોકવાથી સત્ય સમજાશે અને સદ્ગુરુની સહાયથી સફળતા મળશે.

હવે પ્રાણાયામ સંબંધી થોડીક હકીકત જણાવીશું.

પ્રત્યેક પ્રાણીએ જમણા નાસાછિદ્રથી નીકળતા પ્રાણવાયુ શ્વાસોચ્છ્વાસને યથાવિધિ ખેંચવો, રોકવો અને બહાર કાઢવો તેથી પ્રાણાયામ થાય છે. તેને જ પૂરક, (કુંભક), રેચક કહેવાય છે. અને જે વાયુ બહાર નીકળે છે તેને જમણા, ડાબા યા સૂર્ય ચંદ્ર સ્વર માનવામાં આવે; એ જ વાયુ પ્રવાહિત રહે ત્યાં સુધી સ્વર કહેવાય છે અને પ્રવૃત્ત પલટાવી દેવાથી પ્રાણાયામ બની જાય છે.

જો કે અગૂંઠો અને તર્જનીની સહાયથી પ્રાણાયામ કરવામાં આવે છે પણ કેટલાક પ્રાણાયામ એવા છે કે જે સહજ જ થઇ જાય છે. (૧) થોડો સમય પ્રત્યેક શ્વાસને

મોઢાથી ખેંચવો અને નાકથી કાઢવો (૨) નાકથી ખેંચવો–નાકથી કાઢવો. (૩) મુખથી ખેંચવો મુખથી કાઢવો (૪) નાકથી ખેંચવો–મોઢાથી કાઢવો આ ચારેય પ્રાણાયામ હાલતાં–ચાલતાં, બેસતાં-ઉઠતાં, કામ કરતાં-ગમે તે વખતે અહોરાત્ર અવિચ્છિન્ન કરી શકાય છે. અને ઓષ્ટ જિહ્વા હલાવ્યા વિના આંતરિક જપ આપોઆપ થઇ જાય છે. આ પ્રાણાયામથી હૃદયરોગ, નાસારોગ, નેત્ર અને ત્રિદોષજન્ય દોષો દૂર થવા ઉપરાંત નામસ્મરણનું મહાફળ તથા મંગળ એવં મુકિત મળે છે.

પદ્માસન લગાવીને હાથની બંને અંગુલીઓ કાનોમાં, બંને તર્જનીઓ આંખો પર, બંને મધ્યમા નાક પર અને શેષ અંગુલી મુખ પર એકત્ર લગાવી ચંદ્રસ્વરમાં પૂરક કરે, યથાશકિત કુંભક રાખે અને સૂર્યસ્વરમાં રેચક કરે તો ચક્રપ્રવૃતિ થવાથી પંચમહાભૂતોના રંગના અનુભવ સાથે ચિત્ત સ્થિર થાય છે.

પદ્માસનપૂર્વક બંને હાથ ઊંચા કરી પૂરક કરે, કુંભકના સમયે મસ્તકને લગાવી ખાલી આસન કરે અને પુનઃ પદ્માસનથી જ રેચક કરે તો જલ પર કમલની માફક તરતા રહેવાની મહાશકિત પાદુર્ભાવ પામે છે અને અનેક પ્રકારની વ્યાધિઓ શમે છે.

સૂર્યનાડીથી પૂરક કરી, કુંભક રાખી, ચંદ્રનાડીથી રેચક કરી પુનઃ પુનઃ તે જ ક્રિયા કરવાથી મસ્તક બહુ મજબૂત અને નિરોગ બને છે. અને કૃમિરોગ તથા ૮૪ પ્રકારના વાયુ સમૂલ નષ્ટ થાય છે. આ પ્રાણાયામ શીતકાલના છે.

બંને નાસિકછિદ્રોથી ૧૦ વાર શ્વાસ ખેંચી અગીઆરમી વખત પૂરક કરી કુંભક કરે અને પુનઃ બંનેથી છોડી દે તો બંને ફેફસાં મજબૂત બને જીવન-શકિત વધી જાય છે.

નાભિપ્રદેશના ચાર ચાર અંગુલ નીચે–ઉપરના ભાગને અંદરની બાજુ (મેરુદંડની તરફ) પ્રયત્નપૂર્વક ખેંચવાથી ઉડ્ડીયાન થાય છે. આ ઉડ્ડીયાન રોજ દિવસમાં ચાર વખત કરવાથી પ્રાણ અપાન સમાન વ્યાન અને ઉદાનવાયુ તથા નાભિચક્ર શુદ્ધ બનીને શરીરગત સંપૂર્ણ નાડીઓ સ્વસ્થ રહે છે. આ ક્રિયા (૧) બેઠે બેઠે અગર (૨) ઘૂંટણ પર હાથ રાખી ઊભા ઊભા અગર (૩) દિવાલની મદદથી, ત્રણે પ્રકારે થઇ શકે છે. અને દરેક પ્રકારની ક્રિયા ૧૦૦–૧૦૦ વાર કરવાથી ૩૦૦ વાર થાય છે. આ ક્રિયાથી યંત્રની માફક ઉદરશુદ્ધિ સરસ થતી રહેવાથી પ્રાયઃ સર્વ રોગ નાશ થઈ આયુ વૃદ્ધિ પામે છે.

ચંદ્રથી પૂરક કુંભક કરે, સૂર્યથી છોડે; પછી તુર્તજ સૂર્યથી પૂરક–કુભક કરીને ચંદ્રથી છોડે તો શરીરની સંપૂર્ણ સૂક્ષ્મ નાડીઓ શુદ્ધ રહે છે. બંને નાક બંધ કરીને, હોઠની નળી બનાવી આગલા દાંતથી વાયુ ખેંચી પીએ અને કુંભક કરી છોડી દે તો સર્વ પ્રકારના જ્વર–પિત્તરોગ, બરોળ, ગોળો, તિલ્લી અને ક્ષુદ્રરોગ નાશ થઇ જાય છે, ગરમીમાં ગુણકારક છે. આ ક્રિયા ઓછામાં ઓછી પંદર અને વધુમાં વધુ સો દિવસ કરવી ઉત્તમ છે.

બંને નાકછિદ્રો બંધ કરી, જીભ બહાર કાઢી, કાકચંચુની માફક નાળી જેમ બનાવી

બહારના વાયુનું આકંઠ પાન કરે, અને કુંભક કરી બંને નાકથી જ છોડે તો અમરત્વ મળે છે અને તેને કોઈ પણ પ્રકારના વિષની અસર થતી નથી. આ ક્રિયા પણ શિતલી છે.

ચંદ્ર નાડીથી શ્વાસને દશ વાર ખેંચી, અગ્યારમી વખતે ચંદ્રથી પૂરક કરી કુંભક કરે અને સૂર્યસ્વરમાં રેચક કરી તુર્તજ સૂર્ય નાડીથી દસવાર ખેંચી અગીઆરમી વખત પૂરક કરી કુંભક કરે અને ચંદ્રનાડીથી રેચક કરે અથવા સૂર્યથી ઘર્ષણ કરી, પૂરક કરી કુંભક કરી, ચંદ્રથી રેચક કરીને તુર્તજ પુનઃ ચંદ્રથી ઘર્ષણ પૂરક અને કુંભક કરી સૂર્યથી છોડી દે; આ સમશીતોષ્ણ ક્રિયા બારે માસ થઇ શકે છે.–ઉત્તમ છે.

કેટલીક સૂચનાઓઃ—યોગાભ્યાસીઓને માટે સાવધાની અર્થે કેટલાંક સૂચન આવશ્યક છે તે પ્રતિ દુર્લક્ષ ન કરવા વિનંતી છે.

જેને કાનમાં, આખમાં તથા હૃદયની નિર્બલતાથી છાતીમાં પીડા થતી હોય તેણે શીર્ષાસન કરવું નહિ.

જેના નાક કફથી હંમેશા બંધ રહેતાં હોય તેને હંમેશાં શીર્ષાસન તથા સર્વાંગાસન કરતાં ખૂબ સાવધાન રહેવું જોઇએ.

જેની પંચેન્દ્રિય અથવા મેદ બહુ જ કમજોર હોય તથા જેની બરોળ ઘણી વધી ગઇ હોય તેણે ભુજંગાસન, શલભાસન તથા ધનુરાસન કરવા ન જોઇએ.

જેને મલબદ્ધતા–કબજીઆત રહેતી હોય તેણે યોગમુદ્રા તથા પશ્ચિમોત્તાસન લાંબો વખત કરવાં નહિ. સાધારણ હૃદયની નિર્બળતાવાળાઓએ ઉડ્ડીયાન, નૌલી તથા કલાભાતિ કરવાં ઇષ્ટ નથી. જેનાં ફેફસાં નિર્બળ હોય તેમણે કપાલભાતિ, ભસ્ત્રિકા તથા ઉજ્જાયી–કુંભક કરવાં નહિ, પરંતુ કેવળ પૂરક–રેચક ઉજ્જાયી કરવામાં હરકત નથી.

જેને બ્લડ–પ્રેસર (લોહીનું દબાણ) ૧૫૦ થી અધિક અગર ૧૦૦ થી નીચે હોય તેમણે કોઈ સ્વાનુભવી–યોગાનુભવીની સલાહ યા દેખરેખ સિવાય કોઇ પણ યૌગિક ક્રિયામાં પ્રવૃત્ત થવું હિતાવહ નથી.

યોગક્રિયાના અભ્યાસીઓએ આ ક્રિયાઓ કરતા જ રહેવું એમ નથી; વચ્ચે વચ્ચે બંધ પડે અગર અંતર પડે તોપણ હરકત નથી.

યોગવિદ્યા અતિઉત્કૃષ્ટ વિદ્યા–મહાવિદ્યા છે. અતિ પ્રાચીન છે. પ્રાચીન મહાન આચાર્યો અને ઋષિમુનિ સાધકોએ તે સાધી છે. આ જ પણ સાધ્ય છે. આ મહાવિદ્યા શ્રીમદ્ યોગીશ્વર શ્રી બુદ્ધિસાગરજી મહારાજે વિસ્તારથી શ્રી યોગદીપક ગ્રંથમાં ખુલ્લી કરી આપી છે; તેમાં કંઇક માર્ગદર્શન મળે તે હેતુથી આ ટૂંક વિવેચન યથામતિ મેં લખ્યું છે. સ્વાનુભાવી મહાપુરુષો સંતો તેમાં રહેલી ક્ષતિઓ સુધારી મને સૂચવશે તે સુધારી લઇશ.

ॐ શાંતિ ! શાંતિ ! ! શાંતિ ! ! !

જૈનદર્શનમાં વિજ્ઞાન

કાન્તિલાલ મોહનલાલ પારેખ

વિએના વિશ્વવિદ્યાલયના મનોવિજ્ઞાનના અધ્યક્ષ પ્રોફેસર હ્યુબર્ટ રોરેશર કહે છે કે માનવ શરીરમાં નિયમિત રીતે આશ્ચર્યજનક કંપન (VIBRATIONS) થાય છે. આ કંપનનો વેગ એટલો મંદ છે કે સાધારણ રીતે આપણને તેનો અનુભવ થતો નથી. સંભવ છે કે અન્ય પશુપક્ષીઓને માનવ વિદ્યુત કંપન (Vibrations of Human Electricity) નો અનુભવ પોતાના સ્નાયુઓ પર થતો હોય.

એક વૈજ્ઞાનિક કહે છે કે મદારીનું સર્પ ઉપરનું સમોહન (Hypnotism) સ્વરના ધ્વનિ (SOUND) થી નહિ, પણ સ્વરના કંપનને લીધે છે. સંગિતના ધ્વનિથી સ્વરના એ કંપનો પ્રગટે છે જે સર્પના વર્ગણા સમુહ (Electro-Magnetic Field) પર સંમોહનની અસર કરે છે. કૂતરા વગેરે પ્રાણીઓ આવા કંપનથી શત્રુ અને મિત્રનો તફાવત જાણે છે. આજનું વિજ્ઞાન કહે છે કે મનુષ્ય શરીરના પ્રત્યેક ભાગમાંથી એક સેકન્ડના દશ વાર (Ten cycles per second) ની ગતિએ કંપન થાય છે. આ ગતિ (Speed) એક સરખી રહેતી નથી. વિજ્ઞાન માને છે કે પ્રત્યેક મનુષ્ય એક રેડિયો પ્રસરણ યંત્ર (Radio Transmitter and Receiver) છે. મનુષ્યના ભાવોમાં જે ફેરફાર થાય છે તેની અસર કંપનો ઉપર પડે છે.

ભય, ક્રોધ, ઇર્ષા, હિંસા વગેરે ભાવોના કંપન જુદા જુદા હોય છે. જે ચોક્કસ યંત્ર દ્વારા જાણી શકાય છે. આ કંપનોના ધ્વનિ(SOUNDS)માં પણ જુદા જુદા ભાવો વખતે વધઘટ થાય છે. ભય સમયે શરીરના કંપનોમાં જે ફેરફાર થાય છે તેથી વનપશુ પોતાનો શિકાર કઈ દિશામાં છે તે જાણી શકે છે. શિકારીઓનો અનુભવ છે કે વનપશુઓ જ્યારે મનુષ્યની નજીક આવે છે ત્યારે તેમને એક પ્રકારની અંતઃપ્રેરણા થાય છે.

પ્રો૦ રોરેશરે માનવ મસ્તિષ્કમાંથી નીકળતા વિદ્યુતપ્રવાહ (Brain Electricity)નો સૂક્ષ્મ નિરીક્ષણ યંત્રથી અભ્યાસ કરી નક્કી કર્યું છે કે મસ્તિષ્કમાંથી આલ્ફા કિરણો અને બીટા કિરણો (Alfa Rays & Beta Rays) નીકળે છે તેમ ચોક્કસ કંપન (Vibrations) પણ નીકળે છે.

પ્રો૦ રોરેશરના આ પ્રયોગોથી સમજાયું છે કે વિદેશ જઇને રહેનાર વ્યક્તિઓના શરીરકંપનનો મેળ, જે અન્ય ભૂમિ ઉપર તેઓ રહે છે તે ભૂમિના કંપન સાથે જો નથી

મળતો તો અનેક શારિરીક અને માનસિક વ્યાધિઓથી આ વિદેશીઓ પીડાતા હોય છે. જો પોતાના શરીરકંપન સાથે જ્યાં જઈને પોતે નિવાસ કરે તે સ્થાનના કંપનનો મેળ થાય તો આ વિદેશીઓને બીજી ભૂમિમાં પણ શારીરિક અને માનસિક વિકાસનો વેગ મળે છે.

જુદા જુદા સ્થાનોની અને જુદી જુદી વ્યક્તિઓની કંપન ગતિ જુદી જુદી હોય છે. જન્મભૂમિના કંપન સાથે શરીરના કંપનનો સંબંધ હોવાથી શારીરિક અને માનસિક વિકાસને તે કઈ રીતે સ્હાયક થઇ શકે તે જાણવા માટે ભૌગોલિક અને સામાજિક પરિસ્થિતિઓનો અભ્યાસ અગત્યનો છે. આંધી, વંટોળ વગેરેનો સંબંધ ભૂમિના કંપન સાથે છે. ભૂકંપ જણાવનારું યંત્ર (Seismograph) આ અતિ સૂક્ષ્મ કંપનને પકડી શકે છે. આ સૂક્ષ્મ કંપનો માનવી અનુભવી શકતો નથી.

આજે વિજ્ઞાન સ્વીકારે છે કે સૃષ્ટિના પ્રત્યેક પદાર્થમાંથી વિદ્યુત નિરંતર વહે છે. વિદ્યુતશક્તિની બે ધારાઓ છે. એક ઋણાત્મક અથવા આકર્ષણ (Negative) વિદ્યુત અને બીજી ધનાત્મક અથવા વિકર્ષણ (Positive) વિદ્યુત કહેવાય છે. દરેક પદાર્થમાંથી અધિક યા ઓછા પ્રમાણમાં આ બન્ને ધારાઓ વહે છે અને એકબીજા પદાર્થો પર તથા વ્યક્તિઓ પર અસર કરે છે.

આજના વિજ્ઞાનની દૃષ્ટિ ભૌતિક છે તથા તેના સાધનો અધૂરા છે. વિજ્ઞાનના યંત્રો (Scientific Instruments) પરિમિત ઇંદ્રિયોનું વિસ્તૃતિકરણ (Extension of Senses) છે. આજની વૈજ્ઞાનિક બુદ્ધિ સ્હેજ સૂક્ષ્મ છે; પરંતુ સંયમથી પરિમાર્જીત-શુદ્ધ નથી. વિચારકો જાણે છે કે સ્હેજ સૂક્ષ્મ એવી અશુદ્ધ બુદ્ધિ અધૂરા સાધનોથી ભૌતિક ક્ષેત્રમાં પ્રયોગો કરે તો શું પરિણામ આવે ? પ્રાચીન સાહિત્યમાં જ્ઞાન વિજ્ઞાનના અદ્ભુત સંકેતો ભર્યા છે. જેની આપણે ઉપેક્ષા કરીએ છીએ તે મૃતભાષા સંસ્કૃતનો અભ્યાસ પશ્ચિમના વૈજ્ઞાનિકો અનિવાર્ય માને છે. આપણા શાસ્ત્રગ્રંથોના અનુવાદમાંથી પ્રેરણા પ્રાપ્ત કરી ઘણા વૈજ્ઞાનિકોએ પોતાનું સંશોધન વિકસાવ્યું છે. કેટલાક ઉદારચરિત્ પ્રાશ્ચાત્ય વિદ્વાનોએ મુક્ત કંઠે આ ઋણ સ્વીકાર્યું છે. જો યોગ્ય સંશોધન થાય તો પ્રાચીન શાસ્ત્રોમાંથી અર્વાચીન વિજ્ઞાનના સન્માર્ગે વિકાસ માટેના અનેક બીજમંત્રો મળી રહેશે.

માત્ર મનુષ્ય નહિ, પ્રત્યેક જીવ-પ્રત્યેક પદાર્થ અલગ અલગ રેડિયો પ્રસરણ યંત્ર છે. દરેક પદાર્થનું પોતાનું અલગ (Electro-Magnetic Field) છે. જેમાંથી વર્ગણાઓ (Radiations) સતત બહાર ફેલાય છે અને તેની અસર અન્ય જીવો તથા પદાર્થો પર પડે છે એવી રીતે સર્વ જીવો તથા પદાર્થોમાથી વહેતી વર્ગણાઓ એક બીજા પર અસર કરે છે. વિશ્વના પરિવર્તનનું રહસ્ય વર્ગણાઓના આ આદાનપ્રદાનમાં રહેલું છે.

જીવ અને પુદ્ગલના સંયુક્ત સંબંધથી સંસાર છે. પુદ્ગલના સંયોગથી આત્માનું રૂપીપણું છે. આપણે જે કંઇ જોઇએ છીએ, સાંભળીએ છીએ, વિચારીએ છીએ તે સર્વ

જીવ અને પુદ્દગલનું સંયુક્ત રૂપ છે. આત્મા જ્યારે મોક્ષ પામે છે ત્યારે પુદ્દગલ (Matter)થી મુક્ત બને છે.

પુદ્દગલના પરમાણુઓ એક બીજા સાથે મળીને જુદા જુદા સ્કંધો બનાવે છે. સૂક્ષ્મ સ્કંધો દષ્ટિગોચર નથી. સ્થૂલ સ્કંધોમાથી કેટલાક દષ્ટિગોચર છે, કેટલાક વિશિષ્ટ યંત્રગોચર છે.

આ ભિન્ન-ભિન્ન વર્ગણાઓ જીવ સાથે મળે છે, જૂની કેટલીક વિખરાય છે તેથી જીવના વર્ગણાસમૂહ(Electro-Magnetic Field)માં પરિવર્તન થાય છે. આવા પરિવર્તનની બાહ્ય-અન્ય જીવો તથા પદાર્થો પરની અસરો અને આંતર-જીવનના પોતાના ભાવોમા થતી અસરોનું સુંદર વૈજ્ઞાનિક વિવેચન જૈન શાસ્ત્રોમાંથી મળે છે. સત્ય ઉપર નિર્ભર આવું સુરુચિપૂર્ણ તત્ત્વનિરૂપણ કરવાનું શ્રેય જૈનદર્શનને છે. તત્ત્વનું વૈજ્ઞાનિક તથા તર્કપૂર્ણ બુદ્ધિગમ્ય વિવેચન વિચારકને જૈન ધર્મના રહ્યાસહ્યા સાહિત્યમાંથી અવશ્ય મળશે. જૈન-દર્શનના છ દ્રવ્યો, નવ તત્ત્વ તથા કર્મપ્રકૃતિઓની યથાનુરૂપ શુદ્ધ યુક્તિયુક્ત વ્યાખ્યા આજના વિકસિત ગણાતા વિજ્ઞાનથીય અબાધિત છે.

જેને આપણે "વિચાર" કહીએ છીએ તે શું છે? માનસિક વિદ્યુતમાંથી પ્રતિક્ષણે તરંગો ઉઠે છે. વિચાર એટલે માનસિક વિદ્યુતનો તરંગ. વિચારને રૂપ, રસ, ગંધ, સ્પર્શ છે. આપણે જે પદાર્થનું ચિંતન કરીએ છીએ તેનું માનસચિત્ર બને છે. જે વિશિષ્ટ જ્ઞાનીઓ આ માનસચિત્રો જોઇ શકે છે તેમને જૈનશાસ્ત્રો "મનઃપર્યવજ્ઞાની" કહે છે.

શાસ્ત્રોએ ગુરુને અથવા પૂજ્યને વંદન કરવાનું ઘણું મહત્ત્વ દર્શાવ્યું છે. "લલિત-વિસ્તરા" માં શ્રી હરિભદ્રસૂરિએ કહ્યું છે કે :—

धर्मं प्रति मूलभूता वन्दना।

ધર્મ પ્રત્યે લઈ જવા માટે મૂલભૂત વંદના છે.

વંદનાવિધિમાં શિષ્ય પોતાનું મસ્તક પૂજ્યના ચરણે લગાડે છે. પૂજ્ય પોતાનો હાથ શિષ્યના મસ્તકે મૂકે છે. ચક્ષુ, હાથ તથા પગના આગળા વગેરે અંગો વિદ્યુત કંપનોમાં મુખ્ય (Transmitters) છે, જ્યાંથી વિશેષ પ્રકારે વિદ્યુત વહે છે. માનસિક વિદ્યુતમાં ધનાત્મક (Positive) અને ઋણાત્મક (Negative) ના સૂક્ષ્મ ભેદો છે. જેના નિયમ અનુસાર વર્ગણાઓનું આદાનપ્રદાન થાય છે. પૂજ્યની વર્ગણાઓ (Radiations) શિષ્યની વર્ગણાઓને વિશુદ્ધ કરે છે. અહિં સંતપુરુષોના સમાગમનું શાસ્ત્રોએ દર્શાવેલું મહત્વ સમજાશે. સાધુ સંતોનો સંગ ફૂલની સુગંધ જેવો છે. જે વાતાવરણને વિના પ્રયત્ને સુવાસિત કરે છે. સાધુસંતોનો સંપર્ક સજ્જન કે દુર્જન સર્વને કલ્યાણકારી છે. પુણ્ય પુરુષોના શરીરમાંથી સતત વહેતો વિશુદ્ધ વર્ગણાઓનો પૂંજ પ્રત્યેક જીવના વર્ગણા-

સમૂહ (Electro-Magnetic Field) માં શુભ અસરો કરે છે. જડ ઉપર થતી અસરો પણ સૂક્ષ્મ વિચારકને તરત સમજાશે.

શાસ્ત્રોએ પૂજ્યની આશાતનાના ભયંકર પરિણામો વર્ણવ્યા છે. આશાતના=જ્ઞાન, દર્શનાદિનો અપધ્વંસ–જ્ઞાન, દર્શન, ચારિત્રને સ્હાયક કંપન Vibrations નો ધ્વંસ કરનાર એટલે આશાતના. વિદ્યુતના આંચકા (Electric Shock)થી વિશેષ પ્રાણઘાતક આશાતના છે. પૂજ્ય પુરુષોને તો અવિનયી પ્રત્યે પણ અગાધ દયા હોય છે. જેમ વિદ્યુતને વૈરભાવ કે કોપ નથી તેમ સાધુસંતોને વૈરભાવ કે કોપ નથી. વિદ્યુતના નિયમોનો ભંગ કરનારને વિદ્યુત ઘાતક છે તેમ અહિં પણ સૂક્ષ્મ વિદ્યુત–કર્મના નિયમો કાર્ય કરે છે અને આશાતના કરનારને ઘાતક થાય છે.

આજનું વિજ્ઞાન જેને કંપન (Vibrations) કહે છે તે જૈન દૃષ્ટિએ વર્ણવેલી અનેક સ્થૂલ અને સૂક્ષ્મ વર્ગણાઓનું અતિ સ્થૂલ (gross) પરિણામ છે, વર્ગણાઓના આદાન-પ્રદાનથી જીવની ભાવશક્તિ ઉપરની અસરો, જીવ તથા જગતનું પરિવર્તન અને જીવ જગતને અન્યોન્ય સંબંધ (Relation between Microcosm and Macrocosm)નું વિવેચન અહિં અસ્થાને છે. કર્મનું સ્વરૂપ જીવત્વ સાથેનો સંબંધ, પ્રકૃતિ, સ્થિતિ, રસ અને પ્રદેશ બંધની વિવિધતા તથા સત્તા, ઉદય, ઉદીરણા, સંક્રમ વગેરે પારિભાષિક શબ્દો પાછળ રહેલા વૈજ્ઞાનિક સંકેતો મહામૂલ્યવાન છે. આજનું વૈજ્ઞાનિક સંશોધન (Science Research) વેરવિખેર જ્ઞાનના અંશો ભેગા કરે છે. જ્યારે જૈનદર્શન પાસે સમગ્રતા (Totality)ને જોવાની "દૃષ્ટિ" છે. કર્મપ્રકૃતિઓનું, તેની અસરોનું, પરિવર્તનોનું વિસ્તૃત વર્ણન આત્મશક્તિ ફોરવવા (To release Energy of SOUL) માટે અગત્યનું છે.

પ્રો૦ આઈન્સ્ટાઈને સાપેક્ષવાદના સિદ્ધાંત (Principle of Relativity)ની શોધ કરી અને અણુયુગ (Nuclear Age)નું પ્રભાત ઉઘડયું. ત્યાર પછી પદાર્થવિજ્ઞાન (Physics)માં જે નવું સંશોધન થયું તેના પરિણામે અણુ ATOMમાં રહેલી વિરાટ શક્તિ પ્રાપ્ત થઇ એટમબોમ્બ શોધાયો તે પહેલાં કોણ માની શકે કે અણુના હાર્દમાં આવી પ્રચંડ શક્તિ ભરેલી છે!

અને આજના જડવાદના યુગમાં કોણ માની શકે કે આત્મામાં પણ પ્રચંડશક્તિ ભરેલી છે! વૈજ્ઞાનિકોએ પ્રયોગશાળામા વર્ષોના પરિશ્રમને અંતે અણુશક્તિ પ્રાપ્ત કરી છે. અહિં ભારતમાં પૂર્વે મહાન્ આત્મવૈજ્ઞાનિકો થયા છે જેમને સ્વપ્રયત્ને માનવદેહરૂપી પ્રયોગશાળા (Human Laboratory) માં માનવ-મસ્તિષ્કના સાધનથી આત્મશક્તિ (Energy of SOUL) પ્રગટાવી છે. પ્રત્યેક માનવી આત્મશક્તિ પ્રગટાવી શકે તે માટેનો માર્ગ (Process) દર્શાવ્યો છે.

પ્રાચીન ભારતમાં શ્રી જિનેશ્વરોએ આત્મશક્તિ ફોરવવા (Release of SOUL

Energy)નો વૈજ્ઞાનિક પ્રયોગ (Scientific Experiment) પ્રથમ પોતાના ઉપર કર્યો હતો અને લોકકલ્યાણની ભાવનાથી આ માર્ગ પ્રકાશ્યો હતો.

જેમ અણુંમાં સુષુપ્ત શક્તિઓ રહેલી છે, તેમ જીવમાં આત્મત્વની અનંત શક્તિઓ કઇ રીતે રહેલી છે? કાર્મણ વર્ગણાઓથી બદ્ધ આત્મપ્રદેશોને શી રીતે વિશુદ્ધ બનાવવા? અણુના વિસ્ફોટ માટે વપરાતા (Cyclotron) યંત્રની જેમ કાર્મણવર્ગણાના વિસ્ફોટ માટે ધ્યાનાગ્નિનું મહત્ત્વ શું છે?–આ અને આવા પ્રશ્નોના પ્રત્યુત્તર આત્મવૈજ્ઞાનિકોની સ્વાનુભવ નોંધોનું-શાસ્ત્રોનું-સૂક્ષ્મ અવગાહન કરનારને અવશ્ય જડશે.

પરમાણુ, અનંતાણુક સ્કંધ, મહાવર્ગણા વૈસાસિક બંધ, અવધિ, મનઃપર્યવ વગેરે જ્ઞાન, વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, કાર્મણ, શરીરો લેશ્યા, ગતિતત્ત્વ, સ્થિતિ તત્વ, અગુરુલઘુ, ત્રસનાડી, કેવલિસમુદ્ઘાત આદિ જૈનદર્શનના અનેક પારિભાષિક સંકેતોનું સૂક્ષ્મ અધ્યયન કરનાર વિચારકને આજના અણુવિજ્ઞાન (Nuclear Physics), પદાર્થવિજ્ઞાન (Physics), રસાયણ (Chemistry), અતીન્દ્રિય માનસશાસ્ત્ર (Para-Psychology), માનવ દેહ વિજ્ઞાન (Human Anatomy), માનસ વિશ્લેષણ (Psycho-analysis Psychiatry), વિશ્વ-વિજ્ઞાન (Cosmology), ગણિત (Mathematics), પ્રાણવિજ્ઞાન (Biology Micro-biology), પ્રાણ વિદ્યુતવિદ્યા (Bio-Electro-Magnatism), અશ્રાવ્ય ધ્વનિ વિજ્ઞાન (Supursonics Ultrasonics) વગેરે જુદા જુદા વિજ્ઞાનો માટે અતિ ઉપયોગી ચીજ મંત્રો સ્પષ્ટપણે દેખાશે.

સંડેરકનાં પેથડ શાહ

મુનિરાજ શ્રી વિશાળવિજયજી મહારાજ—વલ્લભીપુર

ચાણસ્મા(ગુજરાત)થી પાંચ ગાઉ દૂર રણુજ નામનું ગામ આવેલું છે. રણુજમાં શ્રી અજિતનાથ ભગવાનનું ભવ્ય જિનમંદિર છે. તેમની બાજુમાં શ્રી શાંતિનાથ ભગવંત બિરાજમાન છે. ઉપાશ્રય બે છે. શ્રાવકનાં ઘરો પાંત્રીશ છેઃ પંદર ઘર વીશાશ્રીમાળીનાં, પંદર ઘર દશાશ્રીમાળીનાં અને પાંચ ઘર ભાવસારનાં છે. રણુજથી બે માઇલ દૂર "સંડેરક" નામનું ગામ છે.

"સંડેરક" પૂર્વે પ્રાચીન અને સમૃદ્ધિશાળી નગર હતું. કાળના પ્રભાવથી અત્યારે શ્રાવકના માત્ર છ જ ઘર છે. ચારથી પાંચ ઘરો વ્યાપારાર્થે પરદેશ વસે છે. શ્રી આદીશ્વર ભગવંતનું સુંદર જિનમંદિર છે અને બાજુમાં જ એક નાનો ગભારો કરીને તેમાં શ્રીચંદ્રપ્રભુજીની પ્રતિમા બિરાજમાન કરવામાં આવેલ છે. વિ. સં. ૧૯૫૮ ના જેઠ શુદ ૬ ના રોજ શ્રી ચંદ્રપ્રભુજીની પ્રતિષ્ઠા કરવામાં આવી હતી. શ્રી આદીશ્વર ભગવંતના મંદિરનો જીર્ણોદ્ધાર કરીને તેને ભવ્ય અને આકર્ષક બનાવવામાં આવેલ છે. પહેલાં તો ઘરદેરાસર જેવું હતું. મૂળનાયક પરમાત્માની પ્રતિમા પ્રાચીન, ભવ્ય અને ચિત્તાકર્ષક છે. પ્રતિષ્ઠાસમયે વીશ ઘર વીશાશ્રીમાળી જૈનોનાં અને સાત ઘર ભાવસાર જૈનોનાં હતા.

શ્રી ચંદ્રપ્રભુજીની મૂર્તિ કોઈ યતિજી મહારાજ શંખલપુરથી અહીં લાવેલ, એ પ્રભુજીને કૂવાના ઉપર દેરાસર બંધાવીને બેસાડવામાં આવેલ છે. તે શ્રી ચંદ્રપ્રભુજીની ગાદીની નીચે, નીચે પ્રમાણે લેખ છે.

ए० सं० १३३२ माघ सुदि १५ शुक्रे हारिजयगच्छीय ।

"વસ્તુપાલનું વિદ્યામંડળ અને બીજાં લેખો" નામક પુસ્તકના લેખક શ્રી ભોગીલાલ સાંડેસરા પૃ. ૭૮ પર જણાવે છે કે–'શ્રી મહાવીરસ્વામીની મુર્તિ નીચે સં. ૧૩૩૨ ના માઘ શુદ ૧૫ હારિજયગચ્છીય' આ પ્રમાણે એક શિલાલેખ કોતરેલો છે. પરંતુ વાસ્તવિક રીતે તે લેખ શ્રી મહાવીરસ્વામીની મૂર્તિની નીચે નહીં, પરંતુ મેં ઉપર જણાવ્યું તેમ શ્રી ચંદ્રપ્રભુની ગાદીની નીચે કોતરેલો છે. વળી 'સંડેરક' નું આ જિનમંદિર મહાવીરસ્વામીનું જણાવ્યું તેમ નથી, પરંતુ આ જિનમંદિર શ્રી આદિનાથનું છે. તેને માટે જુઓ "જૈન તીર્થ સર્વસંગ્રહ" ભાગ ૧ લો, ખંડ ૧ લો, પૃષ્ઠ ૧૬૫–૧૬૬.

માંડવગઢના મંત્રીશ્વર પેથડ શાહ જેવા જ ધર્મકાર્ય કરનાર અને દાનવીર તેમજ ધર્મવીર બીજા પેથડ શાહ આ "સંડેરક" ના વતની હતા. તેમણે કાઢેલા શ્રી શત્રુંજય, ગિર-

નારના ભવ્ય સંઘમાં સાથે ગયેલ કોઇ મુનિરાજે તેમના ધર્મકાર્યોની અનુમોદના માટે "**પેથડરાસ**" નામનો ગ્રંથ રચ્યો છે. આ રાસ વડોદરાની સેન્ટ્રલ લાઇબ્રેરી તરફથી પ્રકાશિત થયેલ છે, અને તેનું સંપાદન શ્રી ચીમનલાલ દલાલે કરેલ છે. પ્રાચીન ગૂર્જર કાવ્યસંગ્રહ ભાગ ૧ લાના છેડે દશમા પરિશિષ્ટ તરીકે આ રાસ અપૂર્ણ પ્રગટ થયેલ હોવાથી રાસકર્તાનું નામ અને રચના સંવત્ વિગેરે હકીકત ઉપલબ્ધ થઇ શકતા નથી. વિશેષ માહિતી માટે જુઓ 'અર્બુદ પ્રાચીન જૈન લેખસંદોહ' (આબૂ ભાગ બીજો) પૃ. ૪૫૬

પેથડ શાહના વંશમાં થયેલા શાહ પર્વતે પણ જ્ઞાનભંડાર લખાવતાં વિ. સં. ૧૫૭૧ માં શ્રીનિશીથચૂર્ણિની પ્રતિ લખાવી છે. તદુપરાંત તે જ વર્ષમાં શ્રી અનુયોગદ્વારસૂત્ર વૃત્તિ અને શ્રી ઓઘનિર્યુક્તિનો પ્રત લખાવી હતી તેની નીચે પેથડ શાહના વંશની વિસ્તૃત પ્રશસ્તિ આપવામાં આવી છે. આ પ્રશસ્તિ "પુરાતત્ત્વ" ત્રૈમાસિક, વર્ષ ૧ લું, અંક ૧ લો, પૃ. ૬૧-૬૨ "એક ઐતિહાસિક જૈન પ્રશસ્તિ" એ શીર્ષકથી ઇતિહાસતત્ત્વવેત્તા આગમપ્રભાકર મુનિરાજ શ્રી પુન્યવિજયજી મહારાજે પ્રસિદ્ધ કરાવી છે. શ્રી ઓઘનિર્યુક્તિ તેમજ શ્રી અનુયોગદ્વાર સૂત્રની વૃત્તિની પ્રશસ્તિ "શ્રી પ્રશસ્તિ-સંગ્રહ" ભાગ બીજો, પૃષ્ઠ ૭૨ તથા ૭૬ પર આપવામાં આવી છે. આ પ્રશસ્તિસંગ્રહના સંપાદક છે શ્રી અમૃતલાલ મગનલાલ. શ્રી અનુયોગદ્વારસૂત્રની વૃત્તિ પં. શ્રી પ્રતાપવિજયજી જ્ઞાનભંડાર-લુવારની પોળ-અમદાવાદ અને શ્રી ઓઘનિર્યુક્તિની પ્રત શ્રી જૈન વિદ્યાશાળા જ્ઞાનભંડાર-અમદાવાદમાં છે.

આ અને બીજાં સાધનોદ્વારા જાણવા મળે છે કે-પેથડ શાહ તે શેઠ સુમતિના પુત્ર આભૂના પુત્ર આષડના પુત્ર વર્ધમાનના પુત્ર ચંદ્રસિંહના પુત્ર હતો. પેથડશાહ "સંડેરકપુર"-ના રહેવાસી હતા. તેમની જ્ઞાતિ પોરવાડ હતી તેમજ તેમને (૧) નરસિંહ, (૨) રત્નસિંહ (૩) ચોથમલ, (૪) મુંજાલ (૫) વિક્રમસિંહ અને (૬) ધર્મણ નામના છ લઘુ બંધુઓ હતા. આ પેથડ શાહે કરેલાં અનેક ધર્મકૃત્યોમાં મુખ્ય મુખ્ય નીચે પ્રમાણે છે—

સંડેરકપુરમાં ભવ્ય જિનમંદિર બંધાવ્યું. વીજાપુર (ઉત્તર ગુજરાત)માં ધાતુની પ્રતિમા અને સુવર્ણના તોરણ યુકત મનોહર જિનમંદિર કરાવ્યું. પોતાના ગૃહમંદિર માટે શ્રી મહાવીરસ્વામીની મનોહર મૂર્તિ બનાવરાવી, પાછળથી તે જ મૂર્તિ વિ. સં. ૧૩૬૦ માં પોતાના જ ગામના મોટા જિનમંદિરમાં પધરાવી. તે સમયે ગુજરાતના મહારાજા કર્ણદેવ (કરણ ઘેલો) નાની ઉમ્મરના હતા. શ્રી શત્રુંજય, શ્રી ગિરનાર, આદિ તીર્થોના સંઘ કાઢી સંઘપતિ થઈને છ વખત યાત્રાઓ કરી હતી. વિ. સં. ૧૩૭૭ ના ભયંકર દુષ્કાળ (ત્રિદુકાળીયા-ત્રણ વર્ષનો ઉપરાઉપર પડેલ દુષ્કાળ) માં અન્ન તથા વસ્ત્રાદિકનું દાન કર્યું હતું. શ્રી અનુયોગદ્વારસૂત્રની વૃત્તિ તેમજ શ્રી ઓઘનિર્યુક્તિસૂત્રની વૃત્તિ પ્રશસ્તિમાં ત્રિદુષ્કાળ સંબંધી ઉલ્લેખ નથી, પરન્તુ શ્રી નિશીથચૂર્ણીની પ્રશસ્તિમાં લખેલ છે કે—

अष्टषष्ठादि वर्षे त्रितयमनु महाभीषणे संप्रवृत्ते दुर्भिक्षे लोकलक्षक्षय कृतिनितरां कल्पकालोपमाने

—જુઓ શ્રી જૈન શ્વેતાંબર કોન્ફરન્સ હેરોલ્ડ, પુ. ૯, અંક ૮-૯

શ્રી સત્યસૂરિ મહારાજના ઉપદેશથી ચાર જ્ઞાનભંડારો કરાવ્યા. આબૂ ઉપર ભીમાશાહે પોતાના જિનમંદિર માટે તૈયાર કરાવવા માંડેલ શ્રી આદીશ્વર ભગવંતની ધાતુમય મોટી મૂર્તિ અધૂરી રહી જવાથી પેથડ શાહે પોતે તે મૂર્તિની સાંધો વગેરે સુવર્ણથી દૃઢ કરાવી હતી. તેમજ ઘણું દ્રવ્ય ખર્ચીને "લૂણગવસહિ" ના મંદિરનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો હતો. પ્રતિષ્ઠાસમયે પોતે મોટો સંઘ કાઢીને આબૂ આવ્યા હતા. તેમને પોતાના નામની-યશ કે કીર્તિની પરવા ન હતી. તેમણે જીર્ણ થયેલા દરેક ભાગો સમરાવ્યા હતા, દેરાસર તેમજ દેરીઓના સ્થંભ વગેરેનું સમારકામ કરાવ્યું તથા 'દરેક પ્રતિમાઓને પોતે પ્રતિષ્ઠિત કરી. આ પ્રમાણે ઘણું દ્રવ્ય ખરચ્યું છતાં અપવાદ તરીકે એક બે સ્થળે જ પોતાનું નામ લેખમાં લખાવવા સિવાય કોઇપણ સ્થળે ઉલ્લેખ કરવા દીધો ન હતો. આ ઉપરથી જણાય છે કે પેથડ શાહને યશ-કીર્તિ કે નામના કરતાં પણ આત્માનું શ્રેય કરવાની ભાવના સવિશેષ હતી.

"લૂણગવસહી" ના દેરાસરમા નવ ચોકીના અગ્નિખૂણા તરફના છેલ્લા સ્થંભમાં નીચે પ્રમાણે એક શ્લોક કોતરેલો માલૂમ પડે છે.

आचन्द्रार्कं नन्दतादेष संघाधीशः श्रीमान् पेथडः संघयुक्तः ।
जीर्णोद्धारं वस्तुपालस्य चैत्ये तेने येनेहार्बुदाद्रौ स्वसारैः ॥ १ ॥

— જુઓ શ્રી અર્બુદ પ્રાચીન જૈન લેખસંદોહ (આબુ ભા. ૨) લેખાંક ૩૮૨

ઉપરના લેખનો ભાવાર્થ એ છે કે—સંઘપતિ પેથડ સંઘ સહિત યાવચ્ચંદ્રદિવાકરો જીવિત-અમર રહો, જેણે પોતાના દ્રવ્યવડે આબૂ પર્વત પર શ્રી વસ્તુપાલના આ જિન-ચૈત્યનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો.

જે બીજો લેખ છે તે આ પ્રમાણે છે—

तीर्थद्वयेऽपि भग्नेऽस्मिन् दैवान्मलेच्छैः प्रचक्रतुः । अस्योद्धारं द्वौ शकाब्ये वह्निवेदार्कसमिते १२४३ तत्राद्यतीर्थस्य उद्धर्त्ता लल्लो महणसिंहभूः पीथडस्त्वितरस्याभूद् व्यवहृच्चंद्रसिंहभूः ।

— વિવિધ તીર્થકલ્પ, અર્બુદાદ્રિકલ્પઃ, શ્લોક ૪૮-૪૯

મોંઢેરા કરતાં પણ સંડેર ગામ પ્રાચીન છે, કારણ કે સંડેરનું મંદિર શ્રી મહાવીર સ્વામીનું હતું, આ જિનમંદિર માટે આર્કીયોલોજીકલ સર્વે ઑફ ઇન્ડીયાના સંશોધકોનું મંતવ્ય વજનદાર ગણીએ તો "સંડેર" ગામનો સમય મોઢેરા કરતાં ય પ્રાચીન ગણી શકાય. "સંડેર" વિષે બારમી શતાબ્દિનો એક લેખ મળી આવ્યો છે. જો કે અત્યારે "સંડેર" નાનું ગામ થઈ ગયું છે પણ પૂર્વે તે વિશાળ નગર હોવું જોઇએ. સિદ્ધરાજ જયસિંહના પિતા કર્ણદેવ સોલંકીનું વિ. સં. ૧૧૪૮ ની સાલનું તામ્રપત્ર સૂણુક ગામમાંથી મળી આવ્યું છે. સૂણુકનું તળાવ ચાલુ રાખવા માટે પાસેની ડાભી ગામની કેટલીક જમીન દાનમાં અપાયાનું તેમાં જણાવવામાં આવેલ છે. દાનમાં અપાયેલ જમીનના ખૂંટ વિગેરે લખતા એ તામ્રપત્રમાં જણાવવામાં આવ્યું છે કે—

अस्याश्च भूमेः पूर्वस्यां दिशि भट्टारिका क्षेत्रं । तथा त्राह्मरुद्र । नेहां लालाक्षेत्रं च । दक्षिणस्यां महिवराम क्षेत्रं । पश्चिमायां संडेरग्रामसीमा । इति चतुरा घाटोपलक्षितां भूमि...

સૂણાક ગામ સંડેરથી ત્રણ ગાઉ ઈશાન ખૂણામાં આવેલું છે. આજે સંડેર અને સૂણાક ગામની સીમ, ઉપર્યુક્ત તામ્રપત્રમાં જણાવ્યું છે તે પ્રમાણે એકબીજાને સ્પર્શ કરતી નથી. અત્યારે તો વચ્ચે-વચ્ચે બીજાં નાનાં નાનાં ગામો વસેલાં છે. "સંડેરક" ની આસ-પાસ–આજુબાજુમાં ઘણે દૂર–દૂર સુધી જૂના પાયા નજરે પડે છે એટલે તે પરથી પણ પૂરવાર થઈ શકે છે કે–એક સમયે "સંડેરક" નો વિસ્તાર ઘણો વિશાળ હશે.

"વસ્તુપાલનું વિદ્યામંડળ અને બીજા લેખો" નામના પુસ્તકમાં પૃ. ૭૧ પર ઉલ્લેખ છે કે–મહામહોપાધ્યાય શ્રીમાન્ યશોવિજયજી મહારાજશ્રીની પ્રેરણાથી શ્રી જ્ઞાનવિમલસૂરિજીએ વિ. સં. ૧૭૪૯માં આ ' સંડેરક" ગામમાં ક્રિયોદ્ધાર કરી સંવેગી પક્ષ સ્વીકાર્યો હતો.

પેથડશાહના પુત્રનું નામ પદ્મ હતું. તેનો પુત્ર લાડણ, તેનો પુત્ર માલ્હણસિંહ,[1] તેનો પુત્ર મંડલિક નામનો હતો.

આ મંડલિક ઘણો ઉદાર હતો. ન્યાયથી ઉપાર્જન કરેલ દ્રવ્યથી તેણે શ્રી ગિરનાર તેમજ આબૂના જિનાલયોનો જીર્ણોદ્ધાર કરાવ્યો હતો. અનેક ગામોમાં ધર્મશાળાઓ બંધાવી હતી. તે રાજાનો પણ માનીતો હતો અને વિ. સં. ૧૪૬૮ માં પડેલા ભયંકર દુષ્કાળ સમયે તેણે લોકોને મફત અનાજ આપ્યું હતું. વિ. સં. ૧૪૭૭ માં શ્રી શત્રુંજયની યાત્રા કરી હતી. શ્રી જયાનંદસૂરિજીના ઉપદેશથી પુસ્તકો લખાવી, સંઘપૂજા વિગેરે કૃત્યો કર્યાં હતા.

મંડલિકને વિજિત નામનો પુત્ર હતો. તેને પર્વત, ડુંગર અને નર્મદ એમ ત્રણ પુત્રો હતા. ડુંગરે પોતે તૈયાર કરાવેલ પ્રતિમાની પ્રતિષ્ઠા કરાવીને વિ. સં. ૧૫૫૯માં પ્રતિષ્ઠા–મહોત્સવ કર્યો હતો. વિ. સં. ૧૫૬૦માં તેણે શ્રી જીરાવલા તીર્થ તેમજ શ્રી આબૂ વિગેરેના તીર્થની યાત્રા કરી હતી. ગંધાર નગરના દરેક ઉપાશ્રયમાં તેમણે કલ્પસૂત્રની પ્રતિઓ અર્પણ કરી હતી. શ્રી વિવેકરત્નસૂરિજીના ઉપદેશથી તેમણે ચોથું બ્રહ્મચર્ય વ્રત ગ્રહણ કર્યું હતું.

આ સંબંધી વિશેષ માહિતી મેળવનારે પ્રશસ્તિ તેમજ પેથડરાસ, જે ગાયકવાડ ઓરિયેન્ટલ સીરીઝમાં છપાયેલ પ્રાચીન ગૂર્જરકાવ્યના પરિશિષ્ટ તરીકે છપાયેલ છે તે જોવો.

આ સંડેરક પુરાણું હોવાનાં ચિહ્નો જોવાય છે આસપાસની ભૂમિ ઉપર પ્રાચીન શિલા-કૃતિઓ, કોરણીભર્યા પથ્થરો જ્યાં ત્યાં પડેલા મળી આવે છે. મકાનોની દીવાલોમાં પણ ચણી લીધેલા એવા પથ્થરો પણ ક્યાંય દેખાય છે. મકાનોના પાયા વગેરે દૂર દૂર સુધી નજરે પડે છે. તે વખતમાં જૈનોની પણ આબાદી હતી. જુઓ સંવત ૧૩૫૩માં વિજાપુરમાં પૂર્વાદ પેથડે લખાવેલી ભગવતીસૂત્રની પ્રશસ્તિમાં અહિના મંદિર વિષે આ પ્રકારે

१–माल्हणसिंह । सपा० दौलतसिंह लोढ़ा.

સૂચન કર્યું છે. " चोऽचीकरन्मण्डपमात्मपुण्यवल्लीमिवारोहयितुं सुकर्मा । ग्रामे च संडेरक नाम्नि वीर चैत्येऽजनि श्रेष्ठिवरः स मोषू ? " સત્કર્મ શીલ મોખૂ નામે શ્રેષ્ઠી સંડેરક ગામમાં ગયો, જેણે આ ગામના વીર ચૈત્યમાં પોતાના પુણ્યરૂપી વેલડી પર ચડવા માટે મંડપ બંધાવ્યો.

આ મોખૂ કોણ હતો ? પેથડશાહનાં દાદા વર્ધમાન શાહ તેનાં ભાઈ હતા. જુઓ એ " પ્રશસ્તિ " એટલે મહાવીરસ્વામીનું દેરાસર મોખૂ શેઠનાં વખતનું હોવું જોઈએ. આ ઉલ્લેખથી ૧૩૫૩ પહેલાં વીર પરમાત્માનું દેરાસર હતું, એ ચોક્કસ થાય છે. સં. ૧૫૭૧માં શ્રેષ્ઠી પરવત અને કાન્હાએ લખાવેલી અનેક પ્રતિઓમાં તેમના પૂર્વજોની વંશાવલી અને તેમનાં સત્કૃત્યોની નોંધ ચોત્રીશ શ્લોકની પ્રશસ્તિમાં આપી છે. તે પ્રશસ્તિનો સાર લેખની અંતે આપીએ છીએ ત્યાથી જોઇ લેવું. અને વિશિષ્ટ ઘટનાઓની સાલવારી પણ તેમાં નોંધી છે, તેમાં અહિંના મંદિર વિષેનો ઉલ્લેખ પણ કર્યો છે.

પ્રશસ્તિનો સાર.

(૧) શ્રી વર્ધમાનસ્વામીનાં મંદિરથી અલંકૃત સંડેરપુર (સાંડેરા)માં પ્રાગવાટ વંશીય (પૌરવાડ) જ્ઞાતિય સુમતિશાહનો યશસ્વી અને રાજમાન્ય આભૂ નામનો પુત્ર હતો. તેનો પુત્ર શ્રેષ્ઠી આસડ હતો.

(૨) આસડનો ન્યાયવાન, વિનયી, અને સજ્જન માન્ય મોષ(મોક્ષ)નામનો પુત્ર હતો, અને મોષનો ભાઇ વર્ધમાન હતો. તેને [૧]ચંડસિંહ નામે સદાચારી પુત્ર હતો. ચંડસિંહને સાત પુત્રો હતા. તેમાં સહુથી મોટો પેથડ હતો.

(૩) પેથડને ક્રમથી છ નાના ભાઇ હતાં–નરસિંહ, રત્નસિંહ, ચતુર્થમલ્લ (ચોથમલ), મુંજાલ, વિક્રમસિંહ અને ધર્મણ.[૨]

(૪) પેથડે અણુહિલપાટક પતનની પાસે આવેલ સંડેરકમાં પોતાના ધનવડે પોતાની કુલદેવતા અને વીરસેતઇ, નામનાં ક્ષેત્રપાળથી યોજાએલ અથવા રક્ષિત મોટું ચૈત્ય–મંદિર કરાવ્યું.

(૫) આ શ્લોકનો આશય સમજાતો નથી.

(૬) પેથડે વીજાપુરમાં સ્વર્ણમય પ્રતિમાલંકૃત તેમજ તોરણથી યુક્ત એક મંદિર કરાવ્યું.

(૭) અને આબુગિરિમાં મહામાત્ય શ્રી વસ્તુપાળકારિત નેમિનાથના મંદિરનો અપાર સંસારસમુદ્રમાં ડુબતા પોતાના આત્માનાં ઉદ્ધારની જેમ ઉદ્ધાર કરાવ્યો.

१–मोख के यशोनाग, वाग्धन, प्रह्लादन और जाल्हण चार पुत्र थे। चाण्डसिंह वाग्धन का पुत्र था।

२–पेथड के छोटे भाई रत्नसिंह, नरसिंह, चतुर्थमल्ल, चाहड़ (धर्मण), विक्रमसिंह, मुंजाल इस क्रमसे थे। देखो प्राग्वाट इतिहास पृ० २४६–४७ संपा० दौलतसिंह लोढा।

(૮) તેમજ પોતાના ગોત્રમાં (?) થઇ ગયેલ ભીમશાહની કરાવતાં અપૂર્ણ રહેલ પિત્તલમય આધાત્ય–આદીશ્વરની પ્રતિમાને સ્વરણથી દરસંદીવાળી[1] કરી (૧).

(૯–૧૦–૧૧) તથા ચરમ જિનવરની–મહાવીરની મનોહર મૂર્તિને તૈયાર કરાવી [2]ઘરમંદિરમાં (પરોણારૂપે) સ્થાપન કરી અને તે મૂર્તિને સંવત્ ૧૩૬૦ માં કે જ્યારે લઘુવયસ્ક મહારાજા કર્ણદેવ (કરણઘેલો) રાજ્ય ચલાવતા હતા તે વખતે શુભવિધિના સાધનમાં સાવધાન પેથડે છ ભાઇઓની સાથે મહોત્સવપૂર્વક નગરના મોટા મંદિરમા શુભ મુહુર્તે [3]સ્થાપન કર્યા. બાદ સિદ્ધાચળમાં આદીશ્વરને અને ગિરનારમાં નેમિનાથને ભેટી પોતાનાં મનુષ્યજન્મને પવિત્ર કર્યો. તદનંતર બીજી વખત સંઘપતિપણું સ્વીકારી સંઘની સાથે છ યાત્રાઓ કરી.

(૧૨) સંવત ૧૩૭૭ના દુષ્કાળ વખતે પીડાતાં અનેક જનોને અન્નાદિકના દાનથી સુખી કર્યાં.

(૧૩–૧૪–૧૫) એક વખતે ધર્માત્મા પેથડે ગુરુ પાસે જિનાગમ શ્રવણનો ઘણો લાભ જાણી પોતાને તે સંભળાવવા માટે ગુરુને પ્રાર્થના કરી. ગુરુ તેને સંભળાવવા માટે પ્રવૃત્ત થયા ત્યારે તેણે તેમા આવતા વીર ગૌયમના નામની ક્રમશ: સ્વર્ણ–રૂપ્ય નાણાથી પૂજા કરી. તે પૂજાથી એકઠા થયેલ દ્રવ્યવડે શ્રી મલયસૂરિના વચનથી તેણે ચાર જ્ઞાનભંડાર લખાવ્યાં. તેમજ નવક્ષેત્રમાં પણ અન્ય ધનનો વ્યય કર્યો.

(૧૬) પેથડનો પુત્ર પદ્મ, તેનો લાડણ, લાડણનો આલ્હણસિંહ. અને તેનો માંડલિક નામનો પુત્ર હતો.

(૧૭) માડલિકે ગિરનાર, આબૂ આદિ તીર્થોમાં ચૈત્યોનો ઉદ્ધાર કરાવ્યો. તથા પોતાના ન્યાયોપાર્જીત ધનથી અનેક ગામોમાં ધર્મશાળાઓ કરાવી. તેમજ તે અનેક રાજાઓનો માનીતો હતો.

(૧૮) વિક્રમ સંવત ૧૪૬૮ના દુકાળ[4] વખતે લોકોને અન્નાદિ આપી દુકાળને એકી સાથે જીતી લીધો.

નોંધ:—આ પ્રતિમાઓ પચધાતુમય હોય છે. પણ તેમા સ્વર્ણનો ભાગ વધારે હોવાથી સ્વર્ણમય કહેવાય છે.

(૧) આ પ્રતિમાનો ઉદ્ધાર આબુજીમા કરાવ્યો હોય. (૨) ધનાઢ્ય ગૃહસ્થોએ પોતાના ઘરમા પૂજાને માટે રાખેલ જિનપ્રતિમા છે સામગ્રી જ્યા રહે તેનું નામ ઘરમંદિર ગૃહપ્રાસાદ છે. (૩) આ પ્રતિમા સ્થાપન વિધિ સાડેરમા સંભવે છે.—

નોંધ:—(૪) આ દુષ્કાળ તેમજ તે પછીના બે વર્ષના દુષ્કાળની સૂચના અન્ય પ્રશસ્તિમા પણ વિદ્યમાન છે. अष्टायष्टादिवर्षत्रितयमनु महाभीषणे संप्रवत्ते दुर्भिक्षे लोकलक्षक्षयकृति नितरां कल्पकालोपमाने. ।" ઈત્યાદિ જુઓ, જૈન કોન્ફરન્સ હેરોલ્ડ પૃ. ૯ અંક ૮–૯ માં શ્રીમાન જિનવિજયજી સંપાદિત જ્ઞાતાસૂત્રના અંતમા ઉલ્લિખીત પ્રશસ્તિ.

(૧૯) તથા સંવત ૧૪૭૭માં શત્રુંજય આદી મહાતીર્થોની યાત્રા કરી.

(૨૦) તેમજ જયાનંદસૂરિનાં ઉપદેશથી પુસ્તકલેખન, સંઘપૂજા, આદિ વિવિધ ધર્મકૃત્યો તેણે કર્યાં.

(૨૧) માંડલિકનો વ્યવહાર[1] વિજીત નામનો પુત્ર હતો. તેને વરમણકાઇ નામે સ્ત્રી હતી.[2]

(૨૨) તેની હસ્તીરૂપ માનસમાં હંસ સમાન પર્વત, ડુંગર અને નર્મદ નામનાં ત્રણ પુત્રો હતાં.

(૨૩) તેમાં પર્વત સહસ્સવીર (પુત્ર) તથા પોઇઆ (ભાર્યા) આદિ કુટુંબની સાથે વંશની શોભા વધારનાર હતો.

(૨૪) અને બીજો ડુંગર જેને મંગાદેવી ભાર્યા અને કાન્હા નામનો પુત્ર હતો તે વંશની શોભા વધારનાર હતો[3]

(૨૫) પર્વત-ડુંગરે (બે ભાઇઓએ) પોતે તૈયાર કરાવેલ મૂર્તિને પ્રતિષ્ઠા (અંજન[4] શલાકા) કરાવીને સંવત ૧૫૫૯માં સ્થાપના મહોત્સવ કર્યો.

(૨૬) સં. ૧૫૬૦માં તેમણે જીરાવલ્લી (જીરાવલા) પાર્શ્વનાથ, અર્બુદ, આદિ તીર્થોની યાત્રા કરી.

(૨૭-૨૮) તદનંતર ગંધાર બંદરમાં[5] તેમણે દરેક શાળામાં-ઉપાશ્રયમાં ઝેલપત્ર (?). યુગલદિની સાથે કલ્પસૂત્રની પ્રતિઓ અર્પણ કરી. તેમજ સંઘનો સત્કાર કરી નગરનિવાસી વણિકજનોને રૂપાનાણાની સાથે સાકરનાં પડિકા અપાવ્યા.

(૨૯) ઈત્યાદી સુકૃતો કર્યા પછી આગમગચ્છીય શ્રી વિવેકરત્નનાં ઉપદેશથી ચતુર્થ વ્રત (બ્રહ્મચર્ય) પ્રત્યે આદર કર્યો.

---

(૧) ગાંધી, મોદી આદિની જેમ ધંધાથી રૂઢ થયેલ શબ્દ હોવો જોઇએ.

(२) सं० मंडलिक का विजित पौत्र था जिसकी स्त्री मणकाई थी ।

(३) मंगादेवी तो पुत्री थी । पत्नी का नाम लीलादेवी था ।

- संपा०-दौलतसिंह लोढ़ा

(૪) પ્રતિમામાં દેવતયારોપણ નિમિત્તે કરાતા વિધાનવિશેષને અંજનશલાકા કહે છે

(૫) આ ગંધાર ગામ, ભરૂચ જીલ્લાના જંબુસર તાલુકામા આવેલું છે. એની આસપાસના પ્રદેશમા એ પણ એક તીર્થસ્થાન જેવું ગણાય છે. ઉપર વર્ણવામા આવેલું કાંવી તીર્થ અને આ તીર્થ "કાવી ગંધાર" આમ સાથે જોડકા રૂપે જ કહેવાય છે આ ગંધાર ગામ તે સત્તરમાં સૈકાનું પ્રસિદ્ધ ગંધાર બંદર જ છે જેનો ઉલ્લેખ हीरसौभाग्य, विजयप्रशस्ति, विजयदेवमहात्म्य અને हीरविजयसूरिरास વિગેરે ગ્રંથોમા વારંવાર આવે છે અકબર બાદશાહ તરફથી જ્યારે સંવત ૧૬૩૮ની સાલમા હીરવિજયસૂરિને આગ્રા તરફ આવવાનું આવ્યું હતું તે વખતે એ આચાર્યવર્ય આજ ગામમાં ચાતુર્માસ રહેલાં હતા.

(૩૦-૩૧) જિનધર્મમાં દૃઢ શ્રદ્ધાવાળા, પવિત્ર ચેતસ્ક અને વિવેકરત્નને આચાર્ય પદ અપાવવા માટે ઉદ્યમવાળા પર્વત અને કાન્હે (કાકા ભત્રીજા) મહોત્સવમાં ભિન્ન ભિન્ન સ્થળોએથી આવેલ સાધર્મિકોને રેશમી-વસ્ત્રાદિના દાનપૂર્વક તેમજ સમસ્ત સાધુ સમુદાયનાં સન્માનપૂર્વક મહાન મહોત્સવ કર્યો.

(૩૨-૩૩) આગમગચ્છનાયક શ્રી જયાનંદસૂરિના ક્રમથી થયેલ શ્રી વિવેકરત્નપ્રભસૂરીના ઉપદેશથી સંવત ૧૫૭૧માં સમસ્ત આગમ લખાવતાં સુકૃલેષી વ્યવહાર પર્વત-કાન્હીએ (નિશીથચૂર્ણિ પુસ્તક લખાવ્યુ છે). સંવત ૧૬૦૬માં હિરવિજયસૂરિશ્વરના શિષ્યોએ (લખાવ્યુ.)

કનકવિજય, રામવિજય, સંવત, ૧૭૩૫નાં અશાઢ વદિ ૯ ને સોમવારે ખંભાતમાં માણેક ચોકમાં ખારવાડામાં (આ પુસ્તક) લખ્યુ છે
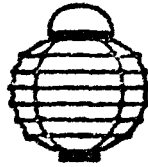
પૂ૦ આદ્યગણધર શ્રી ગૌતમસ્વામીજીના
અપ્રસિદ્ધપ્રાય પાંચ પૂર્વભવો

પૂ. તપસ્વી શ્રી ધર્મસાગરગણિવર ચરણોપાસક મુનિ અભયસાગર.

[ચાણસ્મા (ઉ. ગુ.) ના શ્રી નિત્ય-વિનય-જીવન-મણિવિજય જૈનશાસ્ત્રસંગ્રહમાંની હસ્તલિખિત પ્રતના આધારે]

જગતમાં અજ્ઞાનમૂઢ પ્રાણીઓ વિવિધ કર્મોના વિપાકને અનુભવતા જન્મ-મરણના ચક્રમાં અટવાઈ રહેલા છે, તેમજ ઐહિક પદાર્થોની પ્રાપ્તિ-અપ્રાપ્તિમાં નિમિત્તરૂપે થઈ પડતા બાહ્ય પદાર્થો ઉપર રાગદ્વેષની ભાવનાથી ભાવિત બની રહેલા છે, વાસ્તવિક રીતે " પૂર્વસંચિત કર્મોની શુભાશુભતા સાંસારિક પ્રાણીઓની તમામ સાંસારિક પરિસ્થિતિ માટે જવાબદાર હોય છે " આ સનાતન સત્ય પણ વિવેકચક્ષુની ગેરહાજરી કે મંદતાને લીધે સમજી ન શકવાને લીધે જગતના પ્રાણીયો બાહ્ય નિમિત્તોને જ પોતાની સાંસારિક પરિસ્થિતિના સર્જક માની તેના તરફ શુભાશુભ અધ્યવસાયો કરી જાણ્યે-અજાણ્યે પણ પોતાના ભાવી જીવનને સ્વતઃ દુઃખમય બનાવી દે છે.

આવી પરિસ્થિતિમાં નિષ્કારણ કરુણાના ભંડાર પરમોપકારી શાસ્ત્રકાર ભગવંતો સંસારી જીવોને કર્મની અટપટી ગૂંચો સહેલાઇથી સમજાઈ જાય, તે હિસાબે આ જન્મમાં બનતા તમામ બનાવોની સહેતુકતા દર્શાવનારી પૂર્વજન્મોની શૃંખલાબદ્ધ રસપૂર્ણ માહિતી જગતના જીવોની દુઃખી દશાનું સાચું નિદાન સ્પષ્ટરીતે જણાવતા હોય છે.

વર્ત્તમાનકાલે કંઈ પણ સારું કે ખોટું નહિં. આચરનારને પણ આ જન્મમાં સુખ કે દુઃખ અનુભવવા પડતા જોઇને ઘણીવાર શ્રદ્ધાલુ ભાવુકો પણ મુગ્ધતાને કારણે સંશયાવર્ત્તમાં પડી જઇ શ્રદ્ધાને શિથિલ બનાવી દેતા હોય છે.

એટલા જ માટે દરેક મહાપુરુષોના જીવનમાં પ્રજ્ઞાતીત રીતે આપણી સમજશક્તિ અને વિચારશક્તિને પણ ઘડીભર થંભાવી દે તેવા ઝડપી ક્રમબદ્ધ વિકાસના પ્રસંગો નિહાળી માત્ર " એ તો મહાપુરુષ છે કે હતા " એમ કહી હાથ જોડીને વાચિક અનુમોદનામાં જ મહાપુરુષોના ચરિત્રનું શ્રવણ સીમિત ન થઇ રહે તે આશયથી શાસ્ત્રોમાં પ્રત્યેક મહાપુરુષોના પૂર્વજન્મપ્રસંગો આજે પણ આપણને યથાશક્ય રીતે ઘણા ઉપલબ્ધ થાય છે.

આ મુજબ શાસનપતિ શ્રમણભગવાન્ શ્રી મહાવીરદેવપ્રભુના આદ્યગણધર પૂ. શ્રી ગૌતમસ્વામીજી ભગવંતના જીવનમાં પચાશ વર્ષની પાકી ઉમરે પણ ચૌદ વિદ્યાના

પારગામી મહાધુરંધર વિદ્વાન્ અને સર્વજ્ઞપણાના અધમ અભિમાનવાળી દશામાં વર્ત્તવા છતાં જે ઝડપી આત્મવિકાસ થયો અને જગત આશ્ચર્યમાં ગરક બની જાય તે રીતે પ્રભુમહાવીર ભગવંતના ચરણોમાં સર્વથા ત્રિવિધે ત્રિવિધે અદ્ભુત આત્મસમર્પણ કરી શક્યા વગેરે બાબતો પર કંઈક પ્રકાશ પાથરી શકે તેવા તેઓશ્રીના પાંચ પૂર્વભવોની અત્યદ્ભુત અપ્રસિદ્ધપ્રાય વિગત જૈનસાહિત્યના અગાધ સમુદ્રમાંથી "जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ" ની જેમ ગુરુગમપૂર્વક અવગાહન કરનારને સુલભ્ય અનેક શ્રુતરત્નોમાંથી મેળવીને મુમુક્ષુયોના આત્મહિતાર્થે પ્રસિદ્ધ કરવાનો સુઅવસર દેવગુરુકૃપાથી મને સાંપડ્યો છે કે જેને હું મારા અહોભાગ્ય માનું છું.

જૈન આગમોના અભ્યાસીને સુવિદિત છે કે—પંચમાંગ શ્રી વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ (શ્રી ભગવતીજી) સૂત્ર (બીજું શતક, પ્રથમ ઉદ્દેશો)માં શ્રી સ્કંદક પરિવ્રાજકનો વિસ્તૃત અધિકાર છે, તેમાં આવતી વિગતમાંથી ચાલુ લખાણને ઉપયોગી માહિતી ટૂંકમાં નીચે મુજબ છે—

"શાસનપતિ શ્રી મહાવીરપ્રભુ ગ્રામાનુગ્રામ વિચરતા કયંગલાનગરીની બહાર છત્ર-પલાશ ચૈત્યમાં આવી સમોસરે છે, તે અવસરે કયંગલા નગરીની પાસે રહેલી શ્રાવસ્તી નગરીમાં ગર્દભાલી પરિવ્રાજકનો શિષ્ય અનેક શાસ્ત્રોના જાણકાર સ્કંદક પરિવ્રાજકાચાર્ય પોતાના મતનો પ્રચાર કરે છે.

એકદા પિંગલ નામના ભ. મહાવીર પ્રભુના સાધુએ ચાર પ્રશ્નો પૂછ્યા કે—(૧) લોક સાંત છે કે અનંત? (૨) જીવ સાંત છે કે અનંત? (૩) સિદ્ધિ (મોક્ષ) સાંત છે કે અનંત? (૪) ક્યા મરણે મર્યાથી જીવ (નો સંસાર) વધે કે ઘટે?" સ્કંદક આ પ્રશ્નોના મર્મને ન પામી શકવાથી જવાબ ન આપી શક્યો. પિંગલે ફરી બે ત્રણવાર પૂછ્યું, પણ સ્કંદક ચૂપ રહ્યો. એટલામાં લોકોના મુખેથી સાંભળ્યું કે—"કયંગલામાં ભગવાન્ મહાવીર આવેલ છે, તેઓ સર્વજ્ઞ છે, દરેક પ્રશ્નોના ખુલાસા કરવા સમર્થ છે" એટલે સ્કંદક પરિવ્રાજક પોતાના મનનું સમાધાન કરવા જિજ્ઞાસા અને સરળતાના સુમેળથી કયંગલાનગરી તરફ ચાલ્યો.

તે વખતે પરમોપકારી પ્રભુ મહાવીરદેવ પૂ. ગૌતમસ્વામીજીને કહે છે કે—"दिच्छसि णं गोयमा! पुव्वसंगइयं कंतं, कं भंते? खंदयं नाम" (અર્થાત્–પ્રભુ કહે છે કે હે ગૌતમ! આજે તું હમણાં તારા પૂર્ણજન્મના સંબંધી–પ્રિયને જોઇશ, કોને હે પ્રભુ! તો કહે કે સ્કંદકને!) ત્યાર બાદ પૂ. ગૌતમસ્વામીજી પ્રભુમહાવીરદેવને આવી રહેલ સ્કંદક પરિવ્રાજકના આત્માની યોગ્યતા વગેરે બાબતના વિવિધ પ્રશ્નો પૂછી યોગ્ય નિર્ણય કરી પોતે સામે લેવા જાય છે, અને સ્વાગત પ્રશ્નદ્વારા સન્માની તેના મન ઉપર પ્રભુની સર્વજ્ઞતાની છાપ પાડવા તેના હૃદયની (ચાર પ્રશ્નોના ખુલાસા મેળવવા

દૃષ્ટિએ ધનની વિષમ દશાએ વર્તવા છતાં ધર્મપ્રેમથી એકમેક થઇ અપૂર્વ રીતે ધર્મનું આરાધન પરસ્પર યોગ્ય સહકાર સાધી સુંદર રીતે કરતા હતા.

સમય જતાં મંગલશેઠને પૂર્વકૃત દુષ્કર્મના વિપાકથી રોગોત્પત્તિ થઇ, અનેક ઉપચારો કરવા છતાં રોગ શાંત તો ન થયો, પણ રોગ વિષમ બની ગયો, ભૂખ બંધ થઈ ગઇ, થોડો ઘણો લેવાતો ખોરાકનું અજીર્ણ થવા માંડયુ અને તૃષા વધુ લાગવા લાગી. આ ઉપરથી શેઠે પોતાના આયુષ્યનો અંત નજીક જાણી બધા કુટુંબીઓને ભેગા કરી પોતાના મોટા પુત્રને કુટુંબનો ભાર સોંપી, પરિગ્રહને વધુ સંક્ષિપ્ત કરી, સર્વથા યથાશક્ય સાંસારિક કાર્યોને છોડી દઈ શીલપાલનપૂર્વક છ માસ વ્યતીત કર્યા.

વળી શરીરમાં અમુક વિક્રિયા થતી જોઇને આયુષ્યની સમાપ્તિ અતિ નિકટ જાણી વિધિપૂર્વક અનશન આદર્યું, કુટુંબીયો શેઠની ભાવનાને નિર્મલ રીતે ટકાવવા વિપુલ પ્રમાણમાં ધર્મ મહોત્સવ કરવા લાગ્યા, ચાર શરણાં–નવકાર મંત્ર આદિ નિરંતર સંભળાવવા લાગ્યા. આ બાજુ ઉનાળાની સખ્ત ગરમીના લીધે શેઠને અત્યુગ્ર તૃષા લાગી, પણ આવો મોટો પોતે ધાર્મિક આગેવાન શ્રાવક અને અનશન કર્યા પછી પાણી મગાય કેવી રીતે ? તેથી મુંઝાવા લાગ્યો, યોગ્ય વિવેકનું નિયંત્રણ મન પર ન રહેતાં મન તો અનાદિકાલીન સહજ સંસ્કારોને વશ થઇને દુર્ધ્યાનના ચકાવે ચઢીને એટલે સુધી વિચારવા લાગ્યું કે—આ લોકો મને પાણી પીવરાવશે નહિ, હું તો બહુ તડફડું છું, પણ શું થાય....ધન્ય છે ! પાણીમાં રહેનારા માછલાંઓને કે જેઓને કદી પણ પાણીની તરસની વિષમ પીડા અનુભવવી પડતી નથી આદિ. છેવટે અંતકાલ નજીક હોઇ મૃત્યુની છેલ્લી ઘડીઓ ઉપસ્થિત થઇ, પણ સુયોગ્ય નિમિત્ત ન મળવાથી દુર્ધ્યાનની આલોચના કર્યા વિના મંગલશેઠ " अंते यथामतिः तथागतिः " મુજબ તે જ શહેરની બહાર વહેતી વિપાશાંતર નામની મોટી નદીમાં બત્રીશ વર્ષની ઉમરની મંગલમચ્છા નામની માછલીની કુક્ષિમાં મચ્છ તરીકે ઉત્પન્ન થયા.

અહા ! શી કર્મોની વિચિત્ર ગતિ ? ઉત્કૃષ્ટપણે શ્રાવકધર્મનું વિપુલ શ્રીમંતાઇમાં પણ અદ્‌ભુત રીતે પાલન કરનાર પુણ્યાત્મા અને ભવિષ્યમાં પૂ. શ્રી ગૌતમસ્વામીજી તરીકે થનાર–મહાપુરુષ પણ કર્મોના વિચિત્ર ઝપાટામાં કેવી રીતે અટવાઈ જાય છે, તે આ પ્રસંગ ઉપરથી સ્પષ્ટ સમજાય છે.

દ્વિતીય ભવ—

ક્રમે કરીને મંગળશેઠનો જીવ મત્સ્ય તરીકે જન્મ્યા પછી ભવસુલભ હિંસક વૃત્તિને આધીન બની નાનાં માછલાંઓની હિંસા કરીને પ્રાણવૃત્તિ કરવા લાગ્યો, એકદા " નળિયા અને વળિયા સિવાયના દરેક આકારના મત્સ્યો જગતમાં હોય છે " એવી શાસ્ત્રની મર્યાદા હોઈ તે જ નદીમાં જૈન સાધુના આકારના એક મત્સ્યને જોઇને તે

મંગલશેઠના જીવને ઊહાપોહ કરતાં જાતિસ્મરણ જ્ઞાન થયું, પોતાનો ગતભવ જોયો, અનહદ પશ્ચાત્તાપ થયો, "નાની કાંકરી ઘડાને જેમ ફોડી દે" તેમ પોતાની નાનકડી માનસિક ભૂલને પશ્ચાત્તાપ દ્વારા શુદ્ધ ન કરવાના કારણે આવી પડેલી પોતાની વર્ત્ત-માન-કાલીન હિંસક વૃત્તિવાળા ભવ બદલ અત્યંત દુઃખ થયું. પછી ગતભવના સંસ્કારોના આધારે પુનઃ માનસિક રીતે શ્રાવક ધર્મ સ્વીકાર્યો, માછલાં વગેરેની હિંસા છોડી પ્રાસુક આહારની ગવેષણા કરી શરીર નિર્વાહ કરવા લાગ્યો.

આ બાજુ મંગલશેઠની પાડોશમાં રહેનાર સુભદ્ર શ્રાવક અર્થોપાર્જન માટે બીજા વ્યાપારીઓના કાફલા સાથે વહાણમાં બેસીને સમુદ્રયાત્રાના આશયથી વિપાશાંતર નદીમાંથી પસાર થયો હતો ત્યાં દુષ્કર્મના પ્રતાપે ભયંકર વાવાઝોડું થતાં મધરાતે વહાણ તૂટી ગયું તે જ વખતે મંગલશેઠના જીવ મત્સ્યે પોતાના ગતભવના સાધર્મિક મિત્ર સુભદ્રને જોઈ સાધર્મિક વાત્સલ્ય કરવાના શુભ આશયથી તુર્ત પાણીમાં ડૂબવાની અણી ઉપર આવી રહેલ સુભદ્ર શ્રાવકને પોતાની પીઠ પર બેસાડી કુશલતાપૂર્વક કિનારે પહોંચાડી દીધો. બાદ મંગલમત્સ્યે નદી કિનારે એકાંતમા અનશન કરી ચારે આહારનો ત્યાગ કર્યો. પંદર દિવસ ક્ષુધા-તૃષાના પરિસહને બરાબર સહી શુભધ્યાનપૂર્વક નવકાર-મંત્રના સ્મરણ સાથે કાલધર્મ પામી સૌધર્મદેવલોકના પહેલા પાથડાના આવલિકા વિમાનોની વચ્ચે શૃંગાટક આકારના ત્રિકોણ વિમાનના અધિપતિરૂપે મંગલમત્સ્ય ઉપજ્યો.

તૃતીય ભવ—

દેવભવમાં તેનું નામ જ્યોતિર્માલી અને દેવીનું નામ જ્યોતિર્મતી હતું. ચાર પલ્યો-પમનું આયુ હતું. ઉપજ્યા પછી અનેક દેવોના જયજયકાર સાથે ઉપપાતશય્યામાં બત્રીશ વર્ષના યુવાન તરીકે બહાર આવી ન્હાઇધોઇ સિદ્ધાયતનોમાં પૂજા વગેરેની શાશ્વત આચારની મર્યાદા સાચવીને પછી અનેક પ્રકારના-દેવતાઇ નાટક વગેરેના સુખોના અનુભવમાં તલ્લીન થઇ ગયો.

એકદા જ્યોતિર્માલીદેવે અવધિજ્ઞાનથી પૂર્વભવ જોયો, અને ગતજન્મના ધર્મમિત્ર સુભદ્રશ્રાવકને અનશન કરી સમાધિપૂર્વક કાલધર્મ પામી પોતાના જ વિમાનની નજીકના પુષ્પાવકીર્ણ વિમાનમાં દેવ તરીકે ઉપજેલ જોયો, એટલે તરત જ્યોતિર્માલી દેવ ધર્મ-પ્રેમથી પ્રેરાઇને તેની પાસે ગયો, અને પરસ્પર મૂળ પ્રેમથી ભેટ્યા. ગતભવનો ધર્મ-પ્રેમ પુનઃ તાજો થયો, બંને જણા વળી ધર્મપ્રેમની સાંકળથી સાચા મિત્રો બન્યા. નંદીશ્વરદ્વીપ, કુંડલદ્વીપ, રૂચકદ્વીપ વગેરેની યાત્રા, તીર્થંકર ભગવંતોના જન્મકલ્યાણક આદિ મહોત્સવો વગેરેમાં સાથે જ જવા લાગ્યા અને સુદેવ, સુગુરુ અને સુધર્મની પ્રશંસા-અનુમોદના કરતા પોતાના સમ્યક્ત્વને વધુ દીપાવવા લાગ્યા.

એકદા સૌધર્મેન્દ્રની મુખ્ય ઇંદ્રાણીને એક સામાનિક દેવ ઉપાડીને ભાગી ગયો,

અને તમસ્કાયમાં પેસી ગયો. ઇંદ્રમહારાજે તેને પકડવા તેની પાછળ જવા માટે બે હજાર દેવોને હુકમ કર્યો તેમાં આ બંને મિત્રોને ઇંદ્રાજ્ઞાથી જવું પડયું. છ મહિને ત્યાંથી બંને મિત્રો પાછા ફર્યા, પણ પાછા આવ્યા પછી સુભદ્ર શ્રાવકના જીવની માનસિક પરિણતિ એવી પલટાઇ ગઈ કે–તે પોતાની દેવીને છોડી અપરિગૃહીતા (વેશ્યા જેવી) દેવીના મોહમાં ફસાઇ ગયો, તેની દેવીએ પોતાના પતિના મિત્ર જ્યોતિર્માલીદેવ મારફત સમજાવવાનો પ્રયાસ કરાવ્યો, જ્યોતિર્માલીદેવે પણ મૂળ હિતશિક્ષા દઇને તેને અપરિગૃહીતા દેવી(વેશ્યા)ગમનના વ્યસનમાંથી બચાવ્યો, કાલક્રમે જ્યોતિર્માલીદેવ પોતાના આયુને પૂર્ણ કરીને ત્યાંથી ચ્યવ્યો.

ચતુર્થ ભવ—

જંબૂદ્વીપના પૂર્વ મહાવિદેહ ક્ષેત્રના પુષ્કલાવતી વિજયમાં વૈતાઢ્ય પર્વત ઉપર દક્ષિણ શ્રેણીના વેગવતીપુરીના રાજા સુવેગવિદ્યાધરને ત્યાં જ્યોતિર્માલીદેવ વેગવાન નામે પુત્રપણે જન્મ્યો. પાંચ ધાઈમાતાઓથી યોગ્ય રીતે લાલન–પાલન કરાયેલ તે રાજકુમાર સર્વ કલાઓમાં પ્રવીણ થઇ યુવાન વયે અનેક વિદ્યાધર કન્યાઓને પરણ્યા બાદ કાલક્રમે ચાલી આવતી વિદ્યાઓને છ મહિના સુધી અત્યુગ્ર કડકદિનચર્યા સાથે ઘોર જંગલમાં સાધી* છ મહિના પછી ગૌરી, પ્રજ્ઞપ્તિ દેવીઓ પ્રસન્ન થઇ વરદાન આપ્યું. કાલક્રમે વિદ્યાધર પદવી પામી યુવરાજ તરીકે સુખ પૂર્વક કાલ વીતાવવા લાગ્યો.

આ બાજુ સુભદ્ર શ્રાવકનો જીવ દેવલોકમાંથી ચ્યવી પશ્ચિમ મહાવિદેહના ધનવતી વિજયની તરંગિણીનગરીના ધનદેવ શેઠની સ્ત્રી ધનવતીની કુક્ષિએ ધનની શ્રેણિના સ્વપ્નથી સૂચિત પુત્રીપણે જન્મ્યો. માતાપિતાએ ધનમાલા નામ સ્થાપ્યું, યોગ્ય વયે અનેક કલાઓમાં પ્રવીણ થઈને સંગીત અને વીણાવાદનમાં અતિ પ્રવીણ થઇ.

એક સમયે વેગવાન વિદ્યાધર આકાશમાર્ગે જતાં તે ધનમાલાને જોઈને તેના પર આસક્ત થઈ બલાત્કારે ઉપાડીને પોતાના ઘરે લઇ આવ્યો. વેગવાન તેના મોહમાં અંધ બને છે, ત્યારે ધીસખા નામના પિતાના મંત્રીએ રાજપુત્રને સમજાવ્યો કે “ વિદ્યાધરો માટે એવો નિયમ છે અને વૈતાઢ્ય પર્વતની ભીંત ઉપર લેખ પણ છે કે—બલાત્કારે અણુચાહતી કન્યા સાથે સંબંધ બાંધનાર વિદ્યાધરની વિદ્યાઓ નાશ પામે છે. ” વગેરે ત્યારબાદ બે મહિને સ્વતઃ કન્યા રાગવતી થઇ, એટલે ધામધૂમથી વેગવાને લગ્ન કર્યા બાદ રાજપુત્ર સ્વેચ્છાની પૂર્તિ થવાથી આનંદમાં દિવસો વીતાવવા લાગ્યો. તેના પિતાએ યોગ્ય સમયે રાજ્ય ઉપર તેનો અભિષેક કર્યો અને પોતે દીક્ષા લીધી એટલે

* મૂલ પ્રતમાં અહીં છ મહિનાની વિદ્યાસાધના માટેની કડક દિનચર્યા અને મંત્રશાસ્ત્રાનુસારી વિધિ વગેરેનું સુંદર વર્ણન છે, સ્થલસંકોચથી તે વિગત અહીં નથી આપી.

વેગવાન વિદ્યાધરેન્દ્ર થયો, અનેક રીતે રાજ્યનું પાલન કરતો સાંસારિક સુખના અનુભવમાં મગ્ન થઇ ગયો.

એક વખત કોઈ બીજો વિદ્યાધર આકાશમાર્ગેથી પસાર થતાં ધનમાલા ઉપર મોહિત થઈ વિદ્યાના બલથી છલ કરી પોતાના વિમાનમાં બેસાડીને લઇ ગયો, પાછળથી વેગવાન્ વિદ્યાધરેન્દ્રે ખૂબ તપાસ કરી, પણ પત્તો ન લાગ્યો, છેવટે ધીસખા મંત્રી મારફત પ્રજ્ઞપ્તિ વિદ્યાબલે તપાસ કરાવતાં માલૂમ પડ્યું કે " તે સ્ત્રી બીજા વિદ્યાધરની સાથે વ્યભિચાર દોષથી દૂષિત થઇ ગઈ છે, " આ ઉપરથી રાજાને સંસારના સ્વાર્થી પ્રેમ પ્રતિ ખૂબ અરુચિ થઈ, બરાબર તે જ અવસરે ગીતાર્થ આચાર્ય ભગવંતના પધારવાની વધામણી વનપાલકે આપી. તુરત મહોત્સવપૂર્વક ગુરુમહારાજ પાસે ગયો અને દેશના સાંભળી ધીસખા મંત્રીની સાથે પોતે દીક્ષા ગ્રહણ કરી. ગુરુનિશ્રાએ ઉત્કૃષ્ટ ભાવવિશુદ્ધિ સાથે સંયમનું પાલન, વિશિષ્ટ જ્ઞાનાભ્યાસ અને ઉગ્રતપ કરવા માંડયું. આ બાજુ ધનમાલાએ પણ આ સાભળી પશ્ચાત્તાપથી દીક્ષા લીધી. તેણીએ પણ દુષ્કર્મ ખપાવવા માટે પશ્ચાત્તાપપૂર્વક ખૂબ ઉગ્રતપ કરવા માંડયું.

ત્રણે જણા અનુક્રમે આયુ પૂરું થયે છતે કાલધર્મ પામી દેવલોકે ગયા.

પાંચમો ભવ—

વેગવાન વિદ્યાધરેન્દ્ર આઠમા સહસ્રાર દેવલોકમાં વિમાનાધિપતિ દેવ થયો, ધીસખા મંત્રી તેમનો સામાનિક દેવ થયો, અને ધનમાલા પણ તે જ દેવલોકમાં દેવ તરીકે થઇ

× × ×

કાલક્રમે ત્યાંથી ચ્યવી વેગવાન વિદ્યાધરેન્દ્રનો જીવ જંબૂદ્વીપના ભરતક્ષેત્રમાં મધ્યખંડે મગધદેશે ગુબ્બરગ્રામે વસુભૂતિ બ્રાહ્મણની પૃથ્વી નામની સ્રીની કુક્ષિમાં ઉત્પન્ન થયો. કાલક્રમે જન્મ્યા પછી યોગ્ય સંસ્કારો કરીને તેનું ઇંદ્રભૂતિ નામ થયું. વિદ્યાભ્યાસ કરી મહાધુરંધર વિદ્વાન્ પંડિત થઈ અગિયારસો શિષ્યોના ગુરુ બની કર્મકાંડ કરાવવા લાગ્યો. પ્રભુ મહાવીર ભગવંતના પાવાપુરીના પ્રથમ સમવસરણ વેળાએ કલ્પસૂત્રાદિવર્ણિત રીતિએ પ્રતિબોધ પામી, પ્રભુ મહાવીરદેવ ભગવંતના આદ્યગણધર બન્યા.

ધીસખામંત્રીનો જીવ દેવલોકથી ચ્યવી આ જ ભરતના મધ્યખંડે ચંપક ગામના તિલકશેઠને ત્યાં શીલવતી સ્રીની કુક્ષિથી પુત્રપણે જન્મ્યો, અને તેનું નામ પિંગલ થયું. ભ. મહાવીર દેવ પરમાત્માના સમાગમે શુદ્ધ શ્રદ્ધાન દૃઢ સમ્યકત્વધારી બની અનુક્રમે સંયમ સ્વીકારી મહાસાધુ બન્યો.

ધનમાલાનો જીવ દેવલોકથી ચ્યવી આ જ ભરતના મધ્ય ખંડે સંવર ગામમાં સિદ્ધ નામના રાજાની સમૃદ્ધિરાણીની કુક્ષિથી પુત્રપણે થયો, અને તેનું સ્કંદક નામ રાખવામાં આવ્યું. યુવાવસ્થાયે અનેક રીતે વિષયસુખો ભોગવતા તે રાજકુમારે ગર્દભાલી પરિ-

માજકાચાર્યના ઉપદેશથી પ્રતિબોધ પામી, સંસાર છોડી, પરિવ્રાજક દીક્ષા લીધી અને ક્રમે કરીને પરિવ્રાજકાચાર્ય થયો.

તે જ સ્કંદક પરિવ્રાજકાચાર્ય પિંગલ સાધુ દ્વારા પૂછાએલ ચાર પ્રશ્નોના જવાબ ન દઈ શકવાના કારણે પ્રભુ મહાવીરદેવ પાસે આવે છે, ત્યારે ભ. મહાવીર પ્રભુ પૂ. શ્રી ગૌતમસ્વામીજીને આવી રહેલ સ્કંદકપરિવ્રાજકની ઓળખાણ પૂર્વસાંગતિક (પૂર્વ જન્મના સંબંધી) તરીકે કરાવી યોગ્ય રીતે તેના પ્રતિબોધ માટેની પૂર્વભૂમિકા શ્રી ગૌતમસ્વામીજી મારફત તૈયાર કરાવે છે.

આ મુજબ શ્રી ભગવતીસૂત્ર (દ્વિતીય શતક પ્રથમ ઉદ્દેશો) માં આવતા સ્કંદક-મુનિના અધિકારમાં આવેલ પુવ્વસંગત્તિયં પદના આધારે જણાઈ આવતા પૂ. શ્રી ગૌતમ-સ્વામીજીના (પાંચ) પૂર્વભવો ગુરુસંપ્રદાયાદિબળે આજે જે રીતે આપણને મળ્યા છે, તે વાસ્તવમાં ધર્મનિષ્ઠ ભવ્યાત્માઓના માનસ ઉપર કર્મની વિષમતા અને આત્માની અનંત શક્તિઓના અદ્‌ભુત સામર્થ્યને સ્પષ્ટ રીતે અંકિત કરે છે.

મુમુક્ષુ આત્માઓના હિતાર્થે હસ્તલિખિત પ્રત ઉપરથી પ્રથમઃજ વાર પ્રસિદ્ધિમાં મુકાતા આ પૂર્વ ભવોનું વર્ણન વાંચી–વિચારી મહાપુરુષોના જીવનમાંથી આપણી આંત-રિક વિશુદ્ધિના આદર્શને તાજો બનાવી આત્મકલ્યાણની પુનિત સાધનાના પંથે કલ્યાણ-કામી જીવો અગ્રસર બને અને મારા આ પ્રયાસથી મારા જીવનમાં પણ તેની કલ્યાણ સાધનાની ક્ષમતાને પુનઃ પુનઃ આશંસતો પ્રસ્તુત લખાણમાં મતિમંદતા આદિથી કોઇ અશાસ્ત્રીયતા થઇ હોય તો તેનું મિથ્યા દુષ્કૃત દઇ વિરમું છું.

આચાર્ય દેવભદ્રે કરેલું દેવદ્રવ્યના મૌલિક ભેદોનું વર્ણન

પં. કલ્યાણવિજયજી મ૦

'વસુદેવહિંડી' જેવા પ્રાચીન સાહિત્યમાં દેવદ્રવ્યનો ઉલ્લેખ મલે છે, પરંતુ દેવ-દ્રવ્યના મૌલિક ભેદો તથા ઉપભેદોનું વર્ણન નથી મલતું, માત્ર એક 'સંબોધપ્રકરણ'માં દેવદ્રવ્યના ભેદોનું વર્ણન મલે છે, પણ 'સંબોધપ્રકરણ' કંઈ મૌલિક ગ્રન્થ નથી જેવો કે આજે મનાય છે. સંબોધપ્રકરણ લગભગ ચૌદમા સૈકાનો એક કૂટ સંદર્ભ છે, એના સંદર્ભક કોઈ અંચલગચ્છીય આચાર્ય છે એમ એના બાહ્યાન્તરંગ સ્વરૂપથી સિદ્ધ થાય છે.

બારમા સૈકાના સંવેગરંગશાલા આદિ કેટલાક ગ્રંથોમાં દેવદ્રવ્યના ભેદોનું વર્ણન મળે છે. એ જ સૈકાના મધ્યભાગમાં બનેલ શ્રી 'કથારત્નકોષ' માં આચાર્ય શ્રી દેવભદ્રે નીચે પ્રમાણે દેવદ્રવ્યના ભેદોનું નિરૂપણ કર્યું છે.

> चेइयदव्वं तिविहं, पूया १ निम्मल्ल २ कप्पियं ३ तत्थ ।
> आयाणमाइ पूया-दव्वं जिणदेहपरिभोगं ॥ १ ॥
> अक्खय-फल-वलि-वत्थाइ-संतियं जं पुणो दविया जायं ।
> तं निम्मल्लं वुच्चइ जिणगिहकम्ममि उवओगं ॥ २ ॥
> दव्वंतरनिम्मवियं निम्मलं पि हु विभूसणाईहिं ।
> संपुणजिणगलंगि, ठविज्ज पण्णत्थ तं भया ॥ ३ ॥
> रिद्धिजुअ-सम्मएहिं, सड्ढेहिं अहव अप्पणा चेव ।
> जिणभत्तीइ निमित्तं, जं चरियं सव्वमुवओगि ॥ ४ ॥

અર્થ— દેવદ્રવ્ય ત્રણ પ્રકારનું હોય છેઃ પૂજાદ્રવ્ય ૧, નિર્માલ્યદ્રવ્ય ૨ અને કલ્પિત દ્રવ્ય ૩ તેમાં પૂજા દ્રવ્ય તે 'આદાન' આદિ ગણાય છે અને તેથી ઉપજતા દ્રવ્યનો ઉપયોગ જિનદેહને અર્થે થાય છે એટલે કે પૂજાદ્રવ્ય કેસર, ચંદન, સુગંધ ચૂર્ણ, [illegible] આદિ ભગવાનના અંગ ઉપર ચઢતા પદાર્થોના ક્રયમાં થાય છે, વસ્ત્રપૂજા, આંગી વિગેરે [illegible] જ [illegible] છે. ધૂપ, દીપ, અક્ષત, ફલ, નૈવેદ્ય, જલ એ અગ્રપૂજા છે [illegible] દ્રવ્યોના અર્થે થઈ શકે છે. આગળ ચઢાવેલ અક્ષત, ફલ, નૈવેદ્ય, [illegible] 'નિર્માલ્ય દ્રવ્ય' કહેવાય છે. નિર્માલ્ય દ્રવ્ય પૂજાના [illegible] થી આવા કાર્યોમાં વપરાય છે, પણ નિર્માલ્ય [illegible] હોય તો તે જિનપ્રતિમાને પહેરાવી શકાય

છે. આમ નિર્માલ્ય દ્રવ્યના વિષયમાં ભજના છે, કેસર ચંદનાદિના રૂપમાં તે જિન અંગે ચઢાવી શકાતું નથી પણ ભૂષણાદિના રૂપમાં ચઢાવી શકાય છે. ધનાઢ્ય અને રાજમાન્ય શ્રાવકોએ અથવા તો ચૈત્યનિર્માપક શ્રાવકે પોતે જિનભક્તિથી અમુક રકમ ચૈત્યના નિર્વાહ માટે 'કોષરૂપે' સ્થાપી હોય તે 'કલ્પિત' અથવા 'ચરિત' દ્રવ્ય કહેવાય છે. કલ્પિત દ્રવ્ય ચૈત્ય સંબન્ધી સર્વ કામોમાં ઉપયોગી થાય છે. ૧-૪

"निप्पाइयम्मिय गिही, जिणभवणाइम्मि सत्तिअणुरूवं ।
चेइयदव्वं सव्वायरेण चिंतेज्ज वड्ढेज्ज ॥ ५ ॥
गाम-पुर-खेत्त-सुंक्काइएसुकारेज्ज रायवयणेण ।
देवदायं तक्कारणेण जिणदव्ववुड्ढित्ति ॥ ६ ॥
वुड्ढिणीयस्स दढं, चेइयदव्वहस्स रक्खणुज्जुत्तं ।
कंपि हु जणं णिरूवेज्ज उवज्जभीरुं अलुद्धं च ॥ ७ ॥
जह तह परिव्वओ विहु कुसलेण इमस्स नेव कायव्वो ।
देसाइ दुत्थिमाए अविअन्नत्तो अ मावंमि ॥ ८ ॥
एयस्स रक्खणंमि, सक्खंचिय रक्खिओ धम्मो ।
न य एत्तो वि हु परमं, अन्नं वन्नंति गुणगणं ॥ ९ ॥

અર્થ—નિજ શક્તિને અનુસારે જિનભવનાદિ તૈયાર કરાવીને ગૃહસ્થે સર્વ પ્રયત્નો વડે દેવદ્રવ્યની ચિન્તા કરવી અને જેટલું ચૈત્ય દ્રવ્ય એકઠું થયું હોય તેની સંભાલ કરવી અને તેને વધારવાની કાલજી રાખવી, જો શક્ય હોય તો રાજાજ્ઞાવડે ગામ, નગર, ક્ષેત્ર-દાણની માંડવી વિગેરેમાં દેવદ્રવ્યનો લાગો બંધાવવો કે જેથી દેવદ્રવ્યની વૃદ્ધિ થાય, કોઇ પણ પ્રકારે દેવધનની વૃદ્ધિ કરીને તેની રક્ષાને માટે ઉદ્યમવંત અને મક્કમ એવા કોઇ પણ પુરુષની પસંદગી કરે. દેવદ્રવ્યની વ્યવસ્થા કરનાર માણસ પાપભીરુ અને નિર્લોભી હોવો જોઇયે. કુશલ પુરુષે ચૈત્યદ્રવ્યનો જેમ તેમ વ્યય પણ કરવો જોઇયે નહિં દેશદૌઃસ્થ્ય-દુર્ભિક્ષ-રાજાવિપ્લવાદિના સમયમાં અન્ય સ્રોતોથી આવક બંધ થતાં ચૈત્ય દ્રવ્ય ખર્ચીને તેની વ્યવસ્થા કરવી, દેવદ્રવ્યનું રક્ષણ કરતાં સાક્ષાત્ ધર્મનું જ રક્ષણ કર્યું ગણાય. દેવધનની રક્ષા સમાન શ્રાવકને માટે બીજું કોઈ ઉત્તમ ગુણસ્થાન શાસ્ત્રકારો વર્ણન કરતા નથી. ૫-૯

સાધારણ દ્રવ્ય—

एवं चिय साहारणं-दव्वंपि करेज्ज तदचरं न वरं ।
चेइय-विंबवण-संघ-पोग्गयाईणि से विसओ ॥ १० ॥

क्रिर चेइयस्स दव्वं, कज्जे उवजुज्जइ जिणस्सेव।
साहारणदव्वं पुण, उवजुज्जइ सव्वठाणेसु ॥ ११ ॥
ता इममवि कायव्वं, वड्ढेयव्वं च रक्खियव्वं च।
अन्नत्तो सइलाभे वयणीयं रायमवि नेव ॥ १२ ॥
भंगे देसाईणं कुतित्थिएहिं समं च फलहंमि।
दंसणकज्जे य परे उणुण्णाओ रायदव्वओ ॥ १३ ॥

અર્થ—એજ પ્રમાણે ચૈત્યદ્રવ્યથી જુદું સાધારણ દ્રવ્ય પણ એકત્ર કરવું, વિશેષતા એટલી જ છે કે સાધારણ દ્રવ્યનો ઉપયોગ જિનચૈત્ય, જિનબિંબપૂજા, સંઘસહાયતા ઈત્યાદિ કાર્યોમાં થાય છે, ચૈત્યદ્રવ્ય જિન સંબંધી કાર્યોમાં જ ઉપયોગી છે, પણ સાધારણ દ્રવ્ય લાભદાયક સર્વ સ્થાનોમાં વપરાય છે. આ સાધારણની વિશેષતા છે માટે આ(સાધારણ)નો પણ સંચય કરવો અને વૃદ્ધિ કરવી. અન્ય સ્રોતોથી લાભ થતો રહે ત્યાં સુધી આ નિધિનો પણ વ્યય ન જ કરવો, દેશભંગ જેવા વિષમ સમયમાં કે અન્યદર્શનીઓ સાથેના ઝગડામા અથવા તો શાસનપ્રભાવનાના શ્રેષ્ઠ કાર્યમાં સાધારણ દ્રવ્યના નિધિનો ખર્ચ કરવાની આજ્ઞા છે. ૧૦–૧૩

વિવરણ—

આચાર્ય દેવભદ્રે દેવદ્રવ્યને ૩ ભાગમાં વહેંચી દીધું છે. પૂજા, નિર્માલ્ય અને કલ્પિત.

૧. પૂજા દ્રવ્ય—

પૂજા દ્રવ્ય–એટલે ' આદાન આદિ, ' આવકના સાધનો–ઘર, હાટ, ક્ષેત્ર, વાડી આદિ આવકના સાધનો અથવા ન્હાની મ્હોટી રકમનું ફંડ અર્પણ કરી ' આની આવકમાંથી અમુક પ્રકારની પૂજા નિમિત્તે ખર્ચ કરવો ' આવી શરતથી અપાતું દ્રવ્ય તે પૂજા દ્રવ્ય કહેવાતું, પૂજા દ્રવ્યનો પૂજા સિવાય બીજા કોઈ કાર્યમાં વ્યય કરાતો નથી.

૨. નિર્માલ્ય દ્રવ્ય—

જિનપ્રતિમાની અંગપૂજામાં ચઢતાં વસ્ત્ર, અક્ષત, ફલ, નૈવેદ્યાદિ પદાર્થોના વેચાણથી ઉત્પન્ન થતું દ્રવ્ય તે ' નિર્માલ્ય દ્રવ્ય ' કહેવાતું, અને પૂજા સિવાય બીજા જિનચૈત્ય સંબંધી સર્વ કાર્યોમાં તે વાપરી શકાતું હતું, પૂજાકાર્યમાં કેવલ આભૂષણરૂપે જ તેનો ઉપયોગ કરી શકાતો હશે.

૩. કલ્પિત દ્રવ્ય—

કલ્પિત અથવા ચરિત દ્રવ્ય એટલે કોઈ પણ વિશેષતાની શરત વિના ચૈત્યના નિર્વાહ નિમિત્તે આપેલ ધન, આ ધનનો પૂજાના કામમાં, પૂજોપકરણ જોડવામાં અને ચૈત્યમાં કામ કરનાર નોકરોને વેતન આપવા આદિમાં થતો હતો, પણ જ્યાંસુધી ઉક્ત કામોમાં

પરભારો ખર્ચ મલી જતો ત્યાંસુધી આ દ્રવ્યનો વ્યય કરવાની છૂટ ઓછી રહેતી કેમકે એ 'નીવિઘન' એટલે 'રિઝર્વ ફંડ' ગણાતો હતો.

ચાલુ ખર્ચમાં વધારો અને આવકમાં ઘટાડો થતો તેવા પ્રસંગોમાં આ નિવિધનમાંથી રકમ ઉપાડાતી અને સગવડ થતાં પાછી તેટલી રકમ તેમાં ઉમેરી દેવાતી હતી. મૂલનિધિ તો વધારવાની જ વૃત્તિ રહેતી હતી. દુષ્કાલાદિ કે રાજ્યવિપ્લવોના સમયમાં વસતિઓ ઉજડી જતી ત્યારે તે રિઝર્વ ફંડોમાંથી ચૈત્યસંબન્ધી સર્વ કાર્યો તેવા ફંડોના ધનથી ચાલુ રહેતાં, આ વ્યવસ્થા તે સમયની છે કે જે વખતે પૂજામાં જલાભિષેકો અને સુગંધી વિલેપનો પર્વગત હતાં.

પૂજા પરિપાટિમાં પરિવર્તનો—

વિક્રમના તેરમા સૈકાથી આપણી જિનપૂજાપદ્ધતિમાં ધીમે ધીમે પરિવર્તન થવા માંડયું. પખાલ અને ચંદન, કેસર આદિ સુગંધી પદાર્થોના વિલેપનની પ્રવૃત્તિઓ વધતી ચાલી તેરમા સૈકાથી પરિવર્તન પામતી આપણી 'પૂજાપદ્ધતિ' એ સોલમા સૈકાના ઉતારમાં વર્તમાન રૂપ ધારણ કર્યું, નિત્ય પખાલ–વિલેપનની સામાન્ય પરમ્પરા ચાલુ થઇ, નિત્ય વિલેપનો મોંઘાં પડતાં તિલકોની રુઢિ ચાલી. પ્રથમ ષડંગ તિલકો અને અન્તે નવાંગ તિલકો થયા. જલપૂજા અને ચંદનપૂજા જ્યાંસુધી વર્ષમાં અમુક વાર જ થતી ત્યાંસુધી તો શ્રાવકો પોતે જ બધું કરી લેતા હતા, પણ નિત્યની થતાં શ્રાવકોની ભક્તિ પણ ઓસરી ગઇ અને ન્હાના મ્હોટા પ્રત્યેક જિનમંદિરમાં વેતનભોગી પૂજકો ગોઠવાયા. પરિણામે પ્રથમ કરતાં અનેકગણા ખર્ચો મંદિરોમાં વધ્યા જેને પહોંચી વળવા માટે ઉછામણીઓ બોલવાના રિવાજો ચાલ્યા. જે દેહરાં માત્ર ભક્તિનાં ધામો હતાં તે આ રીતે ગૃહસ્થોને માટે નિર્વાહ–ચિન્તાનો વિષય થઇ પડ્યાં છે.

આજની પરિસ્થિતિ—

આજે પૂર્વ સમયમાં હતા તેવા સ્થાયી ફંડો હોતા નથી. જ્યાં શ્રાવક સમુદાય સારા પ્રમાણમાં હોય છે ત્યાં તો કંઈ હરકત આવતી નથી, પણ જ્યાં વસતિઓ ન્હાની છે ત્યાંના ખર્ચા ચલાવવા મુશ્કેલ થઈ પડ્યા છે. જન્મ, વિવાહો, લગ્નો ઉપર લાગાઓ બાંધીને કે કોઇની પાછલ ધર્માદું કરે તેમાં દેહરાનો ભાગ રાખીને જે કંઈ ઉપજ થાય તેમાંથી દેહરાનો બધો ખર્ચ ચલાવે છે. આવા સ્થાનોમાં જઇને શ્રાવકોને હિતોપદેશ આપતાં સાધુ મહારાજો કહે 'ભાઇઓ! કેસર, ચંદન, ધૂપ, દીપક અને ગોઠીનો પગાર તો સાધારણ ખાતામાંથી ખર્ચ મંડાવો જોઇયે. શ્રાવકો કહે 'સાહેબ અમો માંડ માંડ આટલું લાગાઓ અને ફાળાઓ લઇને ચલાવીયે છીયે. આને આપ દેવદ્રવ્ય કે સાધારણ ગમે તે સમજો.'

આપણા તીર્થોની આધુનિક વ્યવસ્થા—

ભારતમાં આજે આપણાં અનેક તીર્થો છે. આમાં મ્હોટા તીર્થો કરતાં ન્હાના તીર્થો ઘણાં છે. જેઓ મૂલથી નહિં પણ વસતિઓ વીખરી ગયા પછી પાછલ રહેલાં દેહરાઓ તીર્થરૂપ બનેલાં છે. આવા તીર્થોની સંખ્યા સેંકડોની છે. આ બધાની વ્યવસ્થાપ્રાયઃ આસપાસના ગામોના જૈન સંઘો અથવા તેમની નીમેલી કમિટીઓ કરે છે, કેટલાંક મ્હોટા તીર્થોનો વહીવટ શેઠશ્રી આણંદજી કલ્યાણજીની પેઢી હસ્તક પણ ચાલે છે. આ બધાયે તીર્થોમાં મુખ્ય આંકડો નોકરોના ખર્ચનો હોય છે. આવકનો માર્ગ યાત્રિકોની સંખ્યા ઉપર આધાર રાખે છે. જે જે તીર્થોમાં યાત્રિક સમુદાય અધિક પહોંચે તે તે સ્થાનોમાં આવક સારી થાય છે, જ્યારે જ્યાં યાત્રિકો ઓછી સંખ્યામાં જતા હોય છે ત્યાં આવક અને અપેક્ષાકૃત ખર્ચ પણ ઓછો હોય છે, છતાં આ બધે સ્થલે આવકમા મુખ્ય આંકડો દેવભંડારનો હોય છે અને તે દેવદ્રવ્ય ગણાય છે. આજની સામાન્ય માન્યતા પ્રમાણે આ દ્રવ્યમાંથી પૂજોપકરણો ખરીદવો, નોકરોનો પગાર આપવો ઇત્યાદિ વાજબી ગણાતો નથી એટલે ભંડાર ખાતામાં રકમ વધ્યા કરે છે અને બીજા ખાતાઓમાં આવક ઓછી અને ખર્ચ અધિક હોવાથી ઘણે ઠેકાણે સાધારણ ખાતે નામે માંડી દેવકી રકમ ઉપાડાય છે જે ભાગ્યે જ પાછી જમા થઇ શકે છે. શું આ આંખ મીંચીને અંધારું કરવા જેવી વાત નથી ?

માર્ગદર્શન કરાવવું જોઇયે—

ઉપર જણાવેલી આ આજની પરિસ્થિતિમાં વ્યવસ્થા કરનાર પેઢિઓ અને સંસ્થાઓને આવકનો ખાડો પૂરવા માટે મનસ્વીપણે માર્ગો કાઢવા પડે અને અમારા ત્યાગી ગીતાર્થોને તે અંગે ટીકા ટીપણીઓ કરવી પડે તે કરતાં ગીતાર્થ આચાર્યોએ એવા વિષયોમાં પ્રથમથી જ શાસ્ત્રાધારે યોગ્ય માર્ગ બતાવવો જોઇયે જેથી વ્યવસ્થાપકોની મૂંઝવણ ઓછી થાય અને ખરા દેવદ્રવ્યનો દુરુપયોગ ન થાય.

અમારા શ્રુતધર સુરબ્બીઓને મ્હારી પ્રાર્થના છે કે—આજ કાલની આપણી 'દેવદ્રવ્યની વ્યવસ્થા' ઘણું પરિમાર્જન માંગે છે, આપણી પ્રચલિત માન્યતાઓ હવે શાસ્ત્રાધારે ઇતિહાસની કસોટીએ ચઢાવ્યા વિના ચાલી શકે તેમ નથી.

હિંદુ ધર્મ–રૂઢિ : જૈન દૃષ્ટિએ

(એક કાવ્યને આધારે)

સંપાદક : પ્રો. મંજુલાલ ર. મજમુદાર, એમ. એ; પીએચ. ડી. એલએલ. બી. વડોદરા

પશ્ચિમ હિંદુસ્તાન, અને ખાસ કરીને મારવાડ, મેવાડ તથા ગુજરાતમાં બ્રાહ્મણીય સમાજ તથા જૈન સમાજ પરસ્પરના એવા સરસ સુમેળથી અને સદ્ભાવથી લગભગ દોઢ હજાર વર્ષથી રહેતો આવ્યો છે : કે તેમનામાં એવું કોઇ વૈમનસ્ય કે વસવસો રહ્યો જાણ્યામાં નથી.

ગુજરાતે અહિંસાને અપનાવેલી છે. જીવદયાને જીવનની શુદ્ધિ કરનાર અંગ તરીકે સ્વીકારેલી છે; અને તપસ્યા, ભક્તિ તથા વૈરાગ્યને આત્મશુદ્ધિનાં સાધન તરીકે ઉપાસ્યાં છે.

તેથી જ ગુજરાત પ્રધાનતઃ જ્ઞાનયુક્ત એવી ભક્તિના માર્ગને વધાવે છે. કર્મકાંડ તથા શુષ્ક તત્ત્વજ્ઞાનને એ બહુ ઓળખતું નથી. આચાર–વિચારનાં જાળાં, એ બંધિયાર થઈ ગયેલા ધર્મનાં મેલ છે : એ તેનું તત્ત્વ નથી. જ્યારે કોઇ પણ ધર્મમાં, તેના ઉપાસકો વિવેક તથા જ્ઞાનથી વંચિત બને છે, અને ગતાનુગતિક બાહ્ય આચારને જ 'પ્રથમ ધર્મ' માનીને, તેને સાચવી રાખવા પ્રયત્ન કરે છે ત્યારે જ તે રૂઢ થઇ ગયેલા આચાર, જ્ઞાની લોકોને કટાક્ષના પ્રહાર કરવાનું સાધન બની જાય છે. વિચાર વગરનો આચાર ઉપાસકમાં જડતા લાવે છે.

માટે જ કવિ નરસિંહ મહેતાએ કહ્યું છે કે "કર્મનો મર્મ લેવો વિચારી" : નહીં તો "શું થયું સ્નાન સેવા ને પૂજા થકી, શું થયુ ઘેર રહી દાન દીધે ?"–વગેરે. સામાન્ય ખેતરની જેમ, ધર્મનુ ક્ષેત્ર પણ નીંદામણ વગર ચોખ્ખું રહી શકતું નથી. આચારધર્મનાં પાખંડ ખુલ્લાં પાડવામાં તો હિંદભરમાંથી સન્તો, મુનિઓ અને કવિઓએ બાકી રાખી નથી.

નીચે ઊતારેલા કાવ્યખંડમાં, બ્રાહ્મણ ધર્મીઓમાં કેટલાક પુણ્યપ્રેરક અને પુણ્ય-સાધક ગણાતા આચારોને જૈન દૃષ્ટિએ–એટલે કંદ, મૂળ, પત્ર, પુષ્પ અને ફળમાં પણ જીવાણુઓને જોનારી દૃષ્ટિએ–કવિએ ગણાવ્યા છે. અને જૈન દર્શનથી ભિન્ન–એટલે 'મિથ્યામતવાદી'ના રોજીંદા વ્યવહારમાં પવિત્ર ગણાતાં ગાયમાતા, શ્રી કૃષ્ણની વિહાર-ભૂમિ–એવા વૃન્દાવન સાથે સંકળાયેલો તુલસીનો છોડ, (જેનાં પુષ્પમાંથી મદ્ય બને છે એવા) મહુડાનુ વૃક્ષ, જે દિવસે પુણ્ય પ્રાપ્ત કરવા માટે ઉપોષણ કરવામાં આવે છે એવું એકાદશીનું પાવનકારી વ્રત, (જૈન દૃષ્ટિએ વીતરાગ ગણવા જેવા) વાસુદેવ કૃષ્ણને

વૈષ્ણવો જે બાલ્યકાળમાં ગોપીઓ સાથેની શૃંગારલીલાને જોડી દેતાં અચકાતા નથી તે વિષ્ણુ અવતારી કૃષ્ણ, અને સ્મશાનવાસી અવધૂત શિવ એ બધાની લોકવ્યવહારમાં જે જાતની ઉપાસના થાય છે તે કેવી ઉપહાસયોગ્ય અને કેવી ચિંત્ય બની છે તે બધું આ કાવ્યમાં બતાવ્યું છે.

એક ધર્મની સરસાઇ બીજા ધર્મ ઉપર સ્થાપવાનો પ્રયત્ન પણ કેટલીક વાર આવાં સાંપ્રદાયિક લખાણોમાં સહેજે આવી જાય છે. धूर्ताख्यानના ગુજરાતી વાર્તિકમાં મહાભારત રામાયણમાંનાં પાત્રો અને પ્રસંગોનો અસંભવ, અનૌચિત્ય તથા ધર્મવિરોધ બતાવવાનો જેવો ચોખ્ખો પ્રયત્ન છે, તેવો જ કંઇક પ્રયત્ન આ કાવ્યમાં પણ જોઇ શકાય છે. કેટલીકવાર આવાં સાંપ્રદાયિક ઝનૂનવાળાં લખાણોમાં વાણીનું તપ ખંડિત થયું હોય છે; પરંતુ આપણે સાહિત્ય અને સમાજના અભ્યાસીઓએ તો એવા રાગદ્વેષથી પર જઇને જ, આવું સાહિત્ય અવલોકવાની જરૂર છે.

ઉદાહરણ તરીકે, સમાજમા રૂઢ થયેલા આચારરૂપે, સુવાસિણી નારી, સ્નાનદ્વારા તથા વસ્ત્રદ્વારા જે હમેશાં દેહશુદ્ધિ પાળ્યા કરે છે તે જ સ્ત્રી હાથે 'હાથીદાંત' (વસ્તુતઃ તો જે હાથીનું હાડકું જ છે) નો ચૂડો ધારણ કરે છે; છતાં તેનાથી તે અપવિત્ર કે દુષિત થતી મનાતી નથી–એવો લોકાચાર છે. તેથી, આચારની મીમાંસામાં બહુ ઊંડે ઊતર્યા વગર, સમ્યક્ અને સારગ્રાહી દૃષ્ટિથી તેને અવલોકવાની જરૂર છે.

સમાજશાસ્ત્રી તેમજ તત્ત્વચિંતકને વિચાર કરતા બનાવે તેવું આ અવતરણમાં છે. એનો અજ્ઞાત કવિ તથા કાવ્ય વિષે વધારે માહિતી મળી નથી. પરંતુ એક પોથીમાંથી મેં તે ઊતારી લીધી હતી એટલું મને યાદ આવે છે. —સંપાદક.

મિથ્યામતિનો મત

(દુહા)

મિથ્યામતિનો મત જુઓ, ધર્મ કરે વિપરીત;
એકમના થઈ સાંભળો, ચમત્કાર–ચરિત્ર. ૧
જેહ તે માને તેહને, વિપતતણો નહિ પાર;
નામ કહું હવે તેહનાં, થોડામાં વિસ્તાર. ૨

(ચોપાઈ)

ગાય માતા, તુલસી નદી ને હરિ: શિવ આગળ ફરિયાદ જ કરી;
વડ બાખર મહુઆના વન, મહા દુઃખે તે કરે રુદન. ૩
એકાદશી પણ આવી સાથ, આપ આપણા દુઃખની કરે વાત;
સહુ કરે સંબંધ આપણો, પ્રથમ વાત ગવરીની સુણો૦ ૪

"હું તિર્યંચ અજ્ઞાની પશુ, એ મુજને પરિણાવે કિશું ?
પતિ પિતા નવિ જાણું ભ્રાત, અવ્રત ખાઉં દિન ને રાત. ૫
પતિવ્રત મુજથી કિમ પળે ? કે મુરખ મુજને સ્વામિ કરે ?
પુણ્ય જાણી પરણાવે નીલ, જિમ અજ્ઞાનઈ દવ બાળે ભિલ્લ. ૬
સારૂ સુંથું પોતે ખાય, મા માને તેહને એહું પાય;
થોડી વાત મેં માહરી કથી, માહરા દુઃખનો પાર જ નથી !" ૭

—એ કથા ગવરીએ કહી,
તુલશી બોલઈ ઊભી થઈઃ
"અઢાર ભારમાં હું વનસ્પતિ, મુજ આગળ તુજ કામ છે રતિ. ૮
તાહરે ભોગ સંભોગ જ મળે, ભોગ વિના મુજ સ્વામી કરે;
ખંડ–ખંડ કરી મૂકે શારડી, ધાગો લેઇ કરે હારડી. ૯
અંગ બાંધે, અણગળ જળ ન્હાય, અશુદ્ધ ભોમે મુજને લઇ જાય;
આભડછેટ આવે જબ નાર, મુજને છોડી ન મૂકે ગમાર ! ૧૦
'મડદે માલ રતિ ન રહે' કહી, મુજને સતી તે બોલઇ સહી;
ઇમ ઘણું હેરાન જ થઇ, તો નાહાશી ઢેડવાડે ગઈ. ૧૧
તિહાં એક નાગ કરડે તેહને, આકીન : ખાકી બેઇમાનું જાણે;
તુલસી–વાત સહૂએ સુણી, નદી બોલી તવ આકુળ ભણી. ૧૨
નદી કહે : "મુજ તાપી માત, અશુદ્ધ નાહાવા આવે પ્રભાતઃ
પાંચે ઈંદ્રિય બોળે તામ : અજ્ઞાનીનાં જો જો કામ. ૧૩
ધોઈ મેલ ને લાગે પાય, 'સારું કરજો ગંગા માય !'
માથાના કેશ, અસ્થિ મડદાતણાં, આણીને નાખે છે ઘણા. ૧૪
સામેવતે રોગીયાને ઘરે (?), ડુબકારો દેતાં તે મરે :
ઈમ ગમાર મુઝને તે કહે, મારું દુઃખ તે કોણ સાંભળે ? ૧૫

એવાં વચન સુણી તે વાર,
કૃષ્ણ કહાન કહેઃ "દુઃખ અપરંપારઃ"
મુઝને 'લંપટ' કહે છે 'ચોર', એણે ગોવાળિયાએ ચરાવ્યા ઢોર. ૧૬
ગોપી–ગોવાળિયા કહે કર જોડઃ 'ભલા નચાવ્યા શ્રી રણછોડ !'
એક ઊઘાડું કીર્તન ગાય, પુરુષ સઘળા ખુશીઆરા થાય. ૧૭
મુઝ નિમિત્તે રસોઈ કરે, થાલ ભરીને આગળ ધરેઃ
દેખાવે અંગૂઠો, ને વગાડે ઘંટ; તે લઈ જઈને ખાય કુલંઠ. ૧૮

મુજ 'જનમ' કરે શા માટ? વનસ્પતિનો વાળે દાટઃ
ઘણી વાત કહેતાં લાજિયેઃ વગોવણીની ધજા બાંધિયે. ૧૯

દુઃખ ઘણાં ને રજની જાય; માહરું દુઃખ તે કેમ ઓહોલાય?
જાત્રા કરે દુવારકા ગામ, દંડ મુંડ દેવરાવે ઠા'મ!" ૨૦

મહુડો બોલ્યો મૂકી માનઃ" ઊઠે પાત્ર કરે સલામઃ
'મારાં પાનની પત્રાવલિ કરે, મહુ-પાને જમતાં કિમ તરે? ૨૧

મારાં ફૂલનું જે ઘૃત થાય, તે પીતાં તો નરકે જાય!
ચોમાસામાં સંગ્રહ કરે, કોડાકોડી કુંથુઆ મરે. ૨૨

તેહના ઘરમાં ખાવા ટળ્યું, જમવાને ભાજન નવિ જડયું!
છેદનભેદન સહુએ એમઃ ઊઠી ગયા સત બોલી તેમ. ૨૩

એકાદશીવ્રત સહુકો કરે, વનસ્પતિએ પેટ જ ભરેઃ
આડે દહાડે ખાયે શેર, વ્રત કરીને ખાયે છ શેર. ૨૪

લીંપણુ ગુંપણુ ધોવા જાયઃ એણી રીતે અગિયારશ થાય!
એમ ખોટી અગિયારશ કરેઃ ખોટા લોક કિણપેરે તરે? ૨૫

'નિર્જલા' બોલી છે સહી, ખોટા માણસ તે પાળે નહિ;
આદરે પર્વણી પાંચે જાણ, ને પાળે તેહને થાય કલ્યાણ. ૨૬

તપથી તરિયે ઘણો સંસાર, એ વાત તો છે નિરધાર."
જેહને જેવી વીતી સહી, આપ આપણી તેવી કહી. ૨૭

સહુ મળીને એક જ તાલ, શિવ આગળ કહેવા તરશાલ (?)
શિવ સાંભળીને ચિંતવે ઈસ્યું," ભોળા સહુ, એ સમજે કિસ્યુ? ૨૮

(દુહા)

હર હસીને બોલ્યા ઘણું, મેં આલેખ્યા છે એહ;
વાંકો લાકડો જાણીને, વાંકો કીધો વેહ. ૨૯

સાંભળજો સહુકો તુમ્હે, શિવની સાચી વાણ;
"જે જેહવા તે તેહવા થઈ, રહે તો આપણા પ્રાણ. ૩૦

લિંગ પૂજાવું તેહને, વળી ચોળાવું રાખ;
દાઢી જટા વધરાવીને, વળી વધરાવું કાખ. ૩૧

[ભોળાનાથ કહે]" મને, વગડાવું વળી ગાલ;
પાર્વતી શું રંગે રમી, સુખે ગમાવું કાળ. ૩૨

મહાભારતમાં ભાખિયું, જસ કુલ જતિ ન હોય;
તસ પૂર્વજ અવગતિયા ભમે, મુક્તિ ન પોહોંચે કોય. ૩૩

જે ખાયે નર રીંગણાં, તેણે ખાધું મહા ઝેર;
નરકે જાયે નિશ્ચે સહી, શિવપુરાણે ઇનિ પેર. ૩૪

"ગોરસમાં ખાયે દ્વિદલ, માંસ તુલ્ય તું જાણ;
કૃષ્ણ યુધિષ્ઠિરને કહે, ઇમ ઇતિહાસ પુરાણ. ૩૫

મૂળા ખાતા માનવી, નિશ્ચે નરકે જાય;
પુત્ર-માંસ ખાવા થકી, મૂળા અધિકા થાય! ૩૬

એહ પ્રભાસ પુરાણમાં, ભાખ્યા છે અધિકાર;
જે મૂળા ખાવે નહિ, સ્વર્ગે તસ અવતાર. ૩૭

जयन्तु जिनेन्द्राः ॥

જૈન દાર્શનિક સાહિત્ય અને સમ્બન્ધપરીક્ષા

મુનિરાજશ્રી ભુવનવિજયાન્તેવાસી મુનિશ્રી જમ્બૂવિજયજી

જૈન દાર્શનિક સાહિત્યમાં **आकर** તરીકે ગણાતા **स्याद्वादरत्नाकर** તથા **प्रमेयकमलमार्तण्ड** વગેરે ગ્રંથોમાં **सम्बन्ध**ના વિષયમાં એક મોટો પૂર્વપક્ષ તથા તેનું વિસ્તારથી ખંડન જોવામાં આવે છે. પૂર્વપક્ષીનું કહેવું છે કે 'કોઈ પણ પદાર્થનો કોઈ પણ પદાર્થની સાથે કોઈ પણ પ્રકારનો સંબંધ યુક્તિથી ઘટી શકતો નથી. માટે **सम्बन्ध** નામનો પદાર્થ જગતમાં છે જ નહિ.' **स्याद्वादरत्नाकर** તથા **प्रमेयकमलमार्तण्ड** વિગેરે ગ્રંથોમાં પૂર્વપક્ષીના આ કથનનું વિસ્તારથી ખંડન કરીને **सम्बन्ध** નામના પદાર્થની સિદ્ધિ કરવામાં આવી છે.

આ પૂર્વપક્ષ **पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता? तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥** વગેરે બાવીસ કારિકાઓ અને તેના વિવેચનનો બનેલો છે. આચાર્યપ્રવર **વાદી** શ્રી **દેવસૂરિજી** કે જેઓ **વાદીદેવસૂરિ**ના નામથી પ્રસિદ્ધ છે, તેમણે **स्याद्वादरत्नाकर**માં આ બાવીસ કારિકાઓ **तदाह कीर्तिः** એવા ઉલ્લેખપૂર્વક ઉદ્ધૃત કરી હોવાથી અને **कीर्ति** એ **धर्मकीर्ति**નું જ સંક્ષિપ્ત નામ હોવાથી આ બધી કારિકાઓ બૌદ્ધાચાર્ય **ધર્મકીર્તિ**ની જ છે.

ધર્મકીર્તિના સાત ગ્રંથો પૈકી **પ્રમાણવાર્તિક**, **ન્યાયબિન્દુ** અને **વાદન્યાય** સંસ્કૃત ભાષામાં મળે છે, જ્યારે **પ્રમાણવિનિશ્ચય**, **હેતુબિન્દુ**, **સંબંધપરીક્ષા** અને **સન્તાનાંતરસિદ્ધિ** આ ચાર ગ્રંથો સંસ્કૃતમાં અત્યારે નથી મળતા, પણ તેનાં ઘણાં જ વર્ષો પૂર્વે થયેલાં ટિબેટન ભાષાંતરો મળે છે. આમાં સંબંધપરીક્ષાનો **સ્નર્-થઙ્** આવૃત્તિ (Narthang edition) મને ભારતમાંથી મળી છે અને **દેર્ગે** આવૃત્તિ (Derge edition) જાપાનની Tohoru University, Sendai,નાં પુસ્તકાલયમાંથી મળી છે. તેની સાથે*

---

1. પ્રમેયકમલમાર્તંડમાં પણ આ બાવીસ કારિકાઓ ઉદ્ધૃત કરેલી છે. તત્ત્વાર્થશ્લોકવાર્તિકમાં પણ (પૃ૦ ૧૪૭–૧૪૯) ૧–૧૯ કારિકાઓ ઉદ્ધૃત કરેલી છે.

2. મ્હૈસુરના Dr. H R R Syengarના સૌજન્યથી આ ગ્રંથ મને વાંચવા મળ્યો હતો.

3. Dr Hidenori Kitagawa, Nagoya University, Nagoya, Japan–તરફથી આ ગ્રંથના ફોટાઓ મને ભેટ મળ્યા છે.

* इसमें प्रयुक्त भिन्न प्रकार के Type की असुविधा के कारण यह लेख अपने स्थान पर नहीं छप सका, इसके लिये मैं लेखकश्री से क्षमा चाहता हूँ। सपा—दौलतसिंह लोढ़ा

મેળવી જોતાં स्याद्वादरत्नाकर તથા प्रमेयकमलमार्तण्डમાં ઉદ્ધૃત કરેલી બાવીસે કારિકાઓ ટિબેટન ભાષાંતર સાથે બરાબર મળી રહે છે.

सम्बन्धपरीक्षा માત્ર ૨૫ અનુષ્ટુપ્ કારિકાઓનો બનેલો ગ્રંથ છે. તેના ઉપર **ધર્મકીર્તિ**ની જ સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ છે. અને તેના ઉપર विनीतदेव તથા शंकरानन्दे રચેલી બે ટીકાઓ છે. પરંતુ આ બધા ગ્રંથો સંસ્કૃતભાષામાં નષ્ટ થઈ ગયેલા છે, માત્ર તેના ટિબેટન ભાષાંતરો જ મળે છે. સંશોધકો જાણીને રાજી થશે કે सम्बन्धपरीक्षाની ૨૫ કારિકાઓમાંથી ૨૨ કારિકાઓ જૈન ગ્રંથોમાં મળતી હોવાથી એ નાશ પામી ગયેલા ગ્રંથને મહદંશે પુનર્જીવન પ્રાપ્ત થયું છે તે જ રીતે धर्मकीर्तिની વૃત્તિના પણ મોટા ભાગને જૈન સાહિત્યને આધારે તૈયાર કરી શકાય તેમ છે.

આ લેખમાં सम्बन्धपरीक्षाનું ટિબેટન ભાષાંતર અક્ષરશઃ અને સંપૂર્ણ આપવામાં આવશે, છેલ્લી ૨૩, ૨૪ તથા ૨૫ મી કારિકા કે જે હજુ સંસ્કૃતમાં મળી નથી તેનું ટિબેટન ભાષાંતર પણ આપવામાં આવશે, તેમજ स्याद्वादरत्नाकर તથા प्रमेयकमलमार्तण्डमा सम्बन्धना વિષયમાં જે પૂર્વપક્ષ છે તે પણ અહીં સંપૂર્ણ આવશે.

[1]टि०–ऽब्रेल्–प ब्र्तग्–पडि रब्–तु–ब्येद्–प ब्शुग्स्–सो ।

सं०–सम्बन्धपरीक्षाप्रकरणम्

टि०–र्ग्य–गर्–स्कद्–दु । [2]सम्बन्धपरीक्षाप्रकरणम् ।

सं०–भारतीयभाषायां सम्बन्धपरीक्षाप्रकरणम् ।

टि०–बोद्–स्कद्–दु । ऽब्रेल्–प ब्र्तग्–पडि रब्–तु–ब्येद्–प ।

सं०–[3]भोटभाषायां ऽब्रेल्–प ब्र्तग्–पडि रब्–तु–ब्येद्–प ।

टि०–ऽजम्–द्पल् ग्शोन्–नुर् ग्युर्–प ल फ्यग्–ऽछल्–लो ।

सं०–मञ्जुश्रीकुमारभूताय नमः ।

टि०–ग्शन्–द्बङ्ग ख्यो–नर् ऽब्रेल्–प नि । ग्रुब् न ग्शन्–द्बङ्ग चि–शिग् योद् ।
दे फ्यिर् द्ङोस्–पो थम्स्–चद् क्यि । ऽब्रेल्–प यङ्–दग्–जिद्–दु मेद् ॥ १ ॥

सं०– पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता ।
तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ १ ॥

---

१. અહીં टि० એટલે ટિબેટન ભાષાંતર સમજવું અને सं० એટલે તેનું સંસ્કૃત સમજવું.

૨. सम्बन्धपरीक्षाનું ટિબેટન ભાષાંતર અહીં મેં ટિબેટના स्नर्–थङ् મઠમાં છપાયેલી (स्नर्–थङ् એડીશનની) પ્રતિમાંથી આપેલું છે.

૩. ટિબેટની ભાષાને ભોટભાષા કહેવામાં આવે છે.

टि०-ञोबो ऽद्रेस्-प ऽब्रेल्० यिन् दु। ग्ञिस्-ञिद् ल देऽङ् जि-स्तर् ऽग्युर्।
दे फियर् रङ्-बशिन् थ-दद् प। ऽब्रेल्-प यङ्-दग्-ञिद्-दु मेद्॥ २॥

सं०- रूपश्लेषो हि सम्बन्धो द्वित्वे स च कथं भवेत्।
तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः॥ २॥

टि०-ग्शन् ब्ल्तोस्-प निऽब्रेल्-पर् यङ्। मेद् न दे ऽदि जि-ल्तर् ब्ल्तोस्।
योद् नऽङ् कुन्-ल रग्-म-लस्। द्ङोस्-पो जि-ल्तर् ब्ल्तोस्-प यिन्॥ ३॥

सं०- परापेक्षा हि सम्बन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते।
संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्षते॥ ३॥

टि०-ग्ञिस् नि ऽब्रेल्-प ग्चिग् दु यिस्। चि-ल्ते ऽब्रेल् न दे दङ् ग्ञिस्।
ऽब्रेल्-प गङ् यिन् थुग्-प मेद्। दे-बशिन् ऽब्रेल् मेद् शेस्-पर् ब्य॥ ४॥

सं०- द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः।
कः सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा॥ ४॥

टि०-द्ङोस्-पो दे ग्ञिस् दे लस् गशन्। दे दग् थम्स्-चद् ब्दग्-ञिद् ग्नस्।
दे बस् रङ् द्ङोस् म ऽद्रेस् लो। दे दग् र्तोग्स्-पस् ऽब्रेल्-पर् ब्येद्॥ ५॥

सं०- तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे ते स्वात्मनि स्थिताः।
इत्यमिश्राः स्वयं भावास्तान् मिश्रयति कल्पना॥ ५॥

टि०-द्ङोस्-पो थ-दद् र्तोग्स्-ब्यडि फियर्। दे यि र्जेस्-सु-ऽब्रङ्-ब यिस्।
ब्य दङ् ब्येद्-प-पो यि छिग्। स्म्र-ब-पो दग् ऽगोद्-पर्-ब्येद्॥ ६॥

सं०- तामेव चानुरुन्धानैः क्रियाकारकवाचिनः।
भावभेदप्रतीत्यर्थं संयोज्यन्तेऽभिधायकाः॥ ६॥

टि०-र्ग्यु दङ् ऽब्रस्-बुडि ऽब्रेल्-प यङ्। दे ग्ञिस् ल्हन्-चिग् मि ग्नस्-पस्।
ग्ञिस् ल ग्नस्-प जि-ल्तर् ग्रुब्। ग्ञिस् ल मि ग्नस् जि-ल्तर् ऽब्रेल्॥ ७॥

सं०- कार्यकारणभावोऽपि तयोरसहभावतः।
प्रसिध्यति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथम्॥ ७॥

टि०-रिम् लस् द्ङोस्-पो ग्चिग् ल ग्नस्। ग्शन् ल रे-ब मेद्-प यिन्।
दे मेद्-पर् यङ् योद्-पडि फियर्। ग्चिग् ल ग्नस्-प ऽब्रेल्-प मेद्॥ ८॥

सं०- क्रमेण भाव एकत्र वर्त्तमानोऽन्यनिस्पृहः।
तदभावेऽपि तद्भावात् सम्बन्धो नैकवृत्तिमान्॥ ८॥

टि०–ग्शन्–दु ऽदि नि ऽदुग्–प दङ् । चि–स्ते दे ग्ञिस् ग्चिग् ल स्तोस् ।
स्तोस्–प फन्–पर्–ब्येद्–पर् ऽग्युर् । मेद् न जि–स्तर् फन्–पर्–ब्येद् ॥ ९ ॥

सं०– यद्यपेक्ष्य तयोरेकमन्यत्रासौ प्रवर्तते ।
उपकारी ह्यपेक्ष्यः स्यात् कथं चोपकरोत्यसन् ॥ ९ ॥

टि०–चि–स्ते दोन् ग्चिग् ऽब्रेल्–पडि फियर् । दे ग्ञिस् ग्युं ऽब्रस् ञिद् यिन् न ।
ग्ञिस्–ञिद् ल सोग्स् ऽब्रेल्–पडि फियर् । ग्यस् ग्योन् वं यङ् दग् ग्ञिस् ऽग्योब् ॥ १० ॥

सं०– यद्येकार्थाभिसम्बन्धात् कार्यकारणता तयोः ।
प्राप्ता द्वित्वादिसम्बन्धात् सव्येतरविषाणयोः ॥ १० ॥

टि०–ऽगऽ–शिग् ग्ञिस् ग्नस् ऽब्रेल्–प योद् । दे मृछन् दे लस् ग्शन्–दु मिन् ।
योद् दङ् मेद्–पडि ब्ये–ब्रग् चन् । रग्योर्–व चि–स्ते ग्युं ऽब्रस् न ॥ ११ ॥

सं०– द्विष्ठो हि कश्चित् सम्बन्धो नातोऽन्यत् तस्य लक्षणम् ।
भावाभावोपधिर्योगः कार्यकारणता यदि ॥ ११ ॥

टि०–रग्योर्–वडि ब्ये–ब्रग्–चन् दे ञिद् । ऽदिर् नि ग्युं ऽब्रस् चि–फियर् मिन् ।
थ–दद् चेस् ब्यडि स्म्र ऽदि न । स्म्र–ब्येद् ल वुर्तेन् म–यिन्–नम् ॥ १२ ॥

सं०– योगोपाधी न तावेव कार्यकारणताऽत्र किम् ।
भेदाच्चेन्नन्वयं शब्दो नियोक्तारं समाश्रितः ॥ १२ ॥

टि०–गङ्–शिग् मृथोङ् न म–मृथोङ् मृथोङ् । दे म–मृथोङ् न म–मृथोङ्–व ।
ऽब्रस्–वु यिन्–प ञिद्–दु नि । स्तन्–पडि स्क्ये–बो मेद्–पर् शेस् ॥ १३ ॥

सं०– पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तददर्शने ।
अपश्यन् कार्यमन्वेति विनाऽप्याख्यातृभिर्जनः ॥ १३ ॥

टि०–मृथोङ् दङ् म–मथोङ् म–गृतोग्स् पर् । ऽब्रस्–बुडि ब्लो नि मि स्रिद् फियर् ।
ऽदि ल ऽब्रस्–बु ल सोग्स् स्म्र । थ–स्नद् स्ल–बडि फियर् बृकोद्–दो ॥ १४ ॥

सं०– दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात् ।
कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता ॥ १४ ॥

टि०–दे योद् योद् फियर् दे ऽब्रस् तोग्स् । गङ् यङ् जेंस्–सु–स्म्र–व यि ।
वुर्द यि युल् दु दे बृजोद् दे । स्कोग्–शल् ल सोग्स् गङ् तोग्स् बृशिन् ॥ १५ ॥

सं०– तद्भावभावात् तत्कार्यगतिर्याप्यनुवर्ण्यते ।
सङ्केतविषयाख्या सा सास्नादेर्गोगतिर्यथा ॥ १५ ॥

टि०-योद् ऽयुर् योद् न दे योद् चिङ् । योद्-प जिद् ऽङ् योद् ऽयुर्-च ।
मृङोन्-सुम् मि दुमिग्स्-प दग् लस् । ग्युं ऽब्रस् खो-नर् रब्-तु-ग्रुब् ॥ १६ ॥

सं०- भावे भाविनि तद्भावो भाव एव च भाविता ।
प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ॥ १६ ॥

टि०-रे-शिग्-दे-चम् यङ्-दग् दोन् । ग्युं दङ् ऽब्रस्-बुऽि स्व्योद्-युल् नेमूस् ।
नेमू-पर् तोंग्-पस् स्तोन्-प नि । दोन् लोग्-प यि दोन् बशिन् स्तोन् ॥ १७ ॥

सं०- एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः ।
विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्थान् घटितानिव ॥ १७ ॥

टि०-थ-दद् यिन् न चि-शिग् ऽब्रेल् । थ-दद् मिन् न ग्युं ऽब्रस् गङ् ।
ग्शन्-शिग् योद् न म-ऽब्रेल् ग्ञिस् । दे ग्ञिस् ऽब्रेल्-पर् जि-ल्तर् व्येद् ॥ १८ ॥

सं०- भिन्ने का घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का ।
भावे त्वन्यस्य विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथं च तौ ॥ १८ ॥

टि०-स्व्योर् दङ् ऽदु-व ल सोग्स्-प । थमूस्-चद् देस् क्यङ् दृप्यद्-प यिन् ।
फन्-छुन् फन्-प-मि-व्येद् फियर् । दे-ऽद्र व ल सोग्स् ऽब्रेल्-प मेद् ॥ १९ ॥

सं०- संयोगिसमवाय्यादि सर्वमेतेन चिन्तितम् ।
अन्योन्यानुपकाराच्च न सम्बन्धी च तादृशः ॥ १९ ॥

टि०-ऽदु-ब-चन् नि ऽग्ऽ-शिग् गिस् । ब्रस्-ऽबु स्क्येद्-पर् व्येद्-प न ।
दे-छे ऽदु-ब-चन् ऽदि मेद् । शिन्-तु थल्-फियर् दे ग्ञिस् मिन् ॥ २० ॥

सं०- जननेऽपि हि कार्यस्य केनचित् समवायिना ।
समवायी तदा नासौ न ततोऽतिप्रसङ्गतः ॥ २० ॥

टि०-दे ग्ञिस् दङ् नि ऽदु-व दङ् । ग्शन् यङ् फन्-प मि व्येद्-पर् ।
चि-स्ते ऽब्रेल् न मथऽ-दग् क्यङ् । फन्-छुन् ऽब्रेल्-प-चन्-दु ऽयुर् ॥ २१ ॥

सं०- तयोरनुपकारेऽपि समवाये परत्र वा ।
सम्बन्धो यदि विश्वं स्यात् समवायि परस्परम् ॥ २१ ॥

टि०-लस् सोग्स् स्व्योर्-व-चन् ग्रुब्-फियर् । स्व्योर्-व-बुस्क्ये दु क्यङ् देस् दे ग्ञिस् ।
स्व्योर्-व-चन् दु मि ऽदोद्-दो । ग्नस्-पर्-व्येद्-पऽङ् रब्-तु-बुर्जोद् ॥ २२ ॥

सं०- संयोगजननेऽपीष्टौ ततः संयोगिनौ न तौ ।
कर्मादियोगितापत्तेः स्थितिश्च प्रतिवर्णिता ॥ २२ ॥

टि०–स्क्योद्–व ल सोगुस् प यि गुनम् । रुङ्–वडि द्ङोस्–पो दे ड्युग्न ।
रुङ्–वडि द्ङोस्–पो तेंग् न नि । दे दङ् ब्रल्–प ड्गल् फ्यिर् ॥ २३ ॥

टि०–दे नस् ब्रल् दङ् ल्दन् प दङ् । ड्ग्रो सोगुस् रुङ्–व् वृर्जोद्–प न ।
को–बो ड्दि ल ब्रेस्–पर् वृर्जोद् । ड्ग्रो सोगुस् ग्शन् तेंगुस् चि शिग् ब्य ॥ २४ ॥

टि०–दे दग् नेंमुस ल योद् न यङ् । ड्दि ल शेम् ड्ब्रेल्–प मि ड्ग्रुव् फ्यिर् ।
स्कद्–चिग् सो–सो स्क्ये–व यि । द्ङोस्–पो थ–दद् ड्दि यिन् रिग्म् ॥ २५ ॥

टि०–ड्ब्रेल्–प ब्र्तग्–पडि रब्–तु–ब्येद्–प । स्लोब्–द्पोन् मूखस्–प छेन्–पो छोस्–क्यि–ग्रगुस्–पस् मूज़द्–प र्जोगुस्–सो ।

सं०–सम्बन्धपरीक्षाप्रकरणं महापण्डिताचार्यधर्मकीर्तिना रचितं समाप्तम् ।

टि०–र्ग्य–गर् ग्यि मूखन्–पो ज्ञानगर्भ दङ् । लो–च–व बन्–दे नम्–मूखस् वूग्युर्–वडो ।

सं०–भारतीयपण्डितेन ज्ञानगर्भेण भोटीयेन अनुवादकेन वन्धगगनेन च अनूदितम् ।

प्रमाणनयतत्त्वलोकालङ्कार ના ૫ મા પરિચ્છેદના ૮ મા સૂત્રની વ્યાખ્યામાં स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ८१२–८१८) માં सम्बन्ध વિષયક પૂર્વપક્ષ કે જેમાં ઉપર જણાવેલ બાવીસ કારિકાઓ ઉદ્ધૃત કરેલી છે તે નીચે પ્રમાણે છે. स्याद्वादरत्नाकर માં આ પૂર્વપક્ષ અશુદ્ધ છપાયેલો છે. ટિબેટન ભાષાંતર તથા प्रमेयकमलमार्तण्ड સાથે સરખાવીને અશુદ્ધિ દૂર કરીને અહીં આપવાનો મેં યથામતિ પ્રયત્ન કર્યો છે.

[स्याद्वादरत्नाकर पृ० ८१२] " परमाणूनामन्योन्यं सम्बन्धाभावतः स्थूलाकारप्रतीतेर्भ्रान्तत्वात् कथं तद्वशात् तदात्मकं वस्तु स्यात् । सम्बन्धो हि स्वरूपेणैव तावन्न सम्भवति । तथा हि–अयमर्थानां पारतन्त्र्यलक्षणो वा स्यात् तादात्म्यापरपर्यायरूपाश्लेषलक्षणो वा ? प्रथमपक्षे किमसौ निष्पन्नयोः सम्बन्धिनोः स्यादनिष्पन्नयोर्वा ? न तावदनिष्पन्नयोः, स्वरूपस्यैवासत्त्वात्, तुरगखरविषाणवत् । निष्पन्नयोश्च पारतन्त्र्याभावादसम्बन्ध एव । तदाह 'कीर्तिः'[1]—

पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता ।
तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ १ ॥

नापि यथोक्तरूपश्लेषलक्षणोऽसौ, सम्बन्धिनोर्द्वित्वे तस्य विरोधात् । तयोरैक्ये वा सुतरां तदभावः, द्विष्ठत्वात् सम्बन्धस्य । अथ नैरन्तर्यं तयोरुपश्लेषः, न, अस्यान्तरालाभावरूपत्वे तात्त्विकत्वायोगात् । प्राप्तिरूपत्वेऽपि प्राप्तेः संयोगापरनामिकायाः परमार्थतः कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यामसम्भवात् ।

---

१ सम्बन्धपरीक्षानी वृत्तिमां सम्बन्धनी चर्चा अहींथी ज शरू थाय छे

[तदुक्तम्— रूपश्लेषो हि सम्बन्धो द्वित्वे स च कथं भवेत् ।]
तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ २ ॥

किञ्च, परापेक्षैव सम्बन्धः, तस्य द्विष्ठत्वात् । परं चापेक्षते भावः स्वयं सन्नसन् वा ? न तावदसन्, तस्यापेक्षाधर्माश्रयत्वविरोधात्, खरशृङ्गवत् । नापि सन्, तस्य सर्वनिराशंसत्वात् । अन्यथा सत्त्वविरोधात् । तन्न परापेक्षा नाम यद्रूपः सम्बन्धः सिध्येत् । उक्तञ्च—

परापेक्षा हि सम्बन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते ।
संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्षते ॥ ३ ॥

किञ्च, असौ सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नः स्यादभिन्नो वा ? यद्यभिन्नस्तदा सम्बन्धिनावेव, न सम्बन्धः कश्चित् । भिन्नश्चेत् तर्हि सम्बन्धिनौ केवलौ कथं सम्बद्धौ स्याताम् । सम्बन्धान्तरं विना सम्बन्धिभ्यां सह कथं भिन्नः सम्बन्धः सम्बध्यते ? सम्बन्धान्तराभ्युपगमे चानवस्था स्यात्, तत्रापि सम्बन्धान्तरानुषङ्गात् ।[2] तन्न सम्बन्धमतिः सुदूरमपि गत्वा । द्वयोरेकाभिसम्बन्धमन्तरेणापि सम्बन्धे प्रथममेव तथास्तु, किमेकाभिसम्बन्धेन ? तथा च न सम्बन्धमतिः केवलयोः सम्बन्धिनोः, अतिप्रसङ्गात् । यदि च सम्बन्धिनौ सम्बन्धश्च स्वेनासाधारणरूपेण स्वलक्षणापरनाम्ना स्थितास्तदा सिद्धममिश्रणमर्थानां परमार्थतः । तदाह—

द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः ।
कः सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा ॥ ४ ॥

'तद्द्वयोः कः सम्बन्धः' इति ।[3] चेदत्र तच्छब्दस्तर्हि शब्दार्थः ततोऽयमर्थः— सम्बन्धाख्यैकवस्तुसद्भावाद् द्वौ सम्बद्धौ भवत इति यदि कल्प्यते तर्हि द्वयोः सम्बन्धिनोः कः सम्बन्ध एकेन सम्बन्धेन सहेति । तथा—

तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे ते स्वात्मनि ।
इत्यमिश्राः स्वयं भावास्तान् मिश्रयति कल्पना ॥ ५ ॥

अस्यार्थः—तौ च भावौ सम्बन्धिनौ ताभ्यामन्यश्च सम्बन्धः सर्वे ते स्वात्मनि स्वस्वरूपे स्थिताः, तेन अमिश्राः स्वयं भावाः । तथापि तान् मिश्रयति योजयति कल्पनेति । अत एव च

---

१ [ ] આવા ચોરસ કોષ્ઠકમા આપેલા પાઠો મેં ઉમેરેલા છે. અહીં ઉમેરેલો પાઠ स्याद्वादरत्नाकरमा નથી તો પણ અર્થસંગતિ માટે તેમ જ કારિકા પૂર્ણ કવા માટે प्रमेयकमलमार्तण्डमाथी લઈને અહીં મેં ઉમેર્યો છે.

૨ અહીં स्याद्वादरत्नाकरमा तत्क. सम्बन्धमति. પાઠ છપાયેલો છે પણ તે અશુદ્ધ છે. तत्का सम्बन्धमतिः પાઠ પણ અહી સંભવી શકે.

૩ તેન द्वयो=तद्द्वयोः—આ પ્રમાણે અર્થ वृत्ति વગેરમા બતાવેલો છે, તેથી બીજો અર્થ જણાવવા માટે અહીં ગ્રંથકાર શ્રીવાદીદેવસૂરિજીએ चेदत्र तच्छब्दस्तर्हिशब्दार्थः એમ જણાવ્યું છે,

वास्तवसम्बन्धाभावेऽपि तामेव कल्पनामनुरुन्धानैर्व्यवहर्तृभिर्भावानां भेदस्यान्यापोहापरपर्यायस्य प्रत्यायनाय क्रियाकारकादिवाचिनः शब्दाः प्रयुज्यन्ते 'देवदत्त ! गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इत्यादयः। न खलु कारकाणां क्रियया सम्बन्धोऽस्ति,क्षणिकत्वेन तत्काले तेषामसम्भवात्। तदुक्तम्—

तामेव चानुरुन्धानैः क्रियाकारकवाचिनः।
भावभेदप्रतीत्यर्थं संयोज्यन्तेऽभिधायकाः ॥ ६ ॥

'कार्यकारणभावस्तर्हि सम्बन्धो भविष्यति' इत्यप्यसमीचीनम्, कार्यकारणयोः सहभावाभावात्। न खलु कारणकाले कार्यं तत्काले वा कारणमस्ति, तुल्यकाले कार्यकारणभावानुपपत्तेः, सव्येतरगोविषाणवत्। तत्र सम्बन्धिनौ सहभाविनौ विद्येते येनानयोर्वर्तमानः सम्बन्धः स्यात्। अद्विष्ठे च भावे सम्बन्धतानुपपन्नेव। तदाह—

कार्यकारणभावोऽपि तयोरसहभावतः।
प्रसिध्यति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथम् ॥ ७ ॥

'कार्ये कारणे च क्रमेणासौ सम्बन्धो वर्तते' इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतः।

क्रमेण भाव एकत्र वर्तमानोऽन्यनिस्पृहः।
तदभावेऽपि तद्भावात् सम्बन्धो नैकवृत्तिमान् ॥ ८ ॥

अस्यार्थः— क्रमेणापि भावः सम्बन्धाख्य एकत्र कार्ये कारणे वा वर्तमानोऽन्यनिस्पृहः कार्यकारणयोरन्यतरानपेक्षो नैकवृत्तिमान् सम्बन्धो युक्तः, तदभावेऽपि कार्यकारणयोरभावेऽपि तद्भावादिति।

यद्यपेक्ष्य तयोरेकमन्यत्रासौ प्रवर्तते।
उपकारी ह्यपेक्ष्यः स्यात् कथं चोपकरोत्यसन् ॥ ९ ॥

व्याख्या—यदि पुनः कार्यकारणयोरेकं कार्यं कारणं वाऽपेक्ष्य अन्यत्र कार्ये कारणे वासौ सम्बन्धः क्रमेण वर्तत इति सस्पृहत्वेन द्विष्ठ एवेष्यते तदा तेनापेक्ष्यमाणेन उपकारिणा भवितव्यम्, यस्मादुपकारी अपेक्ष्यः स्यान्नान्यः। कथं चोपकरोत्यसन् ? यदा कारणकाले कार्याख्यो भावोऽसन् तत्काले वा कारणाख्यस्तदा नैवोपकुर्यादसामर्थ्यात्। किञ्च,

यद्येकार्थाभिसम्बन्धात् कार्यकारणता तयोः।
प्राप्ता द्वित्वादिसम्बन्धात् सव्येतरविषाणयोः ॥ १० ॥
द्विष्ठो हि कश्चित् सम्बन्धो नातोऽन्यत् तस्य लक्षणम्।

अस्य सार्धश्लोकस्यार्थः—द्विष्ठो हि कश्चित् पदार्थः सम्बन्धः, नातोऽन्यत् तस्य लक्षणम्। ततश्च यद्येकेनार्थेन सम्बन्धलक्षणेन योग एव कार्यकारणत्वं तदा द्वित्वसङ्ख्यापरत्वापरत्वा-

थेकार्थसम्बन्धात् सव्येतरविषाणयोरपि कार्यकारणता प्राप्नोति । क्वचिद् 'द्वित्वाभिसम्बन्धात्' इति पाठः स च स्पष्टार्थः । किञ्च,

भावाभावोपधिर्योगः कार्यकारणता यदि ॥ ११ ॥
योगोपाधी न तावेव कार्यकारणतात्र किम् ।
भेदाच्चेन्नन्वयं शब्दो नियोक्तारं समाश्रितः ॥ १२ ॥

अस्यार्थः—स्थिते कार्यकारणरूपत्वे तदाक्षिप्तः सम्बन्धः कार्यकारणभाव इति कस्मिंश्चित् सति भावस्तदभावे चाभावः कार्यकारणभावो यस्तद्विशिष्टः सम्बन्धः कार्यकारणभावो भवति। तदेतद् यदीष्यते तदा सम्बन्धस्य विशेषणतया यावभिमतौ भावाभावौ तावेव कार्यकारणभावो भवतु, किं कार्यकारणयोरपरेण कार्यकारणभावेन सम्बन्धेन ? प्रतिलब्धकार्यकारणरूपयोर्हि किमपरेण सम्बन्धेन ? तावतैव वस्तुपर्यवसानात् । तथाविधेन स्वरूपप्रतिलम्भेन तु सम्बन्ध आक्षिप्यत इति [न] न्यायो नाप्यनुभव इति न युक्तमेतत् ।

ननु 'कार्यकारणभावयोः सम्बन्धः' इति भेदाद् भवितव्यं तथाभूतयोरपि सम्बन्धेनेति चेत्। तदयुक्तम् । यतः शब्दोऽयम्, नानुभवः । सोऽपि च सङ्केतप्रयोक्तृपरतन्त्रो नार्थाश्रय इति नैवमादेर्वस्तुव्यवस्थेति तावेव कार्यकारणतेति युक्तम् । न त्वपरः सम्बन्धः । तथा हि—

पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तददर्शने ।
अपश्यन् कार्यमन्वेति विनाप्याख्यातृभिर्जनः ॥ १३ ॥

पश्यन्नेकं कारणाभिमतमदृष्टस्य उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धस्य कार्याख्यस्य दर्शने सति, तस्यैकस्य कारणाभिमतस्यादर्शने च सति अपश्यन् कार्यमन्वेति 'इदमतो भवति' इति निर्विकल्पकप्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते जनः 'अत इदं जातम्' इत्याख्यातृभिर्विनापि । ततश्च,

दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात् ।
कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता ॥ १४ ॥

दर्शनादर्शने मुक्त्वा विषयिणि विषयोपचाराद् भावाभावौ मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात् कार्यादिश्रुतिरप्यत्र 'भावाभावयोर्मा लोकः प्रतिपदमियतीं शब्दमालामभिदध्यात्' इति व्यवहारलाघवार्थं निवेशितेति ।

अथापि स्यात—यदि दर्शनादर्शने एव कार्यबुद्धिस्तर्हि भावाभावौ कार्यम्, न चैतदस्ति, भावाभावाभ्यां कार्यत्वसाधनात् । तस्मादन्यदेव कार्यत्वमित्यन्या कार्यत्वबुद्धिः । तदयुक्तम्, यतः

तद्भावभावात् तत्कार्यगतिर्याप्यनुवर्ण्यते ।
सङ्केतविषयाख्या सा सास्नादेर्गोगतिर्यथा ॥ १५ ॥

१ अहीं स्याद्वादरत्नाकरमां किन्तु पाठ छपायेलो छे, पण ते अशुद्ध छे. किन्नु पाठ संभवी शके.

तद्भावभावाल्लिङ्गात् तत्कार्यतागतिर्याप्यनुवर्ण्यते ' अस्येदं कार्यमस्येदं कारणं च ' इति सङ्केतविषयाख्यानमेतदुपदर्श्यते, यथा ' गौरयं सास्नादिमत्त्वात् ' इत्यनेन गोव्यवहारस्य विषयः प्रदर्श्यते । यतः

भावे भाविनि तद्भावो भाव एव च भाविता ।
प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ॥ १६ ॥

प्रत्यक्षानुपलम्भतो हि कार्यकारणते प्रतीयेते, न तु तद्भावभावात् । तद्भावभाव एव तु ते । तथा हि–भावेऽग्न्यादौ भाविनि [तस्य] धूमस्य भावः प्रत्यक्षावगतः । भाव एव च तस्य अग्न्यादेर्भाविता धूमस्य न तु पूर्वमेव भाव इत्यनुपलम्भतोऽवगतम्, प्रागग्निसन्निधेरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य धूमस्याभावावगमात् । य एव चासौ भावे तद्भावोऽभावे चाभावस्तदेव कार्यकारणयोः कार्यकारणत्वम् । एवञ्च,

एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः ।
विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्थान् घटितानिव ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षानुपलम्भमात्रावगतभावाभावपरमार्थाः कार्यकारणविषया विकल्पाः तथाभूता अपि तेऽर्थानसत्यार्थस्वरूपान् दर्शयन्ति । का पुनस्तेषामसत्यवस्तुरूपता ? यदिदं घटितानामिव प्रतिभानम्–' अस्येदं कार्यमस्य चेदं कारणम् ' इति । घटना चासत्यत्वम् । तथाहि—

भिन्ने का घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का ।
अन्यस्य भावे विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथं च तौ ॥ १८ ॥

कार्यकारणभूतो ह्यर्थो भिन्नोऽभिन्नो वा स्यात् ? यदि भिन्नस्तर्हि भिन्ने का घटना ? स्वस्वभावव्यवस्थितेः । अथाभिन्नस्तदा अभिन्ने कार्यकारणतापि का ? नैव स्यात् ।

स्यादेतत्—न भिन्नस्य अभिन्नस्य वा सम्बन्धः, किं तर्हि ? सम्बन्धाख्येनैकेन सम्बन्धादिति । अत्रापि भावे सत्तायामन्यस्य सम्बन्धस्य विश्लिष्टौ कार्यकारणाभिमतौ[1] श्लिष्टौ स्यातां कथं च ताविति ?

संयोगिसमवाय्यादि सर्वमेतेन चिन्तितम् ।
अन्योन्यानुपकारात्म न सम्बन्धी च तादृशः ॥ १९ ॥

यतश्च कार्यकारणभावो न सम्बन्धो द्विष्ठत्वाभावेन विलक्षणत्वादतः संयोगिसमवाय्यादि कारणमपाकृतम् । कीदृशम् ? अन्योन्यानुपकारात्म परस्परमुपकारशून्यस्वभावम् । कार्यकारणावस्थत्वे परस्परमुपकारस्य पारतन्त्र्येण सश्लेषणापेक्षया चाभावादेकसन्निधावपरस्यासिद्धेः । यश्चैवं भावादुपकाररहितः स सम्बन्धी न भवतीति ।

---

१ અહીં स्याद्वादरत्नाकरમાં कार्यकारणताभिमतौ પાઠ છપાયેલો છે પણ તે અશુદ્ધ છે.

अथास्ति कश्चित् समवायी योऽन्वयविरूपं कार्यं जनयति अतो नाऽनुपकारादसम्बन्धितेति। तन्न। यतः

जननेऽपि हि कार्यस्य केनचित् समवायिना।
समवायी तदा नासौ न ततोऽतिप्रसङ्गतः॥ २०॥

जननेऽपि हि कार्यस्य केनचित् समवायिनाभ्युपगम्यमाने समवायी नासौ तदा जनन-काले कार्यस्यानिष्पत्तेः। न च ततो जननात् समवायित्वं सिध्यति कुम्भकारादेरपि घटसमवायित्वप्रसङ्गात्।

तयोरनुपकारेऽपि समवाये परत्र वा।
सम्बन्धो यदि विश्वं स्यात् समवायि परस्परम्॥ २१॥

सम्बन्धिनोरनुपकारेऽपि समवाये संयोगे वा सम्बन्धो यदीष्यते तदा विश्वमपि समवायि, उपलक्षणं चैतदिति संयोगि च स्यात्। संयोगेन समवायेन वा विश्वं सम्बन्धि स्यादित्युक्तं भवति।

संयोगजननेऽपीष्टौ ततः संयोगिनौ न तौ।
[[1]कर्मादियोगितापत्तेः स्थितिश्च प्रतिवर्णिता॥ २२॥]

यदि संयोगजननात् संयोगिता तयोस्तदा संयोगजननेऽपि इष्टावभिलषितौ ततः संयोग-जननान्न तौ संयोगिनौ, कर्मणोऽपि संयोगितापत्तेः संयोगो ह्यन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोग-जश्चेष्यते। आदिग्रहणात् संयोगजस्यापि संयोगिता स्यात्। न सं[योगजननात् संयोगिता, किं तर्हि? स्थापनादिति चेत्, न, स्थितिश्च प्रतिवर्णिता अन्थान्तरे प्रतिक्षिप्ता स्थाप्यस्थाप]कयोर्हि जन्यजनकभावान्नान्या स्थितिरिति।

—स्याद्वादरत्नाकर पृ० ८१२–८१८.

શ્રી પ્રભાચંદ્રાચાર્યે રચેલા प्रमेयकमलमार्तण्ड માં આ સ્થળે सम्बन्धના વિષયમાં જે પૂર્વપક્ષ છે તે અક્ષરશઃ નીચે પ્રમાણે છે.

ननु चाणूनामयःशलाकाकल्पत्वेनान्योन्यं सम्बन्धाभावतः स्थूलादिप्रतीतेर्भ्रान्तत्वात् कथं तद्वशात् तत्स्वभावो भावः स्यात्? तथा हि—सम्बन्धोऽर्थानां पारतन्त्र्यलक्षणो वा स्यात्,

---

१ અહીં स्याद्वादरत्नाकरमां 'कर्मादेरपि संयोगिता स्याजननात् ततः॥' એ પ્રમાણે કારિકાનું ઉત્તરાર્ધ છપાયેલું છે પણ તેમાં છંદોભંગ વિગેરે દોષો છે અને ટિબેટન ભાષાંતર સાથે તેનો બીલકુલ મેળ ખાતો નથી માટે તે રદ કરીને कर्मादियोगितापत्तेः स्थितिश्च प्रतिवर्णिता॥ આ પાઠ प्रमेयकमलमार्तण्डमांथी લઈને મેં અહીં દાખલ કર્યો છે ટિબેટન ભાષાંતર સાથે તેમ જ અહીં આપેલી વ્યાખ્યા સાથે પણ બરાબર આ પાઠ મળી રહે છે

२ અહીં स्याद्वादरत्नाकरमां પાઠ ખંડિત થયેલો છે એટલે [ ] આવા ચોરસ કોષ્ઠમાં આપેલો પાઠ प्रमेयकमलमार्तण्ड (પૃ૦ ૫૦૯) માંથી લઈને મેં અહીં ઉમેર્યો છે.

रूपश्लेषलक्षणो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमसौ निष्पन्नयोः सम्बन्धिनोः स्यात्, अनिष्पन्नयोर्वा ? न तावदनिष्पन्नयोः; स्वरूपस्यैव असत्त्वात् शशाश्वविषाणवत्। निष्पन्नयोश्च पारतन्त्र्याभावादसम्बन्ध एव। उक्तञ्च—

पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता।
तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ १ ॥

नापि रूपश्लेषलक्षणोऽसौ सम्बन्धिनोर्द्वित्वे रूपश्लेषविरोधात्। तयोरैक्ये वा सुतरां सम्बन्धाभावः, सम्बन्धिनोरभावे सम्बन्धायोगात्, द्विष्ठत्वात् तस्य। अथ नैरन्तर्यं तयोरूपश्लेषः, न अस्यान्तरालाभावरूपत्वेनातात्त्विकत्वात् सम्बन्धरूपत्वायोगः। निरन्तरतायाश्च सम्बन्धरूपत्वे सान्तरतापि कथं सम्बन्धो न स्यात् ?

किञ्च, असौ रूपश्लेषः सर्वात्मना एकदेशेन वा स्यात् ? सर्वात्मना रूपश्लेषे अणूनां पिण्डः अणुमात्रः स्यात्। एकदेशेन तच्छ्लेषे किमेकदेशास्तस्य आत्मभूताः परभूता वा ? आत्मभूताश्चेत्; न एकदेशेन रूपश्लेषस्तदभावात्। परभूताश्चेत्; तैरप्यणूनां सर्वात्मनैकदेशेन वा रूपश्लेषे स एव पर्यनुयोगोऽनवस्था च स्यात्। तदुक्तम्—

रूपश्लेषो हि सम्बन्धो द्वित्वे स च कथं भवेत्।
तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥ २ ॥

किञ्च, परापेक्षैव सम्बन्धः, तस्य द्विष्ठत्वात्। तं चापेक्षते भावः स्वयं सन् असन् वा ? न तावदसन्, अपेक्षाधर्माश्रयत्वविरोधात् खरशृङ्गवत्। नापि सन्, सर्वनिराशंसत्वात्, अन्यथा सत्त्वविरोधात्। तन्न परापेक्षा नाम यद्रूपः सम्बन्धः सिध्येत्। उक्तञ्च—

परापेक्षा हि सम्बन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते।
संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्षते ॥ ३ ॥

किञ्च, असौ सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नः अभिन्नो वा ? यद्यभिन्नः, तदा सम्बन्धिनावेव न सम्बन्धः कश्चित्, स एव वा न ताविति। भिन्नश्चेत्, सम्बन्धिनौ केवलौ कथं सम्बद्धौ स्याताम्।

भवतु वा सम्बन्धोऽर्थान्तरम्; तथापि तेनैकेन सम्बन्धेन सह द्वयोः सम्बन्धिनोः कः सम्बन्धः ? यथा सम्बन्धिनोर्यथोक्तदोषान्न कश्चित् सम्बन्धस्तथात्रापि। तेनानयोः सम्बन्धान्तराभ्युपगमे चानवस्था स्यात् तत्रापि सम्बन्धान्तरानुषङ्गात्। तन्न सम्बन्धिनोः सम्बन्धबुद्धिर्वास्तवी तद्व्यतिरेकेणान्यस्य सम्बन्धस्याभावात्। तदुक्तम्—

द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः।
कः सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा ॥ ४ ॥

ततः—

तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे ते स्वात्मनि स्थिताः ।
इत्यमिश्राः स्वयं भावास्तान् मिश्रयति कल्पना ॥ ५ ॥

तौ च भावौ सम्बन्धिनौ ताभ्यामन्यश्च सम्बन्धः सर्वे ते स्वात्मनि स्वस्वरूपे स्थिताः । तेनामिश्रा व्यावृत्तस्वरूपाः स्वयं भावास्तथापि तान् मिश्रयति योजयति कल्पना । अत एव तद्वास्तवसम्बन्धाभावेऽपि तामेव कल्पनामनुरुन्धानैर्व्यवहर्तृभिर्भावाना भेदोऽन्यापोहस्तस्य प्रत्यायनाय क्रियाकारणादिवाचिनः शब्दाः प्रयोज्यन्ते–' देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन ' इत्यादयः । न खलु कारकाणां क्रियया सम्बन्धोऽस्ति क्षणिकत्वेन क्रियाकाले कारकाणामसम्भवात् । उक्तञ्च

तामेव चानुरुन्धानैः क्रियाकारकवाचिनः ।
भावभेदप्रतीत्यर्थं संयोज्यन्तेऽभिधायकाः ॥ ६ ॥

कार्यकारणभावस्तर्हि सम्बन्धो भविष्यति इत्यप्यसमीचीनम्; कार्यकारणयोरसहभावतस्तस्यापि द्विष्ठस्यासम्भवात् । न खलु कारणकाले कार्यं तत्काले वा कारणमस्ति, तुल्यकालं कार्यकारणभावानुपपत्तेः सव्येतरगोविषाणवत् । तन्न सम्बन्धिनौ सहभाविनौ विद्येते येनानयोर्वर्तमानोऽसौ सम्बन्धः स्यात् । अद्विष्ठे च भावे सम्बन्धतानुपपन्नैव ।

कार्ये कारणे वा क्रमेणासौ सम्बन्धो वर्तते इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः क्रमेणापि भावः सम्बन्धाख्य एकत्र कारणे कार्ये वा वर्तमानोऽन्यनिःस्पृहः=कार्यकारणयोरन्यतरापेक्षः नैकवृत्तिमान् सम्बन्धो युक्तः, तदभावेऽपि कार्यकारणयोरभावेऽपि तद्भावात् । यदि पुनः कार्यकारणयोरेकं कार्यं कारणं वापेक्ष्य अन्यत्र कार्ये कारणे वासौ सम्बन्धः क्रमेण वर्तत इति सस्पृहत्वेन द्विष्ठ एवेष्यते; तदानेनापेक्ष्यमाणेनोपकारिणा भवितव्यम्; यस्मादुपकारी अपेक्ष्यः स्यात्, नान्यः । कथं चोपकरोति असन् ? यदा कारणकाले कार्याख्यो भावोऽसन् तत्काले वा कारणाख्यस्तदा नैवोपकुर्यादसामर्थ्यात् ।

किञ्च, यद्येकार्थाभिसम्बन्धात् कार्यकारणता तयोः कार्यकारणत्वेनाभिमतयोः, तर्हि द्वित्वसंख्यापरत्वापरत्वविभागादिसम्बन्धात् प्राप्ता सा सव्येतरगोविषाणयोरपि । न येन केनचिदेकेन सम्बन्धात् सेष्यते । किं तर्हि ? सम्बन्धलक्षणेनैवेति चेत्, तन्न; द्विष्ठो हि कश्चित् पदार्थः सम्बन्धः, नातोऽर्थद्वयाभिसम्बन्धादन्यत्तस्य लक्षणम्, येनास्य संख्यादेर्विशेषोऽवस्थाप्येत ।

कस्यचिद् भावे भावोऽभावे चाभावः तावुपाधी विशेषणं यस्य योगस्य=सम्बन्धस्य स कार्यकारणता यदि न सर्वसम्बन्धः, तदा तावेव योगोपाधी भावाभावौ कार्यकारणतास्तु किमसत्सम्बन्धकल्पनया ? भेदाच्चेत् ' भावे हि भावोऽभावे चाभावः ' इति बहवोऽभिधेयाः कथं ' कार्यकारणता ' इत्येकार्थाभिधायिना शब्देनोच्यन्ते ? नन्वयं शब्दो नियोक्तारं समाश्रितः ।

नियोक्ता हि यं शब्दं यथा प्रयुङ्क्ते तथा प्राह इत्यनेकत्रापि एका श्रुतिर्न विरुध्यते इति तावेव कार्यकारणता ।

यस्मात् पश्यन्नेकं कारणाभिमतमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य अदृष्टस्य कार्याख्यस्य दर्शने सति तददर्शने च सति अपश्यन् कार्यमन्वेति 'इदमतो भवति' इति प्रतिपद्यते जनः 'अतः इदं जातम्' इत्याख्यातृभिर्विनापि । तस्माद्दर्शनादर्शने–विषयिणि विषयोपचारात्–भावाभावौ मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात् कार्यादिश्रुतिरप्यत्र 'भावाभावयोर्मा लोकः प्रतिपदमियतीं शब्दमालामभिद-ध्यात्' इति व्यवहारलाघवार्थं निवेशितेति ।

अन्वय–व्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणता नान्या चेत् कथं भावाभावाभ्यां सा प्रसाध्यते ? तद्[1]भावभावात् लिङ्गात् तत्कार्यतागतिर्याप्यनुवर्ण्यते 'अस्येदं कार्यं कारणं च' इति, सङ्केत-विषयाख्या सा । यथा 'गौरयं सास्नादिमत्त्वात्' इत्यनेन गोव्यवहारस्य विषयः प्रदर्श्यते । यतश्च 'भावे भाविनि=भवनधर्मिणि तद्भावः कारणाभिमतस्य भाव एव कारणत्वम्, भावे एव कारणाभिमतस्य भाविता कार्याभिमतस्य कार्यत्वम्' इति प्रसिद्धे प्रत्यक्षानुपलम्भतो हेतुफलते । ततो भावाभावावेव कार्यकारणता नान्या । तेन एतावन्मात्रं=भावाभावौ तावेव तत्त्वं यस्यार्थस्य असावेतावन्मात्रतत्त्वः, सोऽर्थो येषां विकल्पानां ते एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः=एतावन्मात्रबीजाः कार्य-कारणगोचराः, दर्शयन्ति घटितानिव=सम्बद्धानिव असम्बद्धानप्यर्थान् । एवं घटनाच्च मिथ्यार्थाः ।

किञ्च, असौ कार्यकारणभूतोऽर्थो भिन्नः अभिन्नो वा स्यात् ? यदि भिन्नः, तर्हि भिन्ने का घटना स्वस्वभावव्यवस्थितेः । अथाभिन्नः, तदा अभिन्ने कार्यकारणतापि का ? नैव स्यात् ।

स्यादेतत्—न भिन्नस्य अभिन्नस्य वा सम्बन्धः । किं तर्हि ? सम्बन्धाख्येन एकेन सम्बन्धात्; इत्यत्रापि भावे सत्तायामन्यस्य सम्बन्धस्य विश्लिष्टौ कार्यकारणाभिमतौ श्लिष्टौ स्याताम् कथं च तौ । संयोगिसमवायिनौ, आदिग्रहणात् स्वस्वाम्यादिकं, सर्वमेतेनान्तरोक्तेन सामान्यसम्बन्धप्रतिषेधेन चिन्तितम् ।

संयोग्यादीनामन्योन्यमनुपकाराच्च=अजन्यजनकभावाच्च न सम्बन्धी च तादृशोऽनुप-कार्योपकारकभूतः ।

अथास्ति कश्चित् समवायी योऽवयविरूपं कार्यं जनयति, अतो नानुपकारादसम्बन्धि-तेति । तन्न । यतो जननेऽपि कार्यस्य केनचित् समवायिनाभ्युपगम्यमाने समवायी नासौ तदा जननकाले कार्यस्यानिष्पत्तेः । न च ततो जननात् समवायित्वं सिध्यति कुम्भकारादेरपि घटे समवायित्वप्रसंगात् । तयोः समवायिनोः परस्परमनुपकारेऽपि ताभ्यां वा समवायस्य नित्यतया

---

१. અહીં प्रमेयकमलमार्तण्ड માં तदभावभावात् પાઠ છપાયેલો છે. પણ તે અશુદ્ધ છે. तद्भावभावात् seems to be better.

समवायेन वा तयोः परत्र वा क्वचिदनुपकारेऽपि सम्बन्धो यदीष्यते तदा विश्वं परस्परासम्बद्धं समवायि परस्परं स्यात्। यदि च संयोगस्य कार्यत्वात् तस्य ताभ्यां जननात् संयोगिता तयोः तदा संयोगजननेऽपीष्टौ ततः संयोगजननान्न तौ संयोगिनौ, कर्मणोऽपि संयोगितापत्तेः। संयोगो हि अन्यतरकर्मज उभयकर्मजश्चेष्यते। आदिग्रहणात् संयोगस्यापि संयोगिता स्यात्। न संयोग-जननात् संयोगिता, किं तर्हि? स्थापनादिति चेत्; न, स्थितिश्च प्रतिवर्णिता-ग्रन्थान्तरे प्रति-क्षिप्ता स्थाप्यस्थापकयोर्जन्यजनकत्वाभावान्नान्या स्थितिरिति।

कार्यकारणभावोऽपि तयोरसहभावतः।
प्रसिध्यति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथं ॥ ७ ॥
क्रमेण भाव एकत्र वर्तमानोऽन्यनिःस्पृहः।
तदभावेऽपि तद्भावात् सम्बन्धो नैकवृत्तिमान् ॥ ८ ॥
यद्यपेक्ष्य तयोरेकमन्यत्रासौ प्रवर्तते।
उपकारी ह्यपेक्ष्यः स्यात् कथं चोपकरोत्यसन् ॥ ९ ॥
यद्येकार्थाभिसम्बन्धात् कार्यकारणता तयोः।
प्राप्ता द्वित्वादिसम्बन्धात् सव्येतरविषाणयोः ॥ १० ॥
द्विष्ठो हि कश्चित् सम्बन्धो नातोऽन्यत्तस्य लक्षणम्।
भावाभावोपधिर्योगः कार्यकारणता यदि ॥ ११ ॥
योगोपाधी न तावेव कार्यकारणतात्र किम्।
भेदाच्चेन्नन्वयं शब्दो नियोक्तारं समाश्रितः ॥ १२ ॥
पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तददर्शने।
अपश्यन् कार्यमन्वेति विनाप्याख्यातृभिर्जनः ॥ १३ ॥
दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात्।
कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता ॥ १४ ॥
तद्भावभावात् तत्कार्यगतिर्याप्यनुवर्ण्यते।
सङ्केतविषयाख्या सा सास्नादेर्गोगतिर्यथा ॥ १५ ॥
भावे भाविनि तद्भावो भाव एव च भाविता।
प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ॥ १६ ॥

---

१ અહીં प्रमेयकमलमार्तण्ड માં विना व्याख्यातृभिर्जनः પાઠ છપાયેલો છે પણ તે અશુદ્ધ છે.

एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः ।
विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्था घटितानिव ॥ १७ ॥

भिन्ने का घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का ।
भावे ह्यन्यस्य विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथं च तौ ॥ १८ ॥

संयोगि समवाय्यादि सर्वमेतेन चिन्तितम् ।
अन्योन्यानुपकाराच्च न सम्बन्धी च तादृशः ॥ १९ ॥

जननेऽपि हि कार्यस्य केनचित् समवायिना ।
समवायी तदा नासौ न ततोऽतिप्रसङ्गतः ॥ २० ॥

तयोरनुपकारेऽपि समवाये परत्र वा ।
सम्बन्धो यदि विश्वं स्यात् समवायि परस्परम् ॥ २१ ॥

संयोगजननेऽपीष्टौ ततः संयोगिनौ न तौ ।
कर्मादियोगितापत्तेः स्थितिश्च प्रतिवर्णिता ॥ २२ ॥

—प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ५०४-५११

ઉપર स्याद्वादरत्नाकर તથા प्रमेयकमलमार्तण्डમાંથી ઉદ્ધૃત કરેલો सम्बन्धविषयक पूर्वपक्ष सम्बन्धपरीक्षाનો અર્થ સમજવામાં અત્યંત ઉપયોગી છે. તેમ જ सम्बन्धपरीक्षावृत्तिનો સંસ્કૃતમાં પુનરુદ્ધાર (Restoration) કરવા માટે પણ અત્યંત ઉપયોગી છે.

English

OMNISCIENT BEINGS

(By Sri Harisatya Bhattacharyya. M. A., B. L., Ph. D)

To have an idea of the Omniscient Beings, as the Jainas understand them, a study of the nature of Omniscience and Omniscient Beings, as conceived in the Indian non-Jaina systems of philosophy may serve as an illuminating preliminary.

I.

The Liberated State And Omniscience; The Buddhist View.

Save and except the Mīmāṃsā, the Vēdic systems of philosophy mostly admit that there is a God, on whose will and intelligent efforts depend the creation, the preservation and the annihilation of the world and in whatever manner he may be called,— the Pradhāna, the Īśvara, the Saguna-Brahma as the Purāṇa Puruṣa,— God is omniscient. The Jaina's do not admit the existence of an architect God and so the question of divine Omniscience does not arise with them. So far as the doctrine of God's Omniscience is concerned, the Buddhist position is similar to that of the Jaina's. The Buddhists also do not believe in the existence of God. Therefore, the problem boils itself down to this: Either the finite beings are capable of attaining Omniscience or Omniscience is an impossibility. Now, with regard to the problem of Omniscience in finite beings, the Buddhist attitude may be indicated in the following manner.

That the mundane unliberated souls are not Omniscient is admitted not only by the Mīmāṃsaka's but by all the philosophers The fact is a matter of observation and not denied by the Buddhist. The liberated souls are, in the language of the Buddhist, 'Nirvāṇata-gata' i. e. in the state of 'Nirvāṇa.' Scholars have differed regarding the meaning of 'Nirvāṇa' but with respect to Omniscience in the liberated, the difference is of no effect. For, if 'Nirvāṇa' means extinction like that of the light of an extinguished lamp, then a Jīva is no more alive when it enters the Nirvāṇa, so that it is quite meaningless to talk of it then as Omniscient If, on the other hand, 'Nirvāṇa'

means a state ('Śaraṇan', 'Parāyaṇan' or 'Akkharaṇ') Which is everlasting ('Anantan,' 'Açyutan,' 'Asaṃkhatan,' or 'Anuttaran') and which has been described in the sacred books of the Buddhists as blessed and true ('Khīman,' 'Śivan,' 'Saççan,' 'Kēvalan,' 'Padan') then a being in Nirvāṇa may not be devoid of existence; but with regard to a being in such a state also, the question of Omniscience does not arise. For, according to the Buddhists, 'Tanhā' is at the root of all knowledge; owing to Tanhā and the 'Vāsanā,' momentary apprehensions regarding momentary objects arise every moment This series of momentary apprehensions ('Santāna) stops absolutely when 'Nirvāṇa' is attained at the annihilation of 'Vāsanā,'— so that it is not possible for a Jīva who has attained the Nirvāṇa to have Omniscience or knowledge of all or any of the objects of the world.

II.

The Liberated State And Omniscience: The Nyāya And The Vaiśēsika Views.

Just as Omniscience is impossible in a being who has entered the state, called the 'Nirvāṇa' by the Buddhist, it is impossible in a similar way in a soul which has attained absolute liberation, called 'Apavarga' by the Naiyāyikás. According to Gautama, desire, aversion, effort, pleasure, pain and knowledge are the attributes or peculiar characteristics of a soul; some add three other attributes to this list. In any case, the theory of the Nyaya philosophy is that when 'Apavarga' or final emancipation is attained, all those attributes or characteristics of the soul leave it absolutely.

"Tadīvam dhiṣanādīnām navānāmapi mūlataḥ
Guṇamātmanō dhaṃ saḥ sōhpavargaḥ pratiṣthitaḥ"

In a Jīva which has attained 'Apavarga,' Jñāna or consciousness is absurd just like its other attributes,—so that when one thinks that the state of liberation, as conceived by Gautama, is not unlike the absolutely passive and unconscious state of a stone,—

— Muktayē Yaḥ Śilatvaya Śastramūçē Saçitasam"—
17/75, Naiṣadhīya-caritam.

He is not probably wrong.

According to the Vaiśēṣikás also, the soul is in the state of

liberation, when on the annihilation of all its attributes e. g. consciousness etc; it exists like the expanse of sky.—

" Atyanta-nāśē Guṇa-Saṃgatērya
Sthitirnabhōvat Kaṇabhakṣa-Pakṣē Muktiḥ......"
Saṃkṣēpa-Saṃkara-Vijayaḥ. 16/69.

A liberated soul is thus unconscious; so that it must be understood to be the theory of the Nyaya and the Vaiśēsika systems that a liberated soul cannot be Omniscient. Although some of the Naiyāyikās hold that there is a feeling of eternal happiness ('Nitya-Sukha') in a soul in its liberated state, it is the common contention of all the Naiyāyikás that the liberated Soul has no consciousness of the world and its objects. Consequently, the emancipated being is not Omniscient.

III.

The Liberated State And Omniscience : The Advaita Vēdānta View.

According to the Vēdāntins of the Advaita (absolute monist) school, neither the bondage nor the emancipation of the Soul is real. If from the Vyavahāra or empirical standpoint, a soul be said to be freed from its state of bondage,—even then, Omniscience cannot be attributed to the emancipated being For, a liberated soul is nothing but a soul 'in itself'; in such a soul, which is absolutely non-dual consciousness there can be no internal division' ('Svagatabhēda'). And because there is nothing outside it which is similar to or dissimilar from it, there cannot be distinction of it 'from its similars' ('Sajatīya-bhēda') or 'from its dissimilars' (Vijātiya-bhēda'). A liberated soul is not a knower but consciousness itself; there is nothing beside it :-

"—Nēha nānāsti Kinçana—"

Owing to 'Avidyā' or false knowledge, of course, there may be consciousness of outside objects in a soul in bondage,—

"Yatra hi dvaitamiva bhavati, taditara itaram Paṣyati".

But in its state of liberation, there is nothing outside or beside it,—so that a liberated soul has no consciousness of objects other than itself.

"Yatra tasya Sarvamātmaivābhūt, tat Kēna kam paśyēt—"

Accordingly, from the standpoint of the Advaita Vēdānta, Omniscience in a liberated being is impossible.

IV.

The Liberated State And Omniscience : The Sānkhya And The Yōga Views.

The philosophers of the Sānkhya and the Yōga schools maintain that the evolution of the world is due to the conjunction of the Prakṛti and the Puruṣa The soul may be said to be in a state of bondage as long as the Prakṛati remains proximate to it. The soul, however, is absolutely incompatible; there cannot be any real connection of the Prakṛti with it. It is owing to 'Avivēka' or ignorance that the essentially incorruptible Puruṣa is looked upon as affected or influenced by the Prakṛti.

" Niḥsangehpyuparagōh vivēkat "

Sānkhya sūtram: Tantrārtha-Samkṣēpadhyāya, 28.

When a red flower is held over a glass-ware, the shade of redness falls upon the latter and makes it appear as red; but the real nature of the glass-ware is not modified in the least thereby. In the same manner, the proximate-ness of the Prakṛti to the Puruṣa makes no change in the essential nature of the latter.

" Japā-Sphatikayōriva nōparāgaḥ kintvabhimānaḥ 29, Do

It is thus that owing to Avivēka, the Soul is considered to be in bondage when the Prakṛti is near it and that it is said to be emancipated when the Prakṛti is no longer near it. Really—there is no relation whatsoever between the Puruṣa on the one hand and the Prakṛti with its evolutes on the other. When a Soul is liberated, it is even impossible to imagine a connection. The liberated Puruṣa can not thus be said to be Omniscient or a knower of all things, according to the principles of the Sānkhya and the Yōga systems.

It is consequently clear that the Buddhist and the Vēdic systems agree that not only are the mundane Souls not Omniscient but that the liberated and the finally disembodied souls also are not such.

V.

The stage Penultimate To Liberation And Omniscience: The Yōga View.

Although neither a mundane Soul nor an emancipated being is

Omniscient, a Soul *on the way to liberation* may be possessed of a kind of knowledge, just before its final emancipation, which may be called Omniscience. The author of the Yōga-Sūtras calls it. 'Prātibha' and the Sānkhya also believes in its possibility. According to Patanjali, one possessed of the 'Prātibha' has the knowledge of all things.

"Pratibhādvā Sarvam." Yōga-Sūtram, Bibhuti-pādaḥ, 34.

—Upon which Bhoja-rāja comments,—

Yathodeṣyati Savitari pūrvam prabhā
Prādurbhavati tadvadvivīkakhyātēḥ
Pūrvam tārakam Sarva-Viṣayam.

"Jñānamabirbhavati."

Just as immediatly before the sun-rise a brilliant glow is visible in the sky. In the same manner just before the rise of Vivēka-khyāti or consciousness of emancipation, there arises the knowledge, called 'Taraka.' Through (To) this Tāraka knowledge, all things are known.

This Tāraka is otherwise called the 'Prātibha.'

VI.

The Stage Penultimate To Liberation: And Omniscience: The Sānkhya View.

The Sānkhya school of philosophers attribute to the Yōgi's or sages, a supernatual mode of perception, in which all things and phenomena of all places and of all times are cognised and they account for it in this way. The Yōgī's or seers, through their penances and self-perfection attain a power by which they come in direct contact with the Pradhana, the potential basis of all things; as all things evolve from the Pradhāna and on their dissolution enter into it, the Pradhāna is the real substance in which all phinomena live, move and have their being. By 'seeing' the Pradhāna, one sees all things evolving out of it It is thus that the Yogī's being in contact with the universal basis of all things through their supernatural attainment are enabled to perceive all things

"Līna-Vastu-labdhātiśaya-sambandhāt"
89, Viṣayādhyāya, Sānkhya-Sūtram.

The commentator explains,—

"Sat-kārya-Sthitēr naṣṭamapi Sva-kāraṇē tīnam bhūtatvēnāsti. Bhabiṣyadapı Sva-kāraṇēhnāgatatvēnāsti-Yōgajadharmānugrahāllabdhātiśayasya yōgina ēva pradhāna-Sambandhāt Sarva-dīśakālādı-Sambandha itı :-"

The effect is existent ın the cause. What is found to perish exısts in a potentıal state in its basal ground. What is future exists in its cause as something not come as yet. On account of their attainment of supernatural power of vısion, the Yogī's come in contact with the Pradhāna and through this contact, they come ın contact wıth (things of) all places and all tımes.

This supernatural power of vision in the Yōgı's is practıcally Omniscience. Thus although the Sāṅkhya philosophers do not belıeve in dıvine Omnıscience nor in the Omniscience of a lıberated beıng, they admit the possıbılıty of Omniscience in the Yōgı's or persons on the high way to self-culture.

VII.

The Stage Penultimate To Liberation And Omniscience : The Nyāya And The Vaiśēṣika Views.

The thinkers of the Nyāya school maintaın that ıt is impossıble for the ınstrument (Karaṇa) of knowledge to be simultaneously connected wıth more than one percept; for thıs reason, a simultaneous cognition of all thıngs is impossıble accordıng to them. But they admit that the recollections of all things or cause of the cognitions of all things, may sımultaneously present themselves to a sage, when he may be possessed of a knowledge whıch relates to the whole collection of the objects. Such a knowledge has been called by them 'Samūtālambana' or collectıve knowledge. Thıs Samūhālambana' is practically indentıcal wıth the 'Prātibha'-knowledge notıced before and consists ın a sort of Omnıscience.

The Vaiśēṣıka thınkers have given the name 'Ārsa-Jñāna' or 'the knowledge of a seer' to the 'Prātıbha' whıch relates to the knowledge of all things.

VIII

The Stage Penultımate To Liberation And Omniscience : The Advaita Vēdānta Vıew.

Omniscıence is impossıble ın both a lıberated and an unlıberated

soul, according to the absolute monist school of the Vēdānta philosophy. But it is possible in a highly developed sage. It is said that a Naiyāyika, in order to test the profoundness of Śankara's knowledge, once asked him to explain the difference between the conceptions of liberation, of the Nyāya and the Vaiśēṣika schools. The questioning Naiyāyika was a very concrited person and so addressed Śankara as follows :—

" —Vada sarvaviççēt nō çēt pratijñām tyaja sarvavittvē "—
—Samkṣēpa-Saṃkara-vijayaḥ.

If you are Omniscient, answer the question; if not, give up your contention about Omniscience

From the above, it is apparent that according to the thinkers of the Advaita school, Omniscience is not impossible. Śankara has said that to the nature of a liberated soul or Brahman, Omniscience, Omnipotence etc: ('Sarvajnatvam,' 'Sarvēsvaratvança') are not to be attributed.

" Na çaitanyavat Svarūpatva-Sambhavaḥ "
—4-4-6 Vēdānta-sūtra-bhāṣyē Saṃkaraḥ.

But he admits that supernaturalities like Omniscience etc; are possible in a determined ('Saguna') soul, in a certain stage of its development.

" Vidyamānamēvēdam Saguṇāvasthāyāmaiśvaryam
bhūma-Vidyā-Stutayē Saṃkīrtatē. "
—4-4-11 -Vēdānta-sūtra-bhāṣyē Saṃkaraḥ

In other words, Śankara's opinion is that by worshipping the 'Saguṇa-brahma,' the worshipper while attaining his likeness etc. ('Sāyujya'), becomes possessed of such supernaturalities as Omniscience etc.

"Saguṇa-Vidyā-Vipāka-Sthānantvētat" 4-4-16-Sūtra-bhāṣyē Saṃkaraḥ

IX

The Stage, Penultimate To Liberation And Omniscience : The Buddhist View.

" Sarvajñah Sugatō Buddhaḥ dharma-rāja-Stathāgataḥ "

The word, 'Sarvajña' in the above list of Buddha's names shows that although Omniscience, according to him, is impossible in a mundane

being or in a being who has entered the Nirvāṇa, it is possible in a person, in a certain stage of mental development Neither sensuous knowledge nor inference can yield Omniscience; for, not only is the range of such forms of knowledge limited but they are after all vague and indistinct. Without a full and clear knowledge of objects the knower cannot be said to have attained Omniscience. This perfect and the clearest possible knowledge about all the things of the universe has been called the 'Sphutābha' knowledge by the Buddhist thinkers. According to them, the 'Sphutābha' is due to a direct perception which is 'Peculiar to sages' ('Yōgi-Pratyakṣa'). The ordinary knowledge about objects which we get through the Pramāṇa's or empiric sources of knowledge is 'Bhūtārtha' and to contemplate the 'Bhūtārtha' again and again is 'Bhūtartha-bhāvanā' As a result of the 'Bhūtārtha-bhāvanā,' the knowledge of its object comes to be clearer and clearer The 'Bhūtārtha-bhāvanā' has various stages,—the 'Bhūtārtha-bhāvanā-Prakarṣa,' but these not yield the full and the perfect knowledge about things,—until the last stage,—'Bhāvanā—Prakarṣa—Paryanta,'—is reached. From the 'Bhāvanā-Prakarṣa-Paryanta' is evolved a direct apprehension about objects in the mind of the sage, which is called the 'Yōgi-Pratyakṣa'—'the perception of a sage.'

"Bhūtārtha-bhāvanā-Prakarṣa-Paryantajam Yōgi-Jñānam çeti."

—Nyāya-Vindu : 1 St. Pariççhedaḥ.

The three forms of perception Viz; sense-perception ('Indriya-Jñāna'), internal perception ('Mānasa-Pratyakṣa'), and self-perception ('Sva-saṃvēdana') cannot yield Omniscience; neither can inference ('Anumāna') yield it. For, all these modes of cognition are imperfect and indistinct The fourth mode of perception, according to the Buddhists, is the 'Yōgi-Pratyakṣa;' which we have just noticed The 'Yōgi-Pratyakṣa' yields Omniscience. It should be noticed, however, that even the perceptual stage, penultimate to the 'Yōgi-Pratyakṣa,'—the 'Bhūtartha-bhavana-Prākarṣa-Paryanta,'—does not give perfect and the clearest possible knowledge about objects It is said that the knowledge obtained at this is like the knowledge of a thing, seen through a thin, transparent substance.

"Abhraka-Vyavahitamiva yadā bhāvyamānam Vastu paśyati, Sā prakarṣa-paryantāvasthā."—Nyāya-vindu-tīkā.

The object when sun in 'Yōgi-pratyakṣa' is like a small fruit in one's hand, perceived in the perfect and the clearest possible manner.

"Karatalāmalakavadbhāvyamānasyarthasya yaddarśanam tadyōginaḥ pratyakṣam, taddhi sphutābham.—Nyāya-vindu-tikā.

As a result of this uncommon perception, peculiar to a sage, the objects of the universe were apprehended by Buddha and saints like him, 'like the Āmalaka-fruit in hand' and they succeeded in attaining Omniscience.

X

The Liberated State and Omniscience: The Nonadvaita Vēdānta Views.

It has been pointed out more than once that the liberated Soul and the Soul which has entered the Nirvāṇa, are not omniscient, although. Omniscience may be possible in a being who is about to attain final emancipation. This is the theory, upon which the Sānkhya, the Yōga, the Nyāya, the Vaiśēṣika, the Buddhist and the Advaita monists of the Vēdānta school are agreed. But those philosophers of the Vēdānta school who do not admit the identity of the Brahman and the Jīva, hold a different View. According to them, the liberated Jīva becomes Omniscient. and the grounds for this view of the dualistic Vēdāntists are obvious. They do not admit the reality of the absolute and the undetermined ('Nirguṇa') Brahman. The Brahman, according to them, is 'Saguṇa' i. e, determined and endowed with attributes The absolute monists of the Vēdānta school maintain that it is impossible to ascribe Omniscience or any qualification to the liberated Soul which is merged in the attribute-less Brahman. Even these monists do not deny that a Soul which is by dint of its self-culture and self-development has succeeded in closely associating itself with the qualified or the 'Saguna-brahma,' attains Omniscience. The Vēdāntins, other than the absolute monists hold that Brahman is 'Saguna' or qualified and that the absolute, unqualified, or the 'Nirguna-brahma' is an unreal abstraction, that the Mukti or emancipation of a Soul consists in its inseparable association with (and not an

absolute merger in) the Saguna Brahma and that such a liberated Soul comes to be possessed of the qualities of the Lord, including Omniscience.

It seems to us, however, that the Omniscience thus attributed to the liberated Soul by the dualistic schools of the Vēdānta, is not of the same nature or extent with the Omniscience, attributed to the Īśvara by the Nyāya, the Vaiśēṣika, the theistic Sānkhya, the Yōga and the Vēdānta. The Omniscience of the latter is eternal, unfittered and all-embracing. It is, however, the very nature of the Jīva to have but a limited range of apprehension and this limited capacity of the Jīva is not radically changed, even when it attains liberation. Accordingly, it would probably not be correct to say that all the cosmic things and phenomena of all times and places, beginningless and endless, are ever present in the Omniscience of the liberated Jīva, as 'now' and 'here', simultaneously. Even when a Soul associates itself with the Lord, in its emancipated state, its powers are still limited, in comparision with the powers of the latter. A liberated Soul, for instance, has no power to interfere in or modify the 'Jagat-vyāpāra'—i. e., the creation of the world,—which is the sole prerogative of the Īśvara. It is true that a liberated Soul comes to be possessed of many supernatural powers; it can go anywhere it likes,—

"Sarvēṣu lōkēṣu Kāma-çāro Bhavati"

—Chāndōgya-Upaniṣat. 7.25 : : 2.

But from the word, 'Kāma', it is manifest that this power of unrestricted movement is dependent upon his '*desire*'. Similarly, it is not true that all the things and the phenomena of the world, past, present, future, subtle, near, distant etc. are simultaneously and actually and always present in the consciousness of the emancipated Jīva. Its supernatural attainment consists in the fact that unlike a Sonl in Bondage, it can know them, *whenever it likes* Let us explain the position by an example It is not a fact that his ancestors are always present before a liberated being or in his mind Whenever he wants to see them, they appear before him at once.

"Sa yadā pitr-lōka-Kāmō Bhavati, Saṃkalpādēvāsya pitaraḥ samuttiṣṭhanti."

—Chāndōgya-upanisat. 8. 2. 1.

The Omniscience of a liberated Soul thus consists in the fact that it has the power to know at once, whatever it wants to know-and not that all the cosmic things and phenomena are ever present in its consciousness. The Omniscience of the Lord, however, is not of this sort. His Omniscience is eternal; in it are ever present all the objects and occurrences of all times and places. The liberated Soul has not this kind of Omniscience, this is the view of the Vēdāntists of the 'Dvaita' or dualistic, the 'Dvaitadvaita' or dualistico-monist and the 'Viśiṣṭadvaita' or differentiated monistic schools. The 'Advaita' or the absolutely monistic schools of the Vēdānta also attribute such an Omniscience to the highly developed worshippers of the 'Saguṇa Brahma' and we believe, such an Omniscience,-and nothing more than that,-has been said to be attainable in the 'Samūhālambana' of the Nyāya, the 'Ārṣa-Jñāna' of the Vaiśēṣika, the 'Prātibha' of the Sānkhya and the Yōga and the 'Yogi-pratyakṣa' of the Buddhist.

XI.

The Liberated State And Omniscience: The Jaina View.

That the unliberated Jīva's wandering in the Saṃsāra are not Omniscient is a matter of common experience and has been admitted in the Jaina philosophy, just in all other systems. There is a remarkable unanimity between the Jaina's who repudiate the authority of the Vēda's and the Mīmāmsaka's who are firm supporters of the Vēdic orthodoxy and ritualism, regarding the doctrines that the Jīva's have been wandering from the beginningless time in the Saṃsāra, driven by the forces of their Karma's and that there is no Creator of this universe But although the Jaina's agree with the Mīmāṃsaka's in admitting the inexorableness of the law of Karma and repudiating the creatorship or the Governorship of Īśvara, they do not like to be looked upon as atheists like the latter. In the theistic schools of the Vēdic philosophy, besides the creation of the world, another function is ascribed to God The Vēda's are the source of 'Dharma' i. e., the knowledge of duty and God is said to be the author or the revealer of the Vēda's. Accordingly, God is the Seer of the Dharma and the first Teacher. While proving the Omniscience and the Omnipotence of

Brahman ('Sarvajñatvam Sarva-Śaktitvançēti'), Śankara quotes from the Śruti:—

"Asya mahatō bhūtasya -niḥśvasitamētad. yadṛgvēdaḥ—

and says that the Vēda's and the scriptures have, like breath, emerged from the Great Being,-the Īśvara or the Brahman. In describing the infallibility of the Veda's, the author of the Nyāya-Sūtra's says—

"Tat-prāmaṇyamāpta-prāmāṇyat" 2-1-68, Nyāya-Sūtram.

The infallibility of the Vēda's is due to the infallibility of the Āpta.

Here the word 'Āpta' refers to the Vēdareciter ('Vēda-vaktā') Īśvara, who is 'Sākṣātkṛta-dharmā' i. e, the direct knower of the Dharma and a faithful Teacher of what he knows—

"Yathā-dṛṣṭasyārthasya çēkhyāpayiṣayā prayukta upadēṣṭā"

Kaṇāda also has referred to the teachership of God in the very same manner—

"Tadvaçanādāmnāyasya" 1-1-3 Vaiśēṣika-Sūtram

Āmnāya or the Vēdā's are words of God. Their infallibility arises from the infallibility of God.

With reference to the teachership of God, the author of the Yōga-sūtra's has said,—

"Sa pūrvēṣāmapi guruḥ, kālēnānavaççhēdāt."

Yōga-sūtram: Samādhi-pādaḥ, 26.

That beginningless Being is the teacher, even of the early teachers. (e. g. Brahmā).

Although the Jaina's do not admit an Īśvara, who is the world-creator, they do admit a perfect human Being who is the best of teachers. This perfect Being is called the 'Tīrthamkara' and the Jaina's call him 'Īśvara' i. e.; God. The teachings of the Tīrthamkara are not of course the Rh. the Yajus, the Sāma or Atharva (which are repudiated by the Jaina's) but are certainly the best authorities on matters, philosophical, ethical and religious. The Jaina's call the teachings of the Tīrthamkara God, the Jaina Vēda and according to them, it is the Jaina Vēda which alone embodies the true teachings of the ture God and as such, is the real, infallible Vēda: In this way, the Jaina's

show that they are not opposed to the doctrine of the 'Vēda-reciter,' Omniscient God With all this, however, it is obvious that there is essential difference between the 'Īśvara' of the Jaina's and the 'Īśvara' of Vēdic school. The God of the Jaina's is not the creator of the world; he was originally a mortal human being, who through self-culture and self-development attained God-hood, consisting in teachership. The Tīrthamkara Gods are also more than one in number. The God of the Vēdic school, on the contrary, is the world-creator and from "eternity to eternity" is the one ever-free Lord, revealing the Vēda's in the early dawn of the cosmic creation.

The Tīrthamkara, otherwise called the 'Arhat' is then the 'Īśvara', according to the Jaina's, who is the author of the Vēda's (of course, the Jaina scriptures) By admitting in this way the doctrine of the authorship and of the teachership of the Vēda's, the Jaina's distinguish their view from that of the Mīmāṃsaka's, according to which, the Vēda's are uncreate and self existent. Regarding the question of the 'Mukti' or final emancipation also, the Jaina and the Mīmāṃsā views are different. According to the Mīmāṃsaka's, a good, well-behaved and dutiful man on his death goes to heavens and enjoys the best happiness. 'Mukti' or complete liberation, however, is inattainable. According to the Mīmāmsaka thinker, the 'Saṃsāra' or the existential series is not only beginningless but endless also the Jaina's, on the contrary, maintain that save and except the 'Abhavya' Jīva's (who can never attain the complete emancipation), all Souls are capable of attaining libertion. A Soul, when liberated, is possessed of 'Kēvala-Jñāna', which is nothing other than Omniscience.

Besides the disembodied perfect Beings who are completely free and are Omniscient, according to the Jaina's, as stated above, a highly developed Being, while in body, may attain Omniscience also. The Tīrthamkara's were such Beings who attained Omniscience, while they lived, moved and had their being still in this world. This Jaina doctrine of Omniscience in a Being who is not yet disembodied, is obviously akin to the theories of the other Indian schools, according to which Omniscience is possible before final liberation.

A liberated Soul is Omniscient according to the Jaina's. On this

point and, it seems to us, on the question of the nature of Omniscience in Souls which have attained it, the Jaina's differ from the other Indian schools In most of the philosophical systems of India, other than the Jaina, Omniscience has not been attributed to a liberated Soul. It is ture that in the Vēdāntic systems except that of the Advaita school, Omniscience has been attributed to a liberated Soul. But as we have already pointed out, Omniscience in such a Soul seems to be of a limited type. In the Yōga and other systems also, Omniscience has been attributed to Souls, *about to attain the final liberation.* But in the case of these Souls also, Omniscience seems to be limited. The Omniscience attributed to the liberated Souls by the Jaina's, on the contrary, is perfect, unrestricted and unlimited. It seems to us that the Omniscience, attributed to the liberated Souls by the Jaina's resembles that attributed to the Īśvara by the Vēdic theistic schools.

According to the Jaina's the Jīva's are Omniscient, by nature. Just as pure and clear water becomes muddy on being mixed with clay, in the same manner, the naturally Omniscient Jīva's wander in the Saṃsāra in an inomniscient state of knowledge, being polluted by the dirt of Karma. As soon as the clay is removed, water resumes its clearness and purity; in the same way, the Jīva's also resume their pure state of Omniscience, when they succeed in removing the Karma-impurities from them by dint of self-culture and self-development. The liberation of a Jīva means its liberation from the influence of Karma. In the liberated state of a Soul, all Karma-forces covering pure knowledge and Omniscience are absolutely set aside. Accordingly, 'Mokṣa' or liberation has been described as,—

" Samastāvaraṇa-Kṣayapekṣam "

2, 23, Pramāṇa-naya-tattvālōkālaṃkāra.

i. e., dependent on a complete annihilation of all (the Karma's) that cover (knowledge); ' Kēvala-Jñāna arises in the Soul automatically as soon as these obstacles or Karma-coverings are removed from it. Kēvala-Jñāna is Omniscience and as conceived by the Jaina's, it is not at all limited in any way—

" Nikhila-dravya-paryāya-Sākṣatkāri-Svarūpam Kēvala-Jñānam. "

2-23, Pramāṇa-naya-tattvālōkālaṃkāra.

Omniscience consists in a direct apprehension of all the things with all their modes.

In a liberated Soul are directly revealed and clearly known all the things of the universe, past, present and future with all their infinite qualitis, modes and aspects. Omniscience, as conceived by the Jaina's, is thus unlimited, infinite, unrestricted and all-embracing. It seems to us, that such an Omniscience might have been attributed to Īśvara by some of the theistic systems of India; but none of them appear to have thought it possible in a Soul, either as emancipated or as approaching emancipation.
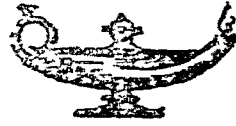
JÑĀNA DARŚANA & CĀRITRA IN JAINISM

By Dr. B. C. Law, M. A, LL. B., Ph. D., D. Litt

Right belief, right knowledge and right conduct, constitute the path to liberation and they are called three gems in Jainism, as the *Buddha* (the Enlightened), *Dharma* (the Doctrine) and *Sangha* (the order) are recognised in Buddhism as three gems (*ratnatraya*). Each of them can be considered in its threefold aspect, e. g, the subject, the object and the means. The knowledge which embraces concisely or in details the predicaments as they are in themselves is called the right knowledge and without which right conduct is impossible. (Nahar and Ghosh, *An epitome of Jainism*, p 35). In right knowledge there is the knower, the known, and the means of knowing. In right belief there is the believer, that which is believed and the means of believing. In right conduct there is the pursuer of conduct, conduct itself, and the means of conducting. The right belief is the basis upon which the other two rest. It is the cause and right knowledge is the effect. Right conduct is caused by right knowledge and implies both right knowledge and right belief. Right knowledge proceeds from right vision by a coherent train of thought and reasoning and which can lead to right conduct without which the attainment of the goal in vision will be impossible The five kinds of knowledge are the following: (1) knowledge through the instrumentality of sense, (2) knowledge derived from the study of scriptures, (3) direct knowledge of matter within the limits of time and space, (4) direct knowledge of other's thoughts and (5) perfect knowledge. The five kinds of conduct according to the *Sūtrakrıtānga* (1, 1, 4, 10–13) are the following: Equanimity, recovery of equanimity after a downfall, pure and absolute non–injury, all but entire freedom from passion, and ideal and passionless state. Right belief, right knowledge, right conduct, and right austerities are called the *ārādhanās*. Right belief depends on the acquaintance with truth, on the devotion to those who know the truth, and on the avoiding of schismatical and heretical

tenets. There is no right conduct without right belief, and it must be cultivated for obtaining right faith; righteousness and conduct originate together or righteousness precedes conduct [1]

Samyakdarśana is of two kinds : (1) belief with attachment, having the following signs: calmness (*praśama*), fear of mundane existence in five cycles of wanderings (saṃvega), substance (*dravya*), place (kṣetra), time (*kāla*) thought-activity (*bhāva*) and compassion towards all living beings (anukampa); and the second kind of *samyak-darśana* is belief without attachment (the purity of the soul itself).

The right belief is attained by intuition and acquisition of knowledge from external sources, it is the result of subsidence (*upaśama*), destruction-subsidence (*kṣayōpaśama*) and destruction of right belief deluding *karma* (*darśanamōhanīya karma*). Right belief is not identical with faith. It is reasoned knowledge. Adhigama is knowledge which is derived from intuition, external sources, e. g., precepts and scriptures. It is attained by means of pramāṇa and *naya*. Pramāṇa is nothing but direct or indirect evidence for testing the knowledge of the self and the non-self. *Naya* is nothing but a standpoint which gives partial knowledge of a thing in some of its aspects

Right knowledge is of five kinds : (1) knowledge through senses-knowledge of the self and the non-self through the agency of the senses of mind; (2) knowledge derived from the study of the scriptures; (3) direct knowledge of matter in various degrees with reference to subject-matter, space, time, and quality of the object known; (4) direct knowledge of thoughts of others, simple or complex; and (5) perfect knowledge. Knowledge (*antarāya*),[2] belief, charity, gain, enjoyment, re-enjoyment power, faith and conduct are the nine kinds of energies (*vīryās.*).

The road to final deliverance depends on four causes and is

---

1 *Uttarādhyayanasūtra*, XXVIII, 28-29 :

Paramatthasaṃthavo vā suditthaparamatthasevaṇaṃ vā vi ।
Vāvaṇṇakudaṃsaṇavajjaṇā ya sammattasaddahaṇā ॥
Natthi carittaṃ sammattavihūṇaṃ daṃsaṇe u bhaiyavvaṃ ।
Sammattacarittāiṃ jugavaṃ puvvāṃ vā sammattaṃ ॥

2 *Tattvārthādigamasūtra*, Jacobi's Ed., p. 536.

characterised by right knowledge and faith The road as taught by the Jinas consists of (1) right knowledge, (2) faith, (3) conduct and (4) austerities. Human beings will obtain beatitude by following this road. According to the *Sūtrakritānga* knowledge is also derived from perception (*ābhinibōdhika*). It is derived from one's own experience, thought or understanding. It is also derived from supernatural knowledge (*avadhi-Kalpasūtra* of Bhadrabāhu, 15-*Ohiṇā ābhoemāne*). *Manaḥparyāya* or the knowledge of the thoughts of others and Kēvala or the highest and unlimited knowledge are included in the category of fivefold knowledge. Knowledge of the distant non-sensible in time or space possessed by divine and internal souls is one of the five kinds of knowledge. The Buddhist *antanantajñāna* is evidently the same term as Jaina *avadhijñāna*. The Buddhist aparisesa* occurring as a predicate of unlimited knowledge and vision is just the synonym of the Jain term *Kēvala* which is nothing but the highest knowledge and intuition.

Samyakdarśana or right faith consists in an insight into the meaning of truths as proclaimed and taught, a mental perception of the excellence of the system as propounded, a personal conviction as to the greatness and goodness of the teacher, and a ready acceptance of certain articles of faith for one's own guidance. It is intended to remove all doubts and scepticism from one's mind and to establish or re-establish faith It is such a form of faith as is likely to inspire action by opening a new vista of life and its perfection. Right faith on the one hand and inaction, vacillation, on the other, are mutually incompatible. The Buddhist idea of right view (*sammadiṭṭhi*) conveys the sense of faith or belief rather than that of any metaphysical view or theory. It is in some such sense that the Jains use the term *sammadaṇsana*. The Buddhist *sammadiṭṭhi* suggests an article of faith which consists in the acceptance of the belief that there is such a thing as gift, that there is such a thing as sacrifice etc[1] There cannot be right faith unless there is a clear pre-perception of the moral, intellectual or spiritual situation which is to arise. Right faith is that

---

* Apprises. D. S. Lodha.

1 *Majjhima*, I, 285 ff.

form of faith which is only a stepping stone to knowledge (*paññā* or *prajñā*)

Jñāna, darśana and *chāritra* (knowledge, faith and virtue) are the three terms that signify the comprehensiveness of Jainism as taught by Mahāvīra One should learn the true road leading to final deliverance which the Jinas have taught. It depends on four causes and is characterised by right knowledge and faith. Right knowledge, faith, conduct, and austerities; this is the road taught by the Jinas who possess the best knowledge Beings who follow this road will obtain beatitude.[1] The *Uttarādhyayansūtra* (XXVIII, 2-3)[2] adds austerities as the fourth to the usual earlier list of three terms, namely, right knowledge, faith and conduct. The first kind of knowledge in Jainism corresponds to what the Buddhists call *sutama paññā;* the second kind, to what they call *chitāma paññā;* the third kind, to what they call *vilokana;* the fourth kind, to what they call *cetōpariyāya ñāna;* and the fifth kind, to what they call sabbaññutā or ominiscience consisting in three faculties; of reviewing and recalling to mind all past existences with details, of perceiving the destiny of other beings according to their deeds, and of being conscious of the final des truction of sins.

Avadhijñāna is rather knowledge which is co extensive with the object other than knowledge which is supernatural Avadhi here means that which is just sufficient to survey the field of observation.[3] The manaḥparyāyajñāna is defined in the *Āchārānga sūtra* (II, 15. 23) as a knowledge of the thoughts of all sentient beings. *Kēvalajñāna* is defined therein as omniscience enabling a person to comprehend all objects, and to know all conditions of the world of gods, men and demons.[4] Knowledge as represented in the Jaina *Añgas* is rather

---

1 *Uttarādhyayanasūtra*, XVIII, 1-3 ·

Mokhamaggagaiṃ taccaṃ suṇeha Jinabhāsiyaṃ ।
Caukāraṇasaṃjuttaṃ ṇāṇadaṃsaṇalakkhaṇaṃ ॥
Ṇāṇaṃ ca daṃsaṇaṃ ceva carittaṃ ca tavotahā ।
Esa maggu tti pannatto Jiṇehim Varadaṃsihiṃ ॥
Ṇāṇaṃ ca daṃsaṇaṃ ceva carittaṃ ca tavo tahā ।
Eyamaggamanuppattā Jīvāgacchanti soggaiṃ ॥

2 *Jainasūtras*, S.B.E, II, 152.

3. Cf. *Kalpasūtra*, 15.

4. *Āçārānga*, II, 15. 25.

religious vision intention or wisdom than knowledge in a metaphysical sense.

A man of knowledge is a man of faith and a man of faith is a man of action. Virtue consists in right conduct. There is no right conduct without right belief and no right belief without the right perception of truth [1] The *Sūtrakritānga* (1, 1, 2. 27) points out that the threefold restraint namely, the restraint as regards body, speech, and mind, can enable a person to achieve the purity of morals, which is the quite essence of right conduct. The first step to virtue lies in the avoidance of sins There are three ways of committing sins : (1) by one's own activity; (2) by commission; and (3) by approval of the deed [2] The cardinal principles of *chāritra* as taught by Mahavīra may be thus summed up: not to kill anything, to live according to the rules of conduct and without greed, to take care of the highest good, to control oneself always in walking, sitting and lying down, and in the matter of food and drink, to get rid of pride, wrath, deceit and greed, to possess the samitis,[3] to be protected by the five saṃvaras,[4] and to reach perfection by remaining unfettered among the fettered.[5]

Right knowledge, faith and conduct, which are the three essential

---

1. *Uttarādhyayanasūtra,* XXVIII, 28 29. 2 *Sūtrakritānga,* I, I 2 26

3. The five *Samitis* and three *guptis* constitute eight articles of the Jain Creed. They are the means of self-control (Cf. *Uttarādhayayanasūtra,* XXIV, 1). The five samitis are the following : (1) a man who would be holy must take the greatest care whenever he walks anywhere, not to injure any living thing (*Iryāsamiti;*); (2) one must guard the words of one's mouth (bhāṣāsamiti); (3) circumspection must be exercised about all matters connected with eating (ēshanāsamiti); (4) a holy man (*sādhu*) must be careful to possess only five cloths (ādānanikṣēpanāsamiti), (5) a careful disposal of rubbish and refuse is one of the ways of preventing karma being acquired (*Utsarga-samiti* or *parishthāpanikāsamiti*-S. Stevenson, *Heart of Jainism,* pp 145 ff.).

4. *Samvara* means the prevention of sins by watchfulness. It is the principle of self-control by which the influx of sins is checked. The category of *samvara* comprehends the whole sphere of right conduct. It is an aspect of *tapas.* Some hold that it is the gradual cessation of the influx into the soul along with the development of knowledge.

5. *Sūtrakritānga,* 1, 1. 4. 10-13.

points in the teachings of Mahāvīra, constitute the path of Jainism, leading to the destruction of *Karma* and to perfection (*siddhi*).[1] Here destruction means the exhaustion of accumulated effects of action in the past and the stoppage of the future rise of such effects.

By the teaching of right knowledge, by the avoidance of ignorance and delusion and by the destruction of love and hatred, one arrives at deliverance which is nothing but bliss. Obstruction to knowledge is fivefold : (a) obstruction to knowledge derived from sacred books (sūtra); (b) obstruction to perception (*ābhinibodhika*); (c) obstruction to supernatural knowledge (*avadhijñāna*); (d) obstruction to knowledge of the thoughts of others (manaḥparyāya) and (e) obstruction to the highest, unlimited knowledge (*kēvala*). The following are the different kinds of obstruction to right faith; sleep (*nidrā*), sleep in activity (*prachala*), very deep sleep (*nidrānidrā*), a high degree of sleep in activity (*prachalaprachala*), and a state of deep-rooted greed (thīṇaddhī) *Mōhanīya* is twofold as referring to faith and conduct. The three kinds of *mōhanīya* referring to faith are right faith (*sammattam*), wrong faith/ (*micchattam*) and faith partly right and partly wrong (*sammamicchattam*). The two kinds of *mōhanīya* referring to conduct are : (1) what is experienced in the form of the four cardinal passions and (2) what is experienced in the form of feelings different from them.[2]

Right knowledge is, in fact, knowledge of the Jain creed. When right knowledge is possessed, one can know what virtue is and what vows he ought to keep. To hold the truth as truth and the untruth as untruth, this is true faith. To a monk, right conduct means the absolute keeping of the five great vows[3] His conduct should be perfect for he must follow the conduct laid down for him in every particular. A lay man is only expected to possess partial conduct, for, so long as he is not a professed monk, he cannot be absolutely perfect in con-

---

1. *Ibid*, 1, 2. 1. 21, 22.

2 *Uttarādhyayana sūtra*, XXXIII, 5-10.

3 (a) abstinence from killing living beings (Cf. Buddhist *pāṇātipātā veramaṇi*), (b) avoidance of falsehood (Cf. Buddhist *musavādā veramaṇi*), (c) avoidance of theft (*adinnādānā veramaṇi*), (d) freedom from possessions (Cf. Buddhist *Jātarūparājatapatiggahaṇā veramaṇi*), and (e) chastity (For details vide Law, *Indological Studies*, Pt. III, pp. 248 ff.)

duct. Right conduct can be ruined by three evil darts (*shalya*), the first of these is intrigue or fraud (*māyāshalya*) for no one can gain a good character whose life is governed by deceit. Even in holy matters, e. g., fasting, intrigue can make itself felt. The next poisonous dart is false belief (*mithyātvashalya*) which consists in holding a false god to be a true one, a false *guru* to be a true *guru*, and a false religion to be a true religion; by so doing one absolutely injures right knowledge and right faith which lead to right conduct Covetousness (*nidānashalya*) is the third poisonous dart which destorys right conduct. When a man is performing austerities, if he admits some such worldly thought into his mind as 'after this austerity I may have gained sufficient merit to become a king or a rich merchant', that very reflection being stained with covetousness, has destroyed, like a poisonous dart, all the merit that he might have gained through the act; in the same way if a man indulges vindictive thoughts when he is performing austerities, the fruit of his action is lost, no merit is acquired and no *karma* destroyed.[1] The Jains believe in right knowledge, right faith and right conduct referring to an impersonal system, each of the Christian jewels, Faith, Hope and Love, refers to a personal Redeemer. It is interesting to note that the Jain religion enshrines no faith in a supreme deity; but for the christian the dark problems of sin and suffering are lit up by his faith in the character and power of God which ensure the ultimate triumph of righteousness. In Jainism Hope is almost a meaningless word, but in Christianity the present circumstances of a human being and his future are alike bathed in the golden sunshine of Hope, so that hopefulness may be said to be the very centre of the christian creed and the foundation of its joy. In Jainism love to a personal god would be an attachment that could only bind him faster to the cyclo of re-birth, but in Christianity Love is the fulfilling of the law and it is in its light that the Christians treat the upward path.[2]

In Jainism faith is produced by Nature (*nisarga*), instruction (*upadeśa*), command (*ājñā*), study of the sūtras, suggestion (*bīja*), comprehension of the meaning of the sacred lore (*abhigama*), comp-

---

1 S. Stevenson, *The Heart of Jainism*, 245 ff. 2. *Ibid.*, 247 ff.

lete course of study (*vistāra*), religious exercise (*kriyā*), brief exposition (*samkṣepa*) and reality (*dharma*)[1]

According to the Buddhists faith is the basic principle of all virtuous deeds. It is the germinating principle of human culture.[2] It is characterised by two marks : (1) transquillising in the sense of making all obstacles to disappear and rendering consciousness clear, and (2) leaping high to achieve that what has not been achieved, to master that what has not been mastered, and to realise that what has not been realised Faith is nothing but trust in the *Buddha*, *Dhamma* and *Sangha* (Buddha, Doctrine and order) According to the celebrated Pali Buddhist commentator Buddhaghoṣa, it is an act of believing in the sense of plunging, breaking, entering into qualities of Buddha and the rest and rejoicing over them.[3] It is the guiding factor of charity, morality and religion in the sense that it precedes all charitable, moral and spiritual instinct and dispositions (*Saddhā pubbāngamā purchārikā hoti*)[4] It is transforming itself into *bhakti* or devotion It is associated with love or *prēma:* The noble eightfold path is the development of the five controlling faculties and powers, one of which is *śraddhā* or faith. The other element that accompanies faith is *prasāda*, a sense of assurance, attended by a serene delight out of satisfaction of a man's spiritual need (Punappunaṃ bhajanavasena saddhā va bhatti. Pemaṃ saddhāpemaṃ gehasitapemaṃ pi vaṭṭati Pasādo saddhāpasado va—*Puggalapannatti-Commentary*, 248). The Buddha in agreement with Mahāvīra held that doubt and faith are two opposite states of mind so that the affirmation of one implies the negation of the other[5] According to the Buddhists there are three species of doubt and three species of faith. The Buddha himself said that he had not found out any other element than earnestness which was conducive to the greatest good and to the stability of the faith He further pointed out that earnestness was

---

1 *Uttarādhyayanasūtra*, XXVIII, 16 :

Nisagguvaesarui āṇarui sutta-vīyaruimeva ।
Abhigama-vitthārarui kiriyā-saṃkheva-dhammaruī ॥

2 *Suttanipāta*, V 77.

3 *Atthasālini*, p 145 4. *Ibid.*, p. 120.

5. *Majjhima*, I, p. 101; Cf. *Sthānānga*, p. 289.

the only thing which preserved faith from getting perverted and from disappearing.[1]

Aśvaghoṣa's śraddhā or faith is the first of five *indriyas* and *balas* of Buddhism. The representation of *śrddhā* as the seed of higher life is thoroughly Buddhistic.[2] With the canonical dictum *saddhā bijaṃ*, it was easy for Aśvaghoṣa to elaborate the idea as contained in his *Saundarānanda-āvya* (Canto XII, vs. 39-41[3]; (cf *Saddhā bījaṃ tapo vuṭṭhi, paññā me yuganangalaṃ*)[4] It has been pointed out by Aśvaghoṣa that of the eight factors that constitute ,the noble Eightfold path right speech, right action and right livelihood are to be practised for the mastery of the actions *Śīlāsrayaṃ karmaparigrahāya*); right view, right resolve, and right effort are to be practised in the sphere of knowledge for the destruction of passions causing affiictions (*prajñāśrayaṃ kleṣaparikṣayāya*); and right mindfulness and right concentration are to be practised in the sphere of tranquillity for the control of mind (*śamāśrayaṃ chittaparigrahāya*). Broadly speaking, the noble Eightfold path is the development of the five controlling faculties and powers called *śraddhā* (faith), *virya* (energy), *smriti* (mindfulness), *samādhi* (concentration) and *prajñā* (knowledge or wisdom).

1. *Aṅguttara*, I, pp 16-17; vide also *Buddhistic studies* Ed. B C. Law, Ch. XII.
2 *Saundarānanda-āvya*, *XII*, 39.
3 Punasca bijamityuktā nimittaṃ śreyasotpadā ।
Pavanārthēna Pāpasya nadityabhihitā punaḥ ॥
Yasmāddharmasya çotpattau Śraddhā Karaṇamuttamaṃ ।
Mayoktā kāryatastasmāt tatra tatra tathā tathā ॥
Sraddhānkuramimaṃ tasmāt Saṃvardhayitumarhasi ।
tad Vriddhau Vardhatē dharmō mūlavriddhau yathā drumaḥ ॥
4 Cf. *Suttanipāta*, P. T. S, p. 13; V 77.

CULTURAL RELATIONS BETWEEN INDIA & JAPAN

By Kijiro Miyake, Counsellor, Embassy of Japan in India, New Delhi.

Indo-Japanese cultural relations date back for several centuries. It was entirely built on the imperishable and solid structure of religious understanding based on the moral values of life. It is indeed a matter for deep consolation that despite the passage of difficult times in the history of the modern world, this centuries old cordial relations between India and Japan have assumed today wider forms in an atmosphere of mutual understanding and peaceful intentions for the progressive realisation of lasting peace and prosperity to the peoples of both the countries The revival of the old cultural relations between India and Japan in the post-war-world and the strengthening of the existing bonds in all spheres of life, both material and spiritual, will contribute greatly to the moral and material awakening and prosperity of the peoples inhabiting these two foremost countries of Asia.

In the development of the existing happy relations between India and Japan, it should not be forgotten, that cultural influences of India have played an important role in the thoughts and national aspirations of the Japanese people. Similarly, the indigenous national ideals and certain historical forces of Japan forming her industrial progress, techonological and scientific advancement and independent outlook in life, if I am permitted to state, have also influenced the Indian people to look forward with hope in their march for freedom and to be united with Japan in their aspirations and ideals of life. It is my pious wish that this unity and good relations between us will grow from day to day not only for the happiness and welfare of the people of India and Japan but also of the world at large

Let us for a while look back to our ancient past. While India was undergoing religious revival under the spiritual guidance of Lord Mahāvīra and Gautama, the Buddha some twenty-five centuries ago, Japan was also experiencing religious ferment under the guidance of her teachers representing our ancient culture, which is known today

as Shintoism, the national cult of Japan I am happy to state that there exists a close affinity between some of the basic teachings of Japan's ancient teachers and the venerable teachers of this country. This affinity in the religious and cultural ideals of India and Japan have brought out the existing unity and cordial relations in our way of life and national aspirations in the post-war world.

Let me cite below two dictums of the ancient teachers of Japan representing our Yamato culture. These sayings are from KOJIKI, an old work containing some of the teachings of Japan's ancient masters:

> "Nothing in all the world calls for such gratitude as sincereity. Through oneness in Sincereity, the men of the four seas are brothers".

> "All men (all within the four seas) are brothers. All rece ive the blessings of heaven. The sufferings of those are my sufferings; the good of those are my good".

The above utterances of Muniteda, one of the foremost teachers of the Yamato culture are probably 3000 years old. They contain the essential teachings of all that is noble and best in Jainism and Buddhism. Needless to say, the close affinity that exists between the teachings of Mahāvira, Buddha and those of Japan's ancient teachers will be apparent to all students of world religions

It will be interesting to know some more important aspects of the Japanese culture because of its close affinity with Indian culture. Before Buddhism was introduced in Japan, our ancestors followed Shintoism or the "Ways of the Gods" The main tenets of our national cult are ancestor worship, paying homage to the rulers of the land and to cultivate the spirit of patriotism. The Shinto rituals included animal sacrifice to the deities and the spirits of the dead. Another noteworthy feature of the Japanese culture was the Bushido or the "Ways of the Knights" The rules of the knights are many, but the most important are the "ten ways of a gentleman or Samurai' These rules are, namely, self-control, wisdom, charity, justice, courage, benevolence, politness, honour, loyalty and love of learning. The main objective of Bushido was to make everyone an 'ideal man,' the 'perfect

man,' the 'Universal man' or the 'Adarsha purusha,' and the 'Uttama Purusha' of Indian culture. As far as I have come to understand from my short study of Indian culture, it was for the realisation of the above objective that the saints and sages of ancient India had formulated the various systems of ethics and philosophy.

There are many other common features in the Yamato and Indian cultures. All these social customs and religious ideals prove beyond doubt that Indians and Japanese belong to the common stock with identical national and spiritual aspirations in life

Jainology has not penetrated the shores of Japan. But some research scholars in India think that the teachings of Mahāvīra, the last Teacher of the Jaina religion have influenced Lo-tse, the old Master of China, to formulate the Taoist ideals of life. I do not know how far this view is correct as evidence is wanting to prove this theory. On the other hand, if this theory can be proved, it can be safely asserted that Jain cultural ideals have influenced Japan through Taoism, which was introduced in our country long before we heard of Buddhism from Korea and China.

Japan is indebted to India for her cultural heritage Japan knew the tenets of the Buddha in or about the 6 th century A. D. Today, there are more than 12 sects of Buddhists in my country and more than five crores of the people are followers of the Buddha Japan is one of the foremost countries in Asia where Buddhistic traditions, both of the Hinayāna and Mahāyāna are well preserved.

I pay my homage to Lord Mahāvīra, the Prince of Peace and the last Teacher of the Jaina religion. Indo-Japanese cultural cooperation is an indispensable factor for developing international peace. May the people of India and Japan unite together to achieve this noble end

The Doctrine of Jainism Alledgedly Introduced by Āryadēva

by Hajime Nakamura-Professor of Indian Philosophy,
University of Tokyo, Japan

Āryadēva (c 170-270), the Buddhist Philosopher, who was a pupil of Nagarjuna, was an ardent polemist against heresies. He mentioned twenty heresies in the *Śāstra by the Bodhisattva Ārya-Dēva on the Explanation of Nirvāṇa by [Twenty] Heretical and Hinayāna [Teachers] Mentioned in the Lanka[avatāra]-sūtra* (<*T'i p'o p'u sa shih lang chia ching chung wai tao hsiao sheng nieh p'an lun,*> Nanjio 1260), a work ascribed to Āryadēva. This work was written in Sanskrit, but the original text was lost, and a Chinese version alone is extant This work classifies the *nirvāṇa*-theories of heretics mentioned in the *Laṅkāvatārasūtra* into twenty species.[1] There is some doubt as to whether the ascription is correct, but since it was translated by Bodhiruci (508-539) we must assume that it had been composed at least as early as the fifth century A.D. In this work the doctrine of Jainism is mentioned as the thirteenth heresy. The doctrine is set forth very briefly as follows:

"The teachers of the Nirgranthas, the thirteenth heretics set forth the following doctrine.

"In the beginning (of the universe) there were born a man and a woman. These two got together, and gave birth to all beings, both animate and inanimate (*jīva* and *ajīva*). In the later period these beings are destructed and dissolved. This situation is called *nirvāṇa.* Therefore the *Nirgranthas* hold the theory that the meeting together of male and female, giving birth to all beings, is called the cause of *nirvāṇa.*"

As so far is the theory ascribed to the Nirgranthas, this scription

1 Cf Najio's edition, Bombun Nyū Ryōgakyō (=Bibliotheca Otaniensis I, Kyoto, 1923, pp. 182 (line 15)-184 (line 14).

seems quite strange. It is difficult for us to figure out why such a theory was ascribed to Jainism. One possible solution is that, as Jainism regarded our carnal desire as the deepest root of all evils, this doctrine of Jainism was set forth in such a twisted way by Indian Buddhists.

In another work ascribed to Āryadēva entitled *the śāstra by the Bodhisattva [Ārya-] Dēva on the Refutation of the Four Theories held by Heretics and Hīnayāna Mentioned in the Laṅkā (-avatāra) sūtra* (*T'i p'o p'u sa p'olang chia ching chung wai tao hsiao sheng ssŭ tsunglun*, Taisho Tripiṭaka, No. 1639), the Jain doctrine is set forth as the third heresy. The passage runs as follows :

" To assert that all things are both (of both characters) is the theory held by the teachers of the Nirgranthas. "........

Question : How do the Nirgranthas assert that all beings are both ?

Answer : To assert that all things are both is as follows :

For example, *ātman* and *buddhi* cannot be described as one, nor can be described as different. If we view things from another standpoint, things can be described as one, and at the same time, as different.

Question. Why is it possible that things which can not be described as one, nor as different can be described as one, and, at the same time, as different ?

Answer : For example, Ātman and life (Jīva) are different with regard to efficiency and expediency. Therefore, we can say that desire (rāga), hate (dvēṣa) and infatuation (mōha) are different, just as a lamp and its light can be described as one, and, at the same time, as different. If there is this, there is that. If there is not this, there is not that. [1]Therefore both can be described as one. On the other hand, the place where a lamp stands is different from the place where its light is spread. Therefore both can be described as different. Just in the same way as a lamp and its light, all things can be described as one, and, at the same time, as different. Therefore we say that the Nirgranthas assert that all things are both (of both characters.)" (Taisho-Tripiṭaka, vol. 32, p. 155.)

---

1. This is a stock expression of the Buddhist formula of *Pratītyasamutpada.*

Here we find the theory of anēkāntavāda or syadvāda.

I have just introduced the two passages which I hope that competent scholars would elucidate dubious points.

The fourth heresy mentioned in the same work also seems to be somewhat relevent to the doctrine of Jainism.

"To assert that all things are not both (not of both characters) is the theory held by the teachers of Jñātiputra."………

Question: How do the teachers of Jñātiputra assert that all things are not both?

Answer: To assert that all things are not both is as follows:—All things cannot be described as one, nor different; for, otherwise one would be involved into both the extremes (anta) As all the teachers who assert that all things are one, or different, or both, are beset with defects, intelligent men do not entertain any of the above-mentioned three theories

Question: What are the defects?

Answer: If there is no darkness separate from light, then darkness would disappear, when light disappears (On the other hand), if there is darkness separate from light, then there must be darkness which is not light, and there must be light which is not darkness. Therefore, we do not set forth any of the assertions that all things are one, or different, or both. However, we do not mean that such notions as 'one", "different", or "both" do not exist at all. (Taisho-Tripitaka, vol. 32, p. 155.)

I am not quite sure what is meant by this passage It is likely that this passage refers to the theory of a branch of Jainism or Ājivikas

THE ANUTTARA UPAPĀTIKA SŪTRA.

Prof. K. H. Kamdar, M. A., Baroda

The Anuttarōpapātika-अनुत्तरोपपातिक सूत्र-is the nineth Anga-अंग-of the canonical literature of the Jains and it is the immediate successor of the Antakrita Dashānga Sūtra-अन्तकृतदशांग सूत्रम् It has no pretension to a discussion of Jain philosophy. On the other hand it records the lives of thirty-three devoted disciples-अन्तेवासी of Mahāvīra, the last and twenty-fourth Tīrthankara The contents of the Sūtra are reported to have been delivered by Sudharma, सुधर्मा, Mahāvīra's fifth Gaṇadhara, गणधर, to his inquisitive disciple, जंबू Jambu, at the Guṇashīla Chaitya गुणशील चैत्य in the city of Rajagriha, the capital of king Shrēṇika-श्रेणिक of Magadha or Bihar, Bimbisār बिंबिसार of the Shishunāga-शिशुनाग dynasty. Sudharma was ordained as Aṇagāra-अणगार by Mahāvīra at the age of fifty. He remained as such for full thirty years and became Kēvalin केवली twelve years after Mahāvīra's death or Nirvāṇa. He died at the age of one hundred years. By birth Sudharmā was a Brahmin; his father's and mother's names were respectively Dhamilla-धम्मिल and Bhadillā-भद्दिला and he hailed from the Sannivēsha-सन्निवेश of Kollāka-कोल्लाक

The Sūtra narrates in thirty-three lessons or Adhyayanas-अध्ययन, the lives as monks of an equal number of persons. They practised severe penance under Mahāvīra's permission and their souls were born as gods in the last अनुत्तर Vimānas where they should live for thirty-two Sāgarōpamas-सागरोपम. Then they should take birth as men in the Mahā Vidēha-महाविदेह क्षेत्र from which they should attain निर्वाण-complete liberation from re-birth The Vimānas are, according Jain cosmology:—

Vijaya-विजय, Vaijayanta-वैजयन्त, Jayanta-जयन्त. Aparājita-अपराजित and Sarvārtha Siddha-सर्वार्थसिद्ध It is significant that Mahāvīra should have placed the destiny of his devoted Antēvāsis one step backward, inspite of the severest penance which they went through. They were not of the अन्तकृत दशा-the final stage in the cycle of life Evidently he wanted to emphasize the superiority of knowledge-Jñāna-ज्ञान over penance-तपस्=It should be remembered that the sūtra refers to the thirty three persons

as "Antēvāsis". The words were uttered by Mahāvīra's first and most devoted Gaṇadhara, Gautama who was eager to know the future destiny of each one of the great thirtythree souls This is also significant. The monks studied at the feet of Mahāvīra and were his pets.

The actual text of the Sūtra is extraordinarily brief, although it is divided into three Vargas-वर्ग, comprising respectively ten, thirteen and again ten अध्ययन-lessons or studies The result is that it avoids repetitions, and leaves the reader to gather information from the first lesson for all the remaining lessons. Being the nineth in order, the Sūtra is anterior to Jñātā, Bhagavatī, etc. to which the reader is referred for the same subject

Abhayadēva Sūri of the Chandra Gachcha and the disciple of Jinēshwar Sūri wrote a sanskrit commentary on this Sūtra. It is incomplete in the sense that it does not explain or transliterate each sentence of the text. The text and the commentary were published by the Āgamōdaya Samiti of Sūrat in 1920 A. D. and by the Ātmānanda Sabhā of Bhāvnagar in 1921 A D Gujarātī translations also are available. The Jain Shāstrōddhāraka Samiti of Rajkot published the text in 1948 A D. with Gujarātī and Hindi translations and a full Sanskrit commentary with orthodox annotations by Muni Ghisalālji. How modest as commentator and exigist Abhayadēva Sūri was can be gathered from the following verses which he gave at the end of his commentaries on this and the Vipāka विपाक Sūtras:—

इहानुयोगे यदयुक्तमुक्तम्, तत् धीधना द्राक् परिशोधयन्तु ।
नोपेक्षणं युक्तिमदत्र येन, जिनागमे भक्तिपरायणानाम् ॥

Abhayadēva Sūri was ordained as monk in Vikrama Samvat 1088 at the age of ten years and he died in Vikram Samvat, 1135, at Kapadavanj, Khaira district, Gujarāt. In the history of the exigesis of Jain Agamas, he is known as the exigist and commentator of nine angas. (Prabhāvaka Charita 261-272 in *Abhayadēva Prabandha*).

Out of the thirty-three disciples referred to in the Sūtra, twenty were princes of royal blood, sons of King Shrēṇika. Of these, seventeen were born of queen Dhāriṇi Their names were:—

(1) Jali-जाली (2) Mayali-मयालि (3) Upajali-उपजालि (4) Purushasena-पुरुषसेन (5) Varishena-वारिषेण (6) Dirghadanta-दीर्घदत्त (7) Lashtadanta-लष्टदन्त (8) DirghaSena-दीर्घसेन (9) Mahasena-महासेन (10) Gudha-

danta-गूढदन्त (11) Shuddhadanta-शुद्धदन्त (12) Halla-हल्ल (13) Druma-द्रुम (14) Drumasena-द्रुमसेन (15) Mahadruma Sena-महाद्रुम सेन (16) Mahasinha sena-महासिंहसेन and (17) Punya sena-पुण्यसेन of the remaining three sons of Shrēṇika, two princes-Vehalla-वेहल्ल and Vaihayasa-वैहायस were born of queen Chēllana, while the last, the famous Abhaya, was born of queen Nanda-नन्दा

The first seven sons of Dhāriṇi are mentioned in the first Varga while the remaining ten are mentioned in the second Varga. Queen Dhāriṇi thus presented to King Shrēṇika according to this description in all 17 sons. It will be seen that two of them bore a common name, Lashtadanta. May be, the king had two queens bearing a common name, that is Dhāriṇi The Visheshya 'Danta', appears in four names. May be, it might refer to a physical deformity !!

The confusion in recording names is not improbable. It might have been committed when the contents of the Sūtra were reduced to writing. Several hundred years after Sudharmā co-ordinated them in the Sūtra form.

A common name, in this instance again of a mother, but for different individuals occurs in this *Sūtra* in the second and third *Vargas* or chapters. The common name is that of Bhadrā-भद्रा a Sārthavāhinī-that is a woman who did prosperous business as leader of caravans. Ten different Bhadrās happened to be the mothers of (1) Dhanna and (2) Sunakshatra-सुनक्षत्र of the city of Kakandi-काकन्दी, (3) Rishidas (4) Pellaka-पेल्लक (5) Vehalla of Rājagriha (6) Ramaputra (7) Chandrika of Saketa, (8) Prishtimatrika-पृष्टिमातृक and (9) Pedhalaputra-पेढालपुत्र of Vanijyagrāma (10) Pottilla-पोट्टिल्ल of Hastināpura.

Between the lines we read fathers' name for Ramaputra and Pedhalaputra. This was very common in that age.

The text records in the form of Sūtra the institution of polygamy. Dhanna married thirty-two wives and the marriages were performed on the same day. His mother, Bhadrā, had got built for him thirty-two well-furnished palatial quarters.

सा भद्दा सत्थवाही.......बत्तीसं पासायवडिंसए कारेइ अब्भुग्गयमूसिए जाव तेसिं मज्झे एगं भवनं अणेगखंभमयसन्निविट्ठं ॥ (सा भद्रा सार्थवाही द्वात्रिंशतं प्रासादावतंसकान् कारयति अभ्युद्गतानुच्छितान् यावत् तेषां मध्ये एकं भवनमनेकस्तंभशतसन्निविष्टम्)

The prevalence of polygamy suggests that in the big cities and amongst the well-to-do castes of north India, specially amongst the Vaishyas and Khsatriyas, and even amongst the Brahmins the number of women was far greater than the number of men ! Children born in affluent families were looked after by धात्री nurses according to their age. The festivities in connection with the admission of the devotees to the order of monks were often led by rulers of states, श्रेणिक, Jitashatru etc. Such leadership is assigned elsewhere to Shri Krishna of Dwarka. I may now refer to an important fact which has been recorded in the Sūtra We are told that each one of the thirty-three Antēvāsis, when he saw that the end was fast impending of his earthly existence, thanks to the extremely severe penance which he had been practising under Mahāvīra's permission, went to mount Vipula-विपुल to go through the last stage of the penance-namely संलेखना He was accompanied by senior monks-स्थविर who kept in attendance on him day and night. These Sthaviras kept to their duty till the penance was completed and the monk was dead Then they prayed, recited the Navakkāra mantra and descending on to the plains below, presented to Mahāvīra-आचार भाण्ड-the pots (of wood) which were used by the deceased. Thus Mount Vipula near the city of Rājagriha was reserved for the performance of the last phase of the penance

॥ थेरेहिं सद्धि विउलं दूरुहइ, मासिया संलेहणा, नव मासपरियाओ, जाव काल-मासे कालं सिच्चा उड्ढं दूरं वीईवइत्ता सव्वट्ठसिद्धे विमाणे देवताए, उववण्णे, थेर थेरा तहेव ओयरंति जाव इमे से आयारभंडए ॥

The Sūtra pays the most eloquent tribute to the severity of Dhanna's penance The entire narrative is exceedingly insotrutive on account of its rhapsody and rherotics and the comparisions which are instituted by the narrator. I give the comparision for the readers' enlightenment The exaggeration of the description deserves our sympathy.

Dhanna's limbs were so emaciated on account of the severity of his penance that his legs were like the bark of a dried up tree or shoes of wood or worn out footwear. The Toes and fingers of legs were like off-shoots of *mung* or *adad* removed from the main stalk. The waist was like that of a crow, a Kanka bird or a peahen. His

knees were like those of a peahen, or *Kali* plant. The thigh was like the things mentioned above or it was like the stalk of a *jujub* plant, or Sami tree or like the legs of a camel or an old cow or bullock. The belly was like an empty leather-bag or Masaka, or a pot of wood to prepare bread The ribs were like thin rods or leaves; or lines on mirrors or thin rods The Chest was like a fan made of the leaves of a bamboo-tree. The arms were like dried-up roots of tree. His hands were like an Agasti shrub or dried up cow-dung, or dried up *banyan* leaves. The neck was like the neck of a water pot The lips were like dried up pills The tongue was like a dried up leaf of *a bunyan* tree or *palāsha* tree or an *udumbara* tree The nose was like a piece of a mango fruit. The eyes were like holes of a lute or dim-morning stars. The ears were like leaves of root-shrubs like *Mula*, etc. His head was like the bark of cucumber fruit.

In brief Dhanna could sustain his physical frame only on account of his moral and spiritual greatness and his extra-ordinary power of self-control

जीवजीवेन गच्छति जीव जीवेन तिट्ठति भापां भापित्वा ग्लायति, भापां भापमाणो ग्लायति....हुताशन इव भस्मराशिप्रतिच्छन्नस्तपसा तेजसा तपस्तेजःश्रिया उपशोभमानस्तिष्ठति ॥

Eloquent as the description is, it is instructive in the use of words for birds, animals, trees, shrubs, etc, which are almost identical with what we find to this day in Gujarāt and Rājasthān, as for instance, छल्ली (छाल), संगलियाइ (सींग), डेणिक्क (ढेल), वोरी (बोर), छगणिका (छाण), कुंडिका (कुंडी-कुंडुं), पेसियाइ (पेशी), मूल (मूळो) गएडालुएइ (गलकुं), etc.

The conclusion is obvious The redaction was in all probability made by persons who lived as monks in Gujarāt and Rājasthān.

To conclude, a critical study of the extant texts of the Jain Sūtras will reveal important features which are sure to throw fresh light on the society of the age of Mahāvīra and his immediate successors and on the subject of linguistics in medieval and pre-Muslim Gujarāt and Rājasthān.

I may add that the Sthaviras came as the last-the junior-most, in the order of the Jaina church-तीर्थंकर, गणधर, आचार्य and उपाध्याय.
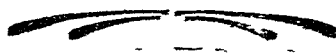
ANTIQUITY OF JAINISM.

by Kailasha Chandra Jain, M. A. Jaipur.

The origin of Jainism is shrounded in considerable obscurity. The available evidence to decide the questions is scanty, dubious and capable of different interpretations. Scholars have therefore come to widely divergent conclusions. Mrs. Stevenson is of opinion that Jainism originated as a protest against the sacrifice and casteism of the Brahmanism in the eighth [1]century B.C According to Jacobi, there are even traces of Jainism even in the Vēdic [2]period. Dr Zimmer and Farlong observe that there was the existence of the Śramaṇa culture before the Āryans in India. Dr. Zimmer calls it by the name of the Drāvidan [3]religion while Farlong considers it to be different from the religion of the [4]Drāvidans.

The divergence of views among the Scholars about the antiquity of Jainism is thus almost bewildering. The question has therefore to be examined and considered carefully, critically and exhaustively in order to arrive at some conclusion.

Jainism Older Than Buddhism:—

From the Buddhist and Jain records, it is clear that Jainism is older than Buddhism and was firmly established at the time of the origin of Buddhism Mahāvīra was not the founder and author of Jain religion but simply a reformer. Many abuses had crept into Jainism at that time and he simply tried to remove them. His parents had, according to a tradition which seems to be trustworthy, been followers of Pārśva [5] He himself, when he became a monk, returned to the chaitya of his own lawn called Duipalāsa [6] The chaitya seems to be of the Jains. Even Buddha after giving up the worldly life

1. The Heart of Jainism, p. 48.
2. S. B. E. Vol. 45, Introduction, p. 33.
3. Philosophies of India, pp 217 to 227.
4. Short studies in the Science of comparative religions. PP. 243-244.
5. S B. E. Vol. 22, P. 194. 6. Uvasagadaso.

lived in the company of the saints who practised austerities and were possibly Jains.[1]

In the Sāmannaphala Sutta of the Dīghanikāya, there is a reference to the four vows (Chāturyāma Dharma) in contradiction to the five vows of Mahāvīra. The four vows of Pārśva were :—not to take life, not to tell a lie, not to steal and not to own property. To these Mahāvīra was forced to add the vow of chastity when the abuses had crept into the Jain church. The Buddhists could not have used the term Chāturyāma Dharma for the Nigranthas unless they had heard it from the followers of Pārśva. This is the proof for the correctness of the Jain tradition that the followers of Pārśva actually existed at the time of Mahāvīra.

This sect of the Nigranthas was an important sect at the rise of Buddhism. This may be inferred from the fact that they are frequently mentioned in the pitakas as opponents of Buddha and his disciples. This conclusion is further supported by another fact. Mankkhalī Gośāla, a contemporary of Buddha and Mahāvīra divided mankind into six classes, of these the third class contained the Nigranthas. Gośāla probably would not have ranked them as a separate class of mankind if they had recently come into existence. He must have regarded them as a very important and at the same time an old sect.

The Majjhima Nikāya 35th records a dispute between Buddha and Sakdāl, the son of a Nigrantha. Sakdāl is not himself a Nigrantha Now, when a famous controversialist whose father was a Nigrantha, was a contemporary of the Buddha, the Nigranthas can scarcely have been a sect founded during Buddha's life

The Uttarādhyayana Sūtra 23rd relates a meeting between Gautama Indrabhūti, the disciple of Mahāvīra and Kēśī Kumāra, the disciple of Pārśva at Śrāvastī which brought about the union of the old branch of the Jain church and the new one. This again points out to the existence of the older Jain faith than that of Mahāvīra.

Historicity Of Pārśvanātha :—

These discussions clearly show that Pārśvanātha is a real historical figure He must have been of a genial nature as he is always given

1. Bhagwāna Mahāvīra, P. 156.

the epithet Purisā-danīya 'beloved of men.' He is supposed to have attained liberation about 246 years before Mahāvīra at Sammetaśikhara which is known by his name Pārśvanātha hill. If 526 B.C. is taken as the year of Lord Mahāvīra's Nirvāṇa, in 772 B.C must have occurred the death of Pārśvanātha. According to the tradition, he dwelt in the world exactly one hundred years and left home at the age of thirty to become an ascetic. From it, we may conclude that he was born about 872 B.C. and left this world in about 772 B.C. The Kalpasūtra states that Pārśva like other Tirthankaras was a Kshatriya and the son of the King Aśvasēna of Banāras and his wife Vāmā His chief disciple was Śubhadatta who was succeeded by Haridatta. Then, came Ārya Samudra and his disciple Prabhasūri. Next Kēśī Kumāra succeeded to the headship of the church who was the contemporary of Mahāvīra Thus the history of Jainism goes back to 872 B. C.

Nēminātha as a Historical Figure—

There seems to be no doubt about the existence of Jainism in the nineth century B. C. but the history of Jainism goes back even earlier than of Pārśvanātha. The Jain record mentions the names of twenty two Tirthankaras before him. Nēminātha, the 22nd Tirthankara of the Jains, was the son of Samudra Vijaya and grandson of Andhakavrishṇī. He is said to be a cousin of Krishṇa, the lord of the Bhagvadgitā. Krishṇa negotiated his marriage with Rājamatī, the daughter of Ugrasēna but Nēminātha taking compassion on the animals which were to be slaughtered in connection with the marriage feast, left the marriage procession suddenly and renounced the world. If the historicity of Lord Krishṇa is admitted, we may as well admit that Lord Nēminātha, the 22nd Tirthankara is not a mere myth.

The Andhakavrishṇis of Dwārakā in Kāthiawār as a republic is referred to in the Mahābhārata, Arthaśāstra and Ashtādhyāyī of Pāṇini. The name of the Vrishṇī corporation is also found on a coin which on palaeographical grounds belongs to the first and second [1]century B. C. It seems that the republic was named after Āndhakavrishnī, the grand father of Nēminātha. As this republic is mentioned in the

1. Corporate life in Ancient India, P. 279.

Ashtadhyāyī of Pāṇini who according to Gold Stucker must have lived in the seventh century B. C. at the latest. It must have been well known at this time and must have come into existence long before eighth century B. C If Āndhakavrishṇī is the real person, there seems to be little doubt that his grand son Nēminātha was a reality.

There is a mention in the Chhāndōgya Upanishada III, 17, 6, that the sage Ghora Āngirasa imparted a certain instructions of the spiritual sacrifice to Krishṇa, the son of Dēvakī. The liberal payment of this sacrifice was austerity, liberality, simplicity, non-violence and truthfulness These teachings of Ghora Āngirasa seem to be the tenets of Jainism. Hence, Ghora Āngirasa seems to be the Jain saint. The writers of the Jain scriptures say that Tirthankara Nēminātha was the master of Krishṇa [1] Now the question arises whether Nēminātha and Ghora Āngirasa are the names of the same individual.

The word Ghora Āngirasa seems to be an epithet given to him because of the extreme austerities undertaken by him. It may be possible to suggest that Nēminatha was his early name and when he had obtained salvation after hard austerities, he might have been given the name of Ghora Āngirasa.

Infact the Jain traditions about Nēminātha or Arishtanēmi as incorporated in the Harivamṣa, Arittha Nēmi Chariu and other works may be corroborated to some extent by the Brahaminical traditions. He is mentioned in some of the hymns of the Vēdas but their meaning is doubtful[2]. In the Yajurvēda, he seems to be clearly mentioned as one of the important Rishis He is described as one who is capable of crossing over the ocean of life and death, as the remover of violence, one who is instrumental in sparing life from injury and so on.[3] The Yajurvēda probably belongs to the twelth century B. C.

1. द्युति मद्रतांगर्विवकिरणजटिलांशुमण्डल । नीलजलजदलराशिवपु सह वन्धुभिगरुड़केतुरीश्वरः ॥
हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयो जनेश्वरो । धर्मविनयरसिको सुतरां चरणारविन्दुयुगलं प्रणेमेतुः ॥
—वृहत् स्वयम्भूस्तोत्रम्, श्लोकः १२६ ।

2. (Rj. 10, 178, 1), (Yaj. 9, 25); and (Yaj 25, 19)

3. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा ।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि. स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु ॥

This indicates that Nēminātha seems to be known at this time and flourished even before.

The literary evidence seems to be supported by an epigraphical evidence.[1] In Kāthiawār, a copper plate has been discovered on which there is an inscription. The king Nebuchadnazzar (940 B. C.) who was also the lord of Rēvānagara (in Kāthiawāra) and who belonged to Sumer tribe, has come to the place (Dwārkā) of the Yadurāja. He has built a temple and paid homage and made the grant perpetual in favour of Lord Nēminātha, the paramount deity of Mt Raivata. This inscription is of great historical importance. The king named Nebuchadnazzar was living in the 10th century B. C. It indicates that even in the tenth century B.C. there was the worship of the temple of Nēminātha the 22nd. Tirthankara of the Jains. It goes to prove the historicity of Nēminātha

Thus, there seems to be little doubt about Nēminātha as a historical figure but there is some difficulty in fixing his date. He is said to be the contemporary of Krishṇa, the hero of Mahābhārata. The scholars differ in their opinions as to the exact date of the Mahābhārata which vary from 950 B.C. to 3000 [2]B.C.

Jainism in the Period of Rāmāyana—

The period of Rāmāyana is earlier than Mahābhārata The majority of the scholars believe most of the events and persons connected with the story of Rāmāyana to be real and historical. The oldest available Jain version of Rāma epic is Paumachariya in Prākrit which was composed in 530 years after the Mahāvīra-nirvāṇa according to the statements of the author named[3] Vimala Sūri. It belongs to about the same period as the oldest Brahaminic version, the Rāmāyana of Vālmikī i. e. to the first century B. C. No doubt Vimal seems to be

1. J. A. 14, p. 3; J S. B. 14, I, P. 21; The Jain-35, 1. P 2 and the Times of India (Weekly) of 19th March, 1935. I could not see the photo of this inscription.

2. Pargiter 950 B.C.; R C. Majumdar 1000 B.C; Dr. H. C. Ray Chaudhary 1376 B. C.; Jayaswal 1450 B. C.); and astronomers and later traditions 3102-2449 B. C.

3. पचवे वाससया दुसमाए तीसवरससजुता । वीरे सिद्धीमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥

acquainted with the other works on the life of Rama but he criticizes them as giving false and fantastic statements. On the other hand, he himself claims to give a real and true account of the life of Rāma, based on the words of Tirthankara Mahāvīra The story of Rāmāyana as stated in the Jain Purāṇas is substantially similar to the account of Vālmiki [1] But the way in which the Jain version differs from the Brahaminic Rāmāyana throws a very significant light on the position of Jainism. According to the Jain version, Rāvaṇa and Rāksas were highly cultured people belonging to the race of the Vidyadharas and were great devotees of Jina.[2] But the Hindu traditions depicted them as evil natured and irreligious demons because they were antagonistic to the sacrificial cult of the Vēdic sages. At the same time, they were defeated, therefore, they become the demons in the hands of the poets. Considering these two accounts together, it seems that the Vēdic people denounced the Rākshas because they were the followers of Jainism. F. E Pargiter also asserts the Jains were treated as Asuras and Daityas by the [3]Hindus. Rāma, his brother Lakṣamaṇa and their enemy Rāvaṇa were 63 prominent personages (the triṣaṣti śalākā purushas) of the Jain traditions where in the Rākṣas and Vānaras of the Rāmāyana have been described not as semihuman or demons but as highly civilized and cultured human beings of the Vidyādhara race who were mostly devotees of the Jina

Even in the Yōga Vāśishtha Rāmāyana in the Chapter of Vairāgya, Rāma expresses to be of a peaceful nature like [4]Jinēndra. There is also mention in the Rāmāyana of Vālmiki that the king Daśaratha, the father of Rāma entertained the śramaṇas as the [5]guests. The word śramaṇa indicates the Jain saints and not saints of Buddhism which is of late origin.

---

1. Jain Sanskrit Padma Purāṇ 678 A. D.; Svayambhu Rāmāyana of Apabhramṣa, 8 th Century; Trisashthiśalākā Purusha Charitra of Hēma Chandra and Rāma Charitra of Dēvavijaya

2 दहमुहं पवेसणं चिय भवण जिण सन्ति सामिनाहस्स ।
तह पाडिहेर गमण लंकाए पवेसणं चेव ॥ ॥ ७८ ॥ पउमचरियम्—

3 Ancient Indian Historical Tradition, P. 291.

4. Yōga Vāśishtha Rāmāyana Vairāgya Prakarana, Adhyāya 15, Śloka8.

5. Vālmikī Samhitā, 14. 12.

Thus, it seems that Jainism was in existence in the period of Ramayana according to the Jain traditions. Lord Munisuvarta, the 20th Tirthankara is said to be the contemporary of Rama. [1]Munisuvratanatha seems to be as real person as Rama himself.

Jainism in the Rig Vēdic Age:—

In the Vēdic period, there were two kinds of saints-Yati, the enemy of Indra, the Vēdic God and Muni-the friend of Indra.[2] It seems that the saints of the Āryans who honoured them were called the Munis while persons corresponding to the saints among non-Vēdic people were probably called the Yatis In the Tai S. VI. 2. 75, we read 'Indra threw Yatis to the Śalavrikas (wolves)[3], they devoured them to the south of the uttaravēdi The same words and story occur in the Kathaka Samhita VIII 5, the Ait. Br 35 2 and the Kausitaki Up. III, 1; in the last, Indra said to Pratardana, "do know me only. I regard this as the most beneficial thing to man that he should know me. I killed the three headed Tvashtra, I gave to the Śalavrikas, the arunmukh yatis" In the Kathaka Samhita 10 and the Tai. S. II 4, 9, 2, it is stated that the heads of the Yatis when they were being devoured, fell aside and they (the heads) became the Kharjuras (date palms). Atharvavēda II, 53 says 'Indra who is quick in his attack, who is mitra and who killed Vritra as he did the yatis In the Tandya Mahabrahmana VIII 1, 4, Brihadgiri is said to be one of the three Yatis who escaped from slaughter and who were then taken under his protection by Indra All these passages taken together suggest that the Yatis were the people who had incurred the hostility of Indra, the patron of the Āryas and their bodies were therefore thrown to the wolves. A few of them who escaped slaughter were subsquently won over and became the worshippers of Indra. They therefore, in Rg VIII 6, 18; are described as praising Indra. These Yatis may probably represent the Jain Saints. Some of the saints are described as naked which indicates that they were Jain saints.

---

1. मल्लिमल्लियमवोहं मुणिसुव्वयं तियसनाहं ।
   पउमस्स इमं चरियं जस्सय त्तित्थे समुप्पन्नं ॥ (Paumachariam V. 5.)
2. इन्द्रो मुनीनाम सखा । ऋग्वेद ८, १७, १४.
3. इन्द्रो यतीन् सालवृकेभ्यः प्रायच्छत् ।

It seems that at the coming of the Āryans in India, the austerity was practised by the natives. This idea of renunciation did not appeal to the society of the Āryans who had the optimistic outlook on life which is clearly reflected in hymns. The Rig-Vēda is full of prayers for long life, freedom from disease, heroic progeny, wealth, power, abundance of food, drink, the defeat of the rivals etc. The people who liked renunciation were few in society. It seems that the invasion of the Āryans brought the destruction of the native culture and religion. The natives were forced to give up their own religion and to accept the culture of the invaders

The Āryan invasion which overwhelmed the North Western and North Central provinces of the Sub-continent in the second millenium B. C. did not extend beyond the middle of the Ganges valley. The possession of the Āryans at the Rig-Vēdic time was probably confined to Sapta Sindhu. The pre-Āryan nobility of the north eastern states were therefore not all annihilated. Many of the old families survived. Probably, the people of Kāsī, Magadha and other neighbouring countries were the followers of a different culture on whom curses used to be showered and troubles used to be invoked. Jainism was probably popular in the east where the Tirthankaras were born. Even when the eastern part of India was aryanised, it preserved considerable differences from the midlands in the points of language, ethnic elements and culture. Probably, the Vrātyas mentioned in Atharva Veda[1] and Panchavimśa Brahmana of Sāmavēda lived there.[2] The Panchvimśa Brahmana describes peculiarities of the Vrātyas. They did not study the Vēdas. They did not observe the rules regulating the Brahamanical order of life. They called an expression difficult to pronounce when it was not difficult to pronounce (?) and spoke the tongue of the consecrated through un-consecrated[3]. This proves that they had some Prākritic form of speech[4]. The Prākrit language is specially the language of the canonical works of the Jains. Jayaswal states that they had traditions of the

1. Atharvaveda, XV, 2. 1-4.
2. Panchavimśa Brahmana XVII, 4, 1-9.
3. अदुरुक्त वाक्यं दुरुक्त माहुः—अदीक्षिता दीक्षित वाक्यं वदन्ति ।
4. Magadhan literature Vol. I P. 47, Chanda, Indo Āryan Race I. P. 38.

Jinas and Buddhas amongst them even before the sixth century B.C.[1] It seems that they were the followers of the Jainism which is known to have come into existence even before the sixth century B. C.

Jainism as a Drāvidan Religion:—

Dr. Zimmer considers Jainism to be an older religion even than Vēdic religion and called it the Drāvidan religion. Both are simple, unsophisticated, clear cut and direct manifestation of the pessimistic dualism. Jainism believes in pessimism, a conviction that human life is full of misery, no trace of which is to be found in the optimistic attitude of the Vēdic Āryans The doctrine of transmigration of the Drāvidans unknown to the early Brahmanas suddenly emerges in the Upanishads and forms an essential element in the Jain religion. What is more important, is the fact that the doctrine assumes it (×) peculiarly Indian form by its association with the doctrine of Karman and we know that the most primitive ideas of Karman are found in Jain Metaphysics. An atheistic attitude and a kind of dualism between soul and matter characterize both Drāvidan religion and Jainism. From this religion also arose the heterodox sects namely Sānkhya, Yōga and Buddhism.

Dr. Zimmer further observes that Jainism and Zoorastrian religions seem to be the forms of the Drāvidan religion. Both arose as a protest and as parallels against the Vēdic religion and the religion of Avasta respectively in about 8th Century B. C. for the revival of the older religion which we may call the Drāvidan religion. There are elements of similarity in both the religions. Pārśvanātha and Zooraster were contemporary in time and they were against the sacrificial ceremony and polytheism of the gods. The enemy of Pārśva was Kamatha, while of Zoorāstra is Dahaka. Both gave troubles to Pārśva and Zoorāstra respectively for a long time but at the end, they were overcome by love. The serpents springing from the shoulders of both the images are well known. It seems that the snake played an important part in the lives of both.

Dr. Zimmer's arguments are held plausible but our main difficulty in accepting them is that our knowledge of the Drāvidan faith is very meagre and perfunctory.

---

1. Jayaswal Revised notes on the Brahmin Empire; J.B.O.R.S. XIV P. 26.

Jainism in The Time of Indus Valley Civilization:—

The discovery of the Indus Civilization seems to have thrown a new light on the antiquity of Jainism. The time assigned by the Scholars to this culture is 3000 B. C. on the archaeological evidence and on the evidence of the relations with the cultures of the other countries. The religion of the Indus culture seems to be quite different from the religion of the Āryans in the Vēdic period. At Mōhenjōdarō and Harappā, iconism is every where apparent. But it is extremely doubtful whether images were generally worshipped in the ancient Vēdic times. In the Rig-Vēda and the other Vēdas, there is worship of Agni, Sun, Varuna and various other deities. But they were worshipped in the abstract form as manifestations of a divine power. There are no doubt passages where the deities of the Rig-Vēda are spoken of as possessed of bodily attributes. R. G. VIII 175 speaks of the limbs and sides of Indra and prays Indra to taste honey with his tongue In Rig. I. 155-6 Vishnu is said to approach a battle with his huge body and as a youth. It is possible to argue that all these descriptions are poetic and metaphoric. But there are two passages of the Rig-Vēda that cause much more difficulty than the above Rg VIII 21-10 asks who will purchase this my Indra for ten cows. Rg. VIII 1. 5. says, 'o Indra, I shall not give thee for even a great price, not even for a hundred, a thousand or ten thousand. It may be argued that here, there is a reference to an image of Indra. But it is not convincing It is equally possible to hold that these are hyperbolic or boastful statements of the great devotion of the worshipper to Indra and that there is no reference to an image of Indra. In most of the earlier and more authoritative Brāhmanas which lay down in detail the rules of the rituals, associated with the Vēdic sacrifices, there is no reference to images which would certainly have been explicitly mentiond, had they been regarded as necessary. In the subsequent period, when the image worship-had come to play a definite part in Brāhamanic religion, detailed descriptions of these are not lacking But the cult of symbols and images seems to have been current among the people who continued the traditional religious practices of the settlers of the Indus Valley region. These people seem to be the Jains because the image worship was prevalent among them

in the times of Nandas and Mauryās.[1] It seems that the image worship might have been copied by the Brāhmanas from the Jains.

It is possible to suggest from the evidence of articles discovered that Jainism was not unknown among the people of the Indus Valley. Some nude images and the nude figures on the seals have been discovered at Mōhenjōdarō and Harrappā Nudity has been the special characteristic of Jainism. Even Rishabha, the first Tirthankara observed the vow of nudity. The pictures 1. JBORS Vol III, Pt. IV, P. 458, & JBORS 1937 P. 130-32. Nos. 15 & 16 of plate XIII represent a seated image with a hood over its head attended by a half kneeling figure in respectful attitude.[2] This may be the representation of the seventh Tirthankara Supārśvanātha The bull is the cognizance of Rishabha Dēva. The standing deity figured on seals three to five with a bull in the fore ground may be the proto-type of Rishabha.[3] Some statues have been discovered also in the meditative mood, the half shut eyes, being fixed on the tips of the nose both in the sitting and standing poses These statues and images on the seals may be taken to indicate that the people of the Indus Valley at this time not only practised Yōga but worshipped the images of Yōgis. In the Ādipurāṇa (Book XXI) there are the instructions given about the meditation. With regard to the eyes, it is stated that they should neither be kept wide open, nor totally shut up. The Kāyōtsarga posture of standing is peculiarly Jain. In the Ādipurāṇa Book XVIII, it is described in connection with the penances of Rishabha. This is also the characteristic of the Jain images at present.

These images have been described by Marshal as the proto-type of Śiva. But with due difference to the illustrious scholar, an argument can be hazarded that the word Śiva meaning the auspicious occurs as an epithet of Rudra in the Rigvēda, Yajur Vēda and Atharva Vēda. It is only Rudra and not Śiva who is praised in all hymns. He is represented in these hymns as a malevolent deity causing death and disease among men and cattle. The physical description of Rudra is found in a number of hymns in great detail. For instance in some

1. Mahāpurāṇa, Parvas XVIII-XX and Achārānga Sūtra.
2. Marshall-Mōhenjōdārō and the Indus Valley Civilization P. 60,
3. Chanda, Modern Review, August 1932 pp. 156-159.

places, he is said to be tawny in colour and other of a very fair complexion, with a beautiful chain, wearing golden ornaments, youthful and having spirally braided hair on his head. He carries in his hands a bow and arrows and is described in some hymns as wielding the thunderbolt. This type of Rudra can not be identified with the prototype Śiva whose portraits are found on the seal because his attributes are quite different from the attributes stated in the Vēdas about Rudra. Rudra occupies the minor position in the Vēdic period but Śiva seems to be dominant among the people of the Indus Civilization. Śiva with the purāṇic attributes can not be identified with the images on the seals because these purāṇas were composed about three thousand years after the Indus Civilization.

Historicity Of Supārśvanātha:—

There are some legends about the Tirthankaras which may contain some historical matter. In the Mahāvagga (1. 22. 13), there is a mention of a Jain temple of Lord Supārśva, the seventh Tirthankara situated at Rājagrih in the time of Lord Buddha At Mathurā, there is an old stupa of the Jains with the inscription of 157 A. D. This inscription records that an image of the Tirthankara Aranātha was set up at the stupa built by the gods.[1] Thus, in 157 A. D., this stupa was so old that it was regarded as the work of the gods. It was probably, therefore, erected several centuries before the Christian era. The later authors give us some information about this stupa. Jinprabha in the Tīrtha Kalpa, a work of the 14th century based on ancient materials mentions that the stupa originally of gold was erected in honour of the seventh Jina Supārśvanātha by the Kubēra for two Jain Saints named Dharmaruchi and Dharmaghosh. In the time of twenty third Jina, Pārśvanātha, the golden stupa was enclosed in bricks and a stone temple was built outside. Even Sōmadeva, the author of the Yaśastilaka who is nearly four hundred years earlier than Jinaprabha refers to it as built by gods.[2] From this type of legendary account, it seems that there was the worship of Supārśvanātha several centuries before the Christian era. The Yajurvēda is also said to have mentioned

1. The Jain stupa & other antiquities of Mathurā pp 12-13.
2. Yaśastilaka & Indian Culture P. 433.

the name of Supārśvanātha[1] but the meaning is not definite. A seated image with a hood over its head attended by a half kneeling figure in respectful attitude in the pictures No. 15 & 16 of plate VIII may be the representation of the seventh Tirthankara Supārśvanātha.[2]

Ajitanātha as a Historical Figure:—

The second Tirthankara is Ajitanātha, born in Ayōdhya The Yajurvēda mentions the name of Ajitanātha[3] but the meaning is not clear. His younger brother according to Jain traditions was Sagara who became the second Charkravarti. He is known from the traditions of both Hinduism and Jainism as found in their respective Purāṇs. From the Hindu source, he is known to have many sons. One of them was Bhagiratha who brought the Ganges From the Jain account, it is clear that Sagara in his last days adopted the life of asceticism from Ajitanātha and retired from the worldly life[4] Ajitanātha seems to be as real a person as Sagara.

Historicity Of Rishabhadēva:—

Even Rishabhadēva, founder of Jainism may be a historical figure. An image of Rishabha of V. S. 162 of the time of the Kushan Emperor Vasudēva has been discovered at Mathurā.[5] The inscription of Khārvēla tells us that the image of Rishabha carried by Nanda three hundred years before was brought back by him to Kaling.[6] There was thus the worship of Rishabha even in the fifth century B. C. in the time of Nandas. This points out that if Mahāvīra or Pārśva had been the founders of Jainism, it would not have been possible to find the images of Rishabha in the very early period. This indicates that he is not a mythical figure but a real personality. The name Vrishabha is mentioned in the Vēdas,[7] but the meaning is not certain. The different

1. Indian Philosophy Vol I. P. 287.
2. Marshall-Mōhenjōdarō and the Indus Valley Civilization P. 60.
3. Indian Philosophy Vol. 1 P. 287.
4. Mahāpurāṇa, Trisaghthiśalākāpurusha Charitra etc
5. Mathurā Museum Catalogue Pt. III, pp. 5 & 6.
6. मगधानं च विपुलं भयं जनेती हथिस गंगायं पायग्रंति मगधं च राजानं वहु परिसासिता-पादे वदापयति नंदराजनि तस अगजिनस-गहरतन पडिहार हिममगधे वसि उनपरि। -जैन लेखसंग्रह, मुनि जिनविजय.
7. Indian Philosophy Vol. 1 p. 287 see also, Sāmavēda (4, 1); Atharvavēda (20, 143, 10)

(It has been read differently by the other scholars. Therefore, it is a controversial question. Nothing can be said definitely about it.)

interpretations have been made by the scholars. The standing deity figured on the seals with a bull in the foreground may be the proto-type of Rishabha as we have already discussed. His parents were Nābhirāja and Marudēvī. The name of his son was kept Bharata after which India said to be named.

Legendary Antiquity of Jainism:—

The Jain religion, according to the Jain scriptures[1] is eternal, revealed in every cyclic period of the world The time is divided into two equal cycles namely Utsarpinī Kāla and Avasarpinī Kāla. Each cycle is again divided into six divisions known as aras. (Spoke of a wheel).

Avasarpinī.	Utsarpinī.
1. Sushamā-Sushamā	1. Duhshamā-Duhshamā
2. Sushamā	2. Duhshamā
3. Sushamā-Duhshamā	3. Duhshamā-Sushamā
4. Duhshamā-Sushamā	4. Sushamā-Duhshamā
5. Duhshamā	5. Sushamā
6. Duhshamā-Duhshamā	6. Suhshamā-Sushamā

Each Utsarpinī and Avasarpinī Kāla extends over ten Kotā-Kotī sāgarōpama years. The first ara Sushamā-Sushamā of four kotā-kotī sāgarōpama years, the second ara Susamā of three kotā-koti Sāgarōpama years, the third ara Sushamā-Duhshamā of two kotā-kotī sāgarōpama years, the fourth Duhshamā-Sushamā of the duration of forty two thousand years less in one kotā-kotī sāgarōpama years, the fifth ara Duhshamā of twenty one thousand years and the last ara Duhshamā-Duhshamā will be of twenty one thousand years duration. At present, Duhshamā is going on of which nearly twenty four hundred and eighty one years have passed. In the Utsarpinī Kāla, the order of the aras is the reverse.

During the first ara of Sushamā-Sushamā of the Avasarpinī Kāla, the age of the yugalika people was three palyopama years. They took their food on the fourth day, their bodies were very tall and were marked by auspicious symbols They were devoid of anger, pride, deceit, greed and other sinful acts Various kinds of the kalpa trees fulfilled their wishes.

1. Tilloyapannati, Harivamśapurāṇa etc.

During the second ara named Sushamā, the yugalika lived for two palyopamas. They took their food at an interval of three days. They were also tall. The kalpa trees less supplied their wants than before. The objects of land and water became less sweet and fruitful than they were during the first ara.

During the third ara of Sushamā-Duhshamā, the age limit of the yugalikas became one palyopama. They took their food on the second day. The yielding power of Kalpa trees, the sweetness and fruitfulness of the earth and water as well as height and strength of the body went on decreasing and they became less than they were during the second ara

During the fourth ara Duhshamā-Sushamā, the height of the human being became five hundred dhanushyas and with ever progre ssing decrease, it was reduced only to seven hands at the end of the fourth ara Even the period of age limit was reduced approximately to one hundred years and less at the close of this ara. At this time, there was much happiness but the slight misery. people were happy and prosperous. The land was fertile and produced the abundant fruits.

At this time, the Tirthankars were born and propagated Jainism. Lord Rishabha Dēva, the first Tirthankara lived in the later part of the third ara and the remaining twenty three Tirthankaras lived during the forth ara. In the time of Rishabha, the Kalpa trees seized to fufill the wishes, placing the people under difficulties. Under these circum stances, Rishabha instructed them to get on with the different occu-pations such as trade, agriculture etc. The people engaged in different occupations, formed different social groups. Lord Rishabha is very often described as a creator of the world in the sense of laying the socio-economic foundation.

In the fourth ara, Nami died 5,00,000 years before Nēmi, Muni-suvrata 11,00,000 years before Nami; the next intervals are 65,00,000, 10,000,000 or a krore; the following intervals can not be expressed in definite numbers of years but are given in palyopamas and sāgarōpamas. The length of the life and the height of the Tirthankaras are in proportion to the length of the interval. In connection with these items of the mythical history of the Jains, it may be added that they

relate the life-length of twelve universal monarchs (Chakravartins); of nine Vāsudēvas, nine Baladēvas, and nine Prati-Vāsudēvas who lived within the period from the first to the second Tirthankara together with the 24 Tirthankaras. They are the 63 great personages of Jain history.

During the fifth ara named Duhshamā, the present age during which we are living, the height, age limit and the strength of the human beings will be reduced. The majority of the people will be miserable and there will be little piety and honesty. After that, there will be the sixth ara Duhshamā-Duhshamā in which there will be no sense of reason and morality among the people. The age, height and strength of the human beings will decrease to a great extent. People will suffer from the various diseases and thus, their lives will be miserable.

Similarly, to the sixth and fifth aras of the Avasarpinī Kāla are first and the second of the Utasarapinī Kala. At the end of the second ara named Duhshama of the Utsarapinī Kāla, there will be seven Kulkaras After the lapse of the Duhshamā ara of the Utsarapinī Kāla, there will be sixty three excellent personages.

This is only an imaginary theory similar to several such theories in the Purāṇs and it can not be scientifically proved and historically demonstrated. It is only based on the firm faith of the authors and the strong traditions of Jainism. According to them, Jainism is eternal and came into existence with the very dawn of the civilization.

AUTHORS AND SUBJECTS STUDIED IN RĀJASTHĀN FROM THE EIGHTH TO THE THIRTEENTH CENTURIES A. D.

Dr. Daśaratha Sarmā, Krisna Nagar. Delhi.

Our information about the subjects and authors studied in Rājasthān, and specially the Chauhān dominions, cannot be regarded as exhaustive. We have no Brahmanic sources worth mentioning except the *Sārngadharapaddhati* which falls a little outside our period, being the work of the grandson of Rāghavadēva, a court-poet and Pandit of Hammira of Ranthambhor. Yet the position is not so unsatifactory, as it appears to be at first sight, for the Jains, while naturally devoting the greatest attention to their own system, studied the philosophic works of others, and tried also to view with non-Jains in the knowledge of secular subjects like poetics and drama, with the result that their Bhandārs have preserved invaluable books and their commentaries which, but for their care, would have been lost to posterity. In India few have served the cause of Sarasvati so well as the Jain custodians of the big *bhandārs* at Pattan, Jaisalmēr and Bikānēr.

Subjects Studied—

From the *Ganadharasārdhaśatakabrhadvrtti*, we learn that a good Jain scholar was expected to master his own *Siddhānta* along with the philosophic systems of the Buddhists and Brahmanas. He read besides classical poetry, prose and drama, astronomy and astrology, poetics, prosody and grammar. He had specially to be an adept in propounding his own theories and refuting the views of the rival schools.[1]

Jain Āgama:—We can fill up this outline from the *brhadvrtti* itself and also other contemporary Jain sources. The *siddhānta* included the 11 *angas*, 12 *upāngas*, 6 *chhēdasūtras*, 4 *mūlasūtras*, 10 *prakirnakas*, and 2 other *sūtras*, the *Anuyōgadvārasūtra* and *Nandīsūtra*. To these some add Bhadrabāhu's 12 *niryuktis*, the *Viśēsāvaśyakabhāsya*, twenty

1. Quoted in the introduction to the अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 20.

more *prakirṇakas*, the *Paryuṣaṇakalpa*, *Jītakalpasūtra*, *Sraddhajītakalpa*, *Pākṣikasūtra*, *Vandittūsūtra*, *Kṣamaṇasūtra*, *Yatijītakalpa*, and the *Riṣibhāsita*, thus bringing the total number of *Sruta*-works to 84.

This *sruta* literature was the basis of many commentaries and sub-commentaries by authors, of whom some were Rājasthānīs and others non-Rājasthānīs whose works were studied in Rājasthān. If we confine ourselves to our period, we have to mention first Haribhadra Sūri of Chitor who commented on the *Anuyōgadvārasūtra*, *Āvaśyakasūtra*, *Daśavaikālikasūtra*, *Nandīsūtra*, and *Prajñāpanāsūtra*. Of the early Jain writers mentioned by him, Jinadāsa Mahattara, Jinabhadra Kṣamāśramaṇa, Dēvavāchaka, Bhadrabāhu and Sanghadāsa Gaṇi, respectively, wrote the *Nandīsūtra-churṇi* (676 A. D.) and *Nīṣithasūtra-churṇi*[2]; *Viśēṣāvaśyakabhāṣya*[3] (609 A. D); *Nandīsūtra*[4]; the 12 *Niryuktis*; and the *Vyavahārabhāsya*, *Brhatkalpabhāṣya*, and *Panchakalpabhāsya*.[5] Reference to these authors is important as showing that even as early Haribhadra's time Jain scriptures were being intensively studied in Rājasthān.

Siddharsi Sūri, another great Rājasthāni scholar, wrote a commentary on the Upadēśamālā[6] Silānka Sūri's commentary on the *Āchārānga-sūtra* has received respectful mention in the *Gaṇadhara-sārdhaśataka*.[7] It may therefore be presumed to have been popular in the Rājasthānī Kharataragachchha circles. Vardhamān Sūri (died 1021 A. D.) wrote the *Upadēśamālābrhadvrtti*.[8] Vardhamāna's disciple, Abhayadēva Sūri, is known as the "*Navāngavrttikāra*" to distinguish him from other Abhayadēvas. He wrote wonderfully lucid and learned commentaries on the *angas*, the *Jñātādharmakathā*, *Sthānānga* (1064 A. D.) *Samavāyānga* (1064 A. D.), *Bhagavati* (1072 A. D.), *Upāsakadasā*, *Antakrddasā*, *Anuttarōpapātikadasā*, *Praśnavyākaraṇa*, and *Vipāka*. These were studied not only in Kharataragachha circles

---

2. Some more चूर्णि॰ are ascribed to him
3. Writer also of जितकल्पसूत्र.
4. Composed at time of the वलभीवाचना
5 Different from the author of वसुदेवहिन्डी.
6. *JSI*, p. 186. 7. Verse 60
8. *Catalogue of the Palm-leaf MSS. in the Jain Bhandāra of Jaisalmēr.*

but also by others in Rājasthān, as else-where; without them it would have been well-nigh impossible to understand the real import of these Jain scriptures. Another great scholiast, whose works were studied in Rājasthān, was Malayagiri Sūri. His *Piṇḍaniryuktivṛtti* was copied at Chitrakūta and the *Vyavahārasūtraṭīkā* at Simhapurī in Sakambharī, respectively, in the Vikrama years 1289 and 1344.[9] His other commentaries were *Āvaśyaka Oghaniryukti, Jīvābhigama, Jyotiṣakaraṇḍaka, Nandīsūtra, Piṇḍaniryukti, Prajñāpanā, Bhagavati, Rājapraśnīya, Vyavahārasūtra, Sūryaprajñapti, Viśēṣāvaśyaka,* and *Bṛhatkalpasūtra-pīṭhikā.* Malayagiri was a younger contemporary of Hēmachandra Sūri, the famous spiritual guide of Kumārapāla Chaulukya.

Other writers on Āgamic subjects like Maladhāri Hēmachandra, Droṇāchārya who revised the works of Abhayadēva, *the navāngavṛtti-kāra,* Nēmichandra, Yaśōdēva Sūri (1124 A D), whose *Pākṣikasūtravṛtti* was copied at Aghata in V. 1309.[10] Kṣemakirti (1276 A. D.), Koṭyāchārya, a copy of whose commentary belonged to Jinavallabha,[11] Devēndra Sūri (13th century) and Śānti Sūri, probably, were also less or more known in Rājasthān, specially in the parts that bordered on Gujarāt.

Philosophy and Logic—

This exegetical work on the *Āgamas* was important. But in an age of religious controversy, where one system had to contend against the other, it was obviously equally necessary to give a systematic presentation of the Jain system, specially its fundamental principles. To our period belongs the credit of having accomplished this work not only with success but great distinction.

Haribhadra—Besides his commentaries on the *Āgamas,*[12] already referred to, Haribhadra wrote the *Anēkāntajayapatākā* and *Anekāntavāda-pravēśa,* in which he not merely expounded the Jain philosophy of

9. *Jain-pustaka-praśasti-sangraha,* p. 118 and 133.

10 *Ibid,* p. 121 11. *Ibid* , p 1.

12 As supplementary to the work on the Āgama texts, Haribhadra had his religious compositions like the *Dharmasangrahaṇī, Kṣetrasamāsaṭīkā, Pancha-vastu, Dharmabindu, Aṣṭaka, Soḍaśaka, Panchaśaka,* and *Sambodhaprakaraṇa,* in some of which he not merely expounded Jain principles but sounded a clarion call for all-sided reform, doctrinal as well as social.

Anēkānta but also criticized current philosophic systems.[12A] How popular the study the *Anēkāntajayapatākā* must have been is shown not only by the laudatory references to it in Jain literature[13] but also by the pride eminent Jain teachers had in studying and teaching it. The *Gaṇdharasārdhaśatakabrhadvrtti* speaks of Jinavallabha's proficiency in the treaties.[14] Jinapati Sūri sent his students to study the book at the feet of Yaśōbhadrāchārya.[15] Jinapati's rival, Pradyumna Sūri, boasted of having read the *Anēkāntajayapatākā.*[16]

Of Haribhadra's other philosophic works mention has to be made of his Yōgabindu,[17] and योगदृष्टिसमुच्चय which form a valuable synthesis of old Jain ideas on the subject with those of Patanjali and Vyāsa. Haribhadra's commentary on the *Nyāyapravēśa* of Dignāga[18] introduced the Jain world to Buddhist logic.

Authors studied in Haribhadra's time—From the reference to the Jaina teachers Kukkāchārya, Divākara (probably Divākaramitra of the *Harṣacharita*), Dharmapāla (the great Buddhist teacher mentioned also by Yuan Chwang),[19] Dharmakīrti[20] (c. 635-650), Dharmōttara,[21] Vasubandhu,[22] Santarakṣita,[23] and Subhagupta.[24] will it be

---

12A. (1) जिनेन्द्रमतव्यवस्थापक...अनेकान्तजयपताकादि (गणधरसार्धशतकबृहद्वृत्ति)
(2) जुगपवरागमु मन्नि उ सिरिहरिभद्दपहु,
पडिहयकुमयसमूहु पयासियमुत्तिपहु। (चर्चरी, १४ अपभ्रंशकाव्यत्रयी, पृ ८)

13. See 12 (a) and अनेकान्तजयपताकावृत्तिटिप्पनक of मुनिचन्द्र etc.

14. Quoted in the Introduction to the अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 20.

15 खरतरगच्छपट्टावली of Jinapāla etc. (unpublished)

16. *Kharataragachchapattāvali* of Jinapāla (unpublished)

17. Published by the Jain Dharma Prasārak Sabhā, Bhāvnagar.

18. It was commented on also by Pārśvadēvagaṇi in V. 1169. (Pattan Catalogue of MSS, p 293)

19. Author of the *Ālambanapratyyadhyanaśāstravyākhyā*, *Vidyāmātrasiddhiśāstravyākhyā*, *Sataśāstravaipulyavyākhyā* etc.

20. Dharmapāla's disciple and author of the *Nyāyabindn*, *Pramāṇavārttikakārikā*, *Pramanaviniśchaya* etc

21 He commented on the *Nyāyabindu* and wrote *Pramāṇaparīkṣā*, *Apohanamaprakaraṇa*, *Paralōkasiddhi*, *Ksaṇabhangasiddhi*, and *Pramāṇaviniśchayaṭīkā*.

22. The Great Mahayānist writer.

too much to presume that Buddhist philosophy had many students in Rājasthān in the beginning of our period? It is even possible that Jain logic might have been to a certain extent influenced by the Buddist. *Nyāyāvatāra* follows a pattern similar to that of Dignāga's *Nyāyapravēśa*. Jain scholars, inside as well as outside Rājasthān, commented on Jain books of logic.[25] Jinavallabha Sūri studied Kamalasilā's commentary on the *Tattvasangraha*[26]

Umāsvāti, Mallavādin, Samantabhadra, and Siddhasēna Divākara were the Jain philosophers studied most in Haribhadra's time.[27] Umāsvāti, known also as Vāchakaśramaṇa, is the famous author of the *Tattvārthādhigama-sūtra* which is accepted as an authoritative exposition of Jain philosophy by both the Digambaras and Svētāmbaras. Siddhasēna is the author of two important works, the *Nyāyāvatāra* and the *Sanmatitarka*. *Nyāyāvatāra* was one of the important philosophical works that Jinapati Sūri's disciples studied with Yaśōbhadrāchārya.[28] It was commented on by Siddarṣi Sūri (10th. century) To the *Sanmatitarka* we shall refer presently. Samantabhadra is the great Digambara scholar, the author of a commentary on the *Tattvārthādhigamasūtra*, called the *Gandhahastimahābhāṣya*. Its introductory portion is known as the *Āptamīmāmsā*. Mallavādin is the author of the *Nayachakra*, a book on Anēkānta philosophy. The Dharmottaratippaṇaka, a commentary on the Buddhist logical treatise, *Nyāyabinduṭīkā*, is also sometimes ascribed to him[29]

The Brahmana philosophers known to Haribhadra were Avadhūtā-

---

23. Author of the *Tattvasaṅgraha*, one of the learned and exhaustive treatises on Buddhist philosophy.

24. Mahāmahōpādhyāya S. C. Vidyābhūshaṇ identifies him with Śubhākaragupta, a contemporary of Rāmapāla This is impossible in view of Haribhadra's date.

25 Rabhasa Nandī wrote a commentary on Dharmakīrti's *Sambandhaparīkṣā*. Kalyānachandra similarly commented on Dharmakīrti's *Pramāṇa-Vārtika*. The Dharmottaratippaṇaka ascribed to Mallavādin is referred to above.

26. *Gaṇadharasārdhaśatakabrihadvrtti* quoted in the Introduction to the *Apabhraṁśakāvyatrayi*, p. 20.

27. These are referred to by Haribhadra in his works.

28. *Kharataragachchhapaṭṭāvali* of Jinapala (Unpublished).

charya, Iśvarakrṣṇa, Asuri, Kumārila, Patanjali, Kālātīta and Bhagvad Gopēndra. If we identify Avadhūtāchārya with Advayavajra who was known also as Avadhūtipāda, he has to be regarded as a Buddhist writer. The *avadhūtas* were known by this name either because they tried to get the knowledge of the *nadi* called *avadhūti* or because they regarded themselves as true followers of the *Dhūta* discipline. Varṇāśrama is of no impotrtance to the Avadhūtas who deliberately violate and flout its regulations[30] Another philosopher known as Avadhūtāchārya is the sage, Dattātrēya, for whom there is a shrine at Abu. Asuri, a great Sānkhya teacher, preceded Iśvarakrsṇa, the writer of the *Sānkhyasaptati*[31] Kumārila is the great Mimāmsā writer of the *Ślokavārtika.* Patanjali's *Yōgasūtras* supplied the basic material for a part of Haribhadra's works on Yōga and later on was utilised also by Hēmachandra in his work, the *Yōgaśāstra.* Bhagvad Gōpēndra and कालातीत were another Yōgins.[32]

Abhayadēva·—We have referred above to the *Sanmatitarka* of Siddhasēna Divākara. It was commented on by the "Tarkapanchānana" Abhayadēva Sūri in his great work, the *Vādamahārṇava.*[33] The book presents not only the Jain point of view but also the theories of others to show how the Jain view was superior to the others, and should like the *Tattvasangraha* of Śāntirakṣita* and the *Panjika* of Kamalasilā be regarded as an encyclopaedia of Indian Philosophy It richly deserves

29. If Dharmottara be placed in the seventh century this would necessitate either putting Mallavādin's date after Dharmottara or regarding his commentator as a later Mallavādin

30. See *History of Bengal,* Dacca Edition,

31. The popularity of this book can be gauged by the presence of copy at Jaisalmēr with the Commentary of Gaudapāda.

32. Referred to in *Yōgabindu,* verse 200, and verse 300. The *Yōga-drstisamuchchaya* refers to Patanjali, Bhagavaddatavādi, and Bhadanta Bhāskarabandhu, the last one of whom should have been a Buddhist writer on *Yōga.*

33. There have been other Abhayadēvas also. But he seems to be the one referred to in the *Gaṇadharasārdhaśatakabrihadvrtti* (Quoted in the introduction to the *Apabhramśakāvyatrayī,* G. O. S., p. 20) and the *Kharatara-gachchhapattavali of Jinapāla.*

* On p 844 he is named Santaraksita–Editor

the title, "*Jinendramatavyavasthāpaka*" given to it by Sumatigaṇi, a disciple of the Kharatarāchārya, Jinadatta Sūri (v. 1179-1211)[33A]

Jinēśvara :—Of the Kharataragachchha *āchāryas*, Jinēśvara Sūri wrote the *Pramāṇalakṣaṇa* along with a commentary That in spite of the good work put in by Haribhadra, Siddhasēna Divākara and Abhayadēva, Svētāmbara Jains had no surfeit of works on logic may be seen from Jinēśvara's remark, "The Jains have neither a *Śabdalakṣana*, i. e., grammar, nor a Nyāyalakṣana i. e., a book on logic, hence they should be regarded as a modern sect-it was to remove this castigation that Buddhisāgara composed a new grammar in verse and I (Jinēśvara) wrote the *Pramalakṣana* (?)[34]

Dēvasūri—The next great Svētāmbara Jain logician whose connection with Rājasthān is well known was the great debater, Dēvasūri, generally known as Vādīdēvasūri. He wrote the *Pramāṇatattvālankāra* along with a commentary of his own, the *Syādvādaratnākara*. He died in V. 1226.

Hemachandra and others—Hemachandra, a younger contemporary of Dēva Sūri and *guru* of Kumārapāla, wrote the *Pramāṇamīmāmsā* with a commentary of his own. His pupils, Ramachandra and Guṇachandra wrote the द्रव्यालङ्कारवृत्ति.[34A] Towards the end of our period, Mallisēna Sūri wrote the *Syādvādamañjarī*. But we cannot be sure of its having reached Rājaśthān during our period; and the same may be said of the works of Nēmichandra, Chandraprabha, Parśvadēvagaṇi, Ānanadasūri, Amarachandra Sūri, Śrichandra, Dēvabhadra, Ratnaprabha, and Rajasēkhara Sūri.[35] We name them here because most of the good literature produced in Gujarāt of those days reached Rājasthān sooner or later. The *vihāra* of Jain *sādhus* from Gujarāt to Rājasthān

---

33a. See footnote 33 34. *JSI*, footnote 221. 34a. Jaisalmer catalogue. p 11.

35. Nemichandra is said to have refuted the views of Kanāda. चन्द्रप्रभ was the author of दर्शनशुद्धि प्रमेयरत्नकोश and न्यायावतारविवृत्ति', पार्श्वदेवगणि wrote the न्यायावतारप्रवेशपञ्जिका. Anand Sūri and Amarchandra may have written the book known to गङ्गेश उपाध्याय as सिंहव्याघ्रो, श्रीचन्द्र wrote the न्यायप्रवेश टिप्पण. Dēvabhadra's work, the न्यायावतारटिप्पण : S a commentary on the न्यायावतारविवृति. Ratnaprabha had a commentary on the प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार called the स्याद्वादरत्नाकरवार्तिक. राजशेखर was the author of the रत्नावतारिकापञ्जिका. He wrote also the स्याद्वादकलिका.

and *vice-versa* was frequent affair and so were the pilgrimages to religious places in Rajasthān and Gujarāt; and this intercommunication was rendered all the easier by the fact that the inhabitants of these provinces, during our period, spoke a common language, generally termed Western Rājasthānī.

It was really magnificent work that these Jain savants accomplished for Indian philosophy. Their peculiar of thinking made for toleration and let them appreciate truth wherever they found it. For truth is many-sided according to the *Anēkāntavādin*. What is true under a certain set of conditions need not necessarily be true under other circumstances; nor need it, however, be untrue either.

Brahmaṇ philosophers—We have mentioned above the names of Brahman philosophers studied in Haribhadra's time. For the post-Haribhadra period, we have to add the names of Śinkaranandana, Kaṇāda, Akṣapāda, Vatsyāyana, Bhāradvāja Uddyōtakara, Vāchaspati, Vyōmaśiva, Aniruddha,[36] Śrīdhara, Vatsāchārya, Udayana, Jayanta and Harṣa. Śaṅkaranandana of the *Gaṇadharasārdhaśatakabṛhadvṛtti*[36] appears to be the great Advaitic philosopher Sankara From the rare reference to him and his system of thought in Jain literature, it appears that Advaita was never a popular subject with the Jains, though in many ways it was nearer to the Jain system of philosophy than even Buddhism and the other philosophic systems of India.[37] The Jains' favourite subject of study was *Nyāya* or rather *Tarkaśāstra*. Abhayatilakagaṇi (1257 A. D.) a disciple of the Kharatarachārya Jinēśvara Sūri composed his commentary, *Panchaprasthanyāyatarka* to explain Śrīkantha's *Nyāyakalikā*, which again was a comment on the *Nyāyatavparyapariśuddhi* of Udayana.[38] Dēvasūri criticized Udayana, who, besides being the author of the commentary just referred to, maintained in his *Kusumāñjali* a theory of the creation of the world not believed in by the Jains[39] Udayana wrote also the *Atmatattva-*

---

36. Author of the भाष्यवार्तिक टीका. (Jaisalmer Catalogue P. II.)

36 a Quoted in the Introduction to the अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 20.

37. An apparent exception is the खण्डनखण्डखाद्य of Harsa. But for it see the end of the paragraph.

38 जैसलमेर भंडार के ग्रंथों की सूची

39. Naiyāyikas regard Iśvara as creator. Jains disbelieve and criticize this view. Pattan Bhaṇḍārs have a न्यायकुसुमाञ्जलिपरिमल by दिवाकर (catalogue of the Mss. in Pattan Bhaṇḍārs, Introduction, p. 44).

viveka, *Kiraṇāvali* and *Nyāyapariśiṣtha*, of which *Kiraṇāvali* especially must have been very popular. It was studied by the Kharatara āchārya, Jinavallabha[40] as well as Pradyumna Sūri of the line of Vādīdēva Sūri.[41] Jayanta's Nyāyamañjarī, an independent commentary on the Nyāyasūtras of Akṣapāda, may also have been studied in Rājasthān and Gujarāt. Jayanta shares with Udayana the honour of being attacked by Vādi Dēva Sūri, though in his estimation he was no equal of the elephant-like Udayana. Kaṇāda, as pointed above, was criticised by Nēmichandra[42] In his *Nyāyakandalīpañjikā*, Ratnaśekhara speaks of Kaṇāda, his commentator, Praśastakaradēva (Praśastapada), and the sub-commentaries, Vyomavatī of Vyomśravāchārya, Nyāyakandali of Śrīdhara, Kiraṇāvali of Udayana and Lilāvati of Vatsāchārya. The author of the *Panjikā* studied the Nyāyakandali with Jinaprabha Sūri. Jinavallabha and Pradyumna Sūri both read it.[43] The *Kharatara-gachchhapattāvali* refers to Śrīdhara's view on the nature of darkness. The young Kharatara āchārya Jinachandra is said to have studied तमोवाद, and defeated Padmachandrāchārya of Rudrapalli in a debate about it.[44] Copies of the *Nyāyakandali* have been found in many Jain Bhaṇḍārs.[45] Vamēśvaradhvaja's *Nyāyakusumāñjalisankēta*, though now little khown, was a work of no little merit. We have palm-leaf and paper *MSS* of it in Rājasthān as well as Gujarāt[46] Bhā-Sarvajña is represented by his *Nyāyasāra* and *Nyāyabhūṣaṇa*.[47] *Khandanā-khanda-khādyaka* of Harṣa probably reached Rājasthān early enough. There is a copy of it at Jaisalmēr, dated V. 1291.[48] The Sangha Bhaṇḍār at Pattan has a commentary on it by Anubhavaśvarūp.[49] This

40. Quoted in the Introduction to the अपभ्रशकाव्यत्रयी, p. 27.

41. खरतरगच्छपट्टावली of Jinapāl (unpublished) 42. See footnote 35.

43. J S I, footnote 432. 44. खरतरगच्छपट्टावली of जिनपाल (unpublished).

45. Reference may also be made to टिप्प० on it by Narachandra and शिडिल वोम्मिदेवभूपति, both found in the Pattan Bhaṇḍāra.

46. *Catalogue of the Pattan Bhaṇḍāra Mss.* I. PP. 103. 4. The name 'संकेत' is given in verse 2. I have seen old paper Mss. of the book at Bikāner.

47. Ibid., Introduction in English, p. 43.

48. *Jaina-pustaka-praśasti-Sangraha* सिंघी ग्रन्थमाला, I, p. 119.

49. Catalogue of the Pattan Bhaṇḍāra Mss., I. p 372.

early popularity of even an Advaitic work with the Jains probably was due not so much to their agreement with Harṣa's philosophy as to his brilliant dialectics which made short work of most systems of philosophy. It was difficult to maintain any thesis against his destructive dialectic system. It was in the Jain philosopher's own interest that he should become familiar with this new weapon in the armoury of Brahman philosophers.

Pure Literature.—

The *kāvyas* and *nātakas* studied by the Jains of Rājasthān can conveniently be classified under three heads; (1) Works produced by Jain writers with a view to propagating their religious teachings, (2) Classical works of great masters like Kālidāsa, (3) Other works. Let us have them in this order.

Of *Kāvyas* with a religious bias there is a good number, for the Jain teachers cultivated the art of poetry not so for its own sake as to carry the message of the Tirthankaras to the people in a form they liked best. The versatile Haribhadra sūri is said to have written *Kathākośa, Dhūrtākhyāna, Munipaticharita, Yaśōdharacharitra, Virāngadakathā*, and *Samaraichchakahā*. But of these only two, the *Dhūrtākhyāna*[50] and *Samaraichchakahā*[51] have been discovered so far. The *Dhurtākhyāna* is a good satire on popular Hinduism. The *Samaraichchakahā* is a Prākrit *gadya-kāvya* interspersed with verses here and there. Its flowing style, easy prose, and absence of unnecessary ornamentation, coupled with an interesting narrative which drives home the Jain lesson that a man suffers on account of his bad actions and can rise only by cultivating good virtues, has made it very popular with the Jain writers of all ages and provinces.[52] It was summarised into Sanskrit by Pradyuman Sūri in V 1324 (1267 A. D.).[53]

Haribhadra was followed by his pupil, Darśinyaṅka Udyotana Sūri who completed his great *kathā, the Kuvalayamālā* at Jalor in 778 A. D.

---

50. Published in the सिंघी जैन ग्रन्थमाला. 51. Edited by Hermann Jacobi.

52. By Siddharṣi Sūri, Vādi Dēva Sūri, Lakṣmaṇa Gaṇi, Malayagiri, Pradyumna sūri etc.

53. Edited by Dr. Hermann Jacobi.

in the reign of Vatsarāja Pratihāra.[54] The style is similar to that of the *Naladamayantichampū* of Trivikrama and the language used is Prākrit, though the writer has given a few descriptions in Apabhraṃśa and Paiśāchi also.[55] The Kathā was summarised into Sanskrit by Ratnaprabha Sūri in the 13 th. Century. Of the Jain poets earlier than himself Darshinyāṅka mentions Vimalāṅka, Ravisēna,[56] Dēvagupta,[57] and Bhavaviraha [58]

Another great literary writer was Sidddharṣi Sūri who completed his उपमितिभवप्रपञ्चा कथा at Bhillamāla in v. 962.[59] It is as much a work of philosophy as of poetry and is one of the finest allegories in any language. Written in simple and easily understandable Sanskrit, because the vain people of his time has come to think slightingly of Prākrit,[60] and with a narrative as interesting as any folktale, it must have appealed not only to scholars but also to the masses who cared probably more for the story than the allegory that underlay its structure. His *Nispuṇyaka* is an unimitable character, just because it is true to life. Siddharṣi's another literary creation was the *Chandrakevalicharita*. It was written in the G. L. 598, i. e v. 974, i. e. twelve years after the composition of the उपमितिभवप्रपञ्चा कथा [61]

The tenth century saw the composition also of the important Apabhraṃśa work, the *Bhaviṣayatta Kahā* of धनपाल [62] Slightly later than him was Mahēśvara Sūri, who wrote his ज्ञानपञ्चमीकथा in Prākrit.[63] He may have written also the संयममञ्जरीकाव्य in अपभ्रंश. It is interesting to find in these books many old folk tales dressed out and presented in Jain garb.

---

54. See the extracts from it in the Introduction to the अपभ्रंशकाव्यत्रयी, where the editor quotes a specimen of 18 dialects spoken at the time in Indiā.

55 Author of the *Padmacharita*. 56. Author of the Padma Purāṇ.

57. Writer of the त्रिपुरुषचरित. 58. Virahāṅka Haribhadra Sūri.

59 संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहितेऽतिलंघिते चास्या॰ ।
ज्येष्ठसितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥

60. तत्रापि संस्कृता तावद्दुर्विदग्धहृदि स्थिता । (उपमितिभवप्रपञ्चा, v. 51)

61. J S I. p. 186.

62. Published in the G. O. S. Referred to by महेश्वरसूरि.

63. J S I, p. 187. A palm-leaf Ms. of the work, dated v. 1009 is said to have been at Jaisalmer.

Jaisalmēr has a manuscript copy of Dhanpāla's *Tilakamañjarī*, dated V. 1130.[64] Dhanapāla himself, though originally hailing from the present Uttar Pradēsh, had passed most of his life at the court of the Paramāra rulers, Muñja and Bhōja of Dhāra.[65] Some time after the Ghaznavite invasion of western India, he went to Satyapura and probably stayed there for some time.[66] He may have even ended his days there, for he was then an old man. It was here that he composed his Apabhramśa poem, "*Satyapurīya Sri Mahāvīra Utsaha*" in praise of the Satyapura image of Mahāvīra Earlier, probably at Dhāra he had written the *Riṣabhapanchāśikā, Mahāvīrastava,* and a Sanskrit commentary on a poem written by his younger brother, Sobhana, in honour of the 24 *Tīrthamkaras.*[67]

Dhanapāla refers to a number of earlier poets, Jain as well as non-Jain, who may therefore be presumed to have been read by the people in his times. Of the Jain poets, viz, Pādalipta, Jīvadēva Sūri, Haribhadra, Bappabhatti and Mahēndra Sūri We have already said a few words about Haribhadra Sūri. Pādalipta was the author of the Prākrit poem, *Tarangavatī*, the language of which had by Nēmichandra's time become so archaic, that he had to summarise it into 1900 *gāthās.*[68] I have been unable to find anything about Jīvadēva Sūri, the predecessor of Dhanapāla Bappabhatti, mentioned by Dhanapāla as the author of the *Taragana,* a poem no longer extant, was the friend and spiritual guide of Āma (Nāgāvalōka or Nāgabhata II)[69] Mahēndra Sūri was Dhanapāla's *guru.*

Dhanapāla's *Tilakamañjarī* is one of the high-class, *gadyakāvya* of Sanskrit.[70]

---

64. *Catalogue of the MSS. in Jain Bhandārs,* (G. O. S.),
65. He received the title Sarsvati from Munja (*Tilakamanjarī, V.*)
66. *Jaina sāhitya samśodhaka,* III, part 3.
67. *JSI,* footnote 216
68. *JSI* , footnote 93.
69. See my "*Studies in the Prabhāvakacharita* (*Bappabhatticharita,*) *Jain Antiquary.*
70. Some scholars differ from this view But one has only to go through even a few pages of the तिलकमञ्जरी to realise the unsoundness of the reasoning that would regard धनपाल as a second class गद्यकवि

Vardhamāna Sūri (died 1021 A. D.) wrote the उपमितिभवप्रपञ्चा समय[71] His disciple, Jinēśvara Sūri, the founder of the Kharataragachchha, added to Jain literature the निर्वाणलीलावती, वीरचरित्र and कथाकोष[72]. *Nirvāṇa-līlāvati* is no longer available. But we have its summary in Sanskrit by जिनरत्नाचार्य.[73]

Jinēśvara's disciple, Jinachandra, wrote the *Saṁvegaraṅgaśataka*, a Ms. copy of which exists at Jaisalmēr.[74] The work appears to have been very popular, for it is referred to in more than one epigraph and many books.[75] His codisciple जिनभद्र wrote the सुरसुन्दरी कथा.[75A]

At the suggestion of Prasannachandra, a disciple of 'Navangīvṛttikāra' Abhayadēva, Guṇachandra composed in Prākrit a poem called *Mahāvīracharīam*.[76] It has eight *prastāvas* and its extent is 12,000 *ślokas*. देवभद्रसूरि wrote the पार्श्वनाथचरित in v. 1168.

Another Kharataragachchha scholar, Vardhamānāchārya, wrote the Prākrit the *Ādināthacharita* in five *avasaras* He uses Apabhraṁśa also here and there.[77] His *Manoramācharita* was composed in v. 1140.[78]

Pūrṇabhadragaṇi, a disciple of Jinapati Sūri wrote the अतिमुक्तचरित्र. His धन्नाशालिभद्र चरित्र was written at Jaisalmēr in v. 1285.[79] Lakshmitilaka, a disciple of the Kharatara Āchārya, Jinēśvara Sūri, finished his प्रत्येकबुद्ध चरित in v. 1311.[80]

Then, in addition to these works of Kharatara scholars, from Vardhamāna to Laksmitilaka, of which not only copies are found in Rājasthān, but which may on other grounds also be expected to have been studied in Rājasthān, there are many others (of the period 900–1300 A. D.) in the Jain Bhaṇḍārs of Jaisalmēr,[81] written not by Kharataras but followers of other *gachchhas* Of these some were certainly

---

71. *Catalogue of Mss. in Jain Bhaṇḍars*, Introduction, p. 37.
72. *Ibid.*, p. 50. Kathākośa like निर्वाणलीलावती is in प्राकृत
73. *Ibid*, and the text of the catalogue p. 48 where the 'सार' is wrongly ascribed to जिनेश्वर.
74. *Ibid*, p. 38, Text, p. 21.
75. *Ibid.* H. 38-9, footnotes
75A. गणधरसार्धशतक, verse 70
76. *Ibid*, p. 45, Text, p. 38
77. *Ibid* p. 45, Text p. 42.
78. *Ibid.*
79 *Ibid.* p. 49.
80. *Ibid.* p 51.
81. Of these some have been noticed above. See the relevant footnotes.

studied in Rājasthān: in the case of others there is a strong probability, though absolute proof is lacking We mention below some of them.

Śilāchārya wrote the '*Chauppanna-mahāpuruṣachariam*" in V. 925. It has a praśasti of 48 verses presented to the Kharatara Jinabhadra which indicates its popularity among the Kharataras.[82] *Śālibhadrā-charitra* (Prākrit) was copied out in V. 1222.[83] The *Vilāsavatīkathā*, an Apabhraṃśa work by Sadharana, (V. 1123) is based on the *Samarai-chchakahā* of Haribhadra Sūri[84] Dēvachandra Sūri wrote the *Śantinā-thacharita* in V. 1160. Its extent is 12000 *Ślokas* and the language is Prākrit.[85] *Prthvichandracharita* of Śanti Sūri was written in V. 1161.[86] Yaśōdēva Upādhyāya wrote the *Chandraprabhacharita* in V. 1178.[87] Nine years later, came the *Narmadāsundarīkathā* of Mahēndra Sūri. in V. 1216 the *Nēmināthacharita* of Haribhadra Sūri, in 1216 the *Munisuvratacharita* of Padmaprabha Sūri, and in V. 1322 the *Śāntinā-thacharita* of Munidēva which is based on the book of the same name by Dēvachandra, noticed above.[88] *Maladhārī* Dēvaprabha wrote the मृगावतीचरित्र.

Dēvachandra's disciple was the great Hēmachandra, the spiritual guide of Kumārapāla Chaulūkya (v. 1199-122). His works probably reached Rājasthān during his life-time. His poetical works include the *Dvyaśrayamahākāvya*, *Kumārapālacharita* (Prākrit), *Trisasthiśalākā purusacharit* and a number of *stutis*. The Sanskrit *Dvyāśraya* was commented on by Abhayatilaka (V. 1312), a pupil of the Kharatara Laksmītilaka who is known to have revised his codisciple Purṇakalasa's commentary on the *Kumārapālacharita* (V. 1307)[89]

Hēmachandra's disciple Dēvachandra, wrote a play, the चन्द्रलेखविजय, in the preface to which he refers to Kumārapāla's victory over Arṇorāja, the ruler of Sapādalakṣa.[90] Another disciple, Rāmachandra, wrote a large

82. Catalogue of Mss. in the Jaisalmēr Bhandārs, p. 39.
83 *Ibid*, p. 32. 84. *Ibid*, pp 14-15, p. 19.
85. *Ibid*, p. 12. Introduction, p. 46
86. Introduction, *Jaisalmēr Catalogue* (G. O. S), p. 46
87. *Catalogue of Mss in the Jaisalmēr Bhandārs*. p. 33.
88. *Ibid*, pp 54; p. 27; p. 9, 27 and 30; p. 52. See also the Introduction.
89. *JSI*, p 410.
90. Catalogue of Mss. in the Jaisalmēr Bhandārs, p. 4. As pointed out

number of poems[90a] and plays of which the best known are (1) राघवाभ्युदय, (2) यादवाभ्युदय, (3) यदुविलास, (4) रघुविलास, (5) कुमारविहारशतक, (6) नलविलास, (7) सत्यहरिश्चन्द्र, (8) कौमुदीमित्रानन्द, (9) मल्लिकामकरन्द, (10) रोहिणीमृगाङ्क, (11) वनमाला and (12) निर्भयभीम. Of the last of these, there is a manuscript (V. 1306) written in the reign of Mahārājakula Udayasimha of Jalor.[91] Ramchandra's literary achievement was great enough; but even greater was his pride in it. To Udayasimha's reign belongs also the प्रबुद्धरौहिणेय, a play in six acts by another Rāmachandra, a pupil of Jayaprabha sūri.[92] Another play, the हम्मीरमदमर्दन of जयसिंहसूरि, a Ms. of which, dated V. 1286, has been found at Jaisalmēr, refers to Udayasimha as a rival of the Bāghēlā Vīradhavala of Dhōlkā.[93]

Classical Works:—

Along with the *Kāvyas* written by Jain authors, the Jain community continued studying the works of great poets like Kālidāsa, even though some Jain teachers themselves would have preferred their confining to Jain works alone [94]

Kālidāsa was regarded as the poet par excellence Sumatigaṇi mentions his *Mēghadūta*. Asada commented on it. The high regard in which the poet was held is shown by the following verse quoted by Jinapāla [95]

कवयः कालिदासाद्याः कवयो वयमप्यमी । पर्वते परमाणौ च वस्तुत्वमुभयोरपि ॥

Vinayachandra calls him "Dīpikā-Kālidāsa" [96]

Bhāravī the writer of the *Kirātārjunīya* was well-known. Vinayachandra calls him "Chhatra-Bhāravī" and recounts his name among those who had written "*Sadgranthas*".[97] At Jaisalmēr there is a palm-

in the Introduction. Mr. C. D. Dalal is wrong in regarding this देवचन्द्र as Hēmachandra's *Guru*

90a. Called प्रबन्धशतकर्ता in the प्रबन्धचिन्तामणि. 91. जैनपुस्तक प्रशस्तिसंग्रह, p. 124.

92. Published by the जैन आत्मानन्द ग्रन्थरत्नमाला, भावनगर, No. 60.

93. Published as G, O. S. No. 10.

94. See for instance the view of Munibhadra sūri in his *Śāntinātha charita*.

95 "Kālīdāsa etc. are poets; so are we. The property of being material objects belongs to the mountains and molecules alike". (Comment on the 5th verse of the *Charchari.*)

96. *Pattan Catalogue of MSS. (G. O. S.)*, p. 49 97. *Ibid.*

leaf Ms. of a commentary on the *Kirātārjunīya* by Prakaśavarṣa Kasmiraka, son of Harsa.[98]

But by the twelfth century, Bhāravī's fame had been eclipsed by that Magha, the great Rājasthāni poet from Bhillamāla.[99] Jinapāla quotes the following well-known verse about Bhāravī and Magha.[100]

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे । स्मरन्ति भारवेरेव कवयः कपयो यथा ॥

Vinayachandra mentions his name "Ghantamāgha". Pradyumāchārya speaks of having studied the *Māgh–mahākāvya*.[100A]

There is a copy of Bhatti's *Rāmakāvya* at Jaisalmēr[101] We find it quoted also in some of the books on poetics produced in Gurjarātra Much more popular than him was the great stylist, Harṣa, the author of the *Naiṣadhiyakāvya* Jaisalmēr has a copy of the *Naiṣadhakāvya* bought in V. 1378 on the advice of Jinakuśalasūri[102] It has also copies of a very old commentary, the *Sahityavidyādharī*[103] The poem probably reached Gujarāt in Vastupāla's time, and very soon became popular among Jains, as well as non-Jains.[104]

Of Prākrit poets, Vākpatirāja, the author of the *Gaudavaho*, attained the greatest celebrity. Here is Vākpati's wife's opinion, as reported by Jinapāla.[105]

होहिंति केचि जे ते न याणिमो, जे गया नमो ताण ।
सपइ इह जे कविणो, ते मह पइणो न सरिच्छा ॥

98. *Jaisalmēr Catalogue of Plam–leaf MSS.*, p. 55.

99. See my "Gleanings from the *Śisupālavadha*" for some idea of the life in the 8th century.

100 "With their Zeal (for poesy) impeded by Māgha, poets compose not a single line. They think only of (the poet) Bhāravi, acting thus like monkeys who with their agility gone on the onset of (the cold month) of Māgha, have no desire to stir even a step. They think only of the Sun." Comment on the 4 th verse of the *Charcharī*.

100a. *Kharataragachchhapattāvali* (Unpublished).

101. *Catalogue of Palm–leaf Mss. in the Jaisalmēra Bhandārs,*

102 *Ibid.*, 103. *Ibid.*,

104. *Prabandhakośa*, p. 60 (Singhi Granthamālā) where we get the story of its being slyly copied out by Vastupāla from Harinara's manuscript.

105 "We know not the future poets; our salutations to those who are no

There is a palm-leaf manuscript of the *Gaudavadhasaratīkā* at Jaisalmēr.[106] Copies of the work at Pattan and the story of his friendship with the Jain scholar and teacher, Bappabhatti Sūri, also bespeak his popularity in the Jain world.[107]

Dhanapāla offers his homage among others to Vyāsa, Vālmikī, Guṇādhya, Bravarasēna, Rājaśekhara, Rudra, Kardamarāja, Bāṇa and Bhavabhūti. From Haribhadra we get the names of Harṣa and Subandhu. Additional names from the *Kuvalayamāla* are Sātavāhana, Sataparṇaka, and Prabhañjana. It is therefore obvious that most of the non-Jain Sanskrit and Prākrit literature was studied by the Jain *literati*, (a fact proved also by the facility with which they quote these authors in their books on rhetorics),[108] though possibly not by the people in general who may have remained satisfied, as now, with a few *stutis* and the three R's.

Vyāsa and Vālmīkī, the authors of the *Mahābhārata* and the *Rāmāyaṇa* are too well known to need any introduction. Guñaḍhya was the author of the Bṛhatkathā which may have been known in its Paiśāchī version up to Dhanapāla's time. He is regarded as a contemporary of Sātavāhana, the author of the Gāthāsaptatī. Pravarasena wrote the Prākrit poem, *Sētubandha* or *Rāvaṇavadha*. Rājaśēkhara is the writer of the *Bālarāmāyaṇa*, *Bālamahābhārata*, *Karpūramañjarī*, the *Viddhasālabhañjikā*, and the *Kāvyamīmāṃsā*. Thus the *Kāvyamīmāmsā* is known to have been utilised by Hēmachandra, Nēmikumāra's son Vāgbhaṭa, Amarchandra and Vinayachandra.[109] Kardamarāja is praised as the creator of 'jewel-like nice sayings.'[110] Prabhanjana may be Prābhanjana or Hanumān, the reputed author of

more. But of the present poets there is none who equals my husband." Comment on the 6th verse of the *Charcharī*.

106. *Catalogue of Palm-leaf MSS. in the Jaisalmēr Bhanḍārs.*

107. See the *Bappabhattisūricharita* of the *Prabhāvakacharita*, where Bappabhatti is depicted as Vaiṣṇava and friend of Bappabhattsūri.

108. See for instance the नाट्यदर्पण of Rāmachandra and Guṇachandra which brings to light many unknown works even.

109. See the Introduction to the काव्यमीमांसा Third edition. (G.O.S.), XXXIV.

110. J S I, p. 203.

the *Hanumān-nāṭaka.*[111] Mayūra (not enumerated in the last paragraph) is mentioned by Jinapāl.[112] Vinayachandra mentions Bhōja as a great writer. It is not unlikely that many of his poetic works also may have reached Rājasthān, though the only one found at Jaisalmēr is a Kathā, the शृङ्गारमञ्जरी[113] Jaisalmēr catalogue lists also मधुवर्णनम् and विरहिणीप्रलापम्, the works of an otherwise unknown poet named कलि.[114] Other poems known to us from Jaisalmēr are Bilhana's विक्रमाङ्कदेवचरित; वृन्दावनयमक; मेघाभ्युदय of मानाङ्क; राक्षसकाव्य; घटखर्परकाव्य; and चक्रपाणिविजय of Lakshmidhara.[114A]

Bāṇa is the celebrated author of the *Harṣacharita* and *Kādambarī.* Jinapati Sūriś rival, Pradyumnacharya, studied the *Kādambarī.*[115] Even his other rival, the much-ridiculed Padma Prabha, knew of *Kādambarī* and accused Jinapati Sūri of plagiarizing from it[116] Quotations from both Kādambarī and Harṣacharita abound in Jain books on rhetorics

Subandhu was the author of वासवदत्ता a prose romance similar to Kādambarī. A palm leaf Ms. of V. 1207 is in the Jain Bhanḍārs of Jaisalmēr.[117] The शृङ्गारमञ्जरी of Bhōja, listed above, is also a romance. The त्रैलोक्यमञ्जरी of Rudra, mentioned by Dhanapāla may have been in prose. लीलावती कथा of कौतूहल (?) son of भूषणभट्ट, and grandson of Bahalāditya) is in Prākrit verse,[117A] and according to Sri Lalchandra Bhagwandās Gāndhi, can Lie with *Kādambarī* in poetic beauty.[117B] It is obvious from its palm leaf Ms. of V. 1265 that it was written in the twelfth century or even earlier.

The *Gaṇadharasārdhaśatakabrhadvrtti* mentions elightyfour dramas as studied by Jinavallabha.[118] This would mean that he had studied

---

111. Should be treated only as a guess.

112 खरतरगच्छपट्टावली (unpublished)

113. *Catalogue of Mss. in the Jaisalmēr Bhanḍārs,* p 35.

114. *Ibid,* p. 28, I am doubtful about the ascription to केलि.

114A. Introduction to the above, pp. 56-9.

115. खरतरगच्छपट्टावली of जिनपाल (unpublished) 116. *Ibid.*

117. जैन पुस्तक प्रशस्तिसंग्रह, I (सिंघी जैन ग्रन्थमाला),

117a *Catalogue of Mss. in Jaisalmēr Bhandārs,* pp 28-29. From the 23rd verse, it is obvious that the name of the author was कौतूहल.

117b. Introduction to the above, p. 55.

118. Quoted in the Introduction to the अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 20.

practically all the classical dramas, besides those written by Jain writers themselves. How comprehensive the study of some of the Jain writers could be can be seen from the नाट्यदर्पण of Ramachandra and Guṇachandra who quotes from fifty-five dramas, some of them, now no longer extant.[119] Bhavabhūti, praised by Dhanapāla is well known. But in this age, when form predominated over sense, Murāri appears to have been specially popular.

Jaisalmēr has a palm-leaf Ms. of a commentary on अनर्घराघव of Murāri by Narachandra[120] who is known to have been connected with Jain families in Nāgōr.[121] His *Guru* Dēvaprabha's opinion on Murari is worth quoting.—

एकैकेन पदेन यस्य विदुषामंतः सुधासारणि-व्युत्पत्तिं वहता श्रवणयोरल्पप्रबन्धस्पृहा ।
सध्रीचीरमृतस्य यस्य भणीतीर्वैदग्ध्यसंवर्म्मिता श्रुत्वा हर्षजुषो विलोचनयुगे यस्याः पयोबिन्दवः ।[122]

Pradyumnacharya, also, when speaks of his studies of dramas, mentions मुरारिनाटक only,[123] i. e अनर्घराघव. Narachandras pupil, Narēndraprabha, on the other hand, exemplies dramas by saying नाट्येषु-अभिज्ञानशाकुन्तलादिषु ", showing thereby that Kālīdāsa still maintained his supremacy as a dramatist.[124]

Minor poets—

Rajasthānis must have studied the works of many other poets, now no longer extant It was not every *Kāvya* that received the encouragement of the Jain teachers. They banned in temples the performance of popular plays like those dealing with the life of Rāma and Ravaṇa; they presented only those dramas which induced people either to

---

119 Published in the Gaekwād Oriental series, see the Introduction.

120. *Catalogus* of *Mss. in Jaisalmēr Bhanḍārs* p 215.

121. " वि. सं १४०५ वर्षे राजशेखरसूरिर्मन्त्रिवस्तुपालमातृपक्षगुरुत्वेन सुरत्राणसन्मानितनागपुरीय साधुपूनडस्य वन्दनीय कुलगुरुत्वेन च गुरुमेनं समसूचयत् । "

(Introdution to अलङ्कारमहोदधि G O. S. p 15).

122 Catalogue of Palm-leaf Mss. in the Pattan Bhanḍāras p. 301.
The quoted lines are the first halves of Verses 3 and 4.
I have come across no greater Praise of Murāri

123. खरतरगच्छपट्टावली of जिनपाल (unpublished).

124. अलङ्कारमहोदधि, comment on V. 5 of Kāvyas.
Narēndraprabha says 'काव्येषु, रघुवंशादिषु.'

lead a religious life or to renounce the world.[124A] This policy, though not followed consistently, has led, we fear, to the extinction of a good many popular poems that, otherwise, would have preserved in the Jain Bhandārs. So all that we have now are a few nice *rāsos* like the *Bharata Bāhubali Ghor*, Gajasukumāra Rās, Nēmināth Rās, and Bharatēśvara Bāhubali Rās; and वसुदेवहिन्डी a fairly large number of short pieces commemorating either the initiation or death of Jain *Gurus*.[124B]

Metrics:—

On metrics Rājasthānis studied a number of good books. Specially popular was the जयदेवच्छन्दस्, a book in eight chapters which is known to have been studied and taught by Jinavallabha,[125] and is mentioned also by Jinapāla in the *Kharataragachcha-Pattāvali*.[126] Jaisalmēr has a Ms., not only of the original texts, but also of commentary on it by Harsaṭa, son of Bhaṭṭa Mukula[127] Kaisikha, a work in Prākrit dealing with मात्रवृत्त and वर्णवृत्त, of which there is a palm-leaf Ms., dated in V. 1190, is probably equally old. Jaisalmēr has its text and a commentary on it by Gopāla, son of Bhaṭṭa Chakrapāla.[128] Two years later is the mānuscript of Jayakirti's छन्दोनुशासन which he said to have written after consulting the works of Māndavya, Piṅgala, Janāśraya, Satava, Pūjyapāda, and Jayadēva.[129] *Chhandōnuśāsana* of Hēmchandra may be presumed to have become known along with his other works in the second half of the 12th century A D

Alankāraśāstra (Poetics):—

Specially popular with the Jain literati was the study of अलङ्कारशास्त्र. The गणधरसार्धशतकबृहद्वृत्ति speaks of Jinavallabha's study of the अलङ्कारशास्त्रs of

---

124A. Cf the following from the उपदेशरसायनरास of श्रीजिनदत्तसूरिः—

धम्मिय नाडय वर नच्चिजहिं, भरह-सगरनिक्खमण कहिज्जहिं ।

चक्कवट्टि-बल-रायह चरियइं, नच्चिवि अंति हुति पव्वइयइं ॥ ३६ ॥ (अपभ्रंशकाव्यत्रयी), p. 47

124B. For a collection of these on the ऐतिहासिक काव्यसंग्रह edited by Sri Agarchand Nāhtā and Bhanwarlal Nāhtā.

125. गणधरसार्धशतकबृहद्वृत्ति quoted in the introduction to the अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 20. He taught also other books on Metrics, which remain unnamed.

126. Unpublished. 127. Catalogue of Mss , in Jaisalmēr Bhaṇdārs, pp. 29-30.
128. *Ibid*.. p. 30. 129. *Ibid*., p. 30.

Rudraṭa, Udbhaṭa, Daṇḍin, Vāmana, and Bhāmaha etc.[130] Pradyumnācharya studied the *Kāvyaprakāśa* of Mammata.[131] *Kāvyālaṅkāra* of Rudraṭa is a well known work. Its popularity among the Jains is shown by the commentaries of नमिसाधु and Āśadhara.[132] Udbhaṭa is represented at Jaisalmēr by two Mss. of उद्भटालङ्कारवृत्ति.[133] Daṇḍinś *Kāvyādarśa* has there a commentary, the हृदयंगमा, the palm leaf manuscript of which was written in V. 1161.[134] Vāmana also, was popular enough[135] Bhāmaha, the writer of the book known after him, as भामहालङ्कार is regarded by S. K. De as earlier than Daṇḍin. *Kāvyaprakāśa* of Mammaṭa, one of the best productions of the ध्वनि school of poetics Jaisalmēr has a number of commentaries on it.[136] Earlier than the काव्यप्रकाश are the काव्यमीमांसा of राजशेखर, referred to above, and the वक्रोक्तिजीवित of कुन्तक, both of them represented by means of palm leaf Mss. at Jaisalmēr,[137] where we have Mss also of Prākrit अलङ्कारदर्पण (copied V. 1161), कविरहस्यवृत्ति, a commentary on Halāyudha's कविरहस्य (copied v. 1216), and the काव्यकल्पलताविवेक (copied V. 1205)[138] Hēmachandra's काव्यानुशासन was composed probably about the middle of the 12th century.

How fond the Jains were of अलङ्कारs, and expert in their use can be seen from Jinapāla's खरतरगच्छपट्टावली and the commentary on the *Charchari*. In the latter he extols Jinavallabha, for his proficiency in चित्रकाव्यs.[139] It was ridiculous to think highly of poets who knew only चक्र and मुशल *bandhas*. Jinavallabha was a master of *Khadga, saptachakrikā, Gaja* गोमूत्रिका and various other bandhas. In his poem he used Sanskrit and Sanskrit and Prākrit in equal proportions, as he wished.[140] He was good at completing verses (समस्यापूर्ति), by either composing the remaining quarters or supplying the missing verbs etc.[141] Jinapati

130. गणधरसार्धशतकबृहद्वृत्ति Quoted in the Introducation to the अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 290.
131. खरतरगच्छपट्टावली (unpublished)
132. Introdaction to the अलङ्कारमहोदधि, (G. O. S.), p. 21.
133. *Catalogue of Mss. in Jaisalmēr Bhaṇḍāra*, pp. 24, 38.
134. *Ibid*, introduction, p. 62.
135 Jaisalmēr has one manuscript. For quotations from it see the अलङ्कारमहोदधि.
136. *Catalogus of Mss in Jaisalmēr Bhaṇḍārs*, pp. 50, 12, 34, 36.
137. *Ibid*. p. 5, 25 138. *Ibid*. p. 5, 22, 38, 39.
139. अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 5, 6. 140. *Ibid* p. 6
141. He was honoured for his समस्यापूर्ति by नरवर्मा of Mālwā.

Sūri's achievements in the field of अलङ्कार were no less, If Jinavallabha pleased Naravarman of Mālwa by his समस्यापूर्ति, Jinapati gladdened the hearts of the pandits in Pṛthvirāja's court, not only by means of समस्यापूर्ति, but by passing a fairly stuff test in अलङ्कारशास्त्र. His description of Pṛthvirāja's court is excellent. The verse that he presented in अष्टबन्ध to the ruler makes good sense, He challanged Padmaprabha for a debate on subjects like Prākrit, Sanskrit, Māgadhi, Paiśāchi, and Sauraśeni languages; prose, poetry, grammar, metrics, Poetics, Rasa, drama, logic, jyotiṣa (astrology and astronomy), and Jaina Siddhānta. He also wished his rival to question him about any difficult verse that needed explanation, or to put before him a verse that lacked some root or noun, a question or an answer, or something without which it could not give any sense. He could give the needed verse even if there were either no vowels or consonants; he could restore to their true order the letters of a verse that he heard even once. He knew also about the musical rāgas, and could compose to order a song in any rāga sung before him.[142] These achievements seem wounderful, but that a good scholar was expected to have them can be seen from the various कविशिक्षाs of the period as well as the *Sārangadharapaddhati*, which is full of verses and exercises of this type. For a poet mere प्रतिभा (genius) was not enough, he was also to have व्युत्पत्ति and अभ्यास [143] अभ्यास was to be under the direction of a poet व्युत्पत्ति was the result of the study of various arts, sciences, and scriptures.[144]

Grammar—

Knowledge of grammar was specially insisted on An old verse quoted by Jinapāla states that one who tires his hands at any other Śāstra, without studying grammar, verily tries to count the steps of a snake that had long ago slipped into water in the darkness of the night [145] His *Guru's Guru*, Buddhisāgara was the first Śvetāmbara teacher to write a comprehensive Sanskrit and Prākrit grammar, the

142. खरतरगच्छपट्टावली (unpublished) 143. अलङ्कारमहोदधि, (G. O S), p. 8.

144. लोके शब्दादिशास्त्रेषु काव्यनाट्यकथासु च । आगमादिषु च प्रौढिर्व्युत्पत्तिरिति कथ्यते ॥ ८ ॥ Ibid. p. 8.

145. अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 3.

Panchagranthi (पञ्चग्रन्थी).[146] It was composed at Jalor in V. 1080, after consulting the works of Pāṇini, Chandra, Jinēndra, Viśrānta and Durga[147] and is known also as Buddhisāgara and Sabdalakṣma. Instead of being in Sūtra form, it was in verse, and thus as a grammar it stands in a class by itself[148] Hēmchandra, the guru of Kumārpāla, was another great grammarian. His सिद्धहैमव्याकरण was produced in Siddharāja-Jayasimhaś reign and gradually displaced some of the older grammars, the जैनेन्द्र, ऐन्द्र, चान्द्र, etc. It is divided into eight chapters. The first seven dealing with Sanskrit and the last one with various Prākrits and Apabhramśa With the *Sūtras* are his own commentaries, Pradyumnacharya studied Haima-Vyakaraṇa.[149] A copy of Hēmachandra's लघुवृत्ति copied as early as V. 1206, has been found at Jaisalmēr.[149A] Hēmchandra's younger contemporary, Malayagiri wrote the मुष्टिव्याकरण. Pāṇini, Patanjali, and Bhartrihari were known to Haribhadra as grammarians, a fact that proves the popularity of the Paṇinean system in beginning of our period This popularity continued, though in a lesser degree, after the composition of newer grammars like the सरस्वतीकण्ठाभरण and सिद्धहैम Jinavallabha studied eight grammatical systems, of which the only one named, however is that of Paṇini.[150] Jaisalamēr Bhandārs have manuscripts of कातन्त्रोत्तरम् (विद्यानन्दम्), कातन्त्रवृत्तिपञ्जिका of त्रिलोचनदास, कातन्त्रवृत्तिदुर्गपदप्रबोध of प्रबोधमूर्ति and कातन्त्रविभ्रमटीका of जिनप्रभसूरि which shows the continued vitality of the कातन्त्र system in Rājasthān.[151] There are also a few miscellaneous works like the विभक्तिविचार (written V. 1206), and व्याकरणचतुष्कावचूरि which show the people's interest in grammar Ii is a matter of regret that some of

---

146. *Catalogue of Mss. in Jaisalmēr Bhandār*, p. 20. Reason for its composition is thus given by Jinēśvara sūri,

' तैरवधीरिते यत्तु प्रवृत्तिरावयोरिह । तत्र दुर्जनवाक्यानि प्रवृत्तेः सन्निबन्धनम् कीदृशानि दुर्जनवाक्यानीत्याह–
शब्दलक्ष्म प्रमालक्ष्म यदेतेषा न विद्यते । नादिमन्तस्ततो ह्येते परलक्ष्मोपजीविनः ।
तथा च किं जातमित्याह—
श्रीबुद्धिसागराचार्यैर्वृत्तैर्व्याकरण कृतम् । अस्माभिस्तु प्रमालक्ष्म वृद्धिमायातु साम्प्रतम् ।

147. *Ibid* Introduction, p 56 footnote. 148. See footnote 146, last but one line.

149. खरतरगच्छपट्टावली of जिनपाल (unpublished)

149a. जैनपुस्तक प्रशस्तिसंग्रह (सिंघी जैन ग्रंथमाला) P. 105

150. गणधरसार्धशतक बृहद्वृत्ति quoted in the Introduction to the अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 20.

151. Catalogue of Mss. in the Jaisalmēr Bhandārs; Introduction, pp 57, 58

the Mss. in the Bhandars cannot be fully identified on the basis of their description by C. D. Dalal.[152]

Lexicography—

Closely connected with grammar is lexicography. The Jaisalmēr Bhandārs have Mss. of शब्दरत्नप्रदीप, लिङ्गानुशासनविवरणम् of हेमचन्द्र, अनेकार्थकैरवकौमुदी of महेन्द्रसूरि, अपवर्गनाममाला of जिनभद्र, एकाक्षरनाममालिका of विश्वशम्भु, and अभिधानचिन्तामणिटीका.[153]

शब्दरत्नप्रदीप has been mentioned more than once in the गणधरसार्धशतकबृहद्वृत्ति of सुमतिगणि (completed v. 1295)[154] It must therefore be regarded as an old lexicon. As Jinabhadra, the author of the अपवर्गनाममाला calls himself an attendant (सेवक) of जिनवल्लभ and जिनदत्त,[155] the lexicon may have been composed about 1150 A. D. Hēmachandra's लिङ्गानुशासन is accompanied by his commentary. Besides that Hēmachandra wrote four lexicons, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, देशीनाममाला and निघण्टुशेष, all of them, except perhaps the last, accompanied by his own commentaries. अनेकार्थकैरवकौमुदी is Mahēndra Sūri's commentary on Hēmachandra's अनेकार्थसंग्रह.[756] एकाक्षरनाममालिका of विश्वशम्भु is represented by a single paper manuscript.[157] One cannot therefore be sure of its age.

Jyotisa and Sāmudrika, etc—

Jinavallabha was a good student of ज्योतिष, and is said to have more than once demonstrated his knowledge of it. [15] Jinapāla supplements the statement by saying that he was an expert not only in logic and philosophy but also in astrology, mathematics (गणित) and पद्मावतीमन्त्रविद्या etc.[159] If we add to this, the subject mentioned in the अलङ्कारमहोदधि as necessary for the व्युत्पत्ति of a poet,[160] we have a very good idea of the subjects studied, partially or fully, not only by the Jains, but also the non-Jains. These additional subjects were गजाश्व-

152. *Ibid*, pp 56-57 etc. 153. *Ibid*, pp. 63-64.
154. Catalogue of Mss. in Jaisalamēr Bhandārs, Introduction p. 63
155. *Ibid*, 64. 156. *Ibid*, p. 63
157. Catalogue of the Mss. in Jaisalmēr Bhandārs, p. 57. शब्दरत्नप्रदीप also is represented by a paper Ms. only, though it is an old composition.
158. A good portion of सुमतिगणि's account is devoted to facts testifying to Jinavallabha's expert knowledge of astrology.
159. अपभ्रंशकाव्यत्रयी, p. 6. 160. अलङ्कारमहोदधि (G. O, S.) p. 8

लक्षण, भरत, वात्स्यायनग्रन्थ, चाणक्य, श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास and धर्मशास्त्र.[160] Bharata must refer to भरतनाट्यशास्त्र, वात्स्यायनग्रन्थ to वात्स्यायनीय कामसूत्र, and चाणक्य to the कौटिलीय अर्थशास्त्र.[161]

That there were books on all these subjects and some others too can be seen from the *Sārangadharapaddhati* which has sections on *Rājanīti*, elephants, horses, military science, music, herbs and plants, omeng, *svarōdaya*, antidotes of poisons, *Kautukas*, *bhūtavidyā*, *Yōga* and *Kalpasthāna*, the *Prabhāvaka charita* mentions seventy two arts and sciences learnt by Prince Āma (Nāgavalōkā), but of these some may not actually have been subjects of our study during our period.[162] A shorter and more authentic list is to be found in the उपमितिभव-प्रपञ्चाकथा of सिद्धर्षिसूरि, according to which the subjects learnt by princes रिपुदारण and नन्दिवर्धन were all screpts, Mathematics, grammar, astrology, astronomy, prosody, dancing, cutting patterns, *indrajāla*, military science, medical science, logic, and characteristics of people.[163] Some of these could obviously be subjects of study, not for the Jain monks and nuns, but only the common laity, whether Jain or non-Jain. That there were books also on architecture and fine arts can be seen from the Mss. in the Jain Bhaṇḍārs, and inferred from the buildings that adorn all parts of Rājasthān.

Additional subjects studied by non-Jains.

Non-Jains naturally studied a few subjects, that were their own, much more than the Jains or Buddhists. Study of the Vēdas continued as before in certain centres like Bhinamāla which produced the great Brahman poet and scholar, and continued to be a centre of Brahmanic learning at least up to the time of Kanhaḍadēva of jālor. Even now the Srimāli Brahmanas hold a special position in Rājasthān,

161. Rare commentaries on the अर्थशास्त्र have been found at Jaisalmēr and Pattan.

162. P. 152 (Nirṇayasāgar Edition)

163; *Prastāva* 3, chapter 1; Prastāva 4 chapter 2, Siddharṣi's, opinion en ज्योतिष and निमित्तशास्त्र is worth quoting. He writes, 'Astrology' निमित्तशास्त्र and similar other subjects, the results of which lie beyond human ken, were first taught by सर्वज्ञ. If the prediction goes wrong, it is the professor of the science who is to believe and not the science itself. People have only a limited knowledge of them. They do not know their sub-division.'

not on account of their present learning, but the reputation that their ancestors must have built up during our period. According to Padmanābba's openion Bhillamāla had 45000 Brahmanas. They knew the four *Vēdas* with their *angas.*, the eight grammatical systems, fourteen *vidyās*, eighteen Purāṇas, Āyurvēda, Bharata (Natyaśāstra), *jyotiṣa*, Pingala (metrics), Bāji (aśvaśāstra) and *nāṭaka*. In every house there was a *yajnaśālā* and *agnihotra*. They knew the secrets of the Smritis and performed the six *karmans*. They daily performed sacrificer and offered their shares to the gods, beginning with Indra.[164] Alberuni knew Bhillamāla as the home of the astronomer, Brahmagupta.[165] The *Pṛthvirājavijaya* speaks of the *yajñas* at Ajmer,[166] which again proves the continuity of the Vēdic tradition among the Brahmanas.

Similarly in the paśupata monasteries at Harsa, Ekalinga etc., the study and practice of this Paśupata principles must have been given the first place[167] As to secular subjects, they must have been the same for the Jains and non-Jains. The non-Jains also produced good poets and studied poetry. If the number of times, a poet is quoted be any index of his popularity among the people, the poets most studied in Saragadhara's time were Kālidāsa, Māgha, Trivikrama,[168] Bhartṛhari, Jayadēva, Kṣemēndra,[169] Daṇdin and Bāṇa. Next in order followed चन्द्रदेव, मुरारि, राजशेखर, भवभूति, देवेश्वर, Dāmōdaradēve, Harihara,[170] Harṣa, Jayamādhava, Bhallaṭa, Kṛṣṇamisra, Harigaṇa, Bhāna, Harigana, Bhānū, Mayūra, Rāghavachaitanya, Nārāyaṇabhaṭṭa, Laksmīdhara, Gauḍa, Abhinanda, Chandradēva and Bhāsa. Vigraharāja's praśasti on the Asoka pillar has been quoted, though the pillar has been wrongly described as a sacrificial post erected by Nṛga. Of women poets Saragadhara notes Vijjikā, Śilābhaṭṭārika, Vīkratanitamaba, Phalgustani, and Padmaśri. If all this literature was being studied in Rājasthān, there can hardly be any doubt of the fact that more Rājasthānīs knew and studied Sanskrit than they do at present.

---

164. कान्हडदेप्रबन्ध (राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर) p. 165. Sachan Alberanui's India p. 166. 167. Reference exhibited specialy to the Harṣa inscription
168. Author of the *Naladamayanti-Champu.*
169. Author of the बृहत्कथामञ्जरी, नर्ममाला, औचित्यविचारचर्चा etc.
170. A contemporay of वस्तुपाल.

A PHĀGU-POEM IN THE SIṀHĀSANBATRĪSĪ

(1560 A. D.).

AN OLD GUJARĀTĪ STORY-BOOK BY SIDDHISŪRI

By Dr. Bhogilal J. Sandesara, M. A., Ph. D. Professor and Head of the Department of Gujarāti, M. S. University of Baroda.

Phāgu is a form of literature in Old Gujarātī (old Western Rajasthānī) describing the erotic joys of spring. I had re-edited in the *Journal of the Oriental Institute*, Vol. II, No. 3 (March 1953) two Phāgu-poems in early Gujarātī, viz. the Sthūlibhadra Phāgu (circa 1334 A D.) of Jinpadmasūri and Neminath Phāgu (circa 1349 A. D.) of Rājaśekharasūri, as these two were prescribed by the M. S. University of Baroda for the B. A. (Special) examination in Gujarātī for the year 1954 and 1955. I also added there short introductory remark for the students.

The literary form of Phāgu has a long and varied history in Gujarātī literature, and a large number of Phāgus are available from the earlier times right upto the beginning of the 19th century A. D. The *Prāchīn Phāgu-Saṁgraha*, Vol. III of the series of Old Gujarātī texts (Prāchīn Gurjar Granthamālā) published by the Gujarātī Department of the M. S. University of Baroda which was out in June 1955, contains 38 Phāgus composed from the 13th to the 17th century A. D. The Introduction to this work gives an account of the individual poems and their authors, and a historical study of the evolution of the Phāgu-form on the basis of the available specimens.

The Phāgu-poem that is presented here could not be included in the *Prāchīn Phāgu-Saṁgraha*, because the manuscript from which it is available was acquired after the whole volume was printed It is hoped that its publicattion here will be useful to the students.

My friend Shri Ranjit M Patel, M. A., was working under my guidance on the problem of the story-cycles of Siṁhāsana-batrīsī for his Ph. D. We had acquired for him a large number of old mss. In

Sanskrit, Gujarāti, and Rājasthānī from different collections in Gujarāt and Rājasthān. The Simhāsana-Batrīsī of Siddhisūri was one of them. Its manuscript was available from the Jaina Bhaṇḍār at Linch, a village near Mehsāṇā (North Gujarat), through the courtsey of Muni Śrī Puṇyavijayajī. As mentioned at the end, the work was composed in V. S. 1616 (1560 A. D.) at Bārejā near Ahmedabad by Siddhisūri, who was pupil of Jaysāgarasūri, the pupil of Devaguptsūri of the Bivandanika Gachha of Śvētāmbara Jaina sect. The manuscript contains 38 folios and was copied down in V. S 1788 (1732 A. D.)

As suggested by the title, the work narrates thirtytwo stories of the adventures of Vikrama, as described by the idols on his throne, and the stories are told in Gujarātī poetry The sixteenth story tells that once Vikrama decided to celebrate the festival of spring and the whole city was decorated at his order. Than a separate poem of 29 stanzas describing the joys of spring in the traditional style of the Phāgu is inserted. There is not the least doubt that the poem is intended to be a separate Phāgu. Probably it was written by the author earlier, and later on inserted in the running story at the appropriate place. Every stanza of the poem, except one or two, begins with the word अहि the characteristic tag which is common with many other Phāgus intended for singing in public. In the beginning the poet has described the beautiful damsels Ujjayinī, the city ruled by Vikrama and then the decorations and festivities in the city. Then comes description of the joys of garden mentioning various trees and creepers blossoming in the spring, which is a regular feature of all Phāgu-poem, long or short. The stanza 28 refers to playing of Phāgu or Phāga (फाग रमइ) and stanza 29 mentions the playing and dancing during the season of spring.

Thus, this is a short Phāgu not devoid of poetic merit, which can be compared with many other specimens of this form, for which the curious reader is requested to refer to the *Prāchīn Phāgu-saṁgraha.* Though the available manuscript of Siddhisūri is rather late, being copied down 172 years after the date of composition, and as such the language shows many traits of comparatively later times, the poem is published here, because it will be a good supplement to the anthology of Phāgus mentioned above.

The following is the text of the Phāgu by Siddhisūri

सिद्धिसूरिकृत फागु

(ढाल फागनी)

आहे वसंत मास जब आवीओ, भावीओ विक्रम राओ, करइ रे महोत्सव घरि घरि, घणो रे उछाह. ८
आहे सवि शिणगारीय, सारीय करइं कतूहल गेलि, रंभ तिलुत्तम जेहवी तेहवी मोहणवेलि. ९
आहे केशर सरस कपूर कैं, चन्दन भरीयां माट, ऊडीय गूडीय गयणले, पोले बांध्या त्राट. १०
आहे भरीय पंडोपली मोकली, मलीय भरी जलपूरि, केलि करें तिहां कांमिनी, भांमिनी योवन भूरि. ११
आहे हट्टश्रेणि शृङ्गारीय, सारीय नगरि मझारि, सरस सिन्दूरैं चित्रित, ते ऊपरि धज सार. १२
आहे घरि घरि तोरण बंधीय, वंदिय मुंकें राउ, कुंकुम केरो रोल कें, वाइं सीयल वाउ. १३
आहे वनसपती सवि मोरीय, पूरीय सविकहें आस, मांड्या मंडप मोकला, विकला नावें पास. १४
आहे सवि शृङ्गारीय टोलीय, भोलीय भांमिनी भूरि, चंदनि रचीय ऊगटें, सिंथें भरिओ रे सिंदूर. १५
दीइं हत्थोहथि तालीय, बालीय बोलें बोल, पाए घूघरी घमघमैं, विहसें कांम कपोल. १६
आहे गाइं गीत सुरंगीय, चंगीय चरणा चीर, हाथे सोवन चूडीअ, रूडीअ सकल सरीर. १७
मुखि तम्बोल सुवहकइं ए, लहकैं ऊर वरि हार, रांणि तडोवडि नारीय, सारीय करें रे शृङ्गार. १८
आहे घरि घरि नाटिक नाचैं, ए माचैं महिलावृन्द, पुरुष मिलिया सवि सांमठा, जांणे इंद उपिंद. १९
आहे मस्तक मुकुटसुं ओपें, ओपें ए बाजूबंध, चन्दन चूआ चरचित, अरचित वलीअ सुगंध. २०
आहे देव दुगन्धकनी परें, नर दीसें अति सार, ऊजेणी नयरी तदा, जाणे अमरपुरी अवतार. २१
आहे फूलफगर भर्या अति घणा, विविध कुसुमनी जाति, गिरुओ मरूओ चंपक, वेलि तणी बहु भांति. २२
आहे वालो बोलशिरि वली, दमणो नइं मचकंद, पाडल पारीजातक तिहां, मांहिं जाइजूइना वृन्द. २३
आहे केतकी करणी महकें ए, लहकें ए हार शृङ्गार, पारवी परिमल निरतीय, सरतीय गन्धि शुसार. २४
आहे महमहतीय बहू मालती मोरती करें अपार, फूले फलीया अति घणा महैंमहेंता सहकार. २५
आहे एह वसंत एणी परि, घेलें राय सुजांण, शत्रुकारें सहू जिमइं, उचित दीइं बहू दांन. २६
आहे धूपघटी ऊपेवइ ऐ, महकें अगर कपूर, ढोल ढमुकें ढमढम, नफेरी रणतूर. २७
आहे आलती आलवें रागनि, राग वसंत सुचंग, फाग रमइ नरनारीय, इम हुइ उत्सवरंग. २८

दूहा

इणी परि नवनव विविध पर घेलें मास वसंत।
दांन देई मंगण जणह निअ घरि गया हसन्त॥ २९॥

संदेश

श्रीमान् सम्पादकजी,

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि निर्वाण अर्धशताब्दी स्मारक-ग्रन्थ, भीलवाड़ा (राजस्थान ,

आपका दिनांक १८-७-५५ का पत्र हमें प्राप्त हुआ। हमें खेद है कि हम आपके ट्रैक्ट ' श्रीराजेन्द्रसूरि ' और ' विज्ञप्ति और विनम्र-विनय ' का उत्तर समय पर न दे सके। जैसा कि आपको ज्ञात होगा ही कि उस समय विश्वविद्यालयों में परीक्षा का कार्य होता है और इस कारण अध्यापकगण पर्याप्त व्यस्त रहते हैं। अस्तु, परीक्षा में संलग्न होने के कारण आपके पत्रों का उत्तर न दिया जा सका। आशा है आप क्षमा करेंगे।

आपके इस महान् विद्यायज्ञ की खबर सुनकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। आपके इस महत्त्वपूर्ण प्रयत्न में हमारा हार्दिक सहयोग और शुभ कामनायें हैं। परन्तु कार्यव्यस्तता के कारण हम कार्यान्वित सहयोग न दे पायेंगे। आशा है आप हमारी विवशता समझ कर क्षमा करेंगे।

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.
२८-७-१९५५

भवदीय,
धीरेन्द्रनाथ मजुमदार

प्रिय महोदय, भीलवाड़ा

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक-ग्रन्थ निकल रहा है। श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजीने स्वयं ही अपना मार्ग प्रशस्त किया और दूसरों के लिये पथ-प्रदर्शक बने। उनका चारित्रिक बल, उनकी विद्वत्ता और निर्भीकता सराहनीय हैं। उनके ग्रन्थ ही उनके सच्चे स्मारक हैं। फिर भी कृतज्ञता प्रकाशनार्थ स्मारक-ग्रन्थ निकलना आवश्यक है। मैं लेख भेज कर इसमें योग देना अपना गौरव समझता; किन्तु स्वास्थ्य के कारण विवश हूँ। जैनधर्मने अहिंसा, त्याग और चारित्रिक ऋजुता के जो आदर्श हमारे सामने रखे हैं वे सर्व धर्मों में मान्य हैं। उनके मानने में ही मनुष्यजाति का कल्याण है। आशा है इन सिद्धान्तों का प्रचार इस स्मारक-ग्रन्थ द्वारा हो सकेगा।

गोमती-निवास, आगरा
२१-१२-५५

विनीत, गुलाबराय

प्रिय महोदय, भीलवाड़ा
सप्रेम हरिस्मरण।

आपका सौजन्यपूर्ण पत्र १८-८-५५ का लिखा मिला, एतदर्थ धन्यवाद। उत्तर देरी से जा रहा है, इसके लिये क्षमा करें। आप इस ग्रन्थ के द्वारा अबतक दूर रहे जैन-साहित्य से जगत् को परिचित करना चाहते हैं और इसकी साम्प्रदायिक भित्तियों को तोड़ देना चाहते हैं, आपका यह उद्देश्य वस्तुतः सराहनीय है। आपकी यह मान्यता नितान्त सत्य है कि जैन-साहित्य किसी समुदाय-विशेष की सम्पत्ति न होकर जगत् की वस्तु है। आपने इस ग्रन्थ के संकलन में मेरा सहयोग चाहा है, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। समयाभाव के कारण संदेश के रूप में कुछ ही शब्द लिखकर मैं संतोष करूँगा। वस्तुतः मेरा जैनधर्म-विषयक ज्ञान इतना नगण्य है कि उसके सम्बन्ध में कुछ भी लिखना मेरे लिये अनधिकार चेष्टा ही होगी। मैं तो केवल इतना कहूँगा कि भगवान् सब के हैं और सब में हैं। वे किसी भी संप्रदाय एवं दार्शनिकवाद की सीमा से आबद्ध नहीं हैं। वे ऐसे हैं और ऐसे नहीं हैं, यह कहना उनकी व्यापकता एवं महानता को कम करना है। अवश्य ही उनको भजने के, उनके समीप पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। किसी भक्त कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

'जिस प्रकार सभी नदियों का जल सीधे अथवा टेढ़े मार्ग से बहकर अन्त में जाता है समुद्र में ही, उसी प्रकार सभी मनुष्यों का अन्तिम लक्ष्य एक है; वहाँ तक पहुंचने के मार्ग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अलग-अलग हैं।'

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' सत्य तत्व एक है, उसके नाम अलग-अलग हैं। शैवलोग उसकी 'शिव' नाम से उपासना करते हैं, वेदान्ती उसका ब्रह्मरूप में अपने ही अंदर साक्षात् करते हैं, बौद्ध उन्हें भगवान् बुद्ध के रूप में देखते हैं, नैयायिक लोग उनका जगत् के स्रष्टारूप में भजन करते हैं, जैनी भाई उन्हें 'अर्हत्' रूप में पूजते हैं तथा मीमांसक लोग उनका 'कर्म' नाम से गुण-गान करते हैं। वे मङ्गलरूप सर्वव्यापक श्रीहरि हमारा और आप सब का कल्याण करें, सब को सद्बुद्धि दें, सब को अपनी ओर आकृष्ट करें। यही उनके श्रीचरणों में प्रार्थना है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः॥

अर्हन्नित्यथ जैन शासनरताः कर्मेति मीमांसकाः ।
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

बस, इतना कहकर मैं आपके प्रयास की सफलता चाहता हूँ ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

'सभी सुखी हों, सभी निरोगी रहें, सभी अच्छे दिन देखें, किसी को भी दुःख का भाग न मिले ।'

अन्त में मैं भगवान् श्री ऋषभदेवजी की निम्नलिखित प्राचीन श्लोक के द्वारा वन्दना करता हुआ अपने लिये उनके आशीर्वाद की भिक्षा करता हूँ—

नित्यानुभूतिनिजलाभनिवृत्ततृष्णः श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य यः करुणया भयमात्मलोकमाख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥

'निरन्तर विषय-भोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक कल्याण के प्रति चिरकाल तक उदासीन हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्म-तत्व का उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होनेवाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् श्री ऋषभदेवजी को नमस्कार है ।'

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

गीताप्रेस, गोरखपुर
मार्गशीर्ष कृ. २, सं. २०१२

विनीत, चिम्मनलाल गोस्वामी

The Editor, Shrimad Rājēndrasūri-Smārak-Granth,
Bhilwara, Mewar-Rājasthān, India.

Dear Sir,

I greatly admired all the work of the late Rājēndrasūri, in particular his lexicographical achievement in the "Abhidhāna Rājēndra Kosha", but I am afraid my present commitments make it impossible for me to promise a contribution to the Memorial Volume.

University of London. W.C.I.
20th May, 1955.

Yours faithfully,
R. L. Turner.

Shri Daulat Singh Lodhā, " Arvind ", B.A.,
Working Editor, " Sri Ŗājėndra Sūri Smārak Granth, "
Bhilwara, Mewar-Ŗājasthān.

Dear Sir,

I am glad to know that you are celebrating Shri Ŗājēndra Sūri's Nirwān Semi-Centenary. His life is a great example of the pursuit of truth and the practice of asceticism. I hope your Smārak Granth will inspire its readers with a love for saintly life.

Dated New Delhi, the 22 May, 1955.

Yours faithfully,
(S. Radhakrishnan).

Sr. Daulat Singhji
Bhilwara (Ŗājasthāna)
Dear Sir

I have received your letter of the 11th July 55 and I thank you very much for your kind feelings towards me.

At present I am working on two different and quite complicated subjects. It is rather obligation to me to complete and submit them to our institution as early as possible. Therefore I am to write to you painfully that I don't find any time left for another work.

Although I have a great respect for Srimad Ŗājēndra Sūri ji and sincerely want to fulfil your desire, yet I am helpless owing to the reason mentioned. In spite of it if I give you now the promise, I don't think, I would be able to keep it. I earnestly hope that you will excuse me for my inability, as I have explained the difficulties I have with me.

I wish that your noble project may become successful.

With kind regards.

Santiniketan
20th July, 1955.

Yours Truly,
K. M. Varma

Shri. Daulatsingh Lodha, "Arvind", B. A.
Editor, Shri Rājēndrasūri Smārak Grantha,
House No. 11/55 – Bhilwara. (Mewar) Rājasthān.

Dear friend,

Very glad to get your letter dated 8th August 1955 and the enclosed pamphlets about the Smārak Grantha you are bringing out in honour of Shrimad Rājēndra Sūri of revered memory. For reasons of health I am unable to prepare any paper on the topics given by you in your pamphlet. I wish all success to the–proposed Smārak–Grantha in honour of such a great Jain Sādhu and a scholar of world fame. *His Abhidhāna Rājēndra Kos'a* on our shelves is a standing monument of his scholarship and dynamic literary activity.

With best wishes & kindest regards,

Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
28th September 1955.

Yours sincerely,
P. K. Goda.
Curator.

The Editor, Shrimad Rājēndra Sūri Smārak Grantha
Bhilwara (Mewar, Rājasthān)

Dear Sir,

I am rather late to thank you for information regarding the Semi-centenary Commemoration Volume for Shrimad Rājēndra Sūri together with a brief sketch of his life and a Special Request both which I have gone through with great interest. It is doubtful, as I am sorry to say, whether time with allow me to contribute to that proposed volume. But I wish to say emphatically that in the field of Jain researth no scholar can dispense of consulting the Suri's most valuable *magnum opus*, the Abhidhāna Rājēndra, as the big work was called very appropriately. Though thanks to research and editing work of 41/2, decades I am not unacquainted with Jain topics, I have never consulted that great Shvetāmbar Dictionary without a satisfying result. The Smārak

Grantha will be a monument preserving for all future the memory of that great and dearest scholar.

Hamburg 13.
30th November, 1955

I remain, dear Sir,
Yours faithfully,
Walther Schubring, Ph. D.,
Hon. Member, Bombay Branch Royal As. Soc.,
Jain Academy of Jain Wisdom & Culture, Professor.

The Board of Editors, "Shrimad Rājēndra Sūri Smārak Grantha"
BHILWARA (Mewar-Rājasthān) India

Dear Sirs,

I am answering your kind invitation, addressed by you to our President, Prof Giuseppe Tucci, concerning requested contributions for the Semi Centenary of the great writer Shrimad Rājēndra-sūriji.

Much as our President would be interested in the matter, being a sincere admirer of the late writer, he cannot unfortunately send his contribution to your volume, as he is often travelling abroad, and cannot devote his time to outside interests. However, he wants me to thank you very warmly for your letter, and to express his high commendation of your very deserving initiative, to which he wishes every success.

I remain, dear Sirs, with kindest regards,

Rome, 11 GIU 1955

Yours sincerely
The Secretary General
(Mariano Imperiali)

शील की आराधना करते हुए मरे अथवा शीलरहित अव्रत दशा में मरे। दोनों दिशामें मरना तो अवश्य है। तब कायर की तरह विलखते मरने की अपेक्षा संयमशील हो कर धैर्य से हंसते हुए मरना ही अच्छा है। कहा भी है:—

धीरेणं वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं।
दुण्हंपि हु मरियव्वे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥ ६४॥
सीलेण वि मरियव्वं निस्सीलेण वि अवस्स मरियव्वं।
दुण्हंपि हु मरियव्वे, वरं खु सीलत्तणे मरिउं॥ ६५॥ आतु० प.

उर्दू कविने भी कहा है—

"हंस के दुनियां में मरा, कोइ कोइ रोके मरा।
जिन्दगी पाई मगर, उसने जो कुछ हो के मरा॥"

विद्वानों को ऐसे ही मरण से मरना चाहिये। इस प्रकार मरनेवाले मर के भी अमरता के भागी होते हैं।

अभ्युद्यत मरणविधि —(टिप्पण) विवेकी पुरुष जीवन की अन्तिम घड़ियों में पूरी सतर्कता रखते हैं, क्यों कि उस समय की जरासी गलती बने-बनाये काम को बिगाड़ देती है। अतः ज्योंही उन्हें जीवन-यात्रा में लम्बे समय तक शरीर टिकनेवाला नहीं है ऐसा प्रतिभासित होता है, त्योंही विना विलम्ब चे मरण को शानदार बनाने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। तन, धन, परिजन और सम्मान से मन मोड़कर वे एक मात्र आत्मलक्षी हो जाते हैं। तब पराये गुणापगुण देखने की अपेक्षा उनको आत्मदर्शी होकर अपना निरीक्षण करना ही अधिक प्रिय होता है और जीवन की छोटी-मोटी कोई भी चूक हो उसको विना संकोच के गीतार्थ के पास आलोचना द्वारा प्रगट करना और यथायोग्य प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि करना उनका प्रधान लक्ष्य होता है। जैसे सुयोग्य वैद्य भी अपनी चिकित्सा दूसरे से कराता है, वैसे ज्ञानसंपन्न साधक भी अन्य गीतार्थ के सम्मुख अपनी आलोचना करते और आत्मशुद्धि करते हैं।

मरण की तैयारी के लिये शास्त्रों में पहले संलेखना का विधान है। वह जघन्य ६ मास और उत्कृष्ट १२ वर्ष की होती है। उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ वें अध्याय में कहा है कि १२ वर्ष की उत्कृष्ट संलेखना, मध्यम १ वर्ष और जघन्य ६ मास की होती है। जो इस प्रकार है-पहले ४ वर्ष दूध आदि विगई का त्याग किया जाता है और दूसरे चार वर्ष में उपवास, वेला आदि विचित्र तप किये जाते हैं। फिर दो वर्ष एकान्तर तप और पारणक में आयंबिल किया जाता है। इग्यारहवें वर्ष में ६ महीने का सामान्य तप किया जाता और

६ महीने विकृष्ट तप किया जाता है। इसमें आयंबिल भी परिमित किये जाते हैं। बारवें वर्ष में उपवास आदि के पारणक में कोटि सहित आयंबिल आदि किये जाते हैं। बीच २ में मास और पक्ष के अनशन भी करते हैं। अ. ३६। २५२-५६।

व्यवहार सूत्र के दशम उद्देश के भाष्य में भी इस का विस्तार से वर्णन मिलता है। वहां प्रथम के चार वर्षों में विचित्र तप का इच्छानुसार–कामगुण पारणा और दूसरे चार वर्षों में विगइ, त्यागपूर्वक पारणा का उल्लेख है भा. ४१२ से ४२१। मध्यम और जघन्य सलेखना भी ऐसे मास और पक्ष के विभाग से की जाती हैं। इस प्रकार संलेखना के अनन्तर गुरु या गीतार्थ परीक्षित ही सामान्य रूप से इस मरण को स्वीकार करते हैं।

संलेखना द्वारा केवल शरीर को ही क्षीण नहीं किया जाता, बल्कि अन्तर के विकारों को भी क्षीण किया जाता है। जब तक आन्तरिक विकार क्षीण नहीं होते साधक उत्तम मरण को प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिये पहले परीक्षा की जाती थी। मनोनुकूल उत्तम भोजन को पाकर भी जब मरणार्थी उसको ग्रहण नहीं करता तब तक उसकी अगृध्नुता समझली जाती थी। इस पर एक छोटा उदाहरण दिया गया है—

किसी समय एक आचार्य के पास भक्त परिक्षार्थी शिष्य आया और उसने कहा, "मैं भक्त प्रत्याख्यान करना चाहता हूं।" तब आचार्यने पूछा–"तुमने सलेखना की है या नहीं?" शिष्य को आचार्य की बात से विचार हुआ। उसने सोचा मेरा शरीर हड्डी का पंजर सा हो चुका है, लोहू–मांस का कहीं नाम भी नहीं, फिर भी गुरुजी पूछते हैं कि सलेखना की या नहीं? रोष में आकर उसने अपनी अंगुली तोड़ डाली और बोला–"महाराज! देखो रक्त की एक बूंद भी नहीं है, क्या अब भी सलेखना बाकी है?" गुरुजीने कहा–"वत्स! यह तो द्रव्य सलेखना का रूप है जो तेरे शरीर से प्रत्यक्ष दिखता है, किन्तु अभी भाव सलेखना करनी है, कषाय के विकारों को सुखाना है। इसीलिये मैने पूछा था कि सलेखना की या नही। जाओ, अभी भाव सलेखना करो। फिर भक्त पच्चक्खाण संथारा प्राप्त होगा। व्य. भा. ४५०। इस प्रकार द्रव्य–भाव–संलेखनापूर्वक किया गया मरण ही पंडितमरण है। मरणान्तिक कष्ट, आघात–प्रत्याघात वा आतंक से निकट भविष्य में ही देह छूटने वाला हो वैसी स्थिति में द्रव्य सलेखना की आवश्यकता नहीं होती। उस समय आलोचनापूर्वक आत्मशुद्धि की जाती है और विचार एवं आचार की पूर्ण शुद्धि के साथ सर्वथा पापों के त्याग कर लिये जाते हैं।

भारत की अहिंसा संस्कृति

जयभगवान जैन

अहिंसा की अनादि परम्परा—

प्राचीन काल से लेकर आजतक भारतीय जनता का यदि कोई एक धर्म रहा है जिसने इसके आचार और विचार में तरह २ के भेद–प्रभेदों के होते हुए भी भारत की सभ्यता को एक सूत्र में बांध कर रखा है तो वह अहिंसा धर्म है। यह बात उन सब ही पौराणिक आख्यानों तथा ऐतिहासिक वृत्तान्तों से सिद्ध है जो अनुश्रुतियों व साहित्य द्वारा हम तक पहुंचे हैं।

बृहदारण्यक उपनिषत् ५. २. ३. में आदि प्रजापति की धर्मदेशना की एक कथा दी हुई है। इसमें बतलाया गया है कि देव, असुर और मनुष्यजन तीनों प्रजायें इकट्ठी हो कर धर्म सुनने के लिये प्रजापति के पास गईं। उन तीनों को प्रजापतिने जिस धर्म का उपदेश दिया वह तीन अक्षरों में समाया हुआ है–द. द. द। ये तीन अक्षर दया, दान और दमन शब्दों का सकेत हैं। इस तरह इन तीन अक्षरों द्वारा प्रजापतिने आर्य, असुर और मनुष्यजन को धर्म का सार बताते हुए सूचित किया था कि लोकशान्ति और सुखप्राप्ति के लिये सभी का सनातन और पुरातन धर्म दया, दान और दमन(संयम) है।

छान्दोग्य उपनिषत् में इसी ब्रह्मविद्या का सार बताते हुए जिसका उपदेश ब्रह्माने प्रजापति को, प्रजापतिने मनु को और मनुने समस्त प्रजा को दिया, कहा गया है–जिज्ञासु को चाहिये कि जब वह आचार्यकुल से वेद पढ कर यथाविधि गुरु की सेवा करके परिवार में लौटे तो वह पवित्र स्थान में बैठ कर स्वाध्याय करे। अन्य लोगों को धर्म का उपदेश देते हुए उन्हें धार्मिक बनावे, अपनी सब इन्द्रियों को वश में रखे, सब जीवों के साथ अहिंसा का वर्ताव करे। जो जीवनपर्यन्त इस प्रकार वर्तता है वह निश्चयपूर्वक मरने के बाद ब्रह्मधाम को प्राप्त होता है। जहां से लौट कर वह फिर कभी संसार में नहीं आता[1]।

जितनी भी पापरहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि क्रियाएं हैं उन्हीं का सेवन मनुष्य को करना चाहिये। उनके अतिरिक्त अन्य क्रियाओं का सेवन न करना चाहिये[2]।

---

१. छान्दोग्य उपनिषत् ८ १५.

२. यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ॥ तैत्तिरीयउपनिषत् १. ११. २.

आदि प्रजापतिने संक्षेप में जिस उपरोक्त धर्ममार्ग का दिग्दर्शन कराया था, भारत के समग्र सन्त उसीका अनुकरण करते चले आये हैं और उसीकी सब को देशना देते चले आये हैं। इस तथ्य की जानकारी के लिये निम्न उदाहरणों का अध्ययन करना उपयोगी होगा।

इस सम्बन्ध में भगवान् अरिष्टनेमि के समकालीन अंगिराऋषि के जिन उपदेशों का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है वह खास तौर पर अध्ययन करने योग्य है।

(१) यह अंगिराऋषि एक ऐतिहासिक महात्मा हैं। यह कौरव-पाण्डव काल में भारत-भूमि को शोभित कर रहे थे। ये क्षत्रियवंशी थे-क्योंकि मनुस्मृति ३. १९५-१९९ में पितर-गणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अंगिरा का पुत्र हविर्भुज क्षत्रियों का पिता है। श्रमण संस्कृति के अनुयायी अन्य प्रसिद्ध क्षत्रियों के समान यह एक भिक्षाचारी तपस्वी साधु थे। ऋग्वेद के १० वें मण्डल का ११७ वां सूक्त जिसमें दान की महिमा का वखान किया गया है, इन्हीं की कृति है। इस सूक्त के ऊपर दिये हुए विवरण में इसके निर्माता अंगिरा-ऋषि को भिक्षु कहा गया है। इस दानसूक्त में कहा है-जैसे रथचक्र ऊपर नीचे घूमता रहता है उसी तरह धन भी कभी स्थिर नहीं रहता। याचक को अवश्य धन-दान देना चाहिए। जो विना दान दिये केवल आप ही खाता है वह केवल पाप ही खाता है। "केवलाघो भवति केवलादी" यह ऋषि ही या इनके वंशज अथर्ववेदीय मुण्डक उपनिषत् का प्रणेता प्रतीत होते हैं। इनके सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषत् ३. १७. में बताया गया है कि ये देवकी पुत्र श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु थे। श्रीकृष्ण को भौतिक यज्ञों की जगह उस आध्या-त्मिक यज्ञ की दीक्षा दी थी जिसकी दीक्षा इन्द्रियसंयम, पापविरतिरूप व्रतों से होती है और जिसकी दक्षिणा तपश्चर्या, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवादिता है। इस यज्ञ के करने से मनुष्य का पुनर्जन्म छूट जाता है। उसका संसारपरिभ्रमण खत्म हो जाता है। मौत का सदा के लिए अन्त हो जाता है। इसके अलावा इस ऋषिने श्रीकृष्ण को यह भी उपदेश दिया था कि मरते समय मनुष्य को तीन धारणायें धारण करनी चाहिएं—

अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि।

अर्थात् हे आत्मन्! तू अविनाशी है। तू सनातन है। तू अमर चेतन है। इस उपदेश को सुनकर श्रीकृष्ण का हृदय गद्गद् हो उठा था।

इसी प्रकार महाभारतकारने अनुशासनपर्व अ. १०६, १०७ में अंगिराऋषि की दी हुई अहिंसा, दान, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास सम्बन्धी जिन शिक्षाओं का उल्लेख किया है वे ऊपर बतलाई हुई शिक्षाओं से बहुत मिलती जुलती हैं। इससे प्रमाणित होता है कि महाभारत

उद्धृत अंश में कौरव-पाण्डवकालीन भारतीय संस्कृति का काफी आलोक है। यह वही युग है जबकि रैवतक पर्वत (सौराष्ट्र देश का गिरनार पर्वत) के विख्यात सन्त अरिष्टनेमि अपने तप, त्याग और विश्वव्यापी प्रेमद्वारा भारत की अहिंसामयी संस्कृति को देश-विदेशों में सब ओर फैला रहे थे।

(२) इस ही कौरव-पाण्डवकाल के दूसरे प्रसिद्ध सन्त विदुर हुये हैं। वे महाभारत स्त्रीपर्व अध्याय ७ में धृतराष्ट्र को यों उपदेश देते हैं—

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणो हयाः।
शीलरश्मिसमायुक्तः स्थितो यो मानसे रथे॥
त्यक्त्वा मृत्युभयं राजन्! ब्रह्मलोकं स गच्छति॥ महाभारत स्त्रीपर्व ७. २३-२५

अर्थात् दम, दान और अप्रमाद ही आत्मा के तीन घोड़े हैं। जो इन घोड़ों से युक्त मनरूपी रथ पर सवार होकर सदाचार की बागडोर संभालता है वह मौत के भय को छोड़कर ब्रह्मलोक में पहुंच जाता है।

(३) आज से २८०० वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथने जिनका जन्मस्थान वाराणसी और निर्वाणस्थान बिहार-प्रान्त के जिल्ला हजारास्थित सम्मेतशिखर है, बतलाया था कि-अहिंसा जीवन का स्वभाव है, अहिंसा ही जीवनलोक का आधार है, अहिंसा ही मानव धर्म है, अहिंसा मानव की श्रेष्ठता है, अहिंसा से ही मनुष्य मोक्ष का अधिकारी बनता है। भगवान् पार्श्वनाथने अहिंसा के साथ सत्य, अपरिग्रह और अचौर्य धर्मों को भी शामिल करके चतुर्याम या चतुष्पाद् धर्म की प्रवृत्ति सर्वसाधारण में फैलाई थी[1]।

(४) इसी प्रकार आज से कोई २५०० वर्ष पूर्व भारत के अन्तिम तीर्थंकर महावीरने कहा था—

धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं, अहिंसा सञ्जमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥ दशवैकालिकसूत्र १-१

अर्थात् अहिंसा (दया), संयम (दमन), तपरूप धर्म ही उत्कृष्ट मङ्गल है। जो इस धर्ममार्ग पर चलते हैं, देवलोक भी उन्हें नमस्कार करते हैं।

ईसा की दूसरी सदी के महान् आचार्य समन्तभद्र भगवान् महावीर की दिव्यवाणी का संक्षेप में यों व्याख्यान करते हैं—

---

१ (अ) स्थानांगसूत्र क्रमांक २६६ (आ) उत्तराध्ययनसूत्र २३. ८-२७॥ (इ) व्याख्याप्रज्ञप्ति २०. ८. (ई) मूलाचार॥ ७. १२५-१२९॥ ७. ३४.

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्। युक्त्यनुशासन ॥ ६॥

अर्थात् हे महावीर भगवान्! आपका धर्ममार्ग दया, दम, त्याग (दान) और समाधि (आत्मध्यानरूप तपश्चर्या) इन चार तत्त्वों में समाया हुआ है। और नयप्रमाण द्वारा वस्तु-सार को दर्शानेवाला है।

(५) भगवान् महावीर के समकालीन महात्मा बुद्धने भी दुःखनिरोधार्थ जिस अष्टाह्निक धर्ममार्ग का उपदेश दिया है उसमें अहिंसा, मन, वचन, काय का नियन्त्रण और समस्त कायोपभोगों की इच्छाओं व पापकृत्यों के त्याग पर विशेष बल दिया है। धम्मपद, दण्डवग्गो में कहा गया है—

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥ १॥

अर्थात्—सभी दण्ड से डरते हैं। सभी मृत्यु से भयभीत हैं। अतः सभी को अपने जैसा समझ न किसीको मारे न मरवाये।

(६) महर्षि पतञ्जलिने भारतीय योगियों के गूढ़ अनुभवों तथा उनकी शिक्षा, दीक्षा एवं जीवचर्या के अष्टांगिक योगमार्ग का सार बताते हुए अपने योगदर्शन में कहा हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ योग० २, ३०
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः॥ योग० २, ३५

अर्थात् जीवनविकास और लोक–शान्ति–समृद्धि के लिए, अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धिके लिए मनुष्य को उचित है कि वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह द्वारा सदा अपने जीवन का नियन्त्रण करे। जिस के प्राणों में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है उसके संपर्क में आनेवाले सभी जन और जन्तु वैर त्याग कर मित्रता का व्यवहार करने लगते हैं।

(७) आदि ब्रह्मा (वृषभ) का धर्म अनुशासन जो पणि लोगों द्वारा प्राचीन काल में मध्य-एशियाई देशों में भी फैला था उसकी बहुत सी अनुश्रुतियां बाइबिल की पुरानी धर्म-पुस्तक के GENESIS प्रकरण और EXODUS प्रकरण में सुरक्षित हैं। EXODUS के अध्याय २० में गॉड (God) ने मनुष्यों के लिए जिन १० धर्मों का आदेश दिया है उनमें अहिंसा, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का भी आदेश शामिल है[1]।

---

1. 13. Thou shalt not kill. 14. Thow shalt not commit Adultery. 15. Thou shalt not steal. 16. Thou shalt not bear false witness against thy neighbour. 17. Thou shalt not covet.

हिंसामयी यज्ञप्रथा का आरम्भ त्रेतायुगमें—

इस तरह भारत की सभी पौराणिक अनुश्रुतियों से विदित है कि आदिकाल से भारत का मौलिक धर्म अहिंसा, तप, त्याग और संयम रहा है। होम-हवन आदि याज्ञिक पशुबलि, नरमेध, अश्वमेध आदि हिंसक विधान सब पीछे की प्रथाएं हैं, जो त्रेतायुग में बाहर से आकर भारत के जीवन में दाखिल हुई हैं और द्वापर के आरम्भ में यहां की अहिंसामयी अध्यात्म-संस्कृति के संपर्क से सदा के लिए विलुप्त हो गई।

(१) इस विषय में मनुस्मृतिकार का मत है—

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहु-र्दानमेकं कलौ युगे ॥ मनु० १, ८६

अर्थात् सतयुग का धर्म तप है। त्रेतायुग का धर्म ज्ञान है। द्वापर का धर्म यज्ञ है। और कलियुग में अकेला दान ही धर्म है ॥

(२) विष्णुपुराण ६. २, १७ में कहा है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥

अर्थात् सतयुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञानुष्ठान से और द्वापर में पूजा-अर्चना से मनुष्य जो कुछ प्राप्त कर लेता है वह कलियुग में श्रीकेशव का नामसंकीर्तन करने से ही पा लेता है।

(३) बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र ३. १४१-१४७ में भी कहा गया है—

कृतयुग में ज्ञान, त्रेतायुग में कर्म, (याज्ञिक कर्म) द्वापर में तान्त्रिककर्म, तिष्य (कलियुग) के प्रथम पाद में ज्ञान और कर्म अर्थात् श्रमण और याज्ञिक संस्कृतियां, पिछले पाद में विभिन्न धर्म, वर्ण तथा वेशवाले मनुष्य होते हैं।

(४) महाभारत शान्तिपर्व अ. २३१, २१-२६. अ. २३८, १०१. अ. २४४, १४ में कहा है-सतयुग में यज्ञ करने की आवश्यकता न थी। त्रेता में यज्ञ का विधान हुआ। द्वापर में उसका नाश होने लगा और कलियुग में उसका नामनिशान भी न रहेगा।

(५) इसी प्रकार मुण्डक उपनिषत् में कहा है—

(क) तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंतानि त्रेतायां बहुधा संततानि।
तान्याचरत नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १. २. १

(ख) प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं पुनरेवापि यन्ति ॥ १. २. ७

(ग) इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ १. २. १०

अर्थात् वैदिक मन्त्रों में जिन याज्ञिक कर्मों का विधान है वे निःसंदेह त्रेतायुग में ही बहुधा फलदायक होते हैं। उन्हें करने से पुण्यलोक की प्राप्ति होती है। इनसे मोक्ष की सिद्धि नहीं होती; क्यों कि ये यज्ञरूपी नौकाएं जिन में अठारह प्रकार के कर्म जुड़े हुए हैं, संसारसागर से पार करने के लिए असमर्थ हैं। जो नासमझ लोग इन याज्ञिक कर्मों को कल्याणकारी समझकर इनकी प्रशंसा करते हैं उन्हें पुनः जरा और मृत्यु के चक्कर में पड़ना पड़ता है। जो मूढजन यज्ञयाजन को और पूर्त अर्थात् कूप, बावड़ी आदि बनवाने को सर्वोत्तम मानते हैं, कल्याणमार्ग इससे भिन्न नहीं जानते, वे स्वर्गों के पुण्यफल भोग कर पुनः इसी हीनतर दुःखमय लोक को प्राप्त होते हैं।

(६) अ. ९. २०, २१ में भी कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

अर्थात् जो (त्रैविध) तीनों वेदों के कर्म करनेवाले, सोम पीनेवाले पुरुष यज्ञ से स्वर्गलोक प्राप्ति की इच्छा करते हैं वे इन्द्र के पुण्यलोक में पहुंच कर अनेक दिव्य भोग भोगते हैं और उस विशाल स्वर्गलोक का उपभोग कर के पुण्य का क्षय हो जाने पर वे फिर मृत्युलोक में आते हैं।

(७) महाभारत शान्तिपर्व अ. २४१ में शुकदेवने कर्म और ज्ञान का स्वरूप पूछते हुए व्यासजी से प्रश्न किया है—पिताजी! वेद में ज्ञानवान् के लिए कर्मों का त्याग और कर्मनिष्ठ के लिए कर्मों का करना ये दो विधान हैं; किन्तु कर्म और ज्ञान ये दोनों एक दूसरे के प्रतिकूल हैं; अत एव मैं जानना चाहता हूं कि कर्म करने से मनुष्यों को क्या फल मिलता है और ज्ञान के प्रभाव से कौनसी गति मिलती है? व्यासजीने उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है—वेद में प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रकार के धर्म बतलाये गये हैं। कर्म के प्रभाव से जीव संसार के बन्धन में बंधा रहता है और ज्ञान के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। इसीसे पारदर्शी संन्यासी लोग कर्म नहीं करते। कर्म करने से जीव फिर जन्म लेता हैं। किन्तु ज्ञान के प्रभाव से नित्य—अव्यक्त—अव्यय परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। मूढ लोग कर्म की

प्रशंसा करते हैं। इसी से उन्हें बार २ शरीर धारण करना पड़ता है। जो मनुष्य सर्वश्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेता है और जो कर्म को भली भाँति समझ लेता है वह जैसे नदी के किनारे वाला मनुष्य कूओं का आदर नहीं करता वैसे ही ज्ञानीजन कर्म की प्रशंसा नहीं करते।

त्रेता शब्द के प्रयोग से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस युग में तीन विद्याएं (ऋक्, यजुः, साम) तथा तीन अग्नियां (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण) विशेष रूप से प्रचलित हो गई थीं। देखिये मनु. अ. २. श्लोक २३१। इससे पूर्व का युग सतयुग अथवा कृतयुग इसी लिए कहलाया है कि उसमें सत्य अर्थात् मोक्षमार्ग की और कृत अर्थात् कर्मफलवाद की प्रधानता थी।

प्राचीन मोक्षमार्ग का ही दूसरा नाम अध्वर यज्ञ है:—

वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व भारत के यतिजन जिस मोक्षमार्ग का अनुसरण करके आत्मसाधना करते थे उसका रूप और उद्देश त्रेतायुग में आरम्भ होनेवाले आधिदैविक यज्ञों से विलक्षण प्रकार का था। उसमें बाह्य अनुष्ठान की जगह आत्मसाधना, क्रियाकाण्ड की जगह कर्मनिरोध, पशुबलि की जगह पाशविक वासनाओं की बलि, अग्नि की जगह परीषह सहन, वेदि की जगह आत्मसमाधि मुख्य तत्त्व थे। इसी लिये तत्कालीन आधिदैविक यज्ञों से पृथक् करने के लिए इस यज्ञ का नाम वैदिक ऋषियोंने अध्वर अर्थात् अहिंसात्मक यज्ञ प्रसिद्ध किया। इसी आशय को लेकर निरुक्तकार यास्क मुनिने अध्वर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—अध्वर इति यज्ञनाम, ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः। (निरुक्त १. ८)

इस अध्वर यज्ञ का विशेष सम्बन्ध आदि प्रजापति के उस तप, त्याग, अहिंसामय मोक्षमार्ग से है जिस पर चल कर इस कल्प के आदि में उसने सब से पहले आत्मपूर्णता की सिद्धि की थी। इसी भाव को लेकर 'अध्वर' शब्द वैदिक श्रुतियों में अग्नि (अग्रणि), ज्येष्ठ, ब्रह्मा, ऋषभ, अनड्वान्, पशुपति, भूतपति, गोपति, गोर, गॉड (GOD) असुर, असुरीश, असुरमहत, ईष, महेश, महेशी आदि अनेक नामों से विख्यात प्रजापति की अहिंसामय साधना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1]।

भारत की अहिंसामयी संस्कृतिने सदा हिंसा पर विजय पाई:—

प्राचीन पौराणिक आख्यानों से यह भी स्पष्ट है कि जब कभी विदेशी आगन्तुकों की सभ्यता व अपनी ही दुष्प्रवृत्तियों के कारण भारत के सप्तसिन्धु देश, कुरुक्षेत्र, शौरसेन,

---

१ "अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि" —ऋग १. १. ४.
(आ) अग्निर्यज्ञस्याध्वरस्य चेतति —ऋग० १. १२८. ४.

मध्यदेश व दक्षिण में देवपूजा, उदरपूर्ति व मनोविनोद आदि के लिए पशुबलि, मांसाहार आदि हिंसक प्रवृत्तियोंने जोर पकड़ा, तभी भारत की अन्तरात्माने उस का घोर विरोध किया और जब तक इन हिंसामय व्यसनों का उसने अपने सामाजिक जीवन में से पूर्णतया बहिष्कार नहीं कर दिया उसको शान्ति प्राप्त नहीं हुई । इसी लिये भारत का मौलिक धर्म अहिंसा धर्म कहा जाय तो इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है ।

इस ऐतिहासिक तथ्य की जानकारी के लिये भारतीय जनता की प्रवृत्तियों तथा प्रतिक्रियाओं के आठ प्रसिद्ध आख्यान यहां दिये जाते हैं—

१. हिमाचलदेश सम्बन्धी दक्ष और महादेव की कथा ।
२. कुरुक्षेत्र सम्बन्धी पणि और इन्द्र की कथा ।
३. इन्द्र की ब्रह्महत्या से मुक्ति की कथा ।
४. पाञ्चालदेश सम्बन्धी राजा वसु और पर्वत की कथा ।
५. शौरसेन देश सम्बन्धी कृष्ण और इन्द्र की कथा ।
६. वेन की कथा ।
७. कपिल ऋषि और नहुष की कथा ।
८. बुद्ध भगवान् और वर्षा ऋतुचर्या की कथा ।

हिमाचल सम्बन्धी दक्ष और महादेव की कथा:—

महाभारत के शान्तिपर्व अ. २८४ में दी हुई दक्ष राजा की कथा में बतलाया गया है कि एक समय प्रचेता के पुत्र दक्षने हिमालय के समीप गङ्गाद्वार में अश्वमेध यज्ञ आरम्भ किया । उस यज्ञ में देव, दानव, नाग, राक्षस, पिशाच, गन्धर्व, ऋषि, सिद्धगण सभी संमिलित हुए । इतने बड़े समागम को देखकर महात्मा दधीचि बहुत कुपित हुए और कहने लगे कि जिस यज्ञ में महादेव की पूजा नहीं की जाती वह न तो यज्ञ है और न धर्म ही है । हाय ! काल की गति कैसी विगड़ी है कि तुम लोग इन पशुओं को बांधने और मारने के लिए उत्सव मना रहे हो । मोह के कारण तुम नहीं जानते कि इस यज्ञ से तुम्हारा घोर विनाश होगा । उसके बाद महायोगी दधीचिने ध्यान द्वारा नारदसहित महादेव पार्वती को देखा और बहुत सन्तुष्ट हुए । फिर यह सोचकर कि इन लोगोंने एकमत हो कर महादेव को निमन्त्रण नहीं दिया है, वे यह कहते हुए यज्ञभूमि से चल दिये कि अपूज्य देवों की पूजा से और पूज्य देवों की पूजा न करने से मनुष्य को नरहत्या का पाप लगता है । यहां पशुपति, जगत् का कर्ता, यज्ञ का भोक्ता महादेव आया हुआ है, क्या तुम लोग उसे नहीं देख रहे

हो ? दक्षने कहा–महर्षे ! जटाजूटधारी शूलपाणि ११ रुद्र इस लोक में हैं; परन्तु उन में महादेव कौन हैं ? यह मुझे मालूम नहीं है। दधीचिने कहा–तुम सबने षड्यन्त्र कर के महादेव को निमन्त्रण नहीं दिया है, किंतु मेरी समझ में महादेव के समान दूसरा श्रेष्ठ देवता और नहीं हैं; इस लिये निःसन्देह तुम्हारा यज्ञ नष्ट होगा। इस पर दक्षने कहा कि–यज्ञों द्वारा पवित्र किया हुआ यह हवि रखा हुआ है। मैं इस यज्ञभाग से विष्णु को सन्तुष्ट करूंगा। यह बात पार्वती के मन को न भाई। तब महादेवने कहा–सुन्दरि ! मैं सब यज्ञों का ईश हूं। ध्यानहीन दुर्जन मुझे नहीं जानते। तब महादेवने अपने मुख से वीरभद्र नामक भयंकर पुरुष उत्पन्न किया जिसने भद्रकाली और भूतगण के साथ मिल कर दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर दिया।

जब प्रजापति दक्षने वीरभद्र से पूछा–भगवन् ! आप कौन हैं ? वीरभद्रने उत्तर दिया–ब्रह्मन् ! न तो मैं रुद्र हूं और न देवी पार्वती। मैं वीरभद्र हूं और यह स्त्री भद्रकाली है। रुद्रकी आज्ञा से यज्ञ का नाश करने के लिए हम आये है। तुम उन्हीं उमापति महादेव की शरण में जाओ। यह सुनकर दक्ष महादेव को प्रणाम कर उनकी स्तुति करने लगा।

यही कथा कुछ भिन्न ढंग से गोपथब्राह्मण उत्तरकाण्ड १.२ में वर्णित है। जिस का भावार्थ निम्न प्रकार है—

प्रजापतिने रुद्र को यज्ञ से भागरहित कर दिया। उसने (रुद्रने) सोचा कि मेरा यह संकल्प और समृद्धि प्रजापति के लिये है जिसने मुझे यज्ञ से बाहर निकाला। तब उसने यज्ञ को पकड़ कर छेद कर दिया और छिदे हुए को काट डाला। वह प्राशित्र (खाने योग्य अन्न) बन गया। उस प्राशित्र को देखने और खाने से भग सविता आदि के अङ्ग आदि टूट पड़े।

यही कथा कूर्म पुराण पूर्वभाग अध्याय १५.८ में तथा स्कन्दपुराण माहेश्वरखण्ड केदार-खण्ड अध्याय २ से ५ तक इस प्रकार दी गई है–जब यक्षद्वारा गंगाद्वार में संपादन किया हुआ हिंसात्मक अश्वमेध यज्ञ भगवान् शंकर के अनुचर वीरभद्र द्वारा विध्वस्त कर दिया गया और दक्ष व देवताओं को मार दिया गया तब भगवान् शंकर ब्रह्मा द्वारा स्तुति की जाने पर स्वयं हरिद्वार आये। वहा उन्होंने दक्ष को पुनरुज्जीवित किया और दक्ष द्वारा स्तुति की जाने पर उसे यह उपदेश दिया–हे सुरश्रेष्ठ ! चार प्रकार के पुण्यात्मा जन सदा मेरा भजन करते हैं–आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन सब में ज्ञानी ही श्रेष्ठ है। इस लिए समस्त ज्ञानी पुरुष मुझे विशेष प्रिय हैं। जो ज्ञान के विना ही मुझे पाने का यत्न करते हैं वे अज्ञानी है। तुम केवल यज्ञादि कर्मद्वारा संसारसागर के पार जाना चाहते हो; परन्तु कर्म में आसक्त हुए

मूढ जन वेद, यज्ञ, दान, तपस्या से भी मुझे कभी नहीं प्राप्त कर सकते। अत एव तुम अन्तःकरण को एकाग्र कर के ज्ञाननिष्ठ हो कर कर्म करो। सुख और दुःख में समानभाव रखकर सदा प्रसन्न रहो॥

इस कथा का ऐतिहासिक तथ्य यही है कि सप्तसिन्धुदेश के मूलनिवासियों की भांति हिमाचल प्रदेश के भूत, यक्ष, गन्धर्व लोग भी वैदिक आर्यों के देवतावाद और उनके हिंसामय यज्ञों के विरोधी थे। जब वैदिक आर्यजन की एक शाखाने दक्ष के नेतृत्व में गंगाद्वार के रास्ते इलावृत अर्थात् मध्यहिमाचल प्रदेश में प्रवेश किया और इन यक्ष, गन्धर्वों के माननीय धर्मतीर्थों-बदरीनाथ, केदारनाथ, हरिद्वार आदि स्थानों में अपनी परम्परा के अनुसार हिंसामय यज्ञों का अनुष्ठान किया तो वहां के भूत, यक्ष, गन्धर्व लोग उनके विरोध पर उतारु हो गये और इस विरोध के कारण वे निरन्तर आर्यजनों के यज्ञयागों को नष्ट करने लगे। यह सांस्कृतिक संघर्ष उस समय जाकर शान्त हुआ जब वैदिक आर्योंने इन के आराध्य देव महायोगी शिव को और इन के तप, त्याग, ध्यान और अहिंसामय अध्यात्ममार्ग को अपना लिया।

सप्तसिन्धुदेश और कुरुक्षेत्र के आर्यजन—

इसी तरह आर्यगण की दूसरी शाखा जो उत्तरपश्चिम के द्वारों से सप्तसिन्धुदेश में दाखिल हुई वह धीरे २ सप्तसिन्धुदेश में से होती हुई इसके अन्तिम छोर कुरुक्षेत्र में जा पहुंची। यह कुरुक्षेत्र उस समय सरस्वती और दृषद्वती नामवाली दो चालू नदियों के संगम पर स्थित था। यहां का जलवायु बहुत सुन्दर था। पशुपालन के लिये हरा २ घास और जल जगह २ काफी मात्रा में मिलता था। यज्ञ याग करने की भी सब सुविधायें यहां प्राप्त थीं। आर्यगण की भारतीय यात्रा में कुरुक्षेत्र ही वह प्रमुख देश है, जहां उन्हें कौरववंश की संरक्षकता में विशेषतया परीक्षित और जनमेजय के शासनकाल में विघ्नबाधारहित दीर्घकाल तक आराम से रह कर अपनी संस्कृति को विकसित करने, बढ़ाने और संघटित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था, इस लिए स्वभावतः यह देश चिरकालतक आर्यसंस्कृति का महाकेन्द्र बना रहा है। यह श्रेय कुरुक्षेत्र को ही प्राप्त है कि वैदिक आर्यजाति की सुमेर देश से चल कर भारत तक आने की लम्बी यात्रा में जिन राष्ट्रीय घटनाओं से वास्ता पड़ा है उनकी अनुश्रुतियों और संस्मृतियों, भावनाओं और कल्पनाओं को जो सूक्तों (गीतों) के रूप में परम्परागत चली आ रही थीं, चार वैदिक संहिताओं के व्यवस्थित रूप में यहां संकलन किया गया। इन सूक्तों और इन में वर्णित देवताओं की संतुष्टि के लिये किये जानेवाले याज्ञिक अनुष्ठानों की पौराणिक व्याख्यायें जो ब्राह्मणग्रन्थों में मिलती हैं उनका संग्रह भी प्रायः इसी देश में हुआ है और यहां ही सब से पहले बड़े २ यज्ञ-सत्रों का सम्पादन शुरू हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण १४. १. १–५ में कहा गया है कि देवोंने सब से पहले कुरुक्षेत्र में ही यज्ञ किया। महाभारत शल्यपर्व अध्याय ४१. २९-३० में कहा गया है कि इन्द्र के गुरु बृहस्पतिने कुरुक्षेत्र में ही देवताओं के अभ्युदय और दस्युओं के नाश के लिये पशुयज्ञ किये थे।

इन तमाम विशेषताओं के कारण आर्यजाति के भारतीय इतिहास में जो महत्ता कुरुक्षेत्र को दी गई है वह भारत के अन्य पुराने प्रसिद्ध तीर्थस्थानों में से किसी को भी नहीं दी गई। इसी महत्त्व के कारण यह स्थान वैदिक साहित्य में 'देवानां देवयजनम्' प्रजापति-वेदी,[2] ब्रह्मक्षेत्र,[3] धर्मक्षेत्र,[4] ब्रह्मावर्त[5] आदि गौरवपूर्ण नामों से पुकारा गया है। सरस्वती नदी के प्रदेश की इस सांस्कृतिक महत्ता के कारण ही वैदिक विद्या का अपर नाम 'सरस्वती' प्रसिद्ध हुआ है। वैदिक परिभाषा में ब्रह्म का वास्तविक अर्थ मन्त्र है और मन्त्र को जानने वाला ब्राह्मण कहलाता है इस लिए इस देश को जहां मन्त्रों का संहितारूप में संकलन हुआ, ब्रह्मक्षेत्र व ब्रह्मावर्त कहा जाना सार्थक ही है।

क्योंकि आर्यजन अपने को देव और अपने निवासदेशों को स्वर्ग नाम से पुकारते थे; अतः उस जमानेमें सप्तसिन्धुदेश का यह अन्तिम छोर स्वर्ग का अन्तिम भाग कहलाता था।[6]

इस कुरुक्षेत्र में आबाद हो कर देवजन काफी समय तक अपनी सभ्यता का विकास करते रहे। यहां वे बहुत से आदिवासी नागजाति के विद्वानों व राजघरानों के व्यक्तियों को भी अपनी सभ्यता के अनुयायी बनाने में सफल हुए। इनमें से कईने तो मन्त्रों की रचना में काव्यकुशलता के कारण ब्राह्मणों में इतनी ख्याति प्राप्त की कि विजातीय होते हुए भी उन्हें ऋषिश्रेणि में संमिलित किया गया और उनकी रचनाओं को वैदिक संहिताओं में स्थान दिया गया। ऋग्वेद के १० वे मण्डल के ९४ वें सूक्त के रचयिता कद्रू के पुत्र नागवंशी अर्बुद थे। ७६ वे सूक्त के रचयिता नागजातीय इरावत् के पुत्र जरत्कर्ण थे। १८९ वें सूक्त की रचयित्री सर्वराज्ञी थी। यह सब कुछ होते हुए भी अपने जातीय गर्व और अपने सफेद सुन्दर वर्ण व रक्त की शुद्धि को बनाये रखने के ख्याल से वे न तो यहां की आम जनता में अपनी संस्कृति को फैला सके और न रोटी–बेटी के सम्बन्ध कायम करके उन्हें अपने

---

१ देवा ह वै सत्रं निषेदुः।...तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास। तस्मादाहु: कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनमिति। शतपथ १४. १. १–५।

२. ताण्ड्यब्राह्मण २५. १३. ३।

३. ऐतरेयब्राह्मण ७. १९।

४. भगवद्गीता १. १।

५. मनुस्मृति २. १७, १८। महाभारत भीष्मपर्व अ. ९।

६. इमा गावः सरमे या ऐच्छः परिदिवो अन्तान् सुभगे पतन्ती। ऋ. १०, १०८. ५

में मिला सके। इस लिये जैसा कि अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त से जाहिर हैं, इतने लम्बे समय आर्यजन के बसे रहने के वाद भी इन देशों के लोग अन्य भाषाओं और अन्य धर्मों को माननेवाले बने रहे[1]। इतना ही नहीं, बल्कि यहां की साधारण जनता से अपने को अलग और महान् बनाये रखने की भावनाने इन्हें यहां के मानवसमाज को वर्णव्यवस्था के आधार पर चार भागों में विभक्त करने पर मजबूर किया।

इस कल्पनाने धीरे २ घर करते हुए ब्राह्मणों को इस समाजरूपी विराट् पुरुष का मुख, राजकर्मचारियों को इसके बाहू, सर्वसाधारण मध्यमवर्ग के लोगों को इसका पेट और श्रमजीवी चूड लोगों को इस के पैर बना दिया। इनकी इस भावना का आलोक ऋग्वेद १०. ९० के पुरुषसूक्त से साफ मिलता है[2]। इस भावना के कारण यद्यपि ये अपनी वर्ण-शुद्धि और अपनी याज्ञिक संस्कृति को बहुत कुछ सुरक्षित रख सके, परन्तु इस भावना से यहां के लोगों में जो पृथक्करण और दासत्व की लहर पैदा हुई वह आर्यजन और देश के लिये आगे चल कर बहुत ही हानिकारक सिद्ध हुई।

पाणि और इन्द्र का आख्यान–पणिपद (पानीपत), शुनीपद (सोनीपत) के नागजन—

इस युग में सप्तसिंधु के आर्यजन सभी ओर से विजातीय और विधर्मी लोगोंसे घिरे हुए थे। उत्तर में भूत, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व लोगों से, पूर्व में व्रात्य लोगों से, दक्षिण में राक्षस लोगों से और स्वयं सप्तसिन्धुदेश में पणि, शुनी आदि नाग लोगों की विभिन्न जातियों से। चूंकि ये सभी लोग प्रायः श्रमण संस्कृति के अनुयायी थे, त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी साधुसन्तों के उपासक थे, अहिंसा धर्म को माननेवाले थे इस लिये ये सदा आर्यगण के माननीय देवताओं और उनके हिंसामय याज्ञिक अनुष्ठानों का विरोध करते थे और उनके पशुओं को विद्वेषवश वधबन्धन से छुड़ाने लिए छीन कर व चुराकर ले जाया करते थे। इस सम्बन्ध में कुरुक्षेत्र की तात्कालीन स्थिति जानने के लिए पणि और इन्द्र का प्रसिद्ध आख्यान जो ऋ. १०. १०८ में दिया हुआ है, विशेष अध्ययन करने योग्य है। यह आख्यान सप्तसिन्धुदेश के तत्कालीन विजातीय सांस्कृतिक संघर्ष को जानने के लिये इतना ही जरूरी है जितना कि दक्षिणापथ के विन्ध्यगिरिदेश में विद्याधर राक्षसों द्वारा याज्ञिकी पशुहिसा के विरुद्ध किये गये संघर्ष का पता लगाने के लिए रामायण की कथा का जानना जरूरी है। ऋग्वेद के उपर्युक्त १०. १०८ के आख्यान में वतलाया गया है कि पणि लोगोंने इन्द्र के पुरोहित बृहस्पति की

---

१. जनं विभ्रती वहुधा विवाचस नानाधर्माणम् . । अथर्व १२, १. ४५

२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाहू राजन्य. कृत. ।
अरू तदस्य पद्भ्यां. पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥ ऋ १०, ९०

गौओं को चुराकर सरस्वती, दृषद्वती नदियों के पार ले जाकर बलपुर की अद्रि में छुपा दिया। तब इन्द्र को बृहस्पति की शिकायत पर इन गौओं का पता लगाने और इन्हें लाने के लिये सरमा नाम की एक स्त्री को अपनी दूती बनाकर पणिलोगों के पास भेजा। यह सरमा शुनी जाति की एक अनार्य स्त्री थी। ये पणि और शुनी जाति के लोग सरस्वती, दृषद्वती नदियों के पार कुरुक्षेत्र से दक्षिण की ओर अपने जनपदों में बसे हुए थे। पणिलोगों का जनप्रद पणिपद और शुनी जाति का जनपद शुनीपद से मशहूर था। इतना दीर्घ समय बीतने पर इन जनपदों के नगर आज भी अपने स्थान पर स्थित हैं और पानीपत व सोनीपत के नाम से प्रसिद्ध हैं। दोनों नगर एक दूसरे से २५ मील की दूरी पर कुरुक्षेत्र और देहली के मध्यभाग में स्थित हैं। बलपुर जहां गौओं को चुराकर रखा गया था वह संभवतः पानीपत तहसील का आधुनिक बला नाम का ग्राम है। उक्त सरमाने यद्यपि इन पणिलोगों को बृहस्पति की गौएं लौटा देने के लिये बहुत तरह समझाया और उन्हें इन्द्र का अपार पराक्रम तथा उसके सैनिकबल का भी डर दिखाया. परन्तु पणिलोगोंने कुछ भी पर्वाह नहीं की और उसे यह कह कर चलता कर दिया कि इन्द्र के पास सेना और आयुध हैं तो हमारे पास भी काफी संरक्षक सेना और तीक्ष्ण आयुध हैं। विना युद्ध किये ये वापिस नहीं हो सकतीं।

इसी आख्यान की ओर संकेत करते ऋग्वेद १. ११. ५. में कहा है–हे वज्रयुक्त इन्द्र! तुमने गोहरणकर्ता बल नामक असुर की गुहा उद्घाटित की थी। उस समय बलासुर से पीड़ित देवलोगोंने निर्भय होकर तुम्हें प्राप्त किया था।

इन्द्र की ब्रह्महत्या से मुक्ति की कथा—

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २८२ में कहा है कि वृत्र का वध होने पर उसके शरीर से ब्रह्महत्या निकली और उसने वृत्रहिंसक इन्द्र का पिछा किया। इस ब्रह्महत्या के कारण इन्द्र का तेज बिलकुल विनष्ट हो गया। इस ब्रह्महत्या को हटाने के लिये इन्द्रने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वह किसी भी तरह उसे दूर न कर सका। तब वह पितामह ब्रह्माजी के पास जाकर उनके चरणों में गिर पड़ा। ब्रह्माजीने इन्द्र को ब्रह्महत्या के दोष से मुक्त करने के लिये उसे ४ नियम दिलाये। १–अग्नि में पशुओं की आहुति न देकर जौ तथा औषधियों की आहुति देना। २–पर्व के दिनों में वृक्ष, वनस्पति और घास को न काटना। ३–रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन न करना। ४–जल अर्थात् नदियों का संमान करना। जो कोई इन नियमों का उल्लंघन करेगा वह ब्रह्महत्या का दोषी होगा।

इस कथा का ऐतिहासिक तथ्य यही मालूम होता है कि यद्यपि वृत्र का वध होने से इन्द्र के अनुयायी आर्यजन कुछ समय के लिये सिन्धुदेश के विजेता बन गये, परन्तु वे इस

देश की आत्मा को विजय न कर सके। बल्कि दासों और व्रात्यों की हत्या के कारण अथवा देवयज्ञों के लिए पशुहिंसा के कारण इन्द्र-उपासक आर्यजन सप्तसिन्धुदेश में घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे और यहां के मूलवासी नाग व दस्युलोग इनके विरोध में उठ खड़े हुए। इससे उनकी हिंसामयी याज्ञिक आधिदैविक संस्कृति को बहुत धक्का पहुंचा और वह प्रायः निस्तेज हो गई। क्योंकि यह विरोध उस समय तक शान्त न हुआ जब तक कि वैदिक ऋषियोंने अहिंसा धर्म को अपना कर अग्नि में जौ का होम करना, पर्व के दिनों में वृक्ष और वनस्पति की रक्षा करना, पत्नी के रजस्वला होने पर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना और भारत की नदियों का संमान करना न सीख लिया।

आर्यजन और आर्यावर्त—

इस प्रकार के आये दिन के नागों के आक्रमणों से परेशान होकर आर्यगण सप्तसिन्धु देश को छोड़कर जमनापार मध्यप्रदेश की ओर बढ़ चले जो आज उत्तरप्रदेश के नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि पीछे से यह देश ही आर्यजन की स्थायी वसति बन कर रह गया; इसलिये भारत का मध्यमभाग आर्यावर्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस देश में यद्यपि आर्यगण को रहने का स्थान तो स्थायी मिल गया; परन्तु यहां उन्हें भारत की अहिंसामयी सस्कृति से प्रभावित होकर धर्म व आहार-व्यवहार के लिये होनेवाली अपनी हिंसात्मक प्रवृत्तियों का सदा के लिये त्याग करना पड़ा।

४. राजा वसु और पर्वत की कथा—

इस सम्बन्ध में पाञ्चालदेश के राजा वसु, नारद और पर्वत की पौराणिक कथा जो मत्स्यपुराण[1] व महाभारत[2] में दी हुई है विशेष विचारणीय है। इस कथा में बतलाया गया है कि त्रेतायुग के आरम्भ में विश्वभुक् इन्द्रने यज्ञ आरम्भ किया। बहुत से महर्षि उसमें आये। उस यज्ञ में पशुवध होते देखकर ऋषिने घोर विरोध किया। ऋषिने कहा-' नायं धर्मो-ह्यधर्मोऽयं न हिंसा धर्म उच्यते '। अर्थात् यह धर्म नहीं है, यह तो अधर्म है। हिंसा कभी धर्म नहीं हो सकता। यज्ञ बीजों से करना चाहिये। स्वयं मनुने पूर्वकाल में यज्ञ सम्बन्धी ऐसा ही विधान बतलाया है। परन्तु इन्द्र न माना। इस पर इन्द्र और ऋषि के बीच यज्ञ-विधि को लेकर विवाद खड़ा हो गया कि यज्ञ जंगम प्राणियों के साथ करना उचित है या अन्न और वनस्पति के साथ। इस विवाद का निपटारा करने के लिये इन्द्र और ऋषि आकाशचारी चेदिनरेश वसु के पास पहुंचे। वसुने बिना सोचे कह दिया कि यज्ञ जंगम

१. मत्स्यपुराग-मन्वन्तरानुकल्प, देवर्षिसवादनामक अध्याय १४३।

२. महाभारत अश्वमेध पर्व अध्याय ९१।

अथवा स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों के साथ हो सकता है। क्योंकि 'हिंसास्वभावो यज्ञस्येति'। इस पर ऋषिने उसे शाप दे दिया और वह आकाश से गिर कर तुरन्त अधोगति को प्राप्त हुआ। इससे लोगों की श्रद्धा हिंसा से उठ गई।

यही कथा कुछ हेरफेर के साथ जैन पौराणिक और आख्यानिक साहित्य में यों बतलाई गई है—बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत भगवान् के काल में 'अजैर्यष्टव्यम्' के प्राचीन अर्थ 'जौ से देवयज्ञ करना चाहिये' को बदल कर जब पर्वत ऋषिने यह अर्थ करना आरम्भ कर दिया की बकरों को मार कर देवयज्ञ करना चाहिये तो इसके विरुद्ध नारदने घोर विसंवाद खड़ा कर दिया। इस विसंवाद का निर्णय कराने के लिये चेदिनरेश वसु को पंच नियुक्त किया गया। उस ज़माने में राजा वसु अपनी सत्यता और न्यायशीलता के कारण बहुत ही लोकप्रिय था। उसका सिंहासन स्फटिक मणियों से खचित था। जब वह उस सिंहासन पर बैठता तो ऐसा मालूम होता कि वह बिना सहारे आकाशमें ही ठहरा हुआ है। राजा वसुने यह जानते हुए भी कि पर्वत का पक्ष झूठा है, केवल इस कारण कि वह उसके गुरु का पुत्र है, पर्वत का समर्थन कर दिया। इस पर राजा वसु तुरन्त मर कर अधोगति को प्राप्त हुआ। जनता में हाहाकार मच गया और अहिंसा की पुनः स्थापना हो गई।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की अनुश्रुतियों की संगति बैठाने से प्रतीत होता है कि महाभारत व मत्स्यपुराण में जिस इन्द्र और ऋषि का कथन है वे क्रमशः चेदिनरेश वसु और नारदऋषि का है। उक्त आख्यानों के इन्द्र और ऋषि का ठीक समय निर्णय करना तो कठिन है, लेकिन यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकता है कि वे अवश्य ही महाभारत युद्ध से काफी पहले हुए होंगे ऐसा सहज माना जा सकता हैं। क्यों कि ऋग्वेद १. १३२, ६[२] और ३. ५३, १[३] में इन्द्र और पर्वत दोनों को इकट्ठे ही देवतातुल्य हव्य-

---

१. (अ) ईसा की आठवी सदी के आचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण सर्ग १७, श्लोक ३८ से १६४
(आ) ईसा की सातवी सदी के आचार्य रविषेणकृत पद्मचरित पर्व ११
(इ) ईसा की नवी सदी के आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण पर्व ६७, श्लोक ५८ से ३६३
(ई) ईसा की बारहवी सदी के आचार्य हेमचन्द्रकृत त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ७, सर्ग २७
(उ) ईसा की प्रथम सदी के आचार्य विमलसूरिकृत पउमचरिउ ११, ७५-८१
(ऊ) ईसा की प्रथम सदी के आचार्य कुन्दकुन्दकृत भावप्राभृत ४५
(ऋ) ईसा की दसवी सदी के आचार्य सोमदेवकृत यशस्तिलकचम्पू आश्वास ७, पृ. ३५३
(ॠ) ईसा की दसवी सदी के आचार्य हरिषेणकृत हरिषेणकथाकोष ७६ वी कथा.

२. युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप त तमिद्धतं वज्रेण त तमिद्धतम् ।

३. इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आहतं सुवीरा. ।

ग्रहण करने तथा शत्रुनाश में सहायता देने के लिये आह्वाहन किया गया है। इसके अलावा ऋ. ९. ९६, ६[1] में ऋषि अर्थात् नारद ऋषि को विप्रों में एक प्रमुख ऋषि कहा गया है। और गोपथब्राह्मण पूर्व २. ८ में इस ऋषि के सम्बन्ध में कहा गया है कि ऋषि मुनिने ऋषि द्रोण (पर्वत) पर तप किया था। उक्त ब्राह्मण के वचन से मालूम होता है कि उक्त ऋषि (नारद) एक तपस्वी ऋषि था। पीछे के हिन्दू और जैन पौराणिक साहित्य में जगह २ विभिन्न युगों में बालब्रह्मचारी नारद मुनि का संमाननीय मुनि के रूप में उल्लेख मिलता है। ये अवश्य ही उक्त आख्यान के नारद ऋषि की परम्परा के तपस्वी मुनि होंगे। जैन अनुश्रुति के अनुसार भी भगवान् मुनिसुव्रत त्रेतायुगकालीन रघुवंशी राम के समकालीन हैं और महाभारत युद्धकाल से काफी पहले हुए हैं। उक्त चेदि का आधुनिक नाम चन्देरी है। यह मध्य प्रदेश के बुन्देलखण्ड में ललितपुर से २२ मील की दूरी पर स्थित है। महाभारत काल में यह शिशुपाल की राजधानी रही है।

इस कथा से पता चलता है कि जब आर्यगण कुछ हिमाचल देश से और कुछ सप्तसिन्धु देश से मध्यप्रदेश की ओर आगे बढ़े तो यहां पर भी उनकी हिंसात्मक प्रवृत्तियों का विरोध उतने ही जोर से हुआ जितना सप्तसिन्धु और हिमाचल प्रदेश में हुआ था।

शौरसेनदेश, कृष्ण और इन्द्र की कथा—

इस मध्यदेश में बसने के बाद आर्यगण की जो शाखा मथुरा आगरा आदि शौरसेन देश के इलाके में बढ़ी उसे भी यमुना नदी के किनारे बसनेवाले कृष्णवर्ण तुर्वश और यदुवंशी क्षत्रियों के विरोध के कारण हिंसामयी प्रवृत्तियों को तिलांजलि देनी पड़ी। ऋग्वेद ८. ९६. १३-१५[2] में कहा गया है कि शीघ्रगामी कृष्ण दस हजार सेना के साथ अंशुमती नदी (यमुना) के समीप इन्द्र के आक्रमण को रोकने के लिये आया। इन्द्र उस महा शब्द करनेवाले कृष्ण के पास आया और सन्धि करने के विचार से कृष्ण के साथ मित्रता की बातचीत शुरू की। परन्तु अपनी सेना से उसने कहा—अंशुमती नदी के तट के गूढस्थान में विचरण करते हुए उस द्रुतगामी और सूर्य के समान तेजस्वी कृष्ण को मैंने देखा है। वीरो! मेरी इच्छा है कि तुम उस से युद्ध करो। तदनन्तर उस कृष्णने अपनी सेना अंशुमती की घाटी में एकत्र की और बड़ा पराक्रम दिखाया। चारों ओर से चढ़ाई करनेवाली इस देवेतर सेना से इन्द्रने बृहस्पति की सहायता से कठिनतापूर्वक अपना पीछा छुड़ाया।

---

१. ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणा महिषो मृगाणाम्।

२. अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियान. कृष्णो दशभिः सहस्रैः।